२.५

श्रीउदयनग्रन्थावलिः

(चतुर्थो भागः)



श्रीउदयनग्रन्थावलिः

(चतुर्थो भागः)



१) आत्मतत्त्वविवेकः
२) न्यायपरिशिष्टम्
३) लक्षणमाला

उदयनाचार्यप्रणीतः

न्यायकुसुमाञ्जलिः

(आमोद-प्रकाश-मकरन्द-बोधनी व्याख्याभिः संवलितः)

उदयनग्रन्थावलिः

(उत्तरार्ध-भागः)

उदयनग्रन्थावलिः

(चतुर्थोभागः)

सम्पादकः

किशोरनाथ झा

पूर्व प्रवाचकः

प्रयागस्थ-गङ्गानाथझा-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठस्य

२००९ ई०

श्रीवल्लभविद्यापीठ श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ०हो० ट्रस्ट
वैभव को-औपरेटिव्ह सोसाइटी, पूना बेंगलोर रोड,
कोल्हापुर, महाराष्ट्र- ४१६००८
के सम्पूर्ण अनुदान से प्रकाशित

प्रकाशक :
किशोरनाथ झा
ग्रा० बिट्ठो, पो० सरिसब-पाही
जि० मधुबनी - ८४७४२४ (बिहार)

५०० प्रतियाँ (२००९ ई०)

मुद्रक :
रमा आर्ट्स
४, चुनावाला इण्डस्ट्रियल एस्टेट,
कोंडिविटा, अन्धेरी (पूर्व)
मुम्बई ४०००५९

मूल्य -

टाइप सेटिङ -
एकेडेमी प्रेस, दारागञ्ज, इलाहाबाद २११००६

प्रकाशकीय

इष्टदेवता की कृपा तथा गुरुजनों के आशीर्वाद से चार व्याख्याओं के साथ–शङ्करमिश्रकृत आमोद, वर्धमानउपाध्यायकृत प्रकाश, रुचिदत्त कृत मकरन्द तथा वरदराजमिश्रकृत बोधनी के साथ न्यायकुसुमाञ्जलि का उत्तरार्ध भाग सुधीजनों के कर कमलों में अर्पित करते हुए मुझे अत्यधिक मनस्तोष एवं प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। स्मरण होता है कविकुल गुरु कालिदास का श्लोक –

सिद्ध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
सम्भावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्।

वातव्याधि से अधिक पीड़ित हो जाने पर जब मेरा मनोबल टूट रहा था, आत्म विश्वास लड़खड़ाने लगा था कि संकल्पित अनुष्ठान मैं पूरा कर सकूँगा या नहीं, वैसे ही क्षण में उक्त श्लोक की स्मृति मुझे पथारूढ कर आश्वासन देता रहा। अतः ईश्वर के चरणों में सतत मेरा प्रणामाञ्जलि अर्पित होता रहा। इस ग्रन्थ के सम्पादन–प्रकाशन में अनावश्यक विलम्ब का कारण मेरा अस्वास्थ्य ही है।

उदयन ग्रन्थावली के सम्पादन एवं प्रकाशन का सम्पूर्ण श्रेय भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों के अधिकारी विद्वान, सम्मान्य मित्रमणि श्रीमान् गोस्वामी श्याम मनोहर जी का (बम्बई) है। इनका सर्वविध साहाय्य तथा उत्साहवर्धक उद्बोधन ही यहाँ मेरा सम्बल रहा है। सम्मान्य गोस्वामी जी का हृदय विशाल एवं उदार है। अपने वल्लभ सम्प्रदाय के प्रति अधिक निष्ठा रहने पर भी अन्य सम्प्रदायों तथा शास्त्रों की प्रतिष्ठा हेतु इनकी जागरूकता एवं औदार्य आकलनीय एवं अनुकरणीय है। पाँच भागों में प्रकाशनीय उदयनग्रन्थावली के सम्पादन तथा प्रकाशन का प्रस्ताव देते हुए इन्होंने मुझ से कहा था कि इनके प्रकाशन से अपने पूर्वज विद्वानों का ऋण शोध होगा। हम लोगों का पवित्र कर्तव्य है कि

इन ग्रन्थों का सम्पादन, प्रकाशन तथा विद्वानों के मध्य वितरण हो। शङ्कर मिश्र की कल्पलता व्याख्या के साथ आत्मतत्त्वविवेक के प्रकाशन के पश्चात् प्रसन्न होकर इन्होंने कहा था कि इस आत्मतत्त्वविवेक की रघुनाथ शिरोमणि प्रणीत दीधिति व्याख्या तथा मेघ प्रसिद्ध भगीरथ ठक्कुर कृत प्रकाश व्याख्या भी प्रकाशनीय है। उसी समय इन्होंने अपने वैयक्तिक पुस्तकालय से लाकर दोनों ही व्याख्याएँ मुझे हस्तगत कराई, जो इस ग्रन्थावली के द्वितीय भाग के रूप में प्रकाशित होना है। उसी समय न्यायकुसुमाञ्जलि की बोधनी तथा लक्षणावली की दो व्याख्याएँ शेषशार्ङ्गधर तथा विश्वनाथ झा प्रणीत भी इन्होंने मुझे दी! जो इस ग्रन्थावली के पञ्चम भाग के रूप में प्रकाशनीय है। चार व्याख्याओं के साथ न्यायकुसुमाञ्जलि का पूर्वार्ध (द्वितीय स्तबक पर्यन्त) इस ग्रन्थावली के तृतीय भाग के रूप में प्रकाशित होकर सुधीजनों का हस्तगत हो चुका है।

वल्लभ वेदान्त के प्रति श्रद्धालु वैष्णवजनों के द्वारा कोल्हापुर, महाराष्ट्र में स्थापित जिस ट्रस्ट से अनेक भागों में प्रकाशनीय इस उदयन ग्रन्थावली को सम्पूर्ण रूप से आर्थिक साहाय्य उपलब्ध हुआ है वह ट्रस्ट वस्तुतः श्लाघनीय तथा धन्य है। इस ट्रस्ट ने न केवल इस ग्रन्थावली के प्रकाशन का व्ययभार उठाया है अपितु न्यायदर्शन के प्रति रुचिसंपन्न, भारतभर के विद्वानों के कर कमलों में अपने व्यय से प्रेषित कर उपहार रूप में इसका वितरण भी किया है। मैं इस प्रकाशन तथा वितरण कार्य से सन्तुष्ट एवं प्रसन्न होकर ट्रस्ट के अधिकारी तथा सदस्यों के प्रति अपनी ओर से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

यद्यपि उदयनाचार्य की कृतियों के सम्पादन की योग्यता मैं अपने में नहीं देखता तथापि ट्रस्ट के प्रस्ताव को टालना मेरे लिए संभव नहीं हुआ। न्याय दर्शन के साधारण विद्यार्थी होने के कारण न्याय दर्शन के ग्रन्थों के प्रचार प्रसार को मैं अपना पवित्र कर्तव्य मानकर यहाँ प्रवृत्त हुआ। हृदय के किसी कोने में स्वार्थ भी पनपने लगा कि इससे अपनी बुद्धि की शुद्धि भी संभव है। अतएव हृदय से मैं इस ट्रस्ट का आभार मानता हूँ।

यहाँ ग्रन्थ में भूमिका नहीं दी जा रही है। इसके पूर्वार्ध के प्रकाशन में यथामति अपेक्षित भूमिका दी जा चुकी है। यद्यपि यथामति साध्यानुसार अवधान पूर्वक मूल एवं व्याख्याओं का परिशुद्ध पाठ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। तथापि इसकी सफलता का आकलन तो सुधी-पाठकों पर ही निर्भर है। मैं

मानता हूँ कि मेरी अज्ञानता तथा अनवधानता से इसमें पर्याप्त मात्रा में सम्पादकीय त्रुटियाँ हुई होंगी। भगवान् श्री कृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है –

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:।

नवीन वाचस्पति मिश्र ने न्यायतत्त्वालोक में स्पष्ट कहा है कि वचन के पथ पर चलता हुआ सावधान विद्वान् का भी मोहवश स्खलन हो जाता है–**'को न मुह्यति वचः पथे चरन्'**। अतः सुधी पाठकों से भट्टकुमारिल के शब्दों में ही मेरी विनम्र प्रार्थना है –

तद्विद्वांसोऽनुगृह्णन्तु चित्तश्रोत्रैः प्रसादिभिः।
सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्तिह्यनसूयवः

अन्त में मैं एकेडेमी प्रेस इलाहाबाद के व्यवस्थापक श्रीमान् सुरेन्द्रमणि त्रिपाठी एवं उनके सहयोगियों को विशेष रूप से चिरञ्जीवी श्री ब्रह्मानन्द मिश्र को धन्यवाद तथा शुभाशीर्वाद देता हूँ। इन्होंने धैर्यपूर्वक लगन से इस ग्रन्थ का कम्पोजिङ कराया/किया तथा प्रूफ संशोधन के समय मेरे निर्देशों का अनुपालन किया है। जिस प्रेस से इसका मुद्रण हो रहा है तथा जिसने इसका आवरण प्रस्तुत किया है उस प्रेस तथा आवरण शिल्पी से यद्यपि मेरा साक्षात् परिचय नहीं है तथापि उन सभी सहयोगियों के प्रति मेरी अजस्र शुभ कामना समर्पित है। जिन लोगों से मुझे इस कार्य में यत्किञ्चित् भी साहाय्य मिला है, उन सब के प्रति भगवान् राम की उक्ति ही मेरी शरण है–

मय्यवे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं प्रधीः।

सुधीजनों का आश्रव

किशोर नाथ झा

बिट्ठो, (मधुबनी–बिहार)

कृष्णाष्टमी १४/८/२००९ ई०



विषयसूची

विषयः **पृष्ठसंख्या**

तृतीयस्तबके

चतुर्थस्तबके

पञ्चमस्तबके

तृतीयः स्तबकः

नन्वेतदपि कथम्? तत्र बाधकसम्भवात्। तथा हि – यदि स्यादुपलभ्येत। अयोग्यत्वात् सन्नपि नोपलभ्यते इति चेत्, एवं तर्हि शशशृङ्गमप्ययोग्यत्वान्नोपलभ्यते इति स्यात्। नैतदेवं, शृङ्गस्य योग्यतयैव व्याप्तत्वादिति चेत्, चेतनस्यापि योग्योपाधिमत्तयैव व्याप्तत्वात्। तद्बाधे

आमोदः– तदभावावेदकेत्यादि (न्या.कु.I.4) तृतीयां विप्रतिपत्तिं दूषयितुमुपन्यस्यति **नन्विति। एतदपीति।** अन्यथासिद्धिनिराकरणमपीत्यर्थः। प्रकृते बलवद्बाधकसत्त्वात् साधकमप्यप्रयोजकमिति भावः। अत्र योग्यानुपलम्भसहायं प्रत्यक्षमेव बाधकं शङ्कते **यदीति।** यदि क्षित्यादि सकर्तृकं स्यात्तद्वत्तयोपलभ्येतेत्यर्थः। तथा च योग्यानुपलब्ध्या यदि ईश्वरात्यन्ताभावान्योन्याभावौ साध्येते तदा सिद्धसाधनम्। प्रागभावप्रध्वंससाधने तु *परस्या*पसिद्धान्त इति निरस्तम्। अयोग्ये योग्यानुपलब्धिर्न बाधिकेत्याशङ्कते **अयोग्यत्वादिति।** तर्हि पशुत्वाच्छशे शृङ्गमपि सिद्ध्येदित्याह **तर्हीति।** शृङ्गं योग्यानुपलब्ध्या बाधितुं शक्यते तस्य योग्यतयैव व्याप्तत्वात्, न त्वीश्वर इत्याह **नैतदिति।** शरीरविशिष्ट एव कर्ता, स च योग्य एवेति तत्रापि योग्यानुपलब्धिर्बाधिकेत्याह **चेतनस्यापीति। तद्बाध इति।** विशेषणस्य बाधे

प्रकाशः– तृतीयां विप्रतिपत्तिं दूषयितुमुपन्यस्यति **नन्वेतदपीति।** अन्यथा-सिद्धिनिराकरणमपि कथमीश्वरसाधनाय, तत्र प्रत्यक्षबाधादित्यर्थः। तत्र स्वरूपसदनुपलब्धि-सहकृतप्रत्यक्षबाधमाह **तथा हीति।** यद्यप्यनुपलम्भेनेश्वरान्योन्याभावात्यन्ताभावसाधने इष्टापत्तिः, प्रागभावप्रध्वंससाधने चापसिद्धान्तः। तथापि क्षित्यादिकं यदि सकर्तृकं, *वेदश्च* यदि सकर्तृकः स्यात्तदा तद्वत्तयोपलभ्येत इत्यर्थः। अनुपलब्धिमात्रस्य बाधकतायामयोग्योच्छेद इति योग्यानुपलब्धिर्बाधिका वाच्येत्याह **अयोग्यत्वादिति।** एवं शशः शृङ्गी पशुत्वादित्यत्रापि तद्बाधो न स्यादयोग्यत्वाच्छृङ्गस्येत्याह **एवमिति।** शृङ्गत्वस्य योग्यसंस्थानव्यङ्ग्यतया योग्यव्यक्तिवृत्तित्वनियमान्नायोग्यं शृङ्गमित्याह **शृङ्गस्येति।** एवं शरीरविशिष्टात्मनि कर्तृत्वेन कर्तृयोग्यतानियमाद्विशेषणबाधेन विशिष्टबाध एवेत्याह **चेतनस्यापीति।**

मकरन्दः

अनुपलब्धेः स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यानभ्युपगमान्न बाधकत्वमत आह **तत्रेति। विशेषणबाधेनेति।** शरीरबाधेन कर्त्तुर्बाध एवेत्यर्थः। प्रत्यक्षबाधस्येत्युपलक्षणम्,

सोऽपि बाधित एवेति तुल्यम्। व्यापकस्वार्थाद्यनुपलम्भेनाप्यनुमीयते नास्तीति। को हि प्रयोजनमन्तरेण किञ्चित्कुर्यादिति। उच्यते –

योग्याऽदृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्धिः कुतस्तराम्।
क्वायोग्यं बाध्यते शृङ्गं क्वानुमानमनाश्रयम्।।१।।

आमोदः– विशिष्टमपि बाधितमिति। तथा प्रत्यक्षत एव बाधः सिद्ध इत्यर्थः। यद्वा, शरीररूपव्यापकानुपलब्धिबाधपरोऽयं ग्रन्थोऽग्रे च व्यापकानुपलब्धिबाधपरः। अत एव व्यापकश्चार्थादित्यग्रे। व्यापकं विशिनष्टि *स्वार्थादीति*। स्वप्रयोजना-दिव्यापकश्चासौ स्वार्थादिश्चेति कर्मधारयः। स्वेष्टसाधनताया व्यापकत्वमेव दर्शयति – *को हीति*।

योग्याऽदृष्टिः योग्यानुपलब्धिः। ***अयोग्ये*** परमात्मनि। योग्यविशेष-गुणोपधानाभावात् परमात्मा अयोग्यः। तत्र योग्यानुपलब्धिर्नाभावग्राहिकेत्यर्थः। शृङ्गं यदि योग्यसंस्थाननियतं न भवति तदा तदप्ययोग्यं न बाधते। अथ तन्मात्रनियतं तदा बाध्यत एवेत्याह *प्रतिबन्धिरिति*। एतदेवाह *क्वायोग्यमिति*। ईश्वरो न कर्ता अशरीरित्वादित्यादिव्यापकानुपलब्धिलिङ्गकमनुमानं वाच्यं, तच्च सिद्ध्यसिद्धिपराहतमित्याह –*क्वानुमानमनाश्रयमिति*। ननु योग्यविशेष-गुणोपहितस्यात्मनो ग्रहे चरमलिङ्गपरामर्शोपहितं स्यात्तथा च नानुमितिः काऽपि

प्रकाशः– न तु कर्तृव्यापकशरीरबाधाद् व्याप्यकर्तृबाधपरोऽयं ग्रन्थः प्रत्यक्षबाधस्योपक्रान्तत्वात्। व्यापकानुपलब्धिलिङ्गकानुमानं बाधकमाह *व्यापकेति*। व्यापकश्चासौ स्वार्थादिश्चेति कर्मधारयः। आदिपदाच्छरीरादि। चेतनप्रवृत्तेः स्वेष्टसाधनताज्ञानव्याप्तत्वात् तद्बाधनेन सापि बाधितैवेत्यर्थः।

योग्यादृष्टिरिति। योग्यानुपलब्धिः। ***क्वायोग्ये*** परमात्मनि बाधिका, शृङ्गस्यापि तथात्वे तत्रापि योग्यानुपलब्धिर्न बाधिका। न हि शशशृङ्गमयोग्यं योग्यानुपलब्ध्या निषिद्ध्यते येन प्रतिबन्धिः स्यात्। अथ शृङ्गं योग्यमेव नायोग्यं, तदा अतितरां न प्रतिबन्धिः। व्यापकानुपलब्धिलिङ्गकञ्चानुमानमीश्वरासिद्धावाश्रयासिद्धम्, तत्सिद्धौ वा धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितमित्यर्थः।

मकरन्दः– अग्रिमेण पौनरुक्त्यापातादित्यपि द्रष्टव्यम्। ***स्वेष्टेति***। यद्यपि जगत एव तदिच्छाविषयत्वात् स्वेष्टसाधनताज्ञानं तस्यापि, तथापि स्वप्रयोजनव्याप्यत्वादिति मूलोक्त एव तात्पर्य्यम्। स्वप्रयोजनप्रयोजकताज्ञानव्याप्यत्वादित्यर्थः। ***तथात्वे***–अयोग्यत्वे। प्रतिबन्धिसामान्यनिषेधे कृते अतितरां न प्रतिबन्धिरिति युज्यते

स्वात्मैव तावत् योग्यानुपलब्ध्या प्रतिषेद्धुं न शक्यते, कुतस्त्वयोग्यः परमात्मा। तथा हि – सुषुप्त्यवस्थायामात्मानमनुपलभमानो नास्तीत्यवधारयेत्। कस्यापराधेन पुनर्योग्योऽप्यात्मा तदानीं नोपलभ्यते? सामग्रीवैगुण्यात्। ज्ञानादिक्षणिकगुणोपधानो ह्यात्मा गृह्यते इत्यस्य स्वभावः। ज्ञानमेव कुतो न जायते इति चिन्त्यते। पश्चाद्वा कथमुत्पत्स्यते इति चेत्, मनसोऽनिन्द्रियप्रत्यासन्नतया अजननात् तत्प्रत्यासत्तौ च पश्चाज्जननात्।

आमोदः– भवेदिति चेन्न। तृतीयलिङ्गपरामर्शस्यानुद्भूतत्वेनायोग्यत्वात् आद्यन्तशब्दवत्। यद्वात्ममनःसंयोगविशेषस्यात्मग्राहकत्वात्तदानीमभावान्नात्मग्रहः। स च फलबलकल्पनाय एव। योग्यविशेषगुणोपधानमात्मग्रहे नियामकमिति व्यवस्थापयितुमाह **स्वात्मैवेति**। अन्यथा सुषुप्त्यवस्थायामनुपलम्भात्तद्व्यतिरेको गृह्येतेत्यत आह **सुषुप्तीति**। एतदेव स्पष्टयितुं पृच्छति **कस्येति**। **क्षणिकगुणोपधानः** क्षणिकगुणविशिष्टः, क्षणिकेति च परममहत्त्वव्यावृत्तये। ननु यत एव ज्ञानाग्रहस्तत एव नात्मग्रह इत्याह **ज्ञानमेवेति**। द्रव्यसाक्षात्कारे सामान्ययोग्यतायां विशेषगुणोपधानस्य तन्त्रत्वेन क्लृप्तत्वात्। अत्रापि तथैव

प्रकाशः– **सामग्रीति**। यथा योग्योऽपि घटादिरालोकाभावान्नोपलभ्यते, तथाऽऽत्मा क्षणिकज्ञानादियोग्यविशेषगुणाद्युपधानसहकार्यभावाद् नोपलभ्यत इत्यर्थः। यद्यप्येवमुपधायकतृतीयलिङ्गपरामर्शसत्त्वादात्मबुद्धिरेव स्यान्नानुमितिः। न चानुमितिसामग्र्येव प्रतिबन्धिका, कारणमेलकरूपायां सामग्र्यामितरकारणानां व्यभिचारात् तृतीयलिङ्गपरामर्श एव प्रतिबन्धको वाच्यः, तस्य च योग्यविशेष गुणत्वेनात्मोपलम्भकस्यातथात्वम्। तथापि रूपवत्प्रत्यक्षविशेषणगुणत्वा ज्ज्ञानेऽप्युद्भवत्वजातिसत्त्वादनुद्भूतज्ञानस्य नात्मोपलम्भकत्वमिति तदुपधानेऽपि नात्मग्रहः। अत एवाद्यन्तशब्दयोरुद्भवत्वाभावान्न प्रत्यक्षत्वमित्येके। आत्ममनः संयोगविशेषस्यात्मग्राहकत्वमनेनोक्तमित्यन्ये। **मनस इति**। यद्यपि सुषुप्तौ यत एव न ज्ञानं तत एवात्माऽग्रहोपपत्तौ योग्यविशेषगुणोपधानमतन्त्रं, तथापि द्रव्यसाक्षात्कारे सामान्यत एव योग्यविशेषगुणस्य प्रयोजकत्वावधारणादेतदुक्तम्।

मकरन्दः– इति तदर्थपरतया प्रथमं तृतीयमेव पादं व्याख्याय द्वितीयपादं व्याचष्टे **अथेति**। **व्यभिचारादिति**। तेषु सत्स्वप्यात्मप्रत्यक्षप्रतिबन्धाभावादित्यर्थः। **अतथात्वमिति**। एकस्य कारकत्वप्रतिबन्धकत्वविरोधादित्यर्थः। **तथापीति**। तथा च परामर्शेऽप्यनुद्भवान्न तथात्वमिति भावः। ननु हेत्वन्तरवत् परामर्शोऽपि व्यभिचारी,

मनोवैभववादिनामिदमसम्मतम्। तथा हि – मनो विभु, सर्वदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वात्, सर्वदा विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात्, नित्यत्वे सत्यनारम्भकद्रव्यत्वात्, ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वादित्यादेरिति चेन्न। सर्वेषामापाततः स्वरूपासिद्धत्वात्। तथा हि – यदि रूपाद्युपलब्धीनां

आमोदः– कल्पयितुमुचितम्। अतस्तदनुत्पादमेव समर्थप्रतिमनस इति। **इदमिति।** इन्द्रियाप्रत्यासन्नत्वमित्यर्थः। आद्यक्षणे घटादेरपि स्पर्शरहितत्वाद् व्यभिचारः स्यादत उक्तम् **सर्वदेति।** गुणादौ व्यभिचारादाह **द्रव्यत्वादिति।** एवमग्रेऽपि। **अनारम्भकत्वं** द्रव्यानारम्भकत्वम्। अन्त्यावयविनि व्यभिचारवारणाय **नित्यत्वे सतीति।** हेतुत्रये कालादिश्चतुर्थे त्वात्मा दृष्टान्तः। सुखादिकम् मूर्तसंयोगा-समवायिकारणकगुणवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्, अनित्यत्वे सति नित्य-वृत्तिविशेषगुणत्वात्, शब्दवदिति प्रतिरोध इति चेत्, न। मूर्तत्वस्याप्रयोजकत्वात्। व्यापकभावेऽपि विशेषणानर्थस्योक्तत्वात्। **आपातत इति।** मनोद्रव्यत्व-सिद्धिपर्यन्तमित्यर्थः। क्रमेण तु धर्मिग्राहकमानबाधोऽनुमानानामिति भावः। स्वरूपासिद्धिं तावत् स्पष्टयति **तथा हीति। यदेति।** सुखाद्युपलब्धिः सकरणिका

प्रकाशः– असम्मतमिति। विभुनो मनस इन्द्रियाप्रत्यासत्तेरभावादित्यर्थः। **सर्वदेति।** द्रव्यत्वं परमाणुभिः, स्पर्शरहितत्वं च गुणादिभिर्व्यभिचारीति विशिष्टं लिङ्गम्। तस्याप्युत्पत्तिक्षणे घटे सत्त्वाद् व्यभिचार इत्यत उक्तं, **सर्वदेति। अनारम्भकद्रव्यत्वं** = द्रव्यानारम्भकद्रव्यत्वमत्र विविक्षितम्। अतो न कर्मसंयोगाद्यारम्भके मनसि स्वरूपासिद्धिः। तथापि घटेऽनैकान्तिक इत्यत उक्तं, **नित्यत्व इति।** कालादिर्दृष्टान्तः। चतुर्थहेतावात्मा दृष्टान्तः। न च महत्त्वमुपाधिः, साधनव्यापकत्वात्। न च सुखादिकं मूर्त्तसंयोगासमवायिकारणकगुणवृत्ति गुणत्वव्याप्यजातिमत्, नित्यवृत्त्यनित्यविशेषगुणत्वाच्छब्दवत् पाकजवच्चेति प्रतिरोधः। मूर्त्तत्वस्याप्रयोजकत्वात्, अनात्मवृत्तित्वस्योपाधित्वाच्चेति भावः। **आपातत इति।** यावन्मनो न सिद्ध्यतीत्यर्थः। स्वरूपासिद्धिमेवाह **तथाहीति।**

मकरन्दः

सत्यपि तस्मिन् बाधादिना अनुमितिप्रतिबन्धे परामर्शोपहितात्मप्रत्यक्षसत्त्वात्। अन्यथा वह्निव्याप्यवन्तं जानामीत्यनुव्यवसायानभ्युपगमे अनुभवविरोधात्। तस्मात् प्रत्येकमप्रतिबन्धकत्वेऽप्यनुमितिसामग्रीत्वेन तद्धेतूनां फलबलात् प्रतिबन्धकत्वम्। परामर्शस्य च रूपान्तरेण तदुपलम्भकत्वमिति नोक्तविरोधः। यदि च सकलहेत्वधिकरणक्षणः सामग्री, तदा तस्य परामर्शभिन्नत्वाद्विरोधशङ्कैव नास्ति।

क्रियात्वेन करणतया मनोऽनुमितिर्न तदा द्रव्यत्वसिद्धिः, अद्रव्यस्यापि करणत्वात्। अथाऽऽसामेव साक्षात्कारितयेन्द्रियत्वेन तदनुमातव्यम्, तथापि

मकरन्दः– एवञ्चोपपत्तौ न ज्ञानादावुद्भूतत्वं, मानाभावात्। आद्यशब्दाग्रहश्च श्रोत्रेणासम्बन्धात्। सम्बन्धे वा तद्ग्रहस्येष्टत्वात्। क्षणिकान्तशब्दस्य च स्वासमयवर्त्तितया विशिष्य हेतुत्वपक्ष एवाप्रत्यक्षत्वात्। न च कर्तृत्वादिनिर्विकल्पकापेक्षायां पक्षान्तरेऽप्यसम्भवः, सुतरां तर्हि नोद्भूतत्वम्। स्मरणरूपविशेषणज्ञानमादाय तत्सम्भवाच्चेत्यनुशयमाविष्करोति *इत्येके इति*। उक्तेनैवोपपत्तौ मनःसंयोगविशेषत्वेन हेतुत्वे गौरवं, संयोगे विशेषश्च जातिरूपः प्रत्यक्षखण्डोक्तसङ्करापत्त्या निरस्तः। अन्यश्च दुर्वच इत्यस्वरसमाविष्करोति *इत्यन्ये इति*। *कर्मेति* न्यायमते। **संयोगादीति** *भट्टमते*। स्वमतावष्टम्भेनाह **साधनेति**। अन्यथा पक्ष एव साधनाव्यापकत्वात्। अजसंयोगेन सिद्धसाधनादाह **मूर्त्तेति**। चन्दनसंयोगेन सिद्धसाधनादाह **असमवायीति**। शब्दजशब्दे व्यभिचार–वारणाय जातिगर्भत्वम्। तत्र च गुणपदं स्पष्टार्थम्। गुणत्वावान्तरपदं तादृशशब्दवृत्ति सत्तायोगित्वेनार्थान्तरवारणाय। शब्दसुखान्यतरत्वादिकमादायार्थान्तरादाह **जातिपदम्**। जलावयविस्नेहे व्यभिचारादाह **नित्यवृत्तीति**। परमाणुस्नेहे व्यभिचारादाह **अनित्येति**। आत्मवृत्तिद्वित्वे व्यभिचारादाह **विशेषेति**। *भट्टमते* शब्दस्य द्रव्यत्वादुभयसिद्धं दृष्टान्तान्तरमाह **पाकजवच्चेति**। **अनात्मेति**। साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकोऽयमुपाधिः, अन्यथा प्रचयजन्यपरिमाणवृत्ति–जातियोगिन्यात्मपरिमाणे साध्याव्यापकत्वात्। **ज्ञानेति**। जन्यत्वमपि पक्षविशेषणमतो नेश्वरप्रत्यक्षभागे बाधः। **इन्द्रियजन्यः**= विषयप्रत्यासन्नसंयोगिकरणजन्य इत्यर्थः। तेनेन्द्रियत्वस्य मनोगर्भत्वादिदानीं न साध्याप्रसिद्धिः। **यथेति**। यद्यप्यतिप्रसङ्गभिया श्रोत्रस्योपाधिकल्पनेऽप्यत्र तदभावान्न तत्कल्पनमर्हं बहिरिन्द्रियत्वञ्चाप्रयोजकम्,

आमोदः– क्रियात्वात् छिदिक्रियावदित्यनुमानं न द्रव्यत्वपर्यवसन्नमित्यर्थः। **अद्रव्यस्यापीति**। अनुमितौ ज्ञानस्यापि करणत्वादिति भावः। द्रव्यत्वपर्यवसान शङ्कते **अथेति**। **आसां** सुखाद्युपलब्धीनाम्। सुखसाक्षात्कारः इन्द्रियकरणकः

प्रकाशः– **अद्रव्यस्यापीति**। लिङ्गज्ञानादेरित्यर्थः। द्रव्यत्वविनाकृतञ्च रूपादिभिर्व्यभिचारीति भावः। **अथेति**। ज्ञानकरणाजन्यः सुखाद्यनुभव इन्द्रियजन्यः जन्यप्रत्यक्षत्वात्, रूपप्रत्यक्षवत्। स्पर्शाद्यविषयत्वेन विशेषणान्न त्वगादिना अर्थान्तरम्। गन्धादिष्वेकैकमात्रप्रत्यक्षजनकत्वेन पृथिव्यादिभेदसिद्धौ निःस्पर्शं, लाघवाच्च निरवयवमित्यर्थः। **तथापीति**। यथा श्रोत्रस्य विभ्विन्द्रियतया

व्यापकस्य निरुपाधेर्नेन्द्रियत्वमित्युपाधिर्वक्तव्यः। तत्र यदि कर्णशष्कुलीवन्नियतशरीरावयवस्योपाधित्वं, तदा तावन्मात्रे वृत्तिलाभः। तद्दोषे च वृत्तिरोधः श्रोत्रवत् प्रसज्येत। ततः शरीरमात्रमुपाधिरवसेयः। तथा च तदवच्छेदेन वृत्तिलाभे 'शिरसि मे वेदना, पादे मे सुखमि'त्याद्यव्याप्यवृत्तित्वप्रतीतिविरोधः। असमवायिकारणानुरोधेन विभुकार्याणां प्रादेशिकत्वनियमात्। शरीरतदवयवादिपरमाणु

आमोदः- साक्षात्कारत्वात् रूपसाक्षात्कारवदित्यनुमानेन करणमिन्द्रियं सिध्यति। इन्द्रियत्वञ्च स्मृत्यजनकवृत्तिज्ञानकारणमनः संयोगाश्रयत्वमिति सिद्धं मनोद्रव्यत्वमिति न हेतवः स्वरूपासिद्धा इत्यर्थः। **इन्द्रियत्वेनेति।** मनःसंयोगाश्रयत्वघटितत्वादिन्द्रिय-त्वस्येति भावः। परिहरति **तथापीत्यादिना धर्मिग्राहकमानबाध** इत्यन्तेन। ननु शरीरमात्रस्योपाधित्वे को दोष इत्यत आह **तथा चेति।** शरीरावच्छेदेनैव सुखोत्पत्तिरिति किमियं राजाज्ञेत्यत आह - **असमवायीति। विभुकार्याणां** विभुविशेषगुणानामित्यर्थः। तेन परमाणुवृत्त्यैकत्वासमवायिकारणकाणुत्वादिना

प्रकाशः-कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नस्यैवेन्द्रियत्वात्तदनवच्छेदेनोत्पन्नोऽपि शब्दो न गृह्यते, तदवच्छेदेनोत्पन्नस्यापि तस्य तदुपघातान्न ग्रहः। तथा मनोऽनवच्छेदकशरीरावय-वावच्छेदेनोत्पन्नं सुखाद्यपि तदवच्छेदेनोत्पन्नञ्च तदुपधानान्न गृह्येतेत्यर्थः। **असमवायीति।** कार्यविभुविशेषगुणे चायन्नियमोऽतो न व्याप्यवृत्तिकर्मजन्य-विभुपरमाणुसंयोगेन व्यभिचारः।

ननु किमसमवायिकारणं स्वावच्छिन्ने विभुकार्यं जनयतीति नियमः, स्वावच्छिन्ने जनयत्येवेति वा, स्वावच्छिन्न एव जनयतीति वा?। आद्ये सुखादेरधिक-देशतायामापादकाभावः। द्वितीये चाणुमनः संयोगोऽपि स्वावच्छिन्नेऽधिकदेशे च जनयेत्, नियामकाभावात्। अन्त्ये तवापि सुखादेरणुदेशतापत्तिः, मनोवैभवेऽपि तदविरोधश्च। अथ निमित्तचन्दनाद्यनुरोधेन सुखादौ न्यूनाधिकदेशता निमित्तवायुसंयोगादिव शब्दे, न त्वसमवाय्यनुरोधात्। तर्हि मनोवैभवेऽपि तथाऽस्तु। न च विभुकार्यासमवायिकारणं स्वावच्छिन्ने करोत्येव, भेर्याकाशसंयोग इव शब्दमिति चन्दनाद्यनवच्छिन्नेऽपि सुखादि स्यादिति वाच्यम्। तद्देशावच्छिन्नचन्दनसुखे हि तद्देशचन्दनसापेक्षोऽसमवायीति कथं तन्निरपेक्षस्तत् कुर्यात्। तथा च शरीरमात्रस्योपाधित्वेऽपि निमित्तवशात् सुखादेर्नियतदेशत्वं स्यात्।

पर्यन्तोपाधिकल्पनायां कल्पनागौरवप्रसङ्गो नियमानुपपत्तिश्चेति। ततोऽन्यदेवैकं सूक्ष्ममुपाधित्वेनातीन्द्रियं कल्पनीयम्। तथा च तस्यैवेन्द्रियत्वे स्वाभाविकेऽधिककल्पनायां प्रमाणाभावाद्धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः। अथ ज्ञानक्रमेणेन्द्रियसहकारितया तदनुमानं ततः सुतरां प्रागुक्तदोषः। यदि च मनसो वैभवेऽप्यदृष्टवशात् क्रम उपपाद्येत तदा मनसोऽसिद्धेराश्रया-सिद्धिरेव वैभवहेतूनामिति।

आमोदः– न व्यभिचारः। तेन संयोगादिना न व्यभिचारः। विभुकार्यविशेषगुणस्य स्वासमवायिकारणान्यूनदेशत्वं च साध्यते। न मनोवैभववादिनां शरीरावच्छेदेनैव सुखादि न पादादिमात्रावच्छेदेनेति भावः। ननु कश्चिदेवावयवः उपाधिः स्यादिति कुतो गौरवमत आह *नियमेति।* पाणिः पादो वेति नियमो न स्यादित्यर्थः। सुखाद्युत्पत्तिनियतदेशत्वेन स्यादित्यर्थ इत्येके। *धर्मिग्राहकेति।* यद्यपि इन्द्रियत्वेन मनःसिद्धिर्न वैभवव्यतिरेकपर्यवसन्ना, तथाप्युक्ततर्कसाचिव्येनाणुत्व-सिद्धिपर्यवसन्नैवेति धर्मिग्राहकमानबाध इत्यर्थः। ज्ञानानां क्रमः क्रमिकसहकारिसापेक्ष इति। तच्च सहकारि मन एव स्यादित्याशङ्क्य निराकरोति *अथेति। प्रागुक्तदोषः* स्वरूपासिद्धिलक्षणः। न हि तादृशं सहकारिद्रव्यमेव भविष्यतीति नियम इति भावः। अणुनैव मनसा ज्ञानक्रम उपपद्यत इति धर्मिग्राहकमानबाध इत्येके। अदृष्टाधीनश्चेत् ज्ञानक्रमस्तदा मनःस्थानेऽदृष्टमेवाभिषिच्यताम्, किं मनसेत्याश्रयासिद्धा एव हेतव इत्याह *यदि चेति।*

प्रकाशः– अत्राहुः। विभुकार्यविशेषगुणस्य न स्वासमवायिकारणन्यूनदेशत्वमिति नियमः। मनोवैभवे च शरीरं व्याप्यैव मनःसंयोगोऽसमवायीति तदवच्छेदं व्याप्यैव सुखादेरुत्पत्त्यापत्तिः। ततः पादावच्छिन्नं सुखं यदि शरीरावच्छिन्नासमवायिकारणकं स्यात्, शरीरव्यापकं स्यात्। निमित्तकारणस्य चाधिकदेशत्वमात्रप्रयोजकत्वात्। अत एव निदाघतप्तस्य अम्भसि मग्नस्य सर्वाङ्गीणसुखधीरुपपन्नेति भावः। *नियमेति।* सर्वेषामेव शरीरादीनामुपाधित्वे कुतो नियतदेशसुखाद्युत्पत्तिरित्यर्थः। *धर्मिग्राहकेति।* सुखाद्युपलब्धीनामिन्द्रियजत्वानुमाने मनोऽणुत्वानुल्लेखेऽपि अनुपपत्तिवशादणुत्वं विषय इति धर्मिग्राहकतुल्यतया तद्बाध उक्तः। *प्रागुक्तेति।* धर्मिग्राहकमानबाध इत्यर्थः। युगपदनेकविषयसम्बद्धनानेन्द्रियसंयोगे सति ज्ञानक्रमानुपपत्तेरणुत्वेनैव तदुपपत्तेरिति भावः। यदि चादृष्टवशान्नोक्तदोषावकाशस्तदा तत एव ज्ञानक्रमोऽपि स्यादिति मनःसिद्धौ न मानमस्तीत्याश्रयासिद्धा हेतव इत्याह *यदि चेति।*

अथ यत्रादृष्टस्य दृष्टकारणोपहारेणोपयोगः, तत्र तत्पूर्णतायां कार्यमुत्पद्यत एव। अन्यथा, अन्त्यतन्तुसंयोगेभ्योऽपि कदाचित् पटो न जायेत। जातोऽपि वा कदाचिन्निर्गुणः स्यात्। बलवता कुलालेन दृढदण्डनुन्नमपि चक्रं न भ्राम्येत। यत्र तु दृष्टानुपहारेणादृष्टव्यापारस्तत्र तद्वैगुण्यात् कार्यानुदयः, यथा परमाणुकर्मणः। तदिहापि यदि विषयेन्द्रियात्मनां समवधानमेव ज्ञानहेतुः, तदा तत्सद्भावे सदैव कार्यं स्यात्। न ह्येतदतिरिक्तमप्यदृष्टस्योपहरणीयमस्ति। न च सदैव ज्ञानोदयः, ततोऽतिरिक्तमपेक्षितव्यम्। तच्च यद्यपि सर्वाण्येवेन्द्रियाणि व्याप्नोति, तथापि करणधर्मत्वेन क्रियाक्रमः सङ्गच्छते। अकल्पिते तु तस्मिन्नायं

आमोदः- ननु नाश्रयासिद्धिर्यतो दृष्टं किञ्चिदुपहत्यैवादृष्टस्यापि जनकत्वमिह वाच्यम्, तच्च दृष्टं मन एवेत्याशङ्क्याह **अथेत्यादि चेदित्यन्तेन।** करणधर्मत्वेन एकं करणमेकत्रैकावच्छेदेनैकदैकजातीयामेकामेव क्रियां जनयति न त्वनेकाम्। **एकत्रे**त्यनेन कुब्जकृतयुगपन्नानातृणच्छेदक्रियाव्यभिचारवारण **मेकजातीयामि**त्यग्निसंयोगाद् युगपद्रूपरसादिषु, **एकावच्छेदेने**त्येकेन शब्देन युगपदनेकशब्दोत्पत्तौ, **एकदे**त्यनेनायुगपन्नानाज्ञानोत्पत्तौ। न चैकामेकावच्छेदेनेत्यनेनैकत्रेति गतार्थम्। परमाण्ववच्छेदेनैव परमाणुकर्मणा जनितेषु व्यभिचारवारणे तदुपयोगात्। **नायं** न्यायो न करणधर्मन्यायः।

प्रकाशः- **तथापीति।** एकं करणमेकत्रैकदा एकावच्छेदेनैकजातीयामेकामेव क्रियां जनयति, न त्वनेकाम्। एकत्रेत्यादिविशेषणात् कुठाराग्निशब्देषु युगपदनेकच्छिदारूपादिनानादिगवच्छिन्नानेकशब्दजनकेषु न व्यभिचार इति करणधर्मत्वेन क्रियाक्रमः स्यादित्यर्थः। न च तथापि चक्षुराद्यवच्छेदेन शब्दवद्भिन्नदेशां परमाणाविव विजातीयामग्निसंयोगवदनेकां क्रियां कुर्यादेवेति वाच्यम्। ज्ञानकरणमेकत्रात्मनि एकदैकमेव ज्ञानं जनयति। समूहालम्बनकरणवत्। कथमन्यथा सामग्रीसत्त्वे समूहालम्बनमेकज्ञानम्। नन्वन्यज्ञानसामग्रीसत्त्वे कार्यावश्यम्भावः, तदसत्त्वे किं करणधर्मत्वेन। तस्य सहकार्यन्तरमात्रपर्यवसायित्वात्। न, ज्ञानकरणस्यैकत्रैकदैकज्ञानमात्रजनकतया तत्र नानाज्ञानकारणाभावेनैव सामग्र्यसत्वात्।

मकरन्दः

तथाप्यापातत इदं, व्यासङ्गानुपपत्तावेव तात्पर्यम्। **एकं करणमिति** *प्रत्यक्षप्रकाशे* द्रष्टव्यम्। **नानेति।** अत्र नानादिगवच्छिन्नेति पाठो युज्यते, अन्यथानन्वयात्।

न्यायः। प्रतिपत्तुरकरणत्वाच्चक्षुरादीनामनेकत्वादिति चेत्, नन्वेवमपि युगपत् ज्ञानानि मा भूवन्। युगपज्ज्ञानं तु केन वार्यते? भवत्येव समूहालम्बनमेकं ज्ञानमिति चेन्न। एकेन्द्रियग्राह्येष्विव नानेन्द्रियग्राह्येष्वपि प्रसङ्गात्। तेष्वपि भवत्येवेति चेन्न। व्यासङ्गकाले ज्ञानक्रमेण विवादविषये क्रमानुमानात्। बुभुत्साविशेषेण व्यासङ्गे क्रियाक्रम इति चेन्मैवम्।

आमोदः– ननु प्रतिपत्तुरेवायं धर्मः किं न स्यादत आह **प्रतिपत्तुरिति**। एकस्य कर्त्तुरेतादृशनानाक्रियाजनकत्वस्यादृष्टत्वादित्यर्थः। एवं सत्येकमेव ज्ञानं नानाविषयकं स्यात्, एतावतापि करणधर्मत्वानपायादित्याह **नन्वेवमिति**। उक्तमबुद्ध्वा शङ्कते **भवत्येवेति**। उक्तं स्पष्टयति **एकेति**। दीर्घशष्कुलीभक्षणे रूपादीनामेकदा ज्ञानमभिप्रेत्याह **तेष्वपीति**। तदसिद्धिमाह **व्यासङ्गेति**। व्यासङ्गानुपपत्तिरेव मनोऽणुत्वे प्रमाणमित्यर्थः। विषयसम्बद्धस्य बहिरिन्द्रियस्य मनःसम्बन्धविच्छेदो हि व्यासङ्गः। यतो भवति तूत्पद्यासङ्गि न मया त्वद्भाषितं न एतमिति(?) 'क्रमानुमानात्। ननु न सम्बन्धविच्छेदो व्यासङ्गपदार्थः, किन्तु प्रतिबन्धः। तथा चान्यसामग्र्यां सत्यामपि बुभुत्साप्रतिबन्धेन नान्यत्र ज्ञानं जायते इति व्यासङ्गस्थले न क्रमासिद्धिरित्याह **बुभुत्सेति**।

प्रकाशः– **प्रतिपत्तुरिति**। तस्यानेककरणोपेतस्यानेककार्यकर्तृत्वादिति भावः। **चक्षुरादीनामिति**। एषां यौगपद्यात् पुनः स एव ज्ञानयौगपद्यप्रसङ्गः। करणधर्मत्वेनापि प्रत्येकमविशेषादिति भावः। **नन्वेवमिति**। एवमप्येकदा बहूनां ज्ञानानामनुत्पत्तावप्येकदा नानेन्द्रियकरणकं रूपादिज्ञानमेकं स्यादेव, एकेन्द्रियजन्यसमूहालम्बनज्ञानवदित्यर्थः। न च चाक्षुषत्वादिजातिसंकरापत्तेर्नैकं ज्ञानमिति वाच्यम्। तथा सति फलविरोधेनैकस्यापि ज्ञानस्याजननापत्तेः, चित्ररूपवच्चाक्षुषादिविजातीयस्यैव ज्ञानस्य सामग्रीसत्वेनोत्पत्त्यापत्तेर्वा। न च तत्र फलबलात्तथा। अत्र फलाभावे हेतोः कल्प्यत्वापत्तेः। अन्योन्यप्रतिबन्धस्य तत्त्वे वाऽज्ञानमेव स्यान्न त्वेकस्य ज्ञानमित्युक्तम्। वस्तुतः पञ्चसु यदेकं करणं ज्ञानं जनयति नापराणि, तत्र नियामकमास्थेयम्। अन्यथा ज्ञानजनने तेषां कलहं कः समादध्यादिति भावः। आशयमविद्वानाह **भवत्येवेति**। एकैकेन्द्रियेण स्वस्वविषये समूहालम्बनमेकैकं जन्यत एवेत्यर्थः। आशयमुद्घाटयति **एकेति**। **तेष्वपीति**। दीर्घां शष्कुलीं भक्षयतो गन्धादिज्ञानमेकमनेकेन्द्रियजन्यमुत्पद्यते इत्यर्थः। **व्यासङ्गेति**। एकेन्द्रियासक्तमनसोऽणुना मनसा युगपदनेकेन्द्रिया-

मकरन्दः– ननु रूपादिषु मध्ये रूपादिमात्रग्राहकत्वेनैव चक्षुरादिसिद्धेस्तदन्यगुणग्रहे तदसामर्थ्याच्चित्रज्ञानमसम्भवीत्यरुचेराह **वस्तुत इति**। ननु गोगोत्वनिर्विकल्प-

न ह्येष बुभुत्साया महिमा यदबुभुत्सिते विषये ज्ञानसामग्र्यां सत्यामपि न ज्ञानम्, अपि तु न तत्र संस्कारातिशयाधायकः प्रत्ययः स्यात्। यदि त्वबुभुत्सिते विषये सामग्रीमेव सा निरुन्ध्यात्, घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं नैव दर्शयेत्। तस्मात् बुभुत्सापीन्द्रियान्तरादाकृष्य बुभुत्सितार्थग्राहिणीन्द्रिये मनो निवेशयन्ती युगपज्ज्ञानानुत्पत्तावुपयुज्यते, न तु स्वरूपतः। विभुनोऽपि

आमोदः– बुभुत्साया नैतादृशं सामर्थ्यमित्याह **न ह्येष** इति। तर्हि बुभुत्सायाः क उपयोग इत्याह **अपि त्विति**। बुभुत्सा ज्ञानोत्पत्तिमेव कथं न नियमयतीत्यत आह **यदीति**। संस्कारातिशयाधानबुभुत्साप्रयोजने सत्येवं ज्ञानोत्पत्तावप्युपयोगमाह **तस्मादिति**। **न तु स्वरूपत** इति। मनोनिवेशनं द्वारीकृत्येत्यर्थः। व्यापारं विकल्पयति **तस्येति**। व्यापारः कर्म वा गुणो वा गुणोऽपि नित्यो वाऽनित्यो वा?

प्रकाशः– सन्निकर्षात्तत्र ज्ञानक्रमस्य सर्वसिद्धत्वात्। तद्दृष्टान्तेन तत्रापि गन्धादिज्ञानोत्पादः क्रमेण भवतीत्यनुमीयते। कालसौक्ष्म्याच्च क्रमो न लक्ष्यत इत्यर्थः। ननु दृष्टान्ते नानेकेन्द्रियमनःसंयोगाभावः क्रमप्रयोजकः, किन्तु बुभुत्साप्रयुक्त इत्याह **बुभुत्सेति**। बुभुत्सा न रूपादिग्रहहेतुर्न वा इतरज्ञानप्रतिबन्धिका, किं त्वन्यथा उपयुज्यते इत्याह **न हीति**। ननु बुभुत्साया अतन्त्रत्वे कथं मनोऽणुत्वपक्षे मन्दोऽपि बुभुत्सितः शब्दो गृह्यते, नान्यः। तन्त्रत्वेऽपि कथं दशभिः पठ्यमानासु गाथासु तावद्गोचरबुभुत्सायां प्रणिधाने च सर्वेषामज्ञानमेकज्ञानञ्च। न च श्रोत्रमनःसंयोगविशेषः कार्योन्नेयोऽस्ति, स एव किञ्चिच्छब्दग्रहहेतुस्तदन्यग्रहप्रतिबन्धक एवेति वाच्यम्। विभुत्वेऽपीन्द्रिय मनःसंयोगविशेषस्य तथात्वे व्यासङ्गोपपत्तेः। अथ प्रत्यक्षानुकूलेन्द्रियमनःसंयोगद्वारा बुभुत्साप्रणिधानयोः प्रत्यक्षहेतुत्वमिति चाक्षुषादिबुभुत्सितग्रहे क्लृप्तत्वात्ताभ्यां श्रोत्रे बुभुत्सितशब्दावच्छेदेन मनःसंयोगः कृत इति स एव गृह्यते, नान्य इति

मकरन्दः– कानन्तरमन्यतरविशेष्यकज्ञानोत्पत्ताविवादृष्टमेवात्र नियामकमस्तु, यथा च तत्र नोभयविशेष्यकसमूहालम्बनं तथात्र न युगपज्ज्ञानमिति चेत्, न। अणुना मनसा दृष्टेनैवोपपत्तावदृष्टकल्पनानवकाशात्। अन्यथा स एव न कल्प्येतेति भावः। **सर्वसिद्धत्वादिति**। यद्यपि युगपदनेकेन्द्रियसन्निकर्षो न सर्वसिद्धः, तथापि ज्ञानक्रमस्य तत्र सर्वसिद्धत्वात् अत्रापि क्रम इत्यत्रैव तात्पर्य्यम्। तटस्थः शङ्कते **नन्विति**। यद्वा, गूढाभिसन्धिः शङ्कते **नन्विति**। अत एवाभिसन्धिमुद्घाटयति **विभुत्वेऽपीति**।

मनसो व्यापारक्रमात् क्रम इति चेन्न। तस्य संयोगातिरिक्तस्य कर्मरूपत्वे वैभवविरोधात्। गुणरूपत्वे नित्यस्य क्रमानुपपत्तेः। अनित्यस्य च नित्यैकगुणस्याविभुद्रव्यसंयोगासमवायिकारणकत्वेन तदनन्तरेणानुपपत्तेः। तदपि कल्पयिष्यते इति चेत्, तदेव तर्हि मनःस्थाने निवेश्यतां लाघवाय। तस्मादण्वेव मन इति।

तथा च तस्मिन्ननिन्द्रियप्रत्यासन्ने निरुपधानत्वादात्मनः सुषुप्त्यवस्थायामनुपलम्भः।

आमोदः– आद्ये, **कर्मेति**। अन्त्ये, **नित्येति**। तृतीये त्वाह **अनित्यस्य चेति**। अनित्यपदं स्नेहे, एकपदं द्वित्वादौ व्यभिचारवारणाय। विभुमनोव्यापारो यदि नित्यवृत्त्येकवृत्तिगुणः स्यात्तदा मूर्त्तसंयोगासमवायिकारणकगुणवृत्तिगुणत्व-व्याप्यजातिमान् स्यादित्यर्थः। अत्रेष्टापत्तिमाह **तदपीति**। मनोवैभवेऽपि तादृशं मूर्तं तद्वारणार्थं कल्पनीयमित्यर्थः। **तदेव तर्हीति**। मन एव तथास्तु, तद्वैभवकल्पनैव त्यज्यतामित्याह **तदेवेति**।

प्रकाशः– चेन्न। युगपत्पठ्यमानासु विंशतिगाथासु तावद्गोचरबुभुत्साप्रणिधानयोः सत्त्वे तावद्गाथावच्छेदेन मनःसंयोगाद् युगपत्तासामुपलम्भप्रसङ्गात्। प्रत्येकसामग्रीसत्त्वात्।

उच्यते, यद्यपि बुभुत्साप्रणिधाने न शब्दग्रहमात्रे सहकारिणी, न वेतरग्रहप्रतिबन्धके, तथापि नानाशब्दसमवायदशायां यः शब्दग्रहस्तत्र तयोस्तथाभावः। तथैव तेषामन्वयव्यतिरेकनियमात्। न चाणावपि मनसि रसनसंयुक्ते त्वक्संयोगस्यापि सत्त्वाद् रसगुडद्रव्यज्ञानयौगपद्यापत्तिः। रसनसंयोगकाले मनसस्त्वक्संयोगे मानाभावात्। तस्माच्चाक्षुषज्ञानवतो मैत्रस्य स्वविषयसंबद्धानि त्वगादीनि स्वविषय साक्षात्कारहेतुसंयोगशून्यानि, तदा स्वविषयसाक्षात्काराजन-कत्वात् पटवत्, अन्यथा सामग्रीसत्वे युगपज्ज्ञानोत्पादप्रसङ्गः। **नित्यैकगुणस्येति**। नित्यपदं स्नेहे, एकपदञ्च द्वित्वादौ व्यभिचारवारणाय। नित्यवृत्त्येकवृत्त्यनित्य-गुणत्वेन मूर्त्तसंयोगासमवायिकारणगुणवृत्ति गुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वं साध्यमित्यर्थः। ननु मनोऽवयव्यस्तु तस्य संकोचविस्तराभ्यां ज्ञानक्रमयौगपद्ययोरुपपत्तेः। शष्कुलीभक्षणानन्तरं गन्धादीन् युगपद् प्रत्येमीत्यनुव्यवसायस्य बाधकं विना प्रमात्वात्। मैवम्। यदि संकोचविस्तारहेतुरदृष्टं, तदा तत एव तदुभयमस्तु, किं मनसा। नाप्येकपञ्चबुभुत्सया तौ भवतः। बुभुत्साया अहेतुत्वात्, हेतुत्वे वा लाघवाद्विभु मनोऽस्तु। एतेनाणुमनःपञ्चकमस्तु अवयविनो लघुत्वाद् बुभुत्सा-वशात्तेषामेवैकपञ्चेन्द्रियसम्बन्धादुभयोपपत्तेरित्यपास्तम्। पञ्चबुभुत्सायां पञ्चेन्द्रियसम्बन्धे व्यासङ्गानुपपत्तेरित्यभिप्रेत्याह **तस्मादिति**।

एतदेव मनसः शीलमिति कुतो निर्णीतमिति चेत्, अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। न केवलं तस्य, किन्तु सर्वेषामेवेन्द्रियाणाम्। न हि विशेषगुणमनपेक्ष्य चक्षुराद्यपि द्रव्ये प्रवर्तते। स्वापावस्थायां कथं ज्ञानमिति चेत्, तत्तत्संस्कारोद्‌बोधे विषयस्मरणेन स्वप्नविभ्रमाणामुत्पत्तेः। उद्‌बोध एव कथमिति चेत्, मन्दतरतमादिन्यायेन बाह्यानामेव शब्दादीनामुपलम्भात्, अन्ततः शरीरस्यैवोष्मादेः प्रतिपत्तेः। यदा च मनः त्वचमपि परिहृत्य पुरीतति वर्तते तदा सुषुप्तिः।

स्यादेतत्। परात्मा तु कथं परस्यायोग्यः। न हि साक्षात्कारि ज्ञानविषयतामेवायं न प्राप्नोति। स्वयमप्यदर्शनप्रसङ्गात्। नापि ग्रहीतुरेवायमपराधः, तस्यापि हि ज्ञानसमवायिकारणतयैव तद्योग्यता। नापि करणस्य, साधारणत्वात्। न ह्यासंसारमेकमेव मनः एकमेवात्मानं गृह्णातीत्यत्र नियामकमस्ति। स्वभाव इति चेत्, तर्हि मुक्तौ

आमोदः

उपसंहरति **तस्मादिति।** प्रकृतमुपपादयति **तथा चेति।** निरुपधानत्वात् योग्यविशेषगुणशून्यत्वात्। **एतदेवेति।** योग्यविशेषगुणोपहितात्मग्राहकत्वमित्यर्थः। **स्वापेति।** तदा बहिरिन्द्रियसम्बन्धविच्छेदतादवस्थ्यादित्यर्थः। **स्वप्नविभ्रमाणां** स्वप्नानुभवानाम्। **उद्बोध एव कथमिति।** उद्बोधकं किमित्यर्थः। **मन्देति।** तथा च शब्दाद्यनुभव उष्णस्य स्पर्शानुभवो वा उद्बोधक इत्यर्थः। यद्वा, उद्बोध एव कथं स्वप्नानुभवः आरोपविषयाज्ञानात् सादृश्याज्ञानाच्चेति। विशेषकत्वादिव्याप्या जातिर्मन्दत्वम्। कदाचिद्वायुना श्रोत्रसम्बन्धि मनः क्रियते, कदाचित्त्वक्षसम्बन्धि। अतस्तदारोपविषयस्य शब्दस्पर्शादेर्ग्रहात् स्मृतस्य विषयस्यारोपः, दोषोत्कट्याचु नारोप्यारोपविषयसादृश्यापेक्षेत्यर्थः। उद्बोधिका च निद्रेति भावः। **ऊष्मादेरिति।** ऊष्मस्पर्शादेरित्यर्थः। स्वापमुपपाद्य सुषुप्तिमुपपादयति **यदा त्विति। पुरीतत्** मनोवहनाड़ीति शेषः। कुतस्त्वयोग्य परात्मेति यदुक्तं तत्र पृच्छति **परात्मेति।** द्रव्ययोग्यतायाः सर्वसाधारण्यादिति भावः। तथा च योग्यानुपलब्ध्या तदभावोऽपि निश्चेय इति हृदयम्। **तस्यापीति।** ज्ञानसमवायिकारणत्वं च सर्वेषामेव ग्रहीतृणामित्यर्थः। मनसः स्वभाव एव तादृशो यदेकात्मग्राहित्वमित्याह **स्वभाव इति। मुक्ताविति।**

प्रकाशः– एवमौपोद्घातिकं मनोवैभवनिराकरणं समाप्य प्रकृते योजयति **तथा चेति**। **एतदेवेति**। विशेषगुणोपहितात्मग्राहकत्वमित्यर्थः। अनिन्द्रिय-प्रत्यासन्नत्वान्मनसः स्वप्नप्रत्यया अपि न स्युरित्याह **स्वापेति**। सर्वेन्द्रिय-प्रत्यासत्तिविरहे मनसो ज्ञानाजनकत्वं, न तु त्वगादिप्रत्यासत्तिमतोऽपीत्याह **तत्तदिति**। **उद्बोधः** सहकारिसाकल्यम्। विषयस्मृतिदोषादृष्टादिसाचिव्यान्मनसा स्वप्नानुभवो जन्यत इत्यर्थः। सदृशदर्शनादेरुद्बोधकस्याभावात् संस्कारोद्बोधो न स्यादित्याह **उद्बोध एवेति**। न तदेवोद्बोधकं, किं त्वदृष्टादिकमपि यथासम्भवमित्याह **मन्देति**। **मन्दत्वं**=गत्वादिव्याप्यजातिः। **ऊष्मादेरिति**। अनुद्भूतरूपोद्भूतस्पर्शतेजसः स्पर्शादेरित्यर्थः। स्वापमुक्त्वा सुषुप्तिमाह **यदा चेति**। आत्मनो निरिन्द्रियप्रदेशः **पुरीतत्**। किञ्चिन्मनः कञ्चिदेवात्मानं गृह्णातीत्यपि नास्तीत्याह **नापीति**। एकस्यापि मनसोऽनेकात्मग्राहकत्वादित्यर्थः। **न हीति**। *नैयायिकमत* इति शेषः। *भट्टानां* तु ज्ञानार्थयोरिवात्ममनसोरपि स्वाभाविक एव सम्बन्धो, यतो मुक्तावप्यात्मनो नित्यनिरतिशयानन्दसन्दोहाभिव्यक्तिः। एकात्ममात्रज्ञानजनकत्वं

मकरन्दः– **तथैव** तेषामिति। नन्वेवं वैभवेऽपि रूपादिसकलगोचरबुभुत्साया अहेतुत्वेऽपि तदन्यतमबुभुत्सा तद्ग्राहिका अन्यग्रहप्रतिबन्धिका चास्तामिति तुल्यः समाधिः। न च तादृशबुभुत्सायामपि सूचीसर्पादिवेधानुभवेन तादृश्या अपि व्यभिचारान्नैवमिति वाच्यम्। शब्देऽपि तादृशबुभुत्सायां निकटाहन्यमानढक्काशब्दानु-भवेन तुल्यत्वात्। अत्रापि यदि विशेषकल्पनं, तदा तदपि तुल्यमिति। मैवम्। अणुना मनसैवोपपत्तौ तादृशबुभुत्साहेतुत्वादिकल्पनायामेव गौरवात्। **रसनसंयोग-काल इति**। न च त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानमात्रहेतुत्वे तदावश्यकमिति वाच्यम्। त्वचस्तथात्वमतेऽपि तत्तन्मनोयोगस्य तथात्वे मानाभावात्। न च सुषुप्तौ ज्ञानानुत्पत्तिरेव मानं, शरीरमनः संयोगाभावात्तदुपपत्तेः। **चाक्षुषेति**। *प्रत्यक्षप्रकाशे* विपञ्चितम्। शब्दजशब्दे व्यभिचारवारणाय साध्यं व्याचष्टे **मूर्त्तेति**। गुणपदं स्पष्टार्थम्।

न तदेवेति। न सदृशदर्शनमेवेत्यर्थः। **अदृष्टादिकमपीति**। अपि पदात्तद्भिन्नशब्दाद्युपलम्भपरिग्रहः। तथा च क्वचिददृष्टं क्वचिज् ज्ञानान्तर-मुद्बोधकमिति भावः। ननु मन्दत्वं तारत्वनिरूप्यमिति तदज्ञाने तदसम्भवीत्यत आह **मन्दत्वमिति**। जातिज्ञाने च नेतरज्ञानापेक्षेति भावः। ननूष्मा तेजस्तच्चातीन्द्रिय-मित्यत आह **अनुद्भूतरूपेति**। ऊष्मादेरित्यतद्गुणसंविज्ञानबहुब्रीह्याश्रयणादिति भावः। **भट्टानामिति**। तथा च तेषां तथा नियम एवेत्यर्थः। **एकात्ममात्रेति**। तथा च नियामकान्तराभावेऽपि स्वभाव एव नियामक

निःस्वभावत्वप्रसङ्गः। तदेकार्थताया अपायादिति। न, भोजकादृष्टोपग्रहस्य नियामकत्वात्। यद्धि मनो यच्छरीरं यानीन्द्रियाणि यस्यादृष्टेनाऽऽकृष्टानि तानि तस्यैवेति नियमः। तदुक्तं प्राक् – 'प्रत्यात्मनियमाद्भुक्ते'रिति। एतेन परबुद्ध्यादयो व्याख्याताः। तदेवं योग्यानुपलब्धिः परात्मादौ नास्ति। तदितरा तु न बाधिकेति तवापि सम्मतम्। अतः किमधिकृत्य प्रतिबन्धिः। न हि शशशृङ्गमयोग्यानुपलब्ध्या कश्चिन्निषेधति। न च प्रकृते योग्यानुपलब्धिं कश्चिन्मन्यते। अथायमाशयः – अयोग्यशशशृङ्गादावनुपलब्धिर्न बाधिका

आमोदः– यद्येकमेव मन एकात्मग्राहकमिति स्वभावस्तदा **मुक्तौ** जीवन्मुक्तौ **निःस्वभावत्वप्रसङ्गः**। तदा बहूनामेव मनसामेकात्मग्राहकत्वात्। यदि पुनरेकं मन एकमेवात्मानं गृह्णातीति स्वभावस्तदा **मुक्तौ** परममुक्तौ **निःस्वभावत्वप्रसङ्ग** इत्यर्थः। तदा हि तदात्मनो मोक्षे तदीयमेव मनोऽन्यादृष्टाङ्गमतः अन्यमात्मानं गृह्णातीति निःस्वभावत्वमेवाह **तदेकार्थताया** इति। तदेकार्थग्राहकत्वापायादि-त्यर्थः। **नियामकत्वादिति**। स्वादृष्टाकृष्टमेव मनसः स्वात्मग्राहकत्वमिति स्वाभाव्यादित्यर्थः। तदेवाह **यद्धीति**। **तस्यैवेति**। तन्मात्रग्राहकाण्येवेत्यर्थः। **व्याख्याताः** स्वमात्रवेद्यत्वेनेत्यर्थः। प्रकृतमुपसंहरति **तदेवमिति**। **तवापीति**। तदितरानुपलब्धिमात्रं सम्मतमिति। तथा च चक्षुरादीनामपि विलोपः स्यादिति भयेनेति भावः। **अत इति**। योग्यानुपलब्ध्या शशे शृङ्गाभावस्यैव निश्चयादित्यर्थः। एतदेव सोत्प्रासं स्फुटयति **न हीति**। **प्रकृत इति**। परात्मनीत्यर्थः। अयोग्यमेव शृङ्गं शशे सिद्ध्येदिति शङ्कते **अथेति**।

प्रकाशः– मनसः स्वभाव इत्याह **स्वभाव इतीति**। एकस्यात्मन एकमेव मन इति स्वभावः, एकं मन एकमेवात्मानं गृह्णातीति वा, द्वयमपि जीवन्मुक्तौ नास्ति। तत्र कायव्यूहे बहुतरमनःस्वीकाराद्योगिनामप्यात्मसाक्षात्कारजननादित्याह **मुक्ताविति** जीवन्मुक्तौ। यदीयादृष्टाकृष्टं यन्मनस्तत्तस्यैव ग्राहकं, योगिनामपि तत एव तदीयत्वं तस्य। अदृष्टस्यापि तदीयत्वं तदीयमनोनिष्पन्नत्वेन, बीजाङ्कुरवच्च नानवस्थादोष इत्याह **भोजकेति**। यथा परात्मनि परमनसो न साक्षात्कारजनकत्वं तथा परबुद्ध्यादावपि, तुल्यत्वादित्याह **एतेनेति**। यत्र प्रतिबन्धिः स्यात् तदुभयमपि नेष्यते इत्याह **न हीति**। न हि तेन

स्यादिति। ततः किम्? तत् सिद्ध्येदिति चेत्, एवमस्तु यदि प्रमाणमस्ति। पशुत्वादिकमिति चेत्, परसाधने प्रतिबन्धिस्तर्हि न तद्बाधने। तत्रैव भविष्यतीति चेत्, तत्किं तत्र प्रतिबन्धिरेव दूषणम्, अथ कथञ्चित्तुल्यन्यायतया योग्या एव परात्मबुद्ध्यादयस्ते च बाधिता एवेत्यपहृतविषयत्वम्? न प्रथमः, अव्याप्तेः। न हि पशुत्वादेः शशशृङ्गसाधकत्वेन कार्यत्वादेः कर्तृमत्त्वादिसाधकत्वं व्याप्तं, येन तस्मिन्नसति तत्प्रतिषिद्ध्येत। न द्वितीयः, मिथोऽनुपलभ्यमानत्वस्य

आमोदः– सिद्धान्त्याह *ततः किमिति*। पूर्वपक्षवाद्याह *तदिति*। इष्टापत्तिमापाततस्तावदाह *एवमिति*। अपि त्वयोग्यशृङ्गे प्रमाणमेव नास्तीति भावः। आदिपदान्मृगत्वादिग्रहः। *परसाधनमिति। परस्य नैयायिकस्य* ईश्वरसाधने प्रतिबन्धिः यदि ईश्वरः सिद्ध्येत्, शशेऽपि शृङ्गं सिद्ध्येदित्यर्थः। तथा चार्थान्तरमिति भावः। *तत्तद्बाधन* इति। न त्वीश्वरसाधने किञ्चिदनेन दूषणमभिधीयत इत्यर्थः। *तत्रैवेति*। ईश्वरानुमान इत्यर्थः। *अथेति*। यथा शशे शृङ्गं बाधितं तथा परात्मापि बाधित इत्यर्थः। *अव्याप्तेरिति*। प्रतिबन्दिनात्मा हेत्वाभासो नास्त्येव किन्तु शशशृङ्गादिसिद्धिर्यापिका तन्निवृत्तौ क्षितिकर्तृत्वानुमानमपि निवर्तत इति प्रतिबन्दिर्दूषणं भवेत्,तादृशी च व्याप्तिर्नास्तीति भावः। व्याप्तिमेव दर्शयति *न हीति। तस्मिन्निति*। शृङ्गसाधनेऽसति कर्तृत्वसाधनं निवर्तेतेत्यर्थः। *तस्मिन् सतीति* पाठे तु तस्मिन् सकर्तृकत्वसाधने सति तच्छशशृङ्गं सिद्ध्येदित्यर्थः। *मिथ इति*। तथा च योग्यानुपलब्धिसिद्ध्या न परात्मव्यतिरेकसिद्धिर्येन बाधः स्यादित्यर्थः। अर्थान्तरं पुरुषदोषो न साधनदोष

प्रकाशः– ईश्वरसाधने किञ्चिद् दूष्यत इत्यर्थान्तरं निग्रहस्थानमित्याह *तत इति*। आशयमविद्वानाह *तदिति*। तत्सिद्धावपि न प्रकृते दूषणमित्याह *एवमिति*। मानमाह *पशुत्वादिकमिति*। पक्षसमत्वादेव नाश्वादौ व्यभिचार इति भावः। आशयं स्फुटयति *परेति*। यदीश्वरः सिद्ध्येत्, तदा शशशृङ्गमपि सिद्ध्येदितीश्वर-साधने प्रतिबन्धिस्तथा चार्थान्तरमित्युक्तम्। नन्वनुपलब्धिमात्रेण यथा शशे शृङ्गाभावस्तथा क्षित्यादौ कर्तुरप्यभाव इति बोधनेऽपि प्रतिबन्धिः स्यात्, इष्टापत्तेरभावादित्याह *तत्रैवेति*। *मिथ इति*। परात्मादेः परायोग्यत्वस्यो-भयवादिस्वीकारात् प्रत्यक्षेणानुपलम्भमात्रं, नायोग्ये बाधकमित्यर्थः। अर्थान्तरं हि पुरुषदोषो, न तु साधनदोष इत्याशयेन

वादिप्रतिवादिस्वीकारात्। तथापि पशुत्वादौ को दोष इति चेत्? न जानीमस्तावत्तद्विचारावसरे चिन्तयिष्यामः।

स्यादेतत्। यत्प्रमाणगम्यं हि यत् तदभाव एव तस्याभावमावेदयति। यथा रूपादिप्रतिपत्तेरभावश्चक्षुरादेरभावम्। कायवाग्व्यापारैकप्रमाणकश्च परात्मा, तदभाव एव तस्याभावे प्रमाणमङ्कुरादिषु। तन्न, तदेकप्रमाणकत्वासिद्धेः। अन्यथा सुषुप्तोऽपि न स्यात्। श्वाससन्तानोऽपि तत्र प्रमाणमिति चेन्न। निरुद्धपवनोऽपि न स्यात्। कायसंस्थानविशेषोऽपि तत्र प्रमाणमिति चेन्न, विषमूर्च्छितोऽपि न स्यात्। शरीरोष्मापि तत्र प्रमाणमिति चेन्न। जलावसिक्तविषमूर्च्छितोऽपि न स्यात्।

आमोदः- इत्याशयेन पृच्छति **तथापीति**। शृङ्गस्य योग्यसंस्थाननियतत्वेन प्रत्यक्षबाध एव तत्र स्फुट इति नागरकोक्तिमाश्रित्याह **नेति**। तथाप्यज्ञानमप्रतिभा वेत्याशयेनाह **तद्विचारेति**। संशयाभावाद्विचार एव तत्र न प्रवर्तते इति भावः।

यत्प्रमाणगम्यमिति। यदेकप्रमाणगम्यमित्यर्थः। अतो धूमाभावेऽपि वह्निरिति न व्यभिचारः। पूर्वं कायविशिष्ट एव कर्तेत्युक्तम्, इदानीं कायव्यापार-विशिष्टः कर्तेति विशेषणस्य प्रत्यक्षेण बाधात् विशिष्टस्यापि बाध एवेति योग्यानुपलब्धिरेवोक्ता भवति। **अन्यथेति**। यदि कायव्यापारमात्रं परात्मनि प्रमाणं भवेदित्यर्थः। **श्वासेति**। तदेकप्रमाणगम्यत्वं दूषयित्वा उपपत्तिसौकर्यादेतदुक्तम्। **संस्थानविशेषः** शरीरावयवादिसौष्ठवं जीवित्वलिङ्गं सुषुप्त्याद्यवस्थासु परात्मनि यथा नैकमनुगतं किन्तु क्वचित् किञ्चित्, तथा

प्रकाशः- पृच्छति **तथापीति**। शशे शृङ्गस्यात्यन्तमभाव इति सर्वेषामबाधित-प्रत्यक्षबाधः।

शृङ्गत्वस्य जातेर्योग्यसंस्थानव्यङ्ग्यत्वेनायोग्ये शङ्कितुमप्यशक्यत्वात्। अन्यथा तद्व्यतिरेकाप्रसिद्ध्या अनुमानानवकाशात्,अन्वयिनश्चानङ्गीकारात्। परात्मनश्चायोग्यस्यापि कर्तृत्वान्न कर्तृत्वं योग्यत्वनियतमित्याशयवत उत्तरं, नेति।

यत्प्रमाणेति। यदेकप्रमाणगम्यमित्यर्थः। अतो न धूमाभावेऽपि अग्निसत्त्वाद् व्यभिचारः। अत एव 'तदेकप्रमाणत्वासिद्धे'रिति वक्ष्यति। कार्यमात्र-प्रमाणोन्नेयस्तद्विशेषनिवृत्तिमात्रेण न निवर्तते। कार्यमात्रस्य च न व्यावृत्तिरित्युप-

---

मकरन्दः- इति भावः। अयोग्यस्यैव बाध इत्याशङ्क्याह **शृङ्गत्वस्येति**। अप्रयोजकत्वमाशङ्क्याह **अन्यथेति**। **अन्वयिनः**=केवलान्वयिनः।।१।।

तस्मात् यद्यत्कार्यमुपलभ्यते तत्तदनुगुणश्चेतनस्तत्र तत्र सिद्ध्यति। न च कार्यमात्रस्य क्वचिद्व्यावृत्तिरिति। न च त्वदभ्युपगतेनैव प्रमाणेन भवितव्यं नान्येनेति नियमोऽस्ति। न च प्रमेयस्य प्रमाणेन व्याप्तिः। सा हि कार्त्स्न्येन वा स्यात्, एकदेशेन वा स्यात्? न प्रथमः, प्रत्यक्षाद्यन्यतमासद्भावेऽपि तत्प्रमेयावस्थितेः। न द्वितीयः, पुरुषनियमेन सर्वप्रमाणव्यावृत्तावपि प्रमेयावस्थितेः। अनियमेनासिद्धेः। न हि सर्वस्य सर्वदा सर्वथाऽत्र प्रमाणं नास्तीति निश्चयः शक्य इति। कथं तर्हि चक्षुरादेरभावो निश्चेयः? व्यापकानुपलब्धेः। चरमसामग्रीनिवेशिनो हि

आमोदः– क्षित्यादिकार्यत्वमपीश्वरेऽप्रमाणमस्तीति न प्रमाणसामान्यनिवृत्तिरित्युप-संहरन्नाह **तस्मादिति**। **क्वचिदिति**। सुषुप्त्याद्यवस्थादावित्यर्थः। ननु कायवाग्व्यापारादन्यत् परमात्मनि प्रमाणं नास्त्येवेत्यत आह **न चेति**। इदानीं प्रमाणनिवृत्तावपि प्रमेयं न निवर्तत इत्याह **न च प्रमेयस्येति**। येन प्रमाणनिवृत्तौ प्रमेयं निवर्तेतेति शेषः। **कार्त्स्न्येनेति**। सकलप्रमाणसत्त्वे सत्येव प्रमेयसत्त्वमेवंरूपा व्याप्तिरित्यर्थः। **एकदेशेति**। एकदेशप्रमाणे सत्येव प्रमेयसत्त्वमित्येवंरूपा व्याप्तिरित्यर्थः। **न प्रथम इति**। न हि स्वर्गापूर्वादौ प्रमेयं कृत्स्नान्यपि प्रमाणानि सन्तीत्यर्थः। एकदेशः पुरुषापेक्षया प्रमाणापेक्षया वा? नाद्य इत्याह **पुरुषेति**। न हि कस्यचित् पुरुषस्य सर्वाणि प्रमाणानि प्रमेयव्याप्तानि व्यभिचारस्योक्तित्वादित्यर्थः। यत्र यत्र प्रमेयं तत्र किञ्चित् कस्यचित् प्रमाणमस्त्येवेति द्वितीयमाशङ्क्याह **अनियमेनेति**। कस्यचित् पुरुषस्य किञ्चित् प्रमाणमस्त्येव। तथा च परात्मनि प्रमाणनिवृत्तिरसिद्धैवेत्यर्थः। एतदेवाह **न हीति**। **कथं तर्हीति**। यदि प्रमाणनिवृत्तौ न प्रमेयनिवृत्तिरित्यर्थः। उन्मीलिताक्षस्यालोकं रूपसाक्षात्कार एव चक्षुर्व्यापकः। तदभावादेव प्रसन्नान्धस्य चक्षुरभावोऽनुमीयत इत्यर्थः। एवं श्रोत्राद्यभावेऽपि एतदाह **चरमेति**।

प्रकाशः– संहरति **तस्मादिति**। तथा च प्रमाणविशेषनिवृत्तावपि प्रमाणसामान्य-सत्त्वात्तदेकप्रमाणगम्यत्वमसिद्धमित्यर्थः। न च प्रमाणप्रमेययोर्व्याप्तिर्यतः प्रमाणविशेषाभावे प्रमेयासत्त्वं स्यादित्याह **न चेति**। **अनियमेनेति**। सर्वपुरुषापेक्षयेत्यर्थः। **व्यापकेति**। तत्तद्व्यापकनिवृत्तौ तत्तद्व्याप्यनिवृत्तेरित्यर्थः। कार्यविशेषस्य कारणविशेषव्यापकत्वमाह **चरमेति** कार्यरूपज्ञानादि।

कार्यमेव व्यापकम्। तन्निवृत्तौ तथाभूतस्यापि निवृत्तिः। योग्यमात्रस्य कदाचित्कार्यं, तन्निवृत्तौ तथाभूतस्यापि निवृत्तिः। अन्यथा, तत्रापि सन्देहः। प्रकृतेऽपि व्यापकानुपलब्ध्या तत्प्रतिषेधोऽस्तु। न, आश्रयासिद्धत्वात्। न हीश्वरस्तज्ज्ञानं वा क्वचित् सिद्धम्। आभासप्रतिपन्नमिति चेन्न। तस्याश्रयत्वानुपपत्तेः, प्रतिषेध्यत्वानुपपत्तेश्च।१।

व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता।।२।।

आमोदः- तथाभूतस्य चरमसामग्रीनिवेशिनः। **योग्यमात्रस्य** स्वरूपयोग्यमात्रस्य बीजादेः कदाचिदङ्कुरोत्पत्त्या तज्जातीये स्वरूपयोग्यत्वं निश्चीयत इत्यर्थः। **तन्निवृत्तावपीति।** यत्र कदाचिदपि नाङ्कुरः शिलाशकलादौ तत्र स्वरूपायोग्यत्वं निश्चीयत इत्यर्थः। यद्यप्येवं भुक्तविनष्टबीजदेरपि स्वरूपयोग्यत्वप्रसङ्गः, तथापि तज्जातीयत्वेन तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वमिति निश्चय इति भावः। **अन्यथेति।** यज्जातीयस्य कदाचिदपि कार्यं न दृश्यते तज्जातीये स्वरूपयोग्यतां प्रत्यापाततः सन्देह एवेत्यर्थः। **प्रकृत इति।** ईश्वरो न कर्ता शरीरादिरहितत्वात्। न ज्ञानं नित्यं ज्ञानत्वादित्याद्यनुमानम् ईश्वरानुमाने बाधकमित्यर्थः। **आभासेति।** असत्ख्यात्युपस्थितमित्यर्थः। **तस्येति।** ईश्वरे कर्तृत्वं न निषेद्धुं शक्यते निषेधाश्रयस्य प्रमाविषयत्वनियमादित्यर्थः। न त्वीश्वर एव नेष्यते। तेन तु कर्तृत्वं तत्रेत्यत आह **प्रतिषेध्यत्व इति।** प्रमितस्यैव प्रतियोगित्वादित्यर्थः।१।

आश्रयः प्रतियोगी च द्वयमपि प्रमितमेवाभावनिरूपकमिति कुत एतदित्यत आह **व्यावर्त्येति। व्यावर्त्यो** निषेध्यस्तदभाववत्तेत्यर्थः। **भाविकी** स्वाभाविकी।

प्रकाशः- योग्यतामात्रस्येति। व्यापकमित्यनुषज्ज्यते। न च भक्षितविनष्टबीजे व्यभिचारः। यत्सामान्यं यत्कारणतावच्छेदकं तदवश्यं तज्जनकवृत्तीत्यर्थात्, नित्ययोग्याभिप्रायकत्वाद्वा। **अन्यथेति।** कदाचित्कार्यव्यतिरेके योग्यतायामपि सन्देह इत्यर्थः। **प्रकृतेऽपीति।** ईश्वरो न कर्ता तद्व्यापकस्वार्थादिशून्यत्वाद् व्योमवदिति व्यापकाभावलिङ्गकमनुमानमित्यर्थः। **आभासेति।** असत्ख्यात्युपस्थितमित्यर्थः। यदीश्वरे कर्तृत्वनिषेधः साध्यते तदाऽऽश्रयत्वमीश्वरस्य, यदा तस्यैवाभावः, तदेश्वरस्य प्रतियोगित्वम्। उभयमपि नास्तीत्याह **तस्येति।**।१।।

न चैतदाभासप्रतिपन्नस्यास्तीति कुतस्तस्य निषेधाधिकरणत्वं निषेध्यता वेति। कथं तर्हि शशशृङ्गस्य निषेधः? न कथञ्चित्। स ह्यभावप्रत्यय एव। न चायमपारमार्थिकप्रतियोगिकः परमार्थाभावो नाम।

आमोदः– अभावविरहात्मत्वम्भावविरहात्मस्वाभाव्यमित्यर्थः। तथा च उभयं प्रमितमेव वाच्यमित्यायातमिति भावः। ***न चैतदिति।*** विशेष्यत्वं भाविकप्रतियोगित्वं चेत्यर्थः। न चाशरीरकर्तृत्वज्ञानमीश्वरानुमितिरयथार्थेति साध्यमिति वाच्यम्। अयथार्था ह्याभासाधीनमनेन ज्ञाप्यं तत्राभासनिरासादयाथार्थ्यं बाधितमिति। ***शशशृङ्गस्य*** शशीयशृङ्गस्य। ***स हीति।*** स यतोऽभावप्रत्यय एव त्वया वाच्यः, तस्य च प्रतियोगिकत्वव्यवस्थापनादित्यर्थः। ननु शृङ्गमपि प्रामाणिकमस्तु, को दोष इत्यत आह ***न चेति।*** किं च योग्यानुपलब्ध्याऽभावः प्रतीयते। सा च तत्तद्व्याप्येतरेत्यादि रूपा, प्रकृते च शशशृङ्गादिप्रमापकं नास्त्येवेत्याह – (न चेति) २।

प्रकाशः

कुत इत्याह ***व्यावर्त्त्येति।*** ***व्यावर्त्यः*** प्रतियोगी, ***तदभाववत्ता भाविकी*** पारमार्थिकी ***विशेष्यता*** आश्रयता, ***वस्तुनः*** प्रामाणिकस्य, स्वाभावविरहरूपत्वं च ***प्रतियोगित्वम्।*** असत्ख्यातेः कारणाभावेन निरासादित्यर्थः।

नन्वनुमितिरेव पक्षः। तथा हि इयमनुमितिरयथार्था, अशरीरे कर्तृत्वज्ञानत्वात्, ज्ञाने नित्यत्वज्ञानत्वाद्वा। घटः कर्त्ता, चैत्रज्ञानं नित्यमिति ज्ञानवदित्यस्तु। न चोपजीव्यविरोधः। अनुमितिर्हि उपजीव्या, न तु तद्यथार्थत्वमपि। न, अप्रयोजकत्वात्। अन्यथा, पर्वते अग्न्यनुमितिरयथार्था उभयसिद्धाग्निमद्भिन्नेऽग्निमत्त्वज्ञानत्वात्, ह्रदोऽग्निमानितिवदित्यापत्तेः। अपि चानुमितेरयथार्थत्वं दोषादुत्पन्नमनेन ज्ञाप्यं, न त्वनेनोत्पाद्यम्। तत्र चायमेव दोषो दोषान्तरं वा? नाद्यः, अन्योन्याश्रयात्। नान्त्यः, तदभावात्।

न चेति। आभासानाभाससङ्करापत्तेरिति भावः। ***कथमिति।*** यदि नासतो निषेध्यत्वमिति शेषः। ***न कथञ्चिदिति।*** नात्रापि कल्पितस्य निषेध्यत्वं, शशेऽधिकरणे शृङ्गस्यैव निषेधादित्यर्थः। ***स हीति।*** पारमार्थिकाभावप्रत्यय एवेत्यर्थः। प्रतियोग्यधिकरणयोर्वस्तुत्वादिति भावः। ***न चेति।*** प्रामाणिकनिषेधव्यवहारे प्रामाणिकस्यैव निषेध्यत्वादित्यर्थः।२।

मकरन्दः

अयमेवेति। प्रकृतानुमानमेवेत्यर्थः। ***आभासेति।*** आभासप्रतिपन्नस्यापि

न चापारमार्थिकविषयं प्रमाणं नामेति। २।
अपि च –

दुष्टोपलम्भसामग्री शशशृङ्गादियोग्यता।
न तस्यां नोपलम्भोऽस्ति नास्ति साऽनुपलम्भने।।३।।

केन च शशशृङ्गं प्रतिषिद्ध्यते? सर्वथाऽनुपलब्धस्य योग्यत्वासिद्धेः। तदितरसामग्रीसाकल्यं हि तत्। ननूक्तमाभासोपलब्धं हि तत्। अत एवाशक्यनिषेधमित्युक्तम्। अनुपलम्भकाले आभासोपलम्भसामग्र्या

आमोदः– **अपि चेति।** दुष्टा दोषघटिता उपलम्भसामग्री शशशृङ्गादेर्योग्यता वाच्या, तस्यां सत्यामुपलम्भो नास्ति। अनुपलम्भे च दोषघटिता सामग्री नास्तीति क्व तत्र योग्यानुपलब्धिरित्यर्थः। **केन चेति।** कीदृशेनानुपलम्भेनेत्यर्थः। योग्यानुपलब्धेरभावात् अनुपलम्भमात्रं त्वतिप्रसक्तमिति भावः। **केन चेति।** अपि तु न केनापीत्यर्थ इत्येके। **तदितरेति** तत्तद्व्याप्येत्यर्थः।

प्रकाशः– किञ्चानुपलब्धिमात्रान्निषेधनिश्चयेऽतीन्द्रियोच्छेदाद् योग्यानुपलम्भात् स वाच्यः। योग्यता च प्रतियोगितद्व्याप्येतरतत्प्रमापकसाकल्यरूपा अलीके नास्तीति दोषसचिवतद्भानसामग्रीरूपा सा वाच्या। तस्यां च सत्यां नालीकस्या-नुपलम्भः उपलम्भस्यैव सत्वात्। अनुपलम्भदशायाञ्च तद्भानसामग्रीरूपा योग्यतैव नास्तीत्याह **अपि चेति। केन चेति।** न केनापीत्यर्थः। **सर्वथेति।** प्रमाणत इति शेषः। नन्वाभासोपलब्धस्यापि नेदं रजतमिति निषेधादुपलब्धमात्रस्य निषेधो, न तु प्रमितस्यैवेत्यत आह **तदितरेति।** रजतादेः प्रामाणिकत्वेन योग्यस्यै-वानुपलम्भान्निषेधो, न त्वाभासोपलब्धस्येत्यर्थः। तथैव किं न स्यादित्याह **नन्विति।** आभाससामग्रीकालेऽनुपलम्भाभावादनुपलम्भकाले च तद्रूपयोग्यताया असत्त्वादित्याह **अत एवेति।**

मकरन्दः वस्तुत्वाभ्युपगमे वस्तुत्वावस्तुत्वसङ्करापत्तिरित्यर्थः। **यदीति।** यद्यपि तर्हीत्यस्य तदेत्यर्थः। तस्य च नित्यसापेक्षतया शेषदानं विनापि तदर्थलाभः, तथापि नित्यसापेक्षतया अध्याहारात् तदपेक्षया शेषस्य त्वरितप्रतिपत्तिकरत्वमिति भावः। **शशे इति।** यद्यपि शशे गवादिशृङ्गस्य संयोगवृत्त्या सत्वात् कथं शृङ्गाभावः, समवायवृत्त्या च तदभावो गवादावपि शृङ्गस्य संयोगित्वात्। तथापि जन्यजनकभावसंबन्धेन तदभावो बोध्यः।।२।।

अभावात्तत्काले चानुपलम्भाभावादिति। कस्तर्हि शशशृङ्गं नास्तीत्यस्यार्थः? शशे अधिकरणे विषाणाभावोऽस्तीति।

आमोदः– अशक्यनिषेधत्वमेवाह अनुपलम्भकाल इति। कस्तर्हीति। यदि तत्प्रतिषेद्धुं न शक्यते इत्यर्थः। शश इति। तथा चाधिकरणस्य प्रतियोगिनः प्रमितत्वमेवेति भावः। उक्तसंकलनाय वृत्तं कीर्तयति यद्यपीति। दृष्टान्तलाभार्थमाह मदितर इति। न सर्वज्ञा इति। किञ्चिदनभिज्ञा इत्यर्थः। अन्यथा *मीमांसकमते* साध्याप्रसिद्धेरिति। न चात्मत्वमसर्वज्ञत्वव्याप्यं ज्ञानत्वमनित्यत्वव्याप्य-मित्यादिप्रकारेण सत्प्रतिपक्षत्वं विपक्षे बाधकाभावात्।३।

प्रकाशः– नन्वेवं घटादावपि दोषस्योपलम्भकारणत्वात्तदभावोऽपि न गृह्येत। प्रमापकसाकल्यस्य च विवक्षितत्वे गुणस्यैव प्रमापकस्याभावात् तत्साकल्यासिद्धेः। अत्राहुः। प्रत्यक्षप्रमायामिन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य गुणत्वात्तस्य च तद्व्याप्यत्वादेव। तदन्यगुणस्य च तत्राकारणत्वात्। घटादौ गुणान्यप्रमाकारणत्वेन योग्यता। शशशृङ्गे च न दोषान्यज्ञानकारणत्वेन योग्यता। दोषान्यप्रमापकस्याभावादि*त्यन्ये* ।

शश इति। ननु गवि शशशृङ्गं नास्तीतिप्रतीतिबलात् प्रतियोग्यवृत्तिधर्मेण शशीयत्वेनावच्छिन्नः शृङ्गाभावः प्रतीयते। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावस्य केवलान्वयित्वात्। मैवम्, प्रतियोगितावच्छेदकधर्म विशिष्टप्रतियोगिज्ञानस्याभावधीहेतुतया तादृशप्रतीतेरसिद्धेः। अन्यथा, प्रतियोगिनिर्विकल्पकादपि व्यतिरेकप्रतीत्यापत्तेः।।३।।

मकरन्दः– प्रत्यक्षप्रमायामिति। तथा च प्रतियोगितद्व्याप्येतरयावत्प्रमापक-समवधाने सति अनुपलब्धिरभावग्राहिका, गुणस्य चार्थनियतत्वेन तद्व्याप्यपदेनैव व्यवच्छेदान्नासम्भवः। सा च न शशशृङ्गाभावे, तत्प्रमापकाप्रसिद्धेः, न च दोषान्यज्ञापकसाकल्यं विवक्षितं, तच्चेन्द्रियाद्येव तत्रापि प्रसिद्धमिति वाच्यम्। गौरवादित्याहुः। वस्तुतोऽसत्ख्यातेः कारणाभावेनानभ्युपगमादलीकस्य नोपलब्धत्वमपीति न तन्निषेध्यमिति भावः। प्रमापकस्येति। प्रज्ञापकस्येत्यर्थः। अत्रेदमनभिमतिबीजम्। असत्ख्यातिपक्षे दोषान्यज्ञापकमिन्द्रियाद्येव, अन्यथा दोषोऽपि न तज्ज्ञापक इति दोषान्यविशेषणं व्यर्थमिति। प्रतियोगितेति। यद्यपि तादृशज्ञानं विनापि प्रमेयाभाव इति शब्दादिनाऽभावग्रहान्न तस्याहेतुत्वं, तथापि प्रत्यक्षे तथात्वं बोध्यम्। यद्यप्याहार्य्यादिरूपं तादृशज्ञानं प्रकृते सम्भवत्येव, तथा*प्यनुमानप्रकाशे* मदुक्तमनुसन्धेयम्।।३।।

स्यादेतत्। यद्यपीश्वरो नावगतो, यद्यपि च नाभाससिद्धेन प्रमाणव्यवहारः शक्यसम्पादनः, तथाप्यात्मानः सिद्धास्तेषां सार्वज्ञ्यं निषिद्ध्यते, क्षित्यादिकर्तृत्वञ्चेति। तथा हि - मदितरे न सर्वज्ञाश्चेतनत्वादहमिव। न च ते क्षित्यादिकर्तारः पुरुषत्वादहमिव। एवं वस्तुत्वादेरपीति। तदेतदपि प्रागेव परिहृतम्।३। तथा हि -

इष्टसिद्धिः प्रसिद्धेंऽशे हेत्वसिद्धिरगोचरे।
नान्या सामान्यतः सिद्धिर्जातावपि तथैव सा।।४।।

प्रमाणप्रतीतानां चेतनानां पक्षीकरणे सिद्धसाधनम्। ततोऽन्येषामसिद्धौ हेतोराश्रयासिद्धत्वम्। आत्मत्वमात्रेण सोऽपि सिद्ध इति चेत्, कोऽस्यार्थः? किमात्मत्वेनोपलक्षिता सैव वस्तुगत्या सर्वज्ञविश्वकर्तृव्यक्तिः, अथ तदन्या। आत्मत्वमेव वा पक्षः? सर्वत्र पूर्वदोषानतिवृत्तेः। अथायमाशयः - आत्मत्वं न सर्वज्ञसर्वकर्तृव्यक्तिसमवेतं, जातित्वात्, गोत्ववदिति। तदसत्, निषेध्यासिद्धेर्निषेधस्याशक्यत्वात्। तथा चाप्रसिद्धविशेषणः पक्ष इत्याश्रयासिद्धिरिति स एव दोषः।४।

आमोदः- असिद्धानामात्मनां पक्षत्वे सिद्धसाधनमित्याह **इष्टेति**। ईश्वरपक्षत्वे तु हेतोराश्रयासिद्धिरित्याह **हेत्वसिद्धिरिति**। **अगोचरे** अनुपस्थिते, गोचरतादशायां बाध एवेति भावः। **नान्येति**। आत्मत्वेनाप्रसिद्ध एव पक्षस्तदाश्रयासिद्धिः। अथ सिद्धा एव तदा सिद्धसाधनमित्यर्थः। **जातावपीति**। आत्मत्वं सर्वज्ञवृत्ति इति कृतेऽपि साश्रयासिद्धिस्तथैव। पूर्वन्यायैनैव सर्वज्ञवृत्तित्वस्य निषेध्यस्याप्रसिद्धौ सन्देहसिषाधयिषयोरभावात् आश्रयासिद्धिरेवेत्यर्थः। **सर्वत्रेति**। यदि सैवास्मदभिमतैव सिद्धा तदा बाधस्तदन्या चेत्तदा सिद्धसाधनम्। आत्मत्वं न सर्वमित्यत्रापि सिद्धसाधनमेवेत्यर्थः। **जातावपि तथैव सेति**। प्रकारान्तरेण योजयितुमाह **अथायमिति**। आगमश्च लोकश्च इत्यागमलोकौ, यद्वा आगमस्य लोकः समूहः। आगमो यदि प्रमाणं तदा ईश्वरो न सर्वज्ञ इत्यादौ धर्मिग्राहकमानबाध एव। अथ न प्रमाणं तदा नेश्वरधर्मिसिद्धिरित्याश्रयासिद्धिरित्यर्थः।४।

प्रकाशः- **न सर्वज्ञा इति**। परेषां सर्वज्ञाप्रसिद्धेः। अत्र किञ्चिदनभिज्ञत्वमेव साध्यम्। **तत इति**। सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तेस्तैरनभ्युपगमान्नात्मत्वेनापि तदुपस्थितिरिति भावः।

त्वदुपगतागमलोक प्रसिद्धस्यैवेश्वरस्यासर्वज्ञत्वमकर्तृत्वञ्च साध्यते इति चेन्न।

आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम्।
आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता।।५।।

निगदव्याख्यातमेतत्।

*चार्वाक*स्त्वाह, किं योग्यताविशेषाग्रहेण? यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति, विपरीतमस्ति। न चेश्वरादयस्तथा। ततो न सन्तीत्येतदेव ज्यायः। एवमनुमानादिविलोप इति चेत्, नेदमनिष्टम्। तथा च लोकव्यवहारोच्छेद

आमोदः- उद्धता स्फुटेत्यर्थः। अथवा उद्धता कार्यक्षतिकरीत्यर्थः। निगदः स्वरूपाभिधानं, तेनैव व्याख्यातमित्यर्थः। *चार्वाक*स्त्विवति। योग्यानुपलब्धेर्निषेधसाधकत्व इति शेषः। विपरीतमिति। य उपलभ्यत इत्यर्थः। तथेति। उपलभ्यन्त इत्यर्थः। एवमिति। अनुपलम्भेन पक्षे साध्याभावावधारणात् क्वानुमानमित्यर्थः। तथा चेति। अनुमानप्रामाण्यानभ्युपगमे इत्यर्थः। संभावनेति। वह्निं सम्भाव्य वह्न्यर्थी प्रवर्तते न तु निश्चित्येत्यर्थः। संवादेनेति। प्रवृत्तिसामर्थ्येनेत्यर्थः।५।

प्रकाशः- सर्वत्रेति। आत्मत्वपक्षेऽप्यसर्वज्ञत्वे क्षित्याद्यकर्तृकत्वे च साध्ये सिद्धसाधनमित्यर्थः। न चात्मत्वमसर्वज्ञत्वव्याप्यं ज्ञानत्वञ्चानित्यत्वव्याप्यमिति वाच्यम्। विपक्षे बाधकाभावात्। अन्यथा, मूर्तत्वमवयवित्वव्याप्यमिति परमाणुरपि न सिद्ध्येदिति भावः। तथा चेति। जिज्ञासितधर्मणो धर्मिणः पक्षत्वात्तदभावेनाश्रयासिद्धिरित्यर्थः।४।

आगमादेरिति। न *चागमादे*र्धर्म्यंशे प्रामाण्येऽपि अन्यत्र न प्रामाण्यमिति वाच्यम्। तद्रूपेणाप्यस्मदादितदन्यपक्षत्वे सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातादिति भावः।५।

मकरन्दः- परेषामिति। यद्यपि शाब्दादिज्ञानमादाय तेषामपि तत्प्रसिद्धिरस्त्येव, तथापि तथा सति बाधापत्तेः। सर्वज्ञपदस्य सर्वविषयकप्रत्यक्षाश्रयपरतायामेव प्रसिद्धिर्बोध्या। जिज्ञासितेति। प्राचीनमतेनेदम्।।४।।

तद्रूपेणेति। यद्यपि धर्म्मिमात्रसिद्धौ न सिद्ध्यसिद्धिव्याघातः, तथाप्याप्तोक्तत्वाविशेषाद्धर्म्मांशेऽपि प्रामाण्यमन्यथा न धर्म्यंशेऽपीत्याश्रयासिद्धिरेवेति भावः। अस्मदादिपक्षत्वे सिद्धसाधनं बोध्यम्।।५।।

इति चेन्न। सम्भावनामात्रेण तत्सिद्धेः। संवादेन च प्रामाण्याभिमानादिति।५।
अत्रोच्यते -

दृष्ट्यदृष्ट्योः क्व सन्देहो भावाभावविनिश्चयात् ।
अदृष्टिबाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम् ।।६।।

संभावना हि सन्देह एव। तस्माच्च व्यवहारस्तस्मिन् सति स्यात्। स एव तु कुतः, दर्शनदशायां भावनिश्चयात्। अदर्शनदशायामभावावधारणात्। तथा च गृहात् बहिर्गत*श्चार्वाको* वराको न निवर्त्तेत। प्रत्युत, पुत्रदारधनाद्यभावावधारणात् सोरस्ताडं शोकविकलो विक्रोशेत्। स्मरणानुभवान्नैवमिति चेन्न। प्रतियोगिस्मरण

आमोदः- सम्भावनापि प्रवर्तिका नोपपद्यते दृष्टावुपलम्भे भावस्यैव निश्चयात्, अदृष्टावनुपलम्भेऽभावस्यैव निश्चयान्न सन्देहः। तथा च साधकबाधकमानान्यतरसत्त्वे सन्देहस्य सम्भावनाया अनुपपत्तिरित्यर्थः। किं च प्रत्यक्षमपि प्रमाणमभ्युपगतं न स्यादित्याह अदृष्टीति। हेतौ चक्षुरादावदृश्यानुपलम्भेन बाधिते क्व प्रत्यक्षमित्यर्थः। न निवर्तेतेति। पुत्रादिभिस्तदनुपलम्भेनाभावावधारणादित्यर्थः। प्रत्युतेति। *चार्वाकेणापि* बहिर्गतेन पुत्रादीनामभावावधारणादित्यर्थः। स्मरणानुभवादिति। स्मरणरूपोपलम्भकसत्त्वादित्यर्थः। यद्वा, अनुभवग्रहणस्मरणे प्रमाणसूचनाय प्रतियोगीति। सुतरामभावावधारणादित्यर्थः।

प्रकाशः- सम्भावनेति। उत्कटकोटिकसंशयमात्रेणेत्यर्थः। दृष्ट्यदृष्ट्योरिति, सप्तमीद्विवचनान्तम्। दर्शने तत्सत्त्वनिश्चयाद् अदर्शने चाभावनिश्चयान्न सन्देहः। प्रत्यक्षहेतौ गोलकादावदृष्ट्या अनुपलब्ध्या, बाधिते हेत्वभावात् प्रत्यक्षमपि न स्यादित्यर्थः।

तथा चेति। पुत्रादिभिस्तस्यादर्शनात् स न स्यादिति गृहं न प्रत्यावर्तेतेत्यर्थः। प्रत्युतेति। पुत्रादेरदर्शनादित्यर्थः।

ननु नाप्रत्यक्षं प्रमाणमिति *चार्वाकसिद्धान्ता*दनुपलब्धिः प्रत्यक्षसहकारिणी। न च गेहाद्बहिर्गमनेऽधिकरणेन सहेन्द्रियसन्निकर्षोऽस्तीति न पुत्राद्यभावनिश्चयः स्यात्। सन्निकृष्टे देशे चाभावनिश्चयेऽपि ध्वंसानिश्चयान्न शोकः स्यात्। अत एव, पर्वते परभागेन सह इन्द्रियासन्निकर्षाद् नाग्न्यभावनिश्चय इति तत्र संशयादनुमान प्रवृत्तिः। अत्राहुः। अधिकरणज्ञानमात्रमभावधीहेतुर्न तु तदिन्द्रियसन्निकर्षोऽपि।

एवाभावपरिच्छेदात्। परावृत्तोऽपि कथं पुनरासादयिष्यति? सत्त्वादिति चेत्, अनुपलम्भकालेऽपि तर्हि सन्तीति न तावन्मात्रेणाभावावधारणम्। तदैवोत्पन्ना इति चेन्न। अनुपलम्भेन हेतूनां बाधात्। अबाधे वा स एव दोषः। अत एव प्रत्यक्षमपि न स्यात्, तद्धेतूनां चक्षुरादीनामनुपलम्भ-बाधितत्वात्। उपलभ्यन्त एव गोलकादय इति चेन्न। तदुपलब्धेः पूर्वं तेषामनुपलम्भात्। न च यौगपद्यनियमः। कार्यकारणभावादिति।

एतेन न परमाणवः सन्ति, अनुपलब्धेः। न ते नित्या निरवयवा वा,

आमोदः- कथं चेति। अभावस्यैवावधारणात् प्राप्तिरसम्भावितेत्यर्थः। हेतूनामिति। पुत्राद्युत्पादकानामित्यर्थः। स एवेति। अनुपलम्भमात्रेणाभावानवधारकत्वलक्षण इत्यर्थः। अत एवेति। अनुपलम्भेन हेत्वभावावधारणादित्यर्थः। ननु अदृष्टविशेषोपगृहीतं गोलकमेव चक्षुरिति। न तदनुपलम्भ इत्याह उपलभ्यन्त इति। उपलब्धेरिति। यदा गोलकादिप्रत्यक्षमुत्पद्यते तत्पूर्वं गोलकादीना-मनुपलम्भादित्यर्थः। ननु यदैव गोलकादीनामुपलम्भस्तदैव तत्सत्त्वाधीनं प्रत्यक्षमुत्पद्यत इत्यत आह न चेति। उपलम्भेन्द्रिययोर्युगपदुत्पन्नयोः पौर्वापर्याभावादित्यर्थः।

एतेनेति। अनुपलम्भमात्रस्य निषेधासाधकत्वेनेत्यर्थः। प्रमाणान्तरं तन्निषेधकं नास्त्येवेति भावः। अनुपलब्धेरिति अनुपलभ्यमानत्वादित्यर्थः।

प्रकाशः- अत एव, देवताद्यभावस्तदधिकरणासन्निकर्षेऽपि गृह्यते इति *चार्वाकसिद्धान्त*माश्रित्योक्तम्। पुत्रादेः स्मरणान्नैवं करोतीत्याह **स्मरणेति**। स्मरणादिति वक्तव्ये अनुभवग्रहणं तत्र प्रमाणसूचनार्थम्। पुत्रादिस्मरणं तदभावग्रहेऽनुकूलमेव, प्रतियोगिज्ञानं विना तदग्रहादित्याह **प्रतियोगीति**। **अनुपलम्भकाल इति**। तथा चानुपलब्धिमात्रमभावसंशये हेतुर्न तन्निश्चायकमित्यर्थः। **हेतूनां** पुत्राद्युत्पादकानामित्यर्थः। **स एवेति**। नानुपलब्धिमात्रेणाभावनिश्चय इत्यर्थः। **अत एवेति**। हेतूनां बाधादेवेत्यर्थः। ननु चक्षुरादीनामपि स्वोपलब्धिकाले सत्त्वमन्यदा त्वसत्त्वमिष्यत एवेत्यत आह **न चेति**। उपलम्भेन्द्रिययोर्युगपदुत्पन्नयोः पौर्वापर्याभावादित्यर्थः। **एतेनेति**। अनुपलम्भमात्रस्यासाधकत्वेन हेत्वन्तरस्य चाश्रयासिद्ध्यादिनेत्यर्थः।

मकरन्दः- उपलम्भेन्द्रिययोरिति। प्रत्यक्षस्य विषयजन्यत्वनियमात्तदन्य-ज्ञानस्य त्वयानभ्युगमादिति भावः।।६।।

पार्थिवत्वात् घटादिवत्। न पाथसीयपरमाणुरूपादयो नित्याः, रूपादित्वात्, दृश्यमानरूपादिवत्। न रूपत्वपार्थिवत्वादि नित्याकार्यातीन्द्रियसमवायि, जातित्वात्, शृङ्गत्ववत्। नेन्द्रियाणि सन्ति, योग्यानुपलब्धेः। अयोग्यानि च शशशृङ्गप्रतिबन्धिनिरसनीयानीत्येवं स्वर्गापूर्वदेवतानिराकरणं *नास्तिकानां* निरसनीयम्। *मीमांसकश्च* तोषयितव्यो भीषयितव्यश्चेति।६।

यद्येवमनुपलम्भेनादृश्यप्रतिषेधो नेष्यते, अनुपलभ्योपाधिप्रतिषेधोऽपि तर्हि नेष्टव्यः। तथा च कथं तथाभूतार्थसिद्धिरपि। अनुमानबीज प्रतिबन्धासिद्धेः। तदभावे शब्दादेरप्यभावः, प्रामाण्यासिद्धेः। सोऽयमुभयतः पाशा रज्जुः।

आमोदः- पार्थिवत्वादिति। पृथिवीत्वजातिमत्त्वादित्यर्थः। **नित्येति।** नित्यत्वं ध्वंसाप्रतियोगित्वम्। **अकार्यत्वं** प्रमाभावाप्रतियोगित्वं तथात्वप्रागभावप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगि यदतीन्द्रियं तत्समवेतत्वाभावः साध्य इति निरसनीयमिति। हेतूनामाश्रयासिद्धेर्बाधाच्चेति भावः। **तोषयितव्यः** अनुपलम्भमात्रस्याभाव-साधकत्वनिरासात् स्वर्गापूर्वादीनां सिद्धेः। **भीषयितव्य इति।** योग्यानुपलम्भ-स्याभावसाधकत्वस्थितौ अयोग्यस्य क्षित्यादिकर्त्तुः सिद्धिरित्यर्थः।।६।।

यद्येवमि'त्यादिना **व्यभिचार** इति पर्यन्तं शङ्का। यद्यनुपलम्भमात्रादभावो न सिद्ध्येत् तदा उपाध्यभावाग्रहात् प्रतिबन्धोऽपि न सिद्ध्येत्। तथा चानुमानतो नेश्वरसिद्धिरिति शङ्कार्थः। **तथाभूतार्थसिद्धि** र्नित्यसर्वज्ञकर्तृसिद्धिः कथं नेत्यत आह **अनुमानेति।** नन्वनुमानान्मा सैत्सीदागमादेव सेत्स्यतीत्यत आह **तदभाव इति'।** ननु कथमनुभूयमानस्य शब्दादेरभाव इत्यत आह **प्रामाण्येति।** अनुमेयप्रामाण्यस्य शब्दादेरनुमानाभावेऽसत्कल्पत्वादित्यर्थः। **उभयत इति।** अनुपलम्भमात्रस्याभावसाधकत्वे स्वर्गाद्यसिद्धिरेकः पाशः।

प्रकाशः- मीमांसकश्चेति। अनुपलम्भमात्रस्याभावासाधकत्वाद-पूर्वादिसिद्ध्या तोषणम्। योग्यानुपलम्भस्य बाधकत्वेनायोग्यपरमात्माऽबाध इति भीषणम्।।६।।

यद्यनुपलम्भमात्रान्नाभावनिश्चयः, तदातीन्द्रियोपाधिशङ्कया व्याप्त्यनिश्चया-न्नानुमानमिति न तत ईश्वरसिद्धिरित्याह **यद्येवमिति।** अनुमानाभावे तद्ग्राह्यप्रामाण्यं शब्दाद्यपि न तत्र मानमित्याह **तदभाव इति।**

अत्र कश्चिदाह, मा भूदुपाधिविधूननं, चतुःपञ्चरूपसम्पत्तिमात्रेणैव प्रतिबन्धनिर्वाहात्। तस्याश्च सपक्षासपक्षदर्शनादर्शनमात्रप्रमाणकत्वात्। यत्र तु तद्भङ्गः, तत्र प्रमाणभङ्गोऽप्यावश्यकः। न ह्यस्ति सम्भवो दर्शनादर्शनयोरविप्लवे हेतुरुपप्लवते इति। अप्रयोजकोऽपि तर्हि हेतुः स्यादिति चेत्, भूयोदर्शनाविप्लवे कोऽयमप्रयोजको नाम? न तावत् साध्यं प्रत्यकार्यमकारणं वा, सामान्यतो दृष्टानुमानस्वीकारात्। नापि सामग्र्यां कारणैकदेशः, पूर्ववदभ्युपगमात्।

आमोदः– योग्यानुपलम्भस्याभावसाधकत्वे सत्ययोग्योपाधेरनिरासात् प्रतिबन्धासिद्धिरपरः पाशः। *एकदेशिमत*मुपन्यस्य निरस्यति – **अत्र कश्चिदिति।** चत्वारि रूपाणि केवलान्वयिनि, केवलव्यतिरेकिण्यपि चत्वारि, अन्वयव्यतिरेकिणि च पञ्चरूपाणि। **तस्या इति।** रूपसम्पत्तेरित्यर्थः। **तद्भङ्ग इति।** यत्र सहचारदर्शन व्यभिचारादर्शनयोरयाथार्थ्यं तत्र प्रमाणस्यापि भङ्ग इत्यर्थः। कुत एतदिति आह **न हीति।** दर्शनादर्शनप्रामाण्याधीनमेवानुमानप्रामाण्यं यत इत्यर्थः। अपव्याख्यान-मन्यत्। **तर्हीति।** यद्यनौपाधिकत्वग्रहो न तन्त्रमित्यर्थः। **भूय इति।** भूयोदर्शनं चेदविप्लुतं यथार्थं तदा चतुःपञ्चरूपसम्पत्तौ क्वाप्रयोजकत्वमित्यर्थः। **न तावत् साध्यमित्यादि** हेतुत्वादित्यन्तमप्रयोजक इत्यनुषञ्जनीयम्। **सामान्यत इति।** रसेन रूपानुमानस्वीकारात्। **सामग्र्यामिति।** सामग्रीमध्यनिविष्टः कारणैकदेश एकं कारणं, यद्वा सामग्र्यां व्याप्यभूतायां कारणमेकमप्रयोजकमित्यर्थः। **पूर्ववदिति** अन्त्यतन्तुसंयोगस्यापि लिङ्गत्वस्वीकारात्, पूर्वं कारणं तल्लिङ्गतया कारणीभूत-ज्ञानविषयतया यस्यास्तीति तत् पूर्ववदित्यर्थः।

प्रकाशः– **चतुःपञ्चेति।** पक्षसत्त्वसपक्षसत्वाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वानि चत्वारि रूपाणि केवलान्वयिनि, सपक्षसत्त्वाभावे विपक्षासत्त्वं केवलव्यतिरेकिणि, उभयन्तु रूपमन्वयव्यतिरेकिणीति तत्र पञ्चरूपाणि। **तद्भङ्ग इति।** यत्र उक्तरूपसम्पत्तिभङ्गस्तत्र दर्शनादर्शनात्मकप्रमाणभङ्गोऽप्यावश्यकः, अन्यथा तयोर्निर्विषयतापात इत्यर्थः। **सामान्यत इति।** रूपरसयोरकार्यकारणभूतयोरपि व्याप्त्यभ्युपगमादित्यर्थः। **पूर्ववदिति।** पूर्वं कारणं तद्यस्यास्ति विषयतया लिङ्गज्ञानस्य तत्तथा। कारणैकदेशस्यापि तदितराशेषकारणव्याप्य-स्यान्त्यतन्तुसंयोगादेः पटादौ लिङ्गत्वाङ्गीकारादित्यर्थः।

नापि व्यभिचारी, तदनुपलम्भात्। व्यभिचारोपलम्भे वा स एव दोषः। न च शङ्कितव्यभिचारः, निर्बीजशङ्कायाः सर्वत्र सुलभत्वात्। नापि व्याप्यान्तरसहवृत्तिः। एकत्रापि साध्येऽनेकसाधनोपगमात्। नाप्यल्पविषयः, धूमादेस्तथाभावेऽपि हेतुत्वात्।

ननु धूमो वह्निमात्रे अप्रयोजक एव, तन्निवृत्तावपि तदनिवृत्तेः। आर्द्रेन्धनवन्तं वह्निविशेषं प्रति तु प्रयोजकः, तन्निवृत्तौ तस्यैव निवृत्तेरित्येतदप्ययुक्तम्। सामान्याप्रयोजकतायां विशेषसाधकत्वा योगात्तदसिद्धौ तस्यासिद्धिनियमात्। सिद्धौ वा सामान्यविशेष-भावानुपपत्तेः। नापि क्लृप्तसामर्थ्येऽन्यस्मिन्

आमोदः - तदनुपलम्भाद् व्यभिचारानुपलम्भादित्यर्थः। निर्बीजेति। भूयोदर्शनविप्लवस्तद्बीजं नास्त्येवेत्यर्थः। अनेकेति। धूमालोकादित्यर्थः। तथाभूतस्यापीति अल्पविषयो वह्न्यधिकरणमव्याप्तो धूमादिरपि हेतुरित्यर्थः।

ननु धूमो हि स्वकारणीभूतमार्द्रेन्धनप्रभवं वह्निं साधयति। तथा च वह्निसामान्ये तस्याप्रयोजकत्वमित्याशङ्कते नन्विति। तन्निवृत्तौ धूमनिवृत्तौ तस्यैव वह्निविशेषस्यैव वह्निसामान्यस्यायोगोलकादौ धूमनिवृत्तावपि दर्शनात्। यदि च वह्निसामान्यं प्रति धूमः प्रयोजकः स्यात्तदा धूमनिवृत्तौ निवर्तेतेत्यर्थः। सामान्येति। धूमाद्वह्निविशेषः सिद्ध्यन् सामान्याक्रान्त एव सिद्ध्यति। तथा च वह्निमात्रेऽपि स प्रयोजक इत्यर्थः। तदसिद्धाविति। सामान्याव्याप्यत्व इत्यर्थः। विशेषस्य सामान्य-व्याप्यत्वात् विशेषव्याप्यत्वं सामान्यव्याप्यस्य सुतरामित्यर्थः। सामर्थ्य इति।

प्रकाशः- निर्बीजेति। साध्याभावसहचारदर्शनस्य शङ्काबीजस्याभावात्। भावे वा व्यभिचार एव स्फुटो दोष इत्युक्तमित्यर्थः। अल्पविषय इति। व्यापकवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीत्यर्थः। तन्निवृत्ताविति। धूमनिवृत्तावपि वह्न्यनिवृत्तेरित्यर्थः। तस्यैवेति। आर्द्रेन्धनप्रभववह्नेरित्यर्थः। सामान्येति। वह्निसामान्याव्याप्यत्वे तद्विशेषव्याप्यतैव न स्यात्, सामान्यस्य विशेष-व्यापकत्वादित्यर्थः। तथा च विशेषव्याप्यत्वे सामान्यव्याप्यत्वं ध्रुवमिति भावः। नाश इति। गुणादिनाशे भावकार्यत्वस्य प्रयोजकत्वे क्लृप्तेऽपि द्रव्यनाशे तद्व्याप्यसावयवत्वस्यापि तत्त्वाङ्गीकारादित्यर्थः।

मकरन्दः- ध्वंसे व्यभिचारेण भावपदमन्तर्भावयति भावकार्यत्वस्येति। यद्यप्यत्र पौर्वापर्य्यनियमे मानाभावः, तथापि सामान्यविशेषयोः प्रथममुत्सर्गतः

कल्पनीयसामर्थ्योऽप्रयोजकः, नाशे कार्यत्वसावयवत्वयोरपि हेतुभावादिति।

तदेतदपेशलम्। कथं हि विशेषाभावात्, कश्चिद्व्यभिचरति कश्चिच्च नेति शक्यमवगन्तुम्। अतो निर्णायकाभावे सति साहित्यदर्शनमेव शङ्काबीजमिति क्वासौ निर्बीजा। एवं सत्यतिप्रसक्तिरपि *चार्वाक*नन्दिनी नोपालम्भाय। स्वभावादेव कश्चित् किञ्चिद्व्यभिचरति, कश्चिच्च नेति स्वभाव एव विशेष इति चेत्, केन चिह्नेन पुनरसौ निर्णेय इति निपुणेन भावनीयम्। भूयोदर्शनस्य शतशः प्रवृत्तस्यापि भङ्गदर्शनात्।

आमोदः– प्रथमं यस्य लिङ्गत्वग्रह इत्यर्थः। तथा च व्याप्यात्तव सहवृत्तिरित्यनेन न पौनरुक्त्यम्। नाश इति। ध्वंसप्रतियोगित्वे गुणादिसाधारणे भावकार्यत्वस्य हेतुत्वे गृहीते द्रव्ये ध्वंसप्रतियोगित्वे सावयवत्वमाप हेतुरनुमत एवेत्यर्थः। तदेतदिति। मा भूदुपाधिविधूननमित्यादिरित्यर्थः। अपेशलम् अमनोहरम्, तच्च युक्त्यसहत्वात्तदेवाह कथं हीति। विशेषाभावादिति। सोपाधित्वानुपाधित्वलक्षण विशेषाभावादित्यर्थः। निर्बीजशङ्कायाः सर्वत्रेति, यदुक्तं तत्राह तत इति। सहचारदर्शनमेव शङ्काबीजमित्यर्थः। *चार्वाकनन्दिनी* अनुमानप्रतिद्वन्द्वित्वेन चार्वाकह्लादिकेत्यर्थः। स्वभावादेवेति। यथा किञ्चिदेव कस्यचित् कारणं कार्यं वा तथा किञ्चिदेव कस्यचिद्व्याप्यं व्यापकं चेत्यर्थः। केनेति। स्वभावविशेषोऽपि निरुपाधित्वग्रहनिरूपणीय एवेत्यर्थः। ननु भूयोदर्शनेनैव निर्णेय इत्याह भूयोदर्शनस्येति। पार्थिवत्वं लोहलेख्यत्वादावित्यर्थः। ननु तत्र भङ्गस्यैव दर्शनात्

प्रकाशः– कथं हीति। सहचारदर्शनस्य व्यभिचार्य्यव्यभिचारिसाधारणत्वात्तदेव विशेषादर्शनसहकृतं व्यभिचारशङ्काबीजमित्यर्थः। एवं सतीति। "अवश्यं शङ्कया भाव्यं नियामकमपश्यताम्" इति *चार्वाकोक्त*ातिप्रसक्तिर्नोपालम्भाय, शङ्काबीजस्य सहचारदर्शनस्य सत्त्वादित्यर्थः। यथा किञ्चित् कस्यचित् कार्यं कारणं चेत्यत्र स्वभाव एव नियामकः, तथा किञ्चित् कस्यचिद्व्याप्यं व्यापकं चेत्यपीत्याह स्वभावादेवेति। स स्वभावविशेष एव कुतोऽवधार्य इत्याह केनेति। भूयोदर्शनस्येति। पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि व्यभिचारदर्शनादित्यर्थः।

मकरन्दः– सामान्यस्योपस्थितिरित्याशयेन तथोक्तम्।

सहचारदर्शनस्येति। शङ्कितव्यभिचार एवाप्रयोजक इति भावः। स– उपाध्यभावः। नन्वनौपाधिकत्वं व्याप्तिर्व्याप्यमिति व्याप्यत्वेन तदनिश्चयदशायां तत्सन्देहः स्यादेव, न चानौपाधिकत्वव्याप्तिमतेनेदं, तस्य

यत्र भङ्गो न दृश्यते तत्र तथेति चेत्, आपाततो न दृश्यते इति सर्वत्र कालक्रमेणापि न द्रक्ष्यते इति को नियन्तेति? तस्मादुपाधितद्विरहावेव व्यभिचाराव्यभिचारनिबन्धनं तदवधारणञ्चाशक्यमिति।

ननु यः सर्वैः प्रमाणैः सर्वदाऽस्मदादिभिर्यद्वत्तया नोपलभ्यते नासौ तद्वान्। यथा बकः श्यामिकया, नोपलभ्यते च वह्नौ धूम उपाधिमत्तयेति शक्यमिति चेन्न। अस्याप्यनुमानतया तदपेक्षायामनवस्थानात्। 'सर्वादृष्टेश्च सन्देहात् स्वादृष्टेर्व्यभिचारतः' सर्वदेत्यसिद्धेः।

आमोदः– भूयोदर्शनमतन्त्रम्, तथा च भङ्गादर्शनसहितं भूयोदर्शनमेव स्वभाव-ग्राहकमिति शङ्कते **यत्रेति।** **नियन्तेति।** अनौपाधिकत्वनिश्चयं विनेत्यर्थः। उपाधितद्विरहनिश्चयावेव व्यभिचाराव्यभिचारग्रहनिबन्धनमिति उपसंहरति **तस्मादिति।** **तदवधारणमिति।** उपाधितदभावनिश्चय इत्यर्थः। उपाधितद्विरहावधारणस्य शक्यतामाशङ्कते **नन्विति।** **तदपेक्षायामिति।** उपाधिविरहावधारणापेक्षायामित्यर्थः। **सर्वैः** प्रमाणैरित्यनुमाने दूषणान्तरमाह **सर्वादृष्टेश्चेति।** सकलानुपलम्भः स्वानुपलम्भहेतुरसिद्ध इत्यर्थः।

प्रकाशः– अनन्यगतिकतयोपाधिविरह एव तदुपायः। स च दुरवधारण इत्याह **तस्मादिति।**

ननु सहचारदर्शनव्यभिचारादर्शने एव व्याप्तिग्राहके। न च तयोरव्याप्त साधारण्यम्। उपाध्यभावज्ञानस्याप्यव्याप्यसाधारणत्वात्। न च स्वरूपसन्नेव स तद्ग्राहकः व्याप्तिभ्रमानुपपत्तेः। नापि वस्तुगत्या यत्रोपाध्यभावस्तत्र तज्ज्ञानाद्व्याप्तिप्रमाऽन्यत्र तु तद्भ्रम इति वाच्यम्। यत्र वस्तुसती व्याप्तिस्तत्र सहचादर्शनादेरपि तत्त्वापत्तेः।

अत्राहुः। व्यभिचारादर्शनस्य व्याप्तिनिश्चायकत्वे तस्मिन् सति व्याप्तिसन्देहानुपपत्तिः। अनौपाधिकत्वनिश्चये तु न सन्देह इति तदेव व्याप्तिग्राहकम्। किञ्च यथा व्यभिचारादर्शनादव्यभिचारनिश्चयः। एवमव्यभिचारादर्शनाद् व्यभिचारनिश्चयोऽपि स्यादविशेषात्। न च भावानुपलब्धिरभावनिश्चायिका, न त्वभावानुपलब्धिर्भावनिश्चायिकेति वाच्यम्। अव्यभिचारस्यापि भावत्वात्। साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यरूपत्वात्। क्षित्यादि द्विकर्तृकं कार्यत्वात् पटवदित्यादेरपि गमकत्वापाताद्वा। **तदपेक्षायामिति।** उपाध्यभावापेक्षायामित्यर्थः। **असिद्धेरिति।** सर्वदा उपाधिमत्तयाऽनुपलम्भस्येत्यर्थः।

तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां नियम इत्यन्ये। तत्र तादात्म्यं विपक्षे बाधकाद्भवति। तदुत्पत्तिश्च पौर्वापर्येण प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्याम्। न ह्येवं सति शङ्कापिशाच्यवकाशमासादयति। आशङ्क्यमानकारणभावस्यापि पिशाचादेरेतल्लक्षणाविरोधेनैव तत्त्वनिर्वाहादिति। न, एवमप्युभय गामिनोऽव्यभिचारनिबन्धनस्यैकस्याविवेचनात्, प्रत्येकं चाव्यापकत्वात्। कुतश्च कार्यात्मानौ कारणमात्मानञ्च न व्यभिचरत इति।

आमोदः– *बौद्धमत*मुपन्यस्य निरस्यति तादात्म्येति। एतदवधारणप्रकारमाह तत्रेति। यदि शिंशपा वृक्षत्वं व्यभिचरेत् स्वात्मानमपि व्यभिचरेत् इति विपक्षबाधकादित्यर्थः। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्याम् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। आशङ्क्यमानेति। वह्निमन्तरेण पिशाचादेव धूमोत्पत्तिस्तदाशङ्क्येत यदि पिशाचान्वयव्यतिरेकौ स्याताम् इत्यर्थः। इदमपि *चार्वाको* दूषयति एवमपि इति। ग्राहकाननुगम इत्यर्थः। ग्राहकाननुगमो न दोष इत्यत आह कुत इति। विपक्षबाधके विपक्षबाधकापेक्षायामनवस्थानादित्यर्थः।६।

प्रकाशः– *बौद्धोक्तं* तद्ग्राहकमाह तादात्म्येति। विपक्षबाधकञ्च क्षणभङ्गप्रस्तावे व्याख्यातम्। प्रत्यक्षाऽनुपलम्भावन्वयव्यतिरेकौ। अपि चाग्नीन्धनादि- समवधानेऽप्यन्यस्य पिशाचादेः सन्निधिराशङ्क्यमानो नाग्नीन्धनादिव्यभिचारिणो- ऽन्यत्र धूमस्यादर्शनादिति नियतस्य तस्य वाच्यः। स च नेत्याह आशङ्क्यमानेति। अग्निं विना पिशाचादेव धूमः स्यादिति, पिशाचस्य कारणत्वशङ्काऽन्वय- व्यतिरेकावादाय वाच्या। तौ चाग्नेः प्रत्यक्षसिद्धस्येति नान्यकारणशङ्केत्यर्थः। दूषयति नैवमपीति। तयोर्न मिलितयोर्व्याप्तिग्राहकत्वमसिद्धेरिति प्रत्येकं तत्वे व्याप्तिग्राहकतावच्छेदकानुगतरूपाभाव इत्यर्थः। ननु ज्ञापकस्याननुगमो न दोषः, एकस्याप्यनेकज्ञाप्यत्वादित्यत आह कुतश्चेति। विपक्षबाधकतर्कस्यापि व्याप्त्यपेक्षया तत्रापि तर्कान्तरानुसरणेऽनवस्था तर्कं विनाऽपि व्याप्तिग्रहे व्यभिचारात् तर्कोऽपि न तद्धेतुः स्यादित्यर्थः।

मकरन्दः– व्याप्तिग्राहकत्वेनाभ्युपगमादित्यरुचेराह किञ्चेति। अव्यभिचारेति। व्याप्तिनिश्चय इत्यर्थः। अत एवाग्रे तथैव वक्ष्यति। उपाध्यभावेति। उपाध्यभावनिश्चयापेक्षायामित्यर्थः। नियतस्य=अग्नीन्धनादिनियतस्य। तस्य=तादात्म्यादेरित्यर्थः।

अत्रोच्यते –

शङ्का चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः।।७।।

कालान्तरे कदाचिद्व्यभिचरिष्यतीति कालं भाविनमाकलय्य शङ्क्येत। तदाकलनञ्च नानुमानमवधीर्य कस्यचित्। मुहूर्तयामाहोरात्र पक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादयो हि भाविनो भवन्मुहूर्ताद्यनुमेया एव। अनवगतेषु स्मरणस्याप्यनाशङ्कनीयत्वात्। अनाकलने वा, कमाश्रित्य व्यभिचारः शङ्क्येत? तथा च सुतरामनुमानस्वीकारः। एवञ्च देशान्तरेऽपि वक्तव्यम्।

आमोदः– तदेव *चार्वाकमत*मवस्कन्दति – **शङ्का चेदि**ति। देशान्तरकालान्तराश्रयधूमस्य व्यभिचारशङ्का तयोरुपस्थितौ स्यात्। उपस्थितिश्च तयोरनुमानादेवेत्यर्थः। न चेद् व्यभिचारशङ्का तदा निःप्रत्यूहमेवानुमानम्। शङ्कानिवृत्त्युपायं सुहृद्भावेन पृष्टः सन्नाह **तर्क** इति। **शङ्कायाः अवधिर्निवर्तक**स्तर्क इत्यर्थः। ननु तर्कमूलभूतायामपि व्याप्तौ शङ्का तदवस्थेत्याह **व्याघाते**ति। तर्कमूलव्याप्तौ स्वक्रियाव्याघात एव शङ्कोत्पत्तिविरोधीत्यर्थः। न हि धूमार्थं वह्निमुपाददानस्य वह्निं विना धूम इति शङ्कोदेतीति भावः। **मुहूर्ते**ति। अयं मुहूर्तो भाविमुहूर्तपूर्ववर्ती मुहूर्तत्वात् पूर्वमुहूर्तवत् इत्यनुमानादेवं यामादिष्वपि। ननु स्मृतदेशकालावाश्रित्य शङ्का स्यादत आह **अनवगतेष्वि**ति। ननु सामान्यलक्षणयोपस्थितौ देशकालावाश्रित्य शङ्का स्यात्

प्रकाशः

शङ्का चेदिति। कालान्तरदेशान्तरयोर्व्यभिचारोपाध्यन्यतराशङ्का यदि, तदाऽनुमानमस्त्येव। तां विना तयोरप्रतीतेः। यदि च तयोरप्रतीतौ न शङ्का, सुतरामनुमानम्। शङ्कानिरासकस्याप्यनपेक्षणादित्यर्थः। वादकथामाश्रित्य शङ्कानिवर्त्तकमाह **व्याघाते**ति। शङ्काया अवधिस्तर्कः, तन्निवर्त्तकत्वात्। ननु तर्केऽपि व्याप्तिमूलकतया तर्कान्तरापेक्षायामनवस्थेत्यत आह **व्याघातावधिरि**ति। तर्क्कमूलव्याप्तौ स्वक्रियाव्याघातेन व्यभिचारशङ्कैव नोदेतीति न तत्र तर्क्कापेक्षेत्यर्थः। पूर्वार्द्धं व्याचष्टे **कालान्तरे**त्यादि **तथाचे**त्यन्तेन। ननु साध्यात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यं साधने वर्तते न वेति शङ्का, देशकालावनन्तर्भाव्यैवेति नानुमानावश्यकत्वम्। मैवम्, साध्यात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यं

स्वीकृतमनुमानम्। सुहृद्भावेन पृच्छामः, कथमाशङ्का निवर्तनीया इति चेन्न। यावदाशङ्कं तर्कप्रवृत्तेः। तेन हि वर्तमानेनोपाधिकोटौ तदायत्तव्यभिचारकोटौ वाऽनिष्टमुपनयतेच्छा विच्छिद्यते। विच्छिन्न विपक्षेच्छश्च प्रमाता भूयोदर्शनोपलब्धसाहचर्यं लिङ्गमनाकुलोऽधितिष्ठति,

आमोदः– साध्यात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यं साधने वर्तते न वेति वा शङ्का स्यात्। न ह्यत्र देशकालान्तर्भाव इति चेत्, न। व्याप्तिग्रहाभावव्यभिचारशङ्कयो *श्चार्वाकेण* व्याप्त्यनभ्युपगमे दोषानवकाशात्। सामान्यलक्षणायाश्च तेनाभ्युपगमात्। प्रत्यक्षप्रामाण्यग्रहार्थमप्यनुमानस्वीकारात्। इदमसाधकमनुपलभ्यमान-व्यभिचारशङ्काग्रस्तत्वात् इत्यस्य स्वव्याघातकत्वेन जात्युत्तरत्वात्। अयथार्थे वा एतस्यैवानुमानस्य स्वीकारादिति भावः। ननु तर्कात् कथं शङ्कानिवृत्तिरित्यत आह तेन हीति। धूमस्य वह्निसम्बन्धः सोपाधिर्न वा धूमो वह्निं व्यभिचरेन्न वा इति संशयेन वह्निं विनापि धूमोऽस्तीति विपक्षजिज्ञासा जन्यते, सा च यदि वह्निं विनापि धूमः स्यात्, वह्न्यकारणकः स्यात्। तथा च धूमार्थिनां वह्नौ नियता प्रवृत्तिर्न स्यात् इत्यनिष्टप्रसङ्गेन निवर्तत इत्यर्थः। निराकुलो निःशङ्कः। अधितिष्ठति

प्रकाशः– तदनधिकरणाधिकरणत्वम्। तत्र प्रसिद्धधूमाधिकरणे वह्निनिश्चयादेव न शङ्का। तदन्यच्चानुमानगम्यमेव। तथापि सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षेणापि कालादेरुपस्थितेर्नानुमानादेव तदुपस्थितिः।

सा च प्रत्यासत्तिरनुमानप्रामाण्यवादिनापि स्वीकार्या। अन्यथा, यस्य व्याप्तिग्रहः स न पक्षधर्मः, तादृशश्च न व्याप्तिग्रहगोचर इत्यनुमानविलयापत्तिः। मैवम्, इदमसाधकमनुपलभ्यमानव्यभिचारशङ्काग्रस्तत्वादित्यनुमानमपि शङ्काऽऽस्कन्दतीति जात्युत्तरत्वात्। व्याप्तिग्रहाभावव्यभिचारशङ्कयोस्त्वयापि व्याप्तिस्वीकारात्। व्यभिचारशङ्कायामव्यभिचारकोटेरावश्यकत्वाच्च। अपि चानुमानाप्रामाण्यं नानुमानगम्यम्। तदनङ्गीकारात्। नापि प्रत्यक्षगम्यम्। तथानुव्यवसायाभावात्। एतेनोत्कटकोटिकसंशयरूपानुमितिस्तत्करणमनुमान-मित्यपास्तम्। धूमादग्निं निश्चिनोमीत्यनुव्यवसायेन तन्निश्चयत्वस्य प्रत्यक्षत्वात्। अन्यथा, प्रत्यक्षस्यापि निश्चयत्वे कः समाश्वासः?।

मकरन्दः–ननु व्याप्तिस्वीकारेऽपि नानुमानप्रामाण्यस्वीकारस्तयोर्भेदादित्यत आह अपि चेति। धूमादिति। निश्चयत्वं जातिरिति मतेनेदम्। उपनीतभानाभिप्रायेण वा। अन्यथा अनुव्यवसायविषयत्वानुपपत्तेरित्याहुः।

अधिष्ठिताच्च करणात् क्रियापरिनिष्पत्तिरिति किमनुपपन्नम्?

ननु तर्कोऽप्यविनाभावमपेक्ष्य प्रवर्तते, ततोऽनवस्थया भवितव्यम्। न, शङ्काया व्याघातावधित्वात्। तदेव ह्याशङ्क्यते, यस्मिन्नाशङ्क्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा नावतरन्तीति लोकमर्यादा। न हि हेतुफलभावो न भविष्यतीति शङ्कितुमपि शक्यते। तथा सति शङ्कैव न स्यात्, सर्वं मिथ्या भविष्यतीत्यादिवत्। तथापि अतीन्द्रियोपाधिनिषेधे किं प्रमाणमित्युच्यतामिति चेत्, न वै कश्चिदतीन्द्रियोपाधिः प्रमाणसिद्धोऽस्ति। यस्याभावे प्रमाणमन्वेषणीयम्। केवलं साहचर्ये निबन्धनान्तरमात्रं शङ्क्यते।

आमोदः–व्याप्यत्वेन पक्षत्वेन चावधारयति। **अधिष्ठितात्** परामृश्यमानात्, **क्रिया** अत्रानुमितिः। कारिकायाः तृतीयं पादं व्याख्यातुमाशङ्कते **नन्विति**। **स्वक्रियेति**। धूमार्थं वह्न्युपादानं स्वक्रिया, सा व्याहता भवत्यतः शङ्कैवैतादृशी न भवतीति नानवस्थेत्यर्थः। **तथा सतीति**। हेतुफलभावाभावे हेतुमन्तरेण शङ्कैव नोत्पद्येतेत्यर्थः। शङ्कायामपि फलत्वादिति भावः। **सर्वमिति**। अनया शङ्कया निश्चयेन वा क्वचिदपि प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्यातामिति नैतादृशो निश्चयः, तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थः। **तथापीति**। योग्यानुपलब्ध्या योग्योपाधीनाम् अभावनिश्चयेऽपीत्यर्थः। **न वै इति**। परमाण्वादिलक्षणमिहोपाधिः स्यादिति शङ्कायास्तस्य वस्तुनः साध्याव्यापकत्वग्रहेण साधनव्यापकत्वग्रहेण वा निरासः सुकर एवेति भावः। **केवलमिति**। धूमस्य

प्रकाशः– **यावदाशङ्कमिति**। तर्कसहकृतभूयोदर्शनजसंस्कारसचिवप्रमाणेन व्याप्तिर्गृह्यत इत्यर्थः। तर्कव्यापारमाह **तेन हीति**। **इच्छा विच्छिद्यते इति**। संशयजनितसाध्याभाववति जिज्ञासा निवर्त्यते इत्यर्थः। तज्जनकसंशयसहितेति शेषः। अन्यथा, जिज्ञासाविच्छेदेऽपि संशयसत्त्वे व्याप्त्यग्रहात्। न च साध्याभावविषयकज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वात् तन्निवर्त्तनमफलं, लाघवात्साध्याभाव विषयत्वस्यैव प्रतिबन्धकतावच्छेदकत्वात्।

नन्वन्यत्रेव तर्कमूलव्याप्तावपि शङ्कानुवृत्तौ मूलशैथिल्यात्तन्निवर्त्तनं तर्कादेवेत्यनवस्थेत्याह **नन्विति**। न चानादिसिद्धव्याप्तिका एव केचित्तर्का इति वाच्यम्। तत्रापि प्रमाणानुयोगेऽनुमान एव पर्यवसानेऽनवस्थापत्तेरिति भावः। तर्कमूलव्याप्तिग्रहो न तर्कान्तरात् किन्त्वन्यथैवेत्याह **शङ्काया इति**। तदेव स्पष्टयति **तदेव हीति**। धूमो यदि वह्न्यसमवहितसामग्र्यजन्यत्वे तत्समवहितसामग्र्यजन्यः स्यान्नोत्पन्नः स्यादित्यत्र तर्के प्रवृत्ते किमवह्नेरेव धूमः

प्रकाशः– स्यादिति शङ्का, क्वचिद्वह्निं विनापि स्यादिति वा, अकारणत एवोत्पद्यते इति वा?। सर्वत्र स्वक्रियाव्यघातः। यदि ह्यन्वयव्यतिरेकावधृतकारणाभावं कारणं विना कार्योत्पत्तिं शङ्केत, तदा नियमेन धूमार्थं वह्नेस्तृप्त्यर्थमन्नस्य परप्रतिपत्त्यर्थं शब्दस्योपादानं न कुर्यात्, तैर्विनापि तेषां सम्भवात्। तस्मात् तदुपादानमेव तादृशशङ्काप्रतिबन्धकम्। न ह्यस्ति सम्भवो धूमाद्यर्थं वह्न्यादिकमुपादत्ते तत्कारणं तन्नेत्याशङ्कते चेत्यर्थः। अतश्च –

व्याघातो यदि शङ्कास्ति न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिः कुतः।।

इति खण्डनमपास्तम्। व्याघातस्य शङ्कानाश्रितत्वात्। स्वक्रियाया एव शङ्काप्रतिबन्धकत्वात्। एतेन व्याघातो विरोधः, स च सहानवस्थाननियमो, नियमश्च व्याप्तिरिति तत्राप्यनवस्थेत्यपि निरस्तम्।

नन्वेवं तर्कं विनापि व्याप्तिग्रहाद् व्यभिचारेण तर्कोऽपि न व्याप्तिग्राहकः। अत्रा*स्मत्पितृचरणाः* तर्को न व्याप्तिग्राहकः, किन्तु व्यभिचारज्ञानाभावसहकृतं सहचारदर्शनम्। ज्ञानञ्च निश्चयः शङ्का च। शङ्का क्वचिदुपाधिसन्देहात्, क्वचिद् विशेषादर्शनसचिवसाधारणधर्मदर्शनात्। तदभावश्च क्वचिद्विपक्षबाधकतर्कात्, क्वचित् स्वतः सिद्ध एवेति नानुगमः। ननु सहचारदर्शनव्यभिचारादर्शनवद् व्यभिचारज्ञानाभावानुकूलतर्कयोर्ज्ञानं व्यभिचारिसाधारणमिति न ततो व्याप्तिनिश्चयः स्यात्। न, तयोः स्वरूपसतोरेव व्याप्तिग्राहकत्वात्। सत्तर्काद् व्याप्तिप्रमा, तदाभासात्तदप्रमा, विशेषदर्शनसत्यत्वासत्यत्वाभ्यां तादृशपुरुषज्ञानवत्। इयञ्च प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहे सामग्री। तदभावेऽपि शब्दानुमानाभ्यां व्याप्तिग्रहादिति।

शङ्काऽपि हेतुमती, न वा?। आद्ये हेतुं विना न स्यादेव। द्वितीये देशादिनियमहेतोरभावात् सर्वासत्यत्वप्रसङ्ग इत्याह तथा सतीति। नन्वतीन्द्रियोपाध्यभावनिश्चयोऽशक्यः। योग्योपाधेर्योग्यानुपलब्धेरभावनिश्चयेऽप्ययोग्योपाधिव्यतिरेकस्य अनुमानाधीनज्ञानत्वेनानवस्थापातादित्याह तथापीति। उपाधिर्निश्चितः, शङ्कितो वा?। आद्ये, न वै कश्चिदिति। शङ्कापि भविष्यति कश्चिदत्रोपाधिरित्यात्मिका,सकललोकयात्राविलोपकतया नाद्रियत एवेति। साध्यव्यापकतया निश्चितमिदं साधनाव्यापकं स्यादिति शङ्का स्यात्तत्राह केवलमिति। साधने साध्यसम्बन्धितावच्छेदकान्तरमित्यर्थः।

मकरन्दः– आशुविनाशिनां क्रमिकाणां मेलकानुपपत्तेराह **संस्कारेति**। **अन्यथेति**। प्रतिबन्धकतावच्छेदके ज्ञानत्वस्यैव न प्रवेशो गौरवात्, कुतो निश्चयत्वस्येति भावः। ननु संशयो न जिज्ञासाहेतुः, तस्या इच्छात्वेन ज्ञानेष्टसाधनताज्ञानसाध्यत्वात्। साध्यार्थिनश्च साध्याभावज्ञानं नेष्टसाधनमिति न तत्र जिज्ञासा। तथा च कथं तन्निवर्त्तकता तर्कस्येति चेत् न, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सत्प्रतिपक्षस्येव संशयस्यापि जिज्ञासाजनकत्वात्। ननु विरोधिविषयत्वाभावात्तर्कः कथं संशयजिज्ञासयोर्निवर्त्तक इति चेत्, न, वैषयिकविरोधाभावेऽपि स्वरूपेणैव दाहादौ मण्यादिवत् फलबलेन तस्य विरोधित्वात्। इच्छायामनिष्टप्रतिसन्धानत्वेनापि विरोधित्वाच्च, मधुविषसंपृक्तान्नबुभुक्षादौ तथा दर्शनात्। नन्वेवमपि यदि निर्वह्निः स्यादिति विषयपरिशोधकस्य तर्कस्य कथमनुमितावुपयोगः, परामर्शादेव विशेषदर्शनत्वेन शङ्कानिवृत्तेरिति चेत्। विशेषदर्शने स्वरसवाहिशङ्काऽनुदयेऽपि अन्याहितशङ्कोदयेन बाधकप्रमाणावतारशङ्कानिबन्धन साध्याभावशङ्कानिवर्त्तकत्वेन तदुपयोगादिति विपञ्चित*मनुमानप्रकाशे*।

केचित्तु प्राथमिकलिङ्गदर्शनस्य तदविरोधित्वेन धूमवानयं वह्निमान्न वेति संशयः। ततो जिज्ञासा, ततश्च साध्याभावज्ञानोपायानुसन्धानपरस्य तामपि वह्निव्याप्तिं पक्षधर्म्मधूमे न परामृशति व्यग्रत्वादिति प्रसिद्धायां परामर्शसामग्र्यां तर्कावतारे तेनापहतायां जिज्ञासायां तदुपायानुसरणपरत्वरूपविषयान्तरसञ्चाराभावे परामर्शोत्पादः। अत एवायं न्यायविषयपरिशोधक इति गीयते। न्यायस्य परामर्शस्य विषयो लिङ्गं, तस्य परिशुद्धिः परामर्शप्रतिबन्धकसाध्याभाव जिज्ञासातदुपायानुसरण परत्वयोरपगमः। तदाह *प्रमेयतत्त्वबोधे* वर्द्धमानः – "एवञ्च विरोधिनानाविषयस्य जिज्ञासा तदुपायानुसरणञ्च वास्तवकोटिप्रमाणप्रवृत्तावंशतः परिपन्थी" – इति। न चैवं तर्कस्य न्यायोत्तराङ्गत्वप्रतिपादनविरोधः, परामर्शव्यापारस्तर्क इति मतेन तदुत्थानात्। तदाह तत्रैव *वर्द्धमानः*। "तर्को न्यायस्य पूर्वाङ्गं न्यायविषय-परिशोधकत्वात्, व्याप्तिग्राहकत्वाच्च" इत्याहुः।

यत्तर्कमूलव्याप्तौ व्याघातः शङ्काप्रतिबन्धकस्तमुदाहरति **धूमो यदीति**। सत्यन्तं घटादौ व्यभिचारवारणाय। पक्षविशेषणमप्येतद् बोध्यम्। तेनैतद्विशेषणस्यैव व्यतिरेकमादाय नास्य विपर्य्ययपर्य्यवसानम्। तद्ग्रहश्च योग्यानां व्यभिचारदर्शनात्। अयोग्यानामनुपस्थितकल्पनागौरवात्। **तदुपादानमिति**। तदुपादानहेतुभूत-धूमवह्न्यादिकार्य्यकारणभावज्ञानमेवेत्यर्थः। शङ्काया विरोधिनिश्चयाप्रतिबध्यत्वादिति

प्रकाशः– अथ व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानमनुमितिजनकम्, तत्र का व्याप्तिर्यत्र तर्कोपयोगः। न तावत् स्वाभाविकत्वम्। स्वभावजन्यत्वस्याव्याप्तेः। स्वभावाश्रितत्वस्य चातिव्याप्तेः। नापि विशिष्टवैशिष्ट्यं, रासभादिविशिष्टेऽपि वह्निवैशिष्ट्यात्। नापि निमित्तनैमित्तिकत्वं, रूपरसयोरभावात्। निमित्तत्वस्य नियमघटितत्वाच्च। नापि कात्स्न्र्येन सम्बन्धः। एकव्यक्तिकाव्याप्तेः। नानाव्यक्तिकेऽपि धूमादौ सकलधूमसम्बन्धस्य प्रत्येकं वह्नावसम्भवात्। अत एव, न कृत्स्नेन साध्येन सम्बन्धः। नापि यावत्साधनाश्रयाश्रितसम्बन्धः। साधनाश्रये महानसादौ सकले प्रत्येकवह्नेराश्रितत्वाभावात्। नाप्यविनाभावः। केवलान्वयिनि अव्याप्तेः। नापि साधनसमानाधिकरणयावद्धर्मसमानाधिकरणसाध्य सामानाधिकरण्यम्। यावद्धर्मसामानाधिकरण्यं हि यावद्धर्माधिकरणाधिकरणत्वम्।

मकरन्दः– ध्येयम्। यद्यप्येवमन्योन्याश्रयः, शङ्कानिवृत्तावेव तर्कस्य कार्य्यकारण–भावनिवर्त्तकत्वं निश्चिते च कार्य्यकारणभावे ततः शङ्कानिवृत्तिरिति। तथापि न सर्वत्रानेनैव तर्केण वह्निधूमकार्य्यकारणभावग्रहः। स्वतः सिद्धशङ्काविरहे–ऽन्वयादिज्ञानवतस्तद्ग्रहे बाधकाभावात्। तस्मात् सर्व्वत्र शङ्का स्यादेवेति। यश्चा*र्व्वाका*दिरनुमानविरोधी मन्यते, तं प्रत्युच्यते तथा सत्येतादृशतर्केऽपि तादृशशङ्कायां भवतो धूमार्थवह्न्युपादानं व्याहन्येत। तदिदमाह, न ह्यस्ति सम्भवो धूमाद्यर्थं वह्न्यादिकमुपादत्ते तत्कारणं तन्नेत्याशङ्कते चेति दिक्। **किन्त्विति**। न चैवमव्यभिचारज्ञानाभाव–सहकृताद् व्यभिचारनिश्चयप्रसङ्ग इति पूर्वोक्तदोषानपाय इति वाच्यम्। सहचारदर्शनस्य व्यभिचारनिश्चयानङ्गत्वात्, मानाभावात्, विरुद्धे व्यभिचारनिश्चयस्य तेन विनापि भावाच्च। शेषन्त्व*नुमानप्रकाशे*।

अहेतुकैवोत्पत्तिरित्यभ्युपगमे हेतुफलभावाभावेऽपि शङ्का स्यादेवेत्यतो व्याचष्टे **शङ्काऽपीति**। **देशादीति**। अत्रैव शङ्का नान्यत्रेति नियमहेतोरभावात् शङ्कायामपि शङ्का। एवं सर्वं मिथ्या भविष्यतीत्यपि शङ्का स्यादिति सर्वासत्त्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। **सकलेति**। शङ्कापिशाचीसत्त्वेनातिप्रसङ्गान्न सा प्रतिबन्धिकेत्यर्थः। यद्यपि संशयसहितजिज्ञासाया एव शङ्कानिवर्त्तकत्वेनोक्तत्वात् तथैव युक्तत्वाच्च। ततोऽनुमानप्रवृत्तौ शङ्कास्वरूपमपीति मूलमयुक्तं, तथापि मतान्तरेणेदमि*त्येके*। अनुमानप्रवृत्ताविति न सति सप्तमी किन्तु निमित्तसप्तमी। न च कर्म्मयोगाभावान्न तथेति वाच्यम्। शङ्कास्वरूपस्य कर्म्म कर्त्तृत्वादि*त्यन्ये*। **विशिष्टेति**। साधनविशिष्टे साध्यवैशिष्ट्यमित्यर्थः।

प्रकाशः–तच्चाप्रसिद्धम्। साधनसमानाधिकरणसकलमहानसत्वाद्यधिकरणाप्रतीतेः। नाप्यव्यभिचारित्वम्। तद्धि न साध्यात्यन्ताभाववदवृत्तित्वं, साध्यवदन्योन्याभाववदवृत्तित्वं वा। केवलान्वयिन्यव्याप्तेः। नापि साध्यवैयधिकरण्यानधिकरणत्वं, साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्वं वा। तदुभयमपि साध्यानधिकरणानधिकरणत्वम्। तच्च केवलान्वयिन्यसम्भवि। यत्किञ्चित्साध्यानधिकरणाधिकरणे धूमादौ चासिद्धम्। नापि व्यापकसामानाधिकरण्यं, व्याप्तिनिरूप्यत्वात्। नापि स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिना सामानाधिकरण्यम्। पर्वतीयाग्नेर्महानसीयधूमसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्। न च धूमवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि न वह्निसामान्यमिति वाच्यम्। न हि विशेषाभावादन्यः सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावः। विशेषाभावसमूहादेव तद्व्यवहारोपपत्तेस्तत्र मानाभावात्। अव्याप्यवृत्तिसंयोगादेर्द्रव्यत्वाद्यव्याप्यतापत्तेश्च। न च प्रतियोगिविरोधित्वमभावविशेषणम्। संयोगे साध्ये सत्त्वादेरनैकान्तिकत्वाभावप्रसङ्गात्। न हि प्रतियोगिविरोधी संयोगादेरस्त्यन्योऽभावः, अधिकरणभेदेनाभावभेदाभावात्। एतेन प्रतियोगिसमानाधिकरणात्यन्ताभावेतरत्वेनापि विशेषणं परास्तम्। वह्नेर्धूमवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्।

अथ साधनवन्निष्ठान्योन्याभावाप्रतियोगिसाध्यवत्कत्वम्। न च द्रव्यत्ववन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगि संयोगवत्, द्रव्यं न संयोगवदित्यप्रतीतेरिति चेत्, न। मूले वृक्षः कपिसंयोगवान्नेत्यबाधितानुभवादवच्छेदभेदेन संयोगवदन्योन्याभावस्याव्याप्यवृत्तित्वात्। न चैवं भेदाभेदापातः। ईदृशस्यावच्छेदकभेदमादाय तदुपगमात्। वह्निमत्पर्वतस्य धूमवन्महानसनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगित्वाच्च। न च सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिकोऽन्योन्याभावः, प्रमाणाभावादित्युक्तम्। किञ्च, साधनवन्निष्ठान्योन्याभावाप्रतियोगि साध्यवद् यस्येत्यत्र षष्ठ्यर्थो न व्याप्यव्यापकभावः। तस्यानिरूपणात्। नान्योऽतिव्याप्तेः। साध्यञ्च यदि सिद्धिकर्म विवक्षितं, तदा पर्वतवह्निधूमयोरेव व्याप्तिः। व्यापकञ्चेत्तदान्योन्याश्रयः। नापि

मकरन्दः– व्यापकत्वं व्याप्तिघटितं तत् समानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं वा विवक्षितम्। आद्ये दोषमाह व्याप्तिनिरूप्यत्वादिति। अन्त्यमाशङ्क्य निराकरोति नापीति। सम्बन्धन्धज्ञानेऽपीत्युपलक्षणम्। एवमप्यर्थान्तरतादवस्थ्यादित्यपि द्रष्टव्यम्। व्याप्तिलक्षणान्यनुमानप्रकाशे द्रष्टव्यानि।

प्रकाशः– साधनसमानाधिकरणयावद्धर्मनिरूपितवैयधिकरण्यानधिकरणसाध्य सामानाधिकरण्यम्। साधनसमानाधिकरणस्य प्रमेयत्वादेर्वैयधिकरण्याप्रसिद्धेः। नाप्यनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः। तथाहि उपाधिः साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापको वाच्यः। तत्र यद्यपि व्यापकत्वं न व्याप्तिनिरूपकत्वमात्माश्रयत्वात्। किन्तु तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम्। प्रतियोगित्वमपि न विरोधित्वं सहानवस्थाननियमलक्षणम्। गोत्वाश्वत्वयोरतिव्याप्तेः। अन्योन्याभाव प्रतियोगिन्यव्याप्तेश्च किन्त्वभावविरहात्मत्वम्। तथापि यत्किञ्चित्साध्य व्यापकसाधनाव्यापकधर्मनिषेधो धूमादावसिद्धः। प्रकृतसाध्यव्यापक साधनाव्यापकधर्मश्च सिद्ध्यसिद्धिभ्यां निषेद्धुमशक्यः। यावत्साध्यव्यापके प्रमेयत्वादौ साधनाव्यापकत्वं, यावत्साधनाव्यापके घटत्वादौ साध्यव्यापकत्वं निषिध्यते इति चेत्, न। व्यधिकरणत्वात्। यावत्साध्यव्यापक व्याप्यत्वमनौपाधिकत्वमिति चेत्, न। आत्माश्रयात्। एतेन यावत्साधनाव्यापकम व्यापकं यस्य, यावत्साध्यव्यापकं व्यापकं वा यस्य, तत्त्वमनौपाधि-कत्वमित्यप्यपास्तम्।

अथ यावत्साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मप्रतियोगिकात्यन्ता भावसमानाधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यमनौपाधिकत्वम्। न ह्येवं सोपाधिः, साधनसमानाधिकरणजात्यन्ताभावप्रतियोगिन उपाधेरार्द्रेन्धनवत्त्वा देर्योऽत्यन्ताभावस्तेन समं साध्यस्य धूमादेः सामानाधिकरण्याभावात्। आर्द्रेन्धनविरहिणि धूमस्यावृत्तेरिति चेत्, न। सोपाधौ गतत्वात्। तथा हि वह्निः साधनं, तत्समानाधिकरणो योऽत्यन्ताभावस्तप्तायःपिण्डे तत्प्रतियोगि, चत्वरवर्त्यार्द्रेन्धनं, तत्प्रतियोगिको योऽत्यन्ताभावो महानसे, तत्समानाधिकरणः साध्यो धूमस्तेन सामानाधिकरण्यं वह्नेः साधनस्य। तथाप्यार्द्रेन्धनसामान्याभाववति धूमो न वर्त्तते इति चेत्, न। सामान्यावच्छिन्नाभावस्यामानकत्वात्। नापि यावत्साधनव्यभिचारितव्यभिचारि यत् साध्यं तेन सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः। अनेकव्यक्तिकोपाधिमति प्रसङ्गतादवस्थ्यात्।

अथ केवलान्वयिनि केवलान्वयिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः। साध्यवदन्यावृत्तित्वं व्यतिरेकिणि। एतयोरनुमितिविशेषे प्रयोजकत्वम्। अनुमितिमात्रे पक्षधर्मतैव प्रयोजिका। न च तन्मात्रादनुमित्यापत्तिः। विशेषसामग्रीसहिताया एव सामान्यसामग्र्या जनकत्वनियमादिति चेत्, न। धूमे साध्यवदन्यावृत्तित्वस्याभावात्।

ततः शङ्कैव फलतः स्वरूपतश्च निवर्तनीया। तत्र फलमस्या विपक्षस्यापि जिज्ञासा तर्कादाहत्य निवर्तते। ततोऽनुमानप्रवृत्तौ शङ्कास्वरूपमपीति सर्वं सुस्थम्। न चैतदनागमं, न्यायाङ्गतया तर्कं व्युत्पादयतः *सूत्रकारस्या*भिमतत्वात्। अन्यथा तद्व्युत्पादनवैयर्थ्यात्। तदयं संक्षेपः – यत्रानुकूलतर्को नास्ति सोऽप्रयोजकः। स च द्विविधः, शङ्कितोपाधिर्निश्चितोपाधिश्च।

यत्रेदमुच्यते –

'यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते।
विपक्षस्य कुतस्तावत् हेतोर्गमनिकाबलम्'।।

तत्रोपाधिस्तु, साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकः। तद्धर्मभूता हि व्याप्तिर्जपाकुसुमरक्ततेव स्फटिके साधनाभिमते

आमोदः– वह्निसम्बन्धे कश्चिदुपाधिः स्यादिति या शङ्का तस्याः फलं या विपक्षजिज्ञासा वह्नीतरजन्यो धूमो यदि वह्निजन्यः स्यादजन्यः स्यात्तथा च कदाचित्को न स्यान्नवा नियमतस्तदुपादानं स्यादित्यादि। साऽपि तर्केणापनीयत इत्यर्थः। **तत इति।** विरोधिजिज्ञासानिवृत्तावित्यर्थः। **शङ्कास्वरूपं** शङ्कायोग्यता निवर्तत इत्यर्थः। जिज्ञासापि विरोधिविषयत्वेन संशयवदनुमितिप्रतिबन्धिकेति भावः। तथा चानुमाने वर्तमाने शङ्कान्तरं नोत्पद्यत इति भावः। ननु त्वया स्वातन्त्र्येणोक्ते कः श्रद्धास्यतीत्यत आह **नैतदिति।** मदुक्तप्रकारमन्तरेण न्यायाङ्गतैव तर्कस्य न स्यादित्याह **अन्यथेति।** ननु भूयोदर्शनाविप्लवोऽयमप्रयोजक इत्यत्र किमुत्तरम् इत्यत आह **तदयमिति।** व्याप्यत्वासिद्ध एवाप्रयोजक–सन्दिग्धानैकान्तिको वा इति हृदयम्। **स चेति।** अनवतीर्णानुकूलतर्को हेतुरित्यर्थः। **शङ्कितोपाधिरिति।** साधनव्यापकत्वेन शङ्कितो यथा मित्रातनयत्वेन श्यामत्वे साध्ये शाकपाकजत्वं, साध्याव्यापकत्वेन शङ्कितो यथा तुल्ययोगक्षेमत्वे उभयत्र वा, यथा शाकपाकजत्वस्यैव औत्पत्तिकनवश्यामत्वं प्रति कारणत्वाग्रहदशायां शाकपाकजत्वस्येव निश्चितोपाधिरार्द्रेन्धनादि यत्र शङ्कितोपाधौ अव्यतिरेकित्व–मन्वयः। **विपक्षस्येति।** सप्तम्यर्थे षष्ठी। **शतांशेनापीति।** अनवतीर्णतर्कस्य विपक्षगामितां प्रत्यनुत्कटापि शङ्का यावत् स्यादित्यर्थः। **गमनिकाबलं** गमकत्वसामर्थ्यम्। उपाधिपदप्रसिद्धिमाश्रित्याह **तद्धर्मेति।** एतेन समव्याप्त एव उपाधिपदशक्तिः, विषमव्याप्तौ तु दूषकत्वं भक्तिनिबन्धन उपाधिकोपाधिपदप्रयोग

प्रकाशः– वह्निमत्पर्वतादन्यत्र महानसे धूमस्य वृत्तेः। सकलसाध्यवदन्यवृत्तित्वं न धूमे इति चेत्, न। वह्निमतां प्रत्येकं सकलसाध्यवदन्यत्वात्।

अथ सम्बन्धमात्रं व्याप्तिः। व्यभिचारिणोऽपि सम्बन्धस्य केनचित् सह व्याप्तित्वात्। वह्निधूमादिव्याप्तिस्तु विशिष्यैव वक्तव्येति चेत्, न। अनुमितिकारण लिङ्गपरामर्शविषयव्याप्तिस्वरूपनिरूपणप्रस्तावे सम्बन्धमात्राभिधान स्यार्थान्तरत्वात्। तद्धानादनुमित्यनुत्पत्तेः। नापि व्याप्तिपदप्रवृत्तिनिमित्तमिदं, सम्बन्धज्ञानेऽपि व्याप्तिपदाप्रयोगात्।

अत्रोच्यते। यत्सम्बन्धितावच्छेदकावच्छिन्नत्वं यस्य, तस्य सा व्याप्तिः। तथा हि धूमस्य वह्निसम्बन्धित्वे धूमत्वमवच्छेदकं, धूममात्रस्य वह्निसम्बन्धित्वात्। वह्नेस्तु धूमसम्बन्धित्वे न वह्नित्वमवच्छेदकं, धूमासम्बधिनि गतत्वात्। न ह्यतिप्रसक्तमवच्छेदकम्। संयोगादौ तथात्वादर्शनात्। किन्तु वह्नावार्द्रेन्धन प्रभववह्नित्वं धूमसम्बन्धितावच्छेदकं, तादृशञ्च व्याप्यमेव।

यद्वा, यत्सामानाधिकरण्यावच्छेदकावच्छिन्नं यद्यस्य रूपं, तदेव तस्य व्याप्यत्वम्। वह्निसामानाधिकरण्यं च धूमे धूमत्वेनावच्छिद्यते, सोपाधौ तूपाधिना। यद्वा प्रतियोगिवैयधिकरण्यावच्छिन्नस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिता-नवच्छेदकावच्छिन्नेन सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः। न च धूमवन्निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगिता वह्नित्वेनावच्छिद्यते, धूमवति वह्निर्नास्तीत्यप्रतीतेः। रासभत्वन्तु तथा, धूमवति रासभो नास्तीति प्रतीतेः सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावश्चान्यः, विशेषाभावप्रमायामपि सामान्ये संशयात्। न चैवं संयोगित्वव्याप्यत्वं सत्त्वस्य स्यात्, कर्मणि संयोगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिवैयधिकरण्यात्। एतदेवानौपाधिकत्व-मित्युच्यते इति संक्षेपः।

भूयोदर्शनाविप्लवे कोऽयमप्रयोजको नामेत्यत्रोत्तरमाह–तदयमिति। अनुकूलत्वञ्च तर्कस्य व्याप्तिग्राहकत्वं व्यभिचारशङ्कानिर्वर्त्तनद्वारेत्युक्तम्। सोऽयमप्रयोजकः शङ्कितोपाधिः, साधनाव्यापकत्वेन साध्यव्यापकत्वेनोभयथा वा सन्दिग्धः। यथा, मित्रातनयत्वेन श्यामत्वे साध्ये शाकपाकजत्वम्। यथा तुल्ययोगक्षेमत्वेन उपाधेः साध्यव्यपकतया सन्देहे ईश्वरानुमाने शरीरजन्यत्वादि। यथा, मित्रातनयत्वे शाकपाकजत्वस्य साध्यव्यापकतासन्देह इति क्रमेणोदाहरणम्। न चोपाधिसन्देहो नोपाधिर्न वा हेत्वाभासान्तरमिति तदुद्भावने निरनुयोज्यानुयोग इति वाच्यम्। व्यभिचारशङ्काधायकत्वेन सन्दिग्धानैकान्तिकस्यैव दूषकत्वात्।

प्रकाशः

अत्रैव वृद्धसम्मतिमाह **यत्रेति**। विपक्षस्याव्यतिरेकित्वं यावच्छङ्क्यते, तावन्न हेतुर्गमक इत्यर्थः। उपाधिसन्देहस्य च ज्ञायमानत्वेनानुमितिप्रतिबन्धकत्वाभावान्न हेत्वाभासान्तरत्वं, स्वरूपसति सन्देहे कारणाभावादेवानुमित्यनुत्पत्तेरिति भावः।

साधनाव्यापकत्व इति। साधनत्वाभिमताव्यापकत्वे साध्यत्वाभिमतव्यापक इत्यर्थः। व्यापकत्वञ्च तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वमिति न व्यापकादि ज्ञानेऽन्योन्याश्रयः।

ननु साधनावच्छिन्नपक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकोपाध्यव्याप्तिः। न च तयोरनुपाधित्वं, दूषकताबीजसाम्यात्। बाधानुन्नीतपक्षेतरेऽतिव्याप्तिश्च। अथ प्रयोजको धर्म उपाधिः। तत्त्वञ्च न, न्यूनाधिकदेशवृत्तेः। तस्मिन् सत्यप्यभवतस्तेन विनापि भवतश्च तदप्रयोज्यत्वात्। पक्षेतरत्वन्तु न तथेति चेत्, न। दूषकतौपयिक

मकरन्दः- यथा तुल्येति। यद्यप्यस्योपाधित्वाभावान्न सन्दिग्धोपाधित्वं, अन्यथेश्वरानुमानस्य सोपाधित्वापत्तेः। तथापि विशेषादर्शनदशायां कदाचित् तत्सन्देहोऽप्यनुमितिप्रतिबन्धक इति तदपि तथात्वेनोदाहृतम्। वस्तुतः शाक-पाकजत्वादिकमेव साध्यव्यापकत्वमात्रसन्देहदशायां तथेति बोध्यम्। **सन्दिग्धेति**। दूषकत्वमात्रे दृष्टान्तोऽयम्। **विपक्षस्येति**। विपक्षगामित्वमित्यर्थः। ज्ञायमानत्वेनेत्यापाततः, परमुखनिरीक्षकतयेति बोध्यम्। अन्यथोपाधेस्तथात्वं स्यादेवेति। साधनत्वसाध्यत्वे व्याप्यत्वव्यापकत्वे। न च सोपाधौ वस्तुतस्तथात्वमत आह **अभिमतेति**। ननु व्यापकत्वं व्याप्तिनिरूपकत्वम्। तथा च व्याप्तौ गृहीतायामुपाधिप्रत्ययस्तत्प्रत्यये च तदभावरूपानौपाधिकत्व-प्रत्ययाधीनव्याप्तिप्रत्यय इत्यन्योन्याश्रय इत्यत आह **व्यापकत्वञ्चेति**। प्रतियोग्यसमानाधिकरणत्वमप्यत्यन्ताभावविशेषणम्। तेन संयोगस्य द्रव्यत्वव्यापकत्वम्। पक्षेतरस्योपाधित्वं मन्यमानोऽपि नैयायिकसिद्धान्तानुसारेण तल्लक्षणेऽतिव्याप्तिं ददाति **बाधानुन्नीतेति**। त्वन्मते इति शेषः। एतदपि पक्षान्तर्भावेण साध्यव्यापकत्वानिश्चयात् पक्षातिरिक्तसाध्यव्यापकत्वाभिप्रायेण बोध्यम्। एतच्चाग्रे स्फुटम्। ननु साध्यप्रयोजकत्वे सतीति लक्षणविशेषणं तच्च न पक्षेतरत्वे इति नातिव्याप्तिरित्याह **अथेति**। **न तथा** न प्रयोजकत्व-घटितलक्षणवदित्यर्थः। एतेनोक्तशङ्काया अतिव्याप्तिपोषकतयाऽसङ्गतिरित्यपास्तम्। **दूषकतेति**। तथा च प्रयोजकत्वगर्भस्यापि तस्य तत्र सत्त्वादतिव्याप्तिस्तदवस्थैवेति

चकास्तीत्युपाधिरसावुच्यते इति। तदिदमाहुः –

अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा।। इति।

तदनेन विपक्षदण्डभूतेन तर्केण सनाथे भूयोदर्शने, कार्यं वा, कारणं वा, ततोऽन्यद्वा, समवायि वा, संयोगि वा, अन्यथा वा, भावो वाऽभावो वा, सविशेषणं वा, निर्विशेषणं वा लिङ्गमिति निःशङ्कमवधारणीयम्। अन्यथा तदाभास इति रहस्यम्।

तादात्म्यतदुत्पत्त्योरप्येतदेव बीजम्। यदि कार्यात्मानौ कारणमात्मानञ्चातिपतेतां, तदा तयोस्तत्त्वं व्याहन्येत। अत एव सामग्री निवेशिनश्चरमकारणादपि कार्यमनुमिमते *सौगता* अपि। तस्माद्वि पक्षबाधकमेव प्रतिबन्धलक्षणम्। तथा हि – शाकाद्याहारपरिणतिविरहिणि मित्रातनये न किञ्चिदनिष्टमिति नासौ तस्य व्यापिका। व्यापिका तु श्यामिकायाः, कारणत्वावधारणात्। कारणञ्च तत् तस्य, तदतिपत्य

आमोदः– इत्युक्तं भवति। अत्र *प्राचीनसम्मति*माह अन्य इति। सोपाधय इत्यर्थः। परप्रयुक्तानाम् उपाधिगतानाम्। तैरिति। सोपाधिभिरित्यर्थः। दृष्टैरपि व्यापकांशस्यावधारणा। अनुमितिस्तु नेष्टेत्यर्थः। स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिरित्यनुगमकं सर्वसाधारणम्। अतः परेषां व्याप्तिप्रकारक-परिसंख्यानमनुक्तमित्यभिप्रेत्य तर्कोपयोगमुपसंहरन्नाह तदेनेनेति। विपक्षदण्ड-भूतेन विपक्षशङ्कानिवर्तकेन। अन्यथा त्विति। यत्र विपक्षदण्डभूतो नास्ति तर्कस्तदित्यर्थः। बीजभूतं तर्कमाह यदि हीति। ननु *बौद्धानां* तादात्म्यतदुत्पन्न-स्वरूपमेव व्याप्तिर्न तु तद्ग्राहकं, तथा च कथं तदुभयरूपानुकूलतर्केण तदुभयग्रह इत्यत आह तस्मादिति। प्रतिबन्धलक्षणं प्रतिबन्धग्राहकेण तु तत्स्वरूपमित्यर्थः। अत एवेति। तादात्म्यतदुत्पत्ती अन्तरेणापि स्वाभाविकसम्बन्धबलेनैवानुमान-मित्यर्थः। लक्षणस्यातिव्याप्तिं निरस्यति शाकेति। तत्रोपाधिसम्भवात् स्वाभाविकत्वलक्षणमेव नास्तीत्यर्थः। शाकाद्याहारपरिणते उपाधेः साधना-व्यापकत्वमाह शाकाद्याहारेति। स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र मित्रातनयत्वस्य उपाधौ व्यभिचारशङ्कानिवर्तकस्तर्को नास्ति येन व्यापकता गृह्येतेत्यर्थः। साध्यव्यापकतामाह व्यापिका त्विति। अत्र विपक्षबाधकमाह कारणं चेति।

प्रकाशः– प्रयोजकत्वस्य साध्यव्यापकसाधनाव्यापकत्वस्य तत्राप्यनपायात्। साध्यव्याप्यत्वस्य चादूषणत्वात्। व्यर्थविशेषणत्वादनुपाधिरिति चेत्, न। तद्धि न निष्प्रयोजनकत्वं, साधनव्याप्तिपरिहारस्यैव प्रयोजनत्वात्। नापि व्यभिचारा-वारकत्वम्। पक्षे स्वसिद्धस्य व्यभिचारस्य वारणात्। तादृशस्याप्य-स्मदादिपदादेरुपादानात्। नापि पर्वतेतरान्यत्वादेरित्यत्र व्यतिरेके इतरान्यत्वस्या-प्रसिद्धेरसिद्धिवारणार्थं पर्वतपदं विशेषणमित्येव व्यर्थत्वम्। इतरान्यत्वस्याप्रसिद्ध्या विशेषणं विना व्याप्त्यग्रहात्। येन विशेषणेन विना व्याप्त्यग्रहस्तस्यैव सार्थकत्वात्। व्यभिचारवारकस्यापि सार्थकत्वे तस्यैव तन्त्रत्वात्। अत एव गन्धादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वादित्यत्रासिद्धिवारकविशेषणस्य सार्थकत्वम्। अन्यथा बाधोन्नीतपक्षेतरत्वस्याप्यनुपाधित्वापत्तेः। पक्षे साध्यसन्देहे साध्यव्यापकत्वानिश्चयान्न तदुपाधिः। यत्र तु पक्षे साध्याभावप्रमा, तत्र बाधोन्नीतत्वेनोपाधिरेवेति चेन्न। पक्षातिरिक्ते साध्यव्यापकत्वग्रहादेवोपाधेर्दूषकत्वात्। अन्यथा, पक्षे साध्यसन्देहादुपाधि-मात्रोच्छेदापत्तेः। विपक्षाव्यावर्त्तकविशेषणशून्येति विशेषणान्न तदुपाधिः। बाधोन्नीतपक्षेतरत्वं चोपाधिः। तत्र पक्षाभिमतस्य विपक्षत्वादिति चेत्, न। वस्तुनो विपक्षाव्यावर्त्तकविशेषणशून्यत्वाभावात्। सर्वत्र प्रमेयत्वादेः सत्वात्।

मकरन्दः– भावः। ननु व्यर्थविशेषणरहितत्वं तद्विशेषणमिति नातिव्याप्तिरित्याह **व्यर्थेति**। अनुपाधिः उपाधिलक्षणानाक्रान्त इत्यर्थः। **साधनेति**। इतरत्वस्य केवलान्वयितया साधनव्यापकत्वमिति पर्वतादिपदं विशेषणम्। ततश्च पक्ष एव साधनाव्यापकत्वमित्यर्थः। तथा च पुनरतिव्याप्तितादवस्थ्यमेवेति भावः। ननु साधने साध्यव्यभिचारावारकतयैव व्यर्थत्वं ब्रूमः, तत्र तद्वारकस्यैवोपाधित्वात्। यथा वह्नौ धूमव्यभिचारवारकमार्द्रेन्धनवत्त्वमुपाधिः, पक्षेतरत्वञ्च न धूमे वह्निव्यभिचारवारकं, तत्र तस्यैवाप्रसिद्धेरित्यत आह **नापीति**। **स्वसिद्धस्य**=पक्षेतरोपाधिवादिसिद्धस्य। तन्मते धूममात्रस्य पर्वत एव वह्निव्यभिचारित्वात्तद्वारकं धूमे पर्वतेतरत्वं विशेषणम्। पर्वतेतरधूमवत्वस्य वह्न्यव्यभिचारित्वात्। तथा च सर्वथा व्यर्थविशेषणरहितत्वस्य तत्र सत्वादुक्तातिव्याप्तिः सुदृढैवेति भावः। यद्यपि वास्तवव्यभिचारवारकत्वविवक्षायां नातिव्याप्तिः, तथापि एतादृशस्याप्युपाधित्वेन सर्वसिद्धत्वात्तत्राव्याप्तिर्बोध्या। **तादृशस्यापीति**। स्वसिद्धव्यभिचारवारकस्यापीत्यर्थः। पक्षापक्षसाधारण-साध्यव्यापकत्वमेव विवक्षितमिति नोक्तातिव्याप्तिरित्याह **पक्षे इति**।

प्रकाशः– तत्रोपात्तत्वेन विशेषणे च व्याघातः। न हि तत्रोपात्तं तेन शून्यं चेति सम्भवति।

तथापि साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वस्य पक्षेतरत्वे सत्त्वात् तद्व्यावृत्त्या साध्यव्यावृत्तिरावश्यकीति हेतोर्व्यभिचारात्तत्र चावश्यमुपाधि सत्त्वादन्यस्योपाधेरभावात् पक्षेतरत्वमेवोपाधिः स्यात्। किञ्च, व्यभिचारावारकत्वं न व्याप्तिविरोधि नापि तज्ज्ञानविरोधि। नीलधूमे तदुभयसत्त्वात्।

अथोपाधेः स्वव्यतिरेकेण सत्प्रतिपक्षतया दूषकत्वम्। तथा हि नास्य व्यभिचारोन्नायकतया दूषकत्वम्। वह्निमत्त्वं धूमवत्त्वव्यभिचारि तद्व्यापकार्द्रेन्धनव्यभिचारित्वात् प्रमेयत्ववदित्यत्रार्द्रेन्धनवत्त्वस्य धूमवत्त्वव्यापकत्वासिद्धेः। धूमवत्त्वव्यापकवह्निमत्त्वाव्यापकत्वात्। व्यापकत्वे वा साधनव्यापकत्वेनानुपाधित्वापत्तेः। न च धूमव्याप्यत्वं वह्निमत्वस्यासिद्धम्। तद्धि न व्यभिचारात्, स्फुटे व्यभिचारे उपाध्युपन्यासस्यानर्हत्वात्। तस्य तदर्थत्वात्। नाप्युपाधिनिश्चयात्। उपाधित्वासिद्धेः।

अथ यथा सहचारदर्शनव्यभिचारादर्शनाभ्यां वह्निमत्त्वं व्याप्यं धूमवत्त्वञ्च व्यापकं, तथा आर्द्रेन्धनवत्त्वमपि व्यापकं, धूमवत्त्वञ्च व्याप्यम्। तथा च व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तिवद् व्याप्यसत्त्वाद् व्यापकसत्त्वमावश्यकमित्य विशेषादुभयमप्यसाधकमित्युच्यते। हन्त तर्हि सिद्धमुपाधेः सत्प्रतिपक्षतया दूषकत्वम्।

नापि व्याप्यत्वासिद्धिरूपत्वेन। सा हि न तावद्व्याप्तिभङ्गनिश्चयात्, तस्योपाधित्वनिश्चयसाध्यत्वात्। प्रकृते च तदनिश्चयात्। सहचारदर्शन व्यभिचारादर्शनाभ्यां तन्निश्चय इति चेत्, न। त्रयोर्हेतावपि सत्त्वात्। तत्रोत्पन्नमपि व्याप्तिज्ञानमुपाधिदर्शनाद् बाध्यते इति चेत्, न। उपाधावपि तद्भङ्गापत्तेः। तत्राप्युपाधिसद्भावात्। तथा ह्यार्द्रेन्धनवत्त्वस्य धूमवत्व उपाधित्वे तदभावो धूमवत्त्वाभावव्याप्तो वाच्यः। अन्यथा आर्द्रेन्धनस्यापि धूमवत्वव्यापकत्वानुपपत्तेः। न हि यदभावो यदभावव्यभिचारी तत्तस्य व्यापकम्। एवं व्यतिरेके निर्वह्नित्वमुपाधिः।

मकरन्दः– परमतेनैव परस्यातिव्याप्तिं दत्त्वा अनुमानद्वेषी *चार्वाक*स्तस्योपाधित्वमेवोपपादयति तथापीति। तद्व्यावृत्त्येति। अत्र पक्षातिरिक्तसाध्यव्यापकत्वमेवेति तद्व्यावृत्तावपि पक्षनिष्ठसाध्याव्यावृत्तेः कथं व्यभिचार इति चिन्त्यम्। अनौपाधिकत्वस्य व्याप्तित्वानभ्युपगमान्न व्याप्यत्वासिद्धिरूपत्वमिति तदुन्नायकत्वेन तथात्वं वाच्यम्, एवं सत्याह सा हीति।

प्रकाशः- इदं हि निर्धूमस्य व्यापकतयाऽभिमतस्य व्यापकं, निर्धूमस्य वह्निमतोऽदर्शनात्। दर्शने वा व्यभिचारस्य स्फुटतयोपाध्युपन्यासस्यानर्हत्वादि-त्युक्तम्। आर्द्रेन्धनविरहस्य चाव्यापकं, आर्द्रेन्धनाभाववति पक्षे तदसत्त्वात्। नापि व्याप्त्यनिश्चयाद् व्याप्यत्वासिद्धिः। व्याप्त्यनिश्चयो हि पक्षे वह्निमत्त्वस्यार्द्रेन्धन विरहस्य च दर्शनात्। एवञ्च, धूमवत्त्वनिर्धूमवत्त्वाप्रसक्तौ वस्तुनो विरुद्धद्वैरूप्याभावादेकत्र व्याप्तिभङ्गो वाच्यः। स च विनिगमकाभावादेकत्र निश्चेतुं न शक्यते इति वाच्यम्। इयं च सत्प्रतिपक्षतैव। तस्मादुपाधेः सत्प्रतिपक्षभावेन दूषकत्वस्थितौ पक्षेतरत्वस्य नोपाधित्वम्। तद्व्यतिरेकस्य साधारणतया साध्याभावासाधकत्वादिति।

मैवम्। तथा सति प्रतिपक्षानुमाने सत्प्रतिपक्षान्तरस्योपाधेरनुद्भावनापत्तेः। न च सत्प्रतिपक्षान्तरमपि तत्रोद्भाव्यम्। उत्तम्भकाप्रतिबद्धस्य मन्त्रस्येवा प्रतिबद्धस्यैव प्रतिबन्धकत्वादिति वाच्यम्।सर्वत्र स्थापनाया अपि प्रतिबद्धत्वेनाप्रतिबन्धकत्वप्रसङ्गात्। न च प्रतिपक्षबाहुल्येनाधिक-बलत्वार्थमुद्भावनम्। बलं ह्यत्रानुमित्यौपयिकं व्याप्तिपक्षधर्मताऽऽत्मकं विवक्षितम्। तच्च तुल्यमेव। न तु भूयस्त्वमपि तथा। एकस्मादनुमित्यनुदयापत्तेः। तदाहुराचार्याः - "बहवश्चेत्यन्वाचये चकारः" इति। सन्दिग्धोपाधेरदूषकत्वापाताच्च। तद्व्यतिरेकस्य पक्षे सन्दिग्धत्वात्। केवलव्यतिरेकिणा च सत्प्रतिपक्षसम्भवाच्च। न चासाधारण्यम्। तस्यापि सत्प्रतिपक्षोत्थापकतया दूषकत्वात्। किञ्चैवं, बाधोन्नीतपक्षेतरत्वमपि नोपाधिः स्यात्। व्यतिरेकेऽसाधारणत्वात्। केवलान्वयिन्य साधारणत्वाभावात् पक्षेतरत्वस्योपाधितापत्तिश्च। अपि चैवमन्धकारो द्रव्यं स्वातन्त्र्येण प्रतीयमानत्वात् त्र्यणुकवदित्यत्राश्रावणत्वमुपाधिर्न स्यात्। तद्व्यतिरेकस्य

मकरन्दः- **निर्धूमस्येति**। तथा चापातत उक्तोपाधिना प्रकृतोपाधौ व्याप्तिज्ञानबाधा स्यादेवेति भावः। उपसंहरन्नेव प्रकृते योजयति **तस्मादिति**। ननु सन्दिग्धो-पाधेर्व्यभिचारसंशयाधायकतया पृथगेव दोषत्वमभ्युपगम्यते न तु सत्प्रतिपक्षतयेत्यरुचेर्दोषान्तरमाह **केवलेति**। व्यतिरेकव्याप्तिपुरस्कारेण तेनापि सत्प्रतिपक्षसम्भवादित्यर्थः। **तस्यापीति**। असाधारणस्यापीत्यर्थः। तथा च सत्प्रतिपक्षे सत्प्रतिपक्षान्तरवत्तत्रासाधारणोऽपि न दोष इति भाव। ननु बाधेन व्यतिरेके पक्षस्यैव सपक्षत्वेन तद्व्यावृत्तत्वाभावान्नासाधारण्यमित्यरुचेराह **केवलान्वयिनीति**। केवलान्वयिधर्मसाध्यकानुमाने इत्यर्थः। तत्र व्यतिरेके

प्रकाशः– पक्षावृत्तित्वात्। न च नायमुपाधिः, तल्लक्षणसत्त्वात्। पर्वतावयव-वृत्त्यन्यत्वादिकञ्चैवमप्युपाधिः स्यादेव। तद्व्यतिरेकस्यासाधारणत्वाभावात्। यत्तु पक्षेतरत्वस्य ग्राहकसाम्यात् साध्यव्यापकत्ववत् साध्याभावव्यापकत्वात्तन्निवृत्त्या साध्यसाध्याभावाभ्यां निवर्त्तितव्यम्। न चैवमिति तस्य साध्यव्यापकत्वे सन्देह इति। तन्न। तथापि साध्यव्यापकतापक्षमाश्रित्योपाधित्वापत्तेः।

अथ साध्यसमव्याप्तत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिरिति पक्षेतरत्वं नोपाधिः। युक्तञ्चैतत्। यद्धर्मोऽन्यत्र भासते तस्यैव जपापुष्पस्येवोपाधित्वात्। उपाधिवृत्ति हि साध्यव्याप्यत्वं साधनाभिमते भासते इति तथैवोपाधिपदप्रवृत्तिः। साध्यव्याप्यत्वमात्रञ्च न दूषकमिति तस्य साध्यव्यापकत्वमपीष्यते। मैवम्, दूषकताबीजस्य विषमव्याप्तेऽपि सत्त्वात्। दूषकतायां साध्यव्याप्यत्वस्य व्यर्थत्वात्। दूषणान्तरसंकीर्णस्य चानुपाधित्वे समव्याप्तस्यापि तत्त्वापत्तेः।

अथोपाधिः स उच्यते, यदभावो व्यभिचारविरोधी। न च विषमव्याप्तस्याभावो व्यभिचारं विरुणद्धि। यत्र हि व्यभिचारस्तत्र समव्याप्तमन्ततः साध्यमप्यु पाधिर्भवत्येव, स्वस्य स्वव्यापकत्वे सति व्याप्यत्वात् साधनाव्यापकत्वाच्च। विषमव्याप्तिके तु साध्यव्यापको यो धर्मस्तद्व्याप्यत्वमात्रेण तद्व्याप्यत्वम्।

मकरन्दः– साध्याप्रसिद्ध्या सपक्षाभावान्नासाधारण्यमिति भावः। यद्यप्येवमसाधारण्याभावेऽपि साध्याप्रसिद्ध्यैव व्यतिरेके सत्प्रतिपक्षत्वाभावान्न तस्योपाधित्वं स्यात्। तथाप्यसाधारण्यनिरासमात्राभिप्रायकोऽयं ग्रन्थ इत्याहुः। वस्तुतः, साध्याप्रसिद्धावप्यप्रसिद्धसाध्यकव्यतिरेकिणीव व्यतिरेकव्याप्तिपक्षधर्मतापरामर्शसम्भवात्तस्य प्रकृतहेतुपक्षधर्मताव्याप्तिपरामर्शसंवलनदशायां सत्प्रतिपक्षत्वमित्यभिप्रायकोऽयं ग्रन्थः। यद्यपि विरोधिपरामर्शत्वेन तथात्वं प्रकृते च विरोधनिरूपकाप्रसिद्धिः, तथापि विरोधप्रतिसन्धानमेव तत्प्रयोजकम्। तच्च प्रमेयत्वमत्यन्ताभावप्रतियोगीति भ्रमसम्भवात्। सम्भवत्येवेति मतविशेषेण तथोक्तमिति। यद्वा, आकाशात्यन्ताभावादिकेवलान्वयिपरमेतत्। तत्र तद्वतोऽप्रसिद्ध्या सपक्षाभावादिति। केचित्तु पूर्वास्वरसादाह **अपि चेति**। **तथापीति**। साध्यव्यापकताकोटिमाश्रित्य सन्दिग्धोपाधितापत्तेरित्यर्थः।

समव्याप्त एवोपाधिरित्युपपादयन्नेवाह **अथेति**। यदीयं प्रसञ्जितं साधनव्यापकत्वं हेतुसाध्ययोर्व्यभिचाराभावापादकमित्यर्थः। अभावः साधनव्यापकत्वम्। तत् किं साध्यव्यापकव्याप्यत्वमेवानौपाधिकत्वं, तथा

प्रकाशः– दृष्टं ह्यनित्यत्वस्य व्यापकं प्रमेयत्वं तद्व्याप्यञ्च गुणत्वम्। न च गुणत्वानित्यत्वयोर्मिथो व्याप्तिः। समव्याप्तिके च तद्व्यापकव्याप्येन व्याप्तश्च तद्व्यभिचारि चेति व्याहतम्।

मैवम्। तथापि ह्यव्यभिचारे साध्यव्याप्यव्याप्यत्वमात्रं प्रयोजकं, लाघवाद्, न तु साध्यव्यापकव्याप्यत्वमपि व्यभिचारस्थलस्य त्वयैवोक्तत्वात्। न च साध्यव्याप्यव्याप्यत्वमेवानौपाधिकत्वं, साध्यव्याप्यमित्यत्रापि ह्यनौपाधिकत्वं तदेव वाच्यं, तथा चानवस्थेति। व्यभिचारव्यावर्त्तनार्थमनौपाधित्वलक्षणे यावदिति पदं साध्यव्यापकत्वे विशेषणं प्रक्षिप्तमेव। यदि च यद्व्यतिरेकेऽनुमितिर्भवत्येव तद् दूषणं,तदा विरुद्धत्वादेरप्यदूषणत्वमिति। यस्मिन् सत्यनुमितिर्न भवति तदेव दूषणमिति विषमव्याप्तोऽप्युपाधिः।

अथ साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः। तेन मित्रातनयत्वेन श्यामत्वे ध्वंसस्य च जन्यत्वेन ध्वंसप्रतियोगित्वे साध्ये साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकं शाकपाकजत्वं भावत्वं चोपाधिः। काकादौ प्रागभावे च केवलसाध्याव्यापकत्वादिति। तन्न। सोपाधित्वादसाधकमित्यत्र साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकव्यभिचारित्वादित्यर्थे साधनावच्छिन्नेत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः। जलं प्रमेयं रसवत्त्वादित्यत्र रसवत्त्वावच्छिन्नप्रमेयत्वव्यापकस्य पृथिवी-त्वस्योपाधित्वप्रसङ्गात्। पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकोपाध्यव्याप्तेश्च। किञ्च, विशिष्टसाध्यव्यभिचारं प्रसाध्य केवलसाध्यव्यभिचारः साध्यः, तत्र चार्थान्तरम्। केवले साध्ये हि विप्रतिपत्तिर्न तु विशिष्टे। प्रकृतसाध्यव्यभिचारसिद्ध्यर्थं विशिष्टव्यभिचारः साध्यवति इति चेन्न। अप्राप्तकालत्वात्। प्रथमं साध्यव्यभिचार एवोद्भाव्यस्तत्रासिद्धौ पश्चात्तन्निर्वाहार्थमुपाधिर्वाच्य इति चेत्, न। एवं सति प्रकृतानुमाने उपाधेरदूषणत्वापत्तेः। अत एव पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वे

मकरन्दः– चोक्तगुणत्वाद्यतिप्रसङ्ग इत्यत आह **व्यभिचारीति। यदि चेति।** ननु समव्याप्तव्यतिरेके व्यभिचाराभावनियमेऽप्यनुमितिनियमो नास्ति, ह्रदोऽग्निमान् धूमादित्यादौ तादृशोपाधेरभावेऽपि स्वरूपासिद्ध्या अनुमित्यभावादिति चेत्, न। पक्षवृत्तित्वे बाधप्रतिरोधाभावे च सति यद्व्यतिरेके लिङ्गस्य समीचीनत्वनियमस्तद् दूषणमित्यर्थात्। **विरुद्धत्वादेरिति।** आदि पदाद्व्यभिचारादिपरिग्रहः। अन्यतर-व्यतिरेकेऽप्यन्यतरसत्त्वे लिङ्गस्यासमीचीनत्वादित्यर्थः। ननु साधनावच्छिन्नसाध्यस्य पक्षेऽपि सत्त्वात्तदव्यापकतया नातिप्रसङ्ग इत्यनुशयादाह **पक्षधर्मेति।** वायुः

प्रकाशः– सति साधनाव्यापक उपाधिरित्यपास्तम्। आर्द्रेन्धनवत्त्वादौ नियततादृशधर्मा–भावेनाव्याप्तेश्च। शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वादित्यत्र शब्दधर्म्मगुणत्वावच्छिन्नाभिधेयत्व व्यापकस्याश्रावणत्वस्योपाधित्वापाताच्च। नापि पक्षावृत्तित्वे साध्यव्यापकत्व मुपाधित्वम्। शब्दोऽनित्यः गुणत्वादित्यत्र कृतकत्वस्य शब्दवृत्तेरनुपाधित्वापातात्। न च स्फुटे व्यभिचारे निष्फलमुपाध्यनुसरणमिति वाच्यम्। व्यभिचारेऽवश्यमुपाधि सत्त्वात्। अन्यथैकत्र साधने साध्यतदभाव–सम्बन्धस्यावच्छेदभेदं विनानुपपत्तेः।

अथ पर्यवसितसाध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः। पर्यवसितं च साध्यं पक्षधर्मताबललभ्यम्। यथा शब्दोऽनित्यत्वातिरिक्तशब्दधर्मातिरिक्तधर्मवान् प्रमेयत्वादित्यत्र यथोक्तसाध्याव्यापकत्वेऽपि पक्षधर्मताबललभ्यस्यानित्यत्वस्य साध्यस्य व्यापकं कृतकत्वमुपाधिः, कृतकत्वे चैवं साध्यमानेऽनित्यत्वमुपाधिः। तन्न। पक्षधर्मताबललभ्यसाध्यसिद्धौ हि निष्फल उपाधिः। तदसिद्धौ च कस्य व्यापकः?। न हि सोपाधौ पक्षधर्मताबलात् साध्यं सिद्ध्यति, यद्व्यापक उपाधिः स्यात्। द्व्यणुकस्य सावयवत्वे सिद्धे, द्व्यणुकं द्रव्यसमवेतं जन्यमहत्त्वानाधार द्रव्यत्वादित्यत्र निःस्पर्शद्रव्यसमवेतत्वं चोपाधिः स्यात्। नित्यद्रव्यसमवेतत्वस्य

मकरन्दः– प्रत्यक्षः प्रमेयत्वादित्यादावुद्भूतरूपवत्त्वाद्युपाधावव्यापनादि–त्यर्थः। **आर्द्रेन्धनवत्त्वादाविति**। यद्यपि द्रव्यत्वादिकमवच्छेदकं सम्भवत्येव तथाप्यवच्छेदकस्य साध्ये व्याप्यतावच्छेदकत्वमभिप्रेत्यैतदुक्तम्। तदिदमाह **नियतेति**। नियतावच्छेदकेत्यर्थः। धूमत्वस्यैवार्द्रेन्धनव्याप्यतावच्छेदकत्वादिति भावः। वस्तुतः प्रागभावो विनाशी जन्यत्वादित्यादौ भावत्वाद्युपाध्यव्याप्तिर्बोध्या। **शब्दोऽभिधेय इति**। एतच्च पक्षातिरिक्तसाध्यव्यापकत्वमादाय बोध्यम्। **व्यभिचार इति**। अस्फुटत्वदशायां तदनुसरणसम्भवाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। **यथेति**। यद्यप्यत्र व्यभिचाराभावात्तद्व्याप्तोपाधेरनुपपत्तिः, तथापि सत्प्रतिपक्षे विरोधमात्रस्य तन्त्रत्वेन पर्य्यवसितानित्यत्वरूपसाध्याभावसाधनद्वारा तदुत्थापकतयैवोपाधित्व मित्येतन्मततात्पर्यम्। न च कृतकत्वस्य पक्षवृत्तितया तद्व्यतिरेकस्यासिद्धत्वान्न तदुत्थापकत्वमपीति वाच्यम्। शब्दनित्यत्ववादिन उपाधिदातुर्मते शब्दस्याकृत–कत्वादिति भावः।

असमवेतत्वपर्य्यवसानवारणायाह **सावयवत्वे इति**। **जन्येति**। परमाणुसिद्धिदशायां मनसोऽणुत्वादिसिद्धिदशायाञ्च गगनादौ व्याप्तिग्रहार्थं जन्यपदम्। अखण्डाभावे न वैयर्थ्यमिति। **निःस्पर्शेति**। अत्र द्रव्यपदं

प्रकाशः– पर्यवसितस्य साध्यस्य व्यापकत्वात्। साधनाव्यापकत्वाच्च।

अथ साध्यसाधनसम्बन्धव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः। तेन ध्वंसस्य जन्यत्वेनानित्यत्वे साध्ये यद्यपि भावत्वं प्रागभावे साध्यव्यापकं तथापि जन्यत्वे सति यदि नित्यत्वं तद्व्यापकत्वादुपाधिरिति। न, इदमसाधकं साध्य-साधनसम्बन्धव्यभिचारित्वादित्यत्र साध्यव्यभिचारित्वादित्यस्यैव गमकत्वे शेषवैयर्थ्यापत्तेः। सम्बन्धव्यभिचारानुमानेऽर्थान्तरत्वापत्तेश्च। यद्विशिष्टे साधने साध्यसामानाधिकरण्यं स उपाधिरिति चेन्न। रासभादीनामप्युपाधित्वापत्तेः। तद्विशिष्टेऽपि साधने साध्यसम्बन्धात्। यद्विशिष्ट एवेति चेत्, न। प्रमेयत्वा-देरप्युपाधित्वापत्तेः। यद्विशिष्टे साधने साध्यसामानाधिकरण्यमस्त्येवेति चेत्, न। गुरुत्वेन रसवत्त्वे साध्ये गन्धवत्त्वादेः साध्याव्यापकस्याप्युपाधित्वापत्तेः।

अथोपाधिमात्रस्य व्यतिरेकिधर्मत्वं, क्वचित् बाधोन्नीतस्य पक्षेतरत्वस्याप्यु पाधित्वात्। तत्तदुपाधेश्च तत्तत्साध्यव्यापकत्वे सति तत्तत्साधनाव्यापकत्वं, वह्निधूमोपाधेस्तु न लक्षणं लक्ष्याभावात्। न च पर्वतेतरत्वं वह्निधूमसम्बन्धोपाधिः स्यात्। आपाद्याप्रसिद्धेः। न च पक्षेतरत्वं वह्निव्यापकं कुतो न भवतीति वाच्यम्। एतस्योपाधिलक्षणप्रस्तावे अर्थान्तरत्वादिति मतम्। तन्न। अनुमितिप्रतिबन्धक ज्ञानविषयत्वावच्छेदकमुपाधित्वमिह निरूपयितुमुपक्रान्तम्, अन्यस्याप्रयोजकत्वात्। तच्च न व्यतिरेकिधर्मत्वम्, अतिप्रसङ्गात्। किन्तु साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकत्वम्। तच्च पक्षेतरेऽतिव्याप्तमेवेत्युक्तम्।

अत्राहुः। यद्व्यावृत्त्या यस्य साधनस्य साध्यं पक्षे व्यावर्त्तते, स धर्मस्तत्र हेतावुपाधिः। स च धर्मः कतमो भवति, यस्य व्यावृत्तिः साध्यसाधनसम्बन्ध विरोधिनी। यथाऽऽर्द्रेन्धनवत्त्वं वह्निमत्त्वे। व्यावर्तते हि तद्व्यावृत्त्या धूमवत्त्वं तप्तायःपिण्डे। व्यावर्त्तते च भावत्वव्यावृत्त्या ध्वंसे जन्यत्वानित्यत्वसम्बन्धः, शाकपाकजत्वव्यावृत्त्या श्यामत्वमैत्रातनयत्वयोः सम्बन्धश्च।

पक्षधर्मताबलाच्चानित्यत्वश्यामत्वाभावयोः पर्यवसानम्। तथा,

मकरन्दः– समव्याप्तत्वाभिप्रायेण। रासभादावतिप्रसङ्गे सत्येव दूषणान्तरमाह गुरुत्वेनेति। रसवत्त्वे=रसयोग्यत्वे। अन्यथा विशिष्टस्यापि हरीतक्यादौ व्यभिचारेण नियमासिद्धेः। यद्व्यावृत्त्येति। पक्षे यद्व्यावृत्या यस्य साधनस्य साध्यव्यावृत्तिरनुमीयते इत्यर्थः। साध्यसाधनसम्बन्धव्यापकत्वाभिप्रायेणाभावत्वेति। नन्वेवं सम्बन्धा-भावसाधनेऽर्थान्तरं साध्याभावसिद्धेरुद्देश्यत्वादित्यत आह पक्षधर्म्मतेति।

प्रकाशः– वायावुद्भूतरूपवत्त्वं व्यावर्त्तमानं द्रव्यत्वे सति प्रत्यक्षत्वं निवर्त्तयत्, प्रत्यक्षत्वाभावमादाय सिद्ध्यतीति सर्वत्र पक्षे साध्याभावसिद्ध्या साध्य साधनसम्बन्धाभावोऽस्ति। अत एव साधनावच्छिन्नादौ साधनव्यापकोऽप्युपाधिः, यत्र पक्षावृत्तिर्हेतुः। यथा, करका पृथिवी कठिनसंयोगवत्त्वादित्यत्रानुष्णाशीत स्पर्शवत्त्वमुपाधिः। न च स्वरूपासिद्धिरेव तत्र दोषः, सर्वत्रोपाधेर्दूषणान्तरसङ्करात्। एतेन बाधानुन्नीतपक्षेतरत्वस्योपाधित्वं निरस्तम्। स्वव्याघातकत्वेन तद्व्यतिरेकस्य साध्याव्यावर्त्तकत्वात्।

अस्मत्पितृचरणास्तु– यद्व्यभिचारित्वेन साधनस्य साध्यव्यभिचारित्वं, स उपाधिः। लक्षणं पुनः, पर्यवसितसाध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्। यद्धर्मावच्छेदेन साध्यं प्रसिद्धं, तदवच्छिन्नं साध्यं पर्यवसितम्। तत्रार्द्रेन्धन प्रभवत्वाद्युपाधौ महानसत्वाद्येव तादृशो धर्मः। तदवच्छेदेन साध्यस्य धूमस्य प्रसिद्धेः। पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकोपाधौ द्रव्यत्वं, साधनावच्छिन्न साध्यव्यापकोपाधौ च साधनमेव तथा। तथा च तदवच्छिन्नसाध्य व्यापकोपाधिव्यभिचारेण साधनस्य साध्यव्यभिचारः स्यादेव। व्यापकव्यभिचारिण स्तद्व्याप्यव्यभिचारित्वनियमादिति।

मकरन्दः- **अत एवेति**। यत एव तादृशोपाधिव्यावृत्त्यापि पक्षे साध्यव्यावृत्त्यनुमितिरित्यर्थः। तथा च साध्यव्यापकत्वे सति पक्षावृत्तित्वमेवोपाधित्वे प्रयोजकमिति बाधोत्थापकतयोपाधेर्दोषत्वमित्येतन्मततात्पर्य्यम्। **साधनेति**। साधनावच्छिन्न साध्यव्यापकादावुपाधौ साध्ये इत्यर्थः।

नन्वेवं पक्षवृत्तिरुपाधिर्न स्यात् तद्व्यतिरेकस्य पक्षे साध्याव्यापकत्वात्। न चेष्टापत्तिः, तस्याप्युपाधित्वेन व्यवहारात्। न च पक्षपदं साधनवत्परं, तथा चान्यत्र क्वचित् साधनवति साध्यव्यावर्त्तकत्वाद्व्यभिचारज्ञानद्वारैव तस्य दूषणत्वमिति वाच्यम्। अनुष्णाशीतस्पर्शत्वस्यैवमनुपाधितापत्तेः। तस्य साधनव्यापकत्वेन साधनवति स्वव्यावृत्या साध्याव्यावर्तकत्वादित्यरुचेराह **अस्मत्पितृचरणास्त्विति**। यद्व्यभिचारित्वेन लिङ्गेन साधनस्य साध्यव्यभिचारित्वमनुमीयते, स उपाधिरित्यर्थः।

न चाकाशादिसाध्यकहेतौ घटादेरुपाधितापत्तिः, यस्य पर्य्यवसितसाध्य–व्यापकस्य व्यभिचारित्वेनेत्यर्थात्। तच्च क्वचिद्विशेषितं क्व चिदविशेषितञ्च लिङ्गमित्यन्यदेतत्। साधनाव्यापकत्वं व्यभिचारिसाधना

प्रकाशः- साध्यव्यापकत्वसाधनाव्यापकत्वे एकं दूषकताबीजम्। न च पक्षधर्मावच्छिन्नसाधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकोपाधिव्यभिचारेण साधनस्य साध्यव्यभिचारोन्नयनेऽर्थान्तरं, विशेषणाव्यभिचारित्वेन निश्चिते साधने विशिष्टव्यभिचारस्य सिध्यतो विशेष्यसाध्यव्यभिचारमादाय पर्यवसानात्, पक्षधर्मताबलात्। न च पक्षधर्मताबललभ्यार्थसिद्धावर्थान्तरत्वं, व्यक्तिसाधकानुमान मात्रे तदापत्तेः। भवतु वार्थान्तरं, तथापि हेतुराभास एव। अर्थान्तरस्य पुरुषदोषत्वात्। हेत्वाभासान्तरस्य च तत्राभावादुपाधिरेव भावत्वादिकं दोषस्तत्रोद्भाव्यः। अपि च यः साधनव्यभिचारी साध्यव्यभिचारोन्नायकः स एवोपाधिः। व्यभिचारोन्नायकत्वञ्च साक्षात्परम्परया वेति नार्थान्तरत्वम्। न चैवं शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वादित्यत्राश्रावणत्वं जलं प्रमेयं रसवत्त्वादित्यत्र पृथिवीत्वमुपाधिः स्यादिति वाच्यम्। केवलान्वयित्वग्राहक-मानबाधादुपाधेर्विशिष्टाव्यापकत्वात्। न च स्वव्याघातकत्वेनानुपाधौ पक्षेतरत्वेऽतिव्याप्तिः। अनुकूलतर्काभावेन तस्य

मकरन्दः- व्यापकत्वम्। तेन महानसत्वाद्यवच्छिन्नवह्निव्यापके धूमाव्यापके व्यञ्जनवत्वादौ नातिप्रसङ्गः। नन्वेवमुपाधिज्ञानकाल एव व्यभिचारभाने तदुन्नायकत्वमस्य न स्यादिति चेत्, भ्रान्तोऽसि। न ह्यनेनैव रूपेण ज्ञातस्यास्य तदुन्नायकत्वं, किन्तु शुद्धसाध्यव्यापकत्वादिना। इदन्तु सकलसङ्ग्राहकमात्रम्। साधारणादीनामुभय कोट्युपस्थापकत्ववत्। इदञ्च सर्वैरेवाभ्युपेयम्। अन्यथा पर्य्यवसितत्वाद्यस्फुरणे। शुद्धसाध्यव्यापकत्वस्फुरणेऽपि तदुन्नायकत्वं न स्यात्। न चानुमितिप्रतिबन्धक ज्ञानविषयतावच्छेदकमुपाधित्वमिह निरूपयितुमुपक्रान्तमिति प्रागुक्तविरोधः। तस्य यथाश्रुताभिप्रायेण साधनाव्यापकत्वसाध्यव्यापकत्वांशाभिप्रायेण वा सर्वसमाधेयत्वात्। पर्वतत्वरूपपक्षधर्मावच्छिन्नवह्निव्यापकत्वादिना पाषाणवत्वादिग्रहेऽपि धूमे न तदुन्नयनं, बाधात्। तदवतारे व्यभिचारानुमितेर्भ्रमरूपाया इष्टत्वात्। अस्तु वा व्यभिचारिपदं व्यभिचारित्वसमनियतधर्मान्तरपरम्। न चैवं तेनैव तदुन्नयनापत्तिः, स्वरूपेणैव तस्य ज्ञानात्। तथा च नियतत्वास्फुरणदशायां तदभावात्। तथापि च तस्य तदुन्नायकत्वे बाधकानभिधानाच्च। केचित्तु यद्व्यभिचारित्वेनेत्यादिकमेव लक्षणम्। इदन्तु येन रूपेण ज्ञातस्य तस्य व्यभिचारानुमापकत्वं तन्निर्वचनम्। तथा च लक्षणमित्यस्य व्यभिचारानुमापकतावच्छेदकमित्यर्थ इत्याहुः। विस्तृतमिद*मनुमानप्रकाशे*। **साधनेति**। साधनं व्यभिचारि यस्य, साधनाव्यापक इत्यर्थः। अत्र स्वव्यभिचारित्वेनेति शेषः।

प्रकाशः– साध्यव्यापकत्वानिश्चयात्। न हि सहचारदर्शनव्यभिचारादर्शनमात्राद् व्याप्तिग्रहः। अप्रयोजकेऽपि तद्ग्रहप्रसङ्गात्। न चाप्रयोजकत्वादेव तदगमकम्। न हि व्याप्तस्य पक्षधर्मत्वेऽप्रयोजकत्वम्। सहचारदर्शनमात्रस्य संशायकत्वाच्च। न च व्यभिचारसंशयाधायकत्वेन तथापि सन्दिग्धोपाधित्वम्। स्वव्याघातकत्वेन तस्य तत्संशयानाधायकत्वात्। बाधोन्नीते च साध्यव्यापकताग्राहकानुकूलतर्कसत्त्वात्। अत एव पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादिकमप्युपाधित्वेन निरस्तम्। धूमवत्त्वे साध्ये आर्द्रेन्धनप्रभववह्निमत्वस्य, बहिरिन्द्रियद्रव्यप्रत्यक्षत्वे चोद्भूतरूपवत्त्वस्य, व्यापकताग्राहकः प्रत्यक्षावधृतः, मित्रातनयत्वेन साध्ये श्यामत्वे साध्यशाकपाकजत्वस्य च वैद्यकावधृतः कार्यकारणभावः। एवं जन्यत्वेनानित्यत्वे साध्ये भावत्वव्यापकताग्राहको घटोन्मज्जनप्रसङ्गः। एवमन्येषामपि तत्तदनुकूलतर्कात् साध्यव्यापकत्वग्रहः। यत्र च साध्योपाध्योर्हेतुसाध्ययोर्व्याप्ति ग्राहकसाम्यान्नैकत्र व्याप्तिनिश्चयस्तत्र सन्दिग्धोपाधित्वम्। न च यत्र सन्दिग्धोपाधिः, तत्र तत एव हेतोरुपाधिः साध्यः। तत्रापि श्यामत्वादेरुपाधित्वात्। न चोभयमपि साध्यम्, अर्थान्तरत्वात्। केवलसाध्ये हि विप्रतिपत्तिर्न तूभयत्र। यत एवोपाधेः साध्यव्यापकत्वं तर्कान्निश्चेयमत एव तुल्ययोगक्षेमत्वाभावान्न साध्य व्याप्याव्यापकत्वेन साध्याव्यापकत्वं साधनीयमिति। व्यभिचारोन्नयनद्वारा साध्यव्यापकाव्याप्यत्वेन व्याप्तिविरहोन्नायकतयोपाधेर्दूषकत्वम्। एवं चासिद्धेरुपजीव्योऽप्युपाधिर्न हेत्वाभासान्तरम्। सिद्धसाधनवद् दूषकतायां परमुखनिरीक्षकत्वेन स्वतो दूषकत्वाभावात्। न ह्यन्यस्य साध्यव्यापकत्व साधनाव्यापकत्वज्ञानमन्यस्य साध्यव्याप्यत्वज्ञाने प्रतिबन्धकमिति।

अन्वर्थत्वमुपाधिपदस्याह **तद्धर्मेति**। यद्धर्मोऽन्यत्र भासते स एवेपाधिपदवाच्यो यथा जवाकुसुमं स्फटिके। तथा यद्वृत्तिव्याप्यत्वं साधनत्वाभिमते भासते, स धर्मस्तत्र हेतावुपाधिरिति समव्याप्ते उपाधिपदं मुख्यं, विषमव्याप्ते तु साध्यव्यापकत्वादिगुणयोगाद्गौणमुपाधिपदमित्यर्थः।

अन्ये इति। ये सोपाधयस्ते परप्रयुक्तानामुपाधिप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः, तैः सोपाधिभिर्हेतुभिः पक्षे निश्चितैरपि, न साध्यव्यापकस्य

मकरन्दः– तेन तदुन्नायकाप्रयोजकत्वादौ नातिप्रसङ्गः। एवञ्च साधनव्यभिचारिपदं स्वरूपनिर्वचनं बोध्यम्। **तत एव हेतोरिति**। मित्रातनयत्वादेव शाकपाकजत्वमुपाधिः साध्यः। **पक्षेऽपीति**। साधनव्यापकत्वनिश्चयान्न सन्दिग्धोपाधित्वमित्यर्थः। साध्याभावप्रमा

भवति चेति व्याहतम्। एवमन्यत्राप्यूहनीयमिति।

क्व पुनरप्रयोजकोऽन्तर्भवति? न क्वचिदित्येके। यथा हि सिद्धसाधनं न बाधितविषयं, विषयापहाराभावात्। नापि निर्णये सति पक्षत्वातिपातादपक्षधर्मः। कालातीतविलोपप्रसङ्गात्। न चानैकान्तिकादिः, व्यभिचाराद्यभावात्।

आमोदः- एवमिति। यथार्द्रेन्धनं धूमस्य व्यापकं वह्नेरव्यापकमित्यर्थः।

अप्रयोजकस्य व्याप्यत्वासिद्धेऽन्तर्भावं सिद्धान्तिहृदिस्थम् अबुद्ध्वा पूर्वपक्षयति क्व पुनरिति। एके *मीमांसका: नैयायिकैकदेशिनश्च।* तेषां तस्य स्वातन्त्र्याभ्युपगमात्। *एकदेशी* प्रपञ्चयति **यथा हीति**। सिद्धसाधनवदयमपि स्वतन्त्र एवेत्यर्थः। **कालातीतेति**। एवं सति बाधस्याप्यपक्षतान्तर्भाव एव स्यादित्यर्थः। **अनैकान्तिकादिरित्यादि**पदाद्विरुद्धासिद्धसत्प्रतिपक्षाणामुपग्रहः। **व्यभिचारादीति**। साध्याभाववद्वृत्तित्वादीत्यर्थः। 'आदि'पदात्

प्रकाशः- सिद्धिरित्यर्थः। कार्य्यकारणसम्बन्धानामननुगमेऽप्यनुगमकमाह तदनेनेति। अनौपाधिकसम्बन्धत्वमेव सर्वत्रानुगमकमित्यर्थः। **भूयोदर्शन इति**। अत्र न वारसङ्ख्यानियमः, किन्तु यावता दर्शनेन यस्य व्यभिचारशङ्कानिवृत्तिस्तस्य तावत्त्वं विवक्षितमिति।

परैरपि व्यभिचारशङ्कापसार*णेऽस्मदुक्त*प्रकारोऽभ्युपेयः। अन्यथा तन्निवृत्तिर्दुर्लभेत्याह **तादात्म्येति**। व्यभिचारिण्यपि कुतस्तादात्म्यतदुत्पत्ती न स्यातामिति शङ्का सुलभेत्यर्थः। यत एव विपक्षे बाधकादविनाभावग्रहो न स्वभावकार्ययोरेवात एव बधिरादेर्मुरजाभिघातादिना शब्दाद्यनुमानमित्याह **अत एवेति**। उपसंहरति **तस्मादिति**। प्रतिबन्धो लक्ष्यते निश्चीयतेऽनेनेति लक्षणं बोधकं विपक्षबाधकमित्यर्थः। यत्र तु तदभावः, तत्राप्रयोजके न तन्निश्चयो यथाऽत्रेत्याह **तथा हीति**। अतः शाकपाकजत्वं न साधनव्यापकमित्यर्थः। मित्रातनयत्वादिना यथोपाधिर्नानुमीयते, तथोक्तमधस्तात्। तत् किं साधनाव्यापकत्वसन्देहवत् साध्यव्यापकत्वेऽपि सन्देह एव, नेत्याह **व्यापिका त्विति**।

क्व पुनरिति। पञ्चसु हेत्वाभासेष्वित्यर्थः। तत्र *कस्यचिन्मत*माह **न क्वचिदिति**। पञ्चभ्यो हेत्वाभासान्तरमेवेत्यर्थः। **विषयेति**। प्रमितसाध्याभाववद्धर्मिकत्वाभावादित्यर्थः। **नापीति**। साध्यनिश्चये सन्देहघटितपक्षत्वाभावादित्यर्थः। **कालेति**। साध्याभावस्य धर्मिणि प्रमायामपि

तथायमपि। सूत्रं तूपलक्षणपरमिति।

तदसत्। विभागस्य न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदफलत्वात्। क्व तर्हि द्वयोरन्तर्निवेशः? असिद्ध एव। व्याप्तस्य हि पक्षधर्मताप्रतीतिः सिद्धिः। तदभावोऽसिद्धिः। इयञ्च व्याप्तिपक्षधर्मतास्वरूपाणामन्यतमा प्रतीत्या

आमोदः– सपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वादिसंग्रहः। **तथायमपीति**। सिद्धसाधनवदयम–प्रयोजकोऽपि स्वतन्त्र एवेत्यर्थः। *एकदेशी सूत्र*विरोधं परिहरति **सूत्रमिति**। हेत्वाभासपञ्चकपरिगणनसूत्रं सिद्धसाधनाप्रयोजकावुपलक्षणतया संगृह्णातीत्यर्थः। **विभागस्येति**। विभागपरं *सूत्रं* न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदकफलकमेव। अन्यथा परिगणनवैयर्थ्यापत्तेः। प्रमाणादिविभागसूत्रेऽप्यनास्थाप्रसङ्गात्। न च तत्रार्थापत्त्यादीनामुपलक्षणतया *सूत्रेण* संग्रहोऽपि *सूत्रकृता* पृथग् निषिद्धत्वात्। न च तत् प्रामाण्यम्, सिद्धसाधनाप्रयोजकयोस्तु हेत्वाभासत्वं *सूत्रकृता* न निषिद्धमित्युपलक्षणतायामेव *सूत्र*तात्पर्यमिति वाच्यम्। अन्तर्भावे सति बहिर्भावायोगात्। तथा च अर्थापत्त्यादीनाम् *अन्येषां* मतसिद्धप्रामाण्यानां *सूत्रकृता* निषेधः। ननु तेषामपि *सूत्रकृता* प्रमाणत्वमङ्गीकृतं सिद्धसाधनाप्रयोजकयोस्तु न केनापि हेत्वाभासत्वं स्वीक्रियते येन *सूत्रकृता* निषिद्ध्येतेति भावः। अन्तर्भावयितुं पृच्छति **क्व तर्हीति**। **असिद्ध एवेति**। व्याप्यत्वासिद्धे आश्रयासिद्धे चैवेत्यर्थः। विशेषद्वयं निःक्रष्टुमसिद्धसामान्यलक्षणमाह **व्याप्यस्येति**। **प्रतीतिः** प्रमितिः। **सिद्धिर्लिङ्गस्येति**। **इयमिति**। एतादृशी असिद्धिरित्यर्थः। **अन्यतमेति**। सति ज्ञाने

प्रकाशः– तत्सन्देहाभावादपक्षधर्मत्वाद् बाधोऽप्यसिद्ध एवान्तर्भवत्वित्यर्थः। **सूत्रं त्विति**। सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासाः (न्या०सू० १।२।४५) इति विभागोद्देशसूत्रमित्यर्थः **विभागस्येति**। यद्यपि विभागसूत्रं न शब्दविधया न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदं प्रत्याययति, युक्तिशास्त्रत्वव्याघातादिति परीक्षैकवाक्यतया स तेन प्रत्याय्यः। तथा च परीक्षायास्तत्र तात्पर्यावश्यकत्वे विभागसूत्रस्यापि तत्र तात्पर्यकल्पने मानाभावः। तथापि परीक्षैकवाक्यतया पर्यवसित एवार्थो विभागस्य दर्शितः। **द्वयोरिति**। सिद्धसाधनाप्रयोजकयोरित्यर्थः। **व्याप्तस्येति**। ननु व्याप्तिपक्षधर्मतयोः प्रत्येकमभावो नासिद्धिरननुगमादिति प्रत्येकाभावानुगतो व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टाभावोऽसिद्धिर्वाच्या। तथा च यत्र विशिष्टाभावाज्ञाने व्याप्त्यादिप्रत्येकाभावज्ञानादनुमितिप्रतिबन्धस्तत्राव्याप्तिः।

प्रकाशः- तेषां हेत्वाभासान्तरत्वापत्तिर्वा। विशिष्टाभावस्य दोषतायामसाधकतानुमाने व्यर्थविशेषणत्वञ्च। प्रत्येकाभावस्य समर्थत्वेनैवान्यथासिद्धेः। न च व्याप्तिपक्ष धर्मतान्यतराभावोऽसिद्धिः, अन्यतरत्वाज्ञानेऽपि प्रत्येकाभावस्यैव दूषकत्वेन व्यर्थविशेषणत्वात्।

यत्तु व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरह आश्रयासिद्ध्याद्यनुगतोऽसिद्धिः, तत् प्रमितिसत्त्वे तत्रानुमितिप्रमित्यापत्तेरिति। तदपि, व्यर्थविशेषणत्वात् तदभावेऽपि प्रत्येकज्ञानस्यैव दोषत्वाच्च परास्तम्। किञ्च, प्रकृतसाधनस्य व्याप्तिपक्षधर्मता वैशिष्ट्य-तत्प्रमित्योरप्रसिद्ध्या तदभावो दुरवधारणः। यत्किञ्चिद्विरहश्च सदसद्धेतुसाधारणः। स्वप्रमित्यभावो यत्किञ्चित्प्रमित्यभावो वा सद्धेतावपि। सकलतत्प्रमित्यभावश्च दुर्निरूपः। न च प्रमितिविरहः स्वरूपसन्नेव दूषणं कारणाभावत्वादिति वाच्यम्। हेत्वाभासस्य ज्ञायमानस्यैवानुमितिप्रतिबन्धकत्वात्। व्याप्त्यादिभ्रमादनुमित्यनुत्पादापत्तेश्च।

अथ व्याप्तिपक्षधर्मताभ्यां निश्चयः सिद्धिस्तदभावोऽसिद्धिः। अत एवाव्याप्तापक्षधर्मयोरपि तदारोपरूपा सिद्धिरित्यनुमितिर्न तु तदनिश्चये व्याप्तपक्षाधर्मादपि सा। न च व्याप्त्यादिप्रत्येकप्रमित्यभाव एव दूषक आवश्यकत्वादिति वाच्यम्। विशिष्टनिश्चयस्य हेतुत्वेन तदभावस्य कार्यानुत्पादकत्वादिति। मैवम्, तथा सति सव्यभिचारादेरपि अत्रैवान्तर्भावापातात्। असिद्धेः स्वरूपसत्या एव दोषत्वे स्वज्ञानार्थं व्यभिचाराद्यनुपजीवनात्। यदि च तस्मात्तत्प्रमितिर्नोत्पद्यते इति तस्योपजीव्यत्वं तदाऽऽश्रयासिद्ध्यादिज्ञानात्तत्सिद्धिर्नेति सैव पृथग्दोषः स्यादिति।

अत्रास्मत्पितृचरणाः आश्रयासिद्ध्यादीनां प्रत्येकमेव दूषकत्वं, प्रत्येकज्ञानादुद्भावनाच्चानुमितिप्रतिबन्धात्। न तु विशिष्टाभावस्य, व्यर्थविशेषणत्वात्। तज्ज्ञानं विनाप्यनुमितिप्रतिबन्धात्। अनुमितिकारणलिङ्गपरामर्शविषयाभावत्वेन अनुगतेन त्रयाणामसिद्धत्वेन संग्रहो *महर्षिणा* कृत इति न विभागविरोध

मकरन्दः- बाध इति मतानुरोधादाह **प्रमितेति**। ननु ज्ञप्तावनुपजीव्यत्वेऽपि स्वरूप एवोपजीव्यत्वं तस्य स्यादित्यत आह **यदि चेति**। **सैवेति**। आश्रयासिद्धिः स्वरूपासिद्धिर्व्याप्यत्वासिद्धिरित्यर्थः। ज्ञानगर्भहेत्वाभासानुरोधादिति भावः। वस्तुतः, **स एवेति** पाठः। आश्रयासिद्ध्यादिरित्यर्थः। *चिन्तामणि*विरोधादेव नेति स्थाने नन्विति पाठः क्वाचित्को हेयः, अर्थासङ्गतेश्च। **व्यर्थेति**। एतच्चाखण्डा-

भवन्ती यथासङ्ख्यमन्यथासिद्धिराश्रयासिद्धिः स्वरूपासिद्धिरित्याख्यायते। मध्यमाप्याश्रयस्वरूपाप्रतीत्या तद्विशेषणपक्षत्वाप्रतीत्या वेति द्वयी। तत्र चरमा सिद्धसाधनमिति व्यपदिश्यते। व्याप्तिस्थितौ पक्षत्वस्याहत्य विघटनात्। न त्वेवं बाधे, व्याप्तेरेव प्रथमं विघटनादिति विशेषः।

यत्त्वप्रयोजकः सन्दिग्धानैकान्तिक इत्यनैकान्तिकेऽन्तर्भाव्यते। तदसत्। व्याप्त्यसिद्ध्या हि निमित्तेन व्यभिचारः शङ्कनीयः, अन्यथा वा? प्रथमे असिद्धिरेव दूषणमुपजीव्यत्वात्, नानैकान्तिकमुपजीवकत्वात्। अन्यथा शङ्का त्वदूषणमेव, निर्णीते तदनवकाशादिति।७।

आमोदः– विषयाभावात्, सति विषये ज्ञानाभावाद्वा। **मध्यमापीति**। आश्रयासिद्धिरपीत्यर्थः। **आश्रयस्वरूपेति**। यथा गगनकमलं सुरभीति। **तद्विशेषण**माश्रयविशेषणं सन्देहः सिषाधयिषा वा तदप्रतीत्या तद्योग्यताविरहेण। यद्वा सन्देहसिषाधयिषायोग्यताप्रतीतिगर्भैव पक्षतेत्यर्थः। चरमा पक्षतारूपपक्षता–विशेषणाप्रतीत्या या सा सिद्धसाधनमित्यर्थः। नन्वियमपि व्याप्यत्वासिद्धावेव किमिति न प्रवेश्यत इत्यत आह **व्याप्तिस्थितावि**ति। ननु बाधोऽपि सिद्धसाधनवत् पृथङ् न स्यादित्यत आह **न त्वेवमिति**। **व्याप्तेरेवेति**। यद्यप्येवमपि व्याप्यत्वासिद्धौ व्यभिचारे बाधस्यान्तर्भाव आयाति तथाप्युपजीव्यत्वमिति भावः। सिद्धसाधनं तूपजीव्यमपि न स्वतो दूषकमित्यन्यत्र विस्तरः।

*एकदेशी*मतमाह **यत्त्विति**। विपक्षबाधकतर्कानवतारे हेतोर्विपक्षगामिता–शङ्कायामप्रयोजकसन्दिग्धानैकान्तिकत्वमित्यर्थः। व्यभिचारशङ्कायामपि व्याप्यत्वासिद्धिरेवोपजीव्येति तत्रैवाप्रयोजकान्तर्भाव इत्यर्थः। **अन्यथा शङ्का त्विति**। निर्बीजशङ्काप्यतिप्रसङ्गादेव न दूषिकेत्युक्तमिति भावः।७।

प्रकाशः– हेत्वाभासाधिक्ये। न चैवं साक्षादनुमितिप्रतिबन्धकत्वेन बाधप्रतिरोधयोर्व्याप्तिभङ्गलिङ्गत्वेन विरुद्धव्यभिचारयोरपि सङ्ग्रहे विभागव्याघातः। स्वतन्त्राभिप्रायस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्। अन्यथा शास्त्रे परिभाषोच्छेदापत्तेः। सव्यभिचारादेश्च एवंरूपत्वेऽप्युपजीव्यत्वेन पार्थक्यम्। उपधेयसङ्करेऽप्युपाधेरसङ्करात्। **इयं चेति**। विशिष्टाभावस्य विशेषणाद्यभावव्यापकत्वादित्यर्थः। **अन्यथासिद्धिः** सोपाधित्वम्। **स्वरूपासिद्धिः** अपक्षधर्मत्वम्। **मध्यमापीति**।

प्रकाशः– आश्रयासिद्धेः सन्दिग्धसाध्यधर्मवद्धर्म्यप्रमितिरूपत्वाद् यत्र विशेष्यस्य धर्मिणि एवाज्ञानं तत्रैकाऽऽश्रयासिद्धिरन्या च तद्विशेषणसाध्यसन्देहाभावात् सिद्धसाधनमुच्यते इत्यर्थः। न च सिद्धसाधनं न हेत्वाभासोऽनैकान्तिक वदनुमितिकारणाविघटकत्वात्। सत्प्रतिपक्षवत् स्वत एवाप्रतिबन्धकत्वादिति वाच्यम्। लाघवात् कारणविघटकत्वेनैव प्रतिबन्धकतया तद्विशेषकरणत्वस्य व्यर्थत्वात। साध्यज्ञानस्य तद्विशेषितसाध्यानुमित्यविरोधित्वेऽपि साध्यमात्रानुमिति-विरोधित्वमस्त्येवेति तस्य हेत्वाभासत्वमपि। साध्यसाक्षात्कारे सति लिङ्गज्ञानेऽप्यनुमिनोमीत्यनुव्यवसायाभावात्। न च केवलान्वयिनि संशयाभावः। तत्रापि साध्यं पक्षनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि न वेति संशयात्। पक्षविशेष्यकत्वस्य चातन्त्रत्वात्। **पक्षत्वस्येति**। सन्दिग्धसाध्यत्वस्येत्यर्थः। **व्याप्तेरेवेति**। यद्यपि जलह्रदोऽग्निमान् धूमवत्त्वादित्यत्र बाधेऽपि न व्याप्तिभङ्गः। तथापि धर्मिणि यत्र साधनाभिमतस्य वृत्तिस्तदभिप्रायकोऽयं ग्रन्थः।

मकरन्दः– भावानभ्युपगमेन तदभ्युपगमे व्यर्थत्वाभावात्। विशिष्टस्यापि ग्राह्यतया तदभावज्ञानस्यापि विरोधित्वाच्च। विशिष्टाभावोऽपि दोष एव। अत एव तत्साधारणमेव संग्राहकमनुपदं वक्ष्यतीत्यवधेयम्।

एवं रूपत्वेऽपीति। परामर्शविषयाभावत्वेऽपीत्यर्थः। **उपधेयेति**। ननु यद्युपाध्यसङ्करमात्रेण पार्थक्यं, तदा आश्रयासिद्ध्यादीनामपि तथात्वे विभागव्याघात एव। यदि चोक्तानुगतरूपसंगृहीततया न तथात्वं, तदा व्यभिचारादावपि तुल्यम्। अत एव नोपजीव्योपजीवकभावोऽपि। अभेदे तदभावात्। अन्यथा आश्रयासिद्ध्यादेरपि तथात्वापत्तिरिति चिन्त्यम्। वस्तुतो व्यभिचारादिभिन्न-परामर्शविषयाभावत्वं, व्यभिचारादिचतुष्टयभिन्नहेत्वाभासत्वं वा विभाजकोपाधिरिति तत्त्वम्। **तद्विशेषितेति**। साध्यविशेषितसाध्यान्तरानुमित्यविरोधित्वेऽपि साध्यमात्रानुमितिविरोधित्वमस्त्येवेत्यर्थः। तदेव दर्शयति **साध्यसाक्षात्कारे इति**। सिषाधयिषाविरहे सतीति द्रष्टव्यम्। एवञ्च साक्षात्कारत्वमविवक्षितं बोध्यम्। एतच्च सर्वं प्राचीनमतेनेत्यवधेयम्। व्यभिचारे पक्षभिन्नत्वस्येति फक्किका साध्याभाव प्रमितावित्यस्य पूर्वं युज्यते इति प्राहुः।

प्रकाशः– ननु साध्याभाववति पक्षत्वाभिमते हेतोः सत्त्वाज्ज्ञप्तावसिद्धिः। तज्ज्ञाने च व्यभिचारः। साध्याभावप्रमितौ सन्देहाभावेन पक्षत्वाभावादाश्रयासिद्धिश्च। व्यभिचारे पक्षभिन्नत्वस्य व्यर्थत्वेनातन्त्रत्वात्। सर्वोपसंहारप्रवृत्तव्याप्तेः साध्याभाववति साधनमिति ज्ञानादेव भङ्गात्। न चोपजीव्यत्वाद् बाधः पृथक्। तद्धि न तमवगम्यैवावगमः। एकत्र हेतुसाध्याभावावित्येकवित्तिवेद्यतया व्यभिचारज्ञानस्य तदनुपजीवकत्वात्। नाप्युद्भावितव्यभिचारनिर्वाहार्थं तदुद्भावनम्। इदं व्यभिचारीत्युक्ते कथमिति परानुयोगस्यानावश्यकत्वात्। तथात्वेऽपि निर्वाह्यमेव दूषणमस्तु क्लृप्तत्वात्।

अथ अर्थान्तरोपनायकस्मृत्यादिसहकारिता सामान्यत एव प्रमाणस्य क्लृप्ता प्रत्यभिज्ञानादौ, तदिह समीचीनव्याप्तिपक्षधर्मताकलिङ्गपरामर्शस्यासदर्थ–काञ्चनमयत्वादिस्मृत्यादिसहकारिवशाद् यत्र आभासधीकारणत्वं तत्र बाधः पृथक्, न व्याप्तिपक्षधर्मतोपनीतादन्यस्यानुमितौ भाने मानाभावात्। प्रत्यभिज्ञानादौ प्रतीतिबलेन तत्कल्पनात्। अन्यथा पूर्वानुभूतसकलार्थभानेऽनुमितेर्याथार्थ्योच्छेदापत्तेः। भानेऽपि तस्य विप्रतिपत्त्यविषयतया तेन हेत्वाभासत्त्वानिरूपणात्। अन्यथातिप्रसङ्गात्। अथ प्रत्यक्षादौ प्रमामात्रं प्रति स्वातन्त्र्येण बाधस्य दोषत्वेन क्लृप्तत्वादनुमितावपि स एव दोष इति चेत्। न तर्हि हेत्वाभासः। अनुमित्य साधारणदोषस्यैव तत्त्वात्।

अथ पक्षाभिमते साध्याभावग्रहवत् साध्याभावव्याप्यग्रहोऽपि दूषकः, विरोधित्वाविशेषात्। एवञ्च, साध्याभावसामानाधिकरण्यमनैकान्तिकत्वं, साध्याभावव्याप्यसामानाधिकरण्यं च बाधः। तादृशं चाग्नित्वाद्येवेति। मैवम्, पक्षाभिमते साध्याभावग्रहस्य दूषकत्वासिद्धौ दृष्टान्तत्वानुपपत्तेः। सिद्धौ वा तस्योक्तरूपबाधानन्तर्भावे षष्ठहेत्वाभासत्वापत्तेः। उक्तरूपश्च बाधः पक्षाभिमतविषयसाध्याभावबुद्धौ सत्यामसत्यां वा?। आद्येऽनैकान्तिकत्वमेव, साध्याभावसामानाधिकरण्यग्रहात्। अन्त्ये लिङ्गत्वाभिमतसाध्याभाव–व्याप्ययोरगृह्यमाणविशेषतया सत्प्रतिपक्ष एव दोषो न बाधः। तत्र तुल्यबलत्वं प्रयोजकं, बाधे त्वधिकबलत्वमिति चेन्न। गमकताप्रयोजक–रूपसम्पत्तेरेव बलत्वेन तस्य द्वयोरपि ज्ञातत्वात्।

अथ हेतुतः साध्यसिद्धिसम्भावनायामनैकान्तिकत्वासिद्धेः पक्षाभिमते धर्मिणि साध्याभावप्रमितेः साधनाभिमतात् साध्यसिद्धिसम्भावनाविरह एवानैकान्तिकावतार

प्रकाशः– इत्युपजीव्यत्वाद् बाधः पृथक्। अन्यथा हेतोरसाधकत्वे सिद्धे साध्यसिद्धिसम्भावनाविरहादनैकान्तिकत्वबुद्धिस्तस्यां च सत्यां हेतोर-साधकत्वधीरित्यन्योन्याश्रयः। मैवम्। साध्यसिद्ध्युन्मुखहेतुज्ञानस्य प्रमितसाध्याभावसहचरितहेतुविषयत्वेनानैकान्तिकत्वज्ञानतया दूषकत्वात्। यद्यप्यनैकान्तिकत्वेऽपि साध्याभावप्रमैव प्रयोजिका। तां विना तदभावादिति तस्या एव दोषत्वमर्हं, तथापि तस्याः साध्याभावसमानाधिकरणहेतुज्ञानत्वेन दूषकत्वं, क्लृप्तत्वात्। न तु साध्याभावप्रमात्वेन, तस्यावश्यकत्वेऽपि तेन रूपेण दूषकत्वाकल्पनात्।

अत्रोच्यते। गन्धप्रागभावावच्छिन्नो घटो गन्धवान् पृथिवीत्वादित्यत्र बाधः पृथक्। न च तत्राप्यनैकान्तिकमेव दोषः। साध्यात्यन्ताभाववद्वृत्तित्वस्य तत्त्वात्। अन्यथा द्रव्यत्वेन गुणाननुमानापत्तेः। आद्यक्षणे साध्याभाववद्वृत्तित्वात्। न च वस्तुतो यो गन्धप्रागभावावच्छिन्नस्तत्र साध्यमस्त्येवेति सिद्धसाधनमेव तत्र दोषः। पक्षतावच्छेदकधर्मविशिष्टे साध्यवैशिष्ट्यस्यानुमेयत्वात्।

मकरन्दः

गन्धप्रागभावावच्छिन्न इति। यद्यपि गन्धप्रागभावसमयावच्छेदेन गन्धसाधकाभावादेव न गन्धानुमितिर्न तु बाधात्, न च पक्षधर्मताबलात् तथा, पक्षधर्मता हि लिङ्गस्य पक्षे वृत्तिरेव, सा च साध्यसामान्यव्याप्तिमतस्तस्य पक्षीयं साध्यविशेषं विनानुपपन्नेत्यतो व्याप्त्या सह परामृश्यमाना पक्षसम्बन्धं साध्यं साधयति, न तु पक्षतावच्छेदकत्वेन यदुपादीयते तदवच्छेदेन साध्यस्य पक्षे सम्बन्धं, बीजाभावात्, तं विना तस्या अनुपपत्त्यभावात्। तदवच्छेदेन पक्षे साध्यसम्बन्धं विनापि प्रकृते पृथिवीत्वादिहेतोर्व्याप्तिपक्षधर्मताया उपपन्नत्वात्। तथापि प्रमाणस्यायं स्वभावो यद्बाधकं विना विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानमेव जनयति। तथा च ज्ञानसामान्य-सामग्रीबलादेव तदवच्छेदेनानुमितिः स्यात्, यदि न बाधो दोष इति प्राहुः। यत्तु यथा शब्दतात्पर्यवशेन क्वचिदेकस्य द्वयं क्वचिद्विशिष्ट-वैशिष्ट्यञ्चेत्यन्वयबोधद्वैविध्यं, तथा सिषाधयिषावशादनुमिति द्वैविध्यमपीति, तन्न, सिषाधयिषायाः पक्षताशरीरानिस्पादकत्वेनान्यथासिद्धतया व्यभिचारेण चानुमित्यहेतुत्वात्। न चानुमितिविशेषे तद्धेतुत्वं, मानाभावात्, पक्षताया अहेतुत्वापाताच्चेति सङ्क्षेपः।

उपमानं तु बाधकमनाशङ्कनीयमेव, विषयानतिरेकादिति *केचित्*। तथा हि – न तावदस्य विषयः सादृश्यव्यपदेश्यं पदार्थान्तरमेव सम्भावनीयम्।

परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः।
नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः।।८।।

न हि भावाभावाभ्यामन्यः प्रकारः संभावनीयः, परस्परविधि निषेधरूपत्वात्। न भाव इति निषेधमात्रेणैवाभावविधिः। ततस्तं विहाय

आमोदः– केचिदिति *वैशेषिकादयः*। भवदभिमतोऽयमिति विषयस्यानुमानिकत्वमेवेति तेषामाशयः। विषयाभावमेवोपपादयति तथा हीति। *जरन्मीमांसका* भिमतमुपमानं निराकरोति न तावदिति। सादृश्यपदार्थान्तरत्वं निराकर्तुं भूमिमारचयति परस्परेति। कारिकां व्याचष्टे न हीति।

प्रकाशः– अथैवं विद्यमानेयं नदी, उपरि देशे वृष्टिमती, विशिष्टपूरवत्त्वादित्यत्र विद्यमानवृष्ट्यनुमानापत्तिः। न चेष्टापादनं,विद्यमानवृष्टेर्वर्त्तमाननदीपूरं प्रत्यहेतुत्वादिति चेन्न। तत्र समयभेदेनैव व्याप्तिग्रहात्तथैव साध्यसिद्धेः। किञ्चैवं सिद्धसाधने प्रागभावतत्प्रतियोगिनोरेकदेशवृत्तित्वेनैककालवृत्तित्वमपि स्यात्। यदि च तयोरेकसमयावच्छेदेनैकत्रावृत्तेर्न तथात्वं, तर्हि तत्प्रागभावावच्छिन्ने धर्मिणि तत्प्रतियोग्यनुमितावपि न सिद्धसाधनमपि तु बाध एव। अधिकन्तु *न्यायनिबन्धन प्रकाशे* विपञ्चितमस्माभिः। मतान्तरं विकल्प्य निराकरोति। *यत्त्विति*।७।

अनुमानादिभ्यः फलव्यापारवैजात्याभावादुपमानं न मानान्तरमिति तन्नेश्वरबाधकमित्याह उपमानं त्विति। ननु सादृश्यमेव तद्विषयः स्यात्। न हि तदिन्द्रियगम्यं, तदापातमात्रेणाज्ञानात्। नापि लिङ्गादिगम्यं, तदभावेऽपि सादृश्यज्ञानात्। तच्च न द्रव्यमगुणत्वात्। न गुणः कर्म वा गुणेऽपि वृत्तेः। न सामान्यं, सप्रतियोगिकत्वात्। न च विशेषसमवायौ, प्रत्यक्षत्वादित्याह तथा हीति। परस्पर इति। विरोधोऽत्र न परस्पराभावव्याप्यत्वम्। नीलपीतयोरन्यतर निषेधेऽप्यन्यतरस्याविधेः। किन्तु परस्पराभावरूपत्वम्।

मकरन्दः– विद्यमानेति। वर्त्तमानकालावच्छिन्नेत्यर्थः। तत्रेति। पूर्वकालीनवृष्ट्यैव व्याप्तेस्तस्या एव सिद्धिरित्यर्थः। बाधादेव न तत्सिद्धिरबाधे चेष्टापत्तिरित्यपि बोध्यम्।।७।।

प्रत्यक्षत्वादिति *वैशेषिकमेतन*। *न्यायमते* समवायभेदसाधनेऽनेकत्वादिकं लिङ्गमिति ध्येयम्।

कथं स्ववचनेनैव पुनः सहृदयो निषेधेन्नाभाव इति। एवं नाभाव इति निषेध एव भावविधिः। ततस्तं विहाय स्ववाचैवानुन्मत्तः कथं पुनर्निषेधेन्न भाव इति। अत एवम्भूतानामेकताऽप्यशक्यप्रतिपत्तिः। प्रतिषेधविध्योरेकत्रा संभवात्। तस्माद्भावाभावावेव तत्त्वम्।

भावत्वेऽपि गुणवन्निर्गुणं वेति द्वयमेव पूर्ववत्। पूर्वं द्रव्यमेव। उत्तरञ्चाश्रितमनाश्रितं वेति द्वयमेव, पूर्ववत्। तत्रोत्तरं समवाय एव, अनवस्थाभयात्। आश्रितन्तु सामान्यवन्निःसामान्यञ्चेति पूर्ववत् द्वयमेव। तत्र प्रथममपि स्पन्दोऽस्पन्द इति द्वयमेव। एतच्च यथासंख्यं कर्म गुण इति व्यपदिश्यते। निःसामान्यं निर्गुणमाश्रितन्त्वेकाश्रितमनेकाश्रितं वेति प्रागिव द्वयमेव। एतदपि यथासंख्यं विशेषः सामान्यञ्चेत्यभिधीयते।

आमोदः- एवंभूतानामिति। परस्परविरुद्धानामित्यर्थः। न हि य एव भावः स एवाभाव इति सम्भवतीति भावः। उत्तरमिति। अनाश्रितो निर्गुणो भावः समवाय एवेत्यर्थः। समवायस्यानाश्रितत्वे मानमाह अनवस्थेति। समवाये समवायाङ्गीकारेऽनवस्था क्वचिदनङ्गीकारे प्रथम एव विश्राम इत्यर्थः। एतच्चेति। यद्याश्रितः सामान्यवान् निर्गुणः स्पन्दात्मा तदा कर्मैव। अथ आश्रितः सामान्यवान् निर्गुणः स एवास्पन्दात्मा तदा गुण एवेत्यर्थः। यथासंख्यमिति। निःसामान्यं निर्गुणमेकाश्रितं चेत् तदा विशेषः। एतादृशमनेकाश्रितं तदा सामान्यमेवेति। कथं सादृश्यं पदार्थान्तरं स्यादित्यर्थः।

प्रकाशः- पूर्ववदिति। परस्परविरोधे प्रकारान्तराभावादित्यर्थः। एवमग्रेऽपि। नन्वेतादृशविकल्पेन परिशेषे सामान्यविशेषसमवायानामपि द्रव्यादित्रय-साधर्म्यात्तदन्तर्भावः स्यात्। अथानुगतव्यवहारान्यथानुपपत्त्या तेषां तद्बहिर्भावः। तुल्यं सादृश्येऽपि। न हि तत् सामान्यं, तत्रोत्कर्षादिव्यवहारानुपपत्तेः, सामान्यस्यैकरूपत्वात्। सामान्यस्याश्रयभेदेऽप्यभेदात्। सादृश्यस्य च प्रत्याश्रयं भेदात्। अथ तद्भेदे सति तद्गतभूयःसामान्यवत्त्वं सादृश्यं, भेदश्च प्रत्याश्रयं भिन्नः सप्रतियोगिकश्चेति चेन्न। सादृश्यस्य भेदघटितत्वेन सावधित्वे तस्मात् सदृश इति प्रतीत्यापत्तेः। पदार्थान्तरत्वे च सप्रतियोगिकत्वेऽपि सावधित्वाभावेन

मकरन्दः- व्यवहारान्यथानुपपत्तिमेवाह न हीति। भेदघटितत्वेनेति। यद्यपि भेदोऽन्योन्याभावः। स च न सावधिः, किन्तु सप्रतियोगिकः। अन्यथा घटो नेत्यत्र घटान्नेति प्रतीत्यापत्तेः। तथापि भेदपदमत्र पृथक्त्वपरम्। अत एव भेदाघटितत्वादिति सिद्धान्तोऽपि सङ्गच्छते। अन्यथा तस्याप्यन्योन्याभावघटितत्वे विरोधापत्तेः।

तदेतत्सादृश्यमेतास्वेकां विधामासादयन्नातिरिच्यते। अनासादयन्न पदार्थीभूय स्थातुमुत्सहते।

एतेन शक्तिसंख्यादयो व्याख्याताः। ततोऽभावेन सह सप्तैव पदार्था इति नियमः। अतो नोपमानविषयोऽर्थान्तरमिति।८।

आमोदः– एतदेवाह तदेतदिति। नातिरिच्यत इति। षट्पदार्थीबहिर्भूतं न भवतीत्यर्थः। यद्यप्ययं परिशेषः कर्माद्यपि हापयति, तथापि तत्र प्रमाणमन्यत्रोक्त–मनुसन्धेयम्। अत्र तु प्रमाणाभाव एव परिशेषेण दर्शित इति भावः। एतेनेति। प्रमाणाभावेनैव परिशेषमुखेन दर्शितेनेत्यर्थः। आदिपदात् *सांख्याभिमत*प्रधानादि संग्रहः। अर्थान्तरमिति पदार्थान्तरमित्यर्थः। सामान्यमेवेति। तद्गतभूयःसामान्य-वत्त्वमित्यर्थः। नेन्द्रियज इत्युपलक्षणम्। नानुमानिको न शाब्द इति द्रष्टव्यम्। तत्र च शब्दलिङ्गानुसन्धानमन्तरेणापि जायमानत्वादिति द्रष्टव्यम्। इन्द्रियजत्वमेव व्यवस्थापयति पूर्वेति। प्रतियोगिस्मरणविलम्बेन विलम्ब इत्यर्थः। *शाबर*मुपमानं शङ्कते नन्विति। गवये दृष्टे गवयसदृशो गौरिति प्रतीतिर्भवति। सैवोपमितिरिति भावः। तेनेति। विशेष्ये गवीत्यर्थः। विशिष्टस्येति। गवयसादृश्यविशिष्टस्य पिण्डस्य पूर्वमननुभवादित्यर्थः। न त्वयं स इति विपरीतप्रत्यभिज्ञानं यथाऽसन्निकृष्टविशेष्यकं तथा प्रकृतमपि स्यादत आह न चेति। तत्र य एवेदन्ताश्रयः इन्द्रियसन्निकृष्टः स एव तत्ताश्रयोऽपीति विशेष्यसन्निकर्षोऽस्त्येवेति भावः। तस्येति प्रत्यक्षस्येति भावः। प्रकृते प्रत्यभिज्ञानस्य वा। अत्र करणफले विवेचयति तस्मादिति।८।

प्रकाशः–तदभावोपपत्तेः। न च सप्रतियोगित्वमेव सावधित्वं, घटान्नेति प्रतीत्यापत्तेः।

अत्राहुः, असाधारणान्यतद्गतबहुधर्मवत्त्वं तत्सादृश्यं जात्यादिसाधारणं, भेदाघटितत्वाच्च निरवधि। तद्गतबहुधर्मवत्त्वं च तन्निरूप्यमितीतरनिरूप्यत्वमेव तस्य सप्रतियोगिकत्वम्। तवापि सादृश्ये तदेव सप्रतियोगिकत्वं, न तु भेददीर्घादिवत् सावधिकत्वम्। तस्मात्सदृश इति प्रतीत्यापत्तेः। किञ्च यादृशं तद्गतबहुधर्म वत्त्वमनतिप्रसक्तं तव सादृश्यव्यञ्जकं, तदेव सदृशव्यवहार निमित्तमस्तु, किमधिकेनेति सङ्क्षेपः। एतेनेति। षट्पदार्थानतिरेकेणेत्यर्थः। तत इति। भावरूपपदार्थाः षडभावस्यापि मानसिद्धतया पदार्थत्वोपगमादिति भावः। प्रत्यक्षादि-विषयद्रव्यादिपदार्थातिरिक्तं सादृश्यमुपमानपरिच्छेद्यमित्यसिद्धमित्याह अत इति।८।

मकरन्दः- असाधारणेति। असाधारणान्यमात्रेत्यर्थः। एतच्च स्वस्मिन्नपि स्वसदृशत्व-प्रसङ्गवारणाय।।८।।

स्यादेतत्। भवतु सामान्यमेव सादृश्यं, तदेव तस्य विषयः स्यात्। तत्सदृशोऽयमिति हि प्रत्ययो नेन्द्रियजन्यः, तदापातमात्रेणानुत्पत्तेरिति चेन्न। पूर्वपिण्डानुसन्धानरूपसहकारिवैधुर्येणानुत्पत्तेः। सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञानवदिति। नन्वेतत्सदृशः स इति नेन्द्रियजन्यं, तेन तस्यासम्बन्धात्। न चेदं स्मरणं, तत्पिण्डानुभवेऽपि विशिष्टस्याननुभवात्। न चैतदपि, 'अयं स' इति विपरीतप्रत्यभिज्ञानवदुपपादनीयम्। तत्तेदन्तोपस्थापन क्रमविपर्ययेऽपि विशेष्यस्येन्द्रियेण सन्निकर्षाविरोधात्। तस्य सन्निहितवर्तमानगोचरत्वात्, प्रकृते तु तदभावात्। तस्मात् तत्पिण्डस्मरणसहायमेतत्पिण्डवर्तिसादृश्यज्ञानमेव तथाविधं ज्ञानमुत्पादयदुपमानं प्रमाणमिति। एतदपि नास्ति।

प्रकाशः- मा भूत् सादृश्यं पदार्थान्तरं, तथापि तदेवोपमानपरिच्छेद्यम्, प्रत्यक्षाद्यपरिच्छेद्यत्वात्। इन्द्रियसन्निकर्षेऽपि तदज्ञानात्। लिङ्गाद्यज्ञानेऽपि ज्ञायमानत्वाच्चेति *जरन्मीमांसकमत*माह **स्यादेतदिति।** तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वस्य सादृश्यत्वाद् भेदांशस्य च प्रतियोगिज्ञानज्ञेयत्वात् सहकारिवैधुर्यादापाततः प्रत्यक्षेणाज्ञानेऽपि तत्समवधाने तत एव तद्भानोत्पत्तिरित्याह **पूर्वेति।** यथा तत्तास्मरणाभावादापाततः प्रत्यभिज्ञानाभावेऽपि तत्समवहितादिन्द्रियादेरेव तदुत्पत्तिरित्याह **सोऽयमिति।**

सादृश्यमात्रस्योपमानापरिच्छेद्यत्वेऽपि गोप्रतियोगिकगवयनिष्ठसादृश्यज्ञान-करणकगवयप्रतियोगिकगोनिष्ठसादृश्यधीरुपमानफलमिति *शाबरमत*माह। **नन्विति।** न च सा प्रत्यक्षफलम्। विशेष्यस्य गोरसन्निकर्षादित्याह **नेन्द्रियेति।** गत्यन्तरमाशङ्क्य निराकरोति **न चेति।** गोपिण्डानुभवेऽपि गवयस्याज्ञानात् तत्प्रतियोगिकसादृश्य-वैशिष्ट्याननुभवादित्यर्थः। **न चेति।** ऋजुप्रत्यभिज्ञाने तत्ताविशिष्टे इदन्ताविशिष्टाभेदो भासते अयं स इत्यत्र तु इदन्ताविशिष्टे तत्ताविशिष्टाभेद इति तत्तेदन्तयोरनुयोगित्व प्रतियोगित्वावच्छेदकभेदात्, प्रत्यभिज्ञानयोर्भेदेऽपि तत्र विशेष्यसन्निकर्षादत्र तु तदभावादित्यर्थः।

तादृशी धीः प्रत्यक्षाद्यफलमप्यर्थापत्तिफलमिति नैतत्करणमुपमानं मानान्तरं सिद्ध्यति। अन्यथा तद्विधर्मायमिति बुद्ध्यनन्तरमेतद्विधर्माऽसाविति धीकरणं मानान्तरं

मकरन्दः- तद्भिन्नत्वे इति। तदन्यत्वे सतीत्यर्थः।

साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेव प्रसज्यते।
अर्थापत्तिरसौ व्यक्तमिति चेत्प्रकृतं न किम्।।९।।

यदा हि 'एतद्विसदृशोऽसौ' इति प्रत्येति, तत्रापि तुल्यमेतत्। न हि तत्प्रत्यक्षमसन्निकृष्टविषयत्वात्। न स्मरणम्, विशिष्टस्याननुभवात्। नोपमानमसादृश्यविषयत्वात्। नन्वेतद्धर्माभावविशिष्टत्वमेव तस्य वैधर्म्यं, तच्चाभावगम्यमेवेष्यते। न च प्रकृतेऽपि तथाऽस्तु, सादृश्यस्य भावरूपत्वादिति चेन्न। इतो व्यावृत्तधर्मविशिष्टताया अपि वैधर्म्यरूपत्वात्। तस्य च भावरूपत्वात्।

आमोदः- एवं सत्येतद्विधर्मा स इत्यपि मानान्तरं स्यादित्याह **साधर्म्यमिति**। ननु तत्प्रतियोगिकमत्र वैधर्म्यम् एतत्प्रतियोगिकतन्निष्ठवैधर्म्यमन्तरेण नोपपद्यत इत्यर्थापत्त्यैवासन्निकृष्टवैधर्म्यग्रह इत्यत आह **अर्थापत्तिरिति**। एवं तर्हि गवयगतं गोसादृश्यं गवि गवयसादृश्यमन्तरेणानुपपद्यमानं तदाक्षिपेदिति। त्वदभिमतमप्युपमानमर्थापत्तिरेवेत्यर्थः।

तुल्यमेतदिति। तदाप्युपमानं स्यादित्यर्थः। गत्यन्तरं निरस्यति **न हीति**। **विशिष्टस्येति**। वैधर्म्यविशिष्टस्येत्यर्थः। ननु तद्‌गतधर्मभावः स्मृत्युपनीते करभादावभावाख्यप्रमाणगम्य एवेति तत्रोपमानमित्याशङ्कते **नन्विति**। **इत इति**। गवये धर्मिणि सुग्रीवत्वादयो न सन्ति तद्वत्त्वमपि गोवैधर्म्यं करभे तच्च नाभावाख्यप्रमाणगम्यमित्यर्थः।

प्रकाशः- स्यादित्याह **साधर्म्यमिति**। गवि करभवैधर्म्यं हि करभवृत्तिधर्माभाववत्त्वम्। तच्च स्मृते गवि प्राङ्नास्तितावदनुपलब्धिगम्यमेवेति न तत्र मानान्तरापत्तिरित्याह **नन्वेतदिति**। करभावृत्तिधर्मवत्त्वं गवि तद्वैधर्म्यं, तच्च भाव एवेति नानुपलब्धि गम्यमित्याह **इत इति**।

नन्विदमप्युपमानमेव। तथाहि, सप्रतियोगिकपदार्थज्ञानेन तत्प्रतियोगिक पदार्थज्ञानमुपमानम्। अन्यथैतद्विधर्मा स एतस्माद्दीर्घ इति प्रतीतिः कुतः? न तावदनुमानात्। विशेष्यासन्निकर्षे तद्‌गतैतन्निष्ठसादृश्यप्रतियोगित्वादेर्ल्लिङ्गस्याज्ञानात्। नाप्यर्थापत्तेः,तस्या व्यतिरेक्यनुमानरूपत्वात्। न च तत्प्रतियोगिकैतन्निष्ठसादृश्यादौ भासमाने समानसंवित्संवेद्यतया एतत्प्रतियोगिकतन्निष्ठसादृश्यादिरपि भासते इति वाच्यम्। विशेषणविशेष्यप्रतियोगिभेदेन समानसंविद्वेद्यत्वासिद्धेः। एतत्सदृश एतद्विधर्मा स इति तद्विशेष्यकज्ञानानुदयाच्च। तद्विशेष्यकप्रत्यक्षे तत्सन्निकर्षस्य

स्यादेतत्। तद्धर्मा इह न सन्तीत्यवगते, अर्थादापद्यते इहाविद्यमानास्तत्र सन्तीति। न हि तद्विधर्मत्वमेतस्योपपद्यते, यद्येतद्विधर्माऽसौ न भवतीति चेत्, एवं तर्हि प्रकृतमप्यर्थापत्तिरेव। न हि तत्सादृश्यविशिष्टत्वमेतस्य प्रत्यक्षसिद्धमपि तस्यैतत्सादृश्यविशिष्टत्वं विनोपपद्यते। एतेन दृष्टासन्निकृष्टप्रत्यभिज्ञानं व्याख्यातम्। तत्रापि तद्धर्मशालित्वं

आमोदः– द्वितीयार्धं व्याख्यातुमाशङ्कते स्यादेतदिति। तद्धर्मा इति। करभधर्मा गवि न सन्तीत्यवगते, गवि ये धर्मा न सन्ति ते करभे सन्तीति ज्ञानमेव गोविधर्मा करभ इति ज्ञानपर्यवसन्नमित्यर्थापत्तिश्चेत्तदा प्रकृतेऽप्यर्थापत्तिरेव स्यादित्यर्थः। एतच्च प्रागेव व्याख्यातम्। एतेनेति। दृष्ट एव योऽसन्निकृष्टस्तस्य मध्ये प्रत्यभिज्ञानमर्थापत्तिफलतयेत्यर्थः। एतदेवाह तत्रापीति। तद्धर्मशालित्वं यावत्तद्धर्मशालित्वं तत्तावच्छिन्न-यावत्तद्धर्मवत्त्वमिदन्तावच्छिन्नस्य तत्तेदन्तावच्छिन्नधर्मभेदमन्तरेणानुपपद्यमानं तदभेदं विषयीकरोतीत्यर्थः। एतच्च सोऽयमयं स इत्युभयत्र समानम्।९।

प्रकाशः– हेतुत्वात्। न च प्रत्यक्षे विशेष्यसन्निकर्षो हेतुः, न तु यावद्विशेष्यसन्निकर्षो गौरवात्। अन्यथा अतीतानागतव्याप्यविशेष्यकं व्याप्तिप्रत्यक्षं न स्यादिति वाच्यम्। अतीतानागतविशेष्ये सामान्यलक्षणायाः प्रत्यासत्तेः सत्त्वात्।

अथ गवयसादृश्यं गवि गवयगतशृङ्गित्वादिधर्मवत्त्वं, तच्च गवये गोसादृश्ये भासमाने गवि भासत एव। सामान्यस्यैकत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षादिति चेत्, न। तथापि गोविशेष्यकगवयगतशृङ्गित्वादिज्ञानस्य गोरसन्निकर्षेणेन्द्रियाजन्यत्वात्।

मैवम्। अन्योन्यसदृशवस्तुप्रत्यक्षेण जानतो यो यत्सादृश्यप्रतियोगी स तत्सदृश इति सामान्यतो व्याप्तिज्ञाने सति गौर्गवयसदृशः तत्सादृश्यप्रतियोगित्वात् यथा भ्रात्रा भगिनी। गवयगतसादृश्यप्रतियोगित्वञ्च गोर्गवयगतसादृश्यवित्तिवेद्यमेव। सादृश्ये गोः प्रतियोगित्वेनैव ज्ञानात्। यत्तद्भ्यां सामान्यतो व्याप्तिग्रहञ्च विना गवयसदृशो गौरिति फलासिद्धेः। ताद्रूप्येण व्याप्तिग्रहे*ऽस्माकं* व्यतिरेकी, *परेषा*मर्थापत्तिरित्यन्यदेतत्।

मकरन्दः- अतीतानागतेति। यद्यप्येवमपि गौरवं नापाकृतं तथापि प्रामाणिकं तदिति भावः। अन्यथा घटसन्निकर्षात् पटविशेष्यकस्यापि समूहालम्बनस्यापत्तेः। तथा च तत्तद्विशेष्यकप्रत्यक्षे तत्तद्विशेष्यसन्निकर्षो हेतुः, अत एव सामान्यलक्षणाभ्युपगमोऽपीति।।९।।

तस्य स्मरणाभिव्यक्तमनुपपद्यमानं तदिदन्तास्पदस्यैकतां व्यवस्थापयति। तस्मान्नोपमानमधिकमिति।९।

एवं प्राप्ते अभिधीयते –

सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः।।१०।।

'यथा गौस्तथा गवय' इति श्रुतातिदेशवाक्यस्य गोसदृशं पिण्डमनुभवतः स्मरतश्च वाक्यार्थमयमसौ गवयशब्दवाच्य इति भवति मतिः। सेयं न तावत् वाक्यमात्रफलं, अनुपलब्धपिण्डस्यापि प्रसङ्गात्। नापि प्रत्यक्षफलम्, अश्रुतवाक्यस्यापि प्रसङ्गात्। नापि समाहारफलं, वाक्यप्रत्यक्षयोर्भिन्नकालत्वात्। वाक्यतदर्थयोः स्मृतिद्वारोपनीतावपि

आमोदः– विषयाभावेनोपमानाक्षेप्तारं प्रत्याह एवं प्राप्त इति। सम्बन्धस्येति। गवयत्वेन प्रवृत्तिनिमित्तेन गवयपदवाच्योऽयमित्याकारः, गवयत्वविशिष्टो धर्मी गवयपदवाच्योऽयमित्याकारो वा, गवयपदं गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकमित्याकारको वा उपमानफलं विदुरिति पदद्वयमध्ये इति पूरणीयः।

उपमानप्रवृत्तिप्रकारमुपदर्शयति – यथेति। फलं दर्शयति अयमसाविति। नन्वेतद्वाक्यस्यैव फलं स्यादित्याह सोऽयमिति। अनुपलब्धपिण्डस्य गोसदृशोऽयमिति शब्दोपलम्भेऽपि सम्बन्धापरिच्छेदादित्यर्थः। ननु वाक्यप्रत्यक्षयोर्मिलितयोरेवैतत् फलं स्यादित्याह नापीति। भिन्नकालत्वादिति। तथा च समाहारभाव इति भावः। ननु स्मृत्यारूढेन वाक्येन सह प्रत्यक्षस्य समाहारः स्यादित्यत आह वाक्यतदर्थयोरिति। पिण्डप्रत्यक्षतायामपि

प्रकाशः– ननु प्रत्यभिज्ञायमानस्य पूर्वापरकालमध्यावस्थानं नाध्यक्षगम्यम्। मध्ये इन्द्रियासम्बन्धात्। न लिङ्गादिगम्यम्। तदज्ञानेऽपि ज्ञानात्। तदिदमेवोपमान–परिच्छेद्यं स्यादित्यत आह एतेनेति। साधर्म्यवैधर्म्ययोरर्थापत्त्यन्तर्भावेनेत्यर्थः। दृष्टञ्च तन्मध्येऽसन्निकृष्टं चेति तत् तथा,तस्य प्रत्यभिज्ञानम्। तदेव स्फुटयति तत्रापीति। तत्तेदन्ताविशिष्टाभेदो मध्यासन्निकृष्टस्य मध्यसत्त्वं विना अनुपपन्नो मध्यस्य सत्त्वं कल्पयतीत्यर्थः।९।

उपमानफलं विदुरित्यनयोर्मध्ये इतिरध्याहार्य इति *सम्प्रदायविदः*। ननु प्रत्येकं व्यभिचारेऽपि समुदितयोस्तयोः फलं स्यादित्यत आह नापीति। नन्विन्द्रियसम्बद्धे गवये वाक्यतदर्थस्मृतौ च सत्यां प्रमाणसमाहारः स्यादित्यत आह वाक्येति। गवयगतगोसादृश्यावेदने समयपरिच्छेदो न भवत्येवेत्यर्थः।

गवयपिण्डसम्बन्धेनापीन्द्रियेण तद्गतसादृश्यानुपलम्भे समय परिच्छेदासिद्धेः। फलसमाहारे तु तदन्तर्भावे अनुमानादेरपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः। तत् किं तत्फलस्य तत्प्रमाणबहिर्भाव एव? अन्तर्भावे वा कियती सीमा? तत्तदसाधारणेन्द्रियादिसाहित्यम्। अस्ति तर्हि सादृश्यादिज्ञानकाले विस्फारितस्य चक्षुषो व्यापारः। न, उपलब्धगोसादृश्यविशिष्टगवयपिण्डस्य वाक्यतदर्थस्मृतिमतः कालान्तरेऽप्यनुसन्धानबलात् समयपरिच्छेदोपपत्तेः।१०।

आमोदः– गवयगतगोसादृश्याग्रहे समयग्रहो नोक्तसमाहारे सत्यपीति न तत्फलसिद्धिरित्यर्थः। **फलसमाहारे त्विति।** स्मृत्यारूढवाक्यस्य फलं सादृश्यस्य स्मरणं प्रत्यक्षस्य च इन्द्रियस्य सन्निकर्षस्य यत् फलं गवये स्मर्यमाणसादृश्यानुभवः, तत् समाहारस्योपमितिकरणत्वेन यदि तस्यास्तत्तत्प्रमाणत्वम्, तदानुमितिरपि प्रत्यक्षलिङ्गपरामर्शजन्या प्रत्यक्षप्रमाणफलमेव स्यादित्यर्थः। तत्र सापेक्षमाह **तत् किमिति।** एवं सति प्रत्यक्षफलेनालोचनेन जनितं सविकल्पकं प्रत्यक्षं न स्यादित्यर्थः। सविकल्पकं प्रत्यक्षफलजन्यं प्रत्यक्षमेव, न तूपमितिः। प्रत्यक्षफलजन्यापि प्रत्यक्षान्तर्भूतेति किमत्र नियामकमित्याह **अन्तर्भाव इति।** अत्र नियामकमाह **तत्तदिति।** सविकल्पककाले चक्षुर्व्यापारप्रौढ्यम्, उपमितिकाले तु नैवमित्यर्थः। एतदेवाह **उपलब्धेति।** स्वगोत्रविमतिमुत्थापयति **नन्विति।** **प्रत्यभिजानातीति।** यो गोसदृशो धर्मी गवयशब्दवाच्यतयावगतः, तमिदानीं साक्षात्करोमीत्यर्थः। शब्दविधयानुमानेऽन्तर्भावमुक्त्वा साक्षादेवानुमानान्तर्भावमाह **प्रयोगे त्विति।** प्रयोगमाह **यो यत्रेति।**१०।

प्रकाशः– फलसमाहारमाशङ्क्य निराकरोति **फलेति।** प्रत्यक्षफलं हि प्रायशो लिङ्गपरामर्शो-ऽनुमितिकरणम्, श्रौत्रानुभवजनितपदज्ञानञ्च वाक्यार्थप्रमायां प्रत्यक्षं स्यादित्यर्थः। ननु तत्फलस्य तदनन्तर्भावे विकल्पोऽप्यालोचनफलं प्रत्यक्षं न स्यात्, अन्तर्भावे वा लिङ्गसादृश्याध्यक्षयोः कः प्रद्वेष इति पृच्छति **तत् किमिति।** उत्तरं-**तत्तदिति।** यत्र व्यापारिण इन्द्रियसन्निकर्षादेरवस्थितिस्तत्र तत्फलस्यावान्तरव्यापारता, यत्र तु तस्यानवस्थितिस्तत्र प्रमाणबहिर्भूतत्वमित्यर्थः। इममेव विशेषमादाय शङ्कते **अस्तीति।** उक्तयुक्त्या परिहरति **उपलब्धेति।** इन्द्रियव्यापारोपरतौ लिङ्गशब्दानुसन्धानस्येव वाक्यार्थस्मृतिसचिवस्य सादृश्यज्ञानस्यापि मानान्तरत्वादित्यर्थः।१०।

ननु वाक्यादेवानेन समयः परिच्छिन्नः- गोसदृशस्य गवयशब्दः संज्ञेति। केवलमिदानीं प्रत्यभिजानात्ययमसाविति। प्रयोगाद्वानुमितः- यो यत्रासति वृत्त्यन्तरे वृद्धैः प्रयुज्यते स तस्य वाचको, यथा गोशब्द एव गोः। प्रयुज्यते चायं गोसदृशे इति किमुपमानेनेति। न

सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतितः।
समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयाऽपि वा।।११।।

न हि गवयशब्दस्य सादृश्यं प्रवृत्तिनिमित्तम्, अप्रतीतगूनाम व्यवहारप्रसङ्गात्। न चोभयमपि निमित्तं, स्वयंप्रतीतसमयसंक्रान्तये अतिदेशवाक्यप्रयोगानुपपत्तेः। गवयत्वे ह्ययं व्युत्पन्नो वृद्धव्यवहारान्न सादृश्ये। कथमेतन्निर्धारणीयमिति चेत्, वस्तुगतिस्तावदियम्। तदापाततः

आमोदः- सादृश्यस्येति। उपाधित्वेन गुरुत्वादप्रवृत्तिनिमित्तत्वमित्यर्थः। तर्हि गवयत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमादाय समयग्रहः स्यादत आह निमित्तस्येति। तदुपस्थापकाभावात् तदप्रतीतिरित्यर्थः। समय इति। गवयत्वेन प्रवृत्तिनिमित्तेन गवयपदवाच्योऽयमित्याकार इत्यर्थः। गवयपदस्यागृहीतसमयतया गवयत्वानुपस्थापकत्वादिति भावः। पूर्वमिति। अतिदेशवाक्यश्रवणसमय इत्यर्थः।

ननु सादृश्यमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यादित्यत आह न हीति। अप्रतीतेति। आरण्यकेन गोरग्रहे तत्सादृश्याग्रहादित्यर्थः। मिलितस्यानिमित्तत्वे हेतुमाह स्वयमिति। अयमिति। अतिदेशवाक्यप्रयोक्तेत्यर्थः। वस्तुगतिरिति। सादृश्यस्य गुरुत्वेन प्रवृत्तिनिमित्तत्वानुपपत्तेः। अप्रतीतपूर्वामपि समयपरिच्छेदाच्चेति भावः।

प्रकाशः- निमित्तम्[१] प्रवृत्तिनिमित्तम्?। समय इति। गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तक गवयपदवाच्योऽयं पिण्ड इत्याकार इत्यर्थः। गवयपदस्यागृहीतसमयत्वेनाप्रत्यायकत्वाद्गोसदृशपदस्य च सादृश्यमात्रबोधकत्वादिति भावः।

अयमसाविति। यो गोसदृशो धर्मी गवयशब्दवाच्यतयावगतस्तं साक्षात्करोमीति प्रत्यभिजानातीत्यर्थः।

अप्रतीतेति। गवयत्वस्य जातितया लघुत्वात्, सादृश्यस्य चोपाधितया गुरुत्वादिति भावः। उभयं समुच्चितं निमित्तं विकल्पो वा?। आद्योऽप्रतीतगूनामव्यवहारापातादेव निरस्तः। द्वितीये त्वाह स्वयमिति। स्वयं यत्र प्रवृत्तिनिमित्ते व्युत्पत्तिर्गृहीता, तत्र परस्यापि सा भवत्विति धियाऽत्रारण्यको वाक्यं प्रयुङ्क्ते। तेन च सा गवयत्व एव ज्ञातेति तदेव प्रवृत्तिनिमित्तं बोधयेदित्यर्थः। वस्तुगतिरिति।

१. निमित्तं मूलेऽत्र नास्ति।

सन्देहेऽपि न फलसिद्धिः। गन्धवत्त्वमिव पृथिवीत्वस्य, गोसादृश्यं गवयशब्द प्रवृत्तिनिमित्तस्योपलक्षणमिदमेव वा निमित्तमित्यनिर्धारणात्।

स्यादेतत्। पूर्वं निमित्तानुपलब्धेर्न फलसिद्धिः, इदानीं तु तस्मिन्नुपलब्धे तदेव वाक्यं स्मृतिसमारूढं फलिष्यति, अध्ययनसमयगृहीत इव वेदराशिरङ्गोपाङ्गपर्यवदातस्य कालान्तरे। न च वाच्यं वाक्येन स्वार्थस्य प्रागेव बोधितत्वात् प्रागेव पर्यवसितमिति। गोसादृश्यस्योप लक्षणनिमित्तत्वयोरन्यतरत्र तात्पर्ये सन्देहात्। इदानीं तु गवयत्वेऽवगते तर्कपुरस्कारात् सादृश्यस्योपलक्षणतायां व्यवस्थितायां, 'गङ्गायां घोष' इतिवदन्वयप्रतिपत्तिरिति चेन्न।११।

श्रुतान्वयादनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति।
पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः।।१२।।

आमोदः- न फलसिद्धिरिति। न समयनिश्चय इत्यर्थः। सन्देहाकारमाह गन्धवत्त्वमिति। इदानीमिति। गवयपिण्डोपलम्भकाल इत्यर्थः। अङ्गं शिक्षाकल्पव्याकरणादि। उपाङ्गं तद्विवरणमहाभाष्यादि। प्रागेव वाक्यश्रवणकाल एव। तर्केति। गवयत्वदर्शनानन्तरं गौरवाख्यतर्कावतारादित्यर्थः। तथा च गोसदृशपदमेव लक्षणया गवयत्वोपस्थापकमित्यर्थः।११।

श्रुतान्वयादिति। श्रूयमाणपदकदम्बेऽत्रैवान्वयोपपत्तौ न लक्षणा-कल्पनेत्यर्थः। लक्षणास्थलमाह पदार्थेति। गङ्गायां घोष इत्यत्र पदार्थान्वयानुपपत्त्या तदाक्षिप्तेन तदुपलक्षितेन तीरेण सङ्गतिरन्वयबोध इत्यर्थः।

प्रकाशः- तर्कादिपुरस्कारादित्यर्थः। सन्देहेऽपीति। गोसादृश्यं प्रवृत्तिनिमित्तं तदुपलक्षितं वा धर्मान्तरमिति संशये सति न प्रवृत्तिनिमित्तविशेषनिश्चय इत्यर्थः। सन्देहाकारमाह गन्धवत्त्वमिवेति। पूर्वमिति। गवयपिण्डदर्शनादित्यर्थः। फलसिद्धिः प्रवृत्तिनिमित्तविशेषनिश्चय इत्यर्थः। इदानीमिति। गवयत्वविशिष्टपिण्डप्रत्यक्षकाल इत्यर्थः। तर्केति। प्रागुक्ततर्काद्गवयत्वे प्रवृत्तिनिमित्ते तात्पर्यनिश्चयाद् गोसदृशपदं लक्षणया गवयत्वबोधकमित्यर्थः।११।

मकरन्दः- धर्मिणि समयस्य पूर्वं गृहीतत्वादाह गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकेति। ननु गवयपदादेव गवयत्वं प्रतीत्य तद्विशिष्टे समयं ग्रहीष्यत्यत आह गवयपदस्येति। तर्कादीति। लाघवपुरस्कारादित्यर्थः।११।

'गोसदृशो गवयशब्दवाच्य' इति सामानाधिकरण्यमात्रेणान्वयोपपत्तौ विशेषसन्देहेऽपि वाक्यस्य पर्यवसितत्वेन मानान्तरोपनीतानपेक्षणात्। रक्तारक्तसन्देहेऽपि 'घटो भवति' इति वाक्यवत्। अन्यथा वाक्यभेददोषात्। न च 'गङ्गायां घोष' इतिवत् पदार्था एवान्वयायोग्याः, येन प्रमाणान्तरोपनीतेनान्वयः स्यात्। प्रतीतवाक्यार्थबलायातोऽप्यर्थो यदि वाक्यस्यैव, दिवाभोजननिषेधवाक्यस्यापि रात्रिभोजनमर्थः स्यात्। तस्माद्यथा गवयशब्दः कस्यचित् वाचकः शिष्टप्रयोगादिति सामान्यतो निश्चितेऽपि विशेषे मानान्तरापेक्षा, तथा 'गोसदृशस्य गवयशब्दो वाचक'

आमोदः– मानान्तरेण प्रत्यक्षेण यदुपनीतं गवयत्वं तदनपेक्षणादित्यर्थः। रक्तारक्तेति। प्रवृत्तिनिमित्तसन्देहोऽपि वाक्यस्य पर्यवसितत्वादिति भावः। अन्यथेति। पर्यवसितेऽपि वाक्ये पुनरन्वयबोधकतायामित्यर्थः। लक्षणावैलक्षण्यमाह न वेति। ननु वाक्यार्थप्रतीत्यनन्तरं गौरवावतारेण तदेव वाक्यं गवयत्वमादायान्वयबोधकं स्यादित्यत आह प्रतीतेति। विशेषानिश्चयेऽपि सामान्यतो ज्ञानं नानुपपन्नमित्याह तस्मादिति।

प्रकाशः– उपलक्षणत्वनिमित्तत्वसन्देहेऽपि यो गोसदृशः स गवयपदवाच्य इति सामानाधिकरण्यरूपयथाश्रुतपदार्थान्वयेनैव वाक्ये पर्यवसिते पश्चाल्लक्षणा न कल्प्यते। यत्र त्वयोग्यतया मुख्यार्थान्वयासम्भवः, तत्रैव सेत्याह श्रुतेति।

मानान्तरेति। मानान्तरं प्रत्यक्षं, तेनोपनीतं दर्शितमित्यर्थः। अन्यथेति। यदि पर्यवसितेऽपि वाक्ये तत्तदाकांक्षायां तत्तद्वाक्यार्थज्ञानं स्यात्तदा वाक्यभेद इत्यर्थः। यत्र तु लक्षणा, तत्र नैवं वाक्यपर्यवसानमित्याह न चेति। ननु प्रतीत्यपर्यवसानाभावेऽपि प्रतीतापर्यवसानाद् येन विनानुपपत्तिः, सोऽपि वाक्यार्थः स्यादित्याह प्रतीतेति। यदि कल्पनागौरवाद् गोसादृश्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वानुपपत्तौ गवयत्वस्य तथात्वकल्पनापि वाक्यार्थः स्यात्, तदा दिवाऽभोजिनः पीनत्वानुपपत्त्या रात्रिभोजनकल्पनापि वाक्यार्थः स्यादित्यर्थः।

तस्मादिति। ननु सामानाधिकरण्यमात्रेणान्वयोपपत्तावपि तात्पर्यानुपपत्त्या

मकरन्दः–पूर्वत्वस्य किञ्चिन्निरूप्यत्वादाह गवयपिण्डेति। गोसदृशपदमिति। यद्यप्येतन्न पदं किन्तु वाक्यं, तत्र च न लक्षणा, तस्याः पदधर्मत्वात्। तथाप्येकपद एव लक्षणा पदान्तरञ्च नियामकमिति भावः। वाक्येऽपि लक्षणेतिमतेन पदमिह वाक्यमेवोक्तमित्यन्ये। शक्यसम्बन्धमाह गोसादृश्यसमानाधिकरणमिति।

इति वाक्यान्निश्चितेऽपि सामान्यो विशेषवाचकत्वेऽपि मानान्तरमनुसरणीयमिति।

अस्त्वनुमानम्। तथा हि – गवयशब्दो गवयस्य वाचकः, असति वृत्त्यन्तरेऽभियुक्तैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्। गवि गोशब्दवदिति चेन्न, असिद्धेः। न ह्यसति वृत्त्यन्तरे तद्विषयतया प्रयोगः सङ्गतिमविज्ञाय ज्ञातुं शक्यते। सामानाधिकरण्यादिति चेन्न। पिण्डमात्रे सिद्धसाधनात्, निमित्ते चासिद्धेः, 'सादृश्यस्यानिमित्तत्वादि'त्युक्तम्।

आमोदः–विशेषवाचकत्व इति। गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे मानान्तरमुपमानमनुसरणीयमित्यर्थः। न च यष्टीः प्रवेशयेत्यत्रेव तात्पर्यानुपपत्तिरत्र लक्षणाबीजमस्तु, व्युत्पित्सुव्युत्पादनायातिदेशवाक्यं कथं गोसादृश्यं गुरु गृहीत्वा पर्यवस्येत्तथा च गवयत्वे लाक्षणिकं वाक्यमेव गोसदृशपदद्वयात्मकं गोपदं सदृशपदं वा लाक्षणिकमस्तु, पदान्तरं तन्नियामकमिति वाच्यम्, प्रवृत्तिबोधने तात्पर्यं विनापि स्वरूपाख्यानमात्रेऽपि समयग्रहसम्भवात्। धिक्करभमिति निन्दावाक्यश्रवणानन्तरमपि करभपदसमयसम्भवात्। यत्तु 'यष्टीः प्रवेशये'त्यादावप्यन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम्, तत्तुच्छम्। प्रथमं तात्पर्यज्ञानं तदनुपपत्तिरेव तद्बीजमुपजीव्यत्वात्। तदज्ञाने च नान्वयानुपपत्तिरपि। **अत्रेति।** गवयत्वविशिष्टे पिण्ड इत्यर्थः। **गोशब्दवदिति। असति वृत्त्यन्तरे** वृद्धैर्यः शब्दो यत्र प्रयुज्यते स तस्य वाचक इति सामान्यव्याप्तौ दृष्टान्तः। **असिद्धेरिति।** विशेषणविशेष्यभागयोः समयग्रहात् पूर्वमज्ञानादित्यर्थः। एतदेवाह **न हीति।** ननु यो गोसदृशः स गवयशब्दवाच्य इति सामानाधिकरण्यादेव तत्र प्रयुज्यमानत्वं प्रतीतमिति नासिद्धिरित्याह **सामानाधिकरण्यादिति।** स पिण्डो गवयपदवाच्य इति यदि साध्यं, तदा सिद्धसाधनम् इत्याह **पिण्डमात्र इति।** गवयत्वेन प्रवृत्तिनिमित्तेन गवयपदस्य वृद्धैः प्रयुज्यमानत्वमज्ञातमेवेत्याह **निमित्ते चेति।**

प्रकाशः–यष्टीः प्रवेशयेतिवल्लक्षणाऽस्तु। गवयपदव्युत्पित्सुं प्रति व्युत्पत्तये हि वाक्यमाप्तेनोक्तम्। तच्च न प्रवृत्तिनिमित्तप्रतिपादनं विना। न च गोसादृश्यं तथेति तात्पर्यतो गोसदृशपदेन गोसादृश्यसमानाधिकरणं गवयत्वमुपलक्षितमिति कल्प्यते। न च यथा धूमोऽस्तीत्यत्राग्नौ तात्पर्यमनुमानेन निर्वहतीति न लक्षणा, तथात्र मानान्तरमस्ति, येन तन्निर्वाह्यम्। उपमानस्यासिद्धेः। न च वाक्ये न लक्षणा, तस्या वृत्तित्वेन शक्तिवच्छब्दधर्मत्वादिति वाच्यम्। एकपद एव लक्षणा, पदान्तरं तन्नियामकमित्युपगमात्। न च गोसदृशपदस्य गवयत्वे साक्षात्तात्पर्यग्रह एव

नन्वु व्याप्तिपरमिदं वाक्यं स्यात्। 'यो गोसदृशः स गवयपदार्थ' इति। तथा च वाक्यादवगतप्रतिबन्धोऽनुमिनुयात्। अयमसौ गवयो, गोसदृशत्वादतिदेशवाक्यावगतपिण्डवदिति। न, विपर्ययात्। न हि गोसदृशं

आमोदः– प्रकारान्तरेणानुमानमत्र शङ्कते नन्विति। विपर्ययादिति। व्याप्यव्यापक भावस्य प्रकृते वैपरीत्यादित्यर्थः। वैपरीत्यमेवाह न हीति। यो गोसदृशः स किंशब्दवाच्य इति यदि प्रश्नः स्यात्तदा यो गोसदृशः स गवयशब्दवाच्य इत्युत्तरं स्यात्, न

प्रकाशः– लक्षणा, स च मानाभावान्नास्ति, अन्यथा धूमोऽस्तीत्यत्रापि सा स्यादिति वाच्यम्। उपस्थापकान्तराभावे सति तत्तात्पर्यस्यैव साक्षात्तात्पर्यरूपत्वात्।

अत्राहुः। यत्र प्रवृत्तिनिमित्तविशेषबोधने न तात्पर्यं, किन्तु यो गोसदृशः स गवयशब्दवाच्य इति स्वरूपाख्यानमात्रं तत्राप्युक्तसामग्रीतः प्रवृत्तिनिमित्त विशेषपरिच्छेदः। न च तत्र तात्पर्यं, यदनुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्। यत्र वा करभनिन्दातात्पर्यकं धिक्करभमित्यादिकं, तत्रापि तादृशं पिण्डमनुभवतः स्मरतश्च वाक्यार्थमयङ्करभशब्दवाच्य इति धीः। न च प्रवृत्तिनिमित्तिविशेषे तत्र तात्पर्यम्।

अस्मत्पितृचरणास्तु, सर्वत्रान्वयानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजम्। यष्टीः प्रवेशयेत्यत्रापि प्रकरणादिना भोजनादिप्रयोजनकप्रवेशनस्य ज्ञानात् तादृशे च प्रवेशने यष्ट्यादेरनन्वयात्, तात्पर्यग्रहार्थमपि प्रकरणादेरवश्योपजीव्यत्वादित्याहुः।

मानान्तरमिति। तर्क्कः प्रमाणसहकारी, न च तस्यां दशायां मानान्तरमस्तीत्युपमानं तर्कोपकार्यमास्थेयमित्यर्थः। असिद्धेरिति। वस्तुतो गवयव्यक्तिवाचकत्वसिद्धावपि गवयत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तं न सिद्ध्यतीति भावः। गवयसामानाधिकरण्येन गोसदृशो गवय इति वाक्यप्रतिपादनाद् गवयवाचकत्वं गवयपदस्य ज्ञायते इत्याह सामानाधिकरण्यादिति। गवयसामानाधिकरण्येनेत्यत्र यदि पिण्डसामानाधिकरण्यं विवक्षितं तदा पिण्डवाचकत्वसिद्धावपि गवयत्वविशिष्टवाच्यत्वासिद्धेर्नोपमानपरिच्छेद्यस्य मानान्तरात् प्रतीतिरित्याह पिण्डेति। गवयत्वजातिसामानाधिकरण्यं तु मानाभावादसिद्धमित्याह निमित्ते चेति।

मकरन्दः– सर्वत्रान्वयेति। यद्यप्येवमपि प्रकृते लक्षणा स्यादेव, उक्तप्रकरणादिना प्रवृत्तिनिमित्तवाच्यत्वज्ञानात्, तस्य च धर्मिमात्रेऽनन्वयात्, तथापि तात्पर्य्यानुपपत्त्या लक्षणेति परोक्तनिराकरणमात्रपरोऽयं ग्रन्थ इति प्रतिभाति। यदीति। उद्देश्यस्य व्याप्यत्वं विधेयस्य व्यापकत्वं प्रतीयते इति भावः।

बुद्धावारोप्यानेन पृष्टः स किंशब्दवाच्य इति। किन्तु सामान्यतो गवयपदार्थमवगम्य स कीदृगिति। तथा च यद्योगप्राथम्याभ्यां तस्यैव व्याप्यत्वं, ततः किं तेन? प्रकृतानुपयोगात्।

अथ किंलक्षणकोऽसाविति प्रश्नार्थः। तदा व्यतिरेकपरं स्यात्। लक्षणस्य तथाभावात्। तथा च 'गोसदृशो गवय' इत्यस्यार्थो यो गवय इति न व्यवह्रियते नासौ गोसदृश इति। एवञ्च प्रयोक्तव्यम्, अयमसौ गवय इति व्यवहर्तव्यः, गोसदृशत्वात्। यस्तु न तथा नासौ गोसदृशो, यथा हस्ती। न च हस्त्यादीनां विपक्षत्वे प्रमाणमस्ति, सर्वाप्रयोगस्य दुरवधारणत्वात्। कतिपयाव्यवहारस्य चानैकान्तिकत्वात्।

आमोदः- त्वेवमित्यर्थः। यद्योगेति। यच्छब्दप्रयोगः प्रथमाभिधानं च व्याप्यस्यैव तस्योद्देश्यत्वात्, व्यापकस्य च विधेयत्वादित्यर्थः। तथाभावादिति। व्यतिरेक्यनुमानरूपत्वादित्यर्थः। व्यतिरेकव्याप्त्यनुसारेण प्रयोगमाह एवं चेति। न चेति। तथा च व्यतिरेकदृष्टान्ताभावान्न व्याप्तिग्रह इत्यर्थः। ननु हस्तिनि गवयपदं बहुभिर्न प्रयुज्यते इति स एव व्यतिरेकदृष्टान्त इत्यत आह सर्वेति। अनैकान्तिकत्वादिति। वीणादीनां बहूनां गोपदाव्यवहारेऽपि गोपदवाच्यत्वाभ्युपगमादित्यर्थः। न च व्यवहारसाध्यकलक्षणोच्छेदः स्यादिति वाच्यम्। यथा पृथिवीत्वं पृथिवीपदवाच्यत्वे निमित्तमुपलब्धं तथा न पूर्वं गवयत्वमुपस्थितमित्यर्थः। न हीति। यदि गवयपदं वाचकं किञ्चिच्च तस्य वाच्यमिति सामान्यतो ज्ञानं स्यात्, तदा विशेषे तत्र लिङ्गे प्रश्नः स्यादित्यर्थः।

प्रकाशः- न हीति। येन सादृश्यस्य व्याप्यत्वं स्यादिति शेषः। यदि गोसदृशः किंशब्दवाच्य इति पृच्छेत्, तदा तमुद्दिश्य गवयशब्दवाच्य इति विदध्यादपि तु कीदृग्गवय इति पृष्टः। तथा च यो गवयशब्दवाच्यः स गोसदृश इति उत्तरयतो विपरीत एव व्याप्यव्यापकभाव इत्यर्थः। यद्योगेति। व्याप्यं यच्छब्देन पूर्वमुद्दिश्यते यथा यो धूमवान् सोऽग्निमानित्यर्थः।

यद्योगप्राथम्याभावेऽपि गन्धवती पृथिवीत्यादिवद्व्यतिरेकिरूपलक्षणपरत्वं स्यादित्याह - अथेति। हस्त्यादीनां गवयव्यवहाराविषयत्वं तत्राप्रयोगेण निश्चेयं,

मकरन्दः-कीदृग् गवय इति। गवयपदवाच्यः कीदृगित्यर्थः। गवयत्वविशिष्टत्ववाच्यत्वमेवमपि न सिद्ध्यतीत्यपि बोध्यम्। तथा चेति। न तु यो गोसदृशः स गवयपदवाच्य इत्युत्तरं, येन गोसादृश्यस्य वाच्यत्वं यद्योगादिना लभ्येतेति भावः।

ननु लिङ्गमात्रे प्रश्नो भविष्यति, कीदृक् किं लिङ्गमिति। न, न ह्यनेन लिङ्गमविज्ञाय गन्नयशब्दस्य वाचकत्वं कस्यचिद्वाच्यत्वं वावगतं, येन तदर्थं प्रश्नः स्यात्। प्रवृत्तिनिमित्तविशेषलिङ्गे प्रश्नो, येन निमित्तेन गवयशब्दः प्रवर्तते तस्य किं लिङ्गमिति चेन्न। न हि तदवश्यमनुमेयमेवेत्यनेन निश्चितम् यत इदं स्यात्। ज्ञानोपायमात्रप्रश्ने तद्विशेषेणोत्तरमिति चेन्न। अविशेषादिन्द्रियसन्निकर्षमप्युत्तरयेत्। पर्यायान्तरं वा- यथा गवयमहं कथं जानीयामिति प्रश्ने, 'वनं गतो द्रक्ष्यसी'ति। यथा वा, कः पिक इत्यत्र कोकिल इति। तस्मान्निमित्तभेदप्रश्न एवायं, 'गवयो गवयपदवाच्यः' कीदृक् केन निमित्तेनेति युक्तमुत्पश्यामः। तस्य च निमित्तविशेषस्य साक्षादुपदर्शयितुमशक्यत्वात् पृष्टस्तदुपलक्षणं किञ्चिदाचष्टे।

आमोदः-प्रवृत्तीति। तथा च गोसादृश्योपन्यासस्तल्लिङ्गतयोचित इति शङ्कार्थः। न हीति। एवं सति प्रमाणमात्रे उचितो, न तु लिङ्ग इत्यर्थः। अत्रैव प्रश्न इति शङ्कते ज्ञानेति। सामान्यप्रश्ने विशेषान्तरेणाप्युचितमुत्तरमिति लिङ्गोपन्यासमात्रमयुक्तमित्याह नेति। इन्द्रियसन्निकर्षेणोत्तरमाह यथाबलमिति। पर्यायान्तरेणाह यथेति। केन निमित्तेनेति। केन निमित्तेनावच्छिन्नो धर्मी गवयपदवाच्य इति प्रश्नार्थ इत्यर्थः। साक्षादिति। प्रत्यक्षत इत्यर्थः। किञ्चिदिति।

प्रकाशः- तत्राह सर्वेति। न चैवं व्यवहारसाध्ये सर्वत्र लक्षणोच्छेदः स्यादिति वाच्यम्। यथा पृथिवीत्वेन पृथिवीपदवाच्यत्वं साध्यते, तथा गवयत्वेन निमित्तेन गवयपदवाच्यत्वस्य साधयितुमशक्यत्वात्, गवयत्वस्यातिदेशवाक्यादप्रतीतेः।

न ह्यनेनेति। अज्ञातसामान्यस्य विशेषजिज्ञासा न युक्तेति भावः। उपसंहरति तस्मादिति। ननु यदि निमित्तप्रश्नस्तत् किं तदेव नोत्तरयतीत्यत आह तस्य चेति। व्युत्पाद्यस्याप्रतीतगवयत्वजातिकत्वादिति भावः।

मकरन्दः- पृथिवीत्वेनेति। पृथिवीत्वनिमित्तकपृथिवीपदवाच्यत्वमित्यर्थः। गवयत्वेनेति। गवयत्वनिमित्तकगवयपदवाच्यत्वस्येत्यर्थः। धर्मिमात्रवाच्यत्वस्य शब्दादेव प्रतीतेरिति भावः। अज्ञातेति। गवयपदवाच्यस्य प्रतीतौ स किंलिङ्गक इति प्रश्नः, तत्प्रतीतिश्च तस्य लिङ्गादेव जातेति लिङ्गस्य ज्ञातत्वान्न तत्र प्रश्न इति भावः।

तच्चोपमानसामग्रीसमुत्थापनमेव। तस्य च प्रमाणस्य सतस्तर्कः सहायतामापद्यते। सादृश्यस्यैव निमित्ततायां कल्पनागौरवम्। निमित्तान्तरकल्पने च क्लृप्तकल्प्यविरोध इति। तदेव निमित्तमवगच्छतीति। लक्षणन्त्वस्यानवगतसङ्गतिसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थस्य संज्ञिन्यनुसन्धानमुपमानम्। वाक्यार्थश्च क्वचित् साधर्म्यं, क्वचिद्वैधर्म्यमतो नाव्यापकम्। तस्मान्नियतविषयत्वादेव न तेन बाधो, न त्वनतिरेकादिति स्थितिः।

आमोदः- गोसादृश्यादीत्यर्थः। उपमानसामग्रीति। तस्योपलक्षणस्यातिदेश-वाक्यावगतस्य संज्ञिन्यनुसन्धानमित्यर्थः। तर्कमेव दर्शयति सादृश्येति। क्लृप्तेति। गवयत्वं दृश्यमानमन्यत्तु कल्पनीयमित्यर्थः। तदेवेति। दृश्यमानं गवयत्वमित्यर्थः। न च सादृश्यनिमित्तता गौरवपराहता चेत्, तदा गवयपदं गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तम् इतराप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सति प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, यन्नैवमित्यनुमानमस्त्विति वाच्यं, गवयत्वे प्रत्यक्षीकृते फलस्यैव सिद्धेस्तदानीं व्यतिरेकव्याप्त्यादिप्रतिसन्धाने प्रमाणाभावादित्यर्थः। अनवगतेति। अनवगतसङ्गतिर्या संज्ञा गवयपदं करभपदं वा तत्समभिव्याहृतं यद्वाक्यं साधर्म्यपरं वैधर्म्यपरं वा तस्य योऽर्थः साधर्म्यं वैधर्म्यं वा तस्य संज्ञिनि वा गवयत्वविशिष्टे गवयपिण्डे करभत्वविशिष्टे करभपिण्डे वाऽनुसन्धानं प्रत्यक्षेणानुभव इत्यर्थः। अत्र सादृश्यज्ञानं करणं ज्ञायमानं सादृश्यं वेति मतभेदः। प्रकृतमुपसंहरति तस्मादिति।

प्रकाशः- तच्चेति। सामग्र्युत्थानानुकूलमित्यर्थः। ननु सादृश्यप्रवृत्तिनिमित्ततायां गौरवानवतारे नोपमानस्याप्यवतारः। तथा च तर्केणेतराप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे निश्चिते गवयपदं गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकम् इतराप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति सप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवमिति चेन्न। तर्कस्यानिश्चायकत्वात्। न चायं तर्को व्याप्तिमूलको येन विपर्ययानुमानादर्थसिद्धिः स्यात्। न च गवयपदं किञ्चित्प्रवृत्तिनिमित्तकमिति सामान्यतो दृष्टमेव तर्कसहकृतं गवयपदस्येतरा-प्रवृत्तिनिमित्तकतां परिच्छिनत्ति, न तु मानान्तरं कल्पयित्वा तर्कः सहकारी कल्प्यते इति वाच्यम्। इदं सप्रवृत्तिनिमित्तमन्यच्च न प्रवृत्तिनिमित्तमिति बुद्धावपि गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकं गवयपदमिति मानान्तरमन्तरेणाप्रतीतेः अनुमितेर्व्यापकता-वच्छेदकप्रकारकत्वात्।

प्रकाशः– ननु यथेच्छायां सामान्यतो दृष्टेन विशेषबाधकसहकृतेनाष्ट-द्रव्यानाश्रयत्वं ज्ञायते, अन्यथा विशेषबाधकानां पृथिव्याद्येकैकमात्रव्यतिरेक-विषयत्वेनाष्टद्रव्यानाश्रयत्वं केन ग्राह्यम्। तथात्रापि गौरवाख्यतर्कसहकृतसामान्यतो दृष्टादितराप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे निश्चिते पश्चाद्व्यतिरेकि स्यात्, कल्प्यमानान्तर सहकारित्वापेक्षया क्लृप्तप्रमाणसहकारित्वस्य युक्तत्वात्।

मकरन्दः– **अयमिति**। लाघवाख्य इत्यर्थः। **अनुमितेरिति**। तथा चेतराप्रवृत्तिनिमित्तकतां परिच्छिनत्तीत्यप्ययुक्तमिति। **तथात्रापीति**। अनुमितेर्व्यापकतावच्छेदकप्रकारकत्वनियमोऽसिद्ध एवेत्याशयः। **व्यतिरेकीति**। पूर्वोक्तव्यतिरेकीत्यर्थः। **तस्य** सामान्यतो दृष्टस्य। **तदपरिच्छेदकत्वात्** इतराप्रवृत्तिनिमित्तकत्वापरिच्छेदकत्वात्। तर्कसहकारेणैव तस्य तथात्वाभ्युपगमादिति भावः। यद्यपि तद्दशायां नोपमानस्याप्यवतारः, तथापि तर्कानवतारे सामान्यतोदृष्टस्य किञ्चित्प्रवृत्तिनिमित्तकत्वमात्रमनुमाय पर्य्यवसितत्वादग्रे पुनस्तर्कावतारे उपमानप्रवृत्तिरप्रत्यूहैवेति भावः। अत्रेदमालोचनीयम् – क्लृप्तप्रमाणभावस्य सामान्यतोदृष्टस्य पुनरनुसन्धानमात्रं कल्पयितुमर्हं लाघवात्। न तु मानान्तरं, गौरवात्। न च पुनरनुसन्धीयमानादपि तर्कसहकृतादपि तस्मान्नेतराप्रवृत्तिनिमित्तकत्व परिच्छेदोऽनुमितेर्व्यापकतावच्छेदकप्रकारकत्वनियमादिति वाच्यम्। लाघवगौरवसहकारेण व्यापकतानवच्छेदकस्यापि भानाभ्युपगमात्। अत एवेश्वरानुमाने क्षित्यादावेकमात्रकर्तृकत्वानुमितिः। अस्तु वा तथा, तथापि इतरद् न प्रवृत्तिनिमित्तं गुरुत्वादिति मानान्तरादितराप्रवृत्तिनिमित्तकत्वनिश्चये उक्तव्यतिरेकिणा गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वसिद्धिरविकलैव। न च साध्याप्रसिद्धेर्न तत्सिद्धिरिति वाच्यम्। तथा सत्युपमानादपि तद्विशिष्टबुद्ध्यनुदयापत्तेः, विशेषणज्ञानं विना तदभावात्।

यदि च गवयत्वं किञ्चित्पदप्रवृत्तिनिमित्तं जातिविशेषत्वादित्यादिना तस्य तुल्यवित्तिवेद्यतया किञ्चित्पदे तत्प्रसिद्धिसम्भवात्तथात्वं, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्। व्यतिरेक्यन्तरेऽपीयमेव गतिः। किञ्च यथा देवदत्तो जीवनमरणान्यतरप्रतियोगी प्राणित्वादिति सामान्यतो दृष्टं तर्कसहकृतं पुनरनुसन्धीयमानं जीवित्वप्रकारकं ज्ञानं जनयति, तथा गवयपदं गवयत्वतदितरान्यतरप्रवृत्तिनिमित्तकं पदत्वादिति सामान्यतो दृष्टं तर्कसहकृतमनुसन्धीयमानं गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वं परिच्छिनत्तु, कृतं मानान्तरेण। तदाह *गङ्गेशः* – 'विचित्र सहकारिबलेनैकस्यापि

मकरन्दः- विचित्रफलजनकत्वादिति'। अन्यथा तत्र लिङ्गविशेषणजीवित्वानिश्चये अर्थापत्तिर्लब्धावकाशा स्यात्। तस्मात् त्यज वोपमानं मानान्तरं, स्वीकुरु वार्थापत्तिं संशयकरणिकामन्यामिति। वस्तुतस्तु संज्ञासंज्ञिपरिच्छेद उपमानार्थ इत्याकर एव स्फुटं, न तु प्रवृत्तिनिमित्तपर्य्यन्तपरिच्छेदोऽपि। तस्य शक्यत्वे शक्यवृत्तित्वे इत्यादिघटितस्य नियमत उपस्थितौ मानाभावात्। तद्ग्रहस्य व्यवहारानङ्गत्वेनानुद्देश्यत्वाच्च। तथा च गवयत्वविशिष्टवाच्यत्वसिद्धिरेवोद्देश्या। तदिदमुक्तम् पिण्डवाचकत्वसिद्धावपि गवयत्वसिद्धावपि गवयत्वविशिष्टवाच्यत्वासिद्धेर्नोपमानपरिच्छेद्यस्य मानान्तरात् प्रतीतिरिति। एवञ्च शब्दाद्विशेष्यवाच्यत्वावगमेऽपि गवयत्ववाच्यंत्वपरिच्छेदार्थमुपमानस्वीकार इति परमार्थः। तदिदमुक्तमाकरे 'सामान्यविशेषवाचकत्वेऽस्य मानान्तरमनुसरणीयमिति'। तत्र ब्रूमः। एवं व्यवहारादेरपि शक्तिग्राहकस्य व्यक्तिग्राहकस्य व्यक्तिमात्रविषयत्वात् घटत्वादिवाच्यत्वग्रहार्थं मानान्तरमनुस्रियेत, यदि च लाघवादिसहकृतं व्यक्तिशक्तिग्राहकमेव तद्ग्राहकं, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्। तदिदमुक्तं *गङ्गेशेन* – 'शक्तिग्राहकमेव लाघवादिसहकृतं निमित्तमप्यवधारयति, यथा क्षित्यादौ कर्तृग्राहकं कर्तुरिकतामिति'। ननु प्रकृते विशिष्टशक्तिग्राहकं नास्ति शब्दस्य गवयत्वोपस्थितिकाले पर्य्यवसितत्वादिति चेत्, न। गवयत्वविशिष्टोऽयं गवयपदवाच्यः गोसदृशत्वादित्यादेर्लाघवसहकृतस्य सत्त्वात्। लिङ्गाभासादिनाप्यनुमित्यविरोधाच्च। अन्यथा व्यवहारादिना घटत्वादिविशिष्टशक्तिग्रहोऽप्यशक्यः। यद्वा धर्म्मिवाच्यत्वे शब्दादेव सिद्धे गवयत्वं गवयपदवाच्यं गवयत्वादिति व्यतिरेकिणा लाघवसहकृतेन तद्वाच्यत्वसिद्धिः। तस्मात् पिण्डादेः सपक्षाद्व्यावृत्तावसाधारण्यं, तस्य सत्प्रतिपक्षोत्थापकतया दोषत्वादस्य च तर्कसहकारेणाधिकबलत्वात्। अस्तु वा गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वमेव साध्यम्। तथा च सपक्षाभावान्नासाधारण्यम्। न च साध्याप्रसिद्धिः, गवयपदं किञ्चित्प्रवृत्तिनिमित्तकमिति सामान्यतो दृष्टादेव सामान्यतस्तत्सिद्धेः। न च व्याप्त्याद्यप्रतिसन्धानदशायामपि तत्परिच्छेदान्नैवमिति वाच्यम्, मानाभावात्। अन्यथा *मूलप्रकाशयो*रनुमानदूषणप्रयासस्यासङ्गतत्वापातात्। तददुष्टत्वेऽपि तदनवतारे उपमानावतारसम्भवात्। तथा च यत्र यत्परिच्छेदस्तत्र क्लृप्तप्रमाणभावस्यैवावतारः कल्प्यते, लाघवात्।

प्रकाशः– मैवम्। इच्छायामेकैकबाधसहकृतापरापरबाधकैरेव तावद्विशिष्ट-वैशिष्ट्यरूपाष्टद्रव्यानाश्रयत्वपरिच्छेदात्। न तु सामान्यतो दृष्टेन। विशेषण द्वयोपस्थित्यैव विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञाननिर्वाहात्, तर्कानवतारदशायां तस्य तदपरिच्छेदकत्वाच्चेति सङ्क्षेपः।

एवमुपमानस्य क्लृप्तमानातिरेकं प्रसाध्याव्याप्तिं परिहर्तुं लक्षणमाह **लक्षणन्त्विति**। अनवगतसङ्गतिश्चासौ संज्ञा चेति कर्मधारयः। न च गोविसदृशो न गवयपदवाच्य इत्यत्र अर्थादापद्यते गोसदृशो गवयपदवाच्य इति। तथा च नात्र वाक्यार्थानुसन्धानमस्तीति वाच्यम्। परम्परया तत्रापि वाक्यतात्पर्यात्। वस्तुतस्तु उपमितिकरणत्वमुपमानत्वम्। उपमितित्वञ्च जातिः। न च तदसिद्धिः। सामग्रीविशेषे कार्यवैजात्यमावश्यकमिति कारणव्यङ्ग्यत्वात्। सैव सामग्री अनवगतसङ्गतीत्यादिना दर्शिता। **क्वचिद्वैधर्म्यमिति**। धिक्करभमति दीर्घग्रीवमित्यादौ। प्रकृतमुपसंहरति **तस्मादिति**।१२।

मकरन्दः– अतीन्द्रियादिलिङ्गे व्याप्यत्वपरामर्शवदुपनयसहकृतेन मनसा विशिष्टवाच्यत्वपरिच्छेदसम्भवाच्च। न चोपमिनोमीत्यनुव्यवसाय बलाद्विजातीयप्रमासिद्धौ तत्करणसिद्धिरिति वाच्यम्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धबुद्धौ तादृशानुव्यवसायासिद्धेः। गवा गवयमुपमिनोमीत्यनुव्यवसायस्य सादृश्यबुद्धिविषयत्वात्। अत एवान्यत्रापि मुखचन्द्रादिसादृश्यप्रतीतौ तथेति विद्वद्भिः परिचिन्तनीयमिति। नन्विदमुपमितावेवातिव्याप्तं लिङ्गोपहितलैङ्गिकभानवत् सादृश्यज्ञानोपनीतस्य तत्र भानसम्भवादित्यरुचेराह **वस्तुतस्त्विति**।।१२।।

शब्दोऽपि न बाधकमनुमानानतिरेकादिति *वैशेषिकादयः*। तथा हि – यद्यप्येते पदार्था मिथः संसर्गवन्तो, वाक्यत्वादिति व्यधिकरणं,

---

आमोदः– **शब्दोऽपीति**। **अनुमानानतिरेकादिति**। तथा चानुमाननिरासेनैव तद्बाधनिरासादित्यर्थः। शेषो वाऽन्यथाऽबाधकत्वे तद्धेतुत्वानुपपत्तेः। यद्वा, शब्दोऽपि न बाधको न विपरीतप्रमाजनकः, अनुमानानतिरेकादनुमानाभिन्नत्वादित्यर्थः। यद्वा ल्यब्लोपे पञ्चमी, अनुमानानतिरेकं प्राप्य शब्दो न बाधकः, तस्य च पूर्वं बाधकत्वनिरासात्। न चानुमानाभिन्नानां चाप्रकृतेरित्यादीनां बाधकत्वमेवेति वाच्यं, तद्बाधकाभिमतशब्दानाम् अन्यप्रमाकरणादित्यर्थः। *वैशेषिका*द्यनुमानाभासमाशङ्कते **व्यधिकरणमिति** स्वरूपासिद्धमित्यर्थः।

पदार्थत्वादिति चानैकान्तिकं, पदैः स्मारितत्वादित्यपि तथा। यद्यपि चैतानि पदानि स्मारितार्थसंसर्गवन्ति तत्स्मारकत्वादित्यादौ साध्याभावः। न ह्यत्र मत्वर्थः संयोगः समवायस्तादात्म्यं विशेषणविशेष्यभावो वा संभवति। ज्ञाप्यज्ञापकभावस्तु स्वातन्त्र्येणानुमानान्तर्भाववादिभिर्नेष्यते। न च लिङ्गतया ज्ञापकत्वं, यल्लिङ्गस्य विषयस्तदेव तस्य, परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। तदुपलम्भे हि व्याप्तिसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तदनुमानमिति।

आमोदः- तथेति। अनैकान्तिकमित्यर्थः। वह्निना सिञ्चतीत्यादाविति भावः। पदपक्षतामाशङ्कते **यद्यपीति।** साध्याभावः सिषाधयिषाविषयधर्माभाव इत्यर्थः। तदेवाह **न हीति।** विशेषणविशेष्यभावः पदार्थनिष्ठो न तु पदनिष्ठ इति भावः। ननु पदानि ज्ञापकानि ज्ञाप्यश्च संसर्ग इत्येवं संसर्गवत्त्वं स्यादत आह **ज्ञाप्येति।** ननु लिङ्गतया ज्ञापकत्वमङ्गीक्रित एव, स एव मत्वर्थः स्यादत आह **लिङ्गतयेति।** लिङ्गस्य तत्स्मारकत्वादित्यस्य यल्लिङ्गतया ज्ञापकत्वं तदेव तस्य विषयः कर्मसाध्यमिति यावत्, न भवितुमर्हतीति योजना। परस्पराश्रयमेवाह **तदिति।** लिङ्गतया ज्ञापकत्वं यदि सिद्धं स्यात्, तदा

प्रकाशः- शब्दोऽपीति। यद्यपि शब्दस्याबाधकत्वेऽनुमानानतिरेकित्वं न हेतुरनुमानात्मकस्यैव शब्दस्य बाधकत्वसम्भवात्, तथाप्यनुमानबाधकत्वनिरासेनैव शब्दबाधकत्वमपि निरस्तमित्यर्थः। अनुमानानतिरेकादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी। अनुमानाभेदं प्राप्य शब्दो न बाधकं, 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' - इत्यादिशब्दस्य वक्तव्ययुक्त्याऽन्यपरत्वादित्*यन्ये*।

पदानां तदर्थानां वाऽऽकाङ्क्षादिमतां वाक्यार्थप्रत्यायने लिङ्गभावेनैव करणत्वमस्तु, किं शब्देनातिरिक्तमानेनेत्यभिप्रेत्य पदार्थकरणत्वपक्षेऽनुमानाभेदं साधयति **यद्यपीति। अनैकान्तिकमिति।** निराकाङ्क्षादिभिरित्यर्थः। **तथेति।** तैरेवानैकान्तिकमित्यर्थः। पदकरणत्वमाश्रित्याह **यद्यपि चेति। समवाय इति।** न पदार्थसंसर्गाणां पदेषु समवाय इत्यर्थः। **विशेषणेति।** स हि पदार्थानां मिथोऽन्वयो न पदधर्म इत्यर्थः। **न चेति।** लिङ्गतया ज्ञापकत्वं यच्छब्दस्य, तदेव तस्य लिङ्गस्य तत्स्मारकत्वादित्यर्थस्य विषयः कर्मेति न चेति योजना। परस्पराश्रयत्वं स्पष्टयति **तदुपलम्भे हीति।** लिङ्गतया ज्ञापकत्वोपलम्भे हीत्यर्थः। मानान्तरेण शब्दस्य लिङ्गत्वसिद्धौ ततोऽनुमित्या लिङ्गतया ज्ञापकत्वे व्याप्तिः सिद्ध्येत्, इत्थञ्च ज्ञापकत्वे लिङ्गत्वसिद्धिरिति भावः।

तथाप्याकाङ्क्षादिमद्भिः पदैः स्मारितत्वात् 'गामभ्याजे'ति पदार्थवदिति स्यात्। न च विशेषासिद्धिर्दोषः, संसर्गस्य संसृज्यमानविशेषादेव विशिष्टत्वात्। यद्वा, एतानि पदानि स्मारितार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणि, आकाङ्क्षादिमत्त्वे सति तत्स्मारकत्वात्, गामभ्याजेति पदवत्। न चैवमर्थासिद्धिः, ज्ञानावच्छेदकतयैव तत्सिद्धेः। तस्य च संसृज्यमानोपहितस्यैवावच्छेदकत्वान्न विशेषाप्रतिलम्भ इति।।१२।।

आमोदः– व्याप्तिः सिद्ध्येत्, तत्सिद्धौ च साध्यसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः। पराभिप्रेतं प्रयोगमाह **आकाङ्क्षेति**। एते पदार्थास्तात्पर्यविषयस्मारितार्थसंसर्गवन्त इति पक्षसाध्ये। नन्वनभिमतसंसर्गसिद्ध्याऽर्थान्तरं स्यादित्यत आह **न वेति**। अनभिमतः संसर्गो द्विधा, अपक्षीकृतपदार्थसंसर्गः, पक्षीकृतपदार्थविपरीतसंसर्गश्च। तत्र आद्य आह **संसर्गस्येति**। ये पदार्थाः पक्षीकृतास्तेषामेव पक्षधर्मताबलात् संसर्ग-परिचायकत्वं, द्वितीयस्तु **तात्पर्यविषयेति** विशेषणादेव निरस्त इति भावः। पदपक्षकानुमानमाह **एतानीति**। अन्योदीरितवाक्येऽन्योदीरितपदकदम्बस्मारितार्थ-संसर्गज्ञानपूर्वकत्वं नास्तीति व्यभिचारः स्यादत उक्तम् **तत्स्मारकत्वादिति**। निराकाङ्क्षादौ व्यभिचारवारणायाद्यं विशेषणम्। **अर्थासिद्धिरिति** संसर्गासिद्धिरित्यर्थः। **ज्ञानेति**। ज्ञानं सिद्ध्यत् स्वविषयमादायैव सिद्ध्यतीत्यर्थः। ननु यः कश्चित् संसर्गः सिद्ध्येदित्यत आह **तस्येति**। तथा च पक्षधर्मबलात् तत्तत्पदकदम्ब-स्मारिततत्तत्पदार्थ संसर्गविषयकज्ञानपूर्वकत्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः।१२।

प्रकाशः–यद्यपि पूर्वपूर्वविषयानुमितिजनकत्वेनानादित्वान्न परस्पराश्रयत्वं, तथापि ज्ञापकत्वसिद्धावपि नार्थसिद्धिः, प्रमापकत्वे तु साध्येऽनैकान्तिकमिति भावः।

तथापीति। अत्रैते पदार्थास्तात्पर्यविषयमिथःसंसर्गवन्त इति साध्यमतो नानभिमतसंसर्गसिद्ध्या अर्थान्तरम्। नन्वेवं संसर्गमात्रसिद्धावपि व्यवहारौ-पयिकस्तद्विशेषो न सिद्ध्येदत आह **न चेति**। संसृज्यमानपदार्थ-व्यापकत्वेनागृहीतस्यापि संसर्गविशेषस्य पक्षधर्मताबलात् सिद्धिरित्यर्थः। ननु संसर्गज्ञानपूर्वकत्वसिद्धावपि कुतो वाक्यार्थसिद्धिरित्यत आह **न चैवमिति**।

मकरन्दः– एवं सति हेतुं पूरयति **प्रकृतेरिति**। **निराकाङ्क्षादिभिरिति**। अयोग्यैरित्यत्रैव तात्पर्य्यम्। योग्यतासत्वे आकाङ्क्षाविरहे व्यभिचाराभावादिति ध्येयम्। शेषं *शब्दप्रकाशे* विपञ्चितम्। द्वितीयप्रयोगे मूले आकाङ्क्षादिमत्वादित्येव हेतुः तत्स्मारकत्वादित्यस्य व्यर्थत्वात्।

अत्रोच्यते –

अनैकान्तः परिच्छेदे सम्भवे च न निश्चयः।
आकाङ्क्षा सत्तया हेतुर्योग्यासत्तिरबन्धना।।१३।।

एते पदार्था मिथः संसर्गवन्त इति संसृष्टा एवेति नियमो वा साध्यः,

---

आमोदः– **परिच्छेदे** नियमे, साध्य इति शेषः। फलोपधाने साध्य इति यावत्। एवं **सम्भवे** स्वरूपयोग्यत्वे साध्य इत्यर्थः। द्वितीयानुमाने दूषणमाह **आकाङ्क्षेति**। **अबन्धना** अव्याप्तेत्यर्थः।

प्रकाशः– संसर्गविशेषसिद्ध्यर्थमाह **तस्य चेति**। तस्य संसर्गस्य पदार्थ-विशेषोपहितस्यैव ज्ञानावच्छेदकत्वाज्ज्ञानज्ञानस्य च तद्विषयविषयकत्वात् संसर्गे च सम्बन्धिन एव विशेषत्वादत्रापि पक्षधर्मताबलाद् व्यापकत्वेनाज्ञातस्यापि संसर्गविशेषस्य सिद्धिरित्यर्थः।

नन्वेवं भ्रान्तिज्ञोऽपि भ्रान्तः स्यात्। न चेष्टापत्तिः, ईश्वरस्यापि भ्रान्तत्वापत्तेः। भ्रान्तस्येव भ्रान्तिज्ञस्यापि भ्रमात् प्रवृत्त्यापत्तेश्च। अत्राहुः, न भ्रमविषयविषयकत्वेन भ्रमत्वं, किन्तु विशेष्यावृत्तिप्रकारकत्वेन। न च शुक्तौ रजतत्वप्रकारक ज्ञानवानयमित्यत्र विशेष्यावृत्तिः प्रकारः, रजतत्वप्रकारकत्वस्य भ्रमे सत्त्वात्। न च प्रतारकवाक्ये व्यभिचारः। तत्र योग्यताविरहात्, तस्याप्याहार्यसंसर्गज्ञानवत्त्वाच्च। तथापि संसर्गज्ञानं विना शुकस्यान्यस्य वा वाक्ये भ्रान्तप्रतारकवाक्ये च व्यभिचारः। कथञ्च तत्र संसर्गप्रमा? वक्तुर्ज्ञानानुमानासम्भवादिति चेन्न। तत्र वेदवदीश्वरसंसर्ग ज्ञानपूर्वकत्वादित्युक्तत्वात्।१२।

अनैकान्त इति। परिच्छेदेऽवधारणे। द्वितीयं दूषयति **आकाङ्क्षेति**। आकाङ्क्षायाः सत्त्वमात्रेणैव कारणतया लिङ्गविशेषणत्वमनुपपन्नमित्यर्थः। योग्यताऽऽसत्तिमात्रेण विशेषणे दोषमाह **योग्येति**। न बन्धनं सम्बन्धो व्याप्तिरूपो यस्यां, सा तथा। निराकाङ्क्षे व्यभिचारादित्यर्थः।

मकरन्दः

प्रमापकत्वे इति। आकाङ्क्षादिमतोऽपि सहकारिविरहेण कदाचित् प्रमानुत्पादकत्वादिति भावः। यद्यपि ज्ञापकत्वेऽपि व्यभिचारः, तथापि दूषणान्तरस्यैव सम्भवादयं नोद्भावित इति भावः।

सम्भावितसंसर्गा इति वा? न प्रथमः, अनाप्तोक्तपदकदम्ब स्मारितैरनैकान्तात्। आप्तोक्त्या विशेषणीयमिति चेन्न। वाक्यार्थप्रतीतेः प्राक् तदसिद्धेः। न ह्यविप्रलम्भकत्वमात्रमिहाप्तशब्देन विवक्षितम्, तदुक्तेरपि पदार्थसंसर्गव्यभिचारात्। अपि तु तदनुभवप्रामाण्यमपि। न चैतच्छक्यमसर्वज्ञेन सर्वदा सर्वविषये सत्यज्ञानवानयमिति निश्चेतुम्। भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात्। तत्र क्वचिदाप्तत्वमनाप्तस्याप्यस्तीति न तेनोपयोगः। ततोऽस्मिन्नर्थेऽयमभ्रान्त इति केनचिदुपायेन ग्राह्यम्। न चैतत् संसर्गविशेषमप्रतीत्य शक्यम्। बुद्धेरर्थभेदमन्तरेण निरूपयितुमशक्यत्वात्। पदार्थमात्रे चाभ्रान्तत्वसिद्धौ न किञ्चित्, अनाप्तसाधारण्यात्। एतेषां संसर्गेऽयमभ्रान्त इति शक्यमिति चेन्न। एतेषां संसर्गे इत्यस्या एव बुद्धेरसिद्धेः। अननुभूतचरे स्मरणायोगात्, तदनुभवस्य लिङ्गाधीनतया तस्य च विशेषणासिद्धत्वेनानुपपत्तेरिति।

आमोदः- अनैकान्तादिति। स्थिरजलादौ सेकादसंसर्गफलोपधानाभावादित्यर्थः। वाक्यार्थेति। प्रकृतवाक्यार्थगोचरयथार्थज्ञानवत्त्वरूपाप्तत्वस्य प्रथममग्रहादित्यर्थः। नन्वविप्रलम्भकत्वमेवाप्तत्वं, तच्च संसर्गसिद्धेः पूर्वमपिं सुग्रहमित्यत्राह न हीति। पित्रादिवचनेऽपि कदाचिद्व्यभिचारदर्शनात्तेन हेतुविशेषणेऽपि व्यभिचारतादवस्थ्यादित्यर्थः। अपि त्विति। प्रकृतवाक्यार्थप्रमावत्त्वमित्यर्थः। क्वचित् प्रमावत्त्वमतन्त्रमेव, व्यभिचारानिवर्तकत्वादित्यत आह यत्रेति। ननु पदार्थेऽयमभ्रान्त इति सुग्रहमेवेत्यत आह पदार्थमात्र इति। असिद्धेरिति। वाक्यार्थानुभवात् पूर्वमिति शेषः। नन्वनुभवो मास्तु, स्मृत्यैवोपपत्तेरित्यत आह अनुभूतेति। तर्हि अनुभव एवास्तु को दोष इत्यत आह तदनुभवस्येति। विशेषणेति। आप्तोक्तत्वलक्षण-विशेषणासिद्धेरित्यर्थः। तथा च व्यभिचार एवेति भावः।

प्रकाशः- संसृष्टा एवेति। न च सम्भावना नियमो वा न साध्यः, किन्तु संसृष्टा इत्येव साध्यमिति वाच्यम्। संसर्गव्यभिचार्यव्यभिचारिसाधारणतया ययोरेव घटानयनयोः परस्परसंसर्गो न जातस्तेनैव व्यभिचारादिति भावः। तदुक्तेरपीति। भ्रान्तेन पित्रादिनाप्यप्रतारकेणोक्तपदानां तदर्थानां वा संसर्गाभावादित्यर्थः। ननु पदार्थज्ञानमात्रनिरूपणादभ्रान्तत्वनिरूपणमस्त्वित्यत आह पदार्थेति।

नापि द्वितीयः, योग्यतामात्रसिद्धावपि संसर्गानिश्चयात्, वाक्यस्य च तदेकफलत्वात्, योग्यतामात्रस्य प्रागेव सिद्धेः। अन्यथा तदसिद्धावासन्नसाकाङ्क्षपदस्मारितत्वादित्येव हेतुः स्यात्। तथा च 'अग्निना सिञ्चेदि'त्यादिना स्मारितैरनैकान्तः। तथाविधानां सर्वथा संसर्गायोग्यत्वादिति।

द्वितीयेऽपि प्रयोगे हेतुराकाङ्क्षादिमत्त्वे सतीति। तत्र केयमाकाङ्क्षा नाम? न तावद्विशेषणविशेष्यभावः, तस्य संसर्गस्वभावतया साध्यत्वात्। नापि तद्योग्यता, योग्यतयैव गतार्थत्वात्। नाप्यविनाभावः, नीलं सरोजमित्यादौ तदभावेऽपि वाक्यार्थप्रत्ययात्। तत्रापि विशेषाक्षिप्त सामान्ययोरविनाभावोऽस्तीति चेन्न। 'अहो विमलं जलं नद्याः कच्छे महिषश्चरती'त्यादौ वाक्यभेदानुपपत्तिप्रसङ्गात्। नापि प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा, पटो भवतीत्यादौ शुक्लादिजिज्ञासायां 'रक्तः पटो भवती'त्यस्यैकदेशवत् सर्वदा वाक्यापर्यवसानप्रसङ्गात्।

आमोदः- द्वितीय इति। सम्भावितसंसर्गा इति साध्यपक्ष इत्यर्थः। संसर्गानिश्चयादिति। तथा च निष्कम्पप्रवृत्त्यनुपपत्तिरेवेत्यर्थः। स्वरूपयोग्यता-ज्ञानेऽपि संसर्गार्थिनां निष्कम्पप्रवृत्त्यदर्शनादिति भावः। किं च अन्वयप्रयोजक-रूपवत्त्वमिह योग्यता साध्या। सा च प्रागेव ज्ञातेति सिद्धसाधनमित्याह योग्यतामात्रस्य चेति। सैव योग्यता हेतुविशेषणमिति भावः। अन्यथेति। योग्यताया एवासिद्धौ हेतुविशेषणासिद्धेरित्यर्थः। पदपक्षके दोषं पूर्वमुक्तं स्फुटयति एवमिति। आकाङ्क्षायाः सत्तया हेतुतां व्यवस्थापयितुम् आकाङ्क्षास्वरूपं परिच्छेत्तुमाह तत्रेति। तस्येति विशेषणविशेष्यभावस्येत्यर्थः। योग्यतयैवेति। तस्या हेतुविशेषणतया पूर्वमेव ज्ञातत्वादित्यर्थः। ननु नीलं सरोजमित्यत्रापि नीलगुणविशेषसरोजद्रव्यविशेषाभ्यामाक्षिप्तयोर्गुणद्रव्ययोरविनाभावोऽस्त्येवेत्याह नापि विशेषेति। अत्रातिव्याप्तिमाह अहो इति। नदीकच्छयोरविनाभावेऽपि आकाङ्क्षाया अभावात्। अन्यथा तत्र वाक्यभेदप्रसिद्धिर्न स्यादित्यर्थः। प्रतिपत्तुरिति। प्रतिपाद्यपुरुषस्येत्यर्थः। एवं सति पटो भवतीत्यपि वाक्यं परिपूर्णमेव स्यात्, गुणविशेषे क्रियाविशेषे च प्रतिपत्तृजिज्ञासायाः सत्त्वात्। अन्यथा रक्तो पटो भवतीत्यत्रापि वाक्यभेदः स्यात्। अत्रापि पटो भवतीत्येतावतैव पर्यवसानसम्भवादित्यर्थः। जिज्ञासाविशेष आकाङ्क्षा।

गुणक्रियाद्यशेषविशेषजिज्ञासायामपि पदस्मारितविशेषजिज्ञासा आकाङ्क्षा। पट इत्युक्ते किंरूपः कुत्र किं करोतीत्यादिरूपजिज्ञासा तत्र भवतीत्युक्ते, किं करोतीत्येषैव पदस्मारितविषया, न तु किंरूप इत्यादिरपि। यदा तु रक्त इत्युच्यते तदा किंरूप इत्येषापि स्मारितविषया स्यादिति न किञ्चिदनुपपन्नमिति चेत्।

एवं तर्हि चक्षुषी निमील्य परिभावयतु भवान्, किमस्यां जातायामन्वयप्रत्ययोऽथ ज्ञातायामिति। तत्र प्रथमे नानया व्यभिचार

आमोदः-तत्र विशेषं दर्शयति पदस्मारितेति। या जिज्ञासा तद्वाक्यस्थपदस्मारितमर्थं विषयीकरोति सेत्यर्थः। एतदेवाह पट इति। अभ्युपगम्योत्तरयति एवं तर्हीति। जिज्ञासाज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभावात् स्वरूपसत्त्वे सा हेतुर्वाच्यः। तथा च तया हेतुविशेषणमनुपपन्नमित्यर्थः।

प्रकाशः- तस्य चेति। आप्तोक्तत्वरूपविशेषणासिद्धेरित्यर्थः। तदेकेति। निश्चयैकफलत्वादित्यर्थः। प्रागेवेति। योग्यतया लिङ्गविशेषणेन सिद्धेरित्यर्थः। तस्येति। एकत्र पदार्थे पदार्थान्तरवैशिष्ट्यस्यैव संसर्गरूपत्वादित्यर्थः। विशेषेति। नीलेन गुणसामान्यमाक्षिप्यते, सरोजेन द्रव्यमात्रं, तयोश्चाविनाभावोऽस्त्येवेत्यर्थः। अहो इति। जलान्वितनद्या आश्रयीभूतकच्छे साकाङ्क्षतापत्तावेकवाक्य-तापातादित्यर्थः। रक्त इति। यथा रक्तः पटो भवतीत्यत्र रक्तपदार्थान्वयं विना पटो भवतीत्येकदेशो न पर्यवस्यति, तथा रक्तपदं विना यत्र पटो भवतीत्येव वाक्यमुद्भावितं, तत्रापि तन्न पर्यस्येदित्यर्थः। अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थज्ञानाच्चेति भावः।

गुणक्रियेति। पट इत्युक्ते किंगुणः? किंक्रियः? इति जिज्ञासा। तत्र यदा भवतीत्युच्यते, तदा जिज्ञासाविषयस्य क्रियाविशेषस्य पदेन स्मारणात् सैव जिज्ञासा

मकरन्दः-निराकाङ्क्ष इति। तात्पर्यघटितसाध्ये व्यभिचारोऽयमुन्नेयः। संसर्ग-व्यभिचारीति। आकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वादिति हेतोः संसर्गव्यभिचारिसाधारणतया व्यभिचार इत्यर्थः। संसर्गव्यभिचारिसाधारण्यमेव दर्शयति ययोरिति। न चैवं तत्र योग्यतैव नेति कथं व्यभिचार इति वाच्यम्, घटस्यानयनमित्यत्र संसर्गव्यभिचारिणोरपि घटानयनयोर्योग्यपदस्मारितत्वात्। संसर्गस्य व्यभिचारीति क्वचित्पाठः स तु चिन्त्यः। अनिश्चयस्य सन्निहिततया तत्परामर्शभ्रमं वारयति निश्चयैकेति। योग्यतया इति। सम्भावितपदस्य लिङ्गविशेषणयोग्यतापरत्वे दूषणमिदम्। सन्दिग्धपरत्वे संसर्गानिश्चयादित्येव दूषणं बोध्यम्।

व्यावर्तनाय हेतुर्विशेषणीयः, मनःसंयोगादिवत् सत्तामात्रेणोपयोगात्। आसत्तियोग्यतामात्रेण विशिष्टस्तु निश्चितोऽपि न गमकः। 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामि'त्यादौ व्यभिचारात्। द्वितीयस्तु स्यादपि, यद्यनुमानान्तरवत्तत्सद्भावेऽपि तज्ज्ञानवैधुर्यादन्वयप्रत्ययो न जायते। न त्वेतदस्ति, आसत्तियोग्यतामात्रप्रतिसन्धानादेव साकाङ्क्षस्य सर्वत्र वाक्यार्थप्रत्ययात्। निवृत्ताकाङ्क्षस्य च तदभावात्।

कथमेष निश्चयः, साकाङ्क्ष एव प्रत्येति, न तु ज्ञाताकाङ्क्ष इति चेत्, तावन्मात्रेणोपपत्तावनुपलभ्यमानज्ञानकल्पनानुपपत्तेः। अन्यत्र तथा दर्शनाच्च। यदा हि दूरात् दृष्टसामान्यो जिज्ञासते कोऽयमिति, प्रत्यासीदंश्च स्थाणुरयमिति प्रत्येति। तदास्य ज्ञातुमहमिच्छामीत्यनुव्यसायाभावेऽपि स्थाणुरयमित्यर्थप्रत्ययो भवति। तथेहाप्यविशेषात् विशेषोपस्थानकाले

आमोदः– नन्वासत्तियोग्यते एव हेतुविशेषणे स्यातां, न हि ते अपि स्वरूपसत्यौ तन्त्रे तयोर्भ्रमादन्वयबोधानुपपत्तिप्रसङ्गादित्यत आह आसत्तीति। निराकाङ्क्षे व्यभिचारतादवस्थ्यादित्यर्थः। व्यभिचारादिति। राजपदार्थपुरुषपदार्थयोः संसर्गज्ञानपूर्वकत्वाभावादित्यर्थः। द्वितीय इति। आकाङ्क्षाज्ञानपक्ष इत्यर्थः। जिज्ञासाज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभावादित्यर्थः। प्रतिसन्धानादेवेत्यभ्युपगमवादः। तयोरपि स्वरूपसत्योरेव तन्त्रत्वात्। तावन्मात्रेति। जिज्ञासाज्ञानं यदि तन्त्रं स्यात्, तदानुभूयेतेत्यर्थः। जिज्ञासायाः स्वरूपसत्या हेतुत्वं दृष्टान्तेनाह दूरादिति। ननु तथापि जिज्ञासाज्ञानमान्तरालिकं स्वीक्रियतां, को दोष इत्यत आह विशेषेति। जिज्ञासावगतिर्यदापेक्षिता, तदा सम्भूतसामग्रीकेण शब्देन संसर्गधीरेव जन्यत इत्यर्थः।

प्रकाशः– आकाङ्क्षा। रक्त इत्युक्तौ किंगुण इत्यपि सेत्यर्थः। सत्तामात्रेणेति। स्वरूपसदाकाङ्क्षायोग्यतादिसाचिव्याच्छब्द एव ज्ञानजनने सम्भृतसामग्रीको लिङ्गमेव विलम्बितमिति भावः। व्यभिचारादिति। राजपदार्थपुरुषपदार्थ योरन्योन्यान्वये वक्तृज्ञानाभावादित्यर्थः। अनुमानान्तरवदिति। अनुमिति कारणान्तरव्याप्त्यादिवदित्यर्थः। यद्यपि प्रतिपदार्थान्विताकाङ्क्षायास्तत्काल एव नाशान्न कालान्तरे सत्त्वं, तज्ज्ञानहेतुत्वञ्च संस्कारद्वारा सम्भवति, तथापि पदार्थसमूहविषयाया एकस्या एवाकाङ्क्षायाः स्वरूपसत्त्वमस्त्येवेति भावः। विशेषोपस्थानेति। अन्वयप्रतियोगिपदार्थस्मरणानन्तराव्यवहितकाले इत्यर्थः।

संसर्गावगतिरेव जायते, न तु जिज्ञासावगतिरिति। न च विशेषोपस्थानात्प्रागेव जिज्ञासावगतिः, प्रकृतोपयोगिनां तावन्मात्रस्यानाकाङ्क्षत्वात्। न चैवम्भूतोऽप्ययमैकान्तिको हेतुः। यदा 'ह्ययमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामि'ति वक्ता उच्चारयति, श्रोता च व्यासङ्गादिना निमित्तेनायमेति पुत्र इत्यश्रुत्वैव 'राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामि'ति श‍ृणोति। तदाऽस्त्याकाङ्क्षादिमत्त्वे सति पदकदम्बकत्वम्। न च स्मारितार्थ संसर्गज्ञानपूर्वकत्वमिति।

आमोदः–ननु विशेषान्वयप्रतियोगिपदार्थान्तरस्मरणकालात् पूर्वमेव जिज्ञासावगतिः स्यादित्यत आह न चेति। तावन्मात्रस्येति। पदस्मारिततत्तत्पदार्थसार्थगोचरजिज्ञासा तावदेकैव वक्तव्या,तदवगमाभिमतकाले चान्वयधीरेव जायत इत्यर्थः। एवम्भूतोऽपीति। आकाङ्क्षया विशेषितोऽपीत्यर्थः। हेतुसत्त्वेऽपि साध्याभावं दर्शयति तदेति। अत्र च साध्याभावः पदस्मारितत्वांशवृत्तिरेकामिति बोध्यम्।

प्रकाशः– नन्वाकाङ्क्षा ज्ञाताऽन्वयधीहेतुः ज्ञायमानकारणे ज्ञानोपयोगिव्यभिचारिवैलक्षण्याद् व्याप्तिवत्।

न चाप्रयोजकत्वम्, आकाङ्क्षासत्त्वेऽपि ज्ञानादन्वयबोधाभावापातात्। राजा पुत्रमाकाङ्क्षति पुरुषं वेति संशये तद्विपर्यये वान्वयधीप्रतिबन्धाच्च।

अत्रास्मत्पितृचरणाः – प्रवृत्तिपरत्वं शब्दस्य लिङ्गत्वे न स्यात्। अर्थज्ञानं हि प्रवर्त्तकं न तु तज्ज्ञानज्ञानं, गौरवात्, तदभावेऽप्यर्थज्ञानात् प्रवृत्तेश्च, अतो वक्ता घटज्ञानवानिति ज्ञानं न प्रवर्त्तकमपि त्वयं घट इति। घटज्ञानज्ञानमपि घटविषयमिति चेत्, सत्यम्। न तु घटत्वप्रकारकं, प्रवर्त्तकञ्च तथा। अन्यथा भ्रान्तस्येव भ्रान्तिज्ञस्यापि प्रवृत्तिप्रसङ्गः। अत एव लक्षणा, नानार्थाद्यन्वयबोधात् तात्पर्यग्रहो वाक्यार्थधीहेतुस्तच्च पदार्थसंसर्गविशेषज्ञानोद्देश्यकत्वमतस्तद् ग्राहकानुमानादेव तात्पर्यज्ञानावच्छेदकतया संसर्गसिद्धिरित्यपास्तम्। तात्पर्यज्ञानं न वाक्यार्थहेतुरिति वक्ष्यमाणत्वाच्च।

अपि चानुमितेर्व्यापकतावच्छेदकमात्रप्रकारकत्वात् पदानि स्मारितार्थ संसर्गज्ञानपूर्वकाणीत्यनुमितिः स्यान्न घटज्ञानपूर्वकाणीति। योग्यतायाश्च लाघवात्

मकरन्दः– राजपदार्थेति। यद्यपि योग्यतासत्त्वे ईश्वरसंसर्गज्ञानसत्वान्न व्यभिचारः, तथाप्यजनितान्वयबोधे तत्रेश्वरतात्पर्याभावात्तात्पर्य्यघटितसाध्ये व्यभिचार इति भावः। नन्विति। तथा चाकाङ्क्षाया लिङ्गविशेषणत्वसम्भवादनुमान एवान्तर्भाव

स्यादेतत्। यावत्समभिव्याहृतत्वेन विशेषिते हेतौ नायं दोषः, तथाविधस्य व्यभिचारोदाहरणासंस्पर्शात्। कुतस्तर्हि कतिपयपदश्राविणः संसर्गप्रत्ययः? अलिङ्ग एव लिङ्गत्वाध्यारोपात्। एतावानेवायं समभिव्याहार इति तत्र श्रोतुरभिमानः। न, तत्सन्देहेऽपि श्रुतानुरूपसंसर्गावगमात्। भवति हि तत्र प्रत्ययो, न जाने किमपरमनेनोक्तमेतावदेव श्रुतं, यद्राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामिति। भ्रान्तिरसाविति चेत्, न तावदसौ दुष्टेन्द्रियजा, परोक्षाकारत्वात्। न लिङ्गाऽऽभासजा, लिङ्गाभिमानाभावेऽपि जायमानत्वात्। एतादृक्पदकदम्बप्रतिसन्धानमेव तां जनयतीति चेत्, यद्येवमेतदेवादुष्टं सद्भ्रान्तिं जनयत् केन वारणीयम्। व्याप्तिप्रतिसन्धानं विनापि तस्य संसर्गप्रत्यायने सामर्थ्यावधारणात् चक्षुरादिवत्।

आमोदः- तथाविधस्येति। यावत्समभिव्याहृताकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बत्वात्। यद्यप्येवमपि न व्यभिचारोद्धारः, तथापि तस्य तद्भावनाशक्यत्वं हेतुज्ञानकालेऽवश्यं साध्यस्य सत्त्वादित्यर्थः। गूढाभिसन्धिराह कुतस्तर्हीति। अलिङ्ग एवेति। कतिपयपदमात्रस्यालिङ्गत्वात्। तत्रैव यावत्समभिव्याहृतत्वमारोपयतीत्यर्थः। श्रुतार्थरूपेति। यदेव श्रुतं तावत्पदार्थसंसर्गानुभवादित्यर्थः। न च लिङ्गविशेषणसन्देहेऽनुमितिर्भवतीति भावः। सन्देहाकारमेवाह भवति हीति। असाविति। कतिपयपदश्राविणो या संसर्गावगतिरित्यर्थः। लिङ्गाभिमानिनो लिङ्गनिश्चयः। स च विशेषणांशसंशयात् प्रकृते नास्तीत्यर्थः। एकदेशश्राविणो या भ्रान्तिः सा शब्दादेव जायते, न तु प्रमापि, येन तत् प्रमाणं स्याद् इत्याह एतादृगिति। आशयमुद्घाटयति यद्येवमिति। व्याप्तीति। एकदेशश्राविणः शब्दादेव संसर्गप्रत्ययाभ्युपगमादित्यर्थः।

प्रकाशः- संशयादिसाधारणं ज्ञानमात्रं हेतुः। बाधसंशयस्य ज्ञानाप्रतिबन्धकत्वाच्च। अन्यथा प्रमामात्रोच्छेदप्रसङ्गात्। स्वपरबाधकप्रमाविरहः क्वचिन्निश्चीयतेऽपि यदेह भूतले घटो नास्तीत्यत्र, स्वयोग्यानुपलब्ध्या घटाभावनिश्चयेनान्यस्यापि घटाप्रमाविरहो निश्चीयते। अत एव सा न लिङ्गविशेषणम्। बाधकप्रमाणविरहस्य सर्वत्र निश्चेतुमशक्यत्वात्, तत्संशयेऽपि शब्दादन्वयबोधाल्लिङ्गविशेषणस्य च सर्वत्र निश्चिततत्वादिति सङ्क्षेपः। एतदेवाभिसन्धाय पूर्वापरितोषेणाह न चैवमिति। आकाङ्क्षादेर्ज्ञायमानतया हेतुविशेषणत्वेऽपीत्यर्थः। तत्सन्देह इति। यावत्समभिव्याहृतत्वसन्देहेऽपीत्यर्थः। भ्रान्तिरसाविति। कतिपयपदश्राविणो यः संसर्गप्रत्यय इत्यर्थः। व्याप्तीति।

नास्त्येव तत्र संसर्गप्रत्ययः, असंसर्गाग्रहमात्रेण तु तथा व्यवहार इति चेत्, तर्हि यावत्समभिव्याहारेणापि विशेषणे नाप्रतिकारः, तथाभूतस्यानाप्तवाक्यस्य संसर्गज्ञानपूर्वकत्वाभावात्। असंसर्गाग्रह पूर्वकत्वमात्रे साध्ये न व्यभिचार इति चेत्, एवं तर्हि संसर्गो न सिद्ध्येत्। आप्तवाक्येषु सेत्स्यतीति चेन्न। सर्वविषयाप्तत्वस्यासिद्धेः। यत्र क्वचिदाप्तत्वस्यानैकान्तिकत्वात्। प्रकृतविषये चाप्तत्वसिद्धौ संसर्गविशेषस्य प्रागेव सिद्ध्यभ्युपगमादित्युक्तम्।

न च सर्वत्र जिज्ञासा निबन्धनम्, अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थप्रत्ययात्।

आमोदः– नास्त्येव तत्र संसर्गप्रत्ययो येन तद्वदन्यत्र संसर्गप्रमा स्यादित्यर्थः। अनाप्तोक्ते संसर्गज्ञानपूर्वकत्वं साध्यं नास्ति यावत्समभिव्याहृताकाङ्क्षादि-मत्पदकदम्बत्वं हेतुरस्तीति व्यभिचारमाह **तथाभूतस्येति**। एतच्चान्वय-प्रयोजकरूपवत्त्वं योग्यत्वमभिप्रेत्य। नन्वसंसर्गाग्रहपूर्वकाणीति साध्यम्। तच्चानाप्तोक्तत्वेऽप्यस्तीति न व्यभिचार इत्याह **असंसर्ग इति**। **एवं तर्हीति**। ज्ञानावच्छेदकतया हि संसर्गः सिद्ध्येत्। न चात्र ज्ञानपूर्वकत्वं साध्यमस्तीत्यर्थः। **आप्तेति**। तत्र संसर्गज्ञानपूर्वकत्वं न बाधितमित्यर्थः। तर्ह्याप्तोक्तत्वेन हेतुर्विशेषणीयः, संसर्गज्ञानपूर्वकत्वं च तवाभिमतं साध्यं, तत्राह **सर्वविषयेति**। **यत्र क्वचिदिति**। अनाप्तोक्तत्वस्य तथात्वात् तत्र व्यभिचार इत्यर्थः। **प्रागेवेति**। आप्तत्वग्रहदशायामित्यर्थः। तथा च न तेन हेतुं विशिष्य संसर्गसाधनम्। संसर्गस्य प्रागेव सिद्धेरिति भावः। पूर्वं सर्वमभ्युपगमवादेनोक्तमिति स्फुटयन्नाह **न चेति**।

प्रकाशः– शब्दो न लिङ्गतया ज्ञापकः व्याप्त्यादिज्ञानरहितस्यापि दोषवतः अविपर्य्ययहेतुत्वाच्चक्षुर्वदित्यर्थः। **नास्त्येवेति**। कतिपयपदश्रवणं यत्रेत्यर्थः। संसर्गे बाधकाच्चेति भावः। **एवं तर्हीति**। असंसर्गाग्रहपूर्वकत्वसिद्धावपि तस्याप्रवर्त्तकत्वात् प्रवर्त्तकं संसर्गज्ञानं न स्यादित्यर्थः। **सर्वेति**। आप्तोक्तत्वस्य च लिङ्गविशेषणतया ज्ञातस्यैव हेतुत्वादित्यर्थः। **सिद्ध्यभ्युपगमादिति**। सिद्ध्यभ्युपगमप्रसङ्गादित्यर्थः। तथा च शब्दस्यानुवादकत्वेनाप्रामाण्यापत्तिरिति भावः। तदेवं पदस्मारितपदार्थविषया जिज्ञासेत्यङ्गीकृत्य उक्तं, सम्प्रति तामप्यव्यापकतयाऽऽस्कन्दितुमाह **न चेति**।

मकरन्दः– इति भावः। क्वचिदपि तदनिश्चये तत्संशयोऽपि दुर्लभ इत्यत आह **स्वपरेति**। **अत एवेति**। यत एव संशयसाधारणं तज्ज्ञानं हेतुरित्यर्थः। नन्वेतदेव कुत इत्यत आह **बाधकेति**। **एतदेवेति**। आकाङ्क्षाज्ञानहेतुत्वमेवेत्यर्थः।

आकाङ्क्षापदार्थस्तर्हि कः? जिज्ञासां प्रति योग्यता। सा च स्मारित तदाक्षिप्तयोरविनाभावे सति श्रोतरि तदुत्पाद्यसंसर्गावगमप्रागभावः। न चैषोऽपि ज्ञानमपेक्षते, प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्। तदभावनिरूपणस्य च विषयनिरूप्यत्वादिति।१३।

आमोदः- जिज्ञासामिति। सा चाजिज्ञासोरपि न तत्र व्यभिचार इत्यर्थः। संसर्गावगमेति। संसर्गप्रमेत्यर्थः। स्मारितयोरविनाभावो गुणवद्द्रव्यमित्यादौ, तदाक्षिप्तयोरविनाभावो नीलं सरोजमित्यादौ, विशेषाक्षिप्तसामान्ययोः। श्रोतरीति। वक्तरि संसर्गावगमप्रागभावस्यानाकाङ्क्षत्वद्योतनार्थम्। तदुत्पाद्येति। वाक्यान्तरोत्पाद्यसंसर्गावगमप्रागभावस्य निराकाङ्क्षेऽपि सत्त्वात्, तद्वारणार्थं स्मारिततदाक्षिप्तयोरविनाभावे सतीति जिज्ञासायोग्यतामाविष्कर्तुं, न तु व्यावर्तनार्थम्। एतादृशस्थले जिज्ञासोत्पत्तुमर्हतीत्येतत्परः साधारणहेतुरपि प्रतियोगिविशेषाङ्कितोऽत्रासाधारणः। न च प्रागभावादेव कार्यानुत्पत्तौ योग्यतासत्त्योरकारणतापत्तिः। एवं सति दण्डादेरप्यकारणतापत्तेः। न च यत्र यत्र

प्रकाशः- अथ योग्यतैव केत्यत आह सा चेति। शब्दस्मारितयोरविनाभावो, यथौदनं पचतीत्यत्र क्रियाकारकयोः। तदाक्षिप्तयोरविनाभावो यथा नीलं सरोजमस्तीत्यत्र विशेषाक्षिप्तयोर्द्रव्यगुणसामान्ययोः। प्रतिपादके संसर्गज्ञानप्रागभावो नास्तीत्यत उक्तं श्रोतरीति। वाक्यान्तरोच्चारणेन तत्रापि सोऽस्तीत्यत उक्तं तदुत्पाद्येति। तद्वाक्योच्चारणजन्य इत्यर्थः। प्रतियोगीति। संसर्गावगमप्रागभावो हि प्रतियोगिनि तदवगमे ज्ञाते ज्ञातव्यः, स च स्वविषये संसर्गे ज्ञाते बोद्धव्य इति संसर्गस्य प्रागेव ज्ञानाद्वाक्यस्यानुवादकत्वादप्रामाण्यापत्तिरित्यर्थः।

ननु निराकाङ्क्षे तदुच्चारणजन्यसंसर्गज्ञानप्रागभावस्य सिद्ध्यऽसिद्धिभ्यां व्याघातः। प्रागभावस्य च कार्यमात्रहेतुत्वान्न शब्दासाधारण्यम्। प्रागभावाभावस्य च कारणान्तराभावव्याप्यत्वात्तत एव कार्याभाव इति आकाङ्क्षा न हेतुः स्यात्। योग्यताऽऽसत्त्योरकारणत्वापत्तिश्च। अयोग्यानासन्नयोस्तदुच्चारणजन्य संसर्गधीप्रागभावाभावादेवान्वयबोधानुत्पत्तेः।

अथ ज्ञाप्यतदिरान्वयप्रकारकजिज्ञासानुकूलोपस्थितिहेतुत्वे सत्यजनिततात्पर्यविषयान्वयबोधकत्वमाकाङ्क्षा। घटमानयतीत्यत्र हि घटमित्युक्ते किमानयति पश्यति वा, आनयतीत्युक्ते किं घटमन्यद्वेति जिज्ञासा भवति। गौरश्च

मकरन्दः- दोषवत इति विपर्यय इति च स्वरूपनिर्वचनम्। ज्ञानहेतुत्वादित्यत्र तात्पर्यम्। संसर्ग इति समस्ताश्रवणमेव बाधकमित्याशयः। तस्येति असंसर्गा-

आमोदः– प्रागभावाभावस्तत्र तत्र कारणान्तराभाव आवश्यक इति। तत एव कार्यानुत्पत्तौ किमाकाङ्क्षयेति वाच्यम्? अन्यत्रापि प्रागभावस्याकारणतापत्तेः। न च तदुच्चारणजन्यसंसर्गावगमप्रागभावसिद्ध्यसिद्धिव्याघातो निराकाङ्क्षे तत्र प्रागभावस्यासिद्धिः। न च तदुत्पाद्यसंसर्गज्ञानाभावे तत्प्रागभावाभावोऽपि दुर्निरूप इति वाच्यम्। संसर्गावगमत्वेनैव प्रतियोगिसिद्धिः। दुःखप्रागभावार्थिकायां युक्तौ यथा दुःखत्वेनैव प्रतियोगिता, न तु तदा मे भाविदुःखत्वेन। तस्मादेतदनुशयेन यत् किञ्चिदुक्तम् अभिधानापर्यवसानमाकाङ्क्षेति तत्तुच्छम्। येन विना यस्य न स्वार्थान्वयानुभावकत्वं तदपर्यवसानमित्यपि संसर्गावगमप्रागभावपर्यवसन्नमेव। अभिधानं हि न शब्दप्रयोगः। तस्य निराकाङ्क्षेऽपि पर्यवसानात्, किन्त्वन्वयबोधः तदपर्यवसानं तदनुत्पत्तिः। सा च प्रागभाव एवेति घट्टकुट्यां प्रभातं प्रत्यूषे चाधिकमन्वेष्टव्यम्। ननु प्रागभावोऽप्याकाङ्क्षा ज्ञायतामत आह न चेति। संसर्गावगमस्य प्रागभावप्रतियोगिनः संसर्गसिद्धिमन्तरेण दुर्ग्रहत्वादित्यर्थः।१३।।

प्रकाशः– इत्यत्र नाभेदेनान्वयोऽयोग्यत्वात्। राज्ञ इति पुत्रेण जनितान्वयबोधत्वान्न पुरुषमाकाङ्क्षति। मैवम्, नामविभक्तिधात्वाख्यातार्थानां घटकर्मत्वानयनकृतीनां स्वरूपेणोपस्थितिर्नान्वयप्रकारकजिज्ञासानुकूलेति तत्राकाङ्क्षाविरहापत्तेः। घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यत्र घटमानयतीत्यत्रेवान्वयबोधापत्तेश्च।

अत्राहुः – अभिधानापर्यवसानमाकाङ्क्षा। येन विना यस्य न स्वार्थान्वयानुभावकत्वं, तस्य तदपर्यवसानम्। नामविभक्तिधात्वाख्यात क्रियाकारकपदानां परस्परं विना न स्वार्थान्वयानुभावकत्वम्। घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यत्राभेदेन नान्वयज्ञानमयोग्यत्वात्। योग्यता च बाधकमानाभावः। अन्यत्र

मकरन्दः– ग्रहस्येत्यर्थः। **स्मारितयोरिति** एतच्च सत्यन्तं विशेषणं स्वरूप निर्वचनम्। नन्वेवं गौरश्व इत्यादावभेदान्वयबोधे आकाङ्क्षा स्यादित्यत्र आह **गौरश्व इति**। तथा चेष्टापत्तिरिति भावः। यदि च स्वरूपेणैव तदुपस्थितिस्तदनुकूला, तत्राह **घटः कर्मत्वमिति**। **अभिधानेति**। अभिधानमन्वयानुभवः, तस्यापर्य्यव-सानमनिष्पत्तिरित्यर्थः। एतच्च **घटः** कर्मत्वमित्यादावप्यस्तीत्य न्यमपर्य्यवसान-पदार्थमाह **येनेति**। घटः कर्मत्वमित्यादेश्च नेतरव्यतिरेकप्रयुक्तं क्रियाकर्म-भावेनान्वयानुभावकत्वं, किन्तु स्वरूपयोग्यत्वप्रयुक्तं, तत्समवधानेऽपि तदननुभावकत्वात् अभेदान्वये च तत्राप्याकाङ्क्षाऽस्त्येव, अयोग्यत्वाच्च नान्वयधीरित्यत आह **घटः कर्मत्वमिति**। आकाङ्क्षालक्षणादिकं *शब्दप्रकाशे* सम्यग्व्याख्यातमनुसन्धेयम्।१३।

प्राभाकरास्तु, लोकवेदसाधारणव्युत्पत्तिबलेनान्विताभिधानं प्रसाध्य वेदस्य पौरुषेयतया वक्तृज्ञानानुमानानवकाशात् संसर्गे शब्दस्यैव स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यमास्थिषत। लोके त्वनुमानत एव वक्तृज्ञानोपसर्जनतया संसर्गस्य सिद्धेरन्विताभिधानबलायातेऽपि प्रतिपादकत्वे अनुवादकतामात्रं वाक्यस्येति निर्णीतवन्तः। तदतिस्थवीयः।

निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धि प्रागेवार्थस्य निर्णये।
व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिङ्गस्यैवानुवादिता।।१४।।

आमोदः- प्रसङ्गादाह प्राभाकरास्त्विवति। अन्विताभिधानमिति। इतरान्विताभिधानमिति। इतरान्विता एव हि पदार्थाः पदैरभिधीयन्ते कथमन्यथाव्यवहाराद् व्युत्पत्तिग्रह इत्यादि *शब्दखण्डे* (*तत्त्वचिन्तामणौ*) बहुशः (अभिहितम्)। ननु यद्यनुमानभावेन शब्दो गमकस्तदा कथमनुवादकत्वप्रसिद्धिरत आह अन्विताभिधानेति। शब्दस्यापि तत्रार्थे सामर्थ्यादनुवादकतेत्यर्थः।

प्रकाशः- यद् बाधकं तदभावस्यायोग्येऽपि सत्त्वात्। प्रकृतसंसर्गे च न तदभावः, सिद्ध्यसिद्धिव्याघातात्। न च प्रकृतसंसर्गेऽन्यत्र सिद्धबाधकमानाभावः, प्रकृतसंसर्गस्य प्रागप्रतीतेः। स्वबाधकप्रमाणविरहस्यायोग्येऽपि सत्त्वात्। सकलतदभावस्य च ज्ञातुमशक्यत्वात्। न च स्वरूपसन्नेवायं हेतुः। योग्यताभ्रमादन्वयबोधानुपपत्तेः। नापि सजातीयेऽन्वयदर्शनं,यथाकथञ्चित् साजात्यस्याव्यावर्त्तकत्वात्। पदार्थतावच्छेदकरूपेण च तस्य वाक्यार्थापूर्वतया निरासात्। नापि समभिव्याहृतपदार्थसंसर्गाभावव्याप्यधर्मशून्यत्वं, प्रमेयमभधेयमित्यादौ संसर्गाभावाप्रसिद्ध्या तदनिरूपणात्। नापि समभिव्याहृत पदार्थसंसर्गव्याप्यधर्मवत्त्वं, वाक्यार्थस्यानुमेयतापत्तेः। किं त्वितरपदार्थसंसर्गे अपरपदार्थनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वप्रमाविशेष्यत्वाभावो योग्यता। प्रमेयमभिधेयमित्यत्र प्रमेयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिप्रमाविशेष्यत्वं गोत्वे प्रसिद्धम्, अभिधेयत्वसंसर्गे च तदभावः। आसत्तिश्चाव्यवधानेनान्वयप्रतियोगिस्मृतिरिति सङ्क्षेपः।१३।

प्रसङ्गसङ्गतेराह - *प्राभाकरास्त्विति*। लोकेति। य एव लौकिकास्त एव वैदिका इति भावः। व्युत्पत्तिबलेनेति। व्यवहारेणेतरान्वितपदार्थज्ञानस्यैव स्वकारणस्यानुमितेरित्यर्थः।

यावती हि वेदे सामग्री, तावत्येव लोकेऽपि भवन्ती कथमिव नार्थं गमयेत्? न ह्यपेक्षणीयान्तरमस्ति। लिङ्गे तु परिपूर्णेऽप्यवगते व्याप्तिस्मृतिरपेक्षणीयास्तीति विलम्बेन किं निर्णेयम्? अन्वयस्य प्रागेव प्रतीतेः।

लोके वक्तुराप्तत्वनिश्चयोऽपेक्षणीय इति चेन्न। तद्रहितस्यापि स्वार्थप्रत्यायने शब्दस्य शक्तेरवधारणात्। अन्यथा वेदेऽप्यर्थप्रत्ययो न स्यात्, तदभावात्। न च लोके अन्यान्येव पदानि, येन शक्तिवैचित्र्यं स्यात्। अनाप्तोक्तौ व्यभिचारदर्शनात् तुल्यापि सामग्री सन्देहेन शिथिलायते इति चेन्न। चक्षुरादौ व्यभिचारदर्शनेन शङ्कायामपि सत्यां ज्ञानसामग्रीत

आमोदः- वेदे निर्णीतशक्तेरिति (३।१४) वेदे शब्दशक्तिनिर्णयादित्यर्थः। प्रागिति। अनुमानात् पूर्वमित्यर्थः। कथमेवमित्याह व्याप्तीति। निर्णीतशक्तित्वमाह यावतीति। द्वितीयार्धं व्याचष्टे लिङ्ग इति। लोक इति। तथा च लोके भिन्नैव सामग्रीति तद्विलम्बेन प्रथमं शब्दो मूक एवेत्यर्थः। तद्रहितस्यापीति। वेद आप्तोक्तनिश्चयं विनापि प्रत्यायकत्वदर्शनादित्यर्थः। संसर्गज्ञानपूर्वकाणीति साध्यसिद्धावपि न प्रवृत्तिः। न हि ज्ञानाज्ज्ञानं प्रवर्तकं किन्त्विष्टकाबद्धोदकप्रकारकं ज्ञानं, तच्च न प्रकृते घटः, संसर्गज्ञानपूर्वकत्वसिद्धावपि घटसंसर्गस्य ताद्रूप्येणासिद्धिरिति शब्दप्रमाणमिति भावः। शिथिलायत इति। स्वघटितप्रतीतिं न घटयतीत्यर्थः। ज्ञानसामग्रीत इति। इन्द्रियार्थसन्निकर्षे सति शैथिल्यादर्शनादित्यर्थः। सन्देहेन शिथिलायत

प्रकाशः-वेदे क्लृप्तसामग्रीतो लोकेऽपि संसर्गानुभवादन्यथा त्वनुवादकतापि न स्यादित्याह निर्णीतेति। आकाङ्क्षादिमत्तया ज्ञानात् प्राग् लिङ्गज्ञानाभावात् तद्वत्तया च ज्ञाने वेदतुल्यतयाऽन्वयबोधे विलम्बाभावादन्यथा वैदिकवाक्यादपि स न स्यात्। तस्य लौकिकोपजीवकत्वादिति भावः। प्रत्युतानुमाने व्याप्तिस्मृत्यादि विलम्बादनुमितिविलम्बेन तस्यैवानुवादकत्वमित्याह व्याप्तिस्मृतीति। लोके इति। स च न वक्तृज्ञानानुमानं विनेति भावः। तं विनापि वेदादन्वयबोधाद्व्यभिचारात् स न तत्र हेतुरित्याह तद्रहितस्यापीति। य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एवामीषामर्था इत्याह न चेति। यथा स्थाणुपुरुषसंशये चक्षुर्न निश्चायकं, तथाप्तोक्तत्वानाप्तोक्तत्वसन्देहे तुल्यापि सामग्री न निश्चायिकेत्याह अनाप्तोक्ताविति। यथा समानविषयकसन्देहस्यैव प्रतिबन्धकत्वाद्भिन्नविषयकोऽप्रमाजनकत्वसंशयो न चाक्षुषनिश्चयप्रतिबन्धकः। तथाप्तोक्तत्वसन्देहोऽपि

स्तदुत्पत्तिदर्शनात्।

ज्ञायमानस्यायं विधिर्यत् सन्देहे सति निश्चायकं यथा लिङ्गं, चक्षुरादि तु सत्तयेति चेन्न। वाक्यस्य निश्चितत्वात्। फलप्रामाण्यसन्देहस्य च फलोत्तरकालीनत्वात्। आप्तोक्तत्वस्य चार्थप्रत्ययं प्रत्यनङ्गत्वात्। लोकेऽपि चाप्तत्वानिश्चयेऽपि वाक्यार्थप्रतीतेः। भवति हि वेदानुकारेण पठ्यमानेषु *मन्वादि*वाक्येषु अपौरुषेयत्वाभिमानिनो *गौडमीमांसकस्यार्थ*निश्चयः। न चासौ भ्रान्तिः, पौरुषेयत्वनिश्चयदशयामपि तथा निश्चयादिति।१४।

स्यादेतत्। नाप्तोक्तत्वमर्थप्रतीतेरङ्गमिति ब्रूमः, किन्त्वनाप्तोक्तत्व शङ्कानिरासः। स च क्वचिदपौरुषेयत्वनिश्चयात्, क्वचिदाप्तोक्तत्वाव धारणादिति चेत्, तत्किमपौरुषेयत्वस्याप्रतीतौ सन्देहे वा वेदवाक्याद्विदित पदार्थसङ्गतेरर्थप्रत्यय एव न भवेत्, भवन्नपि वा न श्रद्धेयः? प्रथमे सत्यादय

आमोदः-इति। सन्देहविषयं विवेचयति। वाक्यस्येति। वाक्यं न सन्देहविषय इत्यर्थः। फलेति। फलं संसर्गबोधः, तत्प्रामाण्ये च सन्देहः फलोत्पत्तौ सत्यां भवेदेवेत्यर्थः। अनङ्गत्वादिति। वेदे व्यभिचारदर्शनादित्यर्थः। ननु लौकिकत्वावच्छेदेनाप्तोक्तत्व-निश्चयो हेतुः स्यादित्यत आह लोकेऽपि चेति। वाक्यार्थप्रतीतिस्थलं दर्शयति भवति हीति। गौड़मीमांसकस्येति। वेदानभिज्ञत्वख्यापनाय तथात्वनिश्चयादिति बाधानवतारादित्यर्थः। निरासमिति ब्रूम इत्यनुषङ्गः। अपौरुषेयत्वनिश्चयो न वाक्यार्थप्रतीतावङ्गमित्याह तत् किमिति। सत्यादय इति। वाक्यार्थ प्रत्ययस्यानुभूयमानत्वेनापलापानर्हत्वादित्यर्थः। न त्वसंसर्गाग्रहमात्रं तत्रेत्याह न वेति। संसर्गग्रहे बाधकाभावात् सामग्र्या स्वयैवोपपादितत्वादिति भावः। अन्यथा

प्रकाशः- न शाब्दनिश्चयप्रतिबन्धक इत्याह चक्षुरादाविति। सन्देहः किं वाक्यस्वरूपे, तज्जनितज्ञानप्रामाण्ये वा, आप्तोक्तत्वे वा?। आद्ये वाक्यस्येति। द्वितीये फलेति। अन्त्ये आप्तोक्तत्वस्येति। न चाप्रमाजनकत्वे सन्देहः, तत्प्रतिबन्धकत्वे मानाभावादिति भावः। ननु लोके आप्तोक्तत्वसन्देहे वाक्यार्थज्ञानानुदयात् तन्निश्चयस्तद्धेतुः। तथा च वाक्यार्थगोचरपदार्थज्ञानजन्यत्वग्राहकात् तदुपजीविनोऽनुमानाद्वाक्यार्थधीरित्यत आह लोकेऽपीति।१४।

मकरन्दः- उपजीवकत्वात् तुल्यत्वात्। य एव लौकिकास्त एव वैदिका इत्याशयात्। लोके व्युत्पत्तिग्रहो व्यवहारादिति तस्योपजीव्यत्वमित्यप्याहुः।।१४।।

एव प्रमाणम्। न चासंसर्गाग्रहे तदानीं संसर्गव्यवहारो बाधकस्यात्यन्तमभावात्। तथापि तत्कल्पनायामन्वयोच्छेदप्रसङ्गात्। द्वितीये त्वश्रद्धा प्रत्यक्षवन्निमित्तान्तरान्निवर्त्स्यतीति वेदे यदि, लोकेऽपि तथा स्यादविशेषात्। अन्यथा वेदस्याप्यनुवादकताप्रसङ्गः।

तदुच्यते –

व्यस्तपुंदूषणाशङ्कैः स्मारितत्वात्पदैरमी।
अन्विता इति निर्णीते वेदस्यापि न तत्कुतः।।१५।।

यदा ह्यपौरुषेयत्वनिश्चयात् प्राक् वेदो न किञ्चिदभिधत्ते इति पक्षः, तदाप्तोक्तत्वनिश्चयोत्तरकालं लोकवत् वेदेऽप्यपौरुषेयत्वनिश्चयात्

आमोदः– प्रत्यक्षादावपि असंसर्गाग्रहादेव व्यवहारोपपत्तौ संसर्गग्रहः क्वापि न सिद्ध्येदित्याह तथापीति। अन्वयग्रहोच्छेदात् प्रमाणाभावादन्वयस्यैवोच्छेद इत्युक्तमन्वयोच्छेद इति। निमित्तान्तरादिति। समर्थप्रवृत्तिजनकत्वादिलिङ्गादित्यर्थः। अन्यथेति। यद्यपौरुषेयत्वप्रतीतिः शाब्दान्वयबोधे हेतुस्तदेत्यर्थः।१४।

तदेवाह व्यस्तेति। अपौरुषेयत्वनिश्चयेन पुंदोषशङ्काया निरासादेते पदार्था मिथः संसर्गवन्तः व्यस्तपुंदूषणाशङ्कैः पदकदम्बस्मारितत्वादिति वेदेऽप्यनुमानस्यैव सम्भृतसामग्रीत्वादनुवादकमेव पर्यवसन्नमित्यर्थः। तदिति। अनुवादकत्वमित्यर्थः। कारिकार्थमाह यदीति। न किञ्चिदभिधत्ते नान्वयानुभावकः।

प्रकाशः- बाधकस्येति। न चाप्तोक्तत्वकारणबाध एव बाधक इति वाच्यम्। व्यभिचारात् तद्धेतुतायामेव बाधात्। नापि लौकिकत्वेन ज्ञाते तद्धेतुः। मानाभावात्, आप्तोक्तत्वस्य च ज्ञातुमशक्यत्वात्। वाक्यार्थस्यापूर्वत्वादिति भावः। यथोत्पन्नप्रत्यक्षज्ञानप्रामाण्यग्राहकादप्रामाण्यशङ्कात्मकाश्रद्धापगमः, तथा वेदवाक्यजेऽपीत्याह द्वितीये त्विति।

यदि चापौरुषेयत्वनिश्चये सत्येव वेदार्थधीः, तदैते पदार्था मिथः संसृष्टाः दोषवत्पुरुषाप्रणीताकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वादिति वेदेऽन्वयधीरस्त्विति वेदोऽप्यनुवादकः स्यादित्याह अन्यथेति। तथा च शब्दः प्रमाणमेव न स्यात्, सर्वत्रानुमानादेव वाक्यार्थप्रमोत्पत्तेरिति भावः।

मकरन्दः- दोषवदिति। अत्र हेतुद्वये तात्पर्य्यम्। न चाद्यहेतोर्विसंवादिशुकवाक्ये व्यभिचारः, दोषवत्पुरुषाप्रणीतसतात्पर्य्यकपदस्मारितत्वस्याद्यहेत्वर्थत्वात्।

पश्चादनुमानावतारः। इयांस्तु विशेषो यदत्र पदार्थानेव पक्षीकृत्य निरस्तपुंदोषाशङ्कैराकाङ्क्षादिमद्भिः पदैः स्मारितत्वादाप्तोक्त पदकदम्बकस्मारितपदार्थवत् संसर्ग एवाहत्य साध्यो, बुद्धि व्यवहितस्त्वितरत्रेति फलतो न कश्चिद्विशेष इति। तथा चान्विताभिधानेऽपि जघन्यत्वाद् वेदस्यानुवादकत्वप्रसङ्गः। न चैवं सति तत्र प्रमाणमस्ति। विशिष्टप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या हि शब्दस्य तत्र शक्तिः परिकल्पनीया। सा चानुमानेनैवोपपन्नेति वृथा प्रयासः। तस्माल्लोके शब्दस्यानुवादकतेति विपरीतकल्पनेयमायुष्मताम्।

आमोदः- पश्चादिति। उत्तरकालमित्यर्थः। ननु तथापि वक्तृज्ञानावच्छेदकतया न संसर्गसिद्धिरित्यत आह इयानिति। बुद्धीति। वक्तृज्ञानावच्छेदकतयेत्यर्थः। तथा च वाक्यार्थज्ञानस्यानुमानादेव सर्वत्रोत्पत्तेः शब्दो न मानान्तरमिति भावः। इतरत्रेति। लोक इत्यर्थः। फलत इति। लोके वेदे चानुमानादेव संसर्गसिद्धेरित्यर्थः। जघन्यत्वादिति। अनुमानप्रवृत्त्यनन्तरप्रवृत्तिकत्वादित्यर्थः। अनुवादकतेत्यापाततः, वस्तुतस्तु शब्दप्रमाणमेव न सर्वत्रानुमानादेव संसर्गसिद्धेः। न चैवमिति। अनुमानादेवावयवबोधोत्पत्तौ नान्विताभिधाने प्रमाणमस्तीत्यर्थः। तदेवाह विशिष्टेति। अन्वितप्रतिपत्तिरन्विताभिधाने प्रमाणं, सा चानुमानाधीनैवेत्यर्थः। विपरीतेति। लिङ्गस्यैव व्याप्तिस्मृतिविलम्बेनानुवादकताव्यवस्थापनादित्यर्थः।

प्रकाशः- बुद्धीति वक्तृज्ञानावच्छेदकतयेत्यर्थः। इतरत्र-लौकिकवाक्ये। किञ्चैवं लोकवेदसाधारणादनुमानादेव वाक्यार्थप्रमोत्पत्तौ वेदस्य तत्र सामर्थ्यानवधारणादन्विते शक्तावपि न मानमित्याह न चैवमिति। तत्रेति। अन्विते शक्तावित्यर्थः। सा-विशिष्टप्रतीतिः। विपरीतेति। लोके सम्भृतसामग्रीकत्वेन शब्दस्यैव पूर्वं बोधकत्वाद् व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिङ्गमेवानुवादकमित्यर्थः। यद्वा अन्विते पदानां शक्तिर्लोके चानुवादकः शब्द इति विरुद्धकल्पनेत्यर्थः।

नवीनास्तु - अप्रमाणशब्दव्यावृत्तं प्रमाणशब्दानुगतं प्रामाण्यप्रयोजकं किञ्चित् कार्यवैलक्षण्यान्यथानुपपत्त्या कल्प्यम्। तच्च ज्ञातं तत्प्रयोजकं, ज्ञायमानकरणे ज्ञानोपयोग्यप्रमाणवैलक्षण्यत्वात्, व्याप्त्यादिवत्। न चाप्तोक्तत्व दोषाभावौ तथा, भ्रान्तप्रतारकवाक्यजे ज्ञाने तदभावात्। किन्तु यथार्थतात्पर्यकत्वम्। तच्च यथार्थवाक्यधीप्रयोजनकत्वं लोकवेदसाधारणं, तदभावाच्चाप्रमा, स एव दोषः। तत एव भ्रान्तप्रतारकवाक्यं संवादिशुकादिवाक्यञ्च प्रमाणम्। तच्च

प्रकाशः-ज्ञातमुपयोगि, ज्ञायमानकरणे ज्ञानोपयोगिव्यभिचारिवैलक्षण्यत्वादित्युक्तम्। अन्यथा,अन्यपरस्यान्वयबोधो न स्यात्। न स्याच्च यष्टीः प्रवेशयेत्यत्र लक्षणा नानार्थे विनिगमना च, तयोस्तात्पर्यग्रहमूलकत्वात्। न च तात्पर्यग्राहकप्रकरणादेः प्राथम्यादावश्यकत्वाच्च शब्दसहकारित्वमिति वाच्यम्। तेषामननुगमेनाहेतुत्वात्। तात्पर्यग्राहकता त्वननुगतानामपि व्याप्यत्वात्, धूमादीनामिव। तच्च तात्पर्यं वेदे न्यायगम्यं, लोके च न्यायाविषयेऽपि पुंसां तात्पर्यान्न तन्न्यायगम्यम्। अपि तु प्रमायामाप्तवाक्याद्वक्तृज्ञानानुमानपूर्वकमर्थतथात्वमवधार्य तन्निश्चयः। अनुमानं च – इदं वाक्यं भ्रमादिविशिष्टज्ञानान्यतरज्ञानजन्यं, वाक्यत्वात्। ततो भ्रमादिनिरासे सति परिशेषाद्वाक्यार्थानुमानम् – अयं वक्ता स्वप्रयुक्तवाक्यार्थयथार्थज्ञानवान् भ्रमाद्यजन्यवाक्यप्रयोक्तृत्वात्, अहमिव। तत एते पदार्था यथोचिततत्संसर्गवन्तः यथार्थज्ञानविषयत्वात्, मदुक्तपदार्थवत्। एवं वक्तुर्वाक्यार्थज्ञानेऽनुमिते प्रकरणादिना वक्त्रभिप्रेतयथार्थज्ञानपरत्वज्ञानम्, ततो वेदतुल्यतया शब्दादर्थज्ञानमित्यनुवादकः शब्दो वक्तृज्ञानावच्छेदकतया वाक्यार्थस्य प्रागेव सिद्धेरित्याहुः।

मैवम्। यथार्थप्रतीतिपरत्वस्य ज्ञातस्य प्रमानुत्पादकत्वात्। अपूर्ववाक्यार्थ निरूप्यतया तस्य पूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वात्, गौरवाच्च। न वा भ्रमाजन्यत्वग्रहः, वाक्यार्थमज्ञात्वात्रायमभ्रान्त इति, निश्चेतुमशक्यत्वात्, पुंसो भ्रमादिसम्भवात्। न च संवादात् तद्ग्रहः,-तस्य ज्ञानोत्तरकालीनत्वात्। न च भ्रमादिजन्यवैलक्षण्येन शब्दज्ञानमस्ति ज्ञाने वा यादृशो लिङ्गत्वं तादृशः प्रत्यायकत्वमेवास्तु। किञ्च पुंवाक्यस्य भ्रमादिविशिष्टज्ञानान्यतरजन्यत्वेऽनुमिते परिशेषाद्भ्रमाद्य जन्यत्वनिश्चयदशायां वेदतुल्या सामग्री लौकिकवाक्येऽपि वृत्तेति तत एवार्थस्य निश्चयाद्वेदवत् तस्यापि प्रामाण्यम्। अनुमितावनुमानस्य व्याप्तिस्मृत्यादि विलम्बितत्वात्। यदि च यथार्थतात्पर्यकत्वज्ञानं प्रमोत्पादकं, तदा लोकवेदयोस्तादृशपदस्मारितत्वेन पदार्थसंसर्गानुमितिसम्भवान्न शब्दः प्रमाणं स्यात्। अनेकार्थेऽश्लिष्टे चानेकोपस्थितावपि प्रकरणादेकमादायान्वयबोधः। लक्षणापि न तात्पर्यानुपपत्त्या, किन्त्वन्वयानुपपत्त्येत्युक्तम्। यद्वा नानार्थे लक्षणायाञ्च नियतपदार्थोपस्थित्यर्थे पदार्थे तात्पर्यग्रहापेक्षा, तेन विना तदभावात्, न वाक्यार्थे। अन्यत्रान्वयप्रतियोग्युपस्थितिस्तात्पर्यग्रहं विनैवेति न तदपेक्षेत्य*स्मत्पितृचरणाः*।

मकरन्दः- तच्चेति। न च पौनरुक्त्यं, विशेषतः साधनात्। तयोरिति। लक्षण-विनिगमनयोरित्यर्थः। ननु प्रकरणादीनामननुगमेनाहेतुत्वादित्युक्तमित्यरुचेराह यद्वेति।

किं चेदमन्विताभिधानं नाम? न तावदन्वितप्रतिपादनमात्रम्, अविवादात्। नापि स्वार्थाभिधायास्तत्र तात्पर्यम्, अविवादादेव। नापि सङ्गतिबलेन तत्प्रतिपादनं, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वात्। नापि स्वार्थसङ्गतिबलेन, तस्य स्वार्थ एवोपक्षयात्। नापि सैव सङ्गतिरुभयप्रतिपादिका, प्रतीतिक्रमानुपपत्तेः। यौगपद्याभ्युपगमे तु योग्यत्वादिप्रतिसन्धानशून्यस्यापि पदार्थप्रत्ययवत् वाक्यार्थप्रत्ययप्रसङ्गात्। नापि सैव सङ्गतिः स्वार्थे निरपेक्षा,

---

आमोदः- यद्वा, अन्विते शक्तिरिति विरुद्धलक्षणेत्यर्थः। अन्विताभिधानं प्रसङ्गतो विकल्प्य दूषयति **किञ्चेति। अविवादादिति।** मयापि पदानामनुभावकत्व-स्वीकारादित्यर्थः। **नापीति।** स्वार्थशक्तेरितरान्वितपदार्थानामनुभवतात्पर्य-कत्वमप्युभयसिद्धमेवेत्यर्थः। नन्वन्वयांशेऽपि शक्तिरित्येवान्विताभिधानम् इत्यत आह **नापीति।** अन्वयांशस्यापूर्वतया तत्र शक्त्यग्रहादित्यर्थः। **स्वार्थ-सङ्गतिबलेनेत्यत्र** वाक्यार्थप्रतिपादनमित्यनुषङ्गः। तत्राविवादादिति दूषणे सत्येवाह **तस्येति।** सङ्गतिबलस्य स्वार्थस्मारकत्वमित्यर्थः। ननु स्वार्थसङ्गतिरेवान्वयं पदार्थं वोपस्थापयतीत्येवान्विताभिधानमित्याह **नापि सैवेति।** ननु यौगपद्ये को दोष इत्यत आह **यौगपद्येति।** पदार्थोपस्थितौ योग्यताज्ञानमतन्त्रं, तथा वाक्यार्थोपस्थितावपि स्यादित्यर्थः। **नापीति।**

प्रकाशः- इदानीं प्रसङ्गागतं पदानाम् अन्विताभिधानं विकल्प्य सिद्धसाधनादिना निराकरोति-**किञ्चेति। अविवादादिति।** पदानां साक्षाद्वाक्यार्थानभिधाय-कत्वेऽप्यन्वितस्वार्थाभिधानद्वारा अन्वितज्ञानोत्पादकत्वाङ्गीकारादित्यर्थः। **नापीति।** स्वार्थे पदानां शक्तिस्तस्या इतरान्वितस्वार्थप्रतीतिप्रयोजनकत्वस्याभि हितान्वयपक्षेऽप्युपगमादित्यर्थः। **संगतिः**-शक्तिग्रहः। सा किं प्रत्याय्ये वाक्यार्थे पदार्थमात्रे वा?। आद्ये, **वाक्यार्थस्येति।** उपस्थिते हि शक्तिग्रहः, न च शब्दानुभवात् पूर्वं वाक्यार्थस्योपस्थितिरिति कुत्र शक्तिर्गृह्येतेत्यर्थः। अन्त्यमाशङ्क्य निराकरोति **नापीति।** पदार्थशक्त्या तन्मात्रमुपस्थापयेन्न त्वन्वितमित्यर्थः। न च स्वार्थसङ्गतिरेव स्वार्थतदन्वितयोः प्रतिपादिकेत्याह **नापीति।** अपेक्षणीयाभावात् पदार्थस्मृतिकाल एवान्वितमपि प्रतिपादयेदित्यर्थः। न चेष्टापत्तिः, पदार्थस्मृत्यनन्तरं तेषां योग्यतादिज्ञानापेक्षयान्वितानुभवोत्पादात्, तदनपेक्षायाञ्चातिप्रसङ्गादित्याह **यौगपद्येति।** ननु पदार्थे सङ्गतिरन्वितज्ञाने कर्त्तव्ये पदार्थस्मृतिमपेक्षत इति क्रमः स्यादित्याह **नापीति।**

वाक्यार्थे तु पदार्थप्रतिपादनावान्तरव्यापारेति युक्तं, तस्याः स्वयमकरणत्वात्। सङ्गतानि पदानि हि करणं, न तु सङ्गतिः। तथापि तत्प्रतिपादनानुगुणसङ्गतिशालीनि पदानीति चेत्, न तावद्वाक्यार्थ प्रतिपादनानुगुणता सङ्गतेस्तदाश्रयत्वेन, सामान्यमात्रगोचरत्वात्, तद्वन्मात्रगोचरत्वाद्वा। नापि तदनुगुणव्यापारवत्त्वेन, अकरणत्वादित्युक्तम्। तदनुगुणकरणव्यापारोत्थापकत्वात्तदनुगुणत्वे न नो विवादः।

आमोदः- पदार्थप्रतिपादनावान्तरेत्युपलक्षणं, योग्यताविज्ञानसापेक्षेत्यपि द्रष्टव्यम्। **तस्या इति**। स्वतन्त्रेण तस्याः करणत्वे शब्दाप्रामाण्यापत्तेरिति भावः। तदेवाह **सङ्गतानीति**। ननु न पदान्येव करणं, किन्तु वाक्यार्थप्रतिपादनानुगुणसङ्गतिविशिष्टा-नीत्यायातान्विते ऽपि शक्तिरित्याह **तथापीति**। **तदाश्रयत्वेनेति**। वाक्यार्थाश्रयत्वेनेत्यर्थः। तथा च क्वाद्वयांशेऽपि शक्तिरिति भावः। तर्हि किमाश्रया सङ्गतिरत आह **सामान्येति**। *परमते* ते हि जातिमात्रे पदार्थ अर्थ(?)वादिनः। **तद्वन्मात्रेति** स्वमतेनापीति। **तदनुगुणेति**। वाक्यार्थानुगुणेत्यर्थः। पदार्थस्मरणं हि व्यापारः। स च पदार्थानां, न सङ्गतेरिति भावः। ननु पदानामपि पदार्थस्मरणं व्यापारो वाक्यार्थानुभवं प्रति सङ्गतिबलादेवेति, कथं नान्वयेऽपि शक्तिरित्याह **तदनुगुणेति**। एतादृशमन्वयाभिधानमस्मदभिमतमेवेत्यर्थः।

प्रकाशः- **तस्या इति**। करणानामवान्तरव्यापारयोगः। न च सङ्गतिः करणं, किन्तु पदानि, तेषामन्वयाद्यनुविधानादित्यर्थः। **तथापीति**। करणमित्यनुषज्ज्यते। तथा च सङ्गतेः करणकोटावन्तर्भाव इति तस्या अवान्तरव्यापारयोग इति भावः। सङ्गतेर्वाक्यार्थज्ञानानुकूलत्वं साक्षाद्वाक्यार्थधीजनकत्वं, वाक्यार्थ-ज्ञानानुकूलव्यापारवत्त्वं, तदनुकूलपदार्थस्मृतिहेतुत्वं वा? तत्र नाद्य इत्याह **न तावदिति**। अस्य पदस्येदं वाच्यमिति पदार्थाश्रयत्वेन सङ्गतेर्ग्रहान्न वाक्यार्थाश्रय-त्वमित्यर्थः। न चान्याश्रया सङ्गतिरन्यद् बोधयत्यतिप्रसङ्गादिति भावः। **सामान्यतद्वन्मात्रेति** मतभेदेन द्रष्टव्यम्। द्वितीयमाशङ्क्य निराकरोति **नापीति**। विशिष्टस्य करणत्वेऽपि विशेषणमात्रस्यातत्त्वादिति भावः। अन्त्ये तु विवादपर्यवसानमित्याह **तदनुगुणेति**।

मकरन्दः- **विशिष्टस्येति**। विशिष्टस्यापीत्यर्थः। तथा चाभ्युपगमवादोऽयमिति भावः। आवश्यकाकाङ्क्षादिसाचिव्यादिति यदुक्तं, तत्र तदावश्यकत्वे हेतुमाह

अन्वित एव शक्तिरिति चेत्, उक्तमत्र वाक्यार्थस्यापूर्वत्वात्। प्रतीतिक्रमानुपपत्तेश्चेति स्मृतक्रियान्विते कारके स्मृतकारकान्वितायाञ्च क्रियायां सङ्गतिरतो नोक्तदोषावकाशः। नापि पर्यायतापत्तिः, प्राधान्येन नियमात्। नापि पौनरुक्त्यं, विशेषान्वये तात्पर्यात्। नापीतरेतराश्रयत्वम्,

आमोदः- ननु चान्वयविशिष्टे पदार्थे शक्तिरस्मदभिमतेति कुतो न विवाद इत्याह **अन्वित एवेति। उक्तमिति।** तत्र शक्तिग्रह एव न सम्भवतीत्यर्थः। पदार्थस्मरणान्वयप्रतीत्योर्यौगपद्यमेवं स्यादित्याह **प्रतीतीति। उक्तदोषेति।** वाक्यार्थस्यापूर्वत्वान्न तत्र शक्तिग्रहो यौगपद्यञ्च प्रतीत्योः स्यादित्युक्तदोषौ न भवतः। अन्वयसामान्यज्ञानस्य पूर्वं जातत्वेऽपि विशेषग्रहो वाक्यादिति भावः। नन्वेवं घटशब्दानयनशब्दयोरेकार्थप्रतिपादकत्वात् पर्यायता स्यादित्यताह **नापीति।** कारकपदस्य प्राधान्येन कारकवाचकत्वं, क्रियापदस्य प्राधान्येन क्रियावाचकत्वमित्यर्थभेदान्न पर्यायतेत्यर्थः। ननु क्रियापदेनापि कारकमभिहितं कारकपदेनापीति पौनरुक्त्यमित्यत आह **नापीति। विशेषेति।** विशेषप्रतिपत्तिमभिप्रेत्य विशेषपदोपादानमतो न पौनरुक्त्यमित्यर्थः। ननु कारकपदेन कारकपदोपस्थितौ क्रियापदेन तदुपरक्तक्रियोपस्थितिः, क्रियापदेन च क्रियोपस्थितौ कारकपदेन तदुपरक्तकारकोपस्थितिरित्यन्योन्याश्रय इत्यत आह **नापीति।**

प्रकाशः- ननु वृद्धव्यवहारादन्वित एव पदानां शक्तिरित्याशङ्क्योक्तयुक्त्या निराकरोति **अन्वित एवेति।** नन्वन्वयविशेषे न शक्तिर्येनोक्तदोषः स्यात्, किन्तु क्रियाकारकयोरन्योन्याविनाभावादन्वयसामान्यम् उपस्थितमिति तत्रैव शक्तिग्रह इत्याह **स्मृतेति।** क्रियाकारकान्वयविशेषस्य च वाक्यार्थत्वान्न तदपूर्वत्वभङ्ग इत्यर्थः। नन्वेवं क्रियाकारकपदयोः पर्यायतापत्तिः, ताभ्यां कारकक्रिययोरप्युपस्थापनादित्यत आह **नापीति। प्राधान्येनेति।** क्रियापदं कारकमभिदधदपि कारकविशेष्यां क्रियामाह, कारकपदञ्च क्रियामप्यभिदधत् क्रियाविशेष्यं कारकमाहेति विशेषणविशेष्यभावभेदेनार्थभेदादित्यर्थः। ननु क्रियाकारकविशेषवाचकं पदं पुनरुक्तं, कारकोपहितक्रियादेरितर पदेनैवोपस्थापनादित्यत आह **नापीति। विशेषेति।** सामान्यज्ञानेऽपि तद्विशेषज्ञापनाय विशेषपदमित्यर्थः। ननु कारकपदात् कारकोपस्थितिमपेक्ष्य क्रियापदेन तद्विशिष्टा क्रियोपस्थाप्या, कारकपदेन च क्रियापदात् क्रियोपस्थितिमपेक्ष्य तद्विशिष्टं

मकरन्दः- **अन्वयसामान्येति।** अत एवेयं फक्किका। न चेत्यस्य पूर्वं युज्यते इति प्राहुः।

स्वार्थस्मृतावनपेक्षणात्। नापि वाक्यभेदापत्तिः, परस्परपदार्थस्मृतिसन्निधौ तदितरानपेक्षणादिति चेन्न। अन्विते सङ्गतिग्रह इति कोऽर्थः? यदि यत्र सङ्गतिस्तद्वस्तुगत्या पदार्थान्वितं, न किञ्चित् प्रकृतोपयोगि। न हि यत्र चक्षुषः सामर्थ्यमवगतं तद्वस्तुगत्या स्पर्शवदिति तद्वत्तापि तस्य विषयः। अथान्विततयैव तत्र व्युत्पत्तिरित्यर्थः। तदसत्, प्रमाणाभावात्।

आमोदः– स्मृतकारकपदमहिम्नैव क्रियोपरक्तकारकस्मृतिर्न तत्र क्रियापदापेक्षेति नान्योन्याश्रय इत्यर्थः। ननु कारकान्विता क्रिया, क्रियान्वितं च कारकमिति विशेषणविशेष्यभावभेदेन वाक्यभेद इत्यत आह नापीति। वाक्यार्थयोः प्रत्येकं पर्यवसाने वाक्यभेदः, प्रकृते न तथा। न ह्यत्रान्वयद्वयं किन्त्वेकमेव वाक्यार्थज्ञानमित्यर्थः। तदितरानपेक्षणादिति। वाक्यभेदे हि द्वितीयवाक्यार्थबोधे तदितरापेक्षणविलम्बः, प्रकृते तु न तथेत्यर्थः। अन्वित इति। यदन्वितं तत्र शक्तिरिति यदि, तदा न विवादः। अथान्वयांशेऽपि शक्तिरिति तन्न, प्रमाणाभावादित्यर्थः। तद्वत्तापीति। स्पर्शवत्तापीत्यर्थः। न च व्यवहारादन्वित एव शक्तिरिति वाच्यं, पदार्थमात्रशक्त्यैवान्वयबोधाव्यवहारोपपत्तेः।

प्रकाशः– कारकमुपस्थाप्यमित्यन्योन्याश्रय इत्याह नापीति। **स्वार्थेति।** कारकक्रियोपस्थितिमनपेक्ष्य क्रियाकारकपदाभ्यां विशिष्टास्मरणादित्यर्थः। नन्वेवं घटान्वितमानयनमानयनान्वितो घट इति विशेषणविशेष्यभावभेदादर्थभेदे वाक्यभेदः स्यादित्यत आह **नापि वाक्येति।** यत्रैकस्मिन् वाक्यार्थे प्रर्यवसन्ने वाक्यार्थान्तरबोधस्तत्र वाक्यभेदः, अत्र तु न तथा, विशेषणविशेष्यमात्रभेदेऽपि घटानयनात्मकार्थस्याभेदादित्यर्थः। **यत्रेति।** यत्र वाक्यार्थे व्युत्पत्तिः सङ्गतिग्रह इत्यर्थः। **प्रमाणाभावादिति।** ननु वृद्धव्यवहारेणानुमितेतरान्वितपदार्थज्ञाने पदकरणत्वग्रहादुपस्थितत्वाच्च तत्रैव शक्तिग्रहो न पदार्थज्ञानमात्रे, तस्य व्यवहाराहेतुतया ततोऽनुपस्थितेः। मैवम्, विशिष्टज्ञानस्य विशेष्य विषयत्वनियतत्वेनेतरान्वितपदार्थज्ञानोपस्थितौ विशेष्यस्य पदार्थज्ञानस्याप्युपस्थितेस्तत्रैव शक्तिग्रहाल्लाघवात्। न त्वितरान्वितेऽपि, गौरवात्। न चानन्यलभ्यत्वात्तत्र शक्तिः, पदार्थज्ञानत्वेन ज्ञातपदस्य स्वार्थस्मृति द्वाराऽऽवश्यकाकाङ्क्षादिसाचिव्यात् समभिव्याहृतपदार्थेन स्वार्थान्वयानुभावकत्वस्वभावकल्पनात्। न चाशक्यान्वयानुभवेऽतिप्रसङ्गः, शक्यान्वयत्वस्य स्वरूपसतो नियामकत्वात्। अन्वयसामान्यशक्तावपि अन्वयविशेषज्ञानार्थ

अन्वितार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तिरिति चेन्न। अनन्विताभिधानेनाप्युपपत्तेः। आकाङ्क्षाऽनुपपत्तिरस्तु। न हि सामान्यतोऽन्वितानवगमेऽन्वयविशेषे जिज्ञासा स्यात्। न, दृष्टे फलविशेषे रसविशेषजिज्ञासावदाक्षेपतोऽप्युपपत्तेः। शब्दमहिमानमन्तरेण यतः कुतश्चिदपि स्मृतेषु पदार्थेषु अन्वयप्रतीतिः स्यात्। न चैवम्, ततः शब्दशक्तिरवश्यं कल्पनीयेति चेत्?

आमोदः- अन्वितेति। पदार्थमात्रशक्त्यैवेत्यर्थः। आकाङ्क्षेति। जिज्ञासेत्यर्थः। जिज्ञासानुपपत्तिमेवाह न हीति। 'दृष्टे रसविशेषेति'। दृष्टबीजपूरादाववश्यमत्र रसोऽस्ति, स किं मधुरस्तिक्तो वेति यथा जिज्ञासा, तथा घटमित्युक्ते क्रियान्वयस्ता-वदस्त्येव, सा चानयामि पश्यामि वेति जिज्ञासाविषय एवेत्यर्थः। शब्दमहिमान-मिति। प्रकारान्तरोपस्थितिमादायापि चेदाकाङ्क्षा तदा पचतीत्युक्ते प्रत्यक्षाद्युपस्थितेन कलायादिनाप्यन्वयबोधः स्यात्। तथा च शब्दोपस्थापितक्रियाद्याकाङ्क्षयैवान्वयबोध इत्यन्विताभिधानमायातमित्यर्थः। शब्दशक्तिरिति। अन्वयांश इति शेषः।

प्रकाशः- माकाङ्क्षादेरवश्यमपेक्षणात्। तस्मात् पदार्थानामन्वितज्ञानजनकत्वेऽपि यथा जातिवाचकपदानां व्यक्तावेकैव शक्तिर्जात्यंशे ज्ञाता व्यक्त्यंशे तु स्वरूपसती व्याप्रियते, तथा एकैव शक्तिरन्वयांशे स्वरूपसती पदार्थांशे ज्ञाता व्याप्रियत इति नान्वयांशेऽपि शक्तिः। ज्ञातशब्दशक्तिजन्यज्ञानविषयस्यैव शक्यत्वात्।

नन्वन्वये पदानां तात्पर्यं तन्निर्वाहिका च वृत्तिः। न च स्वार्थसम्बन्धिनि स्वान्वये तात्पर्याल्लक्षणा, अन्वर्थविशेषणतया पदार्थोपस्थितेश्च न वृत्तिद्वयविरोध इति वाच्यम्। वाक्यार्थस्यापूर्वतयान्वयस्य स्वार्थसम्बन्धित्वेन पूर्वमज्ञानात्। एवञ्चान्वयः पदशक्यः वृत्त्यन्तरं विना पदबोध्यत्वात् पदार्थवदिति। मैवम्, वृत्तिं विनाप्युक्तरीत्या पदानामन्वयबोधकत्वसम्भवेनाप्रयोजकत्वात्। अन्यथा शक्त्या तात्पर्यनिर्वाहदर्शनाद् वृत्त्यन्तरोच्छेदात्। अत एव धूमोऽस्तीत्यत्र शक्त्या धूमोपस्थितावनुमानद्वारा वह्नौ तात्पर्यनिर्वाहान्न लक्षणेत्यस्माकं पैतृकः *पन्था इति* सङ्क्षेपः।

उक्तान्यलभ्यत्वमविद्वानाह **अन्वितार्थेति**। उक्तमभिप्रेत्याह **अनन्वितेति**। पदार्थज्ञानशक्तत्वेन ज्ञानादेव पदादावश्यकाकाङ्क्षादिसहकारिवशादेवान्वय ज्ञानसम्भवान्नान्वये शक्तिः कल्प्यते इत्यर्थः। **आकाङ्क्षेति**। **प्रमाणमिति** विपरिणतेन सम्बन्धः। ओदनमित्युक्तेऽन्वयविशेषे जिज्ञासाऽस्ति, सा च सामान्यतो ज्ञाते विशेषतश्चाज्ञाते भवतीति तदन्यथानुपपत्त्याऽन्वयसामान्ये शक्तिः कल्प्यते

कुतस्तर्हि कविकाव्यानि विलसन्ति? न हि संसर्गविशेषमप्रतीत्य वाक्यरचना नाम। न च स्वोत्प्रेक्षायां प्रत्यक्षमनुमानं शब्दस्तदाभासा वा संभवन्ति, अन्यत्र चिन्तावशेन पदार्थस्मरणेभ्यः। असंसर्गाग्रहोऽसाविति चेत्, मम तावत् संसर्गग्रह एवासौ। तवापि सैव पदावली क्वचिदन्वये पर्यवस्यति, क्वचिदनन्वयाग्रहे इति कुतो विशेषात्।

आमोदः– अत्र *प्राभाकरमते*ऽनुशयानो *भट्ट* आह कुतस्तर्हीति। यदि प्रकारान्तरोपस्थितेन नान्वयबोधस्तदा रामो राजा बभूवेति कवीनां कथं संसर्गबोधो येन वाच्यनिष्पत्तिः स्यात्। तथा च चिन्तावशोपस्थिताः पदार्था एव संसर्गबोधे करणमित्यर्थः। स्वोत्प्रेक्षायामिति। कवेः काव्यनिष्पादकसंसर्गबोध इत्यर्थः। असंसर्गाग्रह इति। वाक्यरचनाहेतुरिति शेषः। *भट्ट* आह ममेति। संसर्गग्रहे बाधकाभावादित्यर्थः। असंसर्गाग्रहमूलकपदावलीश्रवणमेव क्वचिदसंसर्गाग्रह–प्रयोजकम्। क्वचित्तु संसर्गग्रहप्रयोजकमित्यत्र किं नियामकमित्यर्थः। ननु तवापि

प्रकाशः– इत्यर्थः। दृष्ट इति। यथादृष्टे रूपविशेषे रससामान्यमनुमाय तद्विशेषे जिज्ञासा, तथा पदार्थमात्रस्य कोष्ठगत्यान्वयमात्रव्याप्तेरन्वयसामान्यज्ञानोपपत्तेरि–त्यर्थः। शब्देति। पचतीत्युक्ते प्रत्यक्षाद्युपस्थितकलायादेरन्वयबोधो न भवति, किन्तु पदोपस्थापितस्यैवेत्यन्वयविशेषे शब्दोपयोगादन्वयसामान्ये शक्तिः कल्प्येत्यर्थः।

तदेतदिष्टापादनमित्यन्तरा पदार्थकरणवादी *भट्टो*ऽन्विताभिधानवादि नमास्कन्दति कुतस्तर्हि इति। अन्यथा मानाभावात् संसर्गज्ञानानुदयान्नवकाव्यरचना न स्यादिति पदार्था एव चिन्तावशोपस्थिता अन्वयबोधकाः। यत्रापि पदात् पदार्थोपस्थितिस्तत्रापि पदार्था एवान्वयबोधकाः, न तु पदान्यपि, पदार्थस्मृत्यैवान्यथासिद्धत्वात्। कथमन्यथा श्वेतरूपदर्शनाद्धेषाशब्दश्रवणात् क्षुरविक्षेपशब्दवणाच्छब्दं विना श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः। न चैवं पचतीत्युक्ते प्रत्यक्षोपस्थितकलायेनान्वयबोधापत्तिः। शब्दोपस्थिते पदार्थे शब्दोपस्थापित पदार्थान्तरेणैवान्वयात्। शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते इति न्यायात्। अत एव श्रुतार्थापत्तिस्थलेऽपि शब्द एव कल्प्यते इत्यर्थः।

असंसर्गेति। उत्प्रेक्षादिवशाद्वाक्यार्थासंसर्गाग्रहः काव्यरचनाहेतुरित्यर्थः।

मकरन्दः– कोष्ठगत्या वस्तुगत्येत्यर्थः। अन्विताभिधानवादिनमिति *प्रभाकरमित्यर्थः*।

आप्तानाप्तवक्तृकतयेति चेत्, किं तथाविधेन वक्त्रा तत्र कश्चिद्विशेष आहितः, आहो वक्तैवावच्छेदकतया विशेषः? प्रथमे, अभिहितान्वयवादिनामिव तवापि शक्तिकल्पनागौरवम्। द्वितीये तु, वक्तुरिव पदानामप्यवच्छेदकतयैव विशेषकत्वमस्तु। एवं तर्हि पदानामप्यन्वयप्रतीतावस्त्युपयोगः। कः सन्देहः, परं पदार्थाभिधानेन,

आमोदः- कथं प्रत्यक्षोपस्थितं कलायमादाय नान्वयबोध इति चेत्, न। शाब्दी ह्याकाङ्क्षेति न्यायात्। शब्दोपस्थापितपदार्थान्वयबोधे शब्दोपस्थापितत्वस्यैव तन्त्रत्वात्। यत्र च पश्यतः श्वेतमारूपमित्याह, तत्र प्रकारान्तरोपस्थिता एव पदार्था अन्वयबोधमापादयन्तीत्यर्थः। विनिगमकमाह *गुरुः* आप्तेति। आप्तवाक्यं संसर्गज्ञानपूर्वकं संसर्गज्ञानहेतुः। अनाप्तवाक्यत्वसंसर्गाग्रहग्राहकमसंसर्गाग्रह हेतुरित्यर्थः। कश्चिदतिशय इति। स्ववाक्ये काचिच्छक्तिराहितेत्यर्थः। अवच्छेदकतयेति। आप्तोक्तत्वमेव वा तन्त्रमित्यर्थः। अभिहितान्वयवादिनामिवेति। *नैयायिकादीनां* यथा पदार्थे शक्तिः, पदजन्यपदार्थोपस्थितेरेव तन्त्रत्वात्, तत्रान्वयधीहेत्वतिशयाधाने शक्तिर्वाक्यार्थधीशक्तिश्चेति गौरवम्, तथा तवाप्याप्तोक्ते शक्त्यन्तरकल्पनमिति

प्रकाशः- ममेति। मया पदैरप्रतिपादितानामपि पदार्थानां संसर्गप्रमोत्पादकत्वाभ्युपगमान्ना संसर्गाग्रहस्तत्र हेतुरित्यर्थः। त्वयाप्येतदभ्युपेयं, गत्यन्तराभावादित्याह तवापीति। गुरोरपीत्यर्थः। उच्चारणमात्रकर्तृतैव तत्र विशेष इत्यर्थः। यद्याप्तेन तेषु पदेषु कश्चिद्विशेषो नाहितः, तदा नाप्तोक्तान्यान्वयबोधकानि स्युरित्याप्तेन पदनिष्ठातिशयाधानकल्पने यथा पदानां स्वार्थाभिधाने शक्तिस्तत्रान्वयधी हेत्वतिशयाधानशक्तिश्चेत्यभिहितान्वयपक्षे गौरवं, तद्वत्तवाप्तानां पदोच्चारणशक्तिः पदनिष्ठातिशयाधानशक्तिर्वाक्यार्थधीशक्तिश्चेति गौरवमापतितमित्याह प्रथम इति। अन्त्ये, ममापि पदैर्न पदार्थे शक्तिराधीयते, किन्तु पदोपस्थापितत्वमेवाप्तोक्तत्वमिव विशेषः स्यादित्याह द्वितीये त्विति। नन्वेवं पदानामेव वाक्यार्थवाचकत्वे सिद्धमन्विताभिधानमित्याह एवं तर्हीति। *त्वन्मते* यथाऽऽप्तानां पदोच्चारणमात्रे हेतुत्वं नान्वयबोधे,तथा ममापि पदानां पदार्थोपस्थापनमात्रे हेतुत्वं पदार्था एवाकाङ्क्षाद्युपेता अन्वयबोधका इत्याह कः सन्देह इति। तदाहुः -

न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि नः।
यज्ज्वलन्ति हि काष्ठानि तत् किं पाकं न कुर्वते।। इति।

न त्वन्यथा। यथा तवैवाप्तस्य संसर्गपरतया पदसमभिव्याहारमात्रेण, न त्वन्यथा। अन्यथा *गुरुमत*विदामेव श्लोक आप्तपदप्रक्षेपेण पठनीयः –

प्राथम्यादभिधातृत्वात् तात्पर्योपगमादपि।
आप्तानामेव सा शक्तिर्वरमभ्युपगम्यताम्।। इति।

आमोदः– गौरवमित्यर्थः। **अवच्छेदकतयेति**। पदोपस्थापितत्वं तन्त्रमित्यर्थः। अयमभ्युपगमवादः। **एवं तर्हीति**। अवच्छेदकतया पदानामपि करणकोटौ प्रवेशादित्यर्थः। **न त्वन्यथेति**। पदार्थोपस्थापन एव पदानामन्यथासिद्धत्वं, न तु करणत्वमपीत्यर्थः। **यथेति**। अन्यथावच्छेदकस्य करणकोटिप्रवेशेन वाप्तानामपि करणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। **अन्यथेति**। यद्यवच्छेदकेऽपि शक्तिरित्यर्थः।

प्राथम्यादिति। अवच्छेदकतया यथा पदानां प्रथमोपस्थितत्वं तथा त्वन्मते आप्तानामपील्यर्थः। **अभिधातृत्वादिति**। यथा पदानामभिधायकत्वं वाचकत्वं तथाप्तानामप्यभिधायकत्वं वक्तृत्वमित्यर्थः। **तात्पर्योपगमादिति**। यथा वाक्यार्थप्रतीतिप्रयोजनकत्वं तात्पर्यं पदानां तथाप्तानामपीत्यर्थः। **वरमिति**।

प्रकाशः– न तु वाक्यार्थवाचकत्वेन। तथा सति त्वन्नयेऽप्याप्तानां तद्वाचकत्वा-पत्तेरित्याह **न त्विति**। एवञ्च प्राथमिकत्वाद् यदि पदानामन्वयबोधे करणत्वमापाद्यते, तदाऽऽप्तानामेव तथात्वात् तेषामेव तत् किं न स्यादित्याह **अन्यथेति**। पदानामेवेति *गुरुमतश्लोके* विशेषः। **सा शक्तिरन्विताभिधाने** शक्तिरित्यर्थः।

मकरन्दः- त्वयापीति। अन्यथा क्वचिदन्वयधीपूर्वकत्वं क्वचिदनन्वयाग्रह–पूर्वकत्वमिति व्यभिचारापत्तेरिति भावः।

यथा पदानामिति। यथा पदानां स्वार्थाभिधानशक्तिस्तत्र पदेष्वन्वय-धीहेत्वभिधाख्यातिशयाधानशक्तिर्वाक्यार्थधीशक्तिश्चेत्यभिहितान्वयवादिनो मम *भट्टस्य* पक्षे गौरवं त्वयोच्यते, तथा तवाप्तानां पदोच्चारशक्तिः पदनिष्ठातिशयाधानशक्तिर्वाक्यार्थधीशक्तिश्चेति शक्तित्रयगौरवमिति भावः। **तथा ममापीति**। तथा च पदानां प्रयोजकत्वमात्रं न तु हेतुत्वमिति भावः। प्रयोजकत्वे *प्राचीन*सम्मतिमाह **न विमुञ्चतीति**। व्यभिचारजातीयतयेत्युपलक्षणं, निर्व्यापारत्वादित्यपि द्रष्टव्यम्। ननु पदार्थस्मरणवत् पदज्ञानमपि न करणं, औत्प्रेक्षिकान्वयानुभवे व्यभिचारात्। किञ्च क्लृप्तप्रमाणभावेन मनसा पदार्थस्मरण

तस्मात्प्रकारान्तरेण संसर्गप्रत्ययो भवतु मा वा, पदार्थानामाकाङ्क्षादिमत्त्वे सति अभिहितानामवश्यमन्वय इति कुतोऽतिप्रसङ्गः? न चैवं सति पदार्था एव करणं, तेषामनागतादिरूपतया कारकत्वानुपपत्तौ तद्विशेषस्य करणत्वस्यायोगात्। तत्संसर्गे प्रमाणान्तरासङ्कीर्णोदाहरणाभावाच्च। पदानां तु पूर्वभावनियमेन पदार्थस्मरणावान्तर व्यापारवत्तया तदुपपत्तेः। व्यापारस्याव्यवधायकत्वादिति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्त्या।१५।

आमोदः– स्वानभ्युपगमख्यापनाय पदार्थकरणत्वं *भट्ट* उपसंहरति **तस्मादिति**। **प्रकारान्तरेणेति**। कविकाव्यस्थले संसर्गग्रहो वास्तु, असंसर्गग्रहो वा। वाक्यस्थले पदस्मारिताः पदार्था एव करणमित्यर्थः। **अतिप्रसङ्ग इति**। प्रत्यक्षाद्युपस्थितैः कलायादिभिरित्यर्थः। तत्र पदोपस्थापितत्वाभावान्नातिप्रसङ्ग इति भावः। *भट्टमुखेन प्रभाकरं* निरस्य *भट्टं* निरस्यति **न चेति**। **तत्संसर्ग इति**। कविकाव्यस्थले तावदुत्प्रेक्षासहकृतं मन एव संसर्गबोधहेतुः। व्यापाराभावाच्च नोत्प्रेक्षा मानान्तरमिति भावः। अन्यत्र तु श्वेतरूपोऽयं धर्मी धावन्नश्वः खुरविक्षेपशब्दकारित्वे सति हेषाकारित्वात् परिदृष्टतथाश्ववदित्यनुमानादेव तथासंसर्गसिद्धिरित्यर्थः। नन्वनेकपदघटिते वाक्ये पदान्यप्यतीतान्येवेत्यत आह **पदानान्त्विति**। स्मृतिसमारूढानि पदानि समूहालम्बनेनैकप्रत्येकपदस्मारिततत्तदुत्तरैकनानापदार्थ स्मृतिरूपव्यापारशालीनि करणमित्यर्थः। **कृतमिति**। शब्दप्रामाण्य प्रसङ्गागतमन्विताभिधाननिराकरणं तदनुप्रसक्तं च पदार्थकरणत्वनिराकरणं तत्र च विस्तराभिधाने बहुगौरवं स्यादिति भावः।

प्रकाशः– **तस्मादिति**। कविकाव्यस्थले मनसोत्प्रेक्षासहितेषु चिन्तावशोपस्थितेषु पदार्थेषु क्वचिद्दोषवशात् क्वचिदनुमानात् संसर्गज्ञानमसंसर्गाग्रहो वा भवतु, यत्र तु शब्दादाकाङ्क्षाद्युपेतपदार्थोपस्थितिस्तत्र पदार्था एव करणम्। शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते इति न्यायाच्च न शब्दं विना प्रकारान्तरोपस्थितपदार्थानां शब्दोपस्थापितपदार्थैरन्वयबोध इत्यर्थः।

तदेवं *भट्टमुखेन प्रभाकरं* निराकृत्य पदार्थकरणत्वसिद्धान्तं निराकरोति **न चैवमिति**। **तत्संसर्ग इति**। पदं विना यत्र पदार्थज्ञानात् संसर्गज्ञानं, तत्र यथायथं मानान्तरसत्त्वान्न पदार्थानां संसर्गबोधे करणत्वम्। तथाहि काव्यस्थले पदार्थज्ञानव्यापारकमुत्प्रेक्षादिसहकृतं मन एवान्वयानुभवे करणम्। न चैवमुत्प्रेक्षाया

प्रकाशः– मानान्तरत्वम्। व्यभिचारजातीयतया लिङ्गादाविव प्रमाकरण-तावच्छेदकरूपाभावात्। श्वेतोऽश्वो धावतीति धीश्च लिङ्गजेत्यर्थः। ननु पदानामप्यतीतत्वात् कथं संसर्गधीकरणत्वम्, अथ पदस्मरणं करणं, तर्हि पदार्थस्मरणमेव करणमस्त्वाऽऽवश्यकत्वादित्यत आह **पदानां त्विति**।

पदार्थस्मरणस्य निर्व्यापारत्वेनाकरणत्वात् पदार्थस्मरणस्य पदज्ञानव्यापारतया तेन तदन्यथासिद्ध्यभावादनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकाभ्यामाकाङ्क्षादिमत्पदस्यान्वयानुभवविशेषे कारणत्वाच्च। अपि च व्युत्पत्तिकाले प्रयोजकवृद्धवाक्यश्रवणानन्तरं प्रयोज्यव्यापारदर्शनादन्वितज्ञानोपपत्त्यर्थमन्वितबोधकत्वं शब्दस्य गृह्यते। तदत्र तन्निर्वाहार्थमर्थोपस्थितिरपि सहकारिणी कल्प्यते इति न तया शब्दस्यान्यथासिद्धिरिति शब्दतदर्थयोरुपस्थितयोरन्वयबोधात् कुत्रान्वयज्ञानशक्तत्वमिति संशये प्राथम्याच्छब्दानामेव कारणत्वमवधारयति। किञ्चाग्निः करणम् ओदनः कर्मता पाकः कृतिरिष्टसाधनमिति ज्ञानेऽप्यग्निनौदनं पचेतेत्यत्रेव कुतो नान्वयबोधः? तावत्पदार्थोपस्थितेरविशेषात्। तत्र परस्परमाकाङ्क्षा नेति चेत्, तर्हि साकाङ्क्षपदार्थोपस्थितौ पदविशेषजन्यत्वं तन्त्रमिति नागृहीतविशेषणान्यायात् पदविशेषोऽप्यन्वयबोधेऽङ्गमिति कथं न तस्य करणत्वम्। पदादमुमर्थं प्रत्येमीत्यनुव्यवसाये बाधकाभावाच्चेति सङ्क्षेपः।

शब्दप्रामाण्यप्रसङ्गागतमन्विताभिधाननिराकरणं, तदनुप्रसक्तश्चाभिहितान्वयवाद इति विस्तरेण तन्निराकरणे ग्रन्थगौरवं स्यादित्यत आह **कृतमिति**।।१५।।

मकरन्दः– सहकृतेनौत्प्रोक्षिकवदन्वयग्रहोपपत्तौ मानान्तरकल्पने गौरवमित्यत आह **अनुभवविशेष इति**। औत्प्रेक्षिकव्यावृत्तशब्दप्रयोज्यजातिमतीत्यर्थः। तथा च नोक्तव्यभिचारः, गौरवञ्च प्रामाणिकं, विजातीयप्रमासिद्धौ तत्करणस्यावश्यकत्वादिति भावः। ननु तत्सिद्धिरेव कुत इति चेत् न। अनुमिनोमीत्यादिवत् शृणोमीत्यनुव्यवसायात्। ननु प्रत्यक्षसामग्रीबलवत्त्वान्मानसप्रत्यक्षसामग्रीसत्वे तदवश्यम्भाव इति चेत्, न। लौकिकप्रत्यक्षसामग्र्यास्तथाप्यलौकिकप्रत्यक्षसामग्र्या दुर्बलत्वात्, अन्यथा अनुमितेरप्युच्छेदः स्यात्। ननु प्रयोज्यव्यापारदर्शनात् प्रयोजकत्वमात्रं गृह्यते न तु हेतुत्वम्, अन्वयव्यतिरेकादेः साधारणतया तत्संशायकत्वादित्यरुचेराह **किञ्चेति**। नन्वन्वयविरोधिपदाजन्य-पदार्थोपस्थितित्वेनान्वयबोधकत्वम्, अन्यथा तवाप्याकाङ्क्षादि-वैकल्याच्छाब्दान्वयबोधान्निष्प्रत्यूहो व्यवहारः स्यादित्यरुचेराह **पदादिति**।।१५।।

अस्तु तर्हि शब्द एव बाधकं सर्वज्ञे कर्तरि। तथा हि –

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। इत्यादि पठन्ति।

अस्यायमर्थः – न पारमार्थिकं चेतनस्य कर्तृत्वमस्ति, आभिमानिकं तु तत्। न च सर्वज्ञस्याभिमानो, न चासर्वज्ञस्य जगत्कर्तृत्वमस्ति।१६। उच्यते –

न प्रमाणमनाप्तोक्तिर्नादृष्टे क्वचिदाप्तता।
अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः।।१६।।

यदि हि सर्वज्ञकर्त्रभावावेदकः शब्दो नाप्तोक्तः, न तर्हि प्रमाणम्। अथाप्तोऽस्य वक्ता, कथं न तदर्थदर्शी? अतीन्द्रियार्थदर्शीति चेत्,

आमोदः- तर्हीति। शब्दस्य स्वातन्त्र्येण प्रामाण्ये सतीत्यर्थः। प्रकृतेरिति। प्रकृते'रादिकारणस्य गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः क्रियमाणानि भूतभौतिकानि गोघटादीनि अहङ्कारे'ण बुद्धितत्त्वप्रथमविकारेण विमूढः आपादितमोह आत्मा चेतनः कर्ताऽहमिति मन्यतेऽभिमन्यत इत्यर्थः। तथा च पारमार्थिकं कर्तृत्वं प्रकृतेः, पुरुषस्य चितिशक्तेराभिमानिकमिति भावः। न चेति। दोषाभावादिति भावः। जगदिति। तावदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानाभावादिति भावः।१५।

न प्रामाण्यमिति। अयमुपदर्शित *आगम* आप्तोक्तो न वा? अन्त्ये, न प्रमाणम्। आद्ये, प्रकृतवाक्यार्थागोचरसंसर्गयथार्थज्ञानवत्त्वमस्याभ्युपेयम्। अभ्युपेयतां, को दोष इत्यत आह अदृश्येति। अदृश्यानि एतद्वाक्यप्रतिपादितानि प्रकृतिपुरुषभूतानि यदि पश्यति नूनं सर्वज्ञ एवेत्यर्थः। नन्वयं नाप्तोक्तः, किन्तु

प्रकाशः- प्रकृतेरिति। प्रकृतेरचेतनाया, गुणैः सत्वादिभिः। सर्वाणि कर्माणि क्रियमाणानि अहं कर्त्तेत्यहंकारोत्थव्यामोहवशाच्चेतनो मन्यते इति प्रतिपादनाच्चेतनस्य कर्तृत्वं निषिद्धम्। विशेषविधेः शेषनिषेधे पर्यवसानादित्यर्थः। कर्त्तेति तृन्नन्तम्। अतो, न लोकाव्ययेत्यादिना (पा.सू. २।३।६९।) कृद्योगषष्ठ्या निषेधः। न चाभिमानिकं जगत्कर्तृत्वमीश्वरस्येत्याह न चेति। तन्मूलविशेषादर्शनाभावादित्यर्थः। उपदर्शितागमो यदि नाप्तोक्तस्तर्ह्यप्रमाणत्वान्न बाधकः। आप्तोक्तश्चेत्, तर्ह्यागमप्रणयन हेतुस्तज्ज्ञानमिन्द्रियलिङ्गाद्यभावान्नित्यमुपेयम्। तत्र च विषयस्याहेतुत्वात् सर्वविषयत्वमर्थसिद्धमि*त्यागमो*ऽप्यन्यपर इत्याह न प्रमाणमिति।

मकरन्दः-सर्वविषयत्वमिति। तथा च तस्य जगत्कर्तृत्वं न्यायप्राप्तमित्यागमोऽन्यपर

कथमसर्वज्ञः? कथं वा न कर्ता? *आगमस्यैव* प्रणयनात्। न च नित्*यागम*सम्भवो विच्छेदादित्यावेदितम्।१६।

अपि च,

न चासौ क्वचिदेकान्तः सत्त्वस्यापि प्रवेदनात्।
निरञ्जनावबोधार्थो न च सन्नपि तत्परः।।१७।।

न ह्यसत्त्वपक्ष एवागमो नियतः, ईश्वरसद्भावस्यैव भूयःसु प्रदेशेषु प्रतिपादनात्। तथा चाग्रे दर्शयिष्यामः। तथा च सति क्वचिदसत्त्वप्रतिपादनमनेकान्तं न बाधकम्। सत्त्वप्रतिपादनमपि तर्हि न साधनमिति चेत्, आपाततस्तावदेवमेतत्। यदा तु निःशेषविशेषगुणशून्यात्मस्वरूपप्रतिपादनार्थत्वमकर्तृकत्वा*गमाना*मवधारयिष्यते, तदा न तन्निषेधे तात्पर्यममीषामिति

आमोदः- नित्य इत्यत आह न चेति। वाक्यत्वादिना पौरुषेयत्वसाधनात् सर्गप्रलयसाधनाच्चेति भावः।१६।

नन्व*ागम*प्रतिपादितोऽर्थः कथमन्यथाकर्तुं शक्यते इत्याह न चेति। असा*वागमो* वेद एकान्ततः कर्तृभावमेव नाभिधत्ते, किन्तु कर्तारमपि प्रतिपादयत्येवेत्यर्थः। ननु परस्परविरोधेनागमो न प्रमाणमेव तर्हीत्यत आह निरञ्जनेति। अञ्जना धर्मान्तरवैशिष्ट्यं बोधयति, अतः सन्नप्यय*मागम*श्चेतनस्य कर्तृत्वाभावपरो न भवति इत्यर्थः। किन्तु निरञ्जनत्वेन ध्येयतया बोधयतीति भावः। अग्र इति। पञ्चमस्तवक इत्यर्थः। यद्यभविष्यत् ईश्वर इति शेषः।१७।।

प्रकाशः- न चाप्तोक्तत्वं विना नित्यत्वा*दागमो* मानं, सर्गप्रलययोः साधितत्वादित्याह न चेति।१६। न केवलं तत्र बाधकाभावः, अपि तु 'द्यावाभूमी जनयन् देव एक' इत्यादि*श्रुतयः* साधिका अपि सन्तीत्याह न चासाविति। शब्दयोर्मिथः प्रतिबन्धादपि न बाध इत्याह निरञ्जनेति।

मकरन्दः- इत्यर्थः। सर्गप्रलययोरिति। अत्र सर्गेति सम्पातायातम्। प्रलयेऽपि व्योमादिवन्नित्यागमसत्त्वे न विरोधः, तथापि वर्णनित्यत्वेऽप्यानुपूर्वीघटित स्यानित्यत्वात् प्रवाहनित्यत्वात् प्रवाहनित्यत्वं वाच्यं, तत्रेदमुत्तरमिति भावः।।१६।।

शब्दयोरिति। यद्यपि मिथः प्रतिबन्धाद् बाधो न भवत्येव, तथापि बाधो न दोष इत्यर्थः। साधकागमस्येति शेषः। बाधकत्वाभिमतागमस्यान्यार्थपरतया विरोधाभावेनाप्रतिरोधकत्वादिति भावः।

सत्त्वप्रतिपादकानामे*वागमानां* प्रामाण्यं भविष्यतीति। न च तेषामप्यन्यत्र तात्पर्यमिति वक्ष्यामः।१७।

अस्त्वर्थापत्तिस्तर्हि बाधिका। तथा हि – यद्यभविष्यन्नोपादेक्ष्यत्, न ह्यसावनुपदिश्य प्रवर्तयितुं न जानाति। अत उपदेश एवान्यथानुपपद्यमानस्तथाविधस्याभावमौदासीन्यं वावेदयति। न, अन्यथैवोपपत्तेः-

हेत्वभावे फलाभावात्प्रमाणेऽसति न प्रमा।
तदभावात्प्रवृत्तिर्नो कर्मवादेऽप्ययं विधः।।१८।।

आमोदः- न ह्यसाविति। असर्वज्ञत्वापत्तेरिति भावः। अर्थापत्तिं स्फुटयति तत इति। अन्यथेति। ईश्वराभावमन्तरेणेत्यर्थः। औदासीन्यमिति। अनुपदेष्टृत्वमित्यर्थः। इमामर्थापत्तिमाभासीकरोति नेति। तदेवाह हेत्विति। उपदेशमन्तरेण प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्यातामिति ईश्वरेणोपदेष्टव्यमवश्यमित्यर्थः। कुत एतदित्याह हेत्वभाव इति। ननु प्रवृत्तिरिष्टसाधनता प्रमासाध्या तत्र किमायातमत आह प्रमाणसामान्यसिद्धौ विशेषसिद्धिरावश्यकीत्यर्थः। कर्मवाद इति। कर्मादृष्टम्, अदृष्टस्य प्रवर्तकत्वे किमुपदेशेनेति तुल्यमित्यर्थः।

प्रकाशः- बाधकत्वाभिमत *आगमः*, आत्मनो यन्निरञ्जनत्वं विशेषगुणशून्यत्वं तद्ध्येयमित्येवम्परो, न त्वकर्तृत्वबोधनपर इत्यर्थः। उत्तरार्द्धं व्याचष्टे यदा त्विति।१७। अर्थापत्तिबाधकत्वमुपन्यस्य निराकरोति अस्त्विति। न ह्यसाविति। असार्वज्ञ्यापत्तेरिति भावः। हेत्वभावे इति। कारणाभावे कार्याभाव इति सामान्यव्याप्तौ कारणविशेषप्रमाणाभावे कार्यविशेषप्रमा न स्यादित्यर्थः। तदभावेऽनिष्टमाह तदभावादिति। इच्छाद्वारा प्रमाजन्या प्रवृत्तिरस्मदादीनां नेश्वरेण कारयितुं शक्या, ततः प्रवर्त्तनीयप्रमोत्पादनार्थमवश्यमुपदेश इत्यर्थः। प्रमाया अभावेऽप्यदृष्टादेव प्रवृत्तिः स्यात् किं *वेदेनेति* मतेऽप्युपदेशानर्थक्यमेवादृष्टादेव प्रवृत्तेरित्याह कर्मवादेऽपीति।

मकरन्दः- असार्वज्ञ्यत्वापत्तेरिति। उपदेशं विना प्रवर्त्तकत्वस्याज्ञानादित्यर्थः। प्रमाणपदवैयर्थ्यमाशङ्क्याह कारणाभाव इति। तथा च प्रमाणाभावेनेत्यपि मूलं सामान्यव्याप्तिविषयमित्यर्थः। इच्छाद्वारेति। उपदेशं विनेति शेषः। इच्छाद्वारेति पूरणं यद्यप्यफलं, तथापि प्रमामात्रं सामान्यलक्षणादिभिरप्युपपद्यते इतीच्छाजनकं यागादेरिष्टसाधनत्वज्ञानमुपदेशं विना नेत्याशयेन तदुक्तम् प्रवर्तनीयेति।

बुद्धिपूर्वा हि प्रवृत्तिर्न बुद्धिमनुत्पाद्य शक्यसम्पादना। न च प्रकृते बुद्धिरप्युपदेशमन्तरेण शक्यसिद्धिः, तस्यैव तत्कारणत्वात्। भूतावेशन्यायेन प्रवर्तयेदिति चेत्, प्रवर्तयेदेव यदि तथा फलसिद्धिः स्यात्। न त्वेवम्। कुत एतदवसितम्? उपदेशान्यथानुपपत्त्यैव। यस्यापि मते अदृष्टवशादेव भूतानां प्रवृत्तिस्तस्यापि तुल्यमेतत्। यद्यस्ति प्रवृत्तिनिमित्तमदृष्टं, किमुपदेशेन? तत एव प्रवृत्तिसिद्धेः। न चेत्, तथापि किमुपदेशेन? तदभावे तस्मिन् सत्यप्यप्रवृत्तेः। नित्यः स्वतन्त्र उपदेशो न पर्यनुयोज्य इति चेत्, यूयं पर्यनुयोज्याः, ये तमवधानतो धारयन्ति विचारयन्ति चेति।१८।

आमोदः- न चेति। यागादीष्टसाधनताबुद्धेः स्वर्गकामो यजेतेति। उपदेशमात्रसाध्यत्वादित्यर्थः। भूतावेशेति। स्वयमधिष्ठाय परमनुष्ठापयत्वित्यर्थः। प्रवर्तयेदेवेति। तावदनुष्ठानकलापापेक्षयोपदेशस्यैव लघुत्वादिति भावः। एतदिति। भूतावेशन्यायेन प्रवर्तने फलसिद्धिर्न भवतीत्येतदित्यर्थः। उपदेशेति। प्रकारान्तरेणोपपत्तिं पश्यन्नोपदिशेदित्यर्थः। कर्मवादेति योजयति यस्यापीति। नित्यत्वम् उपदेशस्य निरस्तमपि दोषान्तराभिधानाय शङ्कते नित्य इति। यूयमिति। अदृष्टाधीनैव चेत् प्रवृत्तिस्तदा कथमुपदेशः प्रवृत्त्यर्थमाद्रियत इत्यर्थः। लोक इति। यदर्थापत्तावुदाहरणत्वेन प्रसिद्धं तदनुमानान्तर्गतमेवेत्यर्थः। ननूदाहरणान्तरं भविष्यतीत्याह प्रकारान्तरेति। फलव्यापारयोर्वैजात्यं प्रमाणभेदकं, तच्च प्रकृते नास्तीति भावः।१८।

प्रकाशः- प्रवर्त्तयेदेवेति। विधिवाक्येन स्वर्गकामप्रवृत्तिर्हि स्वर्गसाधनमिति बोधनाद् भूतावेशन्यायेन जनितापि प्रवृत्तिर्न स्वर्गसाधनमित्यर्थः। उपदेशान्यथानुपपत्त्या गत्यन्तरेणापि प्रवर्त्तनमशंक्यमित्यवधार्यत इत्याह उपदेशेति। वेदादात्मश्रवणस्यापि मोक्षहेतुत्वाद्वेदरूप उपदेश आवश्यकः, प्रतिपुरुषं भूतावेशादुपदेश एव लघीयानिति भावः। यद्यस्तीति। न चादृष्टमप्युपदेशात् प्रवृत्तौ स्यादिति वाच्यम्। उपदेशं विनापि पूर्वादृष्टवशादेव यागादौ प्रवर्त्तेत, तददृष्टमप्युपदेशमन्तरेण पूर्वप्रवृत्त्यैवेत्याशयात्। यूयमिति। न च वेदधारणविचारणयोरदृष्टजनकत्व श्रुतेरदृष्टार्थतया तयोरुपपत्तिः स्यादिति वाच्यम्। प्रवृत्त्यर्थमपि तदुभयकरणादिति भावः।१८।

मकरन्दः- इष्टसाधनत्वादिप्रकारकयागादिप्रमोत्पादनार्थमित्यर्थः। नन्वेवमपि वेदान्तररूप उपदेशः कथमित्यत आह प्रतिपुरुषमिति।।१८।।

न चार्थापत्तिरनुमानतो भिद्यते, लोके तदसंकीर्णोदाहरणाभावात्, प्रकारान्तराभावाच्च। तथा हि –

अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः।
न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः।।१९।।

'जीवंश्चैत्रो गृहे नास्ती'त्यनुपपद्यमानमसति बहिःसद्भावे तमापादयतीत्युदाहरन्ति। तत्र चिन्त्यते, किमनुपपन्नं जीवतो गृहाभावस्येति। न ह्यनियम्यस्यानियामकं विना किञ्चिदनुपपन्नम्, अतिप्रसङ्गात्। ननु स्वरूपमेव तत् न तावद्बहिःसत्त्वेन कर्तव्यं, तदकार्यत्वात्तस्य। स्थितिरेवास्य तेन विना न स्यादित्यस्य स्वभाव इति चेत्, एवं तर्हि

आमोदः- अनियम्यस्याव्याप्यस्य नायुक्तिर्नानुपपत्तिः। अनियन्ता अव्यापको नोपपादकः। तथा च व्याप्येन व्यापकानुमानमित्यर्थः। विरोधकरणिकायामर्थापत्तौ व्याप्यव्यापकभावस्फुरणं नास्तीति मतान्तरमाशङ्क्य विरोधाभावेन प्रतिबन्द्या च दूषयति न मानयोरिति। एतच्चाग्रे स्फुटीभविष्यति।

अतिप्रसङ्गादिति। एवं सति रासभं विना धूमोऽप्यनुपपन्नः स्यादित्यर्थः। ननु स्वरूपमेवेति। तेन विनाऽनुपपन्नमित्यनुषङ्गः। तन्नेति। चैत्रस्वरूपमेव बहिःसत्त्वेन क्रियत इत्यसम्भवतीत्यर्थः। यद्वा, चैत्रस्य गृहाभावस्वरूपमेव बहिःसत्त्वेन क्रियत इत्यसम्भवतीत्यर्थः।

स्थितिरेवास्येति। अस्य चैत्रस्य। गृहेऽसन्नयं यदि बहिरपि न स्यान्न स्यादेवेति। यद्वा, अस्य गृहनिष्ठचैत्राभावस्येत्यर्थः।

प्रकाशः- प्रकारान्तरेति। अनुमानप्रकारापेक्षया फलवैजात्याभावाद् व्यापार भेदाभावाच्च भिन्नप्रकाराभावादित्यर्थः। अनियम्यस्येति। अनियम्यस्याव्याप्यस्य न अयुक्तिरयोगोनुपपत्तिर्व्यापकमुपपादकं विना, अपि तु व्याप्यस्य व्यापकं विनानुपपत्तिः। अनियन्ता चाव्यापको नोपपादकोऽपि तु व्यापकस्तथेत्यनुपपत्तौ व्याप्तिरस्त्येवेति तज्ज्ञानात् कल्पनमनुमानमेवेत्यर्थः। प्रमाणयोर्विरोधे चाविरोधायार्थापत्तिरिति मतान्तरं निरस्यति न मानयोरिति। एवमनङ्गीकारे धूमादग्न्यनुमानमप्यर्थापत्तिरेव स्यादित्याह प्रसिद्धे वापीति। एवं तर्हीति। जीवतो गृहाभावस्थितिरेव बहिःसत्त्वेन विना नेति व्यतिरेकव्याप्तिरेवेत्यर्थः।

तन्नियतस्वभाव एवासौ व्याप्तेरेव व्यतिरेकमुखनिरूप्यायास्तथा व्यपदेशात्। कथं वा बहिःसत्त्वमस्योपपादकम्? न हि अनियामको भवन्नप्यनियम्यमुपपादयति, अतिप्रसङ्गादेव। स्वभावोऽस्य यदनेन बहिःसत्त्वेन गेहासत्त्वं क्रोडीकृत्य स्थातव्यमिति चेत्, सेयं व्याप्तिरेवान्वयमुखनिरूप्या तथा व्यपदिश्यते इति। न वयमविनाभावमर्थापत्तावपजानीमहे, किन्तु तज्ज्ञानम्। न चासौ सत्तामात्रेण तदनुमानत्वमापादयतीति चेन्न। अनुपपत्तिप्रतिसन्धानस्यावश्याभ्युपगन्तव्यत्वात्। अन्यथा त्वतिप्रसङ्गात्। अर्थापत्त्याभासानवकाशाच्च। यदा ह्यन्यथैवोपपन्नमन्यथानुपपन्नमिति मन्यते तदास्य

आमोदः– तन्नियतेति। गृहनिष्ठाभावप्रतियोगी चैत्रो बहिःसत्त्वनियतस्वभावः। तथा च यदि चैत्रो बहिर्न स्यात् गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वे सति जीवी न स्यादिति व्यतिरेकव्याप्तिरेवेत्यर्थः। गृहासत्त्वस्य उपपादकत्वमुक्त्वा अन्वयव्याप्तिं व्यवस्थापयन् बहिःसत्त्वस्य उपपादकत्वमाह कथमिति। क्रोड़ीकृत्येति। यत्र यत्र जीविगृहासत्त्वं तत्रावश्यं बहिःसत्त्वम् इति व्याप्तिरावश्यकीत्यर्थः। तथा व्यपदिश्यत इति। उपपाद्योपपादकभावेनोच्यत इत्यर्थः। अज्ञाता व्याप्तिरर्थापत्तौ तन्त्रमित्यनुमानादस्याभेद इत्याह न वयमिति। अनुपपत्तिज्ञानमेव व्याप्तिज्ञानम्। तच्च त्वयाऽवश्यं मन्तव्यमित्याह अनुपपत्तीति। अतिप्रसङ्गादिति। सर्वदैव कल्पनाप्रसङ्गादित्यर्थः। एवं हि स्वरूपसती यत्र व्याप्तिस्तत्रैव कल्पना स्यान्न तु व्याप्तिभ्रमेणापि येनार्थापत्त्याभासः स्यादित्यत आह अर्थापत्त्येति। अन्यथैवेति। यत्र धूमेन रासभमनुपपत्तिभ्रमेण कल्पयति तत्रान्यथैवोपपन्नम्। अन्यथापीति।

प्रकाशः– सेयमिति। वह्निनेव धूमं बहिःसत्त्वेन गेहासत्त्वं क्रोडीकृत्य स्थातव्यमतो धूमे सति वह्निर्भवत्येवेतिवत् सति गृहासत्त्वे जीवतो बहिःसत्त्वं भवत्येवेति अन्वयव्याप्तिरेवेत्यर्थः। अर्थापत्तौ कल्प्यकल्पकयोर्व्याप्तिः सत्यपि न ज्ञाता कल्पनाङ्गमिति नेयमनुमानमित्याह न वयमिति। एवं सत्यनुपपत्तिज्ञानं विनापि कल्पना स्यादिति तज्ज्ञानमावश्यकमित्याह अनुपपत्तीति। व्याप्तिज्ञानं विनानुपपत्तेरज्ञानादित्यर्थः। सत्तावस्थितव्याप्त्यैव कल्पनेऽन्यथोपपन्नेऽप्यनुपपत्तिधिया उपपादककल्पना न स्यादित्याह – अर्थापत्त्याभासेति।

विपर्ययो, न त्वन्यथेति। तथापि कथमत्र व्याप्तिर्गृह्येतेति चेत्, यदाहमिह तदा नान्यत्र, यदान्यत्र तदा नेहेति सर्वप्रत्यक्षसिद्धमेतत्। का तत्रापि कथन्ता? सर्वदेशाप्रत्यक्षत्वे तत्राभावो दुरवधारण इत्यपि नास्ति, तेषामेव संसर्गस्यात्मनि प्रतिषेधात्। अयोग्यानां प्रतिषेधे का वार्तेति चेत्, तदवयवानां तत्संसर्गप्रतिषेधादेवानुमानादन्येषां न काचित्। न ह्यकारणीभूतेन परमाणुना

आमोदः- यत्र मृते देवदत्ते बहिःसत्त्वं कल्पयति तत्रान्यथाप्युपपन्नमित्यर्थः। **कथमिति**। गृहासत्त्वबहिःसत्त्वयोर्वैयधिकरण्यादित्यर्थः। स्वशरीरव्याप्तिग्रहमाह **यदेति**। अधिकरणयोग्यतया तत्र तत्र स्वशरीरसंसर्गाभावः कथं प्रत्येतव्य इत्यत आह **सर्वदेशेति**। **तेषामेवेति**। प्रतियोगिनां स्मृतानामात्मशरीरसंसर्गनिषेधादित्यर्थः। ननु स्मृतस्यापि योग्यस्य प्रतियोगिनः संसर्गो निषिध्यते, न त्वयोग्यस्यापीत्याह **अयोग्यानामिति**। **तदवयवानामिति**। योग्यप्रतियोग्यवयवानामित्यर्थः। **अन्येषामिति**। उदासीनपरमाण्वादीनामित्यर्थः। तत्संसर्गसम्भावनैव नास्तीति

प्रकाशः- **विपर्यय इति**। उपपादककल्पनरूपो भ्रम इत्यर्थः। न च दोषादेव भ्रमः प्रमाप्रतिबन्धश्च स्यादिति वाच्यम्। यत्र भ्रमस्तत्र वस्तुतो व्याप्तिरेव नेति क्व दोषः सहकारी स्यादित्याशयात्। **यदाहमिहेति**। यद्यप्यन्वये जीविगृहासत्त्वं व्याप्यं व्यापकं च बहिःसत्त्वं, विपर्यये तु बहिरसत्त्वं व्याप्यं गृहसत्त्वं च व्यापकमिति यद्योगप्राथम्याभ्यां यदा नान्यत्र तदाहमिह, यदा नेह तदान्यत्रेति वक्तुमर्हति। तथापि यत्तदोर्विभिद्यैव सम्बन्धः कार्यः। तेन यदा जीवतो गृहासत्त्वं तदा बहिःसत्त्वमित्यन्वयव्याप्तिः। यदा तु बहिरसत्त्वं तदा जीवतो गृहसत्त्वमिति व्यतिरेकव्याप्तिरुक्ता। सर्वत्र बहिरभाव एव प्रत्येतुमशक्योऽधिकरणानामयोग्यत्वादित्याह **सर्वदेशेति**। न तेषु तेषु देशेष्वभावनिश्चयः, किन्त्विन्द्रियग्रहणयोग्यानां तावदात्मनि संसर्गाभावो योग्यानुपलब्ध्या निश्चीयते इत्याह- **तेषामेवेति**। सर्वदेशानामित्यर्थः। **अयोग्यानामिति**। तत्र योग्यानुपलब्धेरसामर्थ्यादित्यर्थः। **तदवयवानामिति**। योग्यानामयोग्या येऽवयवाः, तेषामवयविसंसर्गनिषेधादेव संसर्गनिषेधो निश्चेयः।

मकरन्दः- नन्वेवमपि व्याप्तिज्ञानं नायातमत आह **व्याप्तिज्ञानं विनेति**। **उपपादकेति**। उपपादकत्वाभिमतकल्पनेत्यर्थः। **क्वेति** त्वया स्वरूपसद्व्याप्तेरेव कल्पनाऽङ्गत्वेनाभ्युपगमादिति भावः। **यद्यपीति**। अत्र, प्रकृते विवक्षितमिति शेषः। वैपरीत्येऽपि व्याप्यव्यापकभावसम्भवादिति ध्येयम्। **यदा नेति**। व्याप्य एव नञर्थप्रवेशादिति भावः।

नेदं संसृष्टमिति निश्चेतुं शक्यमिति। न चाविनाभावनिश्चयेनापि गमयन्नपक्षधर्मोऽर्थापत्तिरिति युक्तम्, पक्षधर्मताया अनिमित्तत्वप्रसङ्गात्, अविशेषात्। व्यधिकरणेनाविनाभावनिश्चयायोगाच्च। यत् यत्र यदेति प्रकारानुपपत्तेः।

आमोदः– तत्संसर्गनिषेधाभावेऽपि न दोष इति भावः। ननु गृहाभावो हेतुर्गृहवृत्तिर्न देवदत्तवृत्ति देवदत्तबहिःसत्त्वमपक्षधर्मतया नानुमातुमलमत आह न चेति। देवदत्तो बहिः सन् जीवित्वे सति गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वादिति पक्षधर्मताऽस्त्येवेत्याह पक्षेति। पक्षधर्मतां विनार्थापत्तेरप्यनुपपत्तेरित्यर्थः। **अविशेषादिति।** अनुमानार्थापत्त्योरुभयोरपि पक्षधर्मताया अविशेषादित्यर्थः। अविनाभावग्रहार्थं सामानाधिकरण्यापेक्षायां पक्षधर्मताया अपि आवश्यकत्वं तदवृत्तेस्तत्राकल्पकत्वादिति भावः। उपरि सवितेत्यादावपि भूमिः सन्निहितसवितृका आलोकवत्त्वादित्यादिना सामानाधिकरण्योपगमादिति भावः। यदि सामानाधिकरण्यं नोपेयं तदा यद् धूमवत्तद् वह्निमदित्यन्योन्याभावगर्भा, यत्र धूमस्तत्र वह्निरिति देशगर्भा, यदा धूमस्तदा वह्निरिति कालगर्भा च व्याप्तिः कथं गृह्येत इत्याह यद्यत्रेति।

प्रकाशः–न हि यद् येनावयविना न संसृष्टं तत् तदवयवसंसृष्टम्। अवयवावयविविधुरातीन्द्रियद्रव्यसंसर्गस्य च न विधिनिषेधवार्त्ता, उभयंत्र मानाभावादित्यर्थः। ननु जीविगृहाभावबहिःसत्त्वयोर्व्याप्तावपि जीविदेवदत्ताभावो गृहे वर्त्तमानो न बहिःसत्त्वे लिङ्गं, देवदत्तावृत्तित्वादित्यनुमानाद् भेदोऽर्थापत्तेः स्यादित्यत आह – न चेति। गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वस्य लिङ्गत्वात्तस्य च देवदत्तवृत्तितया पक्षधर्मत्वादित्यर्थः। अन्यथा बहिःसत्त्वगृहनिष्ठाभावयोर्व्यधिकरणत्वेन नियतसामानाधिकरण्यरूपाव्याप्तिरपि न स्यात्। उपरि सविता भूमेरालोकवत्त्वादित्यत्रापि भूमेरुपरि सन्निहितसवितृकत्वेनानुमानादित्याह – व्यधिकरणेनेति।

ननु गृहनिष्ठाभावाप्रतियोगित्वमपि न लिङ्गम्। प्रतियोगित्वस्य देवदत्तधर्मतया तदसन्निकर्षे प्रत्यक्षेण ज्ञातुमशक्यत्वात्। कथं वा प्रत्यक्षेण तृतीयलिङ्गपरामर्शः।

मकरन्दः– उभयत्रेति। यद्यप्येवं संशय इति न व्याप्तिनिश्चयः स्यात्, तथापि प्रत्यक्षाभावेऽप्यनुमानादपि तत्सम्भव इति भावः। व्याप्तावपीत्युपलक्षणं, तन्निश्चयेऽपीत्यपि बोध्यम्। उपरीति। तथा च तत्रापि सामानाधिकरण्यमेव व्याप्तिरित्यर्थः।

प्रमाणयोर्विरोधे अर्थापत्तिरविरोधोपपादिका, न त्वेवमनुमानमित्यपि नास्ति। विरोधे हि रज्जुसर्पादिवदेकस्य बाध एव स्यान्न तूभयोः प्रामाण्यम्।

आमोदः– ननु जीवी क्वचिदस्ति गेहे च नास्तीति प्रमाणयोर्विरोधज्ञानाद् बहिरस्तीति या कल्पना सा विरोधकरणिकार्थापत्तिरस्तु। न ह्यत्रानुपपत्तिज्ञानं तन्त्रम्, येन व्याप्तिज्ञानं स्यादित्यत आह **प्रमाणयोरिति**। यद्येते प्रमाणे तदा न विरोधः, यदि तु विरोधस्तदान्यतरत् प्रमाणमित्याह **विरोधे हीति**। अन्यथा वस्तु द्विरूपं स्यादिति

प्रकाशः– विशेष्यस्य देवदत्तस्यासन्निकर्षात्। व्यतिरेकव्याप्तिगृहनिष्ठाभावयोर्ज्ञानं सहकार्यासाद्य मनसैव लिङ्गपरामर्श इति चेन्न। अक्षादिवत्तयोर्मानान्तरत्वापातात्। अतीतानागतधूमादग्न्यनुमितिः कथम्? तत्रापि लिङ्गपरामर्शाभावादिति चेन्न। तत्रापि धूमज्ञानसहकृतादग्निं विना धूमोऽनुपपन्न इति ज्ञानत एवाग्निज्ञानात्, उक्तरीत्याऽनुमितिसामग्र्यभावात्। यत्र चानुपपत्तिज्ञानं विना तृतीयलिङ्गपरामर्शः तत्रैवानुमानात्। तस्माद्व्यतिरेकव्याप्तिमुपजीव्य व्यधिकरण एव जीविदेवदत्त गृहाभावो बहिःसत्त्वं कल्पयतीति।

मैवम्। देवदत्तासन्निकर्षेऽपि तस्य गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वज्ञानात्। तथाहि – गृहे देवदत्तस्याभाव इति प्रत्यक्षेण जायमानमभावज्ञानं, स्मृतदेवदत्तस्य प्रतियोगित्वमपि विषयीकरोति। प्रतियोगिना सममभावस्य सम्बन्धान्तराभावात्। गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वे च प्रत्यक्षोपस्थिते स्मृतव्याप्तिवैशिष्ट्यमपि प्रत्यक्षेण सुग्रहम्। न च देवदत्तविशेष्यकं बहिःसत्त्वव्याप्यगृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वज्ञानं नास्तीति कथं तद्विशेष्यिकानुमितिरिति वाच्यम्। पक्षवृत्तिलिङ्गपरामर्श मात्रस्यानुमितिहेतुत्वात्, पक्षविशेष्यकत्वस्य चातन्त्रत्वात्।

सम्प्रदायविदस्तु – अनतिप्रसक्तव्याप्त्यादिस्मृतिसहकृतान्मनस एव तत्र स्मृतदेवदत्तविशेष्यकस्तृतीयलिङ्गपरामर्शः। न च सहकारिणो मानान्तरताऽऽपत्तिः, निर्व्यापारत्वादित्याहुः।

जीवी क्वचिदस्तीति क्वचित्त्वेन गेहस्यापि विषयत्वात् पश्चाद् गेहे नास्तीत्यनयोर्गेहेऽस्ति नास्तीत्यत्रेव विरोधज्ञानं करणम्। क्वचिदित्यस्य गेहातिरिक्तविषयत्वकल्पनमविरोधापादकं फलम्। न चानुमानमत्र प्रभवतीति ततोऽर्थापत्तेर्भेद इति मतमुत्थाप्य निराकरोति – **प्रमाणयोरिति**। प्रमाणयोर्विरोधो वास्तवो वा, वस्तुतोऽविरोधेऽपि ज्ञायमानो वा?। तत्र नाद्य इत्याह **विरोधे हीति**। प्रामाण्ये वा उभयोर्वस्तुनोर्विरुद्धद्वैरूप्यापत्तिरिति भावः।

प्रामाण्ये वा न विरोधः। स्थूलमिदमेकमितिवत् सहसंभवात्। चैत्रोऽयमयं तु मैत्र इतिवद्वा विषयभेदात्। प्रकृते क्वाप्यस्तीति सामान्यतो गेहस्यापि प्रवेशादेकविषयताप्यस्तीति चेत्। यद्येवं क्वचिदस्ति क्वचिन्नास्तीतिवन्न विरोधः। अत्रापि विरोध एवेति चेत्, एकं तर्हि भज्येत। न भज्येत, अर्थापत्त्या उभयोरप्युपपादनादिति चेत्, किमनुपपद्यमानम्? विरोध एवान्यथानुपपद्यमानो विभिन्नविषयतया व्यवस्थापयतीति चेत्, अथाभिन्नविषयतयैव किं न व्यवस्थापयेत्? व्यवस्थापनमविरोधापादनम्।

आमोदः– भावः। नन्वत्र विषयभेदेऽपि चेत् प्रमाणयोः प्रवृत्तिस्तदा विरोध एवेत्यत आह प्रकृत इति। यद्येवमिति क्वचिदि'त्यनेन उभयत्रापि परस्परभिन्नस्यैव देशस्य विषयीकरणादित्यर्थः। न विरोध इति। वास्तवविरोधप्रतिसन्धाने सत्येवार्थापत्त्याऽविरोधेनोपपादनमित्यर्थः। तथाप्यर्थापत्तावनुपपद्यमानार्थज्ञान-मावश्यकमित्यभिप्रेत्याह किमिति। एष विषयताप्रतिसन्धानाधीनो विरोधो भिन्नविषयतया व्यवस्थापनाधियत इत्याह विरोध एवेति। गूढाभिसन्धिराह अथेति। वास्तवो विरोधो यथाभिन्नविषयतया प्रतिसन्धानाधीनो दुष्परिहरः, तथा भिन्नविषयतयापीति भावः। अभिन्नविषयतैव विरोधापादिका तत्कल्पना न तत्परीहारायेत्याशङ्कते व्यवस्थापनमिति।

प्रकाशः– स्थूलमिति। यथा घटे स्थौल्यैकत्वग्राहकमानयोर्न विरोधस्तथात्रापीत्यर्थः। अन्त्यं शङ्कते अत्रापीति। उक्तस्फोरणेन निराकरोति एकमिति। अर्थापत्त्येति। विषयभेदकल्पनेनेति शेषः। किमिति। अनुपपन्नतया ज्ञातस्यैवोपपादनादित्यर्थः। अथेति। विरोधज्ञानान्मानयोरविरोधकल्पनमेकविषयत्वेनैव किन्न क्रियते? कृतकत्वानित्यत्वयोरिव तेनापि विरोधव्यावृत्तेरुपलम्भादित्यर्थः। प्रमाणयोर्वैषयिक विरोधज्ञानं विषयभेदकल्पनया शाम्यति, विरोधप्रतिसन्धानस्य भावाभावग्राहक मानयोरेकविषयतयैवोपलम्भात्।

मकरन्दः– ननु स्थूलमिदमेकमित्येकत्वज्ञानमिति द्वितीयस्य प्रतियोगिनोऽभावादेव न विरोध इत्याशङ्क्याह यथेति। ननु प्रमाणद्वयविरोधज्ञानस्य करणत्वात् किमनुपपद्यमानमित्यसङ्गतमित्यत आह अनुपपन्नतयेति। तेनापीति। एकविषयत्वेनापीत्यर्थः। प्रमाणयोरिति। यत्र यत्र विरोधज्ञानं तयोस्तत्रैकविषयतयैव, यत्र वा वैषयिकविरोधज्ञानशान्तिस्तत्र विषयभेदकल्पनयैवेति व्याप्तिरेवेत्यनुमानादेव विषयभेदकल्पनापीति नार्थापत्तिरित्यर्थः।

एकविषयतयैव चानयोर्विरोधः। स कथं तयैव शमयितव्यः? न हि यो यद्विषमूर्च्छितः स तेनैवोत्थाप्यते इति चेत्, एकविषयतया अनयोर्विरोध इत्येतदेव कुतः? विभिन्नदेशस्वभावतयैव सर्वत्रोपलम्भादिति चेत्, नन्वियं व्याप्तिरेव। तथा च घट्टकुट्यां प्रभातमिति। धूमोऽपि वा अनुपपद्यमानतयैव वह्निं गमयेत्। न हि तेन विना असावुपपद्यते। विरोधोऽपि धूमाद्वह्निना भवितव्यम्, अनुपलब्धेश्च न भवितव्यमिति। तथा चानुपलब्धेरर्वाग्भागव्यवस्थापनं, धूमस्य च व्यवधानेनानुपलभ्य-वह्निविषयत्व-स्थितिरर्थापत्तिरिति कुतोऽनुमानम्? वह्निमानयमित्यनुमानं व्याप्तेः।

आमोदः–भिन्नविषयतया व्यवस्थापनमविरोधापादनं चेत्तदा वास्तवो मानयोर्विरोध एव नास्ति। क्वचिदस्ति इत्यस्य नेहातिरिक्तविषयमादाय पर्यवसितत्वादिति दोषेऽसावविरोधप्रतिसन्धानेऽपि व्याप्तिज्ञानमावश्यकमित्यत्राप्यनुमानप्रवेश एवेत्याशयेनाह **एकेति। घट्टकुट्यामि**'त्यादि स्फुटम्। **प्रसिद्धे वाप्यसौ सम** इति कारिकाप्रतीकं व्याचष्टे **धूमोऽपीति**। अनुपपत्तिकरणिकायामर्थापत्तावनुमानमन्तर्भाव्य विरोधकरणिकायामन्तर्भावयति **विरोधोऽपीति। अर्वाग्भागावस्थापनमिति**। वह्न्यभावस्येति शेषः। ननु पर्वते वह्निसंसर्गज्ञानमनुमितिः परभागावच्छेदेन पर्वते वह्निसंसर्गज्ञानं यत्र तत्र विरोधकरणिकाऽर्थापत्तिरेव। किं च यद्यनुमानं न प्रमाणं तदानुपलब्धेः प्रमाणस्य केन प्रमाणेन सह विरोधो वक्तव्य इत्याशङ्क्ते **वह्निमानयमिति**। अन्यथानुमानाभाव इत्यादि यदुक्तं तत्तावत् परिहरति **व्याप्तीति**। सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या वह्निमत्तया प्रत्यक्षेण पर्वतस्यापि विषयीकरणादित्यर्थः।

प्रकाशः– तथा च व्याप्तिज्ञानमावश्यकमित्याह – **नन्विति। घट्टकुट्यामिति**। व्याप्तिभिया विरोधे अविरोधापादनाकारगोपनेन पलायमानस्य व्याप्तावेव निपातादित्यर्थः। एवमनङ्गीकुर्वतः प्रसिद्धानुमानमर्थापत्तिरेवेति तद्विलोप इत्याह **धूमोऽपीति**।

तदेव स्पष्टयति **न हीति**। धूमाद् वह्निना भाव्यमित्यनेनानुपलब्धेर्विरोधस्तदा, यदि धूमो वह्न्यनुमापकः स्यान्नान्यथा। तथा च सिद्धमनुमानम्, देशभेदेन तयोरविरोधापादनमर्थापत्तिफलमेवेत्याह **वह्निमानयमिति**। नात्रानुमानेन सममनुपलब्धेर्विरोधः, किन्तु वह्निधूमव्याप्तिग्राहकमानेनेत्याह **व्याप्तीति**। यदि च सामान्यग्राहकमानस्य विशेषतोऽनुपलब्धिरबाधिका, तदा क्वचिदस्तीत्यस्यापि

अन्यथानुमानाभावे विरोधासिद्धेः। अर्वाग्भागानुपलब्धिविरोधेन परभागेऽस्य वह्निरित्यर्थापत्तिरेवेति चेन्न। व्याप्तिग्राहकेन प्रमाणेन विरोधस्योक्तत्वात्। नाप्युत्तरार्थापत्तिः। अन्यथा पाण्डरत्वस्याऽपालालत्वविरोधेन पालालत्वस्थितिरप्यर्थापत्तिरेव स्यात्। तद्विशिष्टस्य तेनैव व्याप्तेर्नैवमिति चेत्। यद्येवमर्वाग्भागानुपलभ्यमानवह्नित्वेन विशिष्टस्य धूमस्य तेनैव व्याप्तेः कथमेवं भविष्यतीति तुल्यम्।

आमोदः– विरोधकरणिकामिह परिहरति नापीति। अन्यथेति। यद्यपि वह्निमात्रे साध्ये पाण्डरत्वादि विशेषणत्वादाभासं पालालवह्नौ च साध्ये क्व विरोधकरणकत्वं, तथापि प्रतीयमानपाण्डरत्वेन धूममात्रेण पालालत्वविशिष्टवह्निसिद्धिः स्यादिति भावः। तद्विशिष्टस्येति। पाण्डरत्वविशिष्टस्येत्यर्थः। तेनैवेति। पालालत्व-विशिष्टवह्निनैवेत्यर्थः। तेनैवेति। परभागवर्तिवह्निनैवेत्यर्थः। अन्वयसहचार एव व्याप्तिग्राहको न तु व्यतिरेकसहचारोऽपीति केवलव्यतिरेक्यनुमानमेव न भवति किन्त्वर्थापत्तिः स इत्याह केवलेति।

प्रकाशः– गेहे नास्तीत्यनेन सह न विरोध इत्यर्थः। नापीति। अर्वाग्भागानुपलब्धि-विरोधेनेत्याद्युक्तरूपणेत्यर्थः। यदि च नैवं, तदा पाण्डरधूमस्यापालालवह्निविरोधात् पालालवह्निसिद्धिरप्यर्थापत्तिरेव स्यादित्याह अन्यथेति। तेनैव परभाग-वह्निनैवेत्यर्थः। ननु केवलव्यतिरेकिणि साध्यसाधनाभावयोर्व्याप्तिरन्वयस्य पक्षधर्मत्वमिति न व्याप्तस्य पक्षधर्मतेत्यनुमानाभावेऽर्थापत्तिः स्यादित्याह केवलेति। व्यतिरेकव्याप्तावपि पक्षधर्मस्यान्वयस्य गमकत्वम्। न चातिप्रसङ्गः।

मकरन्दः– सामान्येति। पर्वतो वह्निमानिति सामान्यतो ग्राहकस्येत्यर्थः। विशेषत इति। अर्वाग्भागावच्छेदेनेत्यर्थः। न विरोध इति। तथा च कुतस्तज्ज्ञानं करणमिति भावः। ननु वह्निमानयमित्यादि पूर्वपक्षे प्रथमं नार्थापत्त्यन्तरमुक्तं, तथा च नाप्युत्तरेत्यसङ्गतमत आह अर्वाग्भागेति। यदि चेति। यद्यपि प्रमाणयोरेव विरोधस्तथात्वेन पराभिप्रेतः। प्रकृते च न तथा, तथापि यत्रापि व्याप्तिस्तत्र मानान्तरकल्पने विरोधान्तरस्यापि तथात्वं स्यादित्याशयेन तदुक्तमिति ध्येयम्। तथा चार्थापत्तिकल्पितमित्यत एवकारो भिन्नक्रमः। तथा च तस्यां दशायां मानान्तराभावादर्थापत्तिकल्पितं जीवित्वमुपजीव्यैव लिङ्गविशेषणनिश्चयेऽनुमानाद् बहिःसत्त्वज्ञानं त्वयापि वाच्यम्, एवञ्चावश्यकतयार्थापत्त्यैव बहिःसत्त्व-निश्चयोऽस्तु, कृतमन्तरा जीवित्वनिश्चयेनेति तर्कशरीरमेवेदं द्रष्टव्यम्।

केवलव्यतिरेक्यनुमानं पराभिमतमर्थापत्तिरन्वयाभावादिति चेत्, एवमेतावता विशेषेणानुमानेऽर्थापत्तिव्यवहारं न वारयामः। तत्रानुमानव्यवहारः कुत इति चेत्, अविनाभूतलिङ्गसमुत्पन्नत्वात्। साध्यधर्मेण विना ह्यभवनमन्वयिन इव व्यतिरेकिणोऽप्यविशिष्टं, तन्निश्चयश्चान्वय-व्यतिरेकाभ्यामन्यतरेण वेति। तस्मादर्थापत्तिरित्यनुमानस्य पर्यायोऽयं, तद्विशेषवचनं वा पूर्ववदादिवदिति युक्तम्।१९।

आमोदः-कुत इति। साध्याप्रसिद्ध्या पक्षधर्मतोपनयनवैयर्थ्याद्यनुमान-वैधर्म्यादित्यर्थः। साध्यधर्मेणेति। अविनाभाव उभयत्रापि तुल्यः। स च क्वचिद् अन्वयमात्रादनौपाधिकात्, क्वचिदन्वयव्यतिरेकाभ्यां, क्वचिच्च व्यतिरेकमात्रादेव गृह्यत इत्यर्थः। उपसंहरति तस्मादिति। तद्विशेषवचनमिति। अनुमानविशेषवचनं, केवलव्यतिरेकवचनमिति यावत्। पूर्ववदादीति। यथा पारमर्षं सूत्रं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्चे'ति (न्या.सू. 1.1.5) विशेषाभिधानमित्यर्थः। चिन्तितमिति। 'योग्याऽदृष्टिः कुतोऽयोग्ये (न्या.कु. III.1) इत्यादिनेत्यर्थः। प्रसङ्गादाह न चेति।१९।

प्रकाशः- प्रतियोग्यनुयोगिभावस्य नियामकत्वात्। तथा चानुमितिसामग्र्यस्त्येव, परिभाषा त्वपर्यनुयोज्येत्याह एवमिति। वस्तुतो व्यतिरेकयोः सहचारादन्वययोरेव व्याप्तिः, प्रतियोग्यनुयोगिभावस्य नियामकत्वादिति व्याप्तस्य पक्षधर्मत्वमस्त्येवेति भावः। अन्यतरेण वेति। केवलान्वयिव्यतिरेकिणोरित्यर्थः।

ननु ज्योतिःशास्त्राद् देवदत्तस्य शतवर्षजीवित्वे ज्ञाते, अथ शतवर्षजीवी गृह एवेति नियमे प्रत्यक्षेण निश्चिते, पश्चाद् योग्यानुपलब्ध्या निश्चितो गृहाभावो जीवननियमग्राहकमानयोर्बलाबलानिरूपणाद् बहिःसत्त्वकल्पनां विना नियमद्वयविषयं संशयं जनयित्वा, जीवनसंशयमापाद्य, तदपनुत्तये जीवनोपपादकं बहिःसत्त्वं कल्पयति, यथोक्तसामग्र्यनन्तरं बहिरस्तीति प्रतीतेः। तत्रान्वय-व्यतिरेकाभ्यां जीवनसंशय एव करणम्। जीवित्वलिङ्गविशेषणसन्देहेऽनुमानाभावात्। यथोक्तसामग्रीप्रभवसंशयस्य च कल्पनाङ्गत्वात्र स्थाणुपुरुषसंशयस्य मृतजनिष्यमाणयोर्गृहाभावनिश्चयस्य च तादृशसंशयाजनकस्य नैककोटिनिर्वाह-

मकरन्दः- तेन संशयस्य बहिःसत्त्वकल्पकत्वादिति नोपसंहारविरोधः, न वा जीवित्व-स्यार्थापत्तिकल्पनोपवर्णनेऽपसिद्धान्त इति। जीवननियमेति। गृहे नास्त्येवेति नियमग्राहकमत्रोक्तम्। अत एव जीवनगृहाभावग्राहकयोरित्येव क्वचित् पाठः।।१९।।

प्रकाशः– बहिःसत्त्वकल्पकत्वम्।

अथ जीवननियमग्राहकमानयोस्तुल्यबलत्वज्ञाने विशेषादर्शनान्न बहिःसत्त्वकल्पना। एकस्य बलवत्त्वाज्ञाने च तेनान्यस्य बाध एवेति न संशयः। तस्माज्जीवनगृहाभावयोर्निश्चय एव बहिःसत्त्वं कल्प्यते, न तु जीवनसंशये इत्यनुमानादेव बहिःसत्त्वसिद्धिः।

तन्न। योग्यानुपलब्धिजनितो गृहाभावनिश्चयः सुदृढ इति जीवननियमग्राहक योरेकं बाध्यं, विरुद्धयोरमानत्वात्। तदिह मरणं कल्पयित्वा जीवनग्राहकं बाध्यतामुत बहिःसत्त्वं कल्पयित्वा नियमग्राहकम्?। तत्र बहिसत्त्वकल्पने गृहनियमग्राहक मात्रबाधा, मरणकल्पने तु शतवर्षजीवी देवदत्तः, शतवर्षजीवी गृहे एवेति नियमद्वयस्य बाधः स्यात्। तथा चार्थापत्तिकल्पितं जीवित्वमुपजीव्यानुमानादेव बहिःसत्त्वज्ञानं भविष्यतीत्येतावत्तर्कसहितस्य यथोक्तसामग्रीप्रभवसंशयस्य बहिःसत्त्वकल्पकत्वात्। न च तस्यां दशायां मानान्तरमस्ति, ततोऽर्थापत्तिसहकारित्वं तर्कस्य, यत्र च मृते गृहस्थिते वा तादृशसंशयाद्बहिःसत्त्वकल्पना,तत्र जीवननियमग्राहकयोरन्यतराभासत्वं, परोक्षज्ञानस्य जनकज्ञानाप्रमात्वेना प्रमात्वनियमात्।

अत्राहुः – देवदत्तो जीवनमरणान्यतरप्रतियोगी प्राणित्वादिति सामान्यतो दृष्टमभावरूपमरणापेक्षया जीवनं भावरूपं विषयीकरोति लाघवादिति तत्रैव लाघवं सहकारि। तथाहि – यथोक्तसंशयदशायां जीवनबाधे तन्नियमबाधस्यावश्यकत्वादिति तर्कानन्तरमेव बहिःसत्त्वज्ञानमित्यविवादम्। तत्र क्लृप्तप्रमाणभावे सामान्यतो दृष्ट एव लाघवं सहकारि, न तु कल्पनीयप्रमाणभावे यथोक्तसंशये, गौरवात्।

यच्चोक्तं – मरणकल्पने शतवर्षावच्छिन्नजीवी गृह एवेत्यस्यापि बाध इति। तत्र विशिष्टबाधो विशेष्यबाधात्, मरणेऽपि जीवी गृह एवेत्यस्य विशेष्यस्याबाधात्, किन्तु विशेषणबाधात्। स च शतवर्षजीवित्वबाध एव। विशेषणाभावायत्तो विशिष्टाभावोऽप्यस्तीति चेन्न। विशेष्यवति विशिष्टाभावस्य विशेषणाभावात्मकत्वादिति सङ्क्षेपः।

पूर्ववदादिवदिति। त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टम् (न्या.सू. १।१।५) इति सूत्रे पूर्ववदादिरनुमानविशेष उक्तः।१९।

अनुपलब्धिस्तु न बाधिकेति चिन्तितम्। न च प्रत्यक्षादेरतिरिच्यते। तदुच्यते –

प्रतिपत्तेरापारोक्ष्यादिन्द्रियस्यानुपक्षयात्।
अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः।।२०।।

या हि साक्षात्कारिणी प्रतीतिः सेन्द्रियकरणिका, यथा रूपादिप्रतीतिः। तथेह भूतले घटो नास्तीत्यपि। साक्षात्कारित्वमस्या असिद्धमिति चेन्न।

आमोदः– तदुच्यत इति। प्रत्यक्षाद्यनतिरेकित्वमुच्यत इत्यर्थः। विवादपदमनुपलब्धं ज्ञानं प्रत्यक्षम् इन्द्रियकरणकं वा अपरोक्षत्वात्, अन्यत्रानुपक्षीणेन्द्रियजन्यत्वात्। अज्ञातकरणत्वात् भावावेशाच्चेति। अस्मदादिराज्यानुभवस्य भावभूतकरणसहकृतमनोजन्मत्वनियमादित्यर्थः। अत्र प्रथमं हेतुं साधयति या हीति। नन्वपरोक्षत्वं साक्षात्त्वं तच्चासिद्धमिति शङ्कते साक्षादिति। परिहरति नेति।

प्रकाशः– अनुपलब्धिस्तु स्वरूपसती परमात्मनो योग्यत्वाभावान्न बाधिका, ज्ञाताऽप्यनुमानरूपतया न बाधिका, अनुमानबाधकत्वस्य निरस्तत्वादित्याह अनुपलब्धिस्त्विति। घटोपलम्भे घटाभावाज्ञानादनुपलब्धिरवश्यं हेतुरिति सैव करणमावश्यकत्वात्। न च प्रतियोग्यनुपलब्धिमात्रं न करणं, प्रतियोगिज्ञानस्याभाव धीहेतुत्वात्। नापि प्रतियोगिसत्त्वप्रमाविरहः, अत्यन्ताभावग्रहे तदप्रसिद्धेरिति वाच्यम्। यादृश्यास्तथेन्द्रियसहकारित्वम्, तादृश्याः करणत्वात्। न तु इन्द्रियमपि तत्करणं, गौरवादिति प्रसङ्गागतं निरस्यति न चेति। अभावस्य यथायथं प्रत्यक्षादि-गम्यत्वादित्यर्थः।

तत्र प्रत्यक्षगम्यत्वे मानमाह प्रतिपत्तेरिति। जन्यापरोक्षज्ञानस्येन्द्रिय जन्यत्वनियमादित्यर्थः। तत्र चान्वयव्यतिरेकितया योग्यानुपलब्धेः सहकारित्वं न निषिद्ध्यते इति भावः। इन्द्रियस्येत्यादि। इन्द्रियव्यापारस्यानन्यथा सिद्धत्वादज्ञातकरणजन्यज्ञानत्वाच्चेत्यर्थः। भावावेशाच्चेति। अस्मदादि बाह्यानुभवस्य भावभूतकरणसचिवमनोजन्यत्वनियमादित्यर्थः। इन्द्रियकरणिकेति। यद्यप्यत्र मनसा सिद्धसाधनम्। न चेन्द्रियत्वेन तज्जन्यत्वं साध्यम्। साक्षात्प्रतीति-करणस्यैवेन्द्रियतया तेनैव तदनवच्छेदादात्माश्रयात्। तथापि रूपाभावादि-प्रतीतेर्बहिरिन्द्रियान्तराजन्यबहिर्विषयकजन्यसाक्षात्कारित्वाच्चाक्षुषादित्वं साध्यमिति भावः। अनुपलब्धेरपि ज्ञातानुपलब्ध्यन्तरगम्यत्वेनानवस्थानात्

एकजातीयत्वे ज्ञाताज्ञातकरणत्वानुपपत्तेः। न हि तस्मिन्नेव कार्ये तदेव करणमेकदा ज्ञातमज्ञातञ्चैकदोपयुज्यते। लिङ्गेन्द्रिययोरपि व्यत्ययप्रसङ्गात्। ज्ञानस्याकारणत्वप्रसङ्गाच्च। न हि तदतिपत्यापि भवतस्तत्कारणत्वम्, व्याघातात्। तस्माज्ज्ञातानुपलब्धिजन्यस्या-साक्षात्कारित्वात्, तद्विपरीतकारणकमिदं तद्विपरीतजातीयमिति न्याय्यम्।

आमोदः– अभावं साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसायसत्त्वेऽपि गत्यन्तरमाह एकेति। एकजातीयमेवाभावज्ञानं ज्ञातयाऽनुपलब्ध्या क्वचिदनुपलब्ध्या च जन्यते इत्यज्ञातानुपलब्धिजन्यमभावज्ञानं साक्षात्कारिजातीयमिन्द्रियकरणकमेवेत्यर्थः। व्यत्ययेति। लिङ्गमज्ञातम् इन्द्रियं च ज्ञातं करणं स्यादित्येवमपि प्रसज्यत इत्यर्थः। ज्ञानस्येति। ज्ञातानुपलब्धिस्थले च स्वरूपसत्येव जनिका स्यात्। तथैव सामर्थ्योपलब्धेरित्यर्थः। न हीति। ज्ञानं विनापि चेदनुपलब्धं ज्ञानमङ्गीकृतं तदा ज्ञातत्वमनुपलब्धेरतन्त्रमेवेत्यर्थः। तद्विपरीतकारणकमिति। स्वरूपसदनुपलब्धि-जन्यमित्यर्थः। तद्विपरीतजातीयमिति। साक्षात्कारिजातीयमित्यर्थः। तथा च

प्रकाशः– क्वचिदज्ञातैव करणमुपेयेत्याशयेनाह एकेति। अज्ञातकरणकानुभवत्वं साक्षात्त्वव्यवस्थापकम्। अतः स्मृतेरज्ञातकरणकत्वेऽपि न तदिति भावः। यदि च नैवं, तदा लिङ्गमपि साक्षात्कारमिन्द्रियमप्यनुमितिं जनयेदित्याह लिङ्गेति। ज्ञातकरणकत्वं ज्ञानकरणकत्वं लिङ्गादेरजनकत्वादिति व्यभिचारादभावज्ञाने तत्करणं न स्यादित्याह ज्ञानस्येति। तद्विपरीतेति। अज्ञातयोग्यानुपलब्धिकरणकं साक्षात्कारजातीयमित्यर्थः।

मकरन्दः– नापीति। अधिकरणे इति शेषः। अत एवाह अत्यन्तेति। वायौ रूपात्यन्ताभावग्रहे अधिकरणे प्रतियोगिप्रमाऽसिद्धेत्यर्थः। गौरवादिति। उभयकारणकल्पने गौरवादित्यर्थः। साक्षादिति। तथा चेन्द्रियत्वं न साक्षात्प्रतीतौ कारणतावच्छेदकमात्माश्रयादिति तत्साधने बाध इति भावः। यद्यपि स्मृत्यजनकज्ञान कारणमनोयोगाश्रयत्वादिना तन्निर्वचने नोक्तदोषः, तथापि समाधिसौकर्य्यादाह तथापीति। अत्र रासनप्रत्यक्षे व्यभिचारवारणायाजन्यान्तम्। एतच्च रूपाभावबुद्धौ चाक्षुषत्वसाधने रसाभावबुद्धौ रासनत्वसाधने चाक्षुषप्रत्यक्ष एव तद्वारणाय तदित्यवधेयम्। अप्रसिद्धिवारणाय प्रथमबहिःपदम्। मनोमात्रकरणके व्यभिचारादाह बहिर्विषयकेति। ऐशे व्यभिचारादाह जन्येति। अनुमित्यादौ व्यभिचारादाह साक्षात्कारित्वादिति।

ननु क्व नाम ज्ञातानुपलब्धिरसाक्षात्कारिणीमभावप्रतीतिं जनयति? तद् यथा निपुणतरमनुसृतो मया मन्दिरे चैत्रो न चोपलब्ध इति श्रुत्वा श्रोताऽ नुमिनोति, नूनं नासीदेवेति। एतेन प्राङ्नास्तितापि व्याख्याता।

आमोदः– सिद्धमिन्द्रियकरणकत्वमिति भावः।

निपुणतरमिति। शब्दान्मैत्रानुपलब्धिज्ञानवतश्चैत्रस्य मैत्राभावानुमानमित्यर्थः। अनुमितिस्वरूपमाह **नूनमिति। एतेनेति** यत्रानुपलब्धिर्न शाब्दी किन्तु मैत्राभावं पृष्टः स्वयमेवानुपलब्धिं ज्ञात्वाऽनुमिनोति नासीत्तत्र चैत्र इति। अत्र हि स्मरणार्हस्य स्मरणाभावो लिङ्गं तेन प्राक्कालीना नास्तिता सिद्ध्यति। अत्राभावानुमितिकाले चैत्रस्य तत्र सत्त्वेऽपि न दोष इति भावः।

प्रकाशः– ननु प्राङ्नास्तितायामिन्द्रियं विनाप्यभावधीरिति व्यभिचारादिन्द्रियमकरणमित्यत आह **एतेनेति।** यथा शब्दावगतानुपलब्ध्या लिङ्गेनाभावानुमानं, तथा प्राङ्नास्तितास्थलेऽप्यभावधीर्लिङ्गजेत्यर्थः। ननु तत्रास्मरणं न लिङ्गं, न हि यावदनुभूतं तावदेव ग्रहणयोग्यमपि स्मर्यत एवेति नियम इति। मैत्रस्य तद्गेहसत्त्वेऽप्यननुभवात् संस्कारानुत्पादात्तदनुद्बोधाद् वा तदस्मरणस्योपपत्तेः। न, कश्चिद्विषयविशेष एव हि तादृशो यो गेहादिनिष्ठतया अनुभूयत एव, तदनुभवेन च संस्कारो जन्यत एव, स च न नश्यति। नापि तदुद्बोधकान्तरापेक्षा। विलक्षणविषयविशेषमाहात्म्यात्। यथा श्रीविश्वनाथायतने भगवन्तं श्रीविश्वनाथमनुभवतः, तथा मैत्रमपि प्रेष्ठम्। प्रयोगश्च–तद्गेहं तदा मैत्राभाववत् तत्तुल्यपरिमाणपटादिस्मरणेऽपि तद्वत्तया अस्मर्यमाणत्वात्, यदेवं तदेवं, यथा पटाभाववद् भूतलमिति। स्मरणाभावश्च संयुक्तविशेषणतया मनोवेद्य एवेति भावः। *केचित्तु* यत्र सामान्याभावेन लिङ्गेन विशेषाभावानुमानं, तत्र ज्ञातानुपलब्धिरनुमानाङ्गमिति तत्परोऽयं ग्रन्थ इत्याहुः।

ननु तथाप्यवान्तरजातिभेदोऽस्तु, अज्ञातानुपलब्धिजन्ये साक्षात्कारस्तु कुत इति चेत्, कारणविरोधात् कार्यविरोधेन भवितव्यमित्युक्तमेव। अनन्यत्रोपक्षीणेन्द्रियव्यापारानन्तरभावित्वाच्च। अधिकरणग्रहणे तदुपक्षीणमिति चेन्न।

आमोदः– ननु वा ज्ञातानुपलब्धिजन्ये ज्ञाने अनुपलब्धत्वं जात्यन्तरमेवास्तु, किं साक्षात्त्वेनेत्याशङ्कते **नन्विति**। पारोक्ष्यापारोक्ष्यलक्षणधर्मभेदश्चेत् कार्ये, तदा साक्षात्त्वमायातमित्यर्थः। न ह्यज्ञातकरणजन्यं ज्ञानं न साक्षात्कारीति सम्भवति। तथा च कारणविरोध एवेति भावः। द्वितीयं हेतुं विवृणोति **अन्यत्रेति**। इन्द्रियस्याधिकरणग्रहे उपक्षय इत्याह **अधिकरणेति**। परिहरति **नेति**। अधिकरणग्रहस्य प्रकृते जातत्वान्नीलघटे पीतरूपाभावोऽन्धेनापि गृह्येतेत्यर्थः।

प्रकाशः– ननु ज्ञातानुपलब्धेरसाक्षात्कारजनकत्वेऽप्यज्ञातानुपलब्धिजन्ये अवश्यं साक्षात्कारित्वमिति न नियमो वैजात्यान्तरेणाप्युपपत्तेरित्याह **नन्विति**। सर्वत्र असाक्षात्कारित्वस्य ज्ञायमानकरणजन्यत्वव्याप्तेस्तन्निवृत्तावसाक्षात्कारित्व व्यावृत्तेरवान्तरजातिः साक्षात्कारित्वमेवेत्याह **कारणेति**। न च साक्षात्कारित्व मिन्द्रियजन्यत्वप्रयुक्तमेवेति वाच्यम्। ज्ञातेन्द्रियसन्निकर्षजेन्द्रियगतिज्ञानस्य साक्षात्कारित्वप्रसङ्गात्। असाक्षात्कारित्वस्य च साक्षात्कारिभिन्नज्ञानरूपत्वात्। अनुभवत्वेन साङ्कर्यापत्त्या जातित्वाभावादिति भावः। न चेन्द्रियजत्वं साक्षात्कारित्वप्रयोजकं, प्रकृतेऽपि तत्त्वादित्याह **अनन्यत्रेति**।

मकरन्दः– न चोपनीतविषये मानसप्रत्यक्षे व्यभिचारः, जन्यपदेन लौकिकत्वस्य विवक्षितत्वात्। वस्तुतो बहिर्विषयकजन्येत्यत्र स्वार्थिककन्प्रत्ययाद्-बहिर्विषयजन्यत्वं विवक्षितम्, तस्य च विषयाजन्यत्वादिति। नन्वस्तु तर्हि सर्वत्र ज्ञातैवानुपलब्धिः करणमित्यत आह **अनुपलब्धेरपीति**। **सामान्याभावेन** उपलम्भसामान्याभावेन विशेषाभावानुमान-मित्यर्थः। **इन्द्रियजन्यत्वेति**। इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वेत्यर्थः। तेन नोत्तरविरोधः। इन्द्रियविशिष्टसन्निकर्षहेतुत्वे इन्द्रियहेतुत्वमपीति न विरोध इत्यन्ये। ज्ञायमानकरणत्वमाश्रित्याह **ज्ञातेन्द्रियेति**। चक्षुर्गतिमत् गतिशून्यसंयोगित्वादित्यनुमितेरित्यर्थः। नन्वेवमसाक्षात्कारित्वमपि तत्र न स्यादिन्द्रियसन्निकर्षान्यकरणस्य तत्र प्रयोजकत्वादित्यत आह **असाक्षात्कारित्वस्येति**। तथा च साक्षात्कारित्वप्रयोजकस्याज्ञात-करणत्वस्याभावादेव तत्र तदुपपद्यते

अन्धस्यापि त्वगिन्द्रियोपनीते घटादौ रूपविशेषाभावप्रतीतिप्रसङ्गात्। अस्ति हि तस्याधिकरणग्रहणम्, अस्ति च प्रतियोगिस्मरणम्, अस्ति च श्यामे रक्तत्वस्य योग्यस्याभावोऽनुपलब्धिश्च। अधिकरणग्राहकेन्द्रियग्राह्याभाववादिनोऽपि समानमेतदिति चेन्न। प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्योऽभाव इत्यभ्युपगमात्। ममापि प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियगृहीतेऽधिकरणे अनुपलब्धिः प्रमाणमित्यभ्युपगम इति चेन्न। वायौ त्वगिन्द्रियोपनीते रूपाभावप्रतीत्यनुदयप्रसङ्गात्। तथापि तत्तत्र सन्निकृष्टमिति चेत्,

---

आमोदः– कारणान्तरविलम्बोऽपि नात्रेत्याह **अस्ति हीति**। ननु तवापि त्वगिन्द्रियेण कथं तत्र न रूपाभावग्रह इति शङ्कते **ऽधिकरणेति**। परिहरति **नेति**। त्वगिन्द्रियं न रूपग्राहकमतो न तेन रूपाभावो गृह्यत इत्यर्थः। **ममापीति**। प्रकृते त्वगिन्द्रियं न रूपग्राहकमतो न तदुपनीतेऽधिकरणे रूपाभावग्रह इत्यर्थः। **वायाविति**। तत्र प्रतियोगिग्राहकेणेन्द्रियेणाधिकरणानुपस्थितेरित्यर्थः। ननु प्रतियोगिग्राहकमिन्द्रियं वायुसन्निकृष्टमेतावतैव तत्र रूपाभावोऽनुपलम्भेन गृह्यत इति शङ्कते **तथापीति**। अधिकरणसन्निकर्षमात्रेणाधिकरणग्रहोपक्षीणता न सम्भवति, अतस्तदभावग्राहकमेव वक्तव्यमित्यर्थः।

प्रकाशः– ननु प्रतियोगिज्ञानस्येवाश्रयज्ञानस्याप्यभावधीहेतुत्वमिति तत्रैवेन्द्रियमन्यथासिद्धमिति विशेषणासिद्धो हेतुरित्याह **अधिकरणेति**। अधिकरणधीरिन्द्रियव्यापारो न तया तदन्यथासिद्धम्। अन्यथा सन्निकर्षोपक्षीणमिन्द्रियं घटग्राहकमपि न स्यादित्याह **अन्धस्येति**। **ममापीति**। प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियेणाश्रयाग्रहे योग्यानुपलब्ध्या नाभावो गृह्यते। न चान्धस्य रूपग्राहकेन्द्रियेण पटादिग्रहः। अत एव चक्षुःसंयुक्ते पृथिवीपरमाणौ न जलत्वाद्यभावधीप्रसङ्ग इत्यर्थः। **वायाविति**। वायोः प्रतियोगिग्राहकचक्षुरग्राह्यत्वादित्यर्थः।

ननु यथा तव नीरूपो वायुरिति वायुविशेष्यिका धीरानुमानिकी विशेष्ययोग्यतामाश्रित्येन्द्रियाणां प्रवृत्तेः, तथा वायौ रूपाभावविशेष्यिकापि धीर्ज्ञातानुपलब्धिलिङ्गजन्यानुमितिरेव। तथा च या धीः साक्षात्कारित्वेन त्वदभिमता, तस्यामुक्ता सामग्रीति नोक्तदोषः। न चाभावज्ञानस्य साक्षात्कारित्वेनेन्द्रियजन्यत्वं, स्मृतिवत्तस्य परोक्षत्वात्। मैवम्, घटाभावबुद्धेरपि साक्षात्कारित्वेनाभिमताया योग्यानुपलब्धिलिङ्गजन्यत्वापत्तेः। यदि च लिङ्गाज्ञानेऽपि तदनुभवादज्ञातकरणिका

हन्तैवमनन्यत्र चरितार्थमिन्द्रियमवश्यमपेक्षणीयं रूपाभावानुभवेन।

स्यादेतत्, तथापि वस्त्वन्तरग्रह एव तस्योपयोग इति चेन्न। तस्य तं प्रत्यकारणत्वात्। कारणत्वे वा महान्धकारे करपरामर्शेन स्पर्शवद्द्रव्याभावं न प्रतीयात्। प्रतीयाच्च पुरोविस्फारिताक्षः पृष्ठलग्नस्याश्यामत्वम्। आर्जवावस्थानमप्यधिकरणस्योपयुज्यते इति चेत्,

---

आमोदः– तत्रान्यथासिद्धिं प्रकारान्तरेणाशङ्कते तथापीति। तस्येति। वस्त्वन्तर–ग्रहणस्य रूपाभावोपलम्भं प्रत्यनुपयोगात् न तेनान्यथासिद्धिरित्यर्थः। ननु वस्त्वन्तरग्रहणस्यापि कारणत्वं स्यादित्यत आह करणत्व इति। न प्रतीयादिति। तत्र वस्त्वन्तरस्य त्वगिन्द्रियेण ग्रहणादिति भावः। ननु तत्रापि स्पर्शवद्द्रव्याभावं चक्षुरेवं कथं न प्रत्येति इत्यत आह महान्धकार इति। इदं चक्षुःसामर्थ्या–भावबोधनाय। अन्यथा चक्षुषैव तत्राभावप्रत्यय इत्यस्यापि वक्तुं सुकरत्वादिति भावः। स्पर्शवदिति च त्वगिन्द्रिययोग्यताघटनाय। दोषान्तरमाह प्रतीयाच्चेति। **पुरोविस्फारिताक्ष इति।** 'वस्त्वन्तरग्रहणाय पृष्ठलग्नस्ये'त्यधिकरण–ग्रहणायाभिहितम्। शङ्कते आर्जवेति।

प्रकाशः–सा, तदा वायौ रूपाभाव इति धीरपि तथा। किञ्च वस्तुतो घटवत्युपलब्धि प्राक्कालेऽनुपलब्ध्या घटस्मृतिमतः कुतो नाभावधीः? घटाभावाभावादिति चेत्। हन्तैवमभावबुद्धेरर्थजन्यत्वात् प्रत्यक्षत्वसिद्धाविन्द्रियजत्वमेव। अपि च प्रतियोगिसत्त्वविरोधिनी याऽनुपलब्धिः, सैव योग्यानुपलब्धिः। अतो जलपरमाणौ गन्धाभावो न प्रत्यक्षः, प्रत्यक्षश्च वायौ रूपाभावः, रूपानुपलब्धिज्ञापकस्याभावात्। तल्लिङ्गत्वाभावं च स्वयमे*वाचार्यो* वक्ष्यति। तथापीति। चक्षुषा वायोरग्रहेऽपि चक्षुर्वायुसन्निकृष्टमेवेति नाश्रयग्रहे तदुपक्षीणमित्यर्थः।

नन्वाश्रयेत्यन्यमात्रोपलक्षणम्, अस्ति च वायुसन्निकृष्टस्येन्द्रियस्य तद्देशवृक्षादिप्रकाशकत्वमित्यन्यथासिद्धिरेवेत्याह स्यादेतदिति। अन्धस्यापि रूपाभावप्रतीत्यापत्त्या न तावदिन्द्रियमभावज्ञाने अकारणमेव, किन्तु कारणव्यापकत्वेन परम्पराकारणं मन्तव्यम्। तथा सत्याह तस्येति। तस्य वस्त्वन्तर ग्रहणस्य, तं प्रत्यभावानुभवं प्रतीत्यर्थः। न प्रतीयादिति। त्वगिन्द्रियेण वस्त्वन्तराग्रहादित्यर्थः। ननु प्रतीयत एवाकाशमत्रापि, तस्य तन्मते प्रत्यक्षत्वादित्यत आह प्रतीयाच्चेति। आर्जवावस्थितेऽप्यन्धकारे ज्ञानाभावादालोकसन्निकर्षोऽपि

तर्हि नयनसन्निकर्षोऽप्युपयोक्ष्यते। तदेकसहकारिप्रभासन्निकर्षापेक्षणात्। अन्यथा वातायनविवरविसारिकरपरामृष्टेऽप्यधिकरणे तदुपलम्भप्रसङ्गाच्च। तथापि योग्यतापादनोपक्षीणञ्चक्षुः। यदितरसामग्रीसाकल्ये ह्यनुपलभ्य

आमोदः– परिहरति तर्हीति। आर्जवावस्थानस्य सन्निकर्षमात्रफलकत्वादित्यर्थः। तदेकेति। अन्यथा विस्फारिताक्षस्य वस्त्वन्तरग्रहणमपि न स्यादित्यर्थः। आर्जवावस्थाने व्यभिचारमाह वातायनेति। तदुपलम्भेति। पीते घटे श्यामाभावोपलम्भप्रसङ्गादित्यर्थः। तथापीति। यद्यपि प्रकारान्तरोपक्षीणत्वमभावग्रहे नेन्द्रियस्य, तथापि तत्तद्व्याप्येतरयावत्तदुपलम्भकसामग्रीसमवधाने सत्यनुपलम्भो योग्यानुपलम्भः, स चाभावग्रहहेतुः। अयञ्चाधिकरणे यत्र तिष्ठति तत्राभावग्रहस्तथा चाधिकरणे

प्रकाशः– हेतुरेष्टव्यः, स च चक्षुषः सहकारी नान्यस्येति सिद्धं चक्षुः करणमित्यभि–प्रेत्याह नयनेति। अथार्जवावस्थानेऽपि नालोकसन्निकर्षपेक्षा, तत्राह वातायनेति। तदुपलम्भप्रसङ्गाद्रूपाभावोपलम्भप्रसङ्गादित्यर्थः। चक्षुषा यत्किञ्चिदुपलम्भस्य तत्रापि सम्भवादिति भावः। नन्विति। तथात्वे वा सहकार्युच्छेदापत्तिः। वस्तुतः प्रतियोगिसत्त्वविरोधित्वमनुपलब्धेर्योग्यत्वं, तत्र न चक्षुरुपक्षय इति भावः।

मकरन्दः–इति भावः। ननु परोक्षत्वमसाक्षात्कारित्वमित्येकं, तच्च जातिरूपं, न तूक्तोपाधिरूपमित्यत आह **अनुभवत्वेनेति**। स्मृतेरपि परोक्षत्वादिति भावः। एतच्चोपलक्षणम्– तज्जातित्वेऽपि ज्ञायमानकरणप्रयोज्यत्वाभ्युपगमे गत्यनुमितौ तदुपपद्यत एवेत्यपि बोध्यम्। **न चेति**। इन्द्रियत्वेनेन्द्रियजन्यत्वमित्यर्थः। तथा चेन्द्रियाजन्यतया असाक्षात्कारित्वमिति भावः। अत्रासिद्धिमाह **प्रकृतेऽपीति**। तत्त्वादिन्द्रियजन्यत्वादित्यर्थः। अन्यथा यथाश्रुते विरोधापत्तेः। ननु वायोरतीन्द्रियतया त्वगिन्द्रियोपनीत इत्ययुक्तमत आह **वायोरिति**। **तथा चेति**। यद्यपि वायौ रूपाभावविशेष्यिका धीः साक्षात्कारित्वेन त्वदभिमतैव तत्र च नोक्ता सामग्री, तथापि साक्षात्कारित्वेन त्वदभिमतेत्यस्याज्ञातानुपलब्धिजन्यत्वेनोभयसिद्धेत्यर्थ इति वयम्। अन्यथा तु चिन्त्यम्। साक्षात्कारित्वेनेति *स्वमते*। **यदि चेति**। तथा च तत्र त्वदुक्तानुपलब्धिवैकल्यादनन्यगत्या इन्द्रियग्राह्य एवाभाव इति भावः। युक्त्यन्तरमाह **किञ्चेति**। **प्रत्यक्षश्चेति**। यद्यप्येवं स्वरूपसदनुपलब्धिग्राह्यत्वमात्रं सिध्यति, तथापि पूर्वोक्तयुक्त्यवष्टम्भेन प्रत्यक्षत्वमुक्तमिति ध्येयम्। **चक्षुषेति**। तथा च प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियेणाधिकरण–

मानस्याभावो निश्चीयते। तच्च चक्षुष्यधिकरणसन्निकृष्टे सति स्यादिति चेत्, ननु परिपूर्णानि कारणान्येव साकल्यम्। तथा च किं कुत्रोपक्षीणम्? अथान्योन्यमेलकं मिथः प्रत्यासत्त्यादिशब्दवाच्यं तदुपक्षयः, न तर्हि क्वचिच्चक्षुः कारणं स्यादिति। न हि रूपाद्युपलब्धिमप्य सन्निकृष्टमेतदुपजनयति। अथाधिकरणसमवेतकिञ्चिदुपलम्भोऽपि तद्विषयाभावग्रहेऽनुपलब्धेरपेक्षणीयः। ततस्तत्रेदं चरितार्थम्। वाय्वादिषु तु रूपाद्यभावप्रतीतिरानुमानिकी।

तथा हि – अनुपलब्ध्या ह्यनुमीयते, अयं नीरूपो वायुरिति। न, असिद्धेः। न ह्युपलम्भाभावो भवतामभावोपलम्भः, उपलम्भस्या-

---

आमोदः– इन्द्रियसम्बन्धो योग्यताघटकत्वेनोपक्षीणो न स्वतन्त्र इत्यर्थः। **नन्विति**। एवं सतीन्द्रियसन्निकर्षोऽभावग्रहकारणमित्यायातमित्यर्थः। ननु कारणमेलकं घटयति चक्षुर्न तु कारणमपीत्याह **अथेति**। एवमन्यत्रापि रूपादिग्रहे चक्षुः कारणं न स्यात्, मेलकघटकतयैवान्यथासिद्धेः। एतदेवाह **न हीति**। ननु वातायनादावार्जवावस्थानसत्त्वेऽपि अधिकरणवृत्तिधर्मस्य चक्षुषा ग्रहणान्नाभावो गृह्यते, तस्य तत्र सहकारित्वस्य वक्तव्यत्वात्। तथा च चक्षुस्तत्रैवोपक्षीणमित्याह **अथेति**। नन्वेवं वायावपि रूपाभावो न गृह्यते, चक्षुषा तद्वृत्तिधर्मान्तरग्रहात् इत्यत आह **वाय्यादिष्विति**। तत्रानुपलब्धिः प्रमाणमेव न भवति किन्त्वनुमानमेवेत्यर्थः। **असिद्धेरिति**। ज्ञायमानानुपलम्भो लिङ्गं तज्ज्ञानं च दुरुपपादमित्यर्थः।

प्रकाशः– **न हीति**। विषयप्रत्यासत्ताविन्द्रियान्यथासिद्ध्या क्वचिदपि इन्द्रियं करणं न स्यात्। अप्रत्यासन्नस्याजनकत्वादित्यर्थः। **तद्विषयेति**। अधिकरणनिष्ठाभावग्रहे इत्यर्थः। **वाय्वादिष्विति**। चक्षुःसन्निकृष्टे वायौ चक्षुषा तद्धर्माग्रहे वायौ रूपाभावधीर्नाध्यक्षा, किन्त्वनुमितिरिति नेयं तत्र सामग्रीत्यर्थः। असिद्धिमेवोपपादयति **न हीति**। वायौ रूपाभावधीर्नानुपलब्धिलिङ्गजन्या, अनुपलब्धेरज्ञानात्, आप्तवाक्यस्यापि तद्बोधकस्याभावात्। न चोपलब्धेरनुपलब्धिरज्ञातैव तद्बाधिका। उपलब्धेरतीन्द्रियत्वेन

मकरन्दः– सन्निकर्ष एवानुपलब्धिसहकारी स च तत्रास्त्येवेति भावः। **अकारणमेव** अप्रयोजकमेवेत्यर्थः। **परम्पराकारणं** कारणकारणम्। **तथात्वे वेति**। कारणचक्रस्य साकल्योपक्षयाभ्युपगमे दण्डचक्रादेरपि तथात्वे घटाद्यहेतुत्वपत्तिरित्यर्थः। तथा च योग्यताघटकतयाऽवश्यापेक्षणीयस्यान्यत्रानुपक्षीणस्येन्द्रियस्याभावग्राहकत्वं

तीन्द्रियत्वाभ्युपगमात्। प्राकट्याभावेनानुमेय इति चेन्न। वायौ रूपवत्ताप्राकट्याभावस्याप्यसिद्धेः। रूपाभावेन समानत्वात्। व्यवहाराभावेनानुमेय इति चेन्न। कायवाग्व्यापाराभावेऽप्युपेक्षाज्ञानाभावाभ्युपगमात्। मूकस्वप्नोपपत्तेश्च। न च व्यवहाराभाव-मात्रेणानुमातुमपि शक्यते, अनैकान्तिकत्वादसिद्धेश्च। तद्विषयस्तु

आमोदः- ननु वायू रूपवत्तया नानुपलम्भविषयः, ताद्रूप्येण प्राकट्याभाववत्त्वात् इत्यनुमानमुपलम्भे स्यादित्याह प्राकट्येति। रूपवत्ताप्राकट्यस्यापि अभावो वायुधर्मिको दुर्ग्रह एव इत्याह वायाविति। प्राकट्यं ज्ञातता। रूपाभावेनेति। प्राकट्याभाववत् रूपाभाव एव कुतो न गृह्यत इत्यर्थः। ज्ञानाभावानुमाने हेत्वन्तरमाह व्यवहाराभावेनेति। अत्र व्यवहारविशेषाभिप्रायेणैकान्तिकत्वमाह कायेति। ननु व्यवहारमात्राभावो लिङ्गं स्यादत आह न चेति। स्वीयव्यवहाराभावोऽनैकान्तिकः सकलव्यवहाराभावश्चासिद्ध इत्यर्थः। ननु स्वकीयरूपवत्ताभावः स्वकीयरूपवत्ताव्यवहारा-भावेनानुमेयस्तत्र च उपेक्षणीयज्ञानेऽनैकान्तिकत्वे सत्येवाह तद्विषय इति।

प्रकाशः- योग्यानुपलम्भेनानुपलब्ध्यभावस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। अनुपलब्धिमात्रस्य चाभावाग्राहकत्वादित्यर्थः। उपलम्भकार्यज्ञातताया अभावेनोपलम्भाभावोऽनुमीयते इत्याह प्राकट्येति। वायौ रूपाभाववद्रूपप्राकट्याभावस्यापि दुर्ग्रहत्वं, यदि च स योग्यानुपलब्धिगम्यस्तर्हि रूपाभावोऽपि तथाभ्युपेयस्तुल्ययोगक्षेमत्वादित्याह वायाविति। रूपज्ञानाभावे लिङ्गान्तरमाह व्यवहारेति। दृश्यमानो व्यवहाराभावो लिङ्गं, व्यवहारसामान्याभावो वा?। नाद्यः, अनैकान्तिकत्वादित्याह कायेति। अन्त्येऽपि यदि स्वकीयव्यवहारमात्राभावस्तदानैकान्तिकम्। सर्वस्य तु तदभावो ग्रहीतुमशक्य इत्याह न चेति।

ननु अनुपेक्षणीयविषयकः स्वकीयरूपवत्ताज्ञानाभावस्तद्विषयकस्वकीय रूपवद्व्यवहाराभावेनानुमेय इत्यत आह तद्विषयस्त्विति।

मकरन्दः- सिद्धमिति भावः। उपलम्भेति। उपलभ्यस्य ज्ञाततायां चरमकारण-त्वात्तदभावेन तदभावोऽनुमीयते इत्यर्थः। प्राकट्याभावलिङ्गत्वभ्रमं वारयति रूपज्ञानाभाव इति। न चेत्यग्रिमग्रन्थेन गतार्थत्वात् कायेऽत्यादि व्यर्थमिति विकल्पयति दृश्यमान इति। ननु व्यवहारसामान्याभावस्य क्वाप्यसिद्धेर-नैकान्तिकत्वमसिद्धमिति विकल्प्य योजयति अन्त्येऽपीति।

व्यवहारस्तद्विषयज्ञानजन्यो वा? तद्विषयज्ञानजनको वा? तदाश्रयधर्मजनको वा? तदभावश्च तज्ज्ञानतदाश्रयधर्माभावान्तर्भूत एवेत्यशक्यनिश्चय एव। आत्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। न चाज्ञातस्योपलम्भाद्यभावस्य लिङ्गता। न च प्राकट्याभावः

आमोदः– तत्राद्ययोस्तद्विषयकज्ञानाभावान्तर्भूतत्वेन साध्याविशेष एव। अन्त्ये तदाश्रयो धर्मो ज्ञातता, तदभावस्तदन्तर्भूत इति दुर्ग्रह एवेत्युक्तम्। आत्माश्रयेति। व्यवहाराभावान्तर्गतस्तद्विषयकज्ञानाभावः। तेनैव तदनुमानं चेत्, तदाऽत्माश्रयः। तेन व्यवहाराभावो, व्यवहाराभावेन च तद्विषयकज्ञानाभाव एव चेदनुमेयस्तदा अन्योन्याश्रयः। ज्ञानाभावेन प्राकट्याभावः। तेन च व्यवहाराभावः, व्यवहाराभावेन च ज्ञानाभाव एव चेदनुमेयस्तदा चक्रकमित्यर्थः। न चेति। तथा चातिप्रसङ्ग इत्यर्थः। न च प्राकट्याभाव इति। तस्यैवं स्वभावकल्पने मानाभाव इति

प्रकाशः– तदभावश्चेति। आद्ययोर्ज्ञानाभावान्तर्भूतः, अन्त्ये तदाश्रयधर्माभावान्तर्भूत एवेत्यर्थः। **आत्माश्रयेति।** यदि तद्विषयकज्ञानाभावेनैव तद्विषयकज्ञानाभावोऽनुमेयस्तदात्माश्रयः। अथ तद्विषयकज्ञानाभावात् तद्विषयकव्यवहाराभावज्ञानं, तद्विषयकव्यवहाराभावेन च तद्विषयकज्ञानाभावज्ञानं, तदान्योन्याश्रयः। अथ तद्विषयकज्ञानाभावात् तद्विषयकव्यवहाराभावज्ञानं, तद्विषयकज्ञानाभावश्च तद्विषयकप्राकट्याभावात्। स च तद्विषयकज्ञानाभावात्, तर्हि चक्रकमित्यर्थः।

नन्वन्येषामज्ञातानामलिङ्गत्वेऽपि प्राकट्याभावः सत्तयैव ज्ञानाभावं गमयिष्यति। न चायोग्यप्रतियोगिकत्वेनायोग्योऽस्याभाव इति वाच्यम्। अनुपलब्धेरेव तद्विशेषणवत्त्वादित्यत आह **न चेति।** स हि व्याप्तिबलेन वा प्रतिपादयेल्लिङ्गाभावत्वमात्रेण वा, कार्याभावमात्रतया वा? तत्र न मध्यमान्तिमावित्याह **लिङ्गाभावस्येति।** धूमाभावस्यापि सत्तया गमकत्वापातादित्यर्थः।

मकरन्दः– आद्ययोरिति। यद्यपि व्यवहाराभावो न ज्ञानाभावान्तर्भूतस्तस्य ततोऽन्यत्वात्। तथापि ज्ञानाभावेनैव सोऽप्यनुमेयस्तज्ज्ञानञ्चात्माश्रयादिनाऽसम्भवीति व्यवहाराभावोऽशक्य निश्चयः। एवञ्च **तदाश्रयधर्म्माभावस्तद्विषय**प्राकट्याभावः, तस्यापि तदनुमापकत्वे चक्रकादिना सोऽशक्यनिश्चय इत्यत्र तात्पर्यम्। ज्ञानाभावान्तर्भूतो ज्ञानघटितप्रतियोगिकतया ज्ञानाभाववदतीन्द्रिय इत्यर्थः। **ज्ञानाभावश्चेति।** तज्ज्ञानमित्यर्थः। यद्वा अनुमेय इतिपूर्वोक्तमनुषञ्जनीयम्। **अनुपलब्धेरेवेति।** प्राकट्याभावस्त्वयोग्यमपि गमयिष्यतीत्यर्थः।

सत्तामात्रेणोपलम्भाभावमावेदयतीति युक्तम्, लिङ्गाभावस्य तथात्वेऽतिप्रसङ्गात्। अविनाभावबलेन तु नियमे तत्प्रतिसन्धानापत्तेः। न ह्यविनाभावः सत्तामात्रेण ज्ञानहेतुं नियमयति, धूमादावपि तथाभावप्रसङ्गादिति। ज्ञानप्रत्यक्षत्वेन त्वद्दिशा भविष्यतीति चेन्न। शब्दध्वंसादिनोक्तोत्तरत्वात्।

अपि च प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियेणाधिकरणधर्मप्रतीतिरनुपलब्धेरङ्गमिति। तद्रहितायास्तस्याः कार्यव्यभिचाराद्व्यवस्थाप्येत, व्याप्तिबलाद्वा? न तावदुक्तरूपानुपलब्धिस्तां विना अभावप्रत्ययमजनयन्ती दृश्यते। नापि व्याप्तेः। तथा सति वायौ रूपाभावप्रत्ययस्तामाक्षिपेत्, एवम्भूतत्वात्। अनाक्षेपे वा, न तत्कारणको भेवत्, न वा भवेत्।

आमोदः- भावः। एतदेव विशदयति लिङ्गेति। स्वरूपतोलिङ्गाभावेन यत्र कुत्रचिद् वह्न्यनुमानप्रसङ्गात्। यद्वा, समव्याप्तिस्थले लिङ्गाभावोऽपि साध्याभावबोधक इति प्रकृतानुरूपमिति भावः। अविज्ञानभावोऽपि तत्र बलं(?) ज्ञात एव वाच्योऽन्यथानुमानाभासानवकाशोऽतिप्रसङ्गश्चेत्याह अविनाभावेति। ननु ज्ञानं योग्यमस्तु तदभावं योग्यानुपलम्भेन स्वरूपसत्तां गृहीत्वा तेन रूपाभावो वायावनुमीयतामित्याह ज्ञानेति। त्वद्दिशेत्यपसिद्धान्तवारणाय। शब्दध्वंसादीति। पक्षादिविकल्पग्रस्तत्वादिति भावः। अधिकरणागतधर्मान्तरग्रहे चक्षुरन्यथासिद्धमिति यदुक्तं तत्प्रकारान्तरेण दूषयति अपि चेति। तामिति। अधिकरणवृत्ति-धर्मप्रतीतिमित्यर्थः। तथा सतीति। रूपाभावप्रतीतिस्तावदुभय-सिद्धव्याप्तिश्चेत्तदाधिकरणवृत्तिधर्मान्तरप्रतीतिं सैवाक्षिपेदित्यर्थः। यदि नाक्षिपेत् तदा कारणमेव न स्यादथवा रूपाभावप्रतीतिरेव न स्यादित्याह अनाक्षेप इति।

प्रकाशः- आद्यमाशङ्क्य निराकरोति अविनाभावेति। न ह्युपलम्भाभावो भवताम-भावोपलम्भ इत्यत्र शङ्कते ज्ञानेति। प्रत्यक्षेण ज्ञानाभावं ज्ञात्वा तस्माल्लिङ्गाद्वायौ रूपाभावानुमानं स्यादित्यर्थः। मन्मते प्रतियोगिमत्तयाऽनुपलम्भाद्वायौ रूपाभावः प्रत्यक्षत्वान्नानुमेयः। शब्दाभावप्रत्यक्षत्वव्यवस्थापनया आश्रययोग्यता-यास्तद्धर्मग्रहस्य चाभावप्रत्यक्षताऽङ्गत्वनिरासादिति परिहरति शब्देति। व्याप्तिबलाद्वेति। कार्यकारणभावस्य व्याप्तिविशेषत्वेन गोवृषन्यायात् तां विना या व्याप्तिस्तद्बलादित्यर्थः। तां विनेति। अधिकरणवृत्तिधर्मप्रतीतिं विनेत्यर्थः। एवम्भूतत्वाद् व्याप्यत्वादित्यर्थः। अनाक्षेपे वेति।

ततो न भवत्येव, लिङ्गात्तदुत्पत्तिरिति चेत्, ननु लिङ्गमपि सैव, न तत्त्वान्तरम्। यथा योनिसम्बन्धोऽलिङ्गदशायामिन्द्रियसन्निकर्षमपेक्षते, लिङ्गदशायां तु तदनपेक्ष एव ब्राह्मण्यज्ञाने। तथैतत् स्यादिति चेन्न। कार्यजातिभेदात्तदुपपत्तेः। प्रकृते च तदनभ्युपगमात्। पारोक्ष्यापारोक्ष्ये विहायान्यथाप्यसौ भविष्यतीति चेन्न, अनुपलम्भात्। सम्भाव्यते तावदिति चेत्, सम्भाव्यतां, न त्वेतावताऽपि तमाश्रित्य करणनियमनिश्चयः।

आमोदः- तत इति। स्वरूपसदनुपलब्धेरित्यर्थः। लिङ्गादिति। ज्ञायमानानुपलब्धे-रित्यर्थः। सैवेति। अनुपलब्धिरेवेत्यर्थः। तद्ग्रहानुपपत्तिश्चोक्तेति भावः। यथेति। विशुद्धमानापि(?) नृयोनिजत्वं स्वरूपसत् प्रत्यक्षसहकारि ज्ञातं तु लिङ्गं यथा त्वयोच्यते तथानुपलब्धिरपि ज्ञाता चाज्ञाता भावधियं जनयेदित्यर्थः। कार्येति। दृष्टान्ते साक्षात्त्वमनुमितित्वं जातिभेदोऽस्ति। प्रकृते तु नास्तीत्यर्थः। अन्यथापीति। पारोक्ष्यमनुपलब्धं च जातिभेदः प्रकृतेऽपीति शङ्कते पारोक्ष्येति। अनुपलम्भादिति। वायौ रूपाभावग्रहे भूतले घटाद्यभावग्रहे च साक्षात्त्वस्यैवोपलम्भात्। वैजात्यस्यानुपलम्भादित्यर्थः। करणेति। एकत्र ज्ञाताऽन्यत्राज्ञाताऽनुपलब्धिः

प्रकाशः- अधिकरणवृत्तिधर्मप्रतीत्यनाक्षेपे वा नाभावधीस्तद्धेतुका तद्व्याप्या वा। तथात्वे वा हेतुं विना व्यापकं विना वा न भवेदित्यर्थः। ततः अधिकरणधर्मप्रतीतित इत्यर्थः। सैव - अनुपलब्धिरेवेत्यर्थः। यथेति। यथा विशुद्धमातापितृयोनिजत्वं लिङ्गालिङ्गदशायामिन्द्रियसम्बन्धनिरपेक्षसापेक्षं, तथानुपलब्धिरपि स्यादित्यर्थः। कार्येति। दृष्टान्तस्य तत्सापेक्षस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वं तन्निरपेक्षस्य च परोक्षज्ञानजनकत्वम्। अत्र तु लिङ्गानुपलब्धिजन्याभावज्ञाने जातिभेदाभावाल्लिङ्गजानुमितौ व्यभिचारात्सा कारणं न स्यात्। तद्वदपरोक्ष-जात्यङ्गीकारे च तत्रेन्द्रियजन्यत्वमावश्यकमित्यर्थः। न च जातिं विनापि व्याप्त्यादिज्ञानविनाकृतानुपलब्धिजन्याभावज्ञाने सा कारणमिति वाच्यम्। अनुपलब्धिजन्यज्ञानत्वेनैव तल्लिङ्गकानुमितिवद्विवादपदेऽपि तदकारणत्वानुमानात्। इन्द्रियान्यथासिद्धेर्निरासादिति भावः। सम्भाव्यतामिति। कार्यजातिसम्भावनया तज्जातीयनियतस्य कारणत्वसम्भावनायामपि तत्रानिश्चयादित्यर्थः।

मकरन्दः- सैवेति। तच्च दूषितमिति भावः। तथेति। अनुपलब्धिरप्यधि-करणधर्म्मज्ञाननिरपेक्षसापेक्षा स्यादित्यर्थः।

अज्ञातकरणत्वाच्च। यदज्ञायमानकरणजं ज्ञानं तत्साक्षादिन्द्रियजं, यथा रूपप्रत्यक्षम्। तथा चेह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानमिति। यथा वा स्मरणमज्ञायमानकरणजं साक्षान्मनोजन्म। कुतस्तर्हि न साक्षात्कार्यनुभव रूपम्? संस्कारातिरिक्तसन्निकर्षाभावादिति वक्ष्यामः।

आमोदः–करणमिति वैजात्यमन्तरेण व्यवस्थापयितुमशक्यमित्यर्थः। अभावज्ञानस्य इन्द्रियकरणकत्वे साध्ये कारिकया संगृहीतम् **अज्ञातकरणत्वादिति**। हेतुं विवृणोति **अज्ञातेति। यदज्ञायमानेति।** ज्ञायमानकरणाजन्यं यदज्ञायमानकरणजन्यं तत् साक्षादिन्द्रियजमिति व्याप्तिः। तेनाज्ञायमानमनोजन्यानुमित्यादौ न व्यभिचार इति भावः। **कुतस्तर्हीति।** साक्षान्मनोजन्यत्वे स्मृतिरपि साक्षात्कारिणी स्यादित्यर्थः। **संस्कारेति।** स्मृतौ संयुक्तसमवेतविशेषणतासंस्कारद्वारैव मनःप्रत्यासत्तिरित्यर्थः। प्रत्यभिज्ञा तु चक्षुरादिसन्निकर्षजन्या तन्नाशेऽपि संयुक्तविशेषणतायाः प्रत्यासत्तेः सत्त्वात्। असन्निकृष्टैव वा तन्नाभासते। न हि यावत्प्रत्येतव्येन्द्रियसन्निकर्षः

प्रकाशः- **यदज्ञायमानेति।** नन्विदमनुमित्यादावनैकान्तिकं तस्याज्ञायमानमनःकरणकत्वात्। न च ज्ञायमानकरणजन्यत्वं लिङ्गं, लिङ्गादेरजनकतया तज्ज्ञानस्याज्ञायमानस्यैव करणत्वात्। नापि ज्ञानासाधारणकारणकत्वाभावो लिङ्गम्, अभावज्ञाने प्रतियोग्यादिज्ञानजन्यतया तदसिद्धेः। सविकल्पकमात्रस्यैव विशेषणज्ञानजन्यत्वाच्च। मैवम्। लिङ्गादिज्ञानाजन्यानुभवत्वस्य लिङ्गत्वात्। **साक्षादिति,** मनसा व्यवहितव्यापारेण सिद्धसाधननिरासार्थम्, उपनीतभाननिरासार्थं वा। **कुत इति।** साक्षादिन्द्रियसन्निकर्षजन्यस्य प्रत्यक्षत्वव्याप्तत्वादित्यर्थः। **संस्कारेति।** संस्कारान्यः सन्निकर्षः प्रत्यक्षत्वप्रयोजकः, स्मरणे तु स एव सन्निकर्षः। प्रत्यभिज्ञाने तु तत्ता स्मृत्युपनीता भासते, न तु संस्कारस्तत्सन्निकर्षः। तज्जन्यत्वे स्मृतित्वापत्तेरित्यर्थः।

मकरन्दः- **लिङ्गादीति।** अत्रानुभवपदं व्यर्थं स्मरणस्यापि दृष्टान्तत्वेन साध्यवत्त्वाभ्युपगमात्। अत एव *परिमले* ज्ञानत्वस्येति पाठ इति वदन्ति। वस्तुतो यथाश्रुतसाध्ये मनसैव सिद्धसाधनप्रसङ्गान्मनोभिन्नेन्द्रियजत्वमिन्द्रियत्वेनेन्द्रियजत्वं वा तदर्थः। तथा च स्मरणे व्यभिचारादनुभवपदमिति। द्वितीयदृष्टान्तेऽनुशयप्रकाश एवायं *प्रकाशकृत* इति प्रतिभाति। अत एवाह **साक्षादिति।** यद्यप्यात्ममनोयोगलक्षणतद्व्यापारस्य न व्यवधानमन्यथा चक्षुरादावपि तथात्वेन बाधापत्तेः, तथापि निरुक्त एव तात्पर्य्यम्। यथाश्रुतमभिप्रेत्याह **साक्षादिति।**

तथापि भावविषये इयं व्यवस्था, अभावज्ञानं त्वज्ञातकरणत्वेऽपि न साक्षादिन्द्रियजं भविष्यतीति चेन्न। उत्सर्गस्य बाधकाभावेन सङ्कोचानुपपत्तेः। अन्यथा सर्वव्याप्तीनां भावमात्रविषयत्वप्रसङ्गोऽविशेषात्। तथापि विपक्षे किं बाधकमिति चेत्, नन्विदमेव तावत्। अन्यदप्युच्यमानमाकर्णय। तद् यथा – अकारणककार्यप्रसङ्गो, रूपाद्युपलब्धीनामपि वानिन्द्रियकरणत्वप्रसङ्गः।

आमोदः– कारणमिति *टीकाकृ*दभिधानादिति भावः। **इयमिति।** यदज्ञातकरणकं तत् साक्षात्कारीति व्यवस्थेत्यर्थः। **उत्सर्गस्येति।** भावाभावसाधारणव्यवस्थायां बाधकाभावादित्यर्थः। **अन्यथेति।** कार्यं सकारणकमेवेत्यादिव्याप्तीनामपि इत्यर्थः। तथा च तद्ध्वंसेऽपि कारणापेक्षा न स्यादिति भावः। **विपक्ष इति।** अभावज्ञानमज्ञातकरणजमप्यस्तु, साक्षात्कारि च न स्यादित्यत्र किं बाधकमित्यर्थः। **ननु इदमेवेति।** निर्बीजशङ्कयाप्यनौपाधिकत्वभङ्गप्रसङ्ग एवेत्यर्थः। उत्सर्गस्य बाधकं विनाप्यपवादप्रसङ्गश्चेति वार्थः। **अकारणकेति।** अज्ञातकारकं ज्ञानमिन्द्रियमन्तरेण भवत् कारणं विनैव स्यादित्यर्थः। **रूपादीति।** एवं रूपाद्युपलब्धावपीन्द्रियं करणं न स्यादित्यर्थः। तस्मादनुपलभ्यमान–करणकज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रत्येवेन्द्रियजत्वकल्पनमावश्यकं, तथा

प्रकाशः–**तथापीति।** विपक्षे बाधकाभावादित्यर्थः। न च भावविषय–त्वमुपाधिः, अभावज्ञानेऽपि प्रतियोग्यादिभावविषयतया साधनव्यापकत्वात्। नाप्यभावाविषयत्वं, अभावस्मरणे साध्याव्यापकत्वात्। **उत्सर्गस्येति।** सामान्यत एव व्याप्तिर्भाव विषयत्वस्य गुरुत्वादित्यर्थः। तथाप्युत्सर्गस्य बाध्यत्वशङ्कानिवारकं किमित्याह, **तथापीति।** निर्बीजतादृशशङ्कायां सर्वत्र सामान्यव्याप्त्युच्छेद इत्याह **नन्विदमिति।** उत्सर्गस्य बाधकं विनेत्याद्येवेत्यर्थः। **अकारणकेति।** अज्ञातकरणकत्वावच्छिन्नज्ञानं प्रतीन्द्रियस्य करणत्वादिन्द्रियं विना तन्न स्यादित्यर्थः।

मकरन्दः– **विपक्ष इति।** तथा चाप्रयोजकत्वपरोऽयं ग्रन्थ इत्यर्थः। भावविषयत्वोपाधिपरस्तु नेत्याह **न चेति।** न त्वित्यर्थः। इत्यर्थ इति शेषः, भावाभावविषयतयेति यदि पाठः, क्व चित्तदाऽभावपदं सम्पातायातम्। **अभावस्मरण इति।** एतच्च यथाश्रुते। वस्तुत उपनीताभावप्रत्यक्षे तथात्वम्। अदृष्टादिना अर्थान्तरादाह **लिङ्गादिति।**

न ह्यनुमित्यादिभिरुपलभ्यमानकरणिकाभिश्चक्षुरादिव्यवस्थापनम्। अपि त्वनुपलभ्यमानकरणिकाभी रूपाद्युपलब्धिभिरेव। यद्यपि साक्षात्कारितापि तत्रैव पर्यवस्यति, तथापि प्रथमतोऽनुपलभ्यमानकरणत्वमेव प्रयोजकं चक्षुरादिकल्पने। न ह्युपलभ्यमाने करणान्तरे साक्षात्कारिणीष्वपि तासु चक्षुराद्यनुपलभ्यमानं कश्चिदकल्पयिष्यत्। अत एव साक्षात्कारित्वेऽपि स्मृतेर्मन एव करणमुपागमन् धीराः। संस्कारस्त्वर्थविशेष प्रत्यासत्तावुपयुज्यते, इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वव्यवस्थापनात्।

आमोदः- चाज्ञातानुपलब्धिजन्यमभावज्ञानमपि तथा स्यादित्याह न हीत्यादि। नन्वनुपलभ्यमानकरणत्वं नेन्द्रियकल्पने तन्त्रं, किन्तु साक्षात्कारित्वं, तच्चानुपलभ्यमानानुपलब्धिजन्याभावज्ञाने नास्तीति तत्रेन्द्रियजन्यत्वं न स्यादित्याह यद्यपीतिं। तत्रैवेति। इन्द्रियकल्पन एवेत्यर्थः। तथापीति। उपलभ्यमान-करणस्थलेऽनुपलभ्यमानस्य करणस्य केनाप्यकल्पनादनुपलभ्य-मानकरणकत्वमेवेन्द्रियकल्पकमित्यर्थः। नन्वनुपलभ्यमानकरणकत्वेन चेदिन्द्रियजन्यत्वं साक्षात्त्वं वा, तदा स्मृतिरपि तथा स्यादित्यत आह अत एवेति। इन्द्रियजन्यत्वं तु तत्रास्त्येव, न तु साक्षात्त्वं तत्तु मनसः, षोढाप्रत्यासत्तिविरहादिति भावः। ननु संस्कारस्तत्र न कुतः करणमत आह संस्कारस्त्विति। निर्व्यापारत्वेन तस्याकरणत्वादिति भावः। ननु मनोजन्यायां स्मृतौ संस्कारः किमिति कल्प्यत इत्यत आह इन्द्रियाणामिति। ननु षोढाप्रत्यासत्तिविरहेऽप्यलौकिकप्रत्यक्षत्वं स्मृतौ स्यादिति चेन्न, इन्द्रियजत्वेऽपि स्मृतौ जनकत्वावच्छेदकं नेन्द्रियत्वं, किन्तु मनस्त्वमिति न साक्षात्त्वं तत्रेति भावः।

प्रकाशः- न हीति। ज्ञातकरणकज्ञानेन करणतया नेन्द्रियं कल्प्यते, किन्त्वज्ञातकरणज्ञानेनेत्यर्थः। ननु नाज्ञायमानकरणकज्ञानत्वेन चक्षुरादिकल्पनम्, अपि तु साक्षात्कारिज्ञानत्वेनेत्यत आह यद्यपीति। तत्रैव इन्द्रियकरणकत्व एवेत्यर्थः। यदि च साक्षात्कारिज्ञानमेवेन्द्रियसिद्धौ मानं स्यात्, तदा स्मृतेस्तदभावान्मनःकरणत्वं नानुमीयेतेत्याह अत एवेति। न चैवं स्मृतेः साक्षात्कारित्वापत्तिः। संस्कारातिरिक्तसन्निकर्षाभावादित्युक्तत्वात्। ननु स्मृतौ संस्कार एव कुतो न करणमित्यत आह संस्कारस्त्विति। इन्द्रियाणामप्राप्तानां ज्ञानाजनकत्वात्, संस्कारस्य च निर्व्यापारत्वेनाकरणत्वादित्यर्थः।

भावावेशाच्च चेतसः। सर्वत्र हि बाह्यार्थानुभवे जनयितव्ये भावभूतप्रमाणाविष्टमेव चेत् उपयुज्यते, नातोऽन्यथेति व्याप्तिः। तथैव शक्तेरवधारणात्। न ह्यनुपलब्धिमात्रसहायं तदभावेऽप्यनुभव माधातुमुत्सहते। शब्दलिङ्गादेरपेक्षादर्शनात्। न च यत्र यदपेक्षं यस्य जनकत्वमुपलब्धं, तदेव तस्यैव तदनपेक्षं जनकमिति न्यायसहम्। आर्द्रेन्धनसंबन्धमन्तरेणापि दहनात् धूमसम्भावनापत्तेः। तथा च गतं कार्यकारणभावपरिग्रहव्यसनेन।२०।

आमोदः- भावावेशादिति। भावस्यासाधारणकरणस्यावेशः प्रवेश इत्यर्थः। तथा च बहिः प्रमायां मनसो भावरूपकरण-सहकारित्वनियमस्य दृष्टत्वादिन्द्रिय-लिङ्गसादृश्येष्वपि तदेव कल्पनीयमिति भावः। एवं च घटाभावो भूतल इत्यभावप्रमा मनोभिन्नभावरूपकरणजन्यप्रमात्वान्मतवत् इत्यनुमानादिन्द्रियकरणत्वसिद्धिः। तदेवाह **सर्वत्र हीति।** आविष्टं सहकृतं कथमेवमत आह **तथैवेति।** अवधारणस्थलमाह **न हीति।** तदिति। मन इत्यर्थः। ननु शाब्दज्ञानादौ मनसो भावसहकारित्वमस्तु, अभावप्रमान्तु भावनिरपेक्षमनुपलब्धिमात्रसहायं जनयतु, को दोष इत्यत आह **न चेति।** यत्र यस्य यत्सहकारि तन्निरपेक्षेणापि तज्जातीयजन्यजनकविप्लव इत्यर्थः।

प्रकाशः- भावावेशादिति। भावरूपासाधारणकारणसाहित्यनियमादित्यर्थः। तथा चाभावप्रमायां मनो भावभूतासाधारणकारणसहकृतमेव करणमिति भावः। प्रयोगश्च लिङ्गाद्यजन्या अभावप्रमा भावभूताऽसाधारणकरणसहकृतमनोजन्या अस्मदाद्यभाव-प्रमात्वात् लिङ्गादिजन्याभावप्रमावदिति। अत एव भावप्रमायां तथात्वेऽप्यभाव-प्रमायां योग्यानुपलब्धिमात्रापेक्षं मनः करणं स्याद् विपक्षे बाधकाभावादित्यपि निरस्तमित्याह न हीति। न च भावत्वमतन्त्रं गौरवात्, अन्यथा लिङ्गाद्यपि तत्र

मकरन्दः- एतच्चानुमित्याद्यंशे सिद्धसाधनवारणाय। घटादिप्रमांशे तद्वारणायाभावेति। स्मृत्यंशे बाधवारणायाह **प्रमेति।** अनुपलब्ध्या अर्थान्तरादाह **भावेति।** शरीरादिनार्थान्तरादाह **असाधारणेति।** प्रतियोगिज्ञानादिनार्थान्तरादाह **करणेति।** अनुभवकरणेत्यर्थः। अन्यथा पक्षे हेतौ च प्रमात्वपर्य्यन्तस्य वैयर्थ्यापत्तेः। यदि च कारणेति पाठः, तदापि तत्रैव तात्पर्य्यम्। ईश्वरप्रमायां व्यभिचारादाह **अस्मदादीति।** सुखाद्यभावप्रमायां व्यभिचारादाह **अभावेति।** बाह्याभावेत्यर्थः। प्रमापदं स्मृतौ व्यभिचारवारणाय अनुभवपरं, भ्रमेऽपि साध्यसत्वात्।२०।

अपि च –

प्रतियोगिनि सामर्थ्याद्व्यापाराव्यवधानतः।
अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणामिन्द्रियाणि विकल्पनात्।।२१।।

यद्धि प्रमाणं यद्भावावगाहि, तत् तदभावावगाहि, यथा लिङ्गं शब्दो

आमोदः– तथा च बहिः प्रमात्वावच्छेदेनैव भावसापेक्षत्वमित्यर्थः। यद्यपि परामृष्यमाणलिङ्गकरणतापक्षेऽभावस्यापि सहकारित्वं, तथापि भावघटितकरणसापेक्षत्वमित्यर्थः। प्रकृते परामृष्यताघटितत्वान्न दोषः। अनुपलब्धिस्तु न परामृष्यताघटितेति न सा कारणमिति भावः।।२०।।

किञ्चाभावप्रमायामिन्द्रियाण्येव करणमित्याह **प्रतियोगिनीति।** अधिकरणग्रहे च नेन्द्रियमन्यथासिद्धमित्याह **व्यापारेति। अक्षाश्रयत्वादिति।** येन दुष्टेन यदप्रमा जन्यते तेनैवादुष्टेन तत्प्रमापीत्यन्यत्र दृष्टमिह च इन्द्रियमेव दुष्टमभावाप्रमाजनकमनुपलब्धेर्दोषाभावात्। तथा चाभावप्रमापि तेनैव जननीयेत्यर्थः। इन्द्रियाणि करणमिति शेषः। **विकल्पनादिति।** घटाभाववद् भूतलमिति विशिष्टज्ञानस्य भावविषयत्वेनानुपलब्धिजन्यत्वाभावादिन्द्रियमेव करणं वाच्यम्। तथा चाभावांशेऽपि तदेव करणमित्यर्थः।

यद्धीति। उपमानभिन्नमिति शेषः। तेनोपमानेन व्यभिचारः। घटाद्यभावावगाहि चेन्द्रियमित्युपनयः। तस्मात्तदभावावगाहीति निगमनं बोध्यम्।

प्रकाशः– मानं न स्यादिन्द्रियसहकृतस्यैव मनसो बाह्यानुभावकत्वादिति वाच्यम्। वायौ रूपाभावबुद्धेरनुपलब्धिकरणत्वाभावव्यवस्थापनेन गौरवस्यापि न्याय्यत्वादिति भावः।२०।

प्रतियोगिनीति। इन्द्रियाणीति धर्मिनिर्देशः, करणमिति साध्यं, प्रकरणात्। प्रतियोगि ग्राहकं मानं तदभावग्राहकमपि। यथा लिङ्गाद्यतीन्द्रियभावग्राहकमभावधीकरणमित्यर्थः। ननु प्रतियोगिग्राहकत्वमतन्त्रम्, अनन्यथा-सिद्धत्वस्योपाधित्वात्। इन्द्रियं त्वाश्रयग्रहे अन्यथासिद्धमित्यत आह **व्यापारेति।** अभावभ्रमस्य दुष्टकरणजन्यत्वादनुपलब्धेश्च स्वरूपतो दुष्टत्वाभावात् पित्तादिना दुष्टमिन्द्रियं तत्करणमित्याह **अक्षेति।** किञ्चाधिकरणाभावयोर्विशिष्टधीर्नेन्द्रियजन्या अभावबुद्धित्वात्, नानुपलब्धिजन्या भावबुद्धित्वात्, नोभयजन्या जातिसङ्कर प्रसङ्गादित्युभयग्राहकमिन्द्रियं मन्तव्यमित्याह **विकल्पनादिति।**

यद्धीति। ननु न व्यक्तिगर्भोऽयं नियमः। भावग्राहकलिङ्गादिव्यक्तेरेवा

वा। घटाद्यवगाहि चेन्द्रियमिति। अन्यथा हि शब्दादिकमपि नाभावमावेदयेत्, भाव एव सामर्थ्यावधारणात्। न चैवमेव न्याय्यम्। 'देवदत्तो गेहे नास्ती'ति शब्दात्, मया तत्र जिज्ञासमानेनापि न दृष्टो मैत्र इत्यवगतानुपलब्ध्याऽनुमानादप्यवगतेः। ग्राहयतु वाश्रयमिन्द्रियम्। तथापि न तेनेदं व्यवधीयते, व्यापारत्वात्। अन्यथा सर्वसविकल्पकानां प्रत्यक्षत्वाय दत्तो जलाञ्जलिः स्यात्।

नन्वेवं सति धूमोपलम्भोऽप्यस्य व्यापारः स्यात्। तथा च गतमनुमानेनापीति चेन्न। यया क्रियया विना यस्य यत्कारणत्वं न निर्वहति, तं प्रति तस्या एव व्यापारत्वात्। न च धूमाद्युपलब्धिमन्तरेण चक्षुषो वह्निज्ञानकारणत्वं न निर्वहति, संयोगवदिति।

आमोदः– अन्यथा हीति। तत्रापि प्रमाणान्तरं कल्पनीयं स्यादित्यर्थः। न चैवमेवेति। शब्दादीनामभावाग्राहकत्वमेवेत्यर्थः। ग्राहयतु वेत्यनास्थायाम्, अधिकरण–साहित्येनैवाभावग्रहणान्नाधिकरणग्रहपुरःसरमेवाभावज्ञानमिति भावः। अन्यथा इन्द्रियसन्निकर्षेण निर्विकल्पकेन वा व्यवहितमिन्द्रियमपि सविकल्पकं न जनयेदित्याह अन्यथेति। धूमोपलम्भ इति। तृतीयलिङ्गपरामर्श इत्यर्थः। अस्येति। चक्षुष इत्यर्थः। लिङ्गपरामर्षो न चक्षुर्व्यापारः, तेन विनापि इन्द्रियेण लैङ्गिकज्ञानजननादित्याह ययेति। क्रियापदं व्यापारपरम्। संयोगवदिति। व्यतिरेकदृष्टान्तः। इन्द्रियसंयोगवदित्यर्थः। तन्तुसंयोगवदिति वा।

प्रकाशः– भावाग्राहकत्वात्। नापि तज्जातीयं तथा, उपमाने व्यभिचारात्, सुरभि चन्दनमितिवदुपनीताभावभानेन सिद्धसाधानञ्च। मैवम्। चक्षुष्ट्वादिकमभाव ग्राहकवृत्ति भावग्राहकवृत्तिजातित्वात् शब्दत्ववत्। उपमानत्वञ्च न जातिः, योगजधर्माजन्यजन्यस्वविषयकसविकल्पकाजन्यसामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्य जन्यजन्याभावप्रमित्यसाधारणकारणतावच्छेदकं चात्र साध्यं विवक्षितमिति नोपनीताभावभानेन सिद्धसाधनमित्याशयात्। अन्यथेति। इन्द्रियस्य निर्विकल्पके नान्यथासिद्धेरित्यर्थः। नन्वेवमिति। वह्न्यनुमितावपि धूमज्ञानं चक्षुषो व्यापार एवेति नानुमानसम्भव इत्यर्थः। क्रियया व्यापारेणेत्यर्थः। संयोगवदिति, व्यतिरेकदृष्टान्तः। यथा संयोगं व्यापारं विना चक्षुषो वह्निसाक्षात्कारकरणत्वं न निर्वहति, न तथा धूमपरामर्शं विनेत्यर्थः। न च वह्निज्ञानमात्रे तस्य व्यापारत्वाभावेऽपि वह्न्यनुमितौ व्यापारत्वं स्यादिति वाच्यम्। शाब्दलिङ्गपरामर्शादपि वह्न्यनुमानादिति भावः।

अस्ति च भावाभावविपर्ययः। सोऽयं यस्य दोषमनुविधत्ते, तदेवात्र करणमिति न्याय्यम्। न चानुपलब्धिः स्वभावतो दुष्टा, नाप्यधिकरणग्रहणं प्रतियोगिस्मरणं वा स्वभावतो दुष्टम्। अनुत्पत्तिदशायामनुत्पत्ते रुत्पत्तिदशायाञ्च स्वार्थप्रकाशनस्वभावताया अपरावृत्तेः। असंसृष्टयोर धिकरणप्रतियोगिनोः संसृष्टतया प्रतिभानं दुष्टम्। संसृष्टयोश्चासंसृष्टतयेति चेत्, नन्वयमेव विपर्ययः। तथा च आत्माश्रयो दोषः। तस्मात्, दुष्टेन्द्रियस्य तद्विपर्ययसामर्थ्ये अदुष्टस्य तत्समीचीनज्ञानसामर्थ्यमपि। तथा च प्रयोगः – इन्द्रियमभावप्रमाकरणं, तद्विपर्ययकरणत्वात्। यत् यद्विपर्ययकरणं तत् तत्प्रमाकरणं, यथा रूपप्रमाकरणं चक्षुरिति।

आमोदः– अक्षाश्रयत्वादिति व्याचष्टे **अस्ति चेति**। अनुपलब्धिरेव दुष्टा स्यादित्याह **न चेति**। **स्वभावत इति**। इन्द्रियगतदोषद्वारा तु दुष्टैवेत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि। न च चक्षुर्गतपित्तादिसहकारितैवानुपलब्धेर्दुष्टत्वमिति वाच्यम्। विवादपदमभावभ्रम इन्द्रियजन्यः लिङ्गाभासाद्यजन्यभ्रमत्वादित्यत्र तात्पर्यात्। **अनुत्पत्तीति**। अभावादेव तदा दुष्टत्वाभावादित्यर्थः। **उत्पत्तीति**। स्वार्थविषयकस्य तदानपायात् क्व दुष्टत्वमित्यर्थः। अभाववति भावविपर्ययमधिकृत्य दोषमाह **असंसृष्टयोरिति**। भाववत्यभावविपर्यये दुष्टत्वमाह **संसृष्टयोरिति**। **नन्विति**। सम्बोधने प्रतिभासनमिह विपर्ययः। न च स एव दोषः सन् आत्मानमपि जनयतीत्यर्थः। स्वाभिमतमुपसंहरति **तस्मादिति**। **अभावप्रमाकरणमिति**। विवादाध्यासिताभावप्रमाकरणमित्यर्थः। अतो न भागबाधः। **यद्यदिति** दोषस्य करणत्वाभावान्न तेन व्यभिचार इति भावः।

प्रकाशः– **न चेति**। न चानुपलब्धेर्लिङ्गाभासादिवद् दोषस्वभावत्वाभावेऽपि पित्तादिदोष साहित्यमेवेन्द्रियस्येव दुष्टत्वं स्यादिति वाच्यम्। लिङ्गाभासाद्यजन्य-भ्रमत्वेन इन्द्रियकरणकत्वानुमानादित्यर्थात्। **अनुत्पत्तीति**। अधिकरणादि-ज्ञानाभावकाले स्वाभावादेव दुष्टत्वाभावात्, तदुत्पत्तिकाले तु स्वार्थविषयत्वम-बाधितमेवेत्यर्थः। **आत्माश्रय इति**। दोषाद् भ्रमो भ्रमस्यैव दोषत्वमिति। तस्मादेव स स्यादित्यात्माश्रय इत्यर्थः। **तद्विपर्य्ययेति**। न च यद् यद्विपर्ययजनकं तत्तत्प्रमाजनकमिति पित्तादिदोषेऽनैकान्तिकम्। इन्द्रियत्वेन दोषान्यत्वेन वा हेतुविशेषणात्। किं प्रमाणयोः समाहारः, समाहृतयोर्वा प्रामाण्यम्? तत्र नाद्य इत्याह **विषयभेदे इति**। भिन्नभिन्नप्रमाजनकत्वेन तयोः पर्यवसितयोः प्रमान्तरजनकत्वानुपपत्तेरित्यर्थः।

विकल्पनात् खल्वपि। 'अघटं भूतलमि'ति हि विशिष्ट धीरवश्यमिन्द्रियकरणिका स्वीकर्तव्या, प्रमाणान्तरं वा सप्तममास्थेयम्। यथा हि, विशेष्यमात्रोपक्षीणमिन्द्रियमकरणमत्र, तथा विशेषणमात्रोपक्षीणा अनुपलब्धिरपि न करणं स्यात्। स्वस्वविषयमात्रप्रवृत्तयोः प्रमाणयोः समाहारः कारणमिति चेन्न। विषयभेदे फलवैजात्ये च तदनुपपत्तेः। न हि मृत्सु तन्तुषु च व्याप्रियमाणयोः कुलालकुविन्दयोः समाहारः स्यात्। नापि घटपटादिकारिणां चक्रवेमादीनां समाहारः क्वचिदुपयुज्यते। तत्र कर्बुरकार्याभावान्न तथा। प्रकृते तु विशिष्टप्रत्ययस्य परोक्षापरोक्षरूपस्य दर्शनात्तथेति चेन्न। विरुद्धजातिसमावेशाभावात्। भावे वा करम्बित एव कार्ये द्वयोरपि शक्तिरभ्युपगन्तव्या, दर्शनबलात्। न हि नियतविषयेण सामर्थ्येन कर्बुरकार्यसिद्धिः, अन्यत्रापि तथाप्रसङ्गात्। ननूभयोरप्युभयत्र

आमोदः– इदं खल्वपीति निपातसमुदाय उदाह्रियत इत्यर्थे। अघटमिति। भावविशेष्यका अभावविशेषणिका धीरित्यर्थः। यथेति। इन्द्रियानुपलम्भयोः प्रत्येक-मात्रसामर्थ्यादित्यर्थः। नन्विन्द्रियसंस्कारयोर्यथा प्रत्यभिज्ञानजनकत्वं तथेहेन्द्रियानुपलम्भयोः स्यादित्याह स्वस्वेति। विषयभेद इति। घटयोर्भावाभाव-मात्रविषयपर्यवसन्नत्वात् न विशिष्टावगाहनसामर्थ्यमित्यर्थः। फलभेद इति। इन्द्रियस्यापरोक्षज्ञानं फलम्, अनुपलब्धेस्तु परोक्षमित्यर्थः। प्रत्यभिज्ञाने तु संस्कारस्य करणत्वाभावादिन्द्रियस्यैव करणत्वमतः सर्वांशे साक्षात्कारित्वम्। तत्त्वांशे च इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतैव प्रत्यासत्तिरिति भावः। विषयभेदोदाहरणमाह मृदिति। फलभेदोदाहरणमाह घटेति। तत्रेति। अकर्बुरत्वं घटपटात्मकस्य कार्यस्य, प्रकृते तु कर्बुरत्वमेवेत्याह प्रकृत इति। अत्रापि न कर्बुरत्वं बाधादित्याह विरुद्धेति। अभ्युपेत्याह भावे वेति। तथा च अभावांशेऽपि चक्षुषः सामर्थ्यं त्वयावगतमिति सिद्धं समीहितमित्यर्थः। अन्यत्रापीति। घटपटादावपीत्यर्थः। कोऽर्थ इति। केवलेनेन्द्रियेणानुपलम्भेनैव वा विशिष्टप्रत्ययसम्भवादित्यर्थः। तत्सहितस्यैवेति। अनुपलब्धिसहितस्यैवेन्द्रियस्य विशिष्टबुद्धौ सामर्थ्यादित्यर्थः।

प्रकाशः– विषयभेदफलभेदयोः क्रमेण समाहाराभावमुदाहरति न हीति। तत्रेति। इन्द्रियजन्यत्वेन साक्षात्कारित्वे सत्यनुपलब्धिकरणकत्वेन परोक्षत्वे कर्बुरत्वमित्यर्थः। अन्त्ये त्वभावज्ञानेऽपीन्द्रियस्य सामर्थ्यं सिद्धमित्याह भावे वेति। अन्यत्रापीति। घटपटसामग्रीतोऽपि करम्बितकार्यं स्यादित्यर्थः।

सामर्थ्ये कोऽर्थो मिथः सन्निधानेनेति चेन्न। तत्सहितस्यैव तस्य तत्र सामर्थ्यादिति। एतेन 'सुरभि चन्दनमि'त्यादयो व्याख्याताः। तथा चाभावविषयेऽपीन्द्रियसामर्थ्यस्य दुरपह्नवत्वादलमसद्ग्रहेणेति।२१।

स्यादेतत्, नागृहीते विशेषणे विशिष्टबुद्धिरुदेति, तत्कार्यत्वात्। न च विशिष्टसामर्थ्ये केवलविशेषणेऽपि सामर्थ्यम्, केवलसौरभेऽपि चक्षुषो वृत्तिप्रसङ्गात्। अतोऽभावविशेषणग्रहणाय मानान्तरसम्भवः। अपि च कथमनालोचितोऽर्थ इन्द्रियेण विकल्प्येत? न च मानान्तरस्याप्येषा रीतिः, अनुमानादिभिरनालोचितस्याप्यर्थस्य विकल्पनात्, अप्राप्तेश्च। न

आमोदः- एतेनेति। सौरभविशेषणत्वेऽपि चन्दनविशेष्यकत्वेन तदपि चाक्षुषमित्यर्थः। तथा चेति। यथा सुरभि चन्दनमित्यत्र सौरभांशेऽपि चाक्षुषत्वं तथात्राप्यभावांशेऽपि चाक्षुषत्वमित्यर्थः। ननु सौरभस्य चाक्षुषत्वेऽपि तदुपनायकं घ्राणं प्रमाणान्तरमेव तथाभावस्य विशेषणस्य ग्रहार्थमनुपलब्धिः प्रमाणं स्यादिति शङ्कते स्यादेतदिति। किञ्चेन्द्रियजे विशिष्टज्ञाने तदाभावो विशेषणं भासेत यदि पूर्वं निर्विकल्पकविषयता स्यान्न चैवमित्याह अपि चेति। न वा इन्द्रियेण सहास्य प्रत्यासत्तिः संयोगसमवायात्मिका सम्भवतीत्याह अप्राप्तिश्चेति। तदेवाह न हीति। समवायस्तु नातिरिक्तो न वा प्रत्यक्ष इति न तदर्थमपि विशेषणताकल्पनमिति भावः। किञ्चानुपलब्धिस्त्वयापि तत्राभ्युपगन्तव्येत्याह अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वादिति।२१।

प्रकाशः- एतेनेति। घ्राणजसौरभज्ञानसहकृतेन चक्षुषा सुरभि चन्दनमिति ज्ञानं सौरभविशेषणकं चन्दनविशेष्यकं जन्यते, चन्दनसौरभमिति ज्ञानं चक्षुरुपनीतचन्दनविशेषणकं सौरभविशेष्यकं घ्राणेन जन्यते, यदिन्द्रियजन्यं यज्ज्ञानं तत्तदिन्द्रिययोग्यविशेष्यकमिति व्याप्तेरित्यर्थः।२१।

ननु घटाभाववद्भूतलमित्यपि धीरनुपलब्ध्युपनीताभावविशिष्टबुद्धिरिन्द्रियेण जन्यते। तथा च विशिष्टज्ञानस्यैन्द्रियकत्वेऽपि विशेषणज्ञानायानुपलब्धिर्मानान्तरं सौरभज्ञानाय घ्राणमिवेत्याह नागृहीतेति। प्रत्यक्षविशिष्टज्ञानस्य निर्विकल्पकजन्यत्वेन व्याप्तेर्नाभावे सविकल्पकैकवेद्ये तदस्तीति नाभावज्ञानं प्रत्यक्षमित्याह अपि चेति। अनुपलब्धिजन्याभावज्ञाने तु न तज्जन्यत्वमसाक्षात्कारित्वाच्छब्दादाविवेत्याह न चेति। अप्राप्तेश्चेति। इन्द्रियाणां प्राप्तार्थग्राहकत्वादित्यर्थः। न च तत एव

मकरन्दः- चक्षुष्ट्वादिकमित्यनुमानमन्यच्च सर्वं *प्रत्यक्षप्रकाशे* विपञ्चितम्।।२१।।

ह्यभावेनेन्द्रियस्य संयोगादिः संभवति। न च विशेषणत्वं, संबन्धान्तरपूर्वकत्वात्तस्य। अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वाच्चानुपलब्धेः। न हि तदुपलब्धौ तस्याभावोपलम्भ इति चेत्?

उच्यते –

अवच्छेदग्रहध्रौव्यादध्रौव्ये सिद्धसाधनात्।
प्राप्त्यन्तरेऽनवस्थानान्न चेदन्योऽपि दुर्घटः।।२२।।

आमोदः– अभावस्य निर्विकल्पकवेद्यताप्रसङ्गमपाकरोति **अवच्छेदेति**। प्रतियोग्यादिविशिष्ट एव तत्र प्रमाणप्रवृत्तेः प्राथमिकविशिष्टज्ञान सामग्रीसत्त्वान्निर्विकल्पकवेद्यतैव नेत्यर्थः। ननु प्रतियोगिस्मरणं तटस्थम् अधिकरणोपरागोऽपि नावश्यक इति केवलाभावोऽपि निर्विकल्पकेन गृह्यतां, को दोष इत्याह **अध्रौव्य** इति। तर्हि इन्द्रियेण तन्निर्विकल्पकमस्तु, को दोष इत्यर्थः।

प्रकाशः– संयोगादिबाधेनेहैव विशेषणताप्राप्तिः कल्प्येत्याह **न चेति**। विशेषणतायाः समवायादिसम्बन्धान्तरव्याप्तत्वात्तद्बाधे विशेषणत्वस्यापि बाधादित्यर्थः। सम्बन्धस्य सम्बन्धिभिन्नत्वनियमेन ग्राह्यस्वरूपस्यासम्बन्धत्वनिश्चयात् समवायानभ्युपगमेनान्यत्र तदकल्पनाच्च। न चाभावस्येन्द्रियग्राह्यत्वसिद्धाविहैव तत्कल्पनम्। विशेषणताकल्पने सत्यभावः प्रत्यक्षः, तत्सिद्धौ च तत्कल्पनमित्यन्योन्याश्रयादिति भावः। एवमभावबुद्धौ इन्द्रियाणां करणत्वं निरस्यानुपलब्धेः करणत्वमनन्यगतिकतयोपपादयति **अवश्येति**। शुक्तौ रजतानुलब्धेरभावादिन्द्रियसंबद्धस्यापि रजताभावस्याग्रहेणावश्यकत्वादित्यर्थः।

विशिष्टज्ञानमात्रस्य न विशेषणज्ञानजन्यत्वनियमः, अवच्छेदग्रहानियत-ज्ञानविषयत्वस्योपाधित्वादित्याह **अवच्छेदेति**। **ध्रौव्यं** नियमः। अभावत्वेन अभावज्ञानस्य प्रतियोग्यादिज्ञानजन्यतया विशिष्टज्ञानसामग्र्यस्त्येवेति न केवलमभावो भासते, अतो न निर्विकल्पकविषय इत्यर्थः। अथाभावज्ञानं प्रतियोग्यादिज्ञानानपेक्षं, तर्ह्यभावोऽपि निर्विकल्पकविषय एवेति सिद्धसाधनमित्याह **अध्रौव्ये** इति। अभावश्च सम्बन्धान्तरं विनापि स्वरूपेणैव विशेषणं, सम्बन्धान्तरसत्त्वे तत्रापि तत्कल्पनादनवस्थापत्तेः। यदि च नैवं, तदा *त्वन्मते*ऽपि वक्ष्यमाणो दोष इत्याह **प्राप्त्यन्तरे** इति।

स ह्यर्थविशेषणीभविष्यन् केवलोऽपि विस्फुरेत्, यस्यावच्छेदकज्ञानं न व्यञ्जकम्। स च विकल्पयितव्य आलोच्यते, यो विशेषणज्ञाननिरपेक्षेणेन्द्रियेण विज्ञाप्यते। यस्तु तत्पुरःसर एव प्रकाशते, तत्र तस्य विकल्पसामग्रीसमवधानवत एव सामर्थ्यान्नायं विधिः। स्वभावप्राप्तौ सत्यामप्यधिका प्राप्तिः प्रतिपत्तिबलेन रूपादावभ्युपगता। इह त्वनवस्थादुस्थतया न तदभ्युपगमो, न तु स्वभावप्रत्यासत्तिरेतावतैव

आमोदः- विषयमुखीं व्याप्तिमाह स हीति। प्रमाणमुखीं व्याप्तिमाह स चेति। व्याप्त्योस्त्ववच्छेदमात्रं फलतस्तु न कोऽपि विशेषः, निर्विकल्पक-विषयोऽप्यभावश्चाक्षुषज्ञाने विशेषणतया भासत इत्युभयत्रैव विवक्षितम्। नायं विधिरिति। निर्विकल्पकपूर्वकत्वनियम इत्यर्थः। व्याप्त्यन्तरेऽनवस्थानादित्युप-पादयति स्वभावेति। स्वभावसम्बन्धेनैवाभावो भूतलादौ विशेषणं रूपादौ च प्राप्त्यन्तरमनुभवबलादित्यर्थः। ननु इहापि वैशिष्ट्यानुभवबलात् सम्बन्धान्तरं स्यादित्यत आह इह त्विति। अत एव समवायेऽपि न समवायान्तरं तद्विरहेऽपि स्वभावविशेषणतैवेति भावः। यद्यप्येवं समवायवद् वैशिष्ट्यमप्यायाति तथाप्यन्यत्र

प्रकाशः- स हीति। अवच्छेदकस्य प्रतियोग्यादेर्विशेषणस्य जन्यज्ञानं विना यत्र विशिष्टज्ञानसामग्री प्रथमतो न भवति, स एवार्थोऽग्रे विशिष्टज्ञानविषयः पूर्वं निर्विकल्पकविषय इति विषयमुखी व्याप्तिरित्यर्थः। स चेति। जन्यविशेषणज्ञानासहकृतेन्द्रियजन्यज्ञानगोचरत्वं निर्विकल्पकप्रयोजकमिति प्रमाणमुखी व्याप्तिरित्यर्थः। अभावस्तु प्रतियोग्यादिविशेषणज्ञाननियतज्ञानविषयत्वेन विशिष्टज्ञानैकविषयत्वान्न तथेत्याह यस्त्विति। प्राप्त्यन्तरे इति व्याचष्टे स्वभावेति। यद्यपि घटे रूपसमवाय इति नानुभवः, तथापि रूपादेः प्रत्यक्षत्वेनेन्द्रिय-सन्निकर्षाश्रयत्वात् संयोगबाधेनेन्द्रियसम्बन्धघटकतया संयुक्तसमवायादि-कल्पनादित्यर्थः। ननु ज्ञानघटयोरिव द्रव्येण रूपादिभिः स्वरूपसम्बन्धे नार्थान्तरम्, इन्द्रियसंयुक्तविशेषणतयैव रूपादिभानोपपत्तेः। मैवम्, सम्बन्धानुमितौ हि न स्वरूपसम्बन्धो विषयः, तत्स्वरूपाणस्मनन्तत्वेन गौरवात्। किन्तु पक्षधर्मताबलात् एक एव संबन्धस्तद्विषयो लाघवादिति भावः। इह त्विति। यद्यपि सम्बन्धद्वयसिद्धौ नानवस्था, तथात्वे वा समवायोऽपि न स्यादनवस्थाऽऽपादकत्वात्, तथाप्यभावो

मकरन्दः- विशिष्टज्ञानमात्रस्येति। विशिष्टप्रत्यक्षमात्रस्य न विशेषणनिर्विकल्पक-जन्यत्वनियम इत्यर्थः। सम्बन्धघटकतयेति। सम्बन्धरूपतयेत्यर्थः।

विफलायते। न चेदेवं, प्रमाणान्तरेऽपि सर्वमेतद् दुर्घटं स्यात्। तथा हि सर्वमेव मानं साक्षात्परम्परया वा निर्विकल्पकविश्रान्तम्। न ह्यनुमानादिकमप्यनालोचनपूर्वकम्। ततोऽनालोचितोऽभावः कथमनुपलब्ध्यापि विकल्प्येत। न च तया तदालोचनमेव जन्यते, प्रतियोग्यनवच्छिन्नस्य तस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्। शक्यते वा किमपराद्धमिन्द्रियेण? तथा, सम्बन्धान्तरगर्भत्वनियमेन विशेषणत्वस्य, मानान्तरेऽपि कः प्रतीकारः? तदभावस्य तदानीमपि समानत्वात्।

परस्य तादात्म्यमस्तीति चेत्, ननु यद्यसावस्ति, अस्त्येव, न चेन्नैव।

आमोदः- विस्तरेण प्रतिपादितमनुसन्धेयम्। निर्विकल्पकागोचरोऽभावोऽनुपलब्ध्याऽपि प्रमाणेन ग्रहीतुं शक्य इत्याह सर्वमेवेति। यद् यत् प्रमाणं तत् सर्वं निर्विकल्पकविषयविषयकमेवेति व्याप्तेरित्यर्थः। अनालोचनपूर्वकमिति। निर्विकल्पकविषयविषयकमित्यर्थः। यद्वा, प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहे तत्रापि निर्विकल्पकापेक्षास्त्येवेत्यनुमानमपि निर्विकल्पकपूर्वकमेव परम्परयेत्यर्थः। अन्यत्रापि दुर्घटत्वं योजयति सम्बन्धान्तरेति। तवाप्यनुपलब्ध्या अभाववैशिष्ट्यप्रतीतिः स्वरूपसम्बन्धेनैव निर्वहेत्, न तु वैशिष्ट्येन, तत्रापि वैशिष्ट्यान्तराभ्युपगमेऽनवस्थानादित्यर्थः। परस्य भट्टस्य। तन्मतेऽधिकरण रूपत्वादभावस्य। अस्त्येवेति। ममापि तेनैवाभिमतनिर्वाहात् परन्तु

प्रकाशः–यद्यतिरिक्तसम्बन्धवान् स्यात् सत्तावान् स्यादित्यव्यवस्थैवानवस्थेत्यर्थः। इन्द्रियञ्च ना प्राप्तग्राहकमिति संयोगादिबाधेनेहैव तत्प्राप्तिर्विशेषणता कल्प्येति भावः। **प्रमाणान्तरेऽपीति**। अनुपलब्ध्याख्य मानान्तरस्वीकारेऽपीत्यर्थः। **निर्विकल्पकेति**। प्रमाणविषयत्वं निर्विकल्पकविषयत्वव्याप्यमित्यर्थः। **तदभावस्य** सम्बन्धान्तराभावस्य। **तदानीमपि** मानान्तरस्वीकारेऽपि। **परस्येति**। *भट्टाना*मधिकरणे विशेषणत्वं नाभावस्य, किन्तु तादात्म्यमित्यर्थः।

मकरन्दः- सत्तावानिति। न च सामान्यविशेषाभ्यां व्यभिचारः, तद्भिन्नत्वे सतीत्यापादकविशेषणात्। वस्तुतो भावः स्यादित्यर्थः, तेन नोक्तदोषः। ननु साक्षात्परम्परासाधारणमालोचनपूर्वकत्वमनुमानादिवदभावज्ञानेऽप्यस्त्येव, तद्धेतु-प्रतियोग्यादिज्ञानस्य तत्पूर्वकत्वनियमादिति परस्य नानिष्टमित्यत आह **प्रमाणविषयत्वमिति**। तथा चाप्रयोजकत्वादिना यथा नेयं व्याप्तिस्तथा प्रत्यक्षविशिष्टज्ञानस्य

न ह्यभ्युपगमेनार्थाः क्रियन्ते, अनभ्युपगमेन वा निवर्तन्ते इति। अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वे कारणत्वं सिद्ध्येत्, न तु मानान्तरत्वम्। अन्यथा भावोपलम्भेऽप्यभावानुपलब्धिरेव प्रमाणं स्यात्, नेन्द्रियम्। अभावोपलम्भे भावानुपलम्भवत् भावोपलम्भे अभावानुपलम्भस्यापि वज्रलेपायमानत्वादिति।२२।

प्रत्यक्षादिभिरेभिरेवमधरो दूरे विरोधोदयः
प्रायो यन्मुखवीक्षणैकविधुरैरात्माऽपि नासाद्यते।
तं सर्वानुविधेयमेकमसमस्वच्छन्दलीलोत्सवं
देवानामपि देवमुद्भवदतिश्रद्धाः प्रपद्यामहे।।२३।।

।। इति श्रीमदुदयानाचार्यप्रणीते न्यायकुसुमाञ्जलौ तृतीयस्तबकः।।

आमोदः- भावाभावयोस्तादात्म्यं नास्तीति भावः। ननूक्तं त्वयाप्यनुपलब्धिरप्यवश्याभ्युपगन्तव्या इत्यत आह **अवश्येति**। सहकारिता तस्या अस्त्येवेति भावः। ननु भावोपलब्धौ कथमभावोपलब्धिः कारणमत आह **वज्रलेपेति**। नियतपूर्ववर्तित्वादित्यर्थः।२२।

एभिः प्रत्यक्षादिभि र्यन्मुखवीक्षणैकविधुरै' र्धर्मिग्राहकमानबाधितै रात्मापि नासाद्यते स्वरूपमपि न लभ्यते, तैर्विरोधोदयस्तावद्दूरेऽधरोऽधमः, एवं प्रमाणविरोधे निरस्ते उद्भवदतिश्रद्धाः वयं तमेकं प्रपद्यामहे'। देवानाम'पीन्द्रोपेन्द्रादीनां 'देव'माराध्यं सर्वमनुविधेयं व्याप्यं यस्य असमा विलक्षणा स्वच्छन्दाऽप्रतिहता लीला इच्छा कृतिर्वा सैव उत्सवो यस्य।

इतिमहामहोपाध्यायशङ्करमिश्रकृत कुसुमाञ्जल्यामोदव्याख्यायां
तृतीयः स्तबकः

प्रकाशः- भावाभावयोर्विरोधान्न तादात्म्यं, तथात्वे वा संयोगादिनैवाभावग्रहः स्यादित्याशयेनाह **नन्विति**। यद्यभावोऽस्ति तदा विशेषणत्वमस्त्येवेत्यर्थः। अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वादित्यत्राह **अवश्येति**। **अन्यथेति**। अभावज्ञाने यथा भावोपलम्भः प्रतिबन्धकस्तथा भावज्ञानोऽप्यभावोपलम्भः प्रतिबन्धकः स्यादित्यर्थः। एतच्च भावोपलब्धावभावानुपलब्धिः पृष्ठलग्नैवेति व्याचक्षाणैरस्माभिः *परिशिष्टप्रकाशे* विपञ्चितमिति तत्रैवानुसन्धेयम्।२२।

प्रकाशः

स्तबकार्थमुपसंहरन्नेवेश्वरनतिं निबध्नाति **प्रत्यक्षादिभिरिति।** **यस्येश्वरस्य मुखवीक्षणैकविधुरैर्धर्मिग्राहकमानबाधितैः प्रत्यक्षादिभिर्विरोधोदयोऽधरः।** अत **एव, दूरे। सर्वमनुविधेयं वश्यं यस्य। असमा** चासौ स्वच्छन्दा चेतनान्तराप्रयोज्या या लीला, सैवोत्सवो यस्य, स तथा। दुःखाभावैकनिदानत्वात्। अत एवोद्भवदतिश्रद्धा वयं, तं देवानामपि देवं स्तुत्यं प्रपद्यामहे इत्यर्थः।२३।

इति श्रीमहामहोपाध्यायश्रीवर्धमानविरचिते न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाशे तृतीयः स्तबकः।।३।।

मकरन्दः

निर्विकल्पकजन्यत्वव्याप्तिरपीति भावः। लिङ्गासङ्गतेराह **यद्यभावोऽस्तीति।** भावरूपत्वे च तस्य संयोगादिनैव ग्रहापत्तेरित्युक्तत्वादिति भावः। **तथेति।** तथा च भावज्ञानेऽप्यभावानुपलब्धिरेव प्रमाणं स्यादिति भावः।।२२-२३।।

इति महामहोपाध्यायश्रीरुचिदत्तविरचिते कुसुमाञ्जलिमकरन्दे तृतीयः स्तबकः।।

□□

चतुर्थः स्तबकः

ननु सदपीश्वरज्ञानं न प्रमाणम्, तल्लक्षणायोगात्। अनधिगतार्थगन्तुस्तथाभावात्। अन्यथा स्मृतेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात्। न च नित्यस्य सर्वविषयस्य चानधिगतार्थता, व्याघातात्। अत्रोच्यते –

अव्याप्तेरधिकव्याप्तेरलक्षणमपूर्वदृक्।
यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते।।१।।

आमोदः– सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वादिति चतुर्थीं विप्रतिपत्तिमुपस्थाप्य निराकरोति। – **नन्विति। न प्रमाणमिति।** न प्रमेत्यर्थः। तथा चाप्रमामूलकत्वान्न वेदः प्रमाणमित्यर्थः। न वा तन्मात्रप्रमाणकं स्वर्गापूर्वाद्यपि परमार्थसदित्यायातम्। अलौकिकं परलोकसाधनं नास्तीति भावः। **अनधिगतार्थगन्तुरिति** अगृहीतग्राहिणो ज्ञानस्येत्यर्थः। **तथाभावात्** प्रमात्वात्। अनधिगतार्थत्वविशेषणव्यावृत्त्यर्थमाह **अन्यथेति। व्याघातादिति।** अनधिगतार्थत्वे नित्यत्वव्याघातादित्यर्थः।

अव्याप्तेरिति। धारावहनबुद्धिषु। **अधिकव्याप्तेरिति।** संशयविपर्यय-स्वप्नबुद्धिषु। **अपूर्वदृगिति।** अपूर्वार्थदर्शनमित्यर्थः। *परमतं* दूषयित्वा *स्वमते* लक्षणमाह **यथार्थ इति। यथार्थ इति** विपर्ययव्यावर्तनाय। **अनुभव इति** स्मृतिव्यावर्तनाय। विशेष्यावृत्त्यप्रकारकं ज्ञानम्, व्यधिकरण–

प्रकाशः– सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वादिति चतुर्थीं विप्रतिपत्तिमुत्थापयति **नन्विति।** गन्तुर्बोधकस्य। अनधिगतार्थगन्तृत्वञ्च फलप्राक्कालिकसमानाधिकरण-ज्ञानाविषयविषयकत्वम्। *वेदो* न प्रमाणमप्रमानुभवमूलकत्वादिति भावः। तदेतल्लक्षणं यथार्थत्वेन विशेषितं, न वा? आद्ये, प्रमाभूतधारावहनबुद्धावव्यापकम्। अन्त्ये च भ्रमेऽतिव्याप्तिरित्याह **अव्याप्तेरिति। दृग्** दर्शनं, भावपरतया। अनधिगतार्थविषयकत्वं न लक्षणमित्यर्थः। *स्वमते* प्रमाणलक्षणमाह **यथार्थेति।** अत्रोक्तदोषाभावादित्यर्थः। ननु यथार्थानुभववद् यथार्थस्मृतिरपि प्रमा किं न स्यात्? यथार्थत्वस्यैव तन्त्रत्वादनुभवत्वस्य व्यर्थत्वादित्यत आह **अनपेक्षतयेति।**

मकरन्दः– ननु *पराधिगते*ऽर्थे *परस्य* प्रमोत्पत्तेरनधिगतार्थगन्तृत्वं तत्राव्याप्तमत आह **फलेति।** उत्तरकालीनस्वज्ञानमादायाव्याप्तेराह **कालिकान्तम्।** एतावता किमित्यत आह **वेद इति।** यद्यप्येवं *भट्टस्य* स्वतोऽसिद्धिः, तथाप्येवमप्रमानुभव-मूलको वेदः स्यात्। तथा चाप्रमाणं स्यादिति तर्कविधयैतद् द्रष्टव्यम्। **प्रमाणेति।** प्रमालक्षणमित्यर्थः।

न ह्यधिगतेऽर्थे अधिगतिरेव नोत्पद्यते, कारणानामप्रतिबन्धात्। न चोत्पद्यमानापि प्रमातुरनपेक्षितेति न प्रमा, प्रामाण्यस्यातदधीनत्वात्। नापि पूर्वाविशिष्टतामात्रेणाप्रामाण्यम्, उत्तराविशिष्टतया पूर्वस्याप्य प्रामाण्यप्रसङ्गात्। तदनपेक्षत्वेन तु तस्य प्रामाण्ये तदुत्तरस्यापि तथैव

आमोदः– प्रकारानवच्छिन्नविषयताप्रतियोगिज्ञानं वा, यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवो वेत्यर्थः। ननु स्मृतिरपि यथार्था प्रमास्तु, किमनुभवपदेन इत्यत आह अनपेक्षतयेति। स्वजनकानुभवयाथार्थ्यानपेक्षतयेत्यर्थः। स्मृतेस्तु तत्सापेक्षत्वमिति भावः।

नन्वधिगतेऽर्थेऽधिगत्यन्तरोत्पादे पिष्टपेषणं स्यादत आह न हीति। कारणबलेन तथा सम्भवादित्यर्थः। ननु द्वितीयज्ञानकर्तव्यं प्रथमेनैव कृतमिति न तत् प्रमाणं प्रमातुरपेक्षितमित्याह न चेति। प्रामाण्यस्य स्वकारणाधीनस्य प्रमातुरपेक्षामन्तरेणाप्युपपत्तेरन्यथा शत्रुवैभवादिज्ञानमप्रमैव स्यादित्यर्थः। **पूर्वाविशिष्टेति।** पूर्वज्ञानान्यूनानतिरिक्तविषयतेत्यर्थः। ननु त्वयैवोक्त मनपेक्षतयेति। तथा च सर्वज्ञानं द्वितीयानपेक्षं प्रमाद्वितीयं तु पूर्वापेक्षमिति न प्रमेत्यत आह तदिति। उत्तरज्ञानस्यापि पूर्वज्ञानानपेक्षतया प्रामाण्यं स्यादेव।

प्रकाशः–स्मृतेर्याथार्थ्येऽपि स्वकारणीभूतान्यूनानतिरिक्तविषयकानुभवयाथार्थ्यापेक्षा, न त्वनुभवस्येत्यर्थः। **अतदधीनत्वात्**– प्रमात्रपेक्षानधीनत्वादित्यर्थः। **पूर्वाविशिष्टता** पूर्वज्ञानान्यूनानतिरिक्तविषयतेत्यर्थः। यदि चोत्तरज्ञानानपेक्षं पूर्वज्ञानमिति स्वविषये तत् प्रमाणं, तदा पूर्वज्ञानानपेक्षमुत्तरमपि तथेत्याह तदनपेक्षत्वेनेति। यद्यप्युत्तरज्ञानं विशिष्टज्ञानत्वेन विशेषणज्ञानाऽऽत्मकपूर्वज्ञानापेक्षम्। अन्यथा सामग्रीतौल्ये

मकरन्दः– नन्वेवमनुभवोऽपि प्रमा न स्यात्, तस्यापि विशेषणज्ञानादिसापेक्षत्वादित्यत आह **स्वकारणीभूतेति।** एतच्च धारावाहिके तादृशपूर्वज्ञानयाथार्थ्यापेक्षयाथार्थ्यतया उत्तरकालेऽतिव्याप्तिवारणायान्यूनानतिरिक्तविषयकत्वेन कारणत्वं विवक्षितम्। तस्य च विशेषणमात्रविषयतया तथात्वमिति नोक्तदोषः। न च तत्सापेक्षमेव याथार्थ्यं तस्येति वाच्यम्। तत्सापेक्षत्वं हि तन्नियतत्वम्, तच्च तत्रापि। स्मृतावपि तदेव तत्। लिङ्गज्ञानयाथार्थ्यापेक्षित्वमादायातिव्याप्तिवारणायान्यूनेति। वस्तुतः पूर्वोक्तातिव्याप्तिवारणार्थमपि तत्। अनतिरिक्तपदं चिन्त्यम्। अतएव *परिमले* नास्तीति। किञ्च स्मृतावपि पूर्वानुभवस्यान्यूनविषतयैव जनकत्वम्। अतिरिक्तविषयानुभवादपि तदंशे संस्कारानुद्बोधे स्मृतिदर्शनात्। एवञ्च वक्तृवाक्यार्थज्ञानयाथार्थ्यापेक्षित्वमादाय शाब्दानुभवेऽतिव्याप्तिरित्यपि चिन्त्यम्।

स्यादविशेषात्। छिन्ने कुठारादीनामिव परिच्छिन्ने नयनादीनां साधकतमत्वमेव नास्तीत्यपि नास्ति, फलोत्पादानुत्पादाभ्यां विशेषात्। तत्फलं प्रमैव न भवति, गृहीतमात्रगोचरत्वात् स्मृतिवदिति चेन्न। यथार्थानुभवत्वनिषेधे साध्ये बाधितत्वात्। अनधिगतार्थत्वे सिद्धसाधनात्, साध्यसमत्वाच्च। व्यवहारनिषेधे तन्निमित्तविरहौपाधिकत्वात्, बाधितत्वाच्च। न चानधिगतार्थत्वमेव तन्निमित्तम्, विपर्ययेऽपि प्रमाव्यवहारप्रसङ्गात्। नापि यथार्थत्वविशिष्टमेतदेव, धारावहनबुद्ध्यव्याप्तेः। न च

आमोदः– *तन्मते* विशिष्टज्ञानस्याव्यवहितविशेषणज्ञानजन्यत्वाभावात्। ननु निष्पादितक्रिये कर्मणि साधनस्य साधनन्यायातिपातात्, द्वितीयादिज्ञानं यद्युत्पद्यते, तदा प्रमाणाजन्यत्वान्न प्रमा इत्यत आह **छिन्नेति**। **गृहीतमात्रेति**। मात्रपदमनुमित्यादौ व्यभिचारवारणार्थम्। **बाधितत्वादिति**। द्वितीयादिज्ञानेऽपि यथार्थत्वस्यानुभवत्वस्य चानुभवसिद्धत्वादित्यर्थः। ननु धारावहने द्वितीयादिज्ञानं प्रमात्वेन न व्यवहर्तव्यम्, अधिगतार्थगन्तृत्वात् स्मृतिवदित्यभिमतम्। अत आह **व्यवहारेति**। निमित्तं च यथार्थानुभवत्वं तत्रास्त्येवेत्यर्थः। **बाधितत्वादिति**। तत्र प्रामाण्यव्यवहारस्य सर्वसिद्धत्वादित्यर्थः। **विपर्यय इति**। तद्वैशिष्ट्यांश इत्यर्थः। **नापीति**। यथार्थत्वे सत्यगृहीतग्राहित्वमित्यर्थः। ननु स्वोत्पत्तिक्षणगोचरत्वात् धारावाहिकबुद्धिष्वप्य गृहीतार्थगन्तृत्वमस्त्येवेत्याह **न चेति**।

प्रकाशः– धारावाहिधियां क्रमो न स्यात्। तथापि विशेषणमात्रविषयतया तथा, न विशिष्टविषयतयेति भावः। **फलोत्पादेति**। छिन्ने छिदा न सम्भवति, ज्ञाते तु ज्ञानान्तरं सम्भवत्येवेत्यर्थः। **साध्यसमत्वादिति**। प्रमात्वाभावस्य गृहीतमात्रग्राहित्वरूपतया साध्याविशेषादित्यर्थः। **व्यवहारेति**। प्रमाशब्दवाच्यत्वव्यतिरेके साध्ये तत्प्रवृत्तिनिमित्तरहितत्वमुपाधिरित्यर्थः। न चायमुपाधिः साधनाव्यापक इत्याह **न चेति**। **धारावहनेति**। इन्द्रियार्थसन्निकर्षाधारस्तृतीयक्षणस्तदिन्द्रियार्थ सन्निकर्षजज्ञानोत्पत्त्याधारः। अव्यासक्तमनसो यावत्सहकारिसाकल्ये सत्यनाद्येन्द्रियसन्निकर्षाधारक्षणत्वाद् द्वितीयक्षणवदिति धारावहनबुद्धौ मानमाहुः।

मकरन्दः – अन्यथेति। यद्यपि विशेषणज्ञानत्वेनैव हेतुत्वम् तथापि क्रमासम्भवः, तथापि फलबलेन तत्तद्विशेषणज्ञानत्वेन विशेषसामग्रीत्वमिति क्रम इति भावः। न च स्वरूपसत्क्रमिकक्षणोत्पत्तिकत्वेन क्रमः, सामग्रीतौल्ये तदेव नेत्याशयात्।

तृतीयक्षण इति सन्निकर्षापेक्षया। एवञ्च विनश्यदवस्थप्रथमज्ञानाधारत्वेना

तत्तत्कालकलाविशिष्टतया तत्राप्यनधिगतार्थत्वमुपपादनयीम्। क्षणोपाधीनामनाकलनात्। न चाज्ञातेष्वपि विशेषणेषु तज्जनितविशिष्टता प्रकाशते इति कल्पनीयम्, स्वरूपेण तज्जननेऽनागतादि विशिष्टतानुभवविरोधात्। तज्ज्ञानेन तु तज्जनने सूर्यगत्यादीनामज्ञाने

आमोदः- अनाकलनात् अप्रत्यक्षत्वात्। ननु कालकलानाकलनेऽपि तद्वैशिष्ट्याकलनादगृहीतग्राहित्वं स्यादित्यत आह न चेति। विशेषणानां स्वसत्तामात्रेण स्वविशिष्टप्रत्ययजननेऽनागतविशेषणवैशिष्ट्यं क्वापि नानुभूयेतेत्यर्थः। ननु ज्ञानमात्रं विशेषणस्य तन्त्रं, न तु तत्स्वरूपमपीत्यदोष इत्यत आह तदिति। सूर्यगत्यादीनां क्षणावच्छेदकानां *भट्टाभिम*तविशिष्टतां दूषयति न चेति। ननु विशेषणेन विशेष्ये वैशिष्ट्यमुपकारो यदि नाधीयते, तदा

प्रकाशः– ननु सूर्यगत्यादिरूपकालावच्छेदकोपाधिविशिष्टतत्तदर्थविषयत्वेन तासामप्यधिकविषयकत्वम्। एकस्मिन् क्षणे यौगपद्यनिषेधेन तस्यावश्यकत्वादित्यत आह न चेति। घटोऽयं घटोऽयमित्यादिबुद्धिधारायां विषयभेदानुपलम्भाज्ज्ञानायौगपद्यं स्वरूपसत्क्रमिकक्षणभेदमादायेति भावः। उपाधयो यदि स्वसत्तया विशिष्टतां जनयेयुः, तदानधिगतधर्माणामविद्यमानतया तद्विशिष्टितयाऽनुभवो न स्यादित्याह **स्वरूपेणेति**।

अथ स्वासत्त्वेऽपि ज्ञानसत्तया ते तां जनयन्ति, तत्राह तज्ज्ञानेनेति। नन्वसन्तस्ते सत्तामात्रेण, नासन्तश्च स्वज्ञानसत्तया तां जनयन्तीति नोक्तदोष इत्यत आह न चैतस्यामिति। एतस्यां विशिष्टतायाम्। विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तिं

मकरन्दः- र्थान्तरप्रसङ्गनिरासाय मध्ये उत्पत्तीति। व्यासङ्गाधारक्षणे व्यभिचारवारणाय **अव्यासक्तेति**। यद्यपि तदा ज्ञानमुत्पद्यत एव, तथापि तदिन्द्रियार्थसन्निकर्ष जज्ज्ञानाभावाद् व्यभिचारः।

यद्यप्येवं व्यासङ्गाभावस्यापि हेतुत्वाद् यावत्सहकारीत्यादिविशेषणाभावादेव न व्यभिचार इति तद्वैयर्थ्यम्। अन्यथा तदा ज्ञानोत्पत्त्यवश्यम्भावापत्तेः। तथापि तदतिरिक्तयावत्सहकारिविवक्षापक्षे तद् द्रष्टव्यम्। प्रतिबन्धकाभावकारणतावच्छेदकत्ववादिमतेनेदमि*त्यन्ये*। आलोकादिकिञ्चित्सहकारिविरहदशायां व्यभिचारादाह **यावदिति**। साकल्यसमवधान इत्यर्थः। सन्निकर्षोत्पत्त्याधारक्षणे व्यभिचारादाह **अनाद्येति** क्षणविशेषणम्। इन्द्रियपदं तदिन्द्रियपरम्, अतो नेन्द्रियान्तरसन्निकर्षमादाय व्यभिचारः। ज्ञानोत्पत्त्यनाधारेन्द्रिये व्यभिचारादाह क्षणेति।

तद्विशिष्टतानुत्पादात्। न चैतस्यां प्रमाणमस्ति। नन्वनुपकार्यानुपकारकयोर्विशेषणविशेष्यभावे कथमतिप्रसङ्गो वारणीयः? व्यवच्छित्तिप्रत्यायनेन व्यवच्छित्तौ स्वभावेन। अन्यथा तवाप्यनवस्थानादिति।

आमोदः- विशेषणविशेष्यभाव एव न स्यादित्याह नन्विति। विशेषणविशेष्यभावेऽन्यथोपपत्तिमाह **व्यवच्छित्तीति**। **व्यवच्छित्तिर**'तद्व्यावृत्तिः, विशेषणात्यन्ताभाववदन्योन्याभाव इति यावत्। विशेषणस्य चोपकारकत्वम् अतद्व्यावृत्तिबोधजनकज्ञानविषयत्वमिति भावः। ननु वैशिष्ट्याधानमन्तरेण व्यवच्छित्तिप्रत्यायनमेव कथं स्यादित्यत आह **व्यवच्छित्ताविति**। विशेषणस्वाभाव्यादेव तदुत्पत्तेरित्यर्थः। तत्रापीति। वैशिष्ट्येऽपि वैशिष्ट्यान्तराधाने-ऽनवस्थानादन्यथा वैशिष्ट्यस्यापि तदीयत्वनियमो न स्यादिति भावः। ननु भूतलादौ स्वभाववैशिष्ट्यं प्रतीयते, न तु संयोगसमवायौ तत्र सम्भवत इति चेन्न; स्वरूपसम्बन्धेनैव तद्व्यवहारोपपत्तेः। अन्यथा वैशिष्ट्यस्यैकत्वे घटवत्यपि घटाभाववैशिष्ट्याधीनो घटाभावव्यवहारोऽपि स्यात्। प्रत्यभावव्यक्ति वैशिष्ट्यभेदे च स्वरूपसम्बन्धेनैवान्यथासिद्धौ किमनन्तवैशिष्ट्यकल्पनया? न चात्र समवायप्रतिबन्दिः, वैशिष्ट्ये वैशिष्ट्याभावप्रतीतेः स्वरूपसम्बन्धेनैव त्वयाप्युपपादनात्। अन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गात्। वस्तुतस्तु

प्रकाशः- तत्र मानमाह नन्विति। विशेषणेन विशेष्ये विशिष्टताख्यधर्मोत्पादनं विनैव स्वसम्बन्धादेव व्यावृत्तिबुद्धिजननेन तदुपपत्तिरित्याह **व्यवच्छित्तीति**। न च विशिष्टज्ञाने सा भासते, विशेषणविशेष्यसम्बन्धातिरिक्तायास्तस्या अननुभवात्।

ननु चाभावविशिष्टबुद्धेर्विशिष्टज्ञानत्वात् संयोगादिबाधेन वैशिष्ट्यमेव सम्बन्धो विषयोऽस्तु। मैवम्, तद्धि प्रत्यभावव्यक्ति भिन्नमभिन्नं वा? आद्ये, तत्तत्स्वरूपरूपा विशेषणतैवास्तु, किमनन्तवैशिष्ट्येन। अन्त्ये घटाभाववति पटवति घटाभावधीप्रसङ्गः। घटाभावपटाभाववैशिष्ट्ययोरभेदात्। तद्वैशिष्ट्यसत्त्वेऽपि तत्र पटाभावो नास्तीति चेन्न। पटाभावाभावस्य भावत्वे पटस्य प्रतिबन्धकतया तदभावस्य हेतुत्वात्। तस्य च वैशिष्ट्यसम्बन्धेन तत्र सत्त्वात्। अभावत्वे च तस्यापि वैशिष्ट्यसंबन्धेन तत्र सत्त्वात्। न चाभावेऽपि समवाय एव सम्बन्धः,

मकरन्दः- अभावत्वे चेति। अभावात्मनः पटाभावाभावस्य वैशिष्ट्यसम्बन्धेन सत्त्वं स्यात्। वैशिष्ट्यस्यैकत्वाभ्युपगमादित्यर्थः। अधिकं *प्रत्यक्षप्रकाशे*।

ज्ञाततैवोपाधिरिति चेन्न निराकरिष्यमाणत्वात्। तत्सद्भावेऽपि वा स्मृतेरपि तथैव प्रामाण्यप्रसङ्गात्। जनकागोचरत्वेऽप्युत्तरोत्तरस्मृतौ पूर्वपूर्वस्मरणजनितज्ञाततावभासनात्। अस्तु वा प्रत्यक्षे यथा तथा, गृहीतविस्मृतार्थश्रुतौ कां वार्ता? अप्रमैवासाविति चेत्, गतमिदानीं

आमोदः– प्रत्यक्षमपि सखेऽन्वेष्टव्यम्। न चाभाववैशिष्ट्यानुभवादस्तु समवाय इति वाच्यम्। प्रध्वंसस्यापि समवेतकार्यत्वेन नाशे भावोन्मज्जनापत्तेरिति धारावाहिकबुद्धिषु पूर्वपूर्वज्ञानादिना ज्ञाततैवानधिगतार्था भासते इति शङ्कते ज्ञाततैवेति। स्मृतेरपीति। तत्राप्यनुभवाहितज्ञातताभावात् अनधिगतार्थगन्तृत्वं स्यादित्यर्थः। ननु जनकीभूतानुभवविषयस्यैव स्मरणे भानम्। तथा च कथं ज्ञातता स्मरणे भासतामित्यत आह जनकेति। अनुभवेन स्मरणजननेऽयं नियमो यदनुभव-विषयस्यैव स्मरणे भानं, न तु स्मृत्या स्मृतिजनन इति भावः। ननु स्मरणजनने जनकस्मरणाविषयस्य जन्यस्मृतिविषयत्वेऽतिप्रसङ्ग इत्याह अस्तु वेति। का वार्तेति। सा प्रमाऽप्रमेवेत्यर्थः। किञ्चित्समयागृहीतग्राहित्वेन प्रमा चेत्तदा व्याप्तिरिति। सर्वपूर्वकालागृहीतग्राहित्वमेव प्रामाण्यं तस्याञ्च तदभावात् अस्या अपि अप्रमात्वमेवेत्याह अप्रमैवेति। गतमिति। *वेदार्थ*स्यापि कस्मिंश्चज्जन्मनि

प्रकाशः– तत्साधकविशिष्टबुद्धेरविशेषादिति वाच्यम्। समवेतकार्यत्वाद् ध्वंसनाशे पटाद्युन्मज्जनप्रसङ्गात्। न च तत्र भावत्वं तन्त्रं, गौरवाद्वैपरीत्यापत्तेश्चेति सङ्क्षेपः।

ज्ञाततैवेति। पूर्वपूर्वज्ञानाहितज्ञातताविशिष्टमुत्तरोत्तरज्ञानविषय इत्यनधिगतार्थतैव धारावहनबुद्धीनामित्यर्थः। तत्सद्भावेऽपीति। स्मृति-व्यावृत्त्यर्थमनधिगतेति व्यर्थविशेषणम्। तेनापि च न तद्व्यवच्छेदः। तत्रापि कारणीभूतानुभवजनितज्ञाततासत्त्वेनानधिगतार्थतानपायादित्यर्थः।

अथ स्मृतेर्जनकज्ञानविषयमात्रविषयत्वात् सा स्मृतौ न भासते, तथापि पूर्वपूर्वस्मृतिजनितज्ञातताविशिष्टस्योत्तरोत्तरस्मृतौ भानादनधिगतार्थत्वसत्त्वादित्याह जनकेति। न च स्मृतता नोत्तरोत्तरस्मृतिविषयोऽनुभवाविषयत्वादिति वाच्यम्। धारावहनबुद्धावप्युत्तरोत्तरबुद्धेः पूर्वपूर्वज्ञानाहितज्ञाततासमानकालोत्पत्तिकत्वेन तत्रापि तद्विषयत्वाभावापातादिति भावः। अन्यत्र तत्सन्देहेऽप्युभयसिद्धप्रामाण्ये वेदे अधिगतार्थगोचरे प्रामाण्यासम्भव इति दुरुत्तरं समाधानमित्याह अस्तु वेति।

मकरन्दः- तथापीति। यद्यपि जनकागोचरत्वमत्रापि तुल्यं, तथाप्यनुपदमेवाशङ्क्य परिहरिष्यतीति ध्येयम्।

वेदप्रामाण्यप्रत्याशया। न ह्यनादौ संसारे 'स्वर्गकामो यजेते'ति वाक्यार्थः केनचिन्नावगतः। सन्देहेऽपि प्रामाण्यसन्देहात्। न च तत्रापि कालकलाविशेषाः परिस्फुरन्ति। न चैकजन्मावच्छेदपरिभाषयेदं लक्षणम्। तत्राप्यनुभूतविस्मृतवेदार्थं प्रति अप्रामाण्यप्रसङ्गात्। कथं तर्हि स्मृतेर्व्यवच्छेदः? अननुभवत्वेनैव। यथार्थो ह्यनुभवः प्रमेति प्रामाणिकाः पश्यन्ति। 'तत्त्वज्ञानात्' इति सूत्रणात्। 'अव्यभिचारि ज्ञानमि'ति च।

ननु स्मृतिः प्रमैव किं न स्यात्, यथार्थज्ञानत्वात्, प्रत्यक्षाद्यनुभूतिवदिति चेन्न। सिद्धे व्यवहारे निमित्तानुसरणात्। न च स्वेच्छाकल्पितेन निमित्तेन लोकव्यवहारनियमनम्, अव्यवस्था लोकव्यवहारविप्लवप्रसङ्गात्।

आमोदः- पुरुषेणानुभवात्। न च तत्रापीति। कलकलानामपदार्थत्वेन वाक्यार्थाविषयत्वादित्यर्थः। ननु तज्जन्मनि अगृहीतग्राहित्वं लक्षणं विवक्षितमत आह न चेति। अनभूतेति। तज्जन्मन्येवानुभूतः अप्यविस्मृतो येन पुंसा यस्य वेदस्यार्थस्तं प्रति तस्य वेदस्याप्रामाण्यप्रसङ्गादित्यर्थः। कथमिति। यद्यनधिगतार्थत्वं न विशेषणमित्यर्थः। अनुभत्वेनेति। तद्व्यवच्छेदार्थमेव लक्षणेऽनुभवत्व प्रक्षेपादित्यर्थः। अननुभवत्वेनेत्यपि क्वचित् पाठः। स्मृतेरननुभवत्वादनु-भवत्वविशेषणेनैव वारणादित्यर्थः। प्रामाणिका'इति। प्रामाणिकानाम् एतादृशं दर्शनमित्यर्थः। तत्त्वज्ञानादिति। तत्त्वं ज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या शास्त्रस्याभिधानात्। शास्त्रञ्च वाक्यतयाऽनुभवमेव जनयतीति भावः। अव्यभिचारि ज्ञानमिति। 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीति। (न्यायसूत्र० १।१।४) प्रत्यक्षलक्षणे ज्ञानपदस्यानुभवपरत्वस्यावश्यकत्वात्, स्मृतेः प्रत्यक्षभिन्नत्वादिति भावः। नन्विति। तथा च किमनुभवोपादानेन इत्यर्थः। स्मृतौ प्रमाव्यवहाराभावात् तत्करणे संस्कारे प्रमाणव्यवहाराभावाच्च न तथेत्याह सिद्ध इति। अव्यवस्थयेति। अनुभवपदवद् यथार्थपदमपि तर्हि त्यज्यताम्। अस्तु ज्ञानत्वमेव प्रमात्वम्, एवं सति भ्रमेऽपि

प्रकाशः- तत्रापीति। एकजन्मनीत्यर्थः। अननुभवत्वेनैवेति। इममर्थ-मनुभवामीममर्थं स्मरामीत्यनुभवसाक्षिकावेवानुभवत्वस्मृतित्वे जातिविशेषावित्यर्थः। तत्त्वज्ञानादिति। ज्ञानपदमनुभवपरम्। एवमग्रेऽपि। नन्विति। यथार्थज्ञानत्वमेव प्रमापदप्रवृत्तिनिमित्तं लाघवाद्, न तु तद्विशेषोऽनुभवत्वमपीत्यर्थः। सिद्ध इति। स्मृतेः प्रमात्वं यदि यथार्थज्ञानत्वमेव साध्यं, तदा सिद्धसाधनं साध्याविशेषश्च स्यादिति प्रमापदवाच्यत्वं साध्यम्, तत्र च तन्निमित्तत्वमुपाधिरित्यर्थः।

न च स्मृतिहेतौ प्रमाणाभियुक्तानां महर्षीणां प्रमाणव्यवहारोऽस्ति, पृथगनुपदेशात्। उक्तेष्वन्तर्भावादनुपदेश इति चेन्न। प्रत्यक्षस्या साक्षात्कारिफलत्वानुपपत्तेः, लिङ्गशब्दादेश्च सत्तामात्रेण प्रतीत्य साधनत्वादिति।

एवं व्यवस्थिते तर्क्यतेऽपि - यदियमनुभवैकविषया सती तन्मुखनिरीक्षणेन तद्यथार्थत्वायथार्थत्वे अनुविधीयमाना तत्प्रामाण्यमव्यवस्थाप्य न यथार्थतया व्यवहर्तुं शक्यते इति। व्यवहारेऽपि पूर्वानुभव एव प्रमितिरनपेक्षत्वात्, न तु स्मृतिः, नित्यं तदपेक्षणात्। असमीचीने ह्यनुभवे स्मृतिरपि तथैव।

आमोदः- किन्न स्यात् प्रामाण्यमित्यर्थः। **पृथगिति।** प्रत्यक्षादिभ्य इत्यर्थः। **उक्तेष्विति।** प्रत्यक्षादिष्वित्यर्थः। **प्रत्यक्षस्येति।** स्मृतेरसाक्षात्कारित्वस्य सर्वमतसिद्धत्वादित्यर्थः। **लिङ्गशब्दादेरिति।** ज्ञांयमानलिङ्गादेः स्मृतौ व्यभिचारादिति भावः। अनपेक्षतयेति विवृणोति **तर्क्यतेऽपीति।** **अनुविधीयमानेति** कर्तरि प्रत्ययः। **व्यवहारेऽपीति।** यथार्थव्यवहारेऽपीत्यर्थः। **असमीचीन'इति।** रज्जुं भुजङ्गतयाऽनुभूतपलायितस्य तथैव स्मृतिदर्शनादित्यर्थः।

प्रकाशः- ननु यथार्थज्ञानत्वमेव तन्निमित्तमित्युक्तमित्यत आह न चेति। **न च स्मृतीति।** यदि स्मृतौ प्रमापदस्येश्वरसङ्केतः स्यात्, तदा प्रमाणाभियुक्तानां संस्कारे प्रमाकरणत्वव्यवहारः स्यात्, न चैवमित्यर्थः। **उक्तेषु** प्रत्यक्षादिष्वित्यर्थः।

अनपेक्षतयेति विवृणोति – **तर्क्यतेऽपीति।** **अनुभवैकविषया,** अनुभवमात्रविषयेत्यर्थः। तेनास्या विषयान्तरेऽपि न प्रमात्वमिति भावः। **तद्यथार्थत्वेति।** स्वजनकानुभवयथार्थत्वायथार्थत्वव्याप्तयथार्थत्वायथार्थत्वेत्यर्थः। **तत्प्रामाण्यमिति।** स्वजनकानुभवप्रामाण्यमित्यर्थः। **अव्यवस्थाप्य** अनवधार्य। यद्यपि स्वजनकानुभवप्रामाण्यमनिश्चित्यापि प्रवृत्तिसंवादादिना अनुभवस्येव स्मृतेरपि प्रामाण्यग्रहः सम्भवत्येव, तथापि यदि स्मृतिः प्रमा स्यात्, तदा स्वान्यूनानतिरिक्त विषयकस्वजनकानुभवप्रामाण्यव्याप्तप्रामाण्या न स्यात्। व्यतिरेके इच्छादिर्दृष्टान्तः। धारावहनबुद्धिषु पूर्वपूर्वबुद्धेर्विशेषणमात्रविषयतयोत्तरोत्तरबुद्धिष्वपेक्षा, स्मृतौ त्वन्यूनानतिरिक्तविषयतयेति न तत्र व्यभिचारः। धारावहनबुद्ध्यन्यत्वेन वा विशेषणम्। **शक्यते** इतीत्यस्यानन्तरं, न स्मृतिः प्रमेति शेषः। तदपेक्षणमेवाह **असमीचीने हीति।**

नन्वेवमनुमानमप्यप्रमाणमापद्येत, मूलप्रत्यक्षानुविधानात्। न, विषयभेदात्। आगमस्तर्हि न प्रमाणं, तद्विषयमानान्तरानुविधानात्। न, प्रमातृभेदात्। धारावाहिकबुद्धयस्तर्हि न प्रमाणम्, आद्यप्रमाणानुविधानात्। न, कारणविशुद्धिमात्रापेक्षया प्रथमवदुत्तरासामपि पूर्वमुखनिरीक्षणाभावात्। कारणबलायातं काकतालीयं पौर्वापर्यमिति।

आमोदः- अनुमानेऽप्यतादृशं सापेक्षत्वमस्तीत्यप्रामाण्यापत्तिरित्याह **नन्विति। विषयेति।** जनकज्ञानस्य लिङ्गविषयत्वात् जन्यस्य च लैङ्गिकविषयत्वादित्यर्थः। **आगम इति।** शब्दजन्यज्ञानस्य मूलभूतकर्तृज्ञानसमानविषयत्वादित्यर्थः। परिहरति **प्रमात्रिति।** स्मृतौ त्वेकप्रमातृकत्वमिति भावः। ननु विषयप्रमातृभेदाद्धारावाहिधियः पूर्वव्यपेक्षाः प्रमाणं स्युरित्यत आह **धारेति।** न चात्र मानाभावः। अयं वक्तृज्ञाना-न्यूनानतिरिक्त विषयकतद्भिन्नतत्समानकालीनतादृशज्ञानवान्, अनीश्वरात्मत्वात्, मैत्रवदिति धारावहनबुद्धौ मानात्। यद्वेन्द्रियार्थसन्निकर्षाधार-स्तृतीयक्षणः तदिन्द्रियार्थ सन्निकर्षजज्ञानोत्पत्त्याधारः, अव्यासक्तमनसो यावत्सहकारिसाकल्ये सत्यनाद्येन्द्रियसन्निकर्षाधारत्वात्, द्वितीयक्षणवदित्यनुमानात्। तत्रापि स्मृतिवत् सापेक्षत्वात्। **प्रमातृभेदादिति** वक्तुरेव तादृशं ज्ञानं न तु श्रोतुः। तथा च श्रोतारं प्रति तत्प्रमाणमेवेति भावः। **कारणेति।** विशेषणांशविषयत्वमत्र कारणविशुद्धिः। विशेष्यांशविषयत्वं तु नोत्तरोत्तरज्ञाने प्रयोजकं, तस्य स्वकारणबलायातत्वात्।

प्रकाशः- **मूलेति।** कारणव्याप्त्यादिप्रत्यक्षप्रामाण्यव्याप्यप्रामाण्यादित्यर्थः। **विषयेति।** व्याप्त्यादिप्रत्यक्षस्य लिङ्गलिङ्गिविषयत्वादनुमितौ च पक्षतावच्छेदक-धर्मभाननैयत्येन तस्याधिकस्य भानादित्यर्थः।

तथापि श्रोतुर्वाक्यार्थप्रमाया वाक्यप्रयोगमूलतदर्थविषयकज्ञान प्रामाण्यापेक्षित्वान्न प्रमात्वं स्यादित्याह **आगम इति।** तथात्वेऽपि वक्तृश्रोतृरूपप्रमातृभेदोऽस्ति, स्मृतौ त्वेकस्यैव तथात्वमित्याह **प्रमात्रिति।**

तर्हि विषयप्रमात्रोरभेदाद्धारावहनबुद्धयः पूर्वबुद्ध्यपेक्षाः प्रमा न स्युरित्याह **धारेति।** यद्यपि बुद्धिक्रमान्यथानुपपत्त्या पूर्वबुद्धेर्विशेषणज्ञानत्वेनोत्तरबुद्धिकारणत्वं, तथापि स्मृतिवदन्यूनविषयतया न कारणत्वं किन्तु विशेषणमात्रविषयत्वेनेत्युक्तम्। अन्यूनानतिरिक्तविषयत्वन्तु काकतालीयमित्याह **कारणेति।**

मकरन्दः-तदा स्वान्यूनानतिरिक्तेति। एतच्च प्रागेव विवृतप्रायम्। नन्वापादकस्य प्रामाण्यस्य वैकल्यादिच्छादिकं नान्वयदृष्टान्तः, व्यतिरेकदृष्टान्तोऽपि न स्यात्। तादृशानुभवव्याप्तप्रामाण्यवत्त्वस्यापाद्यव्यतिरेकस्य व्याप्यत्वाभिमतवैकल्यादिति

यदि हि स्मृतिर्न प्रमितिः, पूर्वानुभवे किं प्रमाणम्? स्मृत्यन्यथाऽनुपपत्तिरिति चेन्न। तया कारणमात्रसिद्धेः, न तु तेनानुभवेनैव भवितव्यमिति नियामकमस्ति। अननुभूतेऽपि तर्हि स्मरणं स्यादिति चेत्, किं न स्यात्? न ह्यत्र प्रमाणमस्ति। पूर्वानुभवाकारोल्लेखः स्मृतेर्दृश्यते, सोऽन्यथा न स्यादिति चेत्, तत्किं *बौद्धवद्विषयाकारान्यथानुपपत्त्या* विषय सिद्धिस्त्वयापीष्यते, तथाभूतं ज्ञानमेव वा तत्सिद्धिः? आद्ये,

---

आमोदः– एतदेवाह **कारणवशादिति। यदि हीति।** पूर्वानुभवः स्मृतिरूपप्रमाविषयतयैव सिद्ध्यति, पूर्वानुभववैशिष्ट्यं हि तत्ता, तथा च स्मृतेरप्रामाण्ये स कथं सिद्ध्येदित्यर्थः। न हि तत्तायां पूर्वानुभववैशिष्ट्यरूपायां न प्रमा इति भावः। **स्मृतीति।** पूर्वानुभवं विना स्मृतिरेव नोत्पद्यत इत्यर्थापत्तिरेव तत्र मानमित्यर्थः। अर्थापत्तावन्यथोपपत्तिमाह **तवेति। किन्न स्यादिति।** स्मृतानुभवजन्यत्वस्यासिद्धेरित्यर्थः। एतदेवाह **न ह्यस्तीति। पूर्वानुभवोल्लेखस्तत्तोल्लेख** इत्यर्थः। **तत् किमिति।** यथा *सौत्रान्तिकैर्नीलाद्याकारकादाचित्कत्वान्यथानुपपत्त्यानुभवस्य* नीलादेः सिद्धिरिष्यते, तथा *नैयायिकेनापीष्यते।* **तथाभूतं ज्ञानमिति।**

प्रकाशः– नन्वतीतानुभववैशिष्ट्यरूपा तत्ता न मानसप्रत्यक्षवेद्या, अनुभवसत्त्वकाले तदतीतत्वाभावात्। तदत्ययकाले च विशेष्यासत्त्वादिति स्मृतिरेव तत्र मानमित्यगृहीतविषयतया सा प्रमा स्यादित्याह **यदीत्यादिना, न तर्हीत्यन्तेन। तत्किमिति।** *सौत्रान्तिकानां* घटाद्याकारज्ञानकादाचित्कत्वान्यथानुपपत्त्या घटादिकल्पनवत् तत्ताकारान्यथानुपपत्त्या पूर्वानुभवकल्पनमित्यर्थः। **तथाभूतमिति।** *सौत्रान्तिकमते* यथानैकान्तिकत्वं, तथा *त्वन्मतेऽपीत्यर्थः।*

मकरन्दः– **चेत्, मैवम्।** आपाद्ये प्रामाण्यपदद्वयस्य यथार्थत्वमात्रपरत्वात्, आपादके च यथार्थानुभवपरत्वात्। एवञ्चेच्छादेरापाद्यव्यतिरेकस्य व्याप्यस्यापाद्यव्यतिरेकस्य व्यापकस्य च सत्त्वाद्व्यतिरेकदृष्टान्तत्वमिति। **विशेष्यस्येति।** अतीतादि-विशेष्यकस्यानुभवस्येत्यर्थः। **अतीतानुभववैशिष्ट्येति।** यद्यप्येवं पौर्वापर्य्यमात्रं सिध्यति, न तु कार्य्यकारणभावः। अन्यथा योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहं स्पृशामीत्यादावपि तथा स्यात्। तथाप्यननुभूते स्मरणाभावादन्वयव्यतिरेकादिसहकृतमनसा तद्ग्रह इति भावः।

तद्वदेवानैकान्तिकत्वम्। न हि यदाकारं ज्ञानं, तत्पूर्वकत्वं तस्येति नियमः, अनागतज्ञाने विभ्रमे च व्यभिचारात्। द्वितीये तु, स्मृतिप्रामाण्यमवर्जनीयम्।

मा भूत्पूर्वानुभवसिद्धिः, किं नश्छिन्नमिति चेत्, न तर्हि स्मृत्यनुभवयोः कार्यकारणभावसिद्धिरिति। न, तदप्रामाण्येऽपि पूर्वापरावस्था वदात्मप्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यादेव तदुपपत्तेः। 'योऽहमन्वभवममुमर्थं सोऽहं स्मरामी'ति मानसप्रत्यक्षमस्तीति।

आमोदः– तद्विषयकज्ञानमित्यर्थः। आद्ये **तद्वदेवेति**। यथा *सौत्रान्तिक*मतेऽनैकान्तिकत्वं, तथा *तवापि* मते तत् प्रसज्यत इत्यर्थः। अनैकान्तिकत्वमेवाह **न हीति**। अतीतानागताकारं ज्ञानं न तु तत्पूर्वकमित्याकारककादाचित्कत्वं विषयसत्त्वेऽनैकान्तिकमित्यर्थः। **विभ्रम इति**। रजताकारस्य रजताजन्यत्वाद् व्यभिचार इत्यर्थः। **स्मृतिप्रामाण्यमिति**। तत्तांशः स्मृतिविषयतयैव प्रमेय इति स्मृतिरेव तत्र प्रमेत्यर्थः। ननु पूर्वानुभववैशिष्ट्यं न तत्ता, किन्त्वतीतधर्मवैशिष्ट्यम्। तथा च तत्तांशे न स्मृतिः प्रमा स्यादित्याह **मा भूदिति**। एवं सति अनुभवः स्मृतिजनक इत्यत्र प्रमाणमेव सिद्धान्तिनो न किमपि स्यादिति स्मृतिप्रामाण्यवादी पूर्वपक्षमाह **न तर्हीति**। सिद्धान्ती सिद्धान्तमुपक्रमते **नेति**। प्रत्यभिज्ञानस्वरूपमाह **योऽहमिति**। तथा च पूर्वानुभववैशिष्ट्यमेव तत्ता प्रत्यभिज्ञान एव भासते

प्रकाशः– तदेवाह **न हीति**। आकारेण ज्ञानस्यार्थजन्यत्वमनुमेयमर्थसत्त्वमात्रं वा? आद्ये अनागतार्थस्य वर्त्तमानज्ञानाकारणत्वादनैकान्तिकम्। अन्त्ये अनागतस्य कादाचित्कत्वेऽपि शुक्तौ सर्वदा रजतत्वाकारत्वासत्त्वाद्रजतत्वाकार भ्रमेऽनैकान्तिकमित्यर्थः। **द्वितीये त्विति**। तत्ताविषया स्मृतिरेव तत्तासिद्धिरिति सा प्रमा स्यादेवेत्यर्थः। तथा च स्मृत्यनुभवयोः कार्यकारणभावान्यथानुपपत्तेः स्मृतिः प्रमेति भावः।

अतीतानुभवविशिष्टे स्मृतिवैशिष्ट्यप्रत्यभिज्ञानं स्मृत्यनुभवयोः कार्यकारणभावग्राहकमित्यन्यथोपपत्त्या न स्मृतिः प्रमेत्याह **तदप्रामाण्येऽपीति**। प्रत्यभिज्ञानस्वरूपमाह **योऽहमिति**।

ननु केयं तत्ता? न तावदतीतानुभवविषयत्वम्। अतीतानुभवविषयत्वस्यानु भवाविषयतया स्मृत्या तदनुल्लेखापत्तेः। न च तस्यानुभवाविषयत्वेऽपि यदा ज्ञानान्तरेण ग्रहणं तदा स घट इति स्मृतिः, अन्यथा प्रमुष्टतत्तांशा घट इतीति वाच्यम्। अतीतानुभवविषयत्वस्यानुमितौ भानेऽपि स इति बुद्धेरभावात्।

न च गृहीतग्राहित्वमीश्वरज्ञानस्य, तदीयज्ञानान्तरागोचरत्वाद् विश्वस्य। न च तदेव ज्ञानं कालभेदेनाप्रमाणम्, अनपेक्षत्वस्यापरावृत्तेः। तथापि वा अप्रामाण्येऽतिप्रसङ्गादिति।

आमोदः– तत्प्रामाण्यादेवानुभवसिद्धिर्न तदर्थं स्मृतिप्रामाण्यापेक्षेति। अनुभवानन्तर-मनुव्यवसायेन संस्कारजननात्तेन च स्मृतिजननम्, ततः प्रत्यभिज्ञानं, तदुक्तं *तृतीयाध्याये टीकाकृता* 'प्रागनुभवः, पुनरनुभवोऽथ संस्कारोऽथ स्मृतिरथ प्रत्यभिज्ञानमिति।' वस्तुतस्तु स्मृतेः पारिभाषिकाप्रामाण्यविरहेऽपि तद्वति तत्प्रकारकत्वरूपं वस्तुसाधकं प्रमात्वमस्त्येवेति नोक्तदोषः। ईश्वरज्ञानेऽगृहीतग्राहित्वमुपपादयति न चेति। गृहीतत्वं चातीतग्रहणविषयत्वमेव वाच्यं प्रत्ययानुरोधात्। अतीतत्वं च ईश्वरज्ञाने नास्तीत्यर्थः।

प्रकाशः– नाप्यतीतधर्मवैशिष्ट्यम्। यदि हि यो वस्तुतोऽतीतो धर्मस्तद्वैशिष्ट्यं तत्ता, तदानुभवेऽपि तद्विषयत्वात्तत्तोल्लेखापत्तिः। अतीतधर्मविशिष्टः स इति सहप्रयोगानुपपत्तिश्च। नाप्यतीतत्वेन भासते यो धर्मस्तद्वैशिष्ट्यम्। भासमानधर्मस्यातीतत्वेनानुभवाविषयत्वात्, प्रत्युत वर्त्तमानत्वेनानुभवात्, स्मृतौ तत्तोल्लेखानापत्तेः। नाप्यतीतसमयसम्बन्धः। अनागतगोचरस्मृति प्रत्यभिज्ञयोस्तत्तोल्लेखानापत्तेः। इदन्तापि न तद्वृत्तिगुणादि। गुणादावभावात्। नापि प्रत्यक्षज्ञानगोचरत्वम्। अचाक्षुषत्वापत्तेः।

उच्यते। अनुभवे य एव धर्मः कालो वा वर्त्तमानत्वेन भासते स एव स्मृतावपि। तयोरेकविषयत्वेऽपि स्मृतावेव तच्छब्दोल्लेखः, संस्कारजज्ञानस्यैव तच्छब्दप्रयोगहेतुत्वात्, प्रत्यभिज्ञाने तथा कल्पनात्। तत्रैव च प्रत्यक्षानुभवेनेदं-शब्दप्रयोगः। विषयकृतश्च स्मृत्यनुभवयोर्विशेषो नास्त्येव। अत एवायं घट इत्यनुभवादयं घट इति न स्मृतिः। स घट इति स्मृतेश्च स घट इति नानुभवः। सह प्रयोगस्तु धर्मविशेषमादायेत्य*स्मत्पितृचरणाः*।

परलक्षणमभ्युपगम्य अनधिगतार्थगन्तृत्वमीश्वरज्ञानेऽप्यस्तीत्याह न चेति। ईश्वरस्य ज्ञानान्तराभावान्न तज्ज्ञानं गृहीतग्राहीत्यर्थः। पुरुषान्तरज्ञानान्तरगोचरत्वेन

मकरन्दः– तद्विषयेति। न चोत्तरकालत्वं व्यवहितकालत्वं विवक्षितमिति वाच्यम्। मासाद्यनन्तरतद्विषयज्ञानस्याप्यप्रमात्वव्यवहारादिति भावः। यद्यपि बुद्धिमात्रस्येत्यादिना निरासान्नेयं शङ्का, तथापि मूले तदनिरासात्तत्र तदविरोध इति भावः।

स्यादेतत्, अनुपकारकं विषयस्य, तदीयमेतदीयं वा न भवितुमर्हत्यविशेषात्। न च तस्येत्यनियतं तत्र प्रमाणमतिप्रसङ्गात्। न च तदभिज्ञमन्तरेण तदुपकारस्योत्पत्तिः, तथानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा, कार्यत्वस्यानैकान्तिकत्वात्।१। अत्रोच्यते –

आमोदः–अतिप्रसङ्गादिति। द्वितीयलक्षणे सर्वज्ञानाप्रामाण्यप्रसङ्गादित्यर्थः। पूर्वं ज्ञाततानिराकरणं प्रतिज्ञातम्, इदानीमवसरं प्राप्य तां निराकर्तुं *भट्टमत* मुत्थापयति **स्यादेतदिति**। यदि घटज्ञानेन घटविषये कश्चिदुपकारो ज्ञाततालक्षणो न जननीयः, तदा घटज्ञानस्य पटविषयता किन्न स्यान्नियामकाभावादित्यर्थः। ननु किं नियामकेनेत्यत आह **न चेति**। एवं सर्वं ज्ञानं सर्वविषयकं स्यादित्यर्थः। ननु घटज्ञानं घटे ज्ञाततां मा जनयतु, चक्षुरादिना ज्ञानजनकेनैव ज्ञातता जन्यतामत आह **न चेति**। यस्मिन्नुपादाने ज्ञाततालक्षणं कार्यं स्यात् तज्ज्ञानमावश्यकमित्यर्थः। **कार्यत्वस्येति**। क्षित्यादिकमुपादानगोचरज्ञानजन्यं कार्यत्वादिति। तज्ज्ञाततायामनैकान्तिकं स्यादित्यर्थः।१।

प्रकाशः– गृहीतग्राहित्वे अभिमतापि प्रमा न स्यात्।

अथ तद्विषयज्ञानोत्तरकालवर्त्तिसमानाश्रयतद्विषयकज्ञानत्वमेव गृहीतग्राहित्वम्। तन्न, बुद्धिमात्रस्य प्रमात्वाभावापत्तेः। यद्विषया बुद्धिरुत्पन्ना तद्विषयाया एव तस्याः स्वोत्पत्त्युत्तरक्षणेऽपि सत्त्वादिति भावः। नन्वीश्वरस्य ज्ञानान्तराभावेऽपि प्रथमक्षणे गृहीतस्यैव द्वितीयादिक्षणे ज्ञानाद् गृहीतग्राहित्वमस्त्येवेत्यत आह **न चेति**। **अनपेक्षत्वस्येति**। न हि स्मृतिवदुत्तरकालबुद्धिविषयत्वे पूर्वकालीनतद्विषयज्ञानापेक्षा ईश्वरज्ञानेऽस्तीत्यर्थः। **अतिप्रसङ्गादिति**। सर्वज्ञानानां द्वितीयादिक्षणे ग्रहणरूपत्वेनाप्रमात्वापातादित्यर्थः। वस्तुतो गृहीतेत्यत्र निष्ठार्थस्य ध्वंसस्यासम्भव एवेति भावः।१।

ननु विषयनियमान्यथानुपपत्त्या तदुपपादको विषयनिष्ठो ज्ञानजन्यो धर्मः स्वीकार्यः, तस्य च तदुपादानज्ञानजन्यत्वे तदुत्पत्तेः प्राक् तद्विषयत्वाभावात् कथं तदुत्पत्तिः, तदुपादानज्ञानाजन्यत्वे च क्षित्यादिसकर्तृकत्वग्राहकं कार्यत्वं तत्रैवानैकान्तिकमित्याह **स्यादेतदिति**। **न चेति**। तदीयोऽयं विषय इति नानियतं, किन्तु नियतमेव। तन्नियामकस्तज्जन्यधर्म एव वाच्यः। तेन तज्जन्यज्ञातता–

मकरन्दः– **नन्विति**। ननु कार्यत्वानैकान्तिकोद्भावनस्य नायमवसरः। न च ज्ञाततामादायागृहीतग्राहित्वमुपपादयितुं तत्साधनमेवेदमिति वाच्यम्। पूर्वनिरस्तत्वात्।

स्वभावनियमाभावादुपकारोऽपि दुर्घटः।
सुघटत्वेऽपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा।।२।।

विशेषाभावात्तत्रैव फलं नान्यत्रेत्यस्यापि नियमस्यानुपपत्तेः। स्वभावनियमेन चोपपत्तौ तथैव विषयव्यवस्थोपपत्तेः। अवश्यञ्चै तदनुमन्तव्यम्, अतीतादिविषयत्वानुरोधात्। न हि तत्र ज्ञानेन किञ्चित् क्रियते इति शक्यमवगन्तुम्, असत्त्वात्। न च तद्धर्मसामान्याधारं किञ्चित् क्रियते इति युक्तम्, तेन तस्यैव विषयत्वप्राप्तेः। तादात्म्याद्विशेषस्यापि सैव ज्ञाततेति चेत्, तत्किं चक्षुषा घटे ज्ञायमाने रसोऽपि ज्ञायते, तादात्म्यात्?

आमोदः– **स्वभावेति।** स्वभावसम्बन्धो यदि न नियामकः, तदा ज्ञाततापि घटीया न स्यात्। न हि सा सम्बन्धान्तरेण तस्य, तथा सति अनवस्थाप्रसङ्गात्। तथा च स्वभावसम्बन्धेन ज्ञानमेव घटीयमस्तु, किमुपकारेणेत्यर्थः। ननु घटो ज्ञात इत्यनुभवबलात् तत्रैव स्वभावसम्बन्धोऽस्तु, न तु ज्ञानविषययोरपीत्यत आह **सुघटत्वेऽपीति। सतीति।** विद्यमान इत्यर्थः। **असति** अतीतेऽनागते व। **का गतिरिति।** समवायिकारणं विना कार्यानुत्पत्तेरित्यर्थः।

ननु द्रव्यत्वं घटत्वं वा यद्विद्यमानं तत्रैव ज्ञातताधानमस्तु इत्याह **न चेति।** तादात्म्याच्च ज्ञाततैव तत्त्वतो ज्ञातता स्यादित्याह **तत् किमिति।** घटघटत्वयोरिव घटरसयोरपि तादत्म्याविशेषादित्यर्थः। **अथेति।** तेनाप्याकारेण तादात्म्यादित्यर्थः।

प्रकाशः– श्रयत्वमेव तद्विषयत्वमित्यर्थः।

ज्ञानस्य ज्ञेयनिष्ठोपकाराधानेऽपि नियामकः स्वभाव एव वाच्यः। तथा च तत एव विषयनियमोपपत्तौ किमुपकाराधानेनेत्याह **स्वभावेति।** विद्यमानेऽर्थे ज्ञानजन्योपकारसम्भवेऽप्यतीताद्यर्थे तदसम्भवाद् यथा तत्र स्वभाव एव विषयत्वनियामकः, तथा विद्यमानेऽप्यर्थेऽस्त्वित्याह **सुघटत्वेऽपीति।**

अतीतादिघटादौ भासमाने घटत्वादेरपि भासनात्तत्रैव ज्ञाततोत्पत्तिः स्यादित्यपि नास्तीत्याह **न चेति।** तथा सति ज्ञातनाश्रयत्वाद् घटादिर्विषयो न स्यात्, घटत्वादौ ज्ञातताधानात्तस्यैव तद्विषयत्वादित्यर्थः। ननु धर्मधर्मिणोस्तादात्म्या-त्तद्धर्मज्ञातता तस्यैवेत्याह **तादात्म्यादिति। तत्किमिति।** ननु धर्मिणो धर्माभेदेऽपि

मकरन्दः–न च तदभिज्ञानमित्यादिना तदुत्पत्त्यसम्भवोपन्यासस्य विरुद्धत्वापाताच्च इति चेत्, मैवम्। यथार्थानुभवत्वादिकं प्रामाण्यं ज्ञानस्य स्वविषये स्यात्। विषयता च नियामकं विनानुपपन्ना। ज्ञाततायास्तथात्वे कार्यत्वानैकान्तिकत्वापत्त्या तदुपादानज्ञानजन्यत्वमवश्यं वाच्यम्। तच्च तदुत्पत्तेः प्राक् तद्विषयत्वाभावाद

घटाकारेण ज्ञायत एवासौ रस इति चेत्, अथ रसाकारेण किं न ज्ञायते? तेन रूपेण ज्ञाततानाधारत्वादिति चेत्, न तर्हि वर्तमानसामान्य ज्ञानेऽप्यतीतानागतादिज्ञानम्। तेनाकारेण प्राकट्यानाधारत्वादिति।२।

ननु क्रियया कर्मणि किञ्चित् कर्तव्यमिति व्याप्तेरस्त्वनुमानम्? न।

अनैकान्त्यादसिद्धेर्वा न च लिङ्गमिह क्रिया।
तद्वैशिष्ट्यप्रकाशत्वान्नाध्यक्षानुभवोऽधिके।।३।।

आमोदः– ननु येन रूपेण ज्ञातताधानं तेनैव तादात्म्यबलात्तज्ज्ञानं भवति, न त्वन्येनेति शङ्कते तेनेति। वर्तमानसामान्येति। वर्तमानञ्च तत्सामान्यञ्चेत्यर्थः। तेनाकारेणेति। अतीतानागताकारेणेत्यर्थः। प्राकट्यं ज्ञातता।२।

ज्ञाततासाधकं प्रकारान्तरं शङ्कते नन्विति। ज्ञानस्यापि क्रियात्वेन तेनापि कर्मणि विषये घटादौ किमपि जननीयं तेन धात्वर्थावच्छेदकपरसमवेत क्रियाफलशालित्वं कर्मत्वं विषयस्य निर्वहतीत्यर्थः। अनैकान्त्यादसिद्धेर्वेति व्यवस्थितो विकल्पः। धात्वर्थविवक्षायामनैकान्तिकत्वमेव, स्पन्दविवक्षायां स्वरूपासिद्धिरेव। ननु ज्ञातो घट इत्यनुभव एव ज्ञाततायां प्रमाणमित्यत आह तद्वैशिष्ट्येति। तदिति ज्ञानं परामृशति। तेन ज्ञातो घट इत्यत्र ज्ञानवैशिष्ट्यमेव प्रकाशते, न तु ज्ञाततावैशिष्ट्यम्। अधिके ज्ञाततायाम्।

प्रकाशः– धर्मस्य न धर्म्यभेदः। भेदाभेदाङ्गीकारात्। तथा च धर्मे ज्ञायमाने तदभिन्नो धर्मी ज्ञायतां, धर्मिणि ज्ञायमाने तद्भिन्नो धर्मः कथं ज्ञायेत। मैवम्। भेदाभेदस्य विरोधेनासम्भवात्।२।

ननु धात्वर्थावच्छेदकपरसमवेतक्रियाफलशालित्वं कर्मत्वमिति ज्ञानक्रियायाः स्वकर्मनिष्ठफलजनकत्वाज्ज्ञातता स्यादित्याह नन्विति। क्रिया न धात्वर्थमात्रं, शरसंयोगादिना धात्वर्थेन कर्मणि गगनादौ तदजननादनैकान्तिकत्वात्। नापि स्पन्दः, ज्ञाने स्पन्दत्वाभावात्। नापि करणव्यापारत्वं, शब्दादिव्यापारपदार्थ स्मृत्यादिभिरनैकान्तिकत्वादित्याह अनैकान्त्यादिति। इह ज्ञाततायाम्। ननु प्रत्यक्षैव ज्ञातता, संयुक्त इतिवज्ज्ञात इत्यनुभवादित्यत आह तद्वैशिष्ट्येति। ज्ञातानुभवो

मकरन्दः–सम्भवीति न प्रामाण्यव्यवस्थितिरिति तटस्थशङ्कापरत्वेनास्य सङ्गतत्वात्।

ननु चैत्रो गच्छतीत्यत्र परसमवेतगमनक्रियायाः फलमुत्तरदेशसंयोगवत् पूर्वदेशविभागोऽपीति पूर्वदेशेऽतिव्याप्तिरित्यत उक्तं – धात्वर्थतावच्छेदकेति

धात्वर्थमात्राभिप्रायेण प्रयोगे संयोगादिभिरनेकान्तात्। न हि शरसंयोगेन गगने किञ्चित् क्रियते, अन्त्यशब्दाभिव्यक्त्या वा। स्पन्दाभिप्रायेणासिद्धेः। व्यापाराभिप्रायेण शब्दलिङ्गेन्द्रिय व्यापारैर्व्यभिचारात्। न हि तैः प्रमेये किञ्चित् क्रियते, अपि तु प्रमातर्येव। फलाभिप्रायेणापि तथा। अन्ततस्तेनैवानेकान्तात्, अनवस्थानाच्च।

आमोदः– न हीति। शरेण संयुज्यते गगनमित्यत्र धात्वर्थः संयोगः, न तु तेन गगने कर्मणि धात्वर्थावच्छेदकं किञ्चित् फलं जन्यत इत्यर्थः। 'अन्त्यशब्दाभिव्यक्त्या वेति। अत्रा'भिव्यक्तिरुत्पत्तिः। अनन्त्यशब्देन गगने शब्दस्य जननाद् व्यभिचारः स्यादेवेति भावः। अपव्याख्यानमन्यत्। अन्त्यशब्दस्यातीन्द्रियत्वाभ्युपगमात्। असिद्धेरिति। ज्ञानस्पन्दत्वाभावादिति भावः। शब्दलिङ्गेन्द्रियेति। पदार्थस्मरणसन्निकर्ष लिङ्गपरामर्शैः प्रमेये किमपि न जन्यत इति भवति व्यभिचार इति भावः। फलेति। शब्दादिव्यापाराणामपि फलरूपत्वात् तत्रैव व्यभिचार इत्यर्थः। तेनैवेति। प्राकट्येनैवेत्यर्थः, फलेनैव वा। ननु फलेनैव किञ्चित् किञ्चित् क्रियतामत आह अनवस्थानादिति।

प्रकाशः– ज्ञानवैशिष्ट्यमात्रविषयको नातिरिक्तविषयतायां मानमित्यर्थः।

अन्त्यशब्देति। न चान्त्यशब्दाभिव्यक्त्या तत्र ज्ञाततैवोत्पद्यते इति वाच्यम्। तस्याव्यवहितोत्तरक्षण एव नाशात्। समवायिकारणस्य च कार्यसमान कालतानियमात्। शब्दनित्यत्वस्य च निषेधादिति भावः। असिद्धेरिति। ज्ञानक्रिया न स्पन्द इत्यर्थः। ननु क्रिया फलमत्र, यद्धि फलं तत्प्रमेयनिष्ठकिञ्चिज्जनकं, प्रयत्नवदात्मसंयोगवदित्यत आह फलेति। अन्तत इति। फलेनापि फलजननेऽनवस्थेति क्वचिद्विश्रान्तौ तेनैव व्यभिचार इत्यर्थः। आशुविनाशित्वं

मकरन्दः– फलविशेषणम्। उत्तरसंयोगावच्छिन्नस्पन्दस्य धात्वर्थत्वाद्विभागो न तथेत्याहुः। घटं जानाति चैत्र इत्यत्र ज्ञानक्रियाफलमिच्छादि, तच्छालितयात्मन्यति-व्याप्तिरित्यत उक्तं परेति। न चाभावो घटमाश्रयते इत्यादावव्याप्तिः, आश्रयणक्रियाया अभावे समवेतत्वाभावादिति वाच्यम्। परसमवेतपदस्य सम्बन्धपरत्वात्। अतिरिक्तेति। ज्ञाततायामित्यर्थः। तस्येति। नचैवं प्रत्यक्षमपि कथं स्यादिति वाच्यम्। पूर्ववर्त्तितामात्रेणैव तस्य तद्धेतुत्वात्। समवायिकारणमात्रस्यैव कार्यसमानकालत्वनियमादिति भावः।

आशुविनाशिधर्माभिप्रायेण द्वित्वादिभिरनियमात्। आशुकारकाभिप्रायेण कर्मण्यसिद्धेः। कर्मण्याशुकारकं ज्ञानमित्येव हि साध्यम्। कर्त्तर्याशुकारकत्वस्य कर्मोपकारत्वेनाव्याप्तेः। शब्दादिव्यापारै रेवानेकान्तात्।

स्यादेतत्, अनुभवसिद्धमेव प्राकट्यम्। तथा हि – ज्ञातोऽयमर्थ इति सामान्यतः, साक्षात्कृतोऽयमर्थ इति विशेषतो विषयविशेषणमेव किञ्चित् परिस्फुरतीति चेत्, तदसत्।३। यथा हि –

अर्थेनैव विशेषो हि निकारतया धियाम्।

तथा –

क्रिययैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम्।।४।।

आमोदः- अनियमादिति। व्यभिचारादित्यर्थः। असिद्धेरिति। कर्मण्याशुकारकत्वस्य हेतोः साध्याविशिष्टत्वादित्यर्थः। कर्तर्याशुकारकत्वं च हेतुः शब्दादिव्यापारे व्यभिचारीत्याह कर्तरीति। द्वितीयार्धं व्याख्यातुं शङ्कते अनुभवेति ।३।

प्रत्यक्षमन्यथोपपादयति यथा हीति। यथा यदस्य ज्ञानमित्यत्रार्थो ज्ञानविशेषणं, तथा ज्ञातो घट इत्यत्र ज्ञानमेवार्थविशेषणमित्यर्थः। ननु ज्ञाननिष्ठं घटत्वं ज्ञानाकार इति तदेव ज्ञानं विशेषयति न त्वर्थ इत्यत आह निराकारतयेति। न हि घटत्वादिकमपि ज्ञानाकारो येन ज्ञानं विशिंष्यादित्यर्थः।

प्रकाशः- क्षणचतुष्टयानवस्थायित्वम्। अनियमाद्, व्यभिचारादित्यर्थः। कर्मण्याशुकारकत्वं हेतुः, कर्त्तर्याशुकारकत्वं वा, आशुकारकत्वमात्रं वा?। नाद्यः, साध्याविशिष्टतया हेतोरसिद्धत्वादित्याह कर्मणीति। न द्वितीयतृतीयावनेकान्तादित्याह कर्त्तरीति। शब्दादिव्यापारैः पदार्थस्मृतिलिङ्गपरामर्शादिभिर्वाक्यार्थज्ञानानुमित्यादिकं कर्त्तर्याशुक्रियते। न च कर्मणि वाक्यार्थे अनुमेयादौ वा किञ्चित् क्रियते इत्यनैकान्तिकमित्यर्थः।३।

कारिकोत्तरार्द्धं व्याख्यातुं शङ्कते अनुभवेति। निराकारमपि ज्ञानं यथा विषयेण नीलत्वादिना नीलज्ञानाद्युच्यते, तथा ज्ञानरूपक्रिययैव ज्ञातो घट इति धीव्यपदेशौ, इत्थमनभ्युपगमे च कृतो घट इत्यादावपि कृत्यादिजनितधर्माधारो घटः स्यात्। न चैतत् त्वयेष्यते, इति परिहरति यथा हीति। घटक्रियेत्यत्र क्रियायामर्थो विशेषकः, कृतो घट इत्यत्रार्थे क्रिया विशेषिकेति भेदः। एवं घटज्ञानमित्यत्रार्थो ज्ञाने विशेषणं,

किं न पश्यसि, घटक्रिया घटक्रियेतिवत् कृतो घटः, करिष्यते घट इत्यादि। तथैव गृहाण, घटज्ञानं पटज्ञानमितिवत् ज्ञातो घटो ज्ञास्यते ज्ञायते इति। कथमसम्बद्धयोर्धर्मधर्मिभाव इति चेत्, ध्वस्तो घट इति यथा। एतदपि कथमिति चेत्, नूनं ध्वंसेनापि घटे किञ्चित् क्रियते इति वक्तुमध्यवसितोऽसि। तन्निरूपणाधीननिरूपणो ध्वंसः स्वभावादेव तदीय इति किमत्र सम्बन्धान्तरेणेति चेत्, प्रकृतेऽप्येवमेव।

आमोदः- कृतो घट इति। अन्यथा ज्ञाततावत् कृततादीनामपि स्वीकारापत्तेरिति भावः। न च यथापेक्षाबुद्धिः द्वित्वादिकमाधत्ते, तथा ज्ञानावच्छेदेनैवं कर्मणि किञ्चिदाधायकत्वमङ्गीकर्तव्यमिति वाच्यम्। तत्रानुभवबलात् तथास्तु, अन्यत्रानुभवोऽन्यथासिद्धो ज्ञानत्वञ्च हेतुरप्रयोजक इति भावः। **असम्बद्धयो**र्ज्ञानार्थयोरित्यर्थः। **ध्वस्त** इति। तत्राप्यसम्बन्धेन भिन्नकालेनैव ध्वंसेन यथा धर्मधर्मिभाव इत्यर्थः। परमुखेन प्रकृते धर्मधर्मिभावं समर्थयति **स्वभावादे**वेति। स्वरूपसम्बन्धादेवेत्यर्थः। स्वरूपादेवेति क्वचित् पाठः, तस्याप्ययमर्थः।

प्रकाशः- ज्ञातो घट इत्यत्रार्थे ज्ञानं विशेषणम्।

ननु घटोऽयमिति ज्ञानं घटधर्मिककिञ्चिद्धर्मजनकं घटज्ञानत्वाद् अपेक्षाबुद्धिवत्। न चापेक्षाबुद्धित्वमुपाधिः। घटसंयोगादिजनकावयवसंयोगादौ साध्याव्यापकत्वात्। मैवम्, अप्रयोजकत्वात्। अन्यथेच्छा स्वविषयनिष्ठ किञ्चिद्धर्मजनिका सविषयकत्वात् बुद्धिवदित्यादेरापत्तेः। तथापि ज्ञातो घट इति ज्ञानं विशेषणविशेष्ययोः सम्बन्धविषयकं विशिष्टज्ञानत्वात्, गौरिति ज्ञानवत्। वर्त्तमानेऽर्थे बाधकाभावात्। अन्यथा समवायोऽपि न सिद्ध्येदिति चेन्न। अतीतानागतयोर्ज्ञातताया अभावेन ज्ञातव्यवहाराभावापत्तेः। तस्य ज्ञाततासाध्यत्वात्। तत्र ज्ञानविषयावेव तद्विषयाविति चेन्न। वर्त्तमानेऽपि तयोरेव तद्विषयत्वापत्तेः। अतीतादिवर्त्तमानतत्प्रतीत्योर्वैलक्षण्याननुभवात्। अथ घटपटयोरेकज्ञानविषयत्वेऽपि घटत्वेन घटो ज्ञातः, पटत्वेन पटो ज्ञात इति ज्ञातताभेदभानाज्ज्ञानभिन्ना ज्ञाततेति चेन्न। तस्यैव ज्ञानस्य सम्बन्धस्तत्र तत्र तेन तेन धर्मेण निरूप्यते इति ज्ञानस्वभावादेव नियमादिति भावः। प्रतिबन्धिमुक्त्वा मूलयुक्तिमाह **तन्निरूपणे**ति।

मकरन्दः- अप्रयोजकत्वादित्युपलक्षणम्। पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकमपेक्षाबुद्धित्वमुपाधिरित्यपि द्रष्टव्यम्। **अन्यथे**ति। यदि सम्बन्धं विना विशिष्टधीः, तदेत्यर्थः।

एतेन फलानाधारत्वादर्थः कथं कर्मेति निरस्तम्। विनाश्यवत् करणव्यापारविषयत्वेन तदुपपत्तेः। स्वाभाविकफलनिरूपकत्वञ्च तुल्यम्।

ननु ज्ञानमतीन्द्रियत्वादसाधारणकार्यानुमेयं तदभावे कथमनुमीयेत। अप्रतीतञ्च कथं व्यवहारपथमवतरेदिति ज्ञानव्यवहारान्यथानुपपत्त्या ज्ञाततकल्पनम्। तदप्यसत्, परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। ज्ञाततया हि ज्ञानमनुमीयेत, ज्ञाते च तद्व्यवहारान्यथानुपपत्तिस्तां ज्ञापयेत्। कुतश्च ज्ञानमतीन्द्रियम्?। इन्द्रियेणानुपलभ्यमानत्वादिति चेन्न। अनुमानोपन्यासे साध्याविशिष्टत्वात्। अनुपलब्धिमात्रोपन्यासे तु योग्यताऽविशेषिताऽसौ कथमैन्द्रियकोपलम्भाभावं गमयेत्? तद्विशेषणे तु कथमतीन्द्रियं ज्ञानमिति।

आमोदः- एतेनेति। परसमवेतक्रियाफलशलिन एव कर्मत्वादित्यर्थः। विनाश्यवदिति। मुद्गरेण घटं नाशयतीत्यत्र मुद्गरस्य करणस्य यो व्यापारो नाशस्तेन सह स्वरूपसम्बन्धेन तद्विषयत्वं यथोपपाद्यते तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थः। यथात्र द्वितीया प्रयोगमात्रसाधुस्तथा प्रकृतेऽपि स्यादिति भावः। न च घटपटयोरेकज्ञानविषयत्वे घटो ज्ञातः पटो ज्ञात इति भिन्नभिन्नज्ञाततानुभवः, कथमिति चेत्, न। तत्रैकस्यैव ज्ञानस्योभयविशेषणत्वेन प्रतीतेरिति भावः। असाधारणेति। स चासाधारणो धर्मः प्राकट्यमेवेत्यर्थः। ननु याज्ञायि (?) ज्ञानं किमतः स्यादित्याह अप्रतीतमिति। अनुपलब्धिमात्रेति। अनुपलब्धिमात्रमेवैन्द्रियकस्य उपलम्भस्याभावं गमयेद् यदि, तदा परमाण्वाद्यभावमपि गमयेदित्यर्थः। अनुपलब्धिमात्रमुपलम्भाभावः न गमयति, किन्त्वैन्द्रियकत्वाभावं गमयतीति चेत्, न। ऐन्द्रियकत्वस्याप्यतीन्द्रियतया अनुपलब्धिमात्रेण तदभावावगमे परमाण्वाद्यभावमपि गमयेदिति भावः। योग्यानुपलम्भस्य तूपलम्भाभावबोधकत्वाभ्युपगमे ज्ञानयोग्यत्वस्य *त्वयैव* स्वीकारादित्याह तद्विशेषणे त्विति।

प्रकाशः- ननु ज्ञानजन्यफलानाश्रयत्वादर्थः कर्म न स्यादित्यत आह एतेनेति। परसमवेतक्रियाफलशालित्वं न कर्मत्वम्। आत्मानं जानातीत्यत्राव्याप्तेः, किन्तु करणव्यापारविषयत्वम्। तच्चात्रास्त्येवेत्याह विनाश्यवदिति। अर्थो ज्ञानस्य कर्मैव न भवति, अतीतादेरप्यर्थत्वात्, कारकविशेषस्य च कर्मत्वात्। अतीतानागतं जानामीति द्वितीयाप्रयोगः साधुरिति तु तत्त्वम्। स्वाभाविकेति। यथा कर्तृव्यापारफलं विनाशः प्रतियोगिनिरूप्यः, तथा ज्ञानमपि विषयनिरूप्यमित्यर्थः।

तद्विशेषणे त्विति। यदि योग्यानुपलब्ध्या योग्यस्य ज्ञानस्याभावो गृह्यते,

तथाविधज्ञातताताश्रयत्वादिति चेन्न। आश्रयासिद्धेः। व्यवहारान्यथानुपपत्त्यैव सिद्ध आश्रय इति चेन्न। ज्ञानहेतुनैव तदुपपत्तेः। तस्याऽऽत्ममनःसंयोगादिरूपस्य सत्त्वेऽपि सुषुप्तिदशायामर्थव्यवहाराभावान्नैवमिति चेन्न। तावन्मात्रस्य व्यवहाराहेतुत्वात्। अन्यथा ज्ञानस्वीकारेऽपि तुल्यत्वात्। स्मरणान्यथानुपपत्त्येति चेन्न। तस्याप्यसिद्धेः।

अस्ति तावद्व्यवहारनिमित्तं किञ्चिदिति चेत्, किमतः? न ह्येतावता ज्ञानं तदिति सिद्ध्यति, तस्यैवासिद्धेः।

आमोदः– ननु ज्ञानमतीन्द्रियं तथाविधज्ञातताताधारत्वादित्यनुमानमस्तु इत्याह तथाविधेति। साक्षात्कृतताताधारत्वादिति हेत्वर्थः। ज्ञानस्य पक्षस्यासिद्धेरित्याह आश्रयेति। व्यवहारेति। ज्ञानमन्तरेण घटादिव्यवहारोऽपि न स्यादिति सिद्धं ज्ञानमित्यर्थः। तद्धेतोरेव तत्सम्भव इत्याह नेति। व्यवहारं प्रति ज्ञानहेतोरन्वयव्यभिचारं दर्शयति तस्येति। अन्वयव्यभिचारो न दोषः इत्याह तावन्मात्रस्येति। आत्मनः संयोगमात्रस्येत्यर्थः। अन्यथेति। सैव चेत् ज्ञानसामग्री तदा सुषुप्तावस्थायां ज्ञानमेव कुतो नोत्पद्यत इत्यर्थः। स्मरणेति। ज्ञानं विना स्मरणमनुपपन्नमिति ज्ञानकल्पनेत्यर्थः। तस्यापीति। स्मरणस्यापि ज्ञानत्वेनाद्याप्यसिद्धेरित्यर्थः। अस्ति तावदिति। तच्च ज्ञानमेव पर्यवस्यतीति भावः। गूढाभिसन्धिराह न हीति। तस्यैवेति। व्यवहारो ज्ञानजन्य

प्रकाशः–तदा सिद्धमैन्द्रियकत्वं ज्ञानस्येत्यर्थः। तथाविधेति। साक्षात्कृतताताश्रयत्वादित्यर्थः। आश्रयेति। ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वे मानान्तरासम्भवेनाश्रयस्य ज्ञानस्यासिद्धेरित्यर्थः। ज्ञानस्य प्रत्यक्षतया स्वरूपासिद्धेश्चेति भावः। अज्ञाते घटादिव्यवहारो न स्यात्, तस्य व्यवहर्तव्यज्ञानसाध्यत्वादिति कार्येण कारणानुमानात् सिद्ध आश्रय इत्याह व्यवहारेति। ज्ञानहेतुत्वेनाभिमतादेवावश्यकाद्व्यवहारोपपत्तौ न तेन ज्ञानानुमानमित्याह ज्ञानेति। ज्ञानहेतुसद्भावेऽपि व्यवहाराभावान्न तेनान्यथासिद्धिरित्याह तस्येति। ज्ञानहेतुसद्भावे सुषुप्तौ कुतो ज्ञानमेव न जायते? तावन्मात्रस्याहेतुत्वादिति यदि, तदा या ज्ञानसामग्री सा व्यवहारसामग्र्यस्तु किमान्तरालिकेन ज्ञानेनेत्याह तावन्मात्रस्येति। अन्यथेति। ज्ञानमेव तदा किं न स्यादित्यर्थः। तस्यापीति। स्मरणस्यापि ज्ञानत्वेनातीन्द्रियत्वादसिद्धिरित्यर्थः। अत्राप्यनुभवकारणादेव स्मरणोत्पत्तिरित्यन्यथासिद्धिरिति भावः। तदिति। व्यवहारनिमित्तमित्यर्थः। तस्यैवेति। ज्ञानासिद्ध्या व्यवहारे तज्जन्यत्वा–

तथापि नियतस्य कर्तुः प्रवृत्तेः कर्तृधर्मेणैव केनचित्प्रवृत्तिहेतुना भवितव्यमिति चेत्, अस्त्विच्छा प्रत्यक्षसिद्धा, न तु ज्ञानम्। सैव कथं नियताधिकरणे उत्पद्यतामिति चेन्न। ज्ञानाभ्युपगमेऽपि तुल्यत्वात्। स्वहेतोः कुतश्चिदिति चेत्, तत एव इच्छा अस्तु, किं ज्ञानकल्पनयेति?

स्यादेतत्। प्रकाशमाने खल्वर्थे तदुपादित्सादिरुपजायते, न तु सुषुप्त्यवस्थायामप्रकाशमानेऽप्यर्थे इत्यनुभवसिद्धम्। तत इच्छायाः कारणं विलक्षणमेव किञ्चित्परिकल्पनीयम्, यस्मिन् सति सुस्वापलक्षण मौदासीन्यमर्थविषयमात्मनो निवर्तते इति चेत्, हन्तैवं सुस्वाप निवृत्तिमनुभवसिद्धां प्रतिजानानेन ज्ञानमेवापरोक्षमिष्यते। अचेतयन्नेव हि

आमोदः-इति कार्यकारणभावग्रहे सति व्यवहाररूपं कार्यं स्वकारणतया ज्ञानं गमयेत्, अयञ्च कार्यकारणभावग्रहो ज्ञानसिद्ध्या सिद्ध्येत्, तदेव तु न सिद्धमस्तीत्यर्थः। कर्तृधर्मेणेति। ज्ञानसामग्री च न कर्तृधर्म इति न तयाऽन्यथासिद्धिः। कर्तृधर्मो हि तत्समवेत इष्यत इत्यर्थः। प्रत्यक्षसिद्धा तन्मतेऽपीति शेषः। कथमिति। ज्ञानमन्तरेणेत्यर्थः। ज्ञानेति। ज्ञानमप्यनियताधिकरणं कथमुत्पद्यतामिति तुल्यमित्यर्थः। कुतश्चिदिति नियतादित्यर्थः। इच्छोत्पत्तिरेव तस्मान्नियामकात् किं न स्यादित्याह तत् इति। विलक्षणमिति। येनार्थस्य प्रकाशमानता सम्भवति, इच्छादिकं तु न तथेत्यर्थः। अनुभवसिद्धमिति। पूर्वपक्षिणा यदुक्तं तत्रानुभवपदं प्रत्यक्षपरतया गृहीत्वा दूषयति हन्तेति। सुस्वापनिवृत्तेर्ज्ञानपरतामाह अचेतयन्निति।

प्रकाशः- निश्चयादित्यर्थः। कर्तृधर्मप्रवृत्तेः कर्तृधर्मकार्यत्वात् कर्तृधर्मतया ज्ञानं सिद्ध्येदित्याह तथापीति। इच्छा स्वविषयविषयकात्मधर्मजन्या नियतविषयक-धर्मत्वात् प्रयत्नवदित्यभिप्रेत्याह सैवेति। अनुमानं ज्ञान एवानैकान्तिकमित्यभिप्रेत्याह ज्ञानेति। न च ज्ञानहेतोरननुगमाद् व्यभिचारेण कारणत्वासम्भवः। परेषामेक-शक्तिमत्त्वेनापि कारणत्वग्रहसम्भवादिति भावः। अनुभवसिद्धमिति। यद्यप्येकत्रात्मन्येकदा आशुतरविनाशिगुणत्रयानवस्थानादिच्छाज्ञानयोः पौर्वापर्यानुभवो न सम्भवति, तथापि ज्ञानव्यतिरेकाव्यवहितोत्तरकाले इच्छाव्यतिरेकनियमात् कार्यकारणभावग्रह इति भावः।

मकरन्दः- अस्तु वा स्मरणं, तथापि तदन्यथानुपपत्त्या नानुभवसिद्धिः। तत्कारणेनान्यथासिद्धेरित्याह अत्रापीति। परेषामिति। तथा च तन्मते ज्ञानहेतुना तदन्यथासिद्धिः स्यादेवेति भावः। तथापीति। अत्र व्यतिरेकपदं प्रागभावपरम्।

सुषुप्त इत्युच्यते, अचैतन्यनिवृत्तिरेव हि चैतन्यं ज्ञानमिति। तथा च कालात्ययापदिष्टो हेतुः। एतेन क्षणिकत्वादिति निरस्तम्।

अपि च – किमिदं क्षणिकत्वं नाम?। यद्याशुतरविनाशित्वं, तदानैकान्तिकम्। अथैकक्षणावस्थायित्वं, तदसिद्धं प्रमाणाभावात्।

ननु स्थायिविज्ञानं यादृशमर्थक्षणं गृह्णदुत्पद्यते, द्वितीयेऽपि क्षणे किं तादृशमेव गृह्णाति, अन्यादृशं वा, न वा कमपीति?। न प्रथमः, तस्य क्षणस्यातीत्वात्। प्रत्यक्षज्ञानस्य च वर्तमानाभत्वात्। न चातीतमेव वर्तमानाभतयोल्लिखति, भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, विरम्य व्यापारायोगात्। प्रथमतोऽपि तथाभ्युपगमेऽनागतावेक्षणप्रसङ्गात्। न तृतीयः, ज्ञानत्वहानेरिति *महाव्रतीयाः*।

आमोदः- तथा चेति। ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे सिद्धे ज्ञानातीन्द्रियत्वसाधकं तथाविधज्ञातताना्श्रयत्वं हेतुर्बाधितमित्यर्थः। एतेनेति। बाधेनेत्यर्थः। अनैकन्तिकमिति। शब्दविभागादाविति शेषः। एकक्षणावस्थायित्वम् एकक्षणमात्रावस्थायित्वमित्यर्थः। तदसिद्धमिति। ज्ञानस्यापि तत्क्षणद्वयाव-स्थायित्वादिति भावः। ज्ञानस्य क्षणिकत्वं प्रमाणयन्नाशङ्कते नन्विति। स्थायिविज्ञानमिति यद्युपनिबन्धेन। अर्थक्षणमिति। अर्थावच्छेदकं कालोपाधिम् अर्थस्वरूपं वा। वर्तमानाभत्वात् वर्तमानाकारत्वात्। भ्रान्तत्वेति। अयथार्थविषयित्वादित्यर्थः। विरम्येति। यमर्थमालम्ब्योत्पद्यते यज्ज्ञानं तस्य तदतिरिक्तार्थानवगाहनस्वाभाव्यपरित्यागादित्यर्थः। ज्ञानत्वेति। अर्थप्रवणस्यैव ज्ञानत्वादिति भावः। महाव्रतीयाः भट्टैकदेशिनः।

प्रकाशः- एतेनेति। कालात्ययापदेशेनेत्यर्थः। तदानैकान्तिकमिति। इच्छादावित्यर्थः। यादृशं, वर्त्तमानक्षणावच्छिन्नम्। अन्यादृशं द्वितीयक्षणावच्छिन्नम्। तस्येति। द्वितीये क्षणे इत्यनुषज्ज्यते। वर्त्तमानाभत्वादिति वर्त्तमानविषयत्वादित्यर्थः। विरम्येति। ज्ञानं हि यं विषयीकृत्य उत्पन्नं, न तं जहाति, नान्यं वा विषयीकरोतीति ज्ञानस्वभावादित्यर्थः। न च प्रथमत एव तद्विषयीकरणे हेतुरस्ति, भावित्वेनार्थस्य तदानीमवर्त्तमानत्वादित्याह प्रथमतोऽपीति। द्वितीयक्षणे पूर्वक्षणविषयीभूतस्यार्थस्य वर्त्तमानता भासते, तथा च तत्क्षणनाशेऽपि तथाविधमर्थं विषयीकुर्वज्ज्ञानम-

---

मकरन्दः–अन्यथा ज्ञाननाशेऽपीच्छा सत्त्वान्नियमभङ्गापत्तेः। वर्त्तमानतेति। प्रथमक्षणा-वच्छिन्नता भासते इत्यर्थः। तत्क्षणेति। प्रथमक्षणनाशेऽपीत्यर्थः। तथाविधं प्रथमक्षणा-

तदसत्। ज्ञानं गृह्णातीत्यस्यैवार्थस्यानभ्युपगमात्। अपि तु तदेव ग्रहणमित्यभ्युपगमः। तथा च ज्ञानं प्रथमे क्षणे यमर्थमालम्ब्य जातं, द्वितीयेऽपि क्षणे तदालम्बनमेव तन्न वेति प्रश्नार्थः। तत्र तदालम्बनमेव तदिति परमार्थः। न चैवं भ्रान्तत्वम्, विपरीतानवगाहनात्। तथापि ज्ञेयनिवृत्तौ कथं ज्ञानानुवृत्तिः? तदनुवृत्तौ वा कथं ज्ञेयनिवृत्तिरिति चेत्, किमस्मिन्ननुपपन्नम्? न हि ज्ञानमर्थश्चेत्येकं तत्त्वमेकायुष्कं वेति।

सत्यपि वा क्षणिकत्वे कथमप्रत्यक्षम्? इत्थं, यथोच्यते – न स्वप्रकाशं, वस्तुत्वादितरवस्तुवत्। न च ज्ञानान्तरग्राह्यम्, ज्ञानयौगपद्यनिषेधेन समानकालस्य तस्याभावात्। ग्राहककाले ग्राह्यस्यातीतत्वेन वर्तमानाभत्वानुपपत्तेः। ग्राह्यकाले च ग्राहकस्यानागतत्वादिति चेत्। नन्वेवं ज्ञातताऽपि न प्रत्यक्षा स्यात्,

---

आमोदः– शब्दाकौशलमाह ज्ञानमिति। धात्वर्थस्य क्रियायाः कर्तृत्वविरोधादिति भावः। यमर्थमालम्ब्य ज्ञानमुत्पन्नं द्वितीयेऽपि क्षणे सोऽर्थो वर्तत एवेति तत्रापि तज्ज्ञानस्य वर्तमानाभत्वं न निरुद्धं, न चातिरिक्तावगाहित्वं येन विरम्य व्यापारत्वापत्तिर्न बाध्या (?) दृश्यत्वेन तदर्थज्ञानं येन भ्रान्तत्वापत्तिरिति समाधत्ते तत्र चेति। ज्ञेयनिवृत्तावि'त्यभ्युपगमवादः। शब्दविभागादिविषयकज्ञानाभिप्रायं वा शब्दादिनाशक्षणेऽपि ज्ञानसत्त्वात्, क्षणस्य तु कालोपाधेरज्ञेयत्वान्न तदभिप्रायकम्। न हीति। येन ज्ञेयनिवृत्तौ नावतिष्ठेतेति शेषः। अतीन्द्रियतासाधकस्य क्षणिकत्वस्य हेतोरभ्युपगमवादेनाप्रयोजकत्वमाह सत्यपि चेति। पूर्वपक्ष्याह इत्थमिति। यथोच्यते इत्थं क्षणिकत्वे ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वमिति योजना। स्वप्रकाशत्वं चेश्वरज्ञाने योगिज्ञाने च सिद्धमिह निषिध्यते। यद्वा, घटज्ञानं नैतज्ज्ञानविषयः ज्ञानत्वादिति स्वप्रकाशनिषेधः, इतरवादिनि घटवदित्यर्थः। तस्येति। ग्राहकज्ञानस्येत्यर्थः। वर्तमानाभत्वेति।

प्रकाशः–भ्रान्तमेवोत्तरक्षणेऽवतिष्ठते इति नोक्तदोष इत्याह तत्रेति। किमस्मिन्निति। ज्ञानार्थयोर्यौगपद्ये इत्यर्थः। स्वप्रकाशमिति। स्वप्रकाशत्वाप्रसिद्धावपि इदं घटज्ञानं नैतस्य विषयो ज्ञानत्वादित्यर्थः। ग्राहकेति। ग्राहकज्ञानकाले ग्राह्यं ज्ञानं नास्ति ग्राह्यज्ञानकाल च तद्ग्राहकं ज्ञानमनागतमित्यर्थः। ज्ञातताजनकं यज्ज्ञानं तदेव न

मकरन्दः–वच्छिन्नमित्यर्थः। पाकरक्ते श्यामोऽयमितिवदिति भावः। स्वप्रकाशत्वाप्रसिद्धाविति। सिद्धौ वा तत्रैवानैकान्तिकमिति भावः।

क्षणिकत्वात्। कथम्? इत्थम् – न स्वप्रकाशा, वस्तुत्वात्। न जनकग्राह्या, अनागतत्वात्, विरम्य व्यापारायोगाच्च। न समसमयज्ञानग्राह्या, ज्ञानजनकेन्द्रियसम्बन्धाननुभवात्। न च तदुत्तरज्ञानग्राह्या, तदानीमतीतत्वादिति। क्षणिकत्वमेव तस्याः कुत इति चेत्, त्वदुक्तयुक्तेरेव।

तथा हि यं क्षणमाश्रित्य जाता, ततः परमपि तमेवाश्रयतेऽन्यं वा, न वा कमपीति? तत्र न प्रथमः, तस्य तदानीमसत्त्वात्। न द्वितीयः, अप्रतिसंक्रमात्। एकक्षणावगाहिनि च ज्ञाने तदन्यक्षणाश्रयज्ञाततताफलत्वेन भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्, रजतावगाहिनि पुरोवर्तिवृत्तिज्ञाततताफल इव।

आमोदः- जानामीति। वर्तमानाभत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। परमुखेन स्वसिद्धान्तमाविष्कर्तुं गुढाभिसन्धिराह सिद्धान्ती नन्वेवमिति। विरम्येति। घटाद्यालम्ब्य जातस्य ज्ञानस्योत्पत्स्यमानज्ञाततताग्रहे विरम्य व्यापरत्वापत्तेरित्यर्थः। अननुभवादिति। भू प्राप्तावित्यस्य धातोः प्रयोगः, तेनाप्राप्तेरित्यर्थः। तदुत्तरेति। ज्ञाततानन्तरोत्पत्तिकज्ञानग्राह्येत्यर्थः। अतीतत्वात् ज्ञाततताया इत्यनुषङ्गः। त्वदुक्तेति। ज्ञानस्य यया युक्त्या क्षणिकत्वं साधितं तयेत्यर्थः। तामेवाह तथा हीति। तस्येति। ज्ञातताश्रयस्येत्यर्थः। अप्रातिसंक्रमादिति। आश्रयान्तरागमनादित्यर्थः। एकक्षणेति। अन्यविषयकज्ञानेनान्यत्र ज्ञातताधाने ज्ञाताज्ञातव्यवहारविप्लवप्रसङ्ग इत्यर्थः। यद्वा, जनकज्ञानस्य भ्रान्तत्वापत्तिरिति मूल एव स्फुटम्। ज्ञाततताफल(त्व?) इवेति। ज्ञाततालक्षणं फलं यस्य ज्ञानस्य

प्रकाशः– तद्ग्राहकं, तत्काले ज्ञातताया अनागतत्वेन वर्त्तमानत्वाभावादित्याह न जनकेति। ननु ज्ञातताजनकमेव ज्ञानं ज्ञाततां जनयित्वा तां ग्रहीष्यतीत्यत आह ज्ञानजनकेति। ज्ञाततासमकालोत्पन्नज्ञानेन न तद्ग्रहः, ज्ञातताजननोत्तरकाले तदिन्द्रियसम्बन्धस्य प्राप्त्या तत्समकालं तदभावादित्यर्थः। अननुभवेति। भू प्राप्तावित्येतस्य रूपम्। अप्रतिसंक्रमादाश्रयान्तरागमनादित्यर्थः। एकक्षणेति। अन्यविषयकज्ञानेनान्यत्र ज्ञातताजनने जनकज्ञानं भ्रमः स्यादित्यर्थः।

मकरन्दः- अन्यविषयकेति। न च रजतज्ञानस्यापि शुक्तिविषयत्वान्नान्यविषयकत्वमिति वाच्यम्। परमतेऽन्यथाख्यात्यनभ्युपगमेनातथात्वात्। तथा च शुक्त्यविषयकरजतस्मरणस्य शुक्तिनिष्ठज्ञाततताजनकतया यथा भ्रान्तत्वं, तथा प्रकृतेऽपि स्यादिति भावः। न च ज्ञानस्य स्वविषयज्ञाततताजननेऽतिप्रसङ्ग इति वाच्यम्। भेदाग्रहादेर्नियामकत्वादन्यथा व्यवहारजननेऽपि तदापत्तेरित्याशयः।

न चान्यमपि क्षणं ज्ञानमवगाहते, तदानीं तस्यासत्त्वात्। न तृतीयः, निःस्वभावताप्रसङ्गात्। न ह्यसौ तदानीं तदीया अन्यदीया वेति। अतीतेनापि तेनैव क्षणेनोपलक्षिताऽनुवर्तते इति चेत्, एवं तर्हि वर्तमानार्थता प्रकाशस्य न स्यात्। अन्यथा ज्ञानस्यापि तथानुवृत्तेः को दोषः? न हि वर्तमानार्थप्रकाशसम्बन्धमन्तरेण ज्ञानस्यान्या वर्तमानावभासता नाम। अर्थनिरपेक्षप्रकाशनानुवृत्तिमात्रेण तथात्वे भूतभाविविषयस्यापि ज्ञानस्य तथाभावप्रसङ्गात्।

आमोदः-तत्त्वादित्यर्थः। नन्वागामिक्षणो ज्ञानविषयत्वादेव ज्ञातताश्रयः स्यादित्यत आह **न चेति। तदानीमिति।** उत्तरक्षणस्य पूर्वक्षणेऽवर्तमानत्वादित्यर्थः। **न हीति।** स्वजनकाविषये ज्ञायमानत्वादिति भावः। **अतीतेनापीति।** सैव ज्ञातता स्वगोचरमपि स्वोत्तरक्षणमुपलक्षयति। न चातिप्रसङ्गः, स्वोत्तरक्षणत्वस्यैवोपलक्ष्यतावच्छेदकत्वादित्यर्थः। **एवं तर्हीति।** जनकज्ञानगोचरस्य क्षणस्यातीतत्वेऽपि या विज्ञाततानुवृत्तिः स्यादित्यर्थः। **प्रकाशस्येति।** ज्ञातताया इत्यर्थः। **अन्यथेति।** ज्ञानमप्यतीते विषयक्षणेऽनुवर्ततामिति कुतः क्षणिकतेत्यर्थः। ननु विषयवर्तमानाधीनत्वं न ज्ञाततावर्तमानत्वं, किन्तु ज्ञानवर्तमानत्वाधीनमेव वरमभ्युपगन्तव्यमित्यत आह **न हीति।** वर्तमानेऽर्थे वर्तते यः **प्रकाशः** प्राकट्यं तेन सह यः सम्बन्धो जन्यजनकलक्षणं ज्ञानस्य, सैव वर्तमानाभताऽन्या नास्तीति त्वदभ्युपगमादित्यर्थः। ननूक्तमतीतेऽप्यर्थे उपलक्षणतया ज्ञातत्तानुवर्तत एव। तथा च तत्सम्बन्ध एव ज्ञानस्य वर्तमानाभता भवेदत आह **अर्थेति।** अर्थो ज्ञानजनकज्ञानविषयो वर्तमानः। **भूतेति।** अतीतानागते विषये ज्ञातता ज्ञानेनाधीयते, तत्सम्बन्धेन तदपि ज्ञानं वर्तमानाभं स्यादित्यर्थः। तत्रापि सामान्याश्रयज्ञाततायाः

प्रकाशः- ननु क्षणान्तरमपि ज्ञातताजनकज्ञानस्य स्वतन्त्रो विषय इति न तद्भ्रम इत्यत आह **न चेति। पूर्वक्षणे** तदुत्तरक्षणस्यावर्त्तमानत्वादित्यर्थः। **एवं तर्हीति।** विषयवर्त्तमानतया ज्ञानस्य **वर्त्तमानार्थता,** सा च ज्ञानस्यातीतक्षणोपलक्षित विषयतायां न **स्यादित्यर्थः। तथेति।** अतीतेनापि क्षणेनोपलक्षितस्य वर्त्तमानार्थतयानुवृत्तेरित्यर्थः। ननु ज्ञाततापक्षे अर्थनिरपेक्षवर्त्तमान ज्ञातत्तासम्बन्धमात्रेणैव तज्जनकज्ञानस्य वर्त्तमानाभतार्थात्ययेऽप्युपपद्यते। त्वन्नयेऽर्थस्यातीतत्वाज्ज्ञातत्तायाश्चाभावात् सा नोपपद्येतेत्यत आह **न हीति।** विषयवर्त्तमानतया वर्त्तमानाभताज्ञानस्य न स्ववर्त्तमानतया। ज्ञातताश्च क्षणिकत्वेन

अथ मा भूदयं दोष इति स्थूल एव वर्तमानः प्रकाशेनाश्रीयते इत्यभ्युपगमः, तदा तज्ज्ञानस्यापि स एव विषय इति तस्यापि न क्षणिकत्वमिति।

ननु ज्ञानमैन्द्रियकं चेत्, विषयसञ्चारो न स्यात्, सञ्जात सम्बन्धत्वात्। न च जिज्ञासानियमान्नियमः, तस्याः संशयपूर्वकत्वात्। तस्य च धर्मिज्ञानपूर्वकत्वात्। धर्मिणश्च सन्निधिमात्रेण ज्ञाने जिज्ञासापेक्षणे वा उभयथाप्यनवस्थानादिति।

आमोदः– *स्त्वया*भ्युपगमादित्यर्थः। परद्वारा स्वाशयमुद्घाटयति अथेति। स एव विषयो वर्तमानतयेत्यर्थः। संजातेति। संयुक्तसमवायेन जातमात्रमेव ज्ञानमनुव्यवसीयते। एवं तदपि इति विषयसञ्चाराभाव इत्यर्थः। ननु सम्बन्धसत्त्वेऽपि जिज्ञासालक्षणसहकारिविरहान्न ज्ञानग्रहप्रौढ्यमित्यत आह न चेति। ज्ञानसामान्यज्ञानाधीना ज्ञानविषये जिज्ञासा वाच्या। ज्ञानसामान्यज्ञानमपि जिज्ञासाधीनम्, एवं सापि ज्ञानसामान्यज्ञानाधीना। जिज्ञासापेक्षायामूर्द्ध्वं धावतीत्यादावनवस्था। अथ ज्ञानसामान्यज्ञानानपेक्षम्, तथापि विशेषज्ञानेऽपि तथैव स्यादिति सैवानवस्थेत्यर्थः। यद्वा, अहमिदानीं घटज्ञानवानिति जिज्ञासा ज्ञानवत्त्वेनात्मज्ञाने सति स्यात्तत्रापि जिज्ञासापेक्षायामनवस्थेत्यर्थः। धर्मिण इति। ज्ञानस्येत्यर्थः। उभयथेति। घटज्ञानं जानीयामिति जिज्ञासा घटज्ञानपूर्वसंशयाधीना, स च संशयो घटज्ञाने ज्ञाते स्यात्तदपि घटज्ञानज्ञानं जिज्ञासाज्ञानापेक्षम्

प्रकाशः– तज्ज्ञानकाले नाशान्नार्थविषयवर्त्तमानता तथात्वे वा अतीतादिविषयकमपि ज्ञानं वर्त्तमानाभं स्यात्। एवञ्चाग्रिम क्षणे अतीतज्ञाततविषयकं ज्ञानं न वर्त्तमानाभं स्यादित्यर्थः।

ननु यदि ज्ञानं मानसं स्यात्तदा विषयान्तरग्रहो न स्यात्, संयुक्तसमवायरूपाया मनःप्रत्यासत्तेः सदा सत्त्वेन ज्ञानपरम्पराया एव ज्ञेयत्वादित्याह नन्विति। ननु ज्ञानं योग्यं मनःप्रत्यासन्नमपि जिज्ञासाज्ञेयमिति तन्नियमान्नोक्तदोष इत्यत आह न चेति। सामान्यतो ज्ञाते विशेषतश्चाज्ञाते जिज्ञासा जायते इति सामान्यतो ज्ञानानुभवो

मकरन्दः– सा च ज्ञानस्येति। यद्यपि ज्ञानस्यातीतक्षणोपलक्षितविषयता न पूर्वपक्षिता, किन्तु ज्ञातताया अतीतज्ञानोपलक्षितायाः क्षणान्तरेऽनुवृत्तिः। तत्र च ज्ञानस्य वर्त्तमानार्थता न स्यादित्युत्तरमसङ्गतम्। तथापि ज्ञानस्य ज्ञाततागोचरस्या तीतक्षणोपलक्षितज्ञाततविषयतायां वर्त्तमानार्थता न स्यादित्यर्थो बोध्यः।

तन्न, ज्ञाततापक्षेऽपि तुल्यत्वात्। तस्या अपि हि ज्ञेयत्वे तत्परम्पराज्ञानापाताज्जिज्ञासानियमस्य च तद्वदनुपपत्तेः। न च इन्द्रियसम्बन्धविच्छेदाद् विराम इति युक्तम्, आत्मप्राकट्याव्यापनात्। स्वभावत एव काचिदसावजिज्ञासितापि ज्ञायते, न तु सर्वेति चेत्तुल्यम्।

आमोदः- इत्येवमनवस्था। तदनपेक्षं चेत्तदा ज्ञानधारैवेति सुतरामनवस्थेत्यर्थः। गूढाभिसन्धिः प्रतिबन्दिमुखेन तावत् परिहरति ज्ञाततेति। यथा ज्ञातताया नावश्यज्ञेयता तथा ज्ञानस्यापीत्यर्थः। ननु घटादेर्ज्ञातताधारस्य नाशादन्यत्र गमनाद्वा न संयुक्तसमवायलक्षणः सन्निकर्ष इति न ज्ञातताज्ञानध्रौव्यम्, ज्ञाने तु सन्निकर्षस्य ध्रौव्यमित्याह न चेति। आत्मेति। आत्मसमवेतज्ञातताया ज्ञानतुल्य योगक्षेमत्वमेवेत्यर्थः। आत्मनिष्ठज्ञाततायां सन्निकर्षे सत्यपि नावश्यज्ञेयतेति यदि, तदपि तुल्यमेवेत्याह तुल्यमिति। ज्ञाततायाः सामान्यतो ज्ञानं घटज्ञाततामपि

प्रकाशः- वाच्यः। तस्यापि यदि जिज्ञासानैरपेक्ष्येण सन्निकर्षमात्राद् ग्रहः, तदास्य सदातनत्वाद् ग्रहणपरम्पराया अविच्छेदादनवस्था। अथ तद्ग्रहेऽपि सा नियामिका, तदा तस्या अपि सामान्यतो ज्ञानार्थं जिज्ञासा वाच्या। साऽपि सामान्यज्ञानपूर्विका, तदपि जिज्ञासाधीनजन्मेति पूर्वपूर्वज्ञानापेक्षायामनवस्थेत्युभयथानवस्थार्थः। अत्र किञ्जिज्ज्ञानमजिज्ञासितं ज्ञायते, किञ्जिज्जिज्ञासितं, किञ्चिन्न ज्ञायत एवेत्यनियमान्नोक्तदोष इत्यभिप्रेत्य समाधातुं प्रतिबन्दिमुखेनाह ज्ञाततापक्षेऽपीति। ननु चक्षुरादिना सम्बन्धविच्छेदाज्ज्ञातताग्रहविच्छेदः स्यादित्यत आह न चेति। बाह्ये तथा सम्भवेऽप्यात्मज्ञाततायां मनःसम्बन्धविच्छेदो न सम्भवतीत्यर्थः। तुल्यमिति। ज्ञानमपि किञ्चिदुद्भवत्वाभावात्तद्ग्राहकात्ममनःसंयोगविशेषाभावाद्वा

मकरन्दः- न चातीतक्षणस्योपलक्षणत्वमेव ज्ञाततायाश्च वर्त्तमानत्वमेवेति कथं वर्त्तमानार्थता तज्ज्ञानस्य स्यादिति वाच्यम्। निराश्रयज्ञातताया ज्ञानगोचरत्वे ज्ञाततायामुपलक्षणस्यापि क्षणस्य ज्ञाने विशेषणत्वाभ्युपगमात्। वस्तुतो वर्त्तमानार्थता वर्त्तमानाश्रयता प्रकाशस्य ज्ञातताया न स्यादिति मूलार्थः प्रतिभाति। अत एवान्यथा ज्ञानस्यापीति फक्किका सङ्गच्छते। न हीत्यादिफक्किकायामपि प्रकाशपदं ज्ञाततापरमेव, अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्तेः। प्रकाशे 'नाश्रीयत' इत्यग्रिमफक्किकायामपि तथैवेति तदनुसारेण सर्वं योज्यमिति युक्तमुत्पश्यामः।

तज्जनकेति। तद्विषयज्ञानस्येत्यर्थः, तेन नोत्तरविरोधः। ननूक्तं वर्त्तमानज्ञाततासम्बन्धमात्रेणैव वर्त्तमानाभत्वमित्यत आह ज्ञाततायाश्चेति। यदि

प्रागुत्पन्नज्ञाततास्मरणजनितजिज्ञासः समुन्मीलितनयनः सञ्जातज्ञान समुत्पादितप्राकट्यं जिज्ञासुरेव प्रतिपद्यते इत्यतो नानवस्थेति चेत्, तुल्यमेतत्।

ननु ज्ञानं न सविकल्पग्राह्यं, तस्य निर्विकल्पकपूर्वकत्वात्, निर्विकल्पकगृहीतस्य तावत्कालानवस्थानात्। तस्य तेनैव विनाशात्। नापि केवलनिर्विकल्पकवेद्यम्, तस्य सविकल्पकोन्नेयत्वेन तदभावे प्रमाणाभावात्। न च समवायाभाववन्निर्विकल्पकनिरपेक्ष सविकल्पकगोचरत्वं ज्ञानस्येति साम्प्रतम्, तयोर्विशेषणांशस्य

आमोदः– विषयीकृत्य जातमिति तत्र जिज्ञासया नयनोन्मीलनं ज्ञातताज्ञानञ्चेति यदि, तदेव ज्ञानेऽपि समानमिति शङ्कोत्तराभ्यमाह प्रागिति। वस्तुतो ज्ञानग्रहे ज्ञानान्तरसामग्री प्रतिबन्धिका चरमज्ञानमनुद्भूतं वा जायते ज्ञानान्तरजनने स्वरूपायोग्यं वा अन्त्यशब्दवत्। बहिरिन्द्रियकरणकज्ञानसामग्री मानसज्ञानसामग्री इति वा फलबलात् कल्प्यते। किञ्च बहिःप्रमासामग्र्याः एव मानसज्ञानप्रतिबन्ध-कत्वमत एवानुमित्यादिसम्भवः। अत एव प्रत्यक्षसामग्रीतोऽनुमितिसामग्र्या बलवत्त्वमित्यर्थः। ननु ज्ञानत्वनिर्विकल्पकेन ग्राह्यज्ञानस्य नाशात् विशेष्यनाशे च विशिष्टप्रत्यक्षानुदयात् ज्ञानमप्रत्यक्षमेव स्वीकर्तुमर्हतीत्याह नन्विति। तस्य ग्राह्यज्ञानस्य तेनैव निर्विकल्पकेनैव तदभाव इति सविकल्पकाभाव इत्यर्थः। समवायाभाववदिति समवायवदभाववच्चेत्यर्थः। तयो'रिति। समवाये सम्बन्धिनोऽभावे च प्रतियोगिनो

न ज्ञायते इत्यर्थः। पूर्वोत्पन्नज्ञाततायाः सामान्यतो ग्रहादिदानीन्तन्यपि ज्ञातता ज्ञातैवेति तत्संस्काराधीनज्ञातत‍ासामान्यजिज्ञासायामिन्द्रियसन्निकर्षादिदानीन्तनी ज्ञातता ज्ञायते इत्येवमनवस्थापरीहारो ज्ञानप्रत्यक्षत्वेऽपि तुल्य इति शङ्कोत्तराभ्यामाह प्रागिति। तावत्कालेति। घटज्ञानस्य तन्निर्विकल्पकाज्ज्ञानत्वविशिष्टज्ञानकाल एव नाशाद् विशेष्यनाशे सति तद्विशेष्यकज्ञानत्वविशिष्टज्ञानानुत्पादः स्यात्। प्रत्यक्षविशिष्टज्ञानस्य स्वसमानकालीनविशेष्यकत्वनियमादित्यर्थः। तस्येति। निर्विकल्पकस्यातीन्द्रियत्वाभ्युपगमेन सविकल्पकैकोन्नेयतया तदभावे तत्र मानान्तराभावादित्यर्थः। समवायेति। समवायवदभाववच्चेत्यर्थः। तयोरिति।

मकरन्दः– च स्थूलकालाश्रयत्वान्न तस्याः क्षणिकत्वं, तदा ज्ञानस्यापि न स्यादित्याकर एव स्फुटम्। तथात्वे वेति। यदि स्ववर्त्तमानतया वर्त्तमानाभत्वमित्यर्थः। एवञ्चेति। वर्त्तमानज्ञातत‍ासम्बन्धस्यापि तदानीमभावादिति भावः। उद्भवत्वाभावादिति,

प्रागग्रहणादनुमानादिवत्तदुपपत्तेः। प्रकृते तु ज्ञानत्वादेरनुपलब्धेर गृहीतविशेषणायाश्च बुद्धेर्विशेष्यानुपसंक्रमात्कथमेवं स्यात्? न। उत्पन्नमात्रस्यैव बाह्यविषयज्ञानस्यालोचनात्। ततस्तत्पुरःसरं प्रथमत एव तंज्जातीयस्य ज्ञानान्तरस्य विकल्पनात्। इन्द्रियसन्निकर्षस्य तदेव विशेषणग्रहणलक्षणसहकारिसम्पत्तेः। व्यक्त्यन्तरसमवेतमपि हि सामान्यं तदेवेत्युपयुज्यते। अन्यथा अनुमानादिविकल्पानामनुत्पादप्रसङ्गः। तद्गतस्य विशेषणस्याग्रहणात्, अन्यगतस्य चानुपयोगात्। किं लिङ्गग्रहणसहकारि स्यादिति। एतेन शब्दादिप्रत्यक्षं व्याख्यातमिति।

आमोदः– विशेषणस्य सर्वभानाद्विशिष्टज्ञानसामग्रीसत्त्वादित्यर्थः। अनुमानादिवदिति। तत्र व्याप्तिज्ञान एव साध्यस्य विशेषणस्य पूर्वं ज्ञानादित्यर्थः। ज्ञानत्वादे रित्यादिपदादनुभवत्वस्मृतित्वपरिग्रहः। कथमेवं स्यादिति कथं ज्ञानं प्रत्यक्षं स्यादित्यर्थः। बाह्यविषयेत्युपलक्षणम्, अक्षरविषयस्यापि तुल्यत्वात्। प्रथमं घटज्ञानं ततो ज्ञानत्वनिर्विकल्पकं, ततः पूर्वोत्पन्नविशिष्टज्ञाननाश तज्जातीयज्ञानान्तरोत्पादौ, ततो द्वितीयज्ञाने ज्ञानत्ववैशिष्ट्यग्रह इत्यर्थः। ननु विशेष्यनिष्ठतया विशेषणं न गृहीतमिति कथं ज्ञानान्तरे तद्वैशिष्ट्यग्रह इत्यत आह व्यक्त्यन्तरेति। अन्यथेति। यदि तद्गततयैव विशेषणज्ञानमुपयुक्तं स्यादित्यर्थः। तत्रापि महानसादौ गृहीतं वह्निमत्त्वं पर्वते विशेषणतया न भासेत इति भावः।

प्रकाशः– समवायाभावयोर्विशेषणयोः सम्बन्धिप्रतियोगिनोर्ज्ञानानन्तरमेव ज्ञानाद्विशिष्टज्ञानसामग्रीनियमेन तथात्वेऽपि ज्ञाने ज्ञानत्वरूपविशेषणस्य पूर्वमज्ञानात् कथं तद्विशिष्टज्ञानमित्यर्थः। तथा च जानामीति वर्त्तमानज्ञानवैशिष्ट्यज्ञानमात्मनि न जायेतेति भावः। अत्र किञ्चिज्ज्ञानं निर्विकल्पकैकवेद्यं किञ्चित्सविकल्पकैकवेद्यं किञ्चिच्चावेद्यमेवेत्यनियम इति नोक्तदोष इत्यभिप्रेत्याह उत्पन्नेति। व्यवसायनाशक्षणोत्पन्नज्ञानान्तरे ज्ञानत्वविशिष्टज्ञानं प्रथमत एव जायते, व्यवसायनिष्ठविशेषणस्य ज्ञानत्वस्य निर्विकल्पकेन विषयीकृततया सम्भूतसामग्रीकत्वात्, तन्निष्ठतया विशेषणज्ञानस्य गौरवेणाप्रयोजकत्वात्।

मकरन्दः– प्राचीनमते। निर्विकल्पकैकेति। तज्जन्याग्रिमविशिष्टज्ञानस्यैव तत्र मानत्वान्न पूर्वदोष इति भावः। ननु सामग्रीबलात्प्रत्यक्षं सम्भवत्येवेत्यत आह अनुमिनोमीति। क्वचित् प्रत्यक्षस्य सम्भवेऽपि तत्रानुमितित्वस्य बाधादनुमित्यन्तरस्य सिद्धसाधनेनानुत्पादात्तत्रासम्भव एवेत्यर्थः। व्यवसायनाशक्षणे तद्विशेष्यकं न

स्यादेतत्, विषयनिरूप्यं हि ज्ञानमिष्यते। न चातीन्द्रियस्य परमाण्वादेर्मनसा वेदनमस्ति। न चागृहीतस्य विशेषणत्वम्। न च नित्यपरोक्षस्यापरोक्षविशिष्टबुद्धिविषयत्वम्, व्याघातादिति। न

आमोदः– अन्यत्र गृहीतं विशेषणमन्यत्र भासत इत्यभ्युपगमे प्रथमोत्पन्नककारगतं कत्वं द्वितीये ककारे भासत इत्युपपादितं स्यादन्यथा अणुद्वयावस्थायिनः ककारादेर्विशिष्टज्ञानविषयतैव नोपपद्येतेत्यर्थः। अनुमितौ तदानीमनुमित्यन्तरान्नैवं, न वा सर्वत्र तत्सजातीयज्ञानसामग्रीसमवहितस्यैव ज्ञानस्यैव ग्रहात्। अभावत्वे प्रतियोगित्ववद् विशेषणज्ञानत्वादिदं पूर्वागृहीतमेव भासते फलवत्त्वात् तथाकल्पनादि*त्येके*। ज्ञानज्ञानत्वनिर्विकल्पकानन्तरं ज्ञाने ज्ञानत्वमात्मनि च ज्ञानं विशेषणतया भासते *इत्यपरे*। विषयविशेषणकमेव ज्ञानं गृह्यते, तदेव ज्ञानं ज्ञानत्वेन निर्विकल्पकरूपमि*त्यपरे*। गकारादिग्रहेऽप्येवमेवोत्पन्नोऽयमिति। परमाणुमहं जानामीत्यनुव्यवसायानुपपत्तिं शङ्कते स्यादेतदिति। परमाण्वादिविषयकस्य

प्रकाशः– नन्वन्यव्यक्तिसमवेतत्वेन विशेषणज्ञानं न विशिष्टज्ञानजनकं, घटान्तरवृत्तित्वेन गुणक्रियादीनां विशेषणानां ज्ञानेऽपि घटान्तरे तद्विशिष्टज्ञानानुत्पादात्। ग्राह्यव्यक्तिवृत्तितया च तस्य प्रकृतेऽसम्भवात्। तदुत्पादानन्तरं ग्राह्यज्ञानव्यक्तिनाशात् प्रत्यक्षानुपपत्तेरित्यत आह **व्यक्त्यन्तरेति**। व्यक्त्यन्तरवृत्तित्वेनापि ज्ञानत्वस्य ज्ञानं तज्जातीयव्यक्त्यन्तरेषु विशिष्टज्ञानं जनयति, विशेषणस्य ज्ञानत्वस्याभेदात्। यथा पर्वतोऽग्निमानित्यनुमितिमन्यव्यक्तिनिष्ठतया वह्निमत्त्वस्य विशेषणस्य ज्ञानं जनयति, वह्नेर्भेदेऽपि वह्निमत्त्वस्य उपाधेर्विशेषणस्याभेदात्, अन्यथा अनुमित्युच्छेद इत्यर्थः।

ननु ज्ञानान्तरस्य निर्विकल्पकाविषयस्य सविकल्पकवेद्यस्योत्पत्तौ हेत्वभावः, अनुमिनोमीत्यनुव्यवसाये तदसम्भवश्च, सामग्र्यभावात्। उच्यते। आत्ममनः संयोगस्य ज्ञानात्मसमवायस्य च पूर्वसिद्धत्वेनोत्पन्नं ज्ञानं मनसा सम्बद्धञ्चेत्येकः कालः। ततो ज्ञानत्वनिर्विकल्पकस्योत्पादो ग्राह्यज्ञानस्य विनश्यत्ता सविकल्पकस्योत्पद्यमानतेत्येकः कालः। ततः सविकल्पकस्योत्पादो ग्राह्यज्ञानस्य विनाशो निर्विकल्पकस्य विनश्यत्तेत्येकः काल इत्येवमसमानकालत्वेन विशेष्यस्य ज्ञानस्य नाशक्षण एव ज्ञाने ज्ञानत्वविशिष्टज्ञानम्। विशेष्यस्य ज्ञानस्य विशिष्ट ज्ञानाव्यवहितपूर्ववर्तितया कारणत्वाविरोधात्। प्रत्यक्षस्य सम्बद्ध वर्त्तमानार्थजन्यत्वेऽपि स्वसमानकालतया विशेष्यस्याहेतुत्वात्, गौरवात्। यथा

प्रकाशः–द्वे द्रव्ये इत्यत्र यथार्थविशिष्टज्ञानं द्वित्वनाशकालेऽपि, अव्यवहिपूर्वकाल-वर्त्तितया द्वित्वस्य विशेषणस्य विशिष्टज्ञानहेतोर्ज्ञानात्। विशिष्टज्ञानं जानामीति च वर्त्तमानत्वेन स्थूलकालोपाधिर्भासते, न तु क्षणः, तस्यातीन्द्रियत्वात्। यद्वा ज्ञानं ज्ञानत्वञ्च निर्विकल्पके भासते, ततो ज्ञानत्ववैशिष्ट्यं ज्ञाने, ज्ञानवैशिष्ट्यञ्चात्मनि भासते, विशेष्ये विशेषणं विशेषणे विशेषणान्तरं भासते इत्येव विशिष्टवैशिष्ट्यार्थः। वस्तुतो ज्ञानस्य विषयनिरूप्यतया समवायाभावयोरिव विशिष्टज्ञानसामग्रीसत्त्वाद् निर्विकल्पकं नास्त्येव, ज्ञाने विषयस्य विशेषणत्वात् तद्भाननैयत्येन सविकल्पकस्यैव सम्भूतसामग्रीकत्वात्। तथा च तदेव ज्ञानं ज्ञानत्वांशे निर्विकल्पकं, विषयांशे सविकल्पकमित्युभयरूपमेव, अंशभेदेनाविरोधात्। अनुमिनोमीत्यादौ तु न तथा, अनुव्यवसाये अनुमितित्वाभावात्। ग्रन्थस्तु ज्ञानान्तरस्य सामग्रीसत्त्वाद् यत्र सम्भवस्तत्परतया नेयः।

एतेनेति। एकगकारादिनिष्ठतया गत्वादिनिर्विकल्पकेन गत्वादिविशिष्टज्ञानकाले एकगादिव्यक्तेर्नाशेऽपि गादिव्यक्त्यन्तरे गत्वादिविशिष्टज्ञानमित्यर्थः। ननु ज्ञानस्य विषयावच्छिन्नस्यैव मानसप्रत्यक्षत्वादतीन्द्रियार्थविषयज्ञानस्य न मानसत्वं, परमाण्वादेरतीन्द्रियत्वात्। अतस्तद्दृष्टान्तेनेतरज्ञानस्याप्यमानसत्वमनुमेयम्। न चाप्रयोजकत्वम्, बाह्येन सह मनसः सन्निकर्षाभावलक्षणप्रतिकूलतर्कस्य विपक्षबाधकत्वादिति शङ्कते स्यादेतदिति। ज्ञानोपनीतविषयेण संयुक्तसमवेतविशेषणतात्मकज्ञानरूपमनःप्रत्यासत्त्या मनसैव प्रत्यक्षा-ऽप्रत्यक्षविषयग्रहः। न चातीन्द्रियत्वव्याघातः, योगजधर्माजन्य जन्यस्वविषयक-

---

मकरन्दः-ज्ञानं, किन्त्वर्थविशेष्यकमेव। तथा च विशेष्यस्य स्वसमयवर्त्तितया प्रत्यक्षहेतुत्वेऽपि न दोष इत्याशयेनाह **यद्वेति**। **विषयांशे इति**। तथा च सविकल्पकतया तस्य योग्यत्वात्तत्रैव ज्ञानत्वविशिष्टधीस्तदात्मकस्यैव ज्ञानत्वरूपविशेषणज्ञानस्य पूर्वं सत्त्वादिति भावः। अत एवाह अनुमिनोमीत्यादाविति।

योगजधर्माजन्येति। अत्र सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्यजन्येत्यपि विशेषणं

बाह्येन्द्रियग्राह्यस्याग्राह्यस्य वा पूर्वज्ञानोपनीतस्यैव मनसा वेदनात्। अन्यथातीन्द्रियस्मरणस्याप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। इयांस्तु विशेषः – तस्मिन् सति तद्बलादेव, असति तु तज्जनितवासनाबलात्। न चैवं सति स्मरणमेतत्, अगृहीतज्ञानगोचरत्वात्। न च विषयांशे तत्तथा स्यादिति युक्तम्, अवच्छेदकतया प्रागवस्थावदवभासनात्। न च प्रत्यभिज्ञानमपि

आमोदः– विशेषणांशायोग्यतया मनसा गृहीतुमशक्यत्वादित्यर्थः। **बाह्येति**। सम्पातायातं, विशेषणस्य योग्यता न तन्त्रं किन्तु ज्ञानमात्रम्। अतोऽनुमानाद्युपनीतस्य तस्य मनसा ग्रहणं नानुपपन्नमित्यर्थः। **अन्यथेति**। यद्युपनीतं मनसा न गृह्येतेत्यर्थः। ननु स्मरणमपि यदि मानसमेव, तदा साक्षात्कारिज्ञानान्न भिद्येत इत्यत आह **इयानिति**। तस्मिन्ननुभवे विद्यमाने तदुपनीतो विषयो मनसा यदि गृह्यते, तदा तज्ज्ञानं साक्षात्कारि। यत्र त्वनुभवः संस्कारं जनयित्वा निवृत्तस्तत्र संस्कारोपनीतविषयगोचरं ज्ञानं स्मरणमेवेत्यर्थः। **एवं सतीति**। यदि पूर्वगृहीतमेव मनसा गृह्यते इत्यर्थः। तथा चास्य भेदस्य परिभाषामात्रत्वादिदमपि ज्ञानं स्मरणमेव, गृहीतग्राहित्वादित्यर्थः। **अगृहीतेति**। विषयांशे गृहीतग्राहित्वेऽपि ज्ञानांशेऽगृहीतग्राहित्वेन प्रामाण्यमित्यर्थः। **अवच्छेदकतयेति**। विशेष्यतया यत्र गृहीतस्य ग्रहणं तत् स्मरणं, यथा स घट इति अवच्छेदकतयानुगृहीतस्यापि ग्रहणमनुभव एव प्रत्यभिज्ञायां तत्त्वांशस्येवेत्यर्थः। अवच्छेदकत्वं च विशेषणत्वम्।

प्रकाशः– सविकल्पकाजन्यजन्यप्रत्यक्षाविषयस्यातीन्द्रियत्वादिति परिहरति **बाह्येति**। यदि च ज्ञानसंस्काराद्यपेक्षमपि मनो नातीन्द्रियार्थग्राहकं ततस्तत्करणिका स्मृतिरतीन्द्रिये न स्यादित्याह **अन्यथेति**। ननु यदि ज्ञानादनुव्यवसायः स्मरणञ्च स्यात्, तदानुव्यवसायः साक्षात्कारी, न तु स्मरणमिति कुतो नियम इत्यत आह **इयांस्त्विति**। **तस्मिन्निति**। ज्ञाने विद्यमाने तद्रूपप्रत्यासत्तेस्तदनुव्यवसायः साक्षात्कारी, ज्ञाने त्वसति संस्काररूपप्रत्यासत्तेस्तदन्यप्रत्यासत्त्यभावाच्च स्मरणं परोक्षमेवेत्यर्थः। तथाप्यनुव्यवसायो व्यवसायगृहीतगोचरत्वेन गृहीतग्राहित्वात् स्मृतिः स्यादित्यत आह **न चैवमिति**। **अगृहीतेति**। ज्ञानस्य व्यवसायाविषयस्यैवा नुव्यवसायविषयत्वादित्यर्थः। अर्थांशे गृहीतग्राहित्वेऽपि न घटस्य विशेष्यता, किन्तु ज्ञाने विशेषणता तत्तावदित्याह **अवच्छेदकतयेति**। यथा प्रागवस्थास्मरणसहकारिणा चक्षुषा जनिते प्रत्यभिज्ञाने प्रागवस्थायाः संयुक्तविशेषणतया स्फुरणं, न स्मरणं, तथा व्यवसायसहकारिणा मनसा जनितेऽनुव्यवसाये संयुक्तसमवेतविशेषणतया विषयस्फुरणेऽपि न तस्य स्मरणत्वमित्यर्थः। ननु प्रत्यभिज्ञानमपि तत्तांशे स्मरणमेव, इदन्त्वांशे त्वनुभव इत्यत आह **न चेति**। स्मृतित्वानुभूतित्वजात्योर्व्याप्यवृत्तित्वेनांशावृत्तेरित्यर्थः।

ग्रहणस्मरणाकारम्, विरोधात्। अथ ग्रहणस्मरणयोः कियती सामग्री? अधिकोऽर्थसन्निकर्षो ग्रहणस्य, संस्कारमात्रं सन्निकर्षः स्मरणस्य।

अथ ग्रहणत्वेऽपि कुत एतदपरोक्षाकारम्? कारणान्तरनिरपेक्षेण संस्काराधिकसन्निकर्षवतेन्द्रियेण जनितत्वात्। अथ कः सन्निकर्षः? ज्ञानेन संयुक्तसमवायः। तदर्थेन संयुक्तसमवेतविशेषणत्वमिति। मनसो निरपेक्षस्य बहिर्व्यापारेऽन्धबधिराद्यभावप्रसङ्ग इति चेत्, ज्ञानावच्छेदकं प्रति नायं

आमोदः- विरोधादिति। जातिसङ्करप्रसङ्गादित्यर्थः। कियती सामग्रीति। कः सामग्रीभेद इत्यर्थः। अधिक इति। संस्कारापेक्षया सन्निकर्ष इति उपनायकत्वाभिप्रायेण, न तु षोढासन्निकर्षाभिप्रायेण। ग्रहणत्वेऽपीति। अनुभवत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य साक्षात्त्वं कुतः, प्रत्युत स्मृतिवत्परोक्षत्वमेवोचितमित्यर्थः। इन्द्रियेण मनसा स्मृतिरपि जन्यते इत्यत उक्तं संस्काराधिकसन्निकर्षवतेति। तथाप्यनुमानादौ मनोजन्ये साक्षात्त्वं स्यादत उक्तं कारणान्तरनिरपेक्षेणेति। तथा चेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वेन प्रत्यभिज्ञानं साक्षात्कारीत्यर्थः। अथ कः सन्निकर्षो ज्ञानेन येन प्रत्यक्षं स्यादिति शेषः। उत्तरं संयुक्तेति। मनःसंयुक्त आत्मा तत्समवाय इत्यर्थः। विषयेण सन्निकर्षमाह तदर्थेनेति। उपपादितं विस्मृत्य शङ्कते मनस इति। ज्ञानावच्छेदकम् इति। येन विषयेण ज्ञानमवच्छिद्यते तं विषयं प्रति न निरपेक्षत्वदोषो, न वा तत्प्रयुक्तोऽन्धबधिराद्यभावप्रसङ्गदोष इत्यर्थः।

प्रकाशः- अथेति। संस्कारजत्वाविशेषात् प्रत्यभिज्ञानमनुभवो, न स्मृतिरिति कुतो नियम इत्यर्थः। अधिक इति। संस्कारातिरिक्तायाः संयुक्तविशेषणतायाः प्रत्यासत्तेः प्रत्यभिज्ञाने सत्त्वादित्यर्थः।

अथ संस्कारजन्यत्वेन स्मृतिवत्प्रत्यभिज्ञानं परोक्षमेव कुतो नेत्याशयेन पृच्छति अथेति। उत्तरं कारणान्तरेति। लिङ्गाद्यनपेक्षेणेत्यर्थः। न च विनिगमकाभावः। प्रत्यभिज्ञाने अनुभवामीत्यनुव्यवसायसाक्षिकत्वादनुभवत्वस्येति भावः। वस्तुतस्तत्तास्मृतिजन्यमेव प्रत्यभिज्ञानं, न संस्कारजन्यम्, अन्यथा संस्कारद्वारा पूर्वानुभवस्य तत्करणतया ज्ञानकरणतया तस्य परोक्षत्वापत्तिः। तत्तास्मृतेश्च निर्व्यापारत्वेनाकरणत्वादिति तत्त्वम्। ज्ञानेति। इन्द्रियादिजनित-व्यवसायापेक्षस्य मनसो बहिःप्रवृत्तेर्न स्वातन्त्र्येणेति नोक्तदोष इत्यर्थः।

मकरन्दः- बोध्यम्। न च विनिगमकेति। इन्द्रियजन्यतया प्रत्यक्षत्वं संस्कारजन्यतया स्मृतित्वं वेत्यत्र विनिगमकाभाव इत्यर्थः।

दोषः। न च ज्ञानापेक्षया बहिरित्यस्ति। नापि तद्विषयापेक्षया निरपेक्षत्वम्, तस्यैव ज्ञानस्यापेक्षणात्। अथापि ज्ञानं प्रत्यक्षमित्यत्र किं प्रमाणम्? प्रत्यक्षमेव। यदसूत्रयत् – 'ज्ञानविकल्पानां (च) भावाभाव संवेदनादध्यात्मम्' (न्याय०, ५।१।३१) इति।४।

ननु नेश्वरज्ञानं प्रमा, नित्यत्वेनाफलत्वात्। नापि प्रमाणम्, अकारकत्वात्। अत एव च न तदाश्रयः प्रमातेति। उच्यते –

आमोदः– ज्ञानापेक्षयेति। ज्ञानक्रोडीकृतो विषयो बाह्योऽप्यवान्तर एवेत्यर्थः। नापीति। तथा च निरपेक्षबहिर्व्यापारवत्त्वमन्धबधिराद्यभावप्रसंञ्जकं स्वरूपासिद्धमित्यर्थः। तथापीति। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वेऽपि ज्ञानं निर्विकल्पकवदप्रत्यक्षमेव स्यादित्यर्थः। प्रत्यक्षमिति। प्रत्यक्षवेद्यमित्यर्थः प्रत्यक्षमेवेति। घटमहं जानामीति प्रत्यक्षमेव ज्ञानप्रत्यक्षत्वे प्रमाणमित्यर्थः। अन्यथा घटप्रत्यक्षतायामपि विवादः स्यादिति भावः। *सूत्रकार*सम्मतमित्याह यदिति। अध्यात्मं प्रत्यात्मनि ज्ञानविकल्पानां ज्ञानभेदानाम् अस्ति मे ज्ञानं नास्ति मे ज्ञानमिति भावाभावसंवेदनादिति *सूत्रार्थः*। किञ्च ज्ञानत्वं प्रत्यक्षवृत्ति आद्युत्तरविनाश्यात्मविशेषगुणवृत्ति जातित्वात् सुखत्ववदित्यनुमानमत्रेति भावः।४।

अफलत्वादिति। अफलरूपत्वादित्यर्थः। अकरणत्वादिति। अस्मदादिप्रमां प्रति कारणत्वेऽपि करणत्वाभावादित्यर्थः। अत एवेति। प्रमाया नित्यत्वादेव

प्रकाशः– समाधानान्तरमाह न चेति। साधकबाधकाभावात् संशयः स्यादित्याशयेन पृच्छति अथेति। उत्तरं–प्रत्यक्षमेवेति। जानामीति मानसप्रत्यक्षमेव ज्ञानप्रत्यक्षत्वे मानमित्यर्थः। तत्र *सूत्रकार*सम्मतिमाह यदिति। ज्ञानविकल्पानां ज्ञानभेदानां प्रत्यक्षादीनां भावाभावौ, अस्ति मे प्रत्यक्षं ज्ञानं, नास्ति मे प्रत्यक्षं ज्ञानमित्याकारेणात्मना मनसा संवेद्येते इत्यर्थः। न्यायरुचिं प्रति आशुविनाश्यात्म-विशेषगुणत्वेन सुखवत् प्रत्यक्षत्वमनुमेयमिति भावः।४।

नित्यत्वेनेति। नित्यत्वेन फलानात्मकत्वादित्यर्थः। प्रमायाश्च क्रियात्वेन जन्यत्वादिति भावः। नापीति। निर्व्यापारत्वेनाकारकतया तद्विशेषकरणत्वस्याभाव इत्यर्थः। अत एवेति। समवायिकारणस्य प्रमातृत्वादित्यर्थः।

मकरन्दः–आशुविनाशीति धर्मादौ व्यभिचारवारणार्थमिदम्। अन्त्यशब्दस्या-प्रत्यक्षत्वपक्षे तत्र व्यभिचारादाह आत्मेति। आत्ममनोद्वित्वे व्यभिचारादाह विशेषेति।

मितिः सम्यक्परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते।।५।।

समीचीनो ह्यनुभवः प्रमेति व्यवस्थितम्। तथा चानित्यत्वेन विशेषणमनर्थकम्। नित्यानुभवसिद्धौ तद्व्यवच्छेदस्यानिष्टत्वात्, असिद्धौ च व्यवच्छेद्याभावात्। न चेदमनुमानम्। आश्रयासिद्धिबाधयोरन्यतराक्रान्तत्वात्। न तत्प्रमाकरणमिति त्विष्यत एव। प्रमया सम्बन्धाभावात्। तदाश्रयस्य तु प्रमातृत्वमेतदेव, यत् तत्समवायः। कारकत्वे सतीति तु विशेषणं पूर्ववन्निरर्थकमनुसन्धेयम्। यद्येवम्, 'आप्तप्रामाण्यात्' (न्याय०, २-१-६८) इति सूत्रविरोधः।

आमोदः– तदाश्रयस्य तत्राकर्तृत्वादित्यर्थः। **तद्वत्ता चेति।** प्रमासमवायित्वमेव प्रमातृत्वं, न तु कारकत्वे सति इत्यर्थः। **तदयोगेति।** प्रमाया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धि प्रमाणमीश्वरोऽपीत्यर्थः। **व्यवस्थितमिति।** पराभिमतलक्षणान्तर-निराकरणेनेत्यर्थः। **तथा चेति।** नित्येऽप्यनुभवे लक्षणस्य गतत्वादित्यर्थः। प्रत्युतानित्यपददाने तत्राव्याप्तिः स्यादित्याह **नित्येति।** उभयथापि नित्यपदमनर्थकमित्यर्थः। नन्वीश्वरज्ञानं न प्रमा अफलत्वात्, न प्रमाणमकरणत्वादित्यनुमाने को दोष इत्यत आह **न चेति।** ईश्वरप्रामाण्यमाह **तदाश्रयस्येति। पूर्ववदिति।** अनित्यपदवदित्यर्थः। **यद्येवमिति।** यदीश्वरो न प्रमाकरणमित्यर्थः। 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादिति' सूत्रविरोध (न्या.सू. २।१।६८।) इत्यर्थः।

प्रकाशः–**अनित्यत्वेनेति।** यथार्थानुभवत्वमेव प्रमात्वं नित्यानित्यसाधारणम्। न च क्रियात्वविरोधः, धात्वर्थमात्रस्यैव नित्यानित्यसाधारणस्य सत्तादेरिव क्रियात्वात्। अनित्यत्वेन तद्विशेषणस्य गौरवेण व्यर्थत्वादित्यर्थः। दूषणान्तरमाह **नित्येति।** न चेश्वरज्ञानं न प्रमा फलानात्मकत्वाद् गगनवदित्यनुमानमपि सम्भवतीत्याह **न चेदमिति।** नापि प्रमाणमित्यत्र सिद्धसाधनत्वमेवेत्याह **न तत्प्रमाकरणमिति।** स्वप्रमां प्रति तस्याकरणत्वमिष्यत एवेत्यर्थः। अस्मदादिप्रमां प्रति तु तत्करणत्वं वर्त्तत एव, तस्य सव्यापारत्वादिति भावः। **तदाश्रयस्येति।** प्रमासमवायित्वस्यैव प्रमातृत्वात् तत्र तत्कारणान्तर्भावस्य व्यर्थत्वादित्यर्थः। **पूर्ववदिति।** सिद्ध्यसिद्ध्योरुभयोरपि व्यावर्त्याभावादित्यर्थः। यदीश्वरस्य न प्रमाणत्वमिष्यते, तदा *न्यायसूत्र*प्रतिपादिततत्प्रमाणत्वविरोध इत्याह **यद्येवमिति। प्रमया त्विति।** चक्षुरादीनामपि चरमसहकारिक्षणे प्रमया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धस्य विद्यमानत्वादित्यर्थः। **पूर्ववदिति।** सिद्ध्यसिद्ध्योरुभयोरपि व्यावर्त्त्याभावादित्यर्थः।

तेन हीश्वरस्य प्रामाण्यं प्रतिपाद्यते, न तु प्रमातृत्वमिति चेन्न। निमित्तसमावेशेन व्यवहारसमावेशाविरोधात्। प्रमासमवायो हि प्रमातृव्यवहारनिमित्तं, प्रमया त्वयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धः प्रमाणव्यवहारनिमित्तं, तदुभयञ्चेश्वरे। अत्रापि 'कार्यये'ति विशेषणं पूर्ववदनर्थकमूहनीयम्।

स्यादेतत्। प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं, प्रमिणोतीति प्रमातेति कारकशब्दत्वमनयोः। तथा च कथमकारकमर्थ इति चेन्न। एतस्य व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। प्रवृत्तिनिमित्तं तु यथोपदर्शितमेव, व्यवस्थापनात्। अन्यथा अस्मदादिषु न प्रमातृव्यवहारः स्यात्। सर्वत्र स्वातन्त्र्याभावात्।

आमोदः– कथं विरोध इत्याह **तेन हीति**। निमित्तसमावेशमाह **प्रमयेति**। ननु कार्यया प्रमया समवायः प्रमातृत्वम्, एवमग्रेऽपीति कथं निमित्तसमावेश इत्यत आह **अत्रापीति**। अनित्यपदवदिदमप्यनर्थकमित्यर्थः। ईश्वरव्यावृत्तं निमित्तान्तरं शङ्कते **प्रमीयत इति**। **एतस्येति**। *वैयाकरण*व्युत्पत्तिमात्रमिदमित्यर्थः। **व्यवस्थापनादिति**। नित्यप्रमासाधकैः प्रमाणैरित्यर्थः। **अन्यथेति**। यदि *शाब्दिक*प्रवृत्तिनिमित्तानुसरणं, तदा 'स्वतन्त्रः कर्ते'त्यनुशासनात् (पा०सू०।१।४।५४।) प्रयोज्यस्य कर्तृत्वं न स्यादित्यर्थः। यदि कर्तृत्वं फलानुकूलकृतिमत्वम्। तत्र च कृतिं विना प्रमोत्पत्तौ

प्रकाशः– सर्वत्रेति। यदि प्रमाकर्तृत्वेन प्रमातृत्वं, तदा अस्मदादीनामपि तदभावात् प्रमातृव्यवहारो न भवेत्–तदनुकूलप्रयत्नवत्त्वं हि स्वातन्त्र्यम्। तत्कर्तृत्वं सर्वप्रमायामस्मदादीनामपि नास्ति, अस्मदादिप्रयत्नं विनाप्यस्मदादि–प्रमोत्पत्तेरित्यर्थः। **अन्यत्रेति**। लोक इत्यर्थः।

मकरन्दः– न च निर्विकल्पकजीवनयोनियत्नयोर्व्यभिचारः, मानसप्रत्यक्ष–जातीयत्वस्य साध्यत्वात्। वस्तुतस्तु तदन्यत्वेन विशेषणान्न व्यभिचार इति। **निर्व्यापारत्वेनेति**। प्रमानुकूलव्यापारशून्यतया तदाकारकतया इत्यर्थः। यद्यपि कूटलिङ्गादिस्थलेऽनुमितिप्रमाकरणत्वं तस्येष्यत एव, तथापि स्वप्रमां प्रति न तथात्वमिति भावः। न च **क्रियात्वेति**। क्रियासम्बन्धं विना कारकत्वा–भावात्तद्विशेषप्रमातृत्वाद्यसम्भव इत्यर्थः। **स्वप्रमामिति**। स्वसमानाधिकरण–प्रमामित्यर्थः। **यदीश्वरस्येति**। यद्यपि पूर्वं तज्ज्ञानस्य न प्रामाण्यमित्युक्तं न तु तस्य, तथापि तुल्यन्यायतया तदप्युक्तप्रायमेवेति भावः। **तदनुकूलेति**। तदुपादानगोचरतदनुकूलज्ञानेच्छाकृतिमत्त्वलक्षणमित्यर्थः। **अस्मदादीनामिति**।

कारणव्यवहारस्त्वन्यत्र यद्यप्यन्यनिमित्तकोऽपि, तथापीहोक्त निमित्तविवक्षयैवेति। एवं तर्हि पञ्चमप्रमाणाभ्युपगमेऽपसिद्धान्तः। न हि तत्प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा, अनिन्द्रियलिङ्गशब्दकरणत्वात्। न, साक्षात्कारिप्रमावत्तया प्रत्यक्षान्तर्भावात्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वस्य च लौकिकमात्रविषयत्वात्।

स्यादेतत्, तथापीश्वरज्ञानं न प्रमा, विपर्ययत्वात्। यदा खल्वेतदस्मदादिविभ्रमानालम्बते, तदैतस्य विषयमस्पृशतो न ज्ञानावगाहनसम्भव इति तदर्थोऽप्यालम्बनमभ्युपेयम्। तथा च तदपि विपर्ययः, विपरीतार्थालम्बनत्वात्। तदनवगाहने वा अस्मदादेर्विभ्रमानविदुषस्तदुपशमायोपदेशानामसर्वज्ञपूर्वकत्वमिति। न,

---

आमोदः- प्रमातृत्वमस्मदादीनामपि सर्वत्र न स्यादित्यर्थः। अन्यनिमित्तकः कर्तृव्यापारविषयत्वादिनिमित्तकः। उक्तेति। फलायोगव्यवच्छेदेनेत्यादीत्यर्थः। पञ्चमेति। ईश्वर उक्तप्रमाणातिरिक्तमेव प्रमाणमित्यर्थः। उक्तबहिर्भावमाह न हीति। अन्तर्भावयति साक्षादिति। सूत्रविरोधं परिहरति- इन्द्रियेति। अस्मदादिभ्रमविषयकमीश्वरज्ञानमपि भ्रमः स्यादिति आशङ्कते तथापीति। भ्रमाविद्वत्तायां दोषमाह तदनवगाहन इति। तदुपशमायेति। अस्मदादि-

---

प्रकाशः-अन्यनिमित्तकोऽपीति। अयोगव्यवच्छेदेन जनकत्वनिमित्तकोऽपीत्यर्थः। कारकविशेषवाचकः प्रमाणशब्द ईश्वरे वर्त्तते, किन्त्वन्यथेति भावः। साक्षात्कारीति। साक्षात्कारिप्रमया त्वयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धस्य सम्भवेन प्रत्यक्षप्रमाणा-न्तर्भावान्नोक्तदोष इत्यर्थः। साक्षात्कारित्वं त्वीश्वरप्रमाया धर्मिग्राहकमानसिद्धमित्यर्थः। यथाश्रुतं सूत्रन्तु लौकिकप्रत्यक्षविषयमित्याह इन्द्रियार्थेति।

नन्वीश्वरस्य सर्वज्ञत्वेन सविषयभ्रमज्ञप्तावीश्वरोऽपि भ्रान्तः स्यात्। भ्रमस्येव तस्या अपि भ्रमविषयविषयकत्वादित्याह – तथापीति। शुक्तौ रजतत्व प्रकारकज्ञानवानिति ज्ञानं न भ्रमः, भ्रान्तस्य तथात्वात्। शुक्ताविदं रजतमिति ज्ञाने रजतत्वं प्रकारः, तेन तद्भ्रमः, ईश्वरज्ञाने तु रजतत्वप्रकारकत्वं प्रकार इति न भ्रमत्वम्।

मकरन्दः- जन्यात्मविशेषगुणमात्रस्यैवेश्वरकर्तृकत्वेनाभ्युपगमादिति भावः।।५।।

विभ्रमस्याप्रामाण्येऽपि तद्विषयस्य तत्त्वमुल्लिखतोऽभ्रान्तत्वात्। अन्यथा भ्रान्तिसमुच्छेदप्रसङ्गः, प्रमाणाभावात्। तथाप्यारोपितार्थावच्छिन्नज्ञानालम्बनत्वेन कथं न भ्रान्तत्वमिति चेन्न। यत् यत्र नास्ति, तत्र तस्यावगतिरिति भ्रान्त्यर्थत्वात्। एतदालम्बनस्य चैवमुल्लिखतः सर्वत्र यथार्थत्वात्। न हि न तद्रजतं, नापि तत्रासत्, नापि तन्नावगतमिति।

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः।

आमोदः– मोहोपशमायेत्यर्थः। **विभ्रमस्येति**। रजतत्वप्रकारकं शुक्तावस्य ज्ञानमितीश्वरज्ञानं व्यधिकरणप्रकारतानवच्छिन्नं प्रमेवेत्यर्थः। **अन्यथेति**। भ्रमविषयकस्याप्रामाण्ये भ्रमः सर्वत्राप्रामाणिक एव स्यादित्यर्थः। एवमुल्लिखत इति। यत्र तन्नास्ति तत्र तस्यावगतिरस्येति एवमुल्लिखत इत्यर्थः। अयं तूल्लेखो यथार्थ एवेति भावः। भ्रमे च ज्ञानस्यायाथार्थ्यमाह न हीति।।५।।

साक्षात्कारिणीति। तत् तस्मान्मम शिवः प्रमाणम्। कीदृशः शिव इत्याह **भूतार्थेति**। यथार्थानुभवे निविष्टः विषयीभूतो निखिलः प्रस्तावी प्रपञ्चरूपो वस्तूनां क्रमो यस्य स तथोक्तः। **साक्षात्कारिणीति** अनुभवविशेषणं, साक्षात्कारपदस्य धर्मपरतया योज्यम्। नित्यं योगो यस्य। **परद्वारेति**। परमिन्द्रियशब्दलिङ्गादि, तदेव द्वारम्, तदनपेक्षा स्थितिर्यस्यानुभवस्येत्यर्थः।

प्रकाशः– अत एवास्मदादिरपि भ्रान्तिज्ञो न भ्रान्त इत्याह **विभ्रमस्येति**। **प्रमाणाभावादिति**। भ्रमत्वग्राहकज्ञानस्य भ्रमविषयमुल्लिखतो भ्रमस्येवायथार्थत्वादित्यर्थः। भ्रमविषयविषयकत्वेन न भ्रमत्वं, किन्तु यद्यत्र नास्ति तत्र तज्ज्ञानत्वेन। तथा च शुक्ताविदं रजतमिति ज्ञानं रजतत्वाभाववति रजतत्वविषयमिति भ्रमः, तदनुव्यवसायश्च यत्र रजतज्ञाने रजतत्वप्रकारकत्वमस्ति, तत्र तदुल्लिखन् न भ्रमो विषयाबाधादित्याह **यद् यत्रेति**। तदेव स्पष्टयति **न हीति**। एतेन यद् यत्रास्ति, तत्र तज्ज्ञानं प्रमेत्यपि निरुक्तम्।५।

स्तवकार्थं शिवस्तुतिव्याजेन सङ्कलयति **साक्षात्कारिणीति**। **भूतार्थानुभवे** यथार्थानुभवे। **साक्षात्कारिणि**–प्रत्यक्षे। **निविष्टो** विषयीभूतो **निखिलः** समस्तः **प्रस्ताविवस्तूनां** नानापदार्थानां **क्रमो** यस्य, स तथा। अनुभवविषयसकलविश्व इत्यर्थः। **नित्ययोगिनि** सदा सम्बद्धे। अत एव इन्द्रियादीनां द्वाराणामनपेक्षा

लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः।।६।।

इति श्रीन्यायकुसुमाञ्जलौ चतुर्थस्तबकः।।

आमोदः- लेशा स्वल्पा याऽदृष्टिरदर्शनं तन्निमित्ता या दुष्टिर्दोषस्तस्य विगमेन **प्रभ्रष्टः शङ्कातुषो** प्रामाण्यशङ्कालेशो यस्मिन्नित्यर्थः। **शङ्कोन्मेष** एव अप्रामाण्य शङ्काप्रादुर्भाव एव **कलङ्को** येषां *बौद्धादीनां* **तैः किम्**? तेषां विमतिरतन्त्रमित्यर्थः। **भूतार्थानुभव** इति बहुव्रीहिणा ईश्वरज्ञानपरं वा विशेषणान्तरमपि तत्परतया योज्यम्।६।

इति म०म० शङ्करमिश्रकृत कुसुमाञ्जल्यामोद चतुर्थः स्तबकः

प्रकाशः- स्थितिर्यस्य। **लेशा** अल्पा या **अदृष्टिर्विशेषादर्शनं, तन्निमित्ता या दुष्टिः** रागद्वेषाऽऽत्मिका, तद्विगमेन **प्रभ्रष्टः शङ्कातुषो** वेदप्रामाण्यशङ्कालेशो यस्मादित्यर्थः। यद्वा भूतार्थोऽनुभवो यस्य, तादृशि **साक्षात्कारवति शिवे। निविष्टेत्यादि पूर्ववत्। स शिवः प्रमाणं**, नाप्रमाणमिति कण्ठतः *परमत* निरासः। प्रमाणं साक्षी शरण्यमिति ध्वनितम्। **दुष्टमिति** क्वचित् पाठः। तत्र भावे क्तः।।६।।

इति श्रीमहामहोपाध्यायश्रीवर्द्धमानविरचिते कुसुमाञ्जलिप्रकाशे चतुर्थः स्तबकः।।४।।

मकरन्दः- साक्षात्कारवति शिवे प्रत्यक्षज्ञानवति स्वस्मिन् इत्यर्थः।।६।।

इति महामहोपाध्यायदेवदत्तात्मज-श्रीरुचिदत्तोपाध्याय-विरचिते कुसुमाञ्जलिमकरन्दे चतुर्थः स्तबकः।



पञ्चमः स्तबकः

तत्साधकप्रमाणाभावादिति पञ्चमीं विप्रतिपत्तिं निराकर्तुमुपन्यस्यति नन्वीश्वरे प्रमाणोपपत्तौ सत्यां सर्वमेतदेवं स्यात्, तदेव तु न पश्याम इति चेत्। न ह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। तथा हि –

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।१।।

क्षित्यादि कर्तृपूर्वकं, कार्यत्वादिति।।१।।

आमोदः- तत्साधकप्रमाणाभावादिति पञ्चमीं विप्रतिपत्तिमीश्वरे प्रमाणमभिधाय निराकर्तुमुपक्रमते नन्विति। सर्वमिति। पूर्वोक्तान्यथासिद्ध्यादि निराकरणरूपमित्यर्थः। स्थाणुरीश्वरो दारुविशेषः। अन्धो युक्तिहीनो नेत्रहीनश्च। कार्येति। क्षित्यदिलक्षणात् कार्यात् ईश्वरोऽनुमेय इत्यर्थः। आयोजनं सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकोत्पादकपरमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्म। तद्धि परमाणुद्वयं संघट्टयति इत्यर्थः। धृतिर्ब्रह्माण्डभूगोलकादिधारणम्, आदिपदात् संहरणं गृह्यते। न हि तदपि ईश्वरादन्यस्मात् सम्भाव्यते। पदादिति व्यवहारादित्यर्थः। पद्यते हि व्यवहाराङ्गमर्थस्तेन पटादिनिर्माणे नैपुण्यं कुविन्दादीनां वाग्व्यवहारश्चाद्यो नेश्वरं विनेत्यर्थः। प्रत्ययत इति विश्वासादित्यर्थः। न ह्यन्यत्र विश्वासः सम्भवतीत्यर्थः। श्रुतेरिति। सर्वज्ञेन प्रणीता वेदा वेदत्वात्; यन्नैवं तन्नैवमिति व्यतिरेकी। वाक्यादिति। वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वादस्मदादिवाक्यवदित्यन्वयी वा हेतुरभिमतः। संख्याविशेषादिति। द्व्यणुकत्र्यणुकपरिमाणजनक द्वित्वत्रित्वादिसंख्याविशेषादित्यर्थः। न हि सास्मदाद्यपेक्षाबुद्धिजन्येति भावः।

प्रकाशः- नन्विति। सर्वमिति। प्रागुक्तान्यथासिद्ध्यादिनिरासरूपमित्यर्थः। स्थाणोरीश्वरस्य, अथ च दारुविशेषस्य। अन्धस्तत्र प्रमाणादर्शी, चक्षुर्हीनश्च। कारिकायां संगृहीतं कार्यत्वं हेतुं विवृणोति क्षित्यादीति।

नन्वत्र प्रत्येकं क्षित्यादि न पक्षः, तस्य स्वशब्देनाभिधातुमशक्यत्वात्। नापि मिलितम्, एकरूपाभावात्। न च शरीराजन्यं जन्यं पक्षः। *वेदाद्यव्याप्तेः*, अदृष्टद्वारा शरीरिणोऽपि क्षित्यादिकर्तृत्वात्। नाप्यदृष्टजनककृत्यजन्यं जन्यम्, ईश्वरकृतेरदृष्टजनकत्वेन क्षितौ तदभावात्। नापि जन्यकृतिसाक्षादजन्यं जन्यम्, घटादेरपि पक्षतापत्तेः। नापि सकर्तृकत्वविवादविषयः, तत्सन्देहविषयो वा पक्षः,

आमोदः-यद्वा, **कार्यं** तात्पर्यं ततोऽपि ईश्वरसिद्धिः। **आयोजनं** सहस्रशाखवेदयोजना। न हि सार्वाचीनसाध्येति भावः। **धृतिः**, समस्तवेदधारणं, न तदप्यस्मदाद्यधीनम्। आदिपदात् सहस्रशाखवेदाध्यापनं संगृहीतम्। **पदादिति** ईश्वरादिपदमीश्वरवाचकं पदं प्रमाणम्। **प्रत्ययत** इति लिङादिप्रत्ययात् पुमभिप्रायपरादित्यर्थः। **श्रुतेरिति** श्रुतिरेव *विष्णुसंहिता-रुद्राध्याय* रूपात्र प्रमाणमित्यर्थः। **वाक्यादिति** यद्वाक्यं यत्संसर्गप्रतिपादकं तत्तज्ज्ञानपूर्वकम्। तच्च वेदार्थगोचरज्ञानमीश्वरनिष्ठमेवेत्यर्थः। **संख्याविशेषादिति** 'संख्या समाख्या कठकालापादिरूपा, सा च तत्तद्रूपेण तत्तच्छाखाध्ययनाधीना, तत्र चेश्वरादन्यो न क्षमः। तदुक्तं 'समाख्यापि च शास्त्राणां नाद्यप्रवचनादृते (न्या.कु. ५।१७) इति। **सर्वविदव्यय** इति नित्यसर्वज्ञ इत्यर्थः।

क्षित्यादीति जन्यकृत्यजन्यं जन्यमित्यर्थः। न च क्षित्यादीनामप्य दृष्टद्वारकजन्यकृतिजन्यत्वमस्तीति वाच्यम्। अदृष्टजनककृतेन दृष्टेनैवान्यथा सिद्धत्वेनाजनकत्वात्। **कर्तृपूर्वकमिति** उपदानगोचरापरोक्षज्ञानविषयी भवदुपादानकमित्यर्थः। **कार्यत्वादिति** समवेतत्वादित्यर्थः।।१।।

प्रकाशः- एकरूपाभावे क्षित्यादिसकलविषयविवादसंशययोरभावात्। किञ्च न वादिनोः संशयः,तयोर्निश्चिततत्वात्। वाद्यनुमानयोस्तुल्यत्वेन मध्यस्थसंशय इति चेत्। तर्ह्यनुमानाभ्यां तत्संशयो, मध्यस्थसंशयानन्तरञ्च वाद्यनुमानमित्यन्योन्याश्रयः। न च क्षितिरेव पक्षः, अङ्कुरेण सन्दिग्धानैकान्तिकत्वात्। हेतौ साध्याभाववद्गामित्व संशयस्य दूषकत्वात्। तस्य च साध्याभाववति हेतुसन्देहादिव हेतुमति साध्याभावसन्देहादपि दूषकत्वात्। पक्षे तत्सद्भावेऽप्यनुमानमात्रोच्छेदकत्वेन तस्यादूषकत्वात्। न चाङ्कुरेऽपि तत एव साध्यानुमितिः। तस्यापक्षत्वेन स्थापनानुमानाविषयत्वात्। अनुमानान्तरस्य च क्षित्या सन्दिग्धानैकान्तिकत्वात्। तथा चान्योन्याश्रयादेकस्याप्यनुमानस्याप्रवृत्तिः। एकैकमात्राभिज्ञसिद्धावपि सकलविषयज्ञानवदसिद्धिश्च।

साध्यमपि न कृतिमत्सहभावः, तज्जन्यत्वं वा, अस्मदादिना सिद्धसाधनात्। नाप्युपादानगोचरापरोक्षज्ञानादिमज्जन्यत्वं, यत्किञ्चिदुपादानविवक्षायां घटोपादानगोचरज्ञानादिमतास्मदादिनार्थान्तरात्। न च ज्ञानादीनामपि जनकत्वं

मकरन्दः- **सन्देहविषयत्वं वा पक्ष** इति पाठे पक्षपदं पक्षतावच्छेदकपरम्। अपक्षत्वेनेति प्रतिज्ञाविषयस्यैव पक्षत्वमित्यभिमानः। ननु प्रथममङ्कुरे तदनुमाय क्षितौ तदनुमेयमित्यत आह **अनुमानान्तरस्येति**। **रागवत** इति चिकीर्षावत इत्यर्थः।

प्रकाशः– विवक्षितम्। न च घटोपादानगोचरज्ञानादेः क्षित्यादिजनकत्वसम्भव इति वाच्यम्। तथापि क्षितिजनकादृष्टजनकज्ञानादीनामुपादानविषयत्वनियमेनादृष्टद्वारा तैरेव सिद्धसाधनात्। न च साक्षात्तज्जन्यत्वं विवक्षितम्। घटादेर्दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यापत्तेः। न च शरीरक्रिया दृष्टान्तः। घटे व्यभिचारात्, तत्क्रियात्वस्यै वोपाधित्वाच्च। क्षित्युपादानविवक्षायामप्रसिद्धिः। न चोपादानशब्दस्य सम्बन्धिशब्दतया तत्तत्समभिव्याहारात्तत्तदुपादानबोधकत्वम्। शाब्द एव बोधे तथा व्युत्पत्तेः। अनुमितौ च येन रूपेण व्यापकत्वं, तेनैव रूपेण तस्य विषयत्वात्। तच्चोपादानत्वमेवेत्युक्तदोषापरीहारात्। किञ्च घटे चिकीर्षाद्वारा कृतिसाध्येष्ट साधनताज्ञानमनुमितिरूपं जनकमिति साध्यविकलो दृष्टान्तः, साध्याप्रसिदधिर्वा। प्रत्युत घटेऽनुमितिजन्यत्वदर्शनादीश्वरेऽनुमितिः सिद्ध्येत्। यथा च प्रत्यक्षस्येन्द्रिय जन्यत्वेऽपि नित्यं तदीश्वरे, तथानुमितेर्लिङ्गजन्यत्वेऽपि नित्यैव सा तत्र स्यात्। द्वेषयोनिकृतिसाध्ये चिकीर्षाविरहाद् व्यभिचारश्च। तद्दृष्टान्तेन क्षित्यादौ द्वेषसाध्यत्वानुमानादीश्वरे द्वेषोऽपि सिद्ध्येत्। द्वेषवतश्च संसारित्वे भगवतोऽपि तथा स्यात्। कथं वा उपादानगोचरा चिकिर्षा, असिद्धत्वात्।

किञ्च कार्यत्वं न योगोपस्थितकृत्यर्हत्वम्, असिद्धेः। नापि कादाकित्कत्वं, प्रागभावे व्यभिचारात्। नापि प्रागभावप्रतियोगित्वं, ध्वंसे व्यभिचारात्। न च सत्त्वेन हेतुविशेषणम्। सत्ताजातेः परं प्रत्यसिद्धेः, स्वरूपसत्त्वस्य ध्वंसेऽपि सत्त्वात्। नापि पूर्वकालासम्बन्धित्वे सत्युत्तरकालसम्बन्धः, सकलपूर्वकालस्या प्रसिद्धेः, तत्तत्पूर्वकालस्य चाननुगमात्।

घटादिरपि दृष्टान्तः साध्यविकलः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानादेरेव जनकतया तदाश्रयस्याजनकत्वात्। धर्मिग्राहकस्यान्वयव्यतिरेकस्य वा तद्ग्राहकस्याभावात्। न च ज्ञानवत्कार्यत्वेनात्मजन्यत्वमनुमेयम्, आत्मसमवेतत्वस्यैवोपाधित्वात्, अन्यथा शब्दवदाकाशजन्यत्वानुमानापत्तेः। एतेन–सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकं ज्ञानेच्छाकृतिसमानकालीनसामग्रीजन्यं, कार्यत्वात्, अदृष्टसामग्रीजन्यत्वे चादृष्टत्वापत्तिः। द्व्यणुकासमवायिकारणसमानकालीनकृतिजन्यमिति वा साध्यमित्यपास्तम्। आद्ये, ज्ञानादिसिद्धावपि द्व्यणुकाजनकत्वादुदासीन

मकरन्दः–ननु ज्ञानेच्छाकृतिसमानकालीनसर्गान्तरीयादृष्टजनकसामग्र्यैवादृष्टद्वारा द्व्यणुकजनकतयार्थान्तरमत आह अदृष्टसामग्रीजन्यत्वे चेति। न चादृष्टमधिकं कारणमिति न तदापत्तिरिति वाच्यम्। तथात्वे क्षित्यादेरदृष्टविशेषत्वापत्तेः। यथा

प्रकाशः- सिद्धावप्रयोजकत्वात्। अन्त्ये, गौरवाद् द्व्यणुकासमानकालीन-कृतित्वेनाजनकत्वात्। अपि च सामान्यज्ञानादिप्रत्यासत्तिजन्योपादानज्ञानादिमतार्थान्तरम्। न चानागतगोचरप्रत्यक्षजनकप्रत्यासत्त्यजन्यं ज्ञानविशेषणम्। तादृशप्रत्यासत्तेस्तज्जन्यत्वस्य च परं प्रत्यसिद्धेः।

अत्रोच्यते - अदृष्टाद्वारकोपादानगोचरजन्यकृत्यजन्यं समवेतं जन्यम्, अदृष्टप्रागभावव्याप्यप्रागभावाप्रतियोग्युपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यम् समवेतत्वे सति प्रागभावप्रतियोगित्वात्, यदेवं तदेवं, यथा घटः, तथा चैतत्, तस्मात्तथा। एवञ्च शब्दफूत्कारादीनां पक्षत्वान्न तैः सन्दिग्धानैकान्तिकत्वम्। यदि च कस्यचित् पक्षे नान्तर्भावः, तदा तमादाय निरुक्तस्य पक्षत्वे समूहालम्बनानुमितावविरोधः। जन्यकृत्यजन्यत्वञ्च जन्यकृतिजन्यान्यत्व मित्यन्यत्वेन रूपेण सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या तावतामुपस्थितिः। जन्यत्वञ्च कृतौ स्वपक्षे विशेषणं, परं प्रत्युपरञ्जकमात्रं प्रमेयो घट इतिवत् तत्प्रकारकज्ञानोपयोगि। उभयसिद्धसप्रयोजनत्वमात्रं तन्त्रं, न तु प्रयोजनस्योभय सिद्धत्वम्। क्षितिरेव वा पक्षः। पक्षपक्षसमनैरपेक्ष्येण घटादौ निश्चितव्याप्तेर्लिङ्गस्य तयोर्दर्शनेनोभयत्रानुमित्यविरोधान्न सन्दिग्धानैकान्तिकम्। अनुमित्योरन्योन्यान पेक्षणान्नान्योन्याश्रयः। न चाङ्कुरे पक्षधर्मताज्ञानाभावः, सिषाधयिषाविरह सहकृतसाधकप्रमाणाभाववत एव पक्षत्वात्। तच्च क्षितौ पञ्चावयव वाक्येनाङ्कुरेऽन्यत इति न विशेषः।

मकरन्दः-शिंशपावृक्षविशेष इत्याशयात्, लाघवाददृष्टसामग्रीजन्यत्वस्यैवादृष्टत्व प्रयोजकत्वाच्च। तथा चादृष्टसामग्री अदृष्टप्रागभावादिघटिता नान्यत्र जनिकेति भावः।

सम्प्रदायमते उक्तसन्दिग्धानैकान्तिकभियानुगतं पक्षतावच्छेदकमाह अदृष्टाद्वारकेति। तत्रोपादानपदं स्वोपादानपरम्। तथा च स्वोपादानगोचर जन्यकृति जन्या घटादयः प्रसिद्धाः, तदन्यत्वं पक्षतावच्छेदकम्। एतेन उपादानपदं यदि यत्किञ्चिदुपादानपरं तदा अदृष्टद्वारकरूपाद्युपादानमृदङ्गादिगोचरा-स्मदादिकृतिजन्यानां शब्दादीनां पक्षता न स्यात्। क्षित्याद्युपादानपरत्वेऽप्रसिद्धिरित्यपास्तम्। नन्वेवमदृष्टाद्वारकेति व्यर्थम् दृष्टद्वारककृतिमादाय प्रकृते दोषास्पर्शनादिति चेत्, अत्राहुः। कालीशरीरे यद् गौरं रूपमुत्पन्नं, तत् कालीशरीरगोचरतपश्चरणादिकृत्या जन्यते सा च कृतिरदृष्टद्वारिका

प्रकाशः– यदि च क्षितौ लिङ्गनिश्चयदशायां तद्वृत्तयाङ्कुरस्य न निश्चयः तदा क्व सन्दिग्धानैकान्तिकम्। पक्षसमे साध्याभावसामानाधिकरण्यसन्देहाल्लिङ्गे व्याप्तिग्रह एव नोत्पद्यते इति चेत्। तर्हि धूमेऽपि व्याप्तिग्रहो न स्यात्। सन्दिग्धवह्निपर्वतधूमवतामेकधर्माभावेन अपक्षत्वात्। तस्मादनुमानोच्छेदप्रसङ्गात् सन्दिग्धसाध्ये लिङ्गनिश्चयो न दोषः। लाघवादेकज्ञानसिद्धा वुत्पत्तिमतोऽनादिकार्यप्रवाहाजनकत्वे नित्यत्वसिद्धौ, कारणं ततो निवर्त्तमानं नियतविषयतामादायैव निवर्त्तते, तस्याः कारणाधीनत्वात्। अनित्यासर्वविषयकज्ञानाजन्यत्वेन पक्षविशेषणाद्वा ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वसिद्धिः। साध्ये च ज्ञानादीनां विशेषणतया विशिष्टस्य साधनत्वेन विवक्षितत्वान्न तदुपलक्षितक्षेत्रज्ञेनार्थान्तरम्। अदृष्टप्रागभावेति विशेषणाच्चादृष्टद्वारा नास्मदादिभिः सिद्धसाधनम्। नापि साध्याप्रसिद्धिः। सिद्धवृत्त्यसिद्धविषया हि कृतिः सिद्धविषयप्रत्यक्षे सति भवति। न हि मृदवयवानां संस्थानविशेषे कृतिसाध्येष्टसाधनत्वानुमितावपि अवयवानां प्रत्यक्षेणोपस्थितिं विना प्रवृत्तिः। न चोपादानप्रत्यक्षं प्रवर्त्तकज्ञानोपक्षीणम्, अप्रत्यक्षे परमाणौ तत्क्रियायामिष्ट–साधनताज्ञानेऽप्यप्रवृत्तेः। प्रवृत्तिविषयमृदङ्गादेः प्रत्यक्षत्वाद् न शब्दादिना व्यभिचारः। न चेश्वरेऽनुमित्यापत्तिः, स्वसुखादिसाधनतानुमितेर्हेतुताया गृहीताया ईश्वरे धर्माद्यभावेन बाधाद्, अनुमितिमात्रस्य च हेतुत्वाग्रहात्। उपादानस्य सिद्धत्वेऽप्युपादेयवत्त्वेन चिकीर्षाविषयत्वात्। न च द्वेषसिद्धिः, तस्य कृतिद्वारा कार्यहेतुत्वात्। प्रयोजनं विना द्वेषमात्राच्छत्रुनाशानुकूलकृतेरनुत्पत्तेः। किन्तु दुःखसाधनध्वंसं तत्साध्यदुःखानुत्पादं वा फलमुद्दिश्य तत्साधनताज्ञानात् कृतिः।

मकरन्दः–तद्रूपोपादानकालीशरीरगोचरा चेति तद्रूपेऽव्याप्तिवारणाय तद्विशेषणमिति।

केचित्तु ऐहिकपुष्टशरीरकामनया कामनातीर्थस्नानानन्तरं चिराद् यदिहैव पुष्टं शरीरमुत्पद्यते, तन्न शरीरान्तरवदस्मदादिकर्तृकम्। तथा च प्रयागस्नानानुकूल – शरीरावयवगोचरकृत्यादृष्टद्वारा जनिते पुष्टशरीरेऽव्याप्तिवारणाय तदित्याहुः। साध्येऽप्युपादानगोचरत्वेन जनकता विवक्षिता। तेन मृदङ्गगोचरकृतिजन्यत्वमादाय न शब्दाद्यंशे सिद्धसाधनम्। एवञ्च कालीरूपाद्यंशे सिद्धसाधनवारणाय तत्रादृष्टेत्यादिविशेषणमित्यवधेयम्। शेषं प्रपञ्चित*मनुमानप्रकाशेऽ*नुसन्धेयम्।

पक्षसमे सन्दिग्धानैकान्तिकं न दोष इत्यनुपदवक्ष्यमाणावष्टम्भादभ्युपगम वादेनाह यदि चेति। तमादाय समूहालम्बनानुमितावित्यर्थः।

प्रकाशः-तथा चेष्टसाधनताज्ञानात्तत्रेच्छास्त्येवेति सैव कृतिकारणम्, क्लृप्तत्वात्। द्वेषस्तु परम्परया तदुपक्षीणः। शत्रुं द्वेष्मीत्यबाधितमानसप्रत्यक्षाच्च तत्सिद्धिः।

नापि साध्यविकलो दृष्टान्तः, प्रयत्नवदात्मसंयोगस्य चेष्टाद्वारा घटहेतुतया प्रयत्नस्येवात्मनोऽपि हेतुत्वात्। न चात्मसंयोगे सत्यपि प्रयत्नं विना न चेष्टेति प्रयत्न एव तत्कारणं संयोगपरिचायकमात्रमात्मेति वाच्यम्। संयोगमात्रस्याकारणत्वेन संयोगिविशेषितस्य तस्य हेतुत्वात्। नात्मसंयोगः क्रियाहेतुः, संयोगाभावेन तदभावादर्शनादिति चेत्, न। यः स्पन्दो व्यधिकरणयद्गुणजन्यः स तत्संयोगा-समवायिकारणकः, यथा स्पर्शवद्वेगवत्संयोगजा क्रियेति तत्सिद्धेः। असमवायिकारण संयोगाश्रयस्य तत्कार्यजनकत्वनियमाच्च।

केचित्तु अनुकूलकृतिसमवायित्वमेव कर्तृत्वं, न तु जनकत्वविशेषितं, गौरवात्। तथा च ज्ञानेच्छाकृतिजन्यत्वस्यैव साध्यत्वात् तदाश्रयत्वमेवेश्वरस्य कर्तृत्वमित्याहुः। सामान्यादिगोचरप्रत्यासत्त्या कपालगोचरप्रत्यक्षेऽपि घटादाव-कर्तृत्वात् कर्तृत्वेन ज्ञानं सिद्ध्यत्तद्विलक्षणमेव सिद्ध्यतीति संक्षेपः।१।

यद्यपि बाधस्तृतीयस्तवक एव निरस्तः, तथापि प्राधान्येन तत्र योग्यानुपलब्धिबाधो निरस्त इह त्वनुमानबाधो निरस्यः। तत्र व्यापकानुलब्धिविरोधेन बाधो विवक्षितः, प्रतिरोधो वा? आद्ये, न बाधोऽस्य कार्यत्वस्य धर्मिसिद्ध्यर्थमन्यैर्हेतुभिः कर्तृत्वादिभिरुपजीव्यत्वात्। अन्त्ये, प्रतिबन्धः प्रतिरोधो न। हीनोत्तमबलयोस्तदभावादित्यर्थः। ननु परव्याप्तिस्तम्भनार्थं विपरीत व्याप्त्युपदर्शनेन तद्विरोधमात्रं स्यात्। यद्वा - व्याप्तिपक्षधर्मतोपस्थाप्य

मकरन्दः- अनुमित्योरिति। एतच्च पराभ्युपगमरीत्योक्तं, पक्षभेदमाश्रित्य भेदारोपाद्वा। वस्तुत एकैव समूहालम्बनानुमितिरिति ध्येयम्।

ननूपादानप्रत्यक्षं विनापि शब्दार्थप्रवृत्तेर्व्यभिचार इत्यत आह **प्रवृत्तिविषयेति**। न ह्युपादानप्रत्यक्षत्वेन हेतुत्वं ब्रूमः, किन्तु प्रवृत्तिविधेयप्रत्यक्षत्वेनेति न व्यभिचार इत्यर्थः। यः स्पन्द इत्याद्य*नुमानप्रकाशे* द्रष्टव्यम्। **असमवायीति** असमवायिपदं प्रकृताभिप्रायेण स्वरूपनिर्वचनम्। यद्यप्यङ्गुलीतरुसंयोगासवायिकारणके शरीरतरुसंयोगेऽङ्गुली न कारणमिति व्यभिचारः, तथापि क्रियायामेवेत्याशय *इत्यन्ये*। तत्राप्यङ्गुली कारणमि*त्येके*। सन्दिग्धव्यतिरेकित्वमप्रयोजकत्वम्।

न बाधोऽस्योपजीव्यत्वात् प्रतिबन्धो न दुर्बलैः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्विरोधो नो नासिद्धिरनिबन्धना।।२।।

तथा हि – अत्र ये शरीरप्रसङ्गमुद्घाटयन्ति, कस्तेषामाशयः? किमीश्वरं पक्षयित्वा कर्तृत्वाच्छरीरित्वम्। ततः शरीरव्यावृत्तेरकर्तृत्वम्। अथ क्षित्यादिकमेव पक्षयित्वा कार्यत्वाच्छरीरिकर्तृकत्वम्। यद्वा, शरीराजन्यत्वादकार्यत्वं, तत एव वा अकर्तृकत्वं, परव्याप्तिस्तम्भनार्थं विपरीतव्याप्त्युपदर्शनमात्रं

आमोदः– अथ कण्टकोद्धारप्रकारमाह न बाध इति। ईश्वरो न कर्ता अशरीरत्वादिति व्यापकानुपलब्धिबाधस्तावन्न भवति, **अस्य** कार्यत्वस्य हेतोरीश्वररूपधर्मि सिद्ध्यर्थमुपजीव्यत्वात्। न च क्षित्यादि न सकर्तृकं शरीराजन्यत्वादित्यादि वा प्रतिरोधोऽपि अस्य व्यर्थविशेषणतया दुर्बलत्वात्। व्याप्त्या शरीरी कर्ता विषयीक्रियत इति। **विरोधोऽपि** ईश्वरसिद्धौ सिद्धत्वादेव, असिद्धौ तु विरोधनिरूपकाभावादेव नास्ति। व्याप्यत्वासिद्धेर्निबन्धनं विपक्षबाधकाभाव उपाधिशङ्का च, तदुभयाभावात् साऽपि नास्ति। आश्रयासिद्धेस्तु निबन्धनमाश्रयाभावः, सन्देहसिषाधयिषयोश्चाभावः, सोऽपि नास्तीति भावः।

शरीरप्रसङ्गमिति। ईश्वरो यदि कर्ता स्यात् शरीरी स्यादित्यादि प्रसङ्गमित्यर्थः। तत एवेति। शरीराजन्यत्वादेवेत्यर्थः। यद् यत् कार्यं तत्तत् सकर्तृकमिति **परव्याप्तिः**, यच्छरीराजन्यं तन्न सकर्तृकमिति तद्विपरीतव्याप्तिः। **स्तम्भनं** फलाजनकत्वम्। ईश्वरपक्षकयोरनुमानयोरीश्वरासिद्ध्या वाश्रयासिद्धिः।

प्रकाशः–विशेषयोर्विरोधेन विशेषविरोधः स्यादित्यत आह सिद्ध्यसिद्ध्योरिति। आद्ये कार्यत्वस्य पक्षधर्मत्वसिद्धौ कर्तृत्वादेश्च तदसिद्धौ सत्यां तुल्यबलत्वाभावेन विरोधाभावादित्यर्थः। अन्त्ये अभिमतविशेषसिद्ध्यसिद्ध्योः सहोपलम्भविरोधि विशेषानुपलम्भाभ्यां विरोधस्य प्रत्येतुमशक्यत्वादित्यर्थः। सन्दिग्धव्यतिरेकित्वाप्रतीत व्याप्तिकत्वोपाधिभिरसिद्धिरपि नेत्याह नासिद्धिरिति। विपक्षबाधकोपदर्शन व्याप्तिज्ञानोपायोपाधिविरहप्रतिपादनैरसिद्धिनिबन्धनस्याभावादित्यर्थः।

कारिकार्थं सङ्कलयितुं पराभिप्रायं विकल्पयति तथाहीति। सत्तयानुपलब्धेः प्रागेव निरासाज्ज्ञातायास्तथात्वं वाच्यम्, तत्र पक्षादिविभागं पृच्छति किमीश्वरमिति। कर्तृत्वादिति। तथा चाशरीरस्य कायनिर्माणशक्त्यभावापत्तिरिति भावः। तत एव – शरीराजन्यत्वादित्यर्थः। परव्याप्तिः–कार्यत्वसकर्तृकत्वव्याप्तिः।

वेति? तत्र प्रथमद्वितीययोराश्रयासिद्धिबाधापसिद्धान्तप्रतिज्ञाविरोधाः। तृतीये तु व्याप्तौ सत्यां नेदमनिष्टम्, असत्यां तु न प्रसङ्गः। चतुर्थे बाधानैकान्तिकौ। पञ्चमे त्वसमर्थविशेषणत्वम्। षष्ठेऽपि नागृह्यमाणविशेषया व्याप्त्या बाधः। न चागृह्यमाणविशेषव्याप्त्या गृह्यमाणविशेषायाः सत्प्रतिपक्षत्वम्। अस्ति च कार्यत्वव्याप्तेः पक्षधर्मतापरिग्रहो विशेषः। कर्ता शरीरी, विपरीतो न कर्तेति चानयोस्तद्विरहः।

आमोदः–तत्सिद्धौ धर्मिग्राहकमानबाधः। ईश्वरस्य शरीरित्वसाधनेऽपसिद्धान्तः। ईश्वरस्यापि कर्तृपदार्थत्वात् प्रतिज्ञाविरोधश्चेत्याह **प्रथमेति**। **तृतीय इति**। क्षित्यादिकं शरीरकर्तृकं कार्यत्वादित्यत्रेत्यर्थः। व्याप्तिरेव तादृशी नास्तीत्यर्थः। **चतुर्थ इति**। क्षित्यदिकमकार्यं शरीराजन्यत्वात् इति बाधितमङ्कुरादावनैकान्तिकमेवमभ्युपगन्तुरपसिद्धान्तश्चेत्यर्थः। **पञ्चम इति**। क्षित्यादिकं न सकर्तृकं शरीराजन्यत्वात्। अत्राजन्यत्वमात्रं व्याप्यं शरीरन्तु विशेषणं व्यर्थमित्यर्थः। **षष्ठ इति**। परव्याप्तिस्तम्भनं बाधनं वा प्रतिरोधो वा। आद्ये च बलवत्ताभावः, अन्त्ये पक्षधर्मतानुपग्रहेण हीनबलत्वमित्यर्थः। एतदेवाह **कर्तेति**।

प्रकाशः– **तत्रेति**। ईश्वरस्य धर्मिणः प्रमाणेन ज्ञानाज्ञानयोर्धर्मिग्राहकमानबाधाश्रयासिद्धी। ईश्वरद्वेषिणः परस्य कर्तृत्वात् तच्छरीरित्वस्वीकारेऽपसिद्धान्तः। ईश्वरः शरीर्यकर्त्ता वेत्यत्र माता बन्ध्येतिवत् प्रतिज्ञापदयोर्व्याघातः। ईश्वरपदस्याशरीरकर्तृवाचकत्वादित्यर्थः। कार्यत्वशरीरिकर्तृत्वयोर्व्याप्तिबलात् क्षित्यादौ शरीरिकर्तृसाधनेऽपि नाशरीरिकर्तृनिरास इत्याह **तृतीय इति**। क्षित्यादौ शरीरिणः कर्तुर्योग्यानुपलम्भेन बाध इति भावः। वस्तुतः शरीरकर्त्रभावेऽप्यङ्कुरादौ कार्यत्वाद् व्यभिचारेण न व्याप्तिरित्याह **असत्यान्त्विति**। क्षित्यादेः सर्वस्य पक्षत्वे बाधः कस्यचिदपक्षत्वे तत्रानेकान्तः, प्रमितसाध्याभाववद्धर्मिकस्यैव बाधत्वादित्याह **चतुर्थ इति**। जन्यत्वमात्रस्यैव गमकत्वे शरीरं व्यर्थं व्याप्यतानवच्छेदकत्वरूपम्। शरीरजन्यत्वाभावादिति नञः प्रतियोगिविशेषणतायामखण्डस्यैव हेतुतायामजन्यत्वमेवोपाधिरिति न साधनं साध्यव्याप्यमित्याह **पञ्चमे त्विति**। स्तम्भनं बाधः प्रतिरोधो वा न सम्भवतीति क्रमेणाह **षष्ठेऽपीति**। **विशेषः** पक्षधर्मता। **अस्ति चेति**, चो हेतौ। यस्मादस्मद्व्याप्तौ पक्षधर्मतास्ति, त्वदीयव्याप्तौ च सा नास्ति धर्म्यज्ञानात्। ज्ञाने वा धर्मिग्राहकमानबाधः। केवलव्याप्तेश्चासाधकत्वमित्यर्थः।

ननु यद् बुद्धिमद्धेतुकं तच्छरीरहेतुकमिति नियमे, यच्छरीरहेतुकं न भवति तद्बुद्धिमद्धेतुकमपि न भवतीति विपर्ययनियमोऽपि स्यात्। तथा च पक्षधर्मतापि लभ्यते इति चेन्न। गगनादेः सपक्षभागस्यापि सम्भवात् केवलव्यतिरेकित्वानुपपत्तेः। अन्वये तु विशेषणासामर्थ्यात्। हेतुव्यावृत्तिमात्रमेव हि तत्र कर्तृव्यावृत्तिव्याप्तं, न तु शरीर रूपहेतुव्यावृत्तिरित्युक्तम्। व्याप्तश्च पक्षधर्म उपयुज्यते, न त्वन्योऽतिप्रसङ्गात्।

आमोदः– क्षित्यादिकं न बुद्धिमद्धेतुकं शरीराहेतुकत्वादिति व्यतिरेकिणि पक्षधर्मतासम्पत्तिरस्त्येवेत्याशङ्कते नन्विति। नेदमनुमानं केवलव्यतिरेकि गगनादावन्वयदर्शनादित्याह गगनेति। नन्विदमन्वयव्यतिरेकि स्यात्, को दोष इत्यत आह अन्वये वेति। विशेषणासामर्थ्यं स्फुटयति हेतुव्यावृत्तीति। ननु विशेषणसामर्थ्येन किमायातमत आह व्याप्त इति। विशेषणान्तर्भावेण व्याप्तिरेव नास्तीति भावः। न त्वन्य इति। व्याप्तिरहित इत्यर्थः।

प्रकाशः– ननु क्षित्यादिकं न बुद्धिमद्धेतुकं शरीराजन्यत्वादित्यत्र यद् बुद्धिमद्धेतुकं तच्छरीरजन्यमिति व्यतिरेकव्याप्तौ पक्षधर्मतालाभः स्यादित्याह नन्विति। इदं केवलव्यतिरेकितया साधनम् अन्वयव्याप्तिसत्त्वेऽपि व्यतिरेकिव्याप्तिबलेन, अन्वयव्यतिरेकितया वा? तत्र नाद्य इत्याह गगनादेरिति। असत्सपक्षस्यैव केवलव्यतिरेकित्वादित्यर्थः। शरीररूपविशेषणवैयर्थ्येनान्वयव्याप्त्यभावाद् व्यतिरेकेऽपि तदभावान्नान्त्य इत्याह अन्वये त्विति। व्याप्यत्वासिद्धिं परिहरतश्च स्वरूपासिद्धिप्रसङ्ग इति भावः। केवलायाश्च पक्षधर्मताया असाधकत्वाद् व्याप्त्यभावे साप्यनुपयोगिनीत्याह व्याप्तश्चेति।

ननु ज्ञानमनित्यमेवेत्यादिप्राथमिकव्याप्तिप्रत्यक्षविरोधाद् नाशरीरनित्य ज्ञानादिकर्तृसिद्धिः। अतएव शरीरमनित्यमेवेति नियमान्न कर्तृत्वेन नित्यातीन्द्रिय तत्सिद्धिरीश्वरे। न चाप्रयोजकत्वम्, निरुपाधित्वात्। कार्यत्वसकर्तृकत्वयोरपि यदि निरुपाधित्वमस्ति, तदा तुल्यबलत्वेन ज्ञातात् सत्प्रतिपक्षवत् प्रतिबन्धोऽस्तु। मैवम्, पक्षधर्मताबलाद् नित्यज्ञानादिसिद्धौ ज्ञानमनित्यमेवेत्यादिव्याप्तिग्रहस्या प्रतिबन्धकत्वात्। अस्मदादिज्ञानमात्रविषयत्वेन तत्प्राथमिकव्याप्तिप्रत्यक्षस्य तस्य भिन्नविषयत्वात्। एकविषयकविरोधिज्ञानस्यैव प्रतिबन्धकत्वात्। नित्यत्वानित्य त्वयोरेकजातीये द्रव्येऽविरोधात्। न च ज्ञानत्वं नित्यावृत्त्येवेति ज्ञातमतस्तत्र न

एतेन तद्व्यापकरहितत्वादिति सामान्योपसंहारस्यासिद्धत्वं वेदितव्यम्। न हि यद्व्यावृत्तिर्यदभावेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामुपसंहर्तुमशक्या,

आमोदः– ननु क्षित्यादिकं न सकर्तृकं कर्तृव्यापकरहितत्वादिति सामान्योपसंहारेण व्यापकानुपलब्धिबाधः सत्प्रतिपक्षो वास्तु इत्यत आह एतेनेति। शरीरादीनां व्यापकत्वमभिप्रेत्य यदि व्यापकानुपलब्धिरुच्यते, तदा विशेषणासामर्थ्यं व्यापकान्तरं चानिर्णीतमिति तद्रहितत्वं सन्दिग्धासिद्धमित्यर्थः। एतदेवाह – न हीति। यस्य व्यापकस्य व्यावृत्तिर्यदभावे सकर्तृत्वाभावे सामान्यस्यानिर्णयात् स्वरूपासिद्धेर्विशेष्यशरीराजन्यत्वादौ प्रयुक्ते व्यर्थविशेषणत्वान्नोपसंहारः सम्भवतीत्यर्थः। यद्यपि पक्षधर्मतासम्पादकमेव शरीरं विशेषणमस्तु क्षित्यादावजन्यत्वाभावात्। तथपि हेतौ विशेषणं यदुपादीयते तद्व्यभिचारवारकमेव। अत एव गन्धादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वादित्यत्राप्येवकारान्तर्भावेणैव गन्धादिषु मध्य इत्यस्यापि विशेषणत्वम्। अन्यथा गन्धमात्रव्यञ्जकत्वं विशेष्यमेव नास्ति यस्येदं विशेषणं स्यात्। अत एव 'येन विशेषणेने'त्यभिधानमतीव तुच्छमेव। लक्षणन्तु अयोगान्ययोगव्यवच्छिन्नमेव व्यवहारमितरभेदं वा साधयति। तेनायोगव्यवच्छेदार्थमव्याप्तिवारकमपि विशेषणमुचितम्। यथा 'शब्देतरोद्भूत-विशेणगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकरणमनःसंयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वमित्यत्र 'शब्देतरेति विशेषणम्।

प्रकाशः–नित्यवृत्तित्वज्ञानमिति वाच्यम्। उभयसिद्धनित्यावृत्तित्वज्ञानेऽप्यतिरिक्तनित्य वृत्तित्वज्ञप्तावविरोधात्। अत एव कर्त्ता शरीर्येवेत्याद्यपि ज्ञानं प्रतिबन्धकमपास्तम्।

ननु क्षित्याद्यकर्तृकं कर्तृव्यापकरहितत्वादित्यत्र नोक्तदोष इत्यत आह एतेनेति। दृष्टान्ते विशेषणासामर्थ्यप्रदर्शनेन सामान्यतः कर्त्तृव्यापकरहितत्वमसिद्धम्। शरीरजन्यत्वादेश्च रहितत्वमसमर्थविशेषणतयेत्यर्थः। तदेव स्पष्टयति न हीति। यद्व्यावृत्तिः, शरीरव्यावृत्तिः। यदभावे कर्त्रभावे। तच्छरीरं तस्य कर्तुर्व्यापकमित्यर्थः। स एव तस्य व्यापको यस्याभावे साध्ये दृष्टान्ते अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पक्षे उपसंहर्तुं शक्यते। यथा वह्नेरभावो धूमाभावे। प्रकृते चान्वयिनि दृष्टान्ते विशेषणासामर्थ्ये तदप्रयोजकत्वस्योक्तत्वाद् व्यतिरेकोऽप्य प्रयोजक इति भावः।

मकरन्दः– ननु कर्तृव्यापकरहितत्वादित्यत्र कुतो विशेषणासामर्थ्यमित्यत आह सामान्यत इति। असमर्थविशेषणतयेति असिद्धमित्यनुषज्यते।

प्रकाशः– ननु किं विशेषणस्यासामर्थ्यं? न तावन्निष्प्रयोजनकत्वम्। व्याप्तिग्रहोपयुक्तविशेषणस्येव पक्षधर्मतौपयिकस्यापि तस्य सप्रयोजनकत्वात्। व्यभिचारवारकस्यापि सार्थकत्वेऽनुमितिप्रयोजकत्वस्यैव तन्त्रत्वात्। नापि व्यभिचार वारकविशेषणवत्येव व्याप्तिरिति तच्छून्यत्वं, निर्विशेषणेऽपि गोत्वादौ व्याप्तेः। तत्र व्यक्तेरेव विशेषणत्वेऽन्योन्याश्रयात्। नापि व्यभिचारवारकं विशेषणं विशिष्टे व्याप्तिग्राहकं, सहचारदर्शनादिसत्त्वे तदभावे व्याप्तिग्रहाविलम्बात्। न च व्यभिचारावारकविशेषणशून्य एव व्याप्तिग्रहः। प्रमेयत्वेन ज्ञायमाने धूमे व्याप्तिग्रहात्तत्रोपात्तव्यभिचारावारकविशेषणशून्यत्वस्य च विवक्षितत्वे विरोधः। तत्रोपात्तं तेन शून्यञ्चेत्यस्यासम्भवात्।

अथ शरीरजन्यत्वाभावे न व्याप्तिः, एकवृत्तित्वबाधे सत्येव व्यासज्ज्य वृत्तित्वात्। विशेष्यतावच्छेदकस्य व्याप्त्यनवच्छेदकत्वे सत्येव विशेषणस्य तदवच्छेदकत्वाच्च। किन्तु जन्यत्वाभावे व्याप्तिः। तत्र स्वरूपासिद्धिः। तन्निरासार्थं विशेषणाभिधाने व्याप्यत्वासिद्धिः। न, अव्यभिचारानौपाधिकत्वयोर्विशिष्टे सत्त्वेन तदभावसाधने बाधात्। किञ्चैवं निर्धूमोऽयम् आर्द्रेन्धनप्रभववह्निरहित-त्वादित्याद्यप्यनुमानं न स्यात्। यद्वा शरीरजन्यत्वाभावोऽखण्ड एव हेतुरस्तु, तत्र व्यर्थविशेषणत्वाभावात्।

अत्राहुः, शरीराजन्यत्वस्य व्याप्यत्वेऽपि शरीरं न व्याप्यतावच्छेदकं, गौरवात्। येन विशेषणेन विना व्याप्तिर्न गृह्यते, तस्यैव व्याप्यतावच्छेद कत्वनियमात्। अत एव गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वादित्यत्राप्रसिद्धत्वेन गन्धादिषु मध्ये इति विशेषणं विना व्याप्तिर्ग्रहीतुं न शक्यते इत्यसिद्धिवारकमपि विशेषणं सार्थकम्। व्याप्यतावच्छेदकस्यैव हेतुतावच्छेदकत्वात्। धूमे च वह्निविशेषस्य कारणत्वात् कारणाभावस्य च कार्याभावव्याप्यत्वान्न तत्रोक्तदोषः।

शरीरजन्यत्वाभावोऽप्यखण्डो न हेतुः। यदि शरीरजन्यत्वप्रयुक्तं सकर्तृकत्वं स्यात्, तदा तदभावप्रयुक्तः सकर्तृकत्वाभाव इति तस्य साध्यव्याप्यता स्यात्।

मकरन्दः– शरीरजन्यत्वाश्रयमात्रप्रतियोगिकयावदन्योन्याभावहेतुत्वे वैयर्थ्येऽपि शरीरजन्यत्वात्यन्ताभावेऽखण्डे न वैयर्थ्यं, शरीरं विना तस्याज्ञानेन तत्र व्याप्तेरग्रहादित्याह **यद्वेति**। **येन विशेषणेन विनेति**। यद्यप्येवमपि नीलधूमादौ व्यभिचाराभावविशिष्टसहचारादिरूपव्याप्तेः सत्त्वात् कथं व्याप्यत्वासिद्धिः, तथाप्य*नुमानप्रकाशो*क्तमनुसन्धेयम्।

तत् तस्य व्यापकं नामेति। विशेषविरोधस्तु विशेषसिद्धौ सहोपलम्भेन, तदसिद्धौ मिथोधर्मिपरिहारानुपलम्भेन निरस्तो नाशङ्कामप्यधिरोहतीति।

आमोदः- सिद्ध्यसिद्धयोरिति कारिकाप्रतीकं व्याचष्टे **विशेषेति।**

प्रकाशः- न चैवम्, किन्तु जन्यत्वप्रयुक्तं लाघवात्। तथा चाजन्यत्वमेवोपाधिः। न च सत्प्रतिपक्षोच्छेदात् पूर्वसाधनव्यतिरेको नोपाधिः, आभासस्थापनायां पूर्वसाधन व्यतिरेकस्य साध्याव्यापकत्वेनानुपाधित्वेन तत्र सत्प्रतिपक्षावकाशात्।

यद्वा यन्निरूपिता यन्निष्ठा व्याप्तिर्येन विशेषणेन विना न गृह्यते, तत्र विशिष्टं व्याप्यतावच्छेदकम्। अकर्तृत्वनिरूपिताभावनिष्ठव्याप्तौ च शरीरं विनैव प्रतियोगितया जन्यत्वमवच्छेदकं क्लृप्तमिति न शरीरजन्यत्वमवच्छेदकम्। अतो गौरवेण शरीरजन्यत्वमप्रतियोगितया च जन्यत्वं नावच्छेदकमिति व्याप्यतावच्छेदकाभावान्न शरीरजन्यत्वाभावोऽकर्तृत्वव्याप्यः, अन्यथाऽदृष्टाजन्य त्वस्यापि क्षित्यादावनुमित्यापत्तेः।

अस्मत्पितृचरणास्तु– प्रतिपक्षानुमानस्य प्रसिद्धकर्तृजन्यत्वाभावविषयत्वात्, अप्रतीतप्रतियोगिकाभावस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्। स्थापनानुमानस्य च पक्षधर्मताबलात् प्रसिद्धकर्तृसाधकत्वाद् भिन्नविषयतया न प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावः। न च कर्तृजन्यत्वस्योपाधेः स्थापनाविषयतया तदभावः साध्यः, तस्याप्यप्रसिद्ध कर्तृव्यक्तिमादाय पर्यवसानात्। न चैवं सत्प्रतिपक्षोच्छेदः। तस्य गोत्वाद्येकभावा भावसाधकविषयत्वादित्याहुः।

अर्थान्तरेण सिद्ध्यसिद्ध्योरिति व्याचष्टे **विशेषेति।** व्याप्तिपक्षधर्मताभ्या-

मकरन्दः-यन्निष्ठेति। यद्विशेष्यतावच्छेदकविशिष्टनिष्ठेत्यर्थः। **अभावनिष्ठव्याप्तौ** =अभावत्वरूपविशेष्यतावच्छेदकविशिष्टनिष्ठव्याप्तावित्यर्थः। **न शरीरेति।** अभावत्वावच्छिन्ने जन्यत्वाभावे शरीरं विनैवाकर्तृकत्वनिरूपितव्याप्तिग्रहान्न तद्विशिष्टे व्याप्तिरित्यर्थः।

नन्वेवं जन्यत्वाभावोऽपि तद्व्याप्यो न स्यात् सकारणकत्वाभावादौ जन्यत्वविशेषणं विनापि अभावत्वावच्छिन्ननिष्ठव्याप्तेर्ग्रहादित्यनुशयादाह **अस्मत्पितृचरणास्त्विति।** सामान्यलक्षणानङ्गीकारेण तन्मते भिन्नविषयत्वं बोध्यम्। वस्तुतस्तु स्थापनानुमानस्य तर्कसचिवत्वादस्य च तदभावाद् व्यर्थविशेषणत्वादिदोषाच्च न्यूनबलत्वमिति न सत्प्रतिपक्ष इति भावः।

तस्येति। गोत्वाद्येकभावाभावसाधकत्वविषयत्वेन त्वया समाधेयत्वादित्यर्थः।

स्यादेतत्, अस्ति तावत् कार्यस्यावान्तरविशेषो यतः शरीरिकर्तृकत्वमनुमीयते। तथा च तत्प्रयुक्तामेव व्याप्तिमुपजीवेत् कार्यत्वसामान्यमिति स्यात्। न स्यात्, न हि विशेषोऽस्तीति सामान्यमप्रयोजकम्। तथा सति सौरभकटुत्वनीलिमादिविशेषे सति न धूमसामान्यमग्निं गमयेत्। किं नाम साधकसामान्ये साध्यसामान्यमाश्रित्य प्रवर्तमाने तद्विशेषः साध्यविशेषव्याप्तिमाश्रयेत्, न तु विशेषे सति सामान्यमकिञ्चित्करम्, तस्यापि विशेषान्तरापेक्षयाऽकिञ्चित्करत्व

आमोदः– अवान्तरेति। घटत्वपटत्वादिरेवेत्यर्थः। **उपजीवेदिति।** कार्यत्वमपि तत्र सकर्तृकत्वं साधयेदित्यर्थः। **न हीति।** कार्यत्वसकर्तृकत्वयोर्बाधकं नास्ति, विशेषस्योपाधित्वमेव यदि बाधकं तदा धूमाद्यनुमानं न स्यादित्यर्थः। ननु सुरभिधूमत्वादिकमपि लिङ्गमनुमापकमेव। तथा च कुतोऽत्र व्यर्थविशेषणत्वमत आह **किन्नामेति।** वह्निमात्रं यत्रानुमेयं तत्र सुरभिधूमत्वं व्यर्थविशेषणत्वादलिङ्गमेव। चन्दनप्रभववह्निविशेषानुमितौ तु तल्लिङ्गमेवेत्यर्थः। तदेवाह– **तद्विशेष इति।** ननु विशेषयोरेव व्याप्तौ किं सामान्यव्याप्त्या इत्यत आह – **नन्विति।** **विशेषान्तरेति।** तथा च तदेव विशेषान्तरं तत्रोपाधिः स्यादिति अपर्यवसानमित्यर्थः।

प्रकाशः– मानीयमानशरीरत्वाशरीरित्वसिद्धौ रूपरसवत् कर्त्तरि सहोपलम्भेन, तदसिद्धौ कर्तरि तदुभयासिद्धौ यो मिथो धर्मिपरीहारोऽन्योन्यधर्मिप्रतिक्षेपः, तस्यानुपलम्भेन निरस्तो विशेषविरोधो न शङ्कामप्यधिरोहतीत्यर्थः।

असिद्धिनिबन्धनमुपाधिमाह **अस्तीति।** शरीरजन्यकार्ये यदवच्छेदेन शरीरस्य कारणत्वं गृह्यते, तत् सामान्यात्मकमेकमङ्गीकार्यम्। अतस्तत्सामान्यवत्त्व मेवोपाधिरिति न कार्यत्वसामान्यं कर्तृजन्यत्वव्याप्यमित्यर्थः। तत्सामान्याऽनङ्गीकारेऽपि घटत्वादिकमेव कर्तृजन्यत्वे प्रयोजकम्, अग्निजन्यतायां धूमत्वादेरिवाननुगतस्यापि जन्यत्वावच्छेदकत्वादिति भावः। तथापि कार्यत्व सामान्यस्य कर्तृसामान्येन व्याप्तौ विशेषो नोपाधिः। न हि विशेषोऽस्तीति

मकरन्दः– रूपरसवत् कर्त्तरीति। यद्यपि शरीरित्वाशरीरित्वयोस्तथा न सहोपलम्भः, तथापि कर्तृजातीये तथोपलम्भ एव सहोपलम्भो बोध्यः। यद्वा कर्तृत्वाशरीरित्वयोः सहोपलम्भो बोध्यः। **यो मिथो धर्मीति।** शरीरिकर्तृत्वाशरीरिकर्तृत्वयोरिति शेषः। न च कर्तृत्वाशरीरित्वयोः प्रत्यक्षविरोधात्तथापि कथं

प्रसङ्गात्। सौरभादिविशेषं विहायापि धूमे वह्निर्दृष्टो, न तु विशेषं विहाय कार्ये कर्तेति चेन्न। कार्यविशेषः कारणविशेषे व्यवतिष्ठते, न तु कार्यकारणसामान्ययोः प्रतिबन्धमन्यथा कुर्यादिति। किं न दृष्टं कार्यं कारणमात्रे, अङ्कुरो बीजे, तद्विशेषो धान्ये, तद्विशेषः शालौ, तद्विशेषः कलमे इत्यादि बहुलं लोके। क्व वा दृष्टमणुद्रव्यारभ्यं द्रव्यं नित्यरूपाद्यारब्धं रूपादि। तथापि सामान्यव्याप्तेरविरोधात्सिद्ध्यत्येव। अवश्यञ्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यम्। अन्यथा कार्यत्वस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्।

आमोदः-ननु यत्र यं विशेषमपहाय सामान्यं दृष्टं तत्र स विशेषो न तन्त्रम्। प्रकृते शरीरजन्यत्वं विशेषमपहाय कर्तृसामान्यं न दृष्टमिति स विशेषस्तत्र तन्त्रमेवेत्याह सौरभेति। कार्यविशेष इति। घटत्वादिकं कुलालादिजन्यत्वे व्यवतिष्ठतां कार्यत्वसामान्यं कर्तृसामान्यमनुमापयत् नाभासमित्यर्थः। विशेषव्याप्तेः सामान्यव्याप्त्यपवादकत्वं दृष्टान्तेन दर्शयति किन्नेति। कारणमात्र इति। लिङ्गमित्यध्याहारः। एवमुत्तरत्रापि। तद्विशेषो धान्याङ्कुरः, तद्विशेषः शाल्यङ्कुरः तद्विशेषः कलमाङ्कुरः। नन्वशरीरः कर्ता चेति दुर्घटं, कुत्राप्यदर्शनादत आह क्व वेति। अणुश्च द्रव्यसमवायिकारणञ्च नित्यञ्च रूपं रूपासमवायिकारणञ्चेति यथान्यत्रादृष्टमपि पक्षधर्मताबललभ्यं तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थः। सिद्ध्यत्येवेति। अणुद्रव्यं नित्यञ्च रूपमित्यनुषङ्गः। अनङ्गीकारे दण्डमाह अन्यथेति। कार्यत्वावच्छिन्नं यदि

प्रकाशः-सामान्यमप्रयोजकम्। तथात्वे वाग्निजन्यत्वे धूमविशेषस्य प्रयोजकत्वान्न धूमसामान्यमग्निं गमयेत्। तस्माद् यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः, तत्सामान्ययोरपि बाधकं विना तथात्वनियम इत्याह न हीति। नन्वग्निधूमसामान्ययोर्व्याप्तौ धूमविशेषो नोपाधिः, प्रत्येकं साध्याव्याप्तेः। कर्तृकार्यसामान्ययोर्व्याप्तौ शरीरप्रयोज्यजातिर्न साध्याव्यापिकेत्याशयमविद्वान् शङ्कते सौरभादीति। सा जातिर्न कर्तृमात्रप्रयोज्यतया कल्पिता, किन्तु शरीरप्रयोज्यतयेति तदभावाच्छरीरमेव कारणं निवर्त्तते, न कर्तृसामान्यम्, तस्यैव कार्यकारणभावप्रवृत्तौ कर्तृमात्रनिवृत्तावप्रयोजकत्वादिति परिहरति कार्यविशेष इति। शरीरकर्तृत्वानुमानञ्च घटत्वादिभिरेवोपपन्नमिति

मकरन्दः-समावेश इति वाच्यम्। तस्य प्रसिद्धमात्रविषयकत्वेन पक्षधर्म्मताबल-लभ्यकर्त्तरि तदुभयसिद्धौ विरोधाभावात्। अन्यथा अवयवो महानेवेत्यादिधीविरोधात् परमाण्वादेरसिद्धिप्रसङ्गादिति भावः।

तत्सामान्यानङ्गीकारे इति। न च घटत्वादीनां प्रत्येकं साध्यव्यापकत्वं,

प्रकाशः–तज्जातौ मानाभावः। तेषाञ्च नोपाधित्वं, प्रत्येकं साध्याव्यापकत्वादिति भावः। नन्वत्र बाधकाभावादस्तु तथा, प्रकृते तु ज्ञानमनित्यमेवेत्यादिप्राथमिक बहुव्याप्तिकप्रत्यक्षबाधः। तुल्यत्वेऽपि व्याप्तिसंशयाधायकत्वात्। न च कार्यकारणभावमूलकत्वेन कार्यत्वसकर्तृकत्वव्याप्तिर्बलीयसीति वाच्यम्। विरोधिप्रत्यक्षेण कार्यकारणभावस्यैवासिद्धेरित्यत आह क्व वेति। एवं सति अवयवो महानेव रूपारम्भकं रूपमनित्यमेव, तेज उद्भूतरूपमेवेत्यादि व्याप्तिग्रहात् परमाणुतद्रूपचक्षुरादेरप्यसिद्धिः स्यात्।

अथ द्रव्यचाक्षुषत्वेऽनेकद्रव्यवत्त्वस्य रूपे स्वाश्रयसमानाधिकरणरूपस्य साक्षात्कारे विषयेन्द्रियसन्निकर्षस्य कारणत्वात् तन्मूलविपक्षबाधकेन परमाण्वादिसाधकस्य बलवत्त्वात् परमाण्वादिसिद्धौ विरोधिव्याप्तेर्बाधो, न तु वैपरीत्यम्, विपक्षबाधकाभावेन तस्या बलवत्त्वात्। तर्हि ज्ञानादिकार्ययोः कार्यकारणभावावधारणात् तन्मूलविपक्षबाधकेन व्याप्तिग्रहात्। पक्षधर्मतासचिवान्नित्य ज्ञानादिसिद्धौ व्यभिचारान्न व्याप्तिः। न च कार्यकारणभावे बाधः, साध्यं पक्षातिरिक्त एव, सुखं दुःखसम्भिन्नमेवेत्यादिव्याप्तिग्रहात्। कार्यात् कारणानुमानोच्छेदे निरीहं जगज्जायेतेत्यर्थः।

ननु शरीरजन्यत्वमुपाधिः, पक्षेतरत्ववत् पक्षमात्रव्यावर्त्तकविशेषणत्वात् साधनविशेषितत्वात् साधनतुल्ययोगक्षेमत्वेन साध्यव्यापकत्वानिश्चयाच्च न तदुपाधिरिति चेन्न। तेषामनुपाधित्वे साध्यग्राहकमानाभावस्य तन्त्रत्वात्। प्रकृते तु चेष्टेतरकार्ये शरीरव्यापारद्वारैव कर्तुः कारणत्वाच्छरीरसहकृतस्यैव स्वकार्य जनकत्वाच्च विपक्षबाधकात्तन्निश्चयात्। अत एव बाधोन्नीतं पक्षेतरत्वमग्निमत्त्वेन धूमवत्त्वे साध्ये आर्द्रेन्धनप्रभवाग्निमत्त्वं रसवत्त्वेन गन्धवत्त्वे साध्ये पृथिवीत्वमुपाधिः। विपक्षबाधकैस्तेषां साध्यव्यापकत्वनिश्चयात्।

मैवम्। कर्तुर्हि शरीरसहकारिता यदि घटादौ कर्त्तव्ये तदा शरीरं विना तस्य घटाद्यकरणेऽपि किमायातं कर्तुः कार्यमात्रकरणे। न च कार्यमात्रकरणे सा, तस्य त्वया कर्तृजन्यत्वानभ्युपगमात्। तथात्वे वा शरीराजन्यमपि कार्यं कर्तृजन्यमिति तस्य साध्याव्यापकत्वम्। नापि स्वकार्ये, तत्रैव तस्यानवच्छेदकत्वादात्माश्रयात्।

तथापि सन्दिग्धोपाधिः स्यात्तुल्ययोगक्षेमतया साध्याव्यापकता संशयाधायकत्वादिति चेन्न। लाघवेन बाधकं विना कर्तृजन्यत्वे जन्यत्वस्यैवावच्छेदकत्वात्। न तु शरीरजन्यत्वस्य, गौरवात्। तथा च न

प्रकाशः- शरीरजन्यत्वं सकर्तृकत्वव्यापकम्। घटादौ त्वार्थः समाजः, घटत्वेन शरीरजन्यत्वनियमाद्, न तु व्यापकत्वप्रयुक्तः। अपि च शरीरजन्यत्वं हस्तादिजन्ये साध्याव्यापकम्। न च साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयजन्यत्वं तदर्थः, साधनव्यापकत्वात्। परमाण्वादेस्तत्साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयत्वात्। शरीरिकर्तृकत्वमपि नोपाधिः। कार्यमात्रे कर्तुः शरीरसहकारित्वाभावात्, तस्य साध्यव्यापकत्वानिश्चयात्। ननु घटादौ कृतिसाध्यता शरीरव्यापारद्वारैव, न साक्षात्। न चाशरीरस्य तत्सम्भव इति तद्बाधात् कर्तुरपि बाध एव। शरीरव्यापारजन्यत्वं वोपाधिः। मैवम्। कार्यमात्रे हि तथा न कृतिसाध्यता, क्षित्यादौ व्यभिचारात्। घटादौ च तथात्वेऽपि कार्यमात्रे कृतिमात्रस्य जनकत्वाविरोधात्। विशेषयोर्हेतुहेतुमद्भावे बाधकं विना सामान्ययोरपि तथात्वात्। न च चेष्टेतरकार्ये शरीरव्यापारद्वारैव कृतेर्जनकत्वम्, क्षित्यादौ व्यभिचारात् किन्तु घटादावित्युक्तम्। अत एव सहभावनिरूपकत्वे सति नियतपूर्ववर्त्तित्वं कारणत्वम्। न च कृतेः कार्यसहभावनिरूपकत्वं, स्वतः कार्यकाले तदभावात्। तथा च तत्परिचायितव्यापारद्वारा तस्याः सहभावनिरूपकत्वम्। अतः शरीरव्यापारद्वारैव कृतेर्जनकत्वं न तु केवलाया इत्यपास्तम्। कार्यमात्रे तथात्वाभावात्।

कार्यत्वसकर्तृकत्वव्याप्तौ विपक्षबाधकमाह **अन्यथेति**। कारणान्तरस्येव कर्त्तुरप्यभावेन कार्याभावात् कर्त्रभावे कारणान्तरस्याप्यनुत्पादकत्वे कार्यमाकस्मिकं स्यादित्यर्थः।

मकरन्दः-शरीरजन्यतावच्छेदकरूपवत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। तावदन्यतमवत्त्वं तथेत्यप्याहुः। केचित्तु तदनङ्गीकारात्तस्यानुपाधित्वेऽपि घटत्वादिकमेव कर्तृजन्यतावच्छेदकमस्तु न तु जन्यत्वमित्यप्रयोजकमेवास्त्विति तात्पर्यमित्याहुः। इत्याशयमविद्वानिति इति शङ्कते इत्यन्वयः। **तेषाञ्चेति**। घटत्वादीनामित्यर्थः। यद्यपि विवक्षितोपाधौ नायं दोषः, तथापि यथाश्रुताभिप्रायेणेदम्। विपक्षबाधकेन च हेतौ साध्यव्यापकतया नायमुपाधिरित्यत्र तात्पर्य्यम्। रूपारम्भकमनतिप्रयोजकं बोध्यम्। **साधनव्यापकत्वादिति**। ननु चेष्टाश्रयजन्यत्वमुपाधिरस्तु, तथा च नोक्तदोषः। न चादृष्टद्वारा क्षित्यादौ शरीरजन्यत्वादिदमपि साधनव्यापकमेवेति वाच्यम्। अदृष्टाद्वारकत्वस्यापि तद्विशेषणत्वादिति चेत्, न। विपक्षबाधकेन हेतोः साध्यव्याप्यतया तदव्यापकत्वेनानुपाधित्वात्। ननु कारणान्तरसत्त्वे कथमाकस्मिकत्वमित्यत आह **कारणान्तरस्येति**।

स्यादेतत्, अन्वयव्यतिरेकि तावदिदं कार्यत्वमिति परमार्थः। तत्राकाशादेर्विपक्षात् किं कर्तृव्यावृत्तेः कार्यत्वव्यावृत्तिराहोस्वित् कारणमात्रव्यावृत्तेरिति सन्दिह्यते। तदसत्, कर्तुरपि कारणत्वात्। कारणेषु चान्यतमव्यतिरेकस्यापि कार्यानुत्पत्तिं प्रति प्रयोजकत्वात्। अन्यथा कारणत्वव्याघातात्, करणादिविशेषव्यतिरेकसन्देहप्रसङ्गाच्च। कथं हि निश्चीयते किमाकाशात् कारणव्यावृत्त्या कार्यत्वव्यावृत्तिः, उत करणव्यावृत्त्या? एवं किमुपादानव्यावृत्त्या, किमसमवायिव्यावृत्त्या, किं निमित्तव्यावृत्त्येति। कार्यत्वात्करणमुपादानमसमवायि निमित्तं वा बुद्ध्यादिषु न सिध्येत्। कर्तुः कारणत्वे सिद्धे सर्वमेतदुचितम्, तदेव त्वसिद्धमिति चेत्, किं पटादौ कुविन्दादिरकारणेव कर्ता, प्रस्तुते वोदासीन एव साधयितुमुपक्रान्तः? तस्माद् यत्किञ्चिदेतदपीति।

ननु कर्ता कारणानामधिष्ठाता साक्षाद्वा शरीरवत्, साध्यपरम्परया

आमोदः– कारणजन्यं न स्यादित्यर्थः। सकर्तृकत्वे साध्ये कार्यत्वमन्यथासिद्धमिति शङ्कते स्यादेतदिति। यद्व्यावृत्त्या यस्य व्यावृत्तिस्तदेव तस्य व्यापकमिति भावः। करणादीति। एवं सन्देहे करणाद्यपि कार्यव्यापकं न स्यादिति कार्यत्वात् सकरणत्वादिकमपि नानुमीयेतेत्यर्थः। सर्वमिदमिति। कर्तृव्यावृत्त्या कार्यव्यावृत्त्यादिकमित्यर्थः। कर्ता न कारणं किन्तु कृतिः कारणमिति भावः। तत् किमिति। कुलालेन कृतोऽयं घटः, कुविन्देन कृतोऽयं पट इति लौकिक परीक्षकप्रतीतिबलात् कर्तुरपि कारणत्वादित्यर्थः। प्रस्तुत इति। क्षित्यादि सकर्तृकं कार्यत्वादित्यनुमानादुदासीन एव कर्ता किन्न सिद्ध्यतीति वाभिमतमित्यर्थः। एतदिति। कर्तुरकरणत्वाभिधानमित्यर्थः। शरीरवदिति। तद् यथा

प्रकाशः–यदि व्यतिरेकसन्देहात् प्रकृते नानुमानं, तदा तादृशव्यतिरेकसन्देहश्च कार्यात् कारणविशेषानुमानेष्वपि कर्तुं शक्यते इति तेषामप्यनुमानाभासत्वं स्यादिति शङ्कोत्तराभ्यामाह – स्यादेतदिति।

अन्यथा सत्प्रतिपक्षाभिधानाय भूमिकामारचयति नन्विति। यत्र प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकरणकक्रियोत्पादको यः, स तत्र साक्षादधिष्ठाता, यथा स्वशरीरे अस्मदादिः। शरीरक्रियया यो यत्क्रियाजनकः, स तत्र परम्पराधिष्ठाता, यथा दण्डादौ कुलालादिः। आद्ये परमाण्वादिः शरीरं स्यात् तादृशक्रिया

मकरन्दः–कारणविशेष उपादानादिः।

वा दण्डादिवत्? तत्र न पूर्वः, परमाण्वादीनां शरीरत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, द्वाराभावात्। न हि कस्यचित् साक्षादधिष्ठेयस्याभावे परम्परया अधिष्ठानं सम्भवति।

तदयं प्रमाणार्थः – परमाण्वादयो न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेयाः, शरीरेतरत्वात्। यत्पुनः साक्षादधिष्ठेयं न तदेवं, यथास्मच्छरीरमिति। नापि परम्परया अधिष्ठेयाः, स्वव्यापारे शरीरानपेक्षत्वात्, स्वचेष्टायामस्मच्छरीरवत्। व्यतिरेकेण वा दण्डाद्युदाहरणम्। एवं क्षित्यादि न चेतनाधिष्ठितहेतुकं, शरीरेतरहेतुकत्वादित्यतिपीडया सत्प्रतिपक्षत्वम्।

आमोदः–साक्षादधितिष्ठतीत्यर्थः। दण्डादिवदिति। यथा दण्डादि शरीरद्वाराधितिष्ठतीत्यर्थः। परमाण्वादीनामिति। साक्षादधिष्ठेयस्यैव शरीरत्वादित्यर्थः। द्वाराभावादिति। तत्र शरीरस्य द्वारस्य त्वयाऽनभ्युपगमादित्यर्थः। साक्षादधिष्ठेयस्येति। शरीरस्येत्यर्थः। शरीरेतरत्वादिति। शरीरतदवयवेतरत्वे सति रूपवत्त्वादित्यर्थः। तथा च मनसि प्राणवायौ शरीरावयवे च न व्यभिचारः। साक्षादधिष्ठेयत्वं च शरीरक्रियामद्वारीकृत्याधिष्ठेयत्वम्। शरीरक्रियानपेक्षव्यापाराश्रयत्वं *नैयायिकमते*ऽन्वयाभावाद्व्यतिरेकमाह यदिति। न तदेवमिति। न तच्छरीरतदवयवेतरदित्यर्थः। नापि परम्पराधिष्ठेयाइति। शरीराद्द्वाराऽपि नाधिष्ठेया इत्यर्थः। स्वव्यापार इति। द्व्यणुकारम्भकसंयोगजनकक्रियायाम्। न हि तत्र शरीरं द्वारं त्वयेष्यत इत्यर्थः। व्यतिरेकेणेति। यत् परम्पराधितिष्ठेयं तत् स्वव्यापारे शरीरापेक्षं यथा दण्डादिः। कारणपक्षकमुक्त्वा कार्यपक्षकमाह एवमिति। शरीरेतरहेतुकत्वादिति। शरीराहेतुकत्वादित्यर्थः। अन्यथा घटादौ व्यभिचारः स्यात्। अतिपीड़येति। यथाश्रुतहेतौ व्यभिचारस्य शरीराहेतुकत्वादिति हेतौ विशेषणवैयर्थ्यस्य स्फुटत्वात् यद्यपि न सत्प्रतिपक्षता, तथापि परमाण्वादीनां साक्षादधिष्ठेयत्वपरम्पराधिष्ठेयत्वनिरासादयं सत्प्रतिपक्षो निर्वहेदित्यतिपीड़ार्थः।

प्रकाशः– श्रयत्वादित्याह परमाण्वादीनामिति। स्वव्यापार इति। स्वक्रियायां शरीरव्यापारानपेक्षत्वादित्यर्थः। स्वचेष्टायामिति। शरीरक्रियायास्तत्क्रियानपेक्षत्वादित्यर्थः। व्यतिरेकेणेति। यत् परम्पराऽधिष्ठेयं तन्न स्वव्यापारे शरीरक्रियानपेक्षमपि तु तदपेक्षमेव, यथा दण्डादीति व्यतिरेकीत्यर्थः। एवं कारणपक्षकानुमानमुक्त्वा कार्यपक्षकमाह एवमिति।

मकरन्दः– शरीरव्यापारे शरीरानपेक्षत्वमसम्भवीत्यत आह स्वक्रियायामिति।

अपि च – पटादौ कुविन्दादेः किं कारकाधिष्ठानार्थमपेक्षा, तेषामचेतनानां स्वतोऽप्रवृत्तेः, आहो कारकत्वेन? न पूर्वः, तेषां परमेश्वरेणैवाधिष्ठानात्। न ह्यस्य ज्ञानमिच्छा प्रयत्नो वा वेमादीन् न व्याप्नोतीति सम्भवति। न चाधिष्ठितानामधिष्ठात्रन्तरापेक्षा, तदर्थमेव। तथा सत्यनवस्थाना-देवाविशेषात्। न द्वितीयः, अधिष्ठातृत्वस्यानङ्गत्वप्रसङ्गे दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वापत्तेः। न च हेतुत्वेनैव तस्यापेक्षास्त्विति वाच्यम्। एवं तर्हि यत्कार्यं तत्सहेतुकमिति व्याप्तिः, न तु सकर्तृकमिति। तथा च तथैव प्रयोगे सिद्धसाधनात्। किञ्चानित्यप्रयत्नपूर्वकत्वप्रयुक्तां व्याप्तिमुपजीवत् कार्यत्वं न बुद्धिमत्पूर्वकत्वेन स्वभावप्रतिबद्धम्। न ह्यनित्यप्रयत्नोऽपि बुद्ध्या शरीरवत् कारणत्वेनापेक्ष्यते, येन

आमोदः– सिद्धसाधनमभिधातुमुपक्रमते **अपि चेति**। कुविन्दादीनामधिष्ठातृत्वेन कारणत्वमात्रेण वाऽपेक्षेति विकल्पार्थः। नन्वीश्वरः पटादिकरणं कथमधितिष्ठेदित्यत आह **न हीति**। **न व्याप्नोतीति** न विषयीकरोतीत्यर्थः। नन्वीश्वराधिष्ठितमपि कुविन्दोऽधितिष्ठेदित्यत आह **नेति**। **अवशेषादिति**। अधिष्ठिताधिष्ठानं प्रत्यविशेषात् चेतनानन्त्यमेकस्मिन्नपि कार्ये स्यादित्यर्थः। **अनङ्गत्वेति**। अधिष्ठातृपूर्वकत्वं क्षित्यादौ साध्यते। तच्च पटादौ नास्ति, तत्र तेषां कारणत्वेनैवापेक्षणादिति साध्यवैकल्यमित्यर्थः। ननु कुविन्दादयोऽपि हेतुत्वेनैव पटादिभिरपेक्ष्यतां, तथापि चेतनपूर्वकत्वं तत्र पर्यवस्यतीत्याह **न चेति**। इदानीमुपक्रान्तं सिद्धसाधनं स्फुटयति **एवं तर्हीति**। क्षित्यादिकं बुद्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वादित्यत्रानित्यप्रयत्न पूर्वकत्वमुपाधिमाह **किञ्चेति**। ननु नित्यप्रयत्नपूर्वकत्वं बुद्धिमत्पूर्वकत्वे साध्ये तदोपाधिः स्यात्, यदि स्वव्यतिरेकेण साध्यव्यतिरेकं साधयेत्। अनित्यप्रयत्नस्य च बुद्धिं प्रत्यकारणत्वेन तन्निवृत्तौ कथं बुद्धिर्निवर्तताम्? भवतु कारणत्वं, तथापि तन्निवृत्तौ कार्या बुद्धिर्निवर्ततां न त्वकार्येत्यत आह **न हीति**। अनित्यप्रयत्नो

प्रकाशः– सिद्धसाधनमभिधातुं भूमिकामारचयति **अपि चेति**। **अधिष्ठातृत्वस्येति**। क्षित्यादेश्चेतनाधिष्ठितहेतुजन्यत्वे साध्ये पटादिर्दृष्टान्तः साध्यविकलः, कुविन्दादेः कारकत्वेनैवापेक्षणीयतया कारणाधिष्ठातृत्वेन तदभावादित्यर्थः। **तथा चेति**। कर्त्रजन्यत्वेऽप्यचेतनसमवायादिहेतुकत्वस्य मयाप्युपगमादित्यर्थः।

उपाधिमाह **किञ्चेति**। **न हीति**। यथा शरीरनिवृत्तावप्यकार्या बुद्धिर्न निवर्त्तते, तद्वदनित्यप्रयत्ननिवृत्तावप्यकार्यबुद्धिर्न निवर्त्तते इति न। शरीरं हि बुद्ध्या

तन्निवृत्तावप्यकार्यबुद्धिर्न निवर्तते इति।

तदेतत् प्रागेव निरस्तप्रायं नोत्तरान्तरमपेक्षते। तथा हि - साक्षादधिष्ठातरि साध्ये परमाण्वादीनां शरीरत्वप्रसङ्ग इति किमिदं शरीरत्वं, यत् प्रसज्यते? यदि साक्षात्प्रयत्नवदधिष्ठेयत्वं, तदिष्यत एव। न च ततोऽन्यत्प्रसञ्जकमपि। अथेन्द्रियाश्रयत्वम् ?। तन्न, तदवच्छिन्न

आमोदः- बुद्धेः कारणत्वे न व्यापकः, किन्तु स्वभावसम्बन्धादेव रूपरसादिवत्। तथा च व्यापकनिवृतौ बुद्धिमत्पूर्वकत्वमपि निवर्तिष्यत एव; सा च बुद्धिः कार्याऽकार्या वा स्यादित्यर्थः। शरीरनिवृत्तावपि अकार्या बुद्धिर्न निवर्तत इति त्वया यथोच्यते तथात्र वक्तुमशक्यम्। अनित्यप्रयत्नस्य बुद्ध्या स्वभावप्रतिबन्धादित्यर्थः। प्रागेवेति। (न्या.कु. ५।२।) ये शरीरप्रसङ्गमुद्घाटयन्ती त्यादिना। किमिदमिति। परमाणवो यदि साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयाः स्युरितीश्वरवादिभिरभ्युपगम्यत एव। न चापाद्यापादकयोरत्र भेद इत्यर्थः। ननु तद्भिन्नमेव प्रसञ्जकं वक्तव्यम्। तथा च नापाद्यापादकयोरभेद इत्यत आह न चेति। नन्विन्द्रियाश्रयत्वमेव परमाणूनां साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयत्वेनापाद्यं, तथा च नाभेद इत्यत आह अथेति। अत्रान्यथासिद्धिमाह तदवच्छिन्नेति। यदवच्छेदेन प्रयत्न उत्पद्यते तदवच्छेदेन ज्ञानजनने भवेदिन्द्रियणामुपयोगः। प्रकृते तु परमाण्ववच्छिन्ने स्वात्मनि प्रयत्न एव नोत्पाद्य इति कथमिन्द्रियाश्रयत्वं स्यादित्यर्थः।

प्रकाशः- कारणत्वेनापेक्ष्यते इति शरीरनिवृत्तौ कार्या बुद्धिर्निवर्त्तते इति युक्तं, न पुनरनित्यप्रयत्नो बुद्ध्या कारणत्वेनापेक्ष्यते, येनानित्यप्रयत्ननिवृत्तौ कार्या बुद्धिर्निवर्त्तते न नित्येति स्यात्, अपि तु व्यापकत्वमात्रेणेत्यर्थः। शरीरवदिति प्रथमासमर्थाद्वतिः। बुद्ध्या शरीरं यथा कारणतयापेक्ष्यते, न तद्वदनित्यः प्रयत्नः कारणतयेत्यर्थः। तन्निवृत्तावपीति। अनित्यप्रयत्ननिवृत्तावपीत्यर्थः।

तदेतदिति। विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकत्वादित्यादिना। अत्र प्रसङ्गदशायां तावद् दूषणमाह यदीति। इष्टापादनमित्यर्थः। न चेति। आपाद्यादापादकस्याविशेष इत्यर्थः।

अथेति। तथा च आपाद्यापादकयोर्भेद इत्यर्थः। तत्राप्रयोजकत्वमाह तदवच्छिन्नेति। साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठितत्वेऽपि तस्यैवेन्द्रियाश्रयत्वम्। यदवच्छिन्न आत्मनि प्रयत्नस्तदवच्छिन्नात्मनिष्ठज्ञाने नेन्द्रियकार्येण भोगो जनयितव्यः। अकार्यौ तु ज्ञानप्रयत्नाविन्द्रियाश्रयत्वं विनापि स्यातामिति न विरोध इति मूलशैथिल्यमित्यर्थः।

प्रयत्नोत्पत्तौ तदवच्छिन्नज्ञानजननद्वारेणेन्द्रियाणामुपयोगात्। अनवच्छिन्ने प्रयत्ने नायं विधिः, नित्यत्वात्। अत एव नार्थाश्रयत्वम्। न हि नित्यज्ञानं भोगरूपमभोगरूपं वा यत्नमपेक्षते, तस्य कारणविशेषत्वात्। न च नित्यसर्वज्ञस्य भोगसम्भावनापि, विशेषादर्शनाभावे मिथ्याज्ञानानवकाशे दोषानुत्पत्तौ धर्माधर्मयोरसत्त्वात्।

तस्मात्, साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्वात्, स्वव्यापारे तदनपेक्षत्वाच्चेति

आमोदः- विधिरिति। इन्द्रियोपयोग इत्यर्थः। अत एवेति। अथाश्रयत्वलक्षणमपि शरीरत्वं परमाणूनामापाद्यमित्यर्थः। अर्थाश्रयत्वं हि भोगायतनत्वं वाच्यं, तच्चेश्वरे भोगाभावान्नास्तीत्याह न हीति। तस्येति। आयतनस्येत्यर्थः। न चेति। यद्यप्यापाद्यबाधोऽनुगुण एव, तथापि परमाणौ भोगायतनत्वमापाद्यं तत्र वा दृष्टवत् साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयत्वमुपाधिरिति भावः। भोगसम्भावनां निरस्यति विशेषेति। तर्कं दूषयित्वा तदुपष्टम्भनं यत् प्रमाणमुक्तं तद् दूषयति साक्षादिति। साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयत्वमेव हि शरीरेतरत्वेन हेतुना विवक्षितम्। तच्च साध्यमेव। एवं परमाणवो न साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयाः इति साध्ये स्वव्यापारे साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्वमेव हेतुत्वेन विवक्षितं, तदपि

प्रकाशः- प्रयत्नोत्पत्ताविति, निमित्तसप्तमी। अत एवेति। सोपाधित्वेन मूलशैथिल्यादेवेत्यर्थः। उपाधिमाह न हीति। ज्ञानानित्यत्वमुपाधिरित्यर्थः। न च नित्येति। यदवच्छिन्नात्मन्यर्था भोगं जनयन्ति तस्यार्थाश्रयत्वम्, नित्यज्ञानाश्रयस्य त्वीश्वरस्य भोगाभावान्न तदर्थं तदपेक्षेत्यर्थः।

प्रसङ्गदूषणेनैव तदनुग्राह्यो हेतुरपि दूषित इत्याह तस्मादिति। शरीरत्वं यदि साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयत्वं, तदा शरीरेतरत्वं साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठितत्वम्। तथा स्वव्यापारे शरीरानपेक्षत्वं साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयानपेक्षत्वमेव। तथा च साध्याविशेष

मकरन्दः- ज्ञानानित्यत्वमिति। अनित्यज्ञानवत्त्वमित्यर्थः। अर्थाश्रयत्वमर्थप्रयोज्यभोगाश्रयत्वमित्यर्थः। तथेति। स्वव्यापारे साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयापेक्षत्वमेव परम्परानधिष्ठेयत्वमिति साध्याविशेष इत्यर्थः। यदवच्छिन्ने आत्मनि ऐन्द्रियकार्यज्ञानेन प्रयत्नो भोगश्च जनयितव्यस्तस्यैवेन्द्रियाश्रयत्वमित्यर्थः। यद्यपि भोगान्तर्भावेन न मूलार्थस्तथापि तात्पर्यार्थोऽयमिति भावः।

तदनपेक्षत्वादित्यत्र तत्पदेनोभयपरामर्शाद्धेतुद्वये तात्पर्यमित्याह स्वव्यापार

द्वयं साध्याविशिष्टम्। अनिन्द्रियाश्रयत्वादभोगायतनत्वात् स्वव्यापारे तदनपेक्षत्वाच्चेति त्रयमप्यन्यथासिद्धम्। अभोगायतनत्वादनिन्द्रियाश्रयोऽपि, भोक्तृकर्मानुपग्रहादभोगायतनमपि, स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यानुद्यत्वात्तदनपेक्षमपि स्यात्। अचेतनत्वाच्चेतनाधिष्ठितमपि स्यादिति को विरोधः? तथा च साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठितेतर-

---

आमोदः- साध्याविशिष्टमेवेत्यर्थः। यदि चेन्द्रियाश्रयत्वं भोगायतनत्वं वा शरीरत्वं विवक्षितं, तदा शरीरेतरत्वादित्यस्य हेतोरतीन्द्रियाश्रयत्वादभोगायतनत्वादित्यर्थः सम्पद्यते, तदा नैतदुभयं साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्वं साधयितुमर्हति, अन्यथासिद्धत्वात्। स्वव्यापारे तदनपेक्षत्वादित्यस्यापि द्वितीयहेतोः स्वव्यापारे इन्द्रियाश्रयानपेक्षत्वात् भोगायतनानपेक्षत्वादित्यर्थः सम्पद्यते। न चानेनापि परम्परानधिष्ठेयत्वं साधयितुं शक्यतेऽन्यथासिद्धत्वादित्यर्थः। त्रयाणामन्यथासिद्धिं क्रमेणाह **अभोगेति**। ईश्वरे भोगाभावात् परमाण्वादिर्भोगानवच्छेदकः स्यात्, अतीन्द्रियाश्रयः स्यात्, साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयोऽपि स्यात्, न विरोध इत्यर्थः।

स्पर्शवदिति। स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यान्तराप्रेर्यत्वादेव शरीरानपेक्षक्रियः स्यादित्यर्थः। क्षित्यादि चेतनाधिष्ठितहेतुकं शरीरेतरहेतुकत्वात् इत्यतिपीड़या सत्प्रतिपक्षत्वमुक्तम्। तदपि शरीरपदार्थविकल्पद्वारकं साध्याविशिष्टमन्यथासिद्धञ्च। तत् क्रमेणाह **तथा चेति**। अन्यथासिद्धिमाह **कार्येति**। अचेतनहेतुकं चेतनाधिष्ठितहेतुकं भवत्येवेति व्याप्तिः। शरीरेतरजन्यत्वं च कार्यज्ञानान

प्रकाशः- इत्यर्थः। यदि चेन्द्रियाश्रयत्वं भोगाश्रयत्वं वा शरीरत्वं, तदा शरीरेतरत्वादित्यस्यानिन्द्रियाश्रयत्वादभोगायतनत्वाद्वेत्यर्थः। **स्वव्यापारे** इन्द्रियाश्रयानपेक्षत्वाद्भोगायतनापेक्षत्वादिति वा द्वितीयहेत्वर्थः। तदेतत् सर्वमन्यथासिद्धमित्याह **अनिन्द्रियाश्रयत्वादिति**। अन्यथासिद्धिमेवाह **अभोगायतनत्वादिति**। ईश्वरे ह्यदृष्टाभावेन भोगाभावात् परमाण्वादिर्भोगानवच्छेदकत्वेनानिन्द्रियाश्रयोऽपि स्यात्। स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यान्तराप्रेर्यमाणत्वाच्छरीरानपेक्षक्रियोऽपि स्याद्, न विरोध इत्यर्थः। क्षित्यादिकं न चेतनाधिष्ठितहेतुकं शरीरेतरजन्यत्वादित्यत्रापि शरीरपदार्थस्य विकल्पत्रये दोषमाह - **तथा चेति**।

मकरन्दः- इति। एवञ्च त्रयमिति मूलस्य चतुष्टयमिति तात्पर्यम्। क्षित्यादिकमिति। यद्यपि यथाश्रुते न साध्याविशेष उपाधिभेदात्, तथापि चेतनाधिष्ठानप्रयत्नद्वारैवेति प्रयत्नानधिष्ठितहेतुकत्वमेव साध्यमभिप्रेतम्। यद्वा साध्याविशेष उक्तः। यद्वा

जन्यत्वादिति साध्यसमः। इन्द्रियाश्रयेतरजन्यत्वात् भोगायतनेतर-जन्यत्वादिति द्वयमप्यन्यथासिद्धम्। कार्यज्ञानाद्यनपेक्षत्वाच्छरीरेतरजन्यमपि स्यात्। अचेतनहेतुकत्वाच्चेतनाधिष्ठितमपीति को विरोधः? अप्रसिद्ध-विशेषणश्च पक्षः। न हि चेतनानधिष्ठितहेतुकत्वं क्वचित्प्रमाणसिद्धम्। न च चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वनिषेधः साध्यः, हेतोरसाधारण्यप्रसङ्गात्। गगनादेरपि सपक्षाद्व्यावृत्तेः।

यत्पुनरुक्तं, कुविन्दादेः पटादौ कथमपेक्षेति, तत्र कारकतयेति कः सन्देहः? किन्तु कारकत्वमेव तस्य ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नवतो न स्वरूपतः। तदेव चाधिष्ठातृत्वम्।

यत्त्वधिष्ठिते किमधिष्ठानेनेति। तत्किं कुविन्द उद्धार्यते, ईश्वरो वा, अनवस्था वापाद्यते? न प्रथमः, अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्। न द्वितीयः,

आमोदः— पेक्षत्वप्रयुक्तमतोऽन्यथासिद्धमित्यर्थः। दोषान्तरमाह अप्रसिद्धेरिति। विशेषणं साध्यं, तथा च न तद्विशेषणिकाऽनुमितिर्न वा व्याप्तिग्रहो न वा सन्देहसिषाधयिषयोर भावात् पक्षत्वमिति। ननु गगनादौ प्रसिद्धश्चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वाभाव एव साध्य इत्यत आह न चेति। ननु कारकत्वेनैव चेत् कुविन्दादीनां कारणत्वं तदा क्षित्यादौ बुद्धिमत्पूर्वकत्वे साध्ये पटादिर्दृष्टान्तः साध्यविकलः स्यात्; कुविन्दादेरेव तत्र करणत्वात्, न तु तज्ज्ञानादेरित्यत आह किन्त्विति। न स्वरूपत इति। इन्द्रादिवदित्यर्थः। कुविन्द उद्धार्यत इति। पटादौ कुविन्दस्याकर्तृत्वप्रसङ्गः क्रियते, किमीश्वरस्येति विकल्पार्थः। अनवस्था चेति। अधिष्ठिताधिष्ठानविश्रान्त्यभावात् चेतनानन्त्यं स्यादित्यर्थः। कुविन्दाधिष्ठानमन्वयव्यतिरेकायातमीश्वराधिष्ठानं चावर्जनीयसिद्धमित्युभयकर्तृकं घटादीत्यर्थः। तत्रेति। द्वितीयेऽधिष्ठातरीत्यर्थः। ननु परतः प्रमुक्तिं पश्यंश्चेतनः स्वयमुदास्ते, तथा चेश्वरः कुविन्दो व पटादिकं

प्रकाशः— दूषणान्तरमाह अप्रसिद्धेति। ननु चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वं तावदन्यत्राव-गतमतः प्रतीतप्रतियोगिकत्वे तन्निषेधः शक्यसाधनः स्यादित्यत आह न चेति। कुविन्द इति। ईश्वरेणैव तन्त्वादेरधिष्ठानात् किं तदर्थं कुविन्देनेत्यर्थः। ईश्वरो वेति। कुविन्देनैव च तन्त्वादेरधिष्ठानात् किं तदर्थमीश्वरेणेत्यर्थः। अनवस्था वेति। घटादेर्द्विकर्तृकतया तद्दृष्टान्तेन कार्यत्वात् क्षित्यादेरपि द्विकर्तृकत्वापत्तौ तस्यापि पक्षधर्मताबलात् सर्वज्ञेन सर्वज्ञाधिष्ठातृसिद्धौ पुनर्घटादिदृष्टान्तेन क्षित्यादौ कर्तृत्रयं स्यादिति पुनर्घटवत् क्षितिः क्षितिवद् घट इतीश्वरानन्त्यं स्यादित्यर्थः। अन्वयेति। कुविन्दव्यापार-

परमाण्वदृष्टाद्यधिष्ठातृत्वसिद्धौ ज्ञानादीनां सर्वविषयत्वे वेमाद्यधिष्ठानस्यापि न्यायप्राप्तत्वात्, न तु तदधिष्ठानार्थमेवेश्वरसिद्धिः। न तृतीयः, तस्मिन् प्रमाणाभावात्। तथाप्येकाधिष्ठितमपरः किमर्थमधितिष्ठतीति प्रश्ने किमुत्तरमिति चेत्, हेतुप्रश्नोऽयं, प्रयोजनप्रश्नो वा?। नाद्यः, ईश्वराधिष्ठानस्य नित्यत्वात्। कुविन्दाद्यधिष्ठानस्य स्वहेत्वधीनत्वात्। न द्वितीयः, कार्यनिष्पादनेन भोगसिद्धेः स्पष्टत्वात्। एकाधिष्ठानेनैव कार्यं स्यादति चेत्, स्यादेव। तथापि न सम्भेदेऽन्यतरवैयर्थ्यम्। परिमाणं प्रति सङ्ख्यापरिमाणप्रचयवत् प्रत्येकं सामर्थ्योपलब्धौ सम्भूयकारित्वोपपत्तेः। अस्ति तत्र वैजात्यमिति चेत्, इहापि किञ्चिद्भविष्यतीति। न चाकुर्वतः

आमोदः-किमर्थमधितिष्ठतीति शङ्कते तथापीति। केन हेतुना पटोपादानगोचरमस्य ज्ञानं क्रियत इति प्रश्ने तावदुत्तरमाह ईश्वरेति। प्रयोजनप्रश्नमुत्तरयति कार्येति। तथाप्यन्यतरवैयर्थ्यं शङ्कते एकेति। प्रत्येकदृष्टसामर्थ्ययोः सम्भेदे द्वयोरपि कारणत्वं दृष्टचरमेवेत्याह स्यादेवेति। कुत्र दृष्टमिदमित्यत आह परिमाणमिति। ननु दृष्टान्ते केवलसंख्याद्या इच्छापेक्षया समुदिता बृद्धे(?) परिमाणे वैजात्यमवश्यं कल्पनीयम्। अन्यथा परस्परव्यभिचारेण तेषां करणत्वमेव न स्यात्। प्रकृते तु वैजात्यं नानुभूयत इति शङ्कते अस्तीति। एककर्तृकक्षित्याद्यपेक्षया द्विकर्तृकपटादौ तृणारणिमणिजन्यवह्निवद्वैजात्यस्यावश्यं कल्पनीयत्वादाह इहापीति। ननु तथापीश्वरः कुविन्दादेः कर्तृत्वं कथं सहते, तद्व्यतिरेकेणापि पटं निष्पादयेत् इत्यत आह न चेति।

प्रकाशः-स्यान्वयव्यतिरेकादित्यर्थः। ईश्वरज्ञानादीनां नित्यत्वेन सर्वविषयत्वात् पटाद्युपादानविषयत्वमपीति कथं न तेषां पटादिकारणत्वं, कुविन्दज्ञानादि-तुल्यत्वादित्याह परमाण्विति। पटाकाशसंयोगादिकं प्रति ईश्वरस्य कर्तृत्वात् पटादिगोचरमपि ज्ञानं सिद्धमिति भावः। न त्विति। न त्वधिष्ठिताधिष्ठानार्थमेवेत्यर्थः। यथा कुविन्दाधिष्ठानमन्वयव्यतिरेकाभ्यां तथेश्वरस्याधिष्ठानं, ज्ञानदीनां नित्यतया सर्वविषयत्वात्। तद्वदधिष्ठात्रन्तरकल्पनायां न मानमस्ति, येनानवस्था स्यात्। कार्ये हि कर्तृत्वेन कारणता, न द्विकर्तृत्वादिनेति न तत्सिद्धिरित्याह प्रमाणाभावादिति। वैजात्यमिति। प्रत्येकजन्यव्यावृत्तं कारणमेलक-

मकरन्दः-साध्यवद्धेतुरप्यसिद्ध इति साध्यसमः। ननु सर्वविषयत्वमेव तस्यासिद्धमिति पटादिविषयत्वासिद्धेस्तदुपादानाधिष्ठानं न स्यादित्यत आह पटाकाशेति। वस्तुतो नियतविषयता कारणाधीनेति नित्यतयैव सर्वविषयत्वमिति भावः। तदिदमाह

कुलालादेः कायसंक्षोभादिसाध्यो भोगः सिद्ध्येदिति तदर्थमस्य कर्तृत्वमीश्वरोऽनुमन्यते, तदर्थमात्रत्वादैश्वर्यस्येति।

यत्त्वनित्यप्रयत्नेत्यादि, भवेदप्येवं यद्यनित्यप्रयत्ननिवृत्तावेव बुद्धिरपि निवर्तेत। न त्वेतदस्ति, उदासीनस्य प्रयत्नाभावेऽपि बुद्धिसद्भावात्। हेतुभूता बुद्धिर्निवर्तते इति चेन्न। उदासीनबुद्धेरपि संस्कारं प्रति हेतुत्वात्। कारकविषया बुद्धिर्निवर्तते इति चेन्न। उदासीनस्यापि कारकबोद्धृत्वात्। न हि घटादिकमकुर्वन्तश्चक्रादिकं नेक्षामहे। हेतुभूता कारकबुद्धिर्निवर्तते इति चेन्न। अयतमानस्यापि दुःखहेतुभूताया अपि तद्धेतुकण्टक-स्पर्शबुद्धेरभावात्। चिकीर्षाहेतुभूतोऽनुभवो निवर्तते इति चेन्न। केनचिन्निमित्तेनाकुर्वतोऽपि चिकीर्षातद्धेतुबुद्धिसम्भवात्। अनपेक्षकृति-हेतुचिकीर्षाकारणं बुद्धिर्निवर्तते इति चेत्, न तर्हि बुद्धिमात्रम्। तथा

आमोदः– बुद्धिमद्धेतुकत्वे साध्येऽनित्यप्रयत्नहेतुकत्वस्य उपाधित्वं यदुक्तं तत्राह **यत्त्विति**। साध्याव्यापकत्वमाह **यदीति**। न हि यन्निवृत्तावपि यत्र निवर्तते तत्तस्य व्यापकमित्यर्थः। साध्यं विशिनष्टि **हेत्विति**। यथाश्रुते दोषमाह **उदासीनेति**। उदासीनबुद्धेः कारकविषयत्वमाह **न हीति**। **अयतमानस्येति**। कण्टकस्पर्शजन्य-दुःखसहिष्णोरित्यर्थः। तत्र कृतिश्चेन्नोत्पद्यते नूनं चिकीर्षापि नाभूदतस्तथा विशेषयति **चिकीर्षेति**। **केनचिदिति**। निषिद्धकर्मचिकीर्षोरपि पापभयात् कृतिः परं नोत्पद्यते, यत्र तत्र तादृशशुद्धेः प्रयत्नं विनापि सत्त्वादित्यर्थः। **अनपेक्षेति**। यत्र चिकीर्षायामुत्पन्नायां कृतिरुत्पद्यत एव तादृशचिकीर्षाहेतुबुद्धिर्निवर्तत इत्यर्थः। निरपेक्षकृतिहेतुचिकीर्षाकारणबुद्धिमत्पूर्वकत्वे साध्येऽनित्यप्रयत्नहेतुकत्वमुपाधिः, न तु बुद्धिमत्पूर्वकत्वमात्रे साध्ये इत्याह **न तर्हीति**।

प्रकाशः–व्यङ्ग्यमित्यर्थः। **इहापीति**। द्विकर्तृके घटादावेकर्तृकक्षित्यादेर्वैजात्य-मित्यर्थः। **उदासीनस्येति**। कारणानि अव्यापारयत इत्यर्थः। **उदासीनबुद्धेरिति** कर्मधारयः। **दुःखहेत्विति**। दुःखहेतुश्चासौ कण्टकस्पर्शश्चेति विग्रहः। तस्य बुद्धेरित्यर्थः।

मकरन्दः- **नित्यतयेति**।

ननूदासीनो निष्प्रयत्न इत्यनर्थान्तरम्। तथा च प्रयत्नाभावेऽपीति व्यर्थमत आह **कारणानीति**। प्रयत्नाभावलाभार्थमाह **उदासीनबुद्धेरिति**। पूर्वोक्तव्याख्यानेन तदलाभेऽपि प्रयत्नाजनकबुद्धेरिति कर्मधारयात्तदर्थपर्य्यवसाने तल्लाभ इत्यर्थः। पौनरुक्त्यभ्रमं निवारयति **दुःखहेतुश्चेति**। एतच्च कारकत्वद्योतनार्थम्।

चानित्यप्रयत्नहेतुकत्वप्रयुक्तं विशिष्टप्रयत्नचिकीर्षाहेतुबुद्धिमत्पूर्वकत्वमिति तन्निवृत्तौ तदेव निवर्ततां, न तु बुद्धिमत्पूर्वकत्वमात्रम्। तत्र तस्याप्रयोजकत्वादिति बुद्धिमत्पूर्वकत्वसाध्यपक्षे परीहारः। सकर्तृकमिति प्रयत्नप्रधानपक्षे शङ्कैव नास्ति, तस्यैव तत्रानुपाधित्वात्।

एतेन शरीरसम्बन्धे बुद्धिगतकार्यत्ववत् बुद्धिसम्बन्धे प्रयत्नगत-कार्यत्वमुपाधिरिति निरस्तम्। यो हि बुद्ध्या शरीरवच्छरीरनिवृत्त्या बुद्धिनिवृत्तिवद्वा प्रयत्नेन बुद्धिं, बुद्धिनिवृत्त्या प्रयत्ननिवृत्तिं साधयेत्, स एवं कदाचिदुपालभ्यः। वयं त्ववगतहेतुभावं कलितसकलशक्ति कारकप्रयोक्तारं कार्यादेवानुमिमाना नैवमास्कन्दनीयाः। तत्र

आमोदः- तस्यैवेति। यद्यपि क्षित्यादिकं कृतिमद्धेतुकम्, अत्रानित्य प्रयत्नपूर्वकत्वमुपाधिः सम्भवत्येव, तथापि अनित्यप्रयत्न इत्यत्र व्यर्थविशेषणत्वं व्यावर्त्य सिद्ध्यसिद्धिव्याघातश्चेति भावः। एतेनेति। तदेव शरीरहेतुकं यत् कार्यं मुक्तिहेतुकमिति यथा त्वयोच्यते तथा तदेव बुद्धिमत्पूर्वकं यत् कार्यं प्रयत्नहेतुकमिति मयाप्युच्यते इति निरस्तमित्यर्थः। पूर्वनिरस्तमप्येतत् प्रकारान्तरेणाशङ्क्य निरस्यत इत्यपौनरुक्त्यम्। प्रयत्नेन बुद्धिरत्र न साध्यते येन तद्गतकार्यत्वमुपाधिः स्यात्, किन्तु कार्यत्वाद्धेतोस्त्रितयमप्येकवारेण साधयाम इति न परस्परमुपाध्युपाधिमद्भाव इत्यर्थः।

प्रकाशः- तत्रेति। बुद्धिमत्पूर्वकत्वे साध्ये। तस्य - अनित्यप्रयत्नस्य। प्रयोजकत्वे वोदासीनबुद्धेर्निवृत्तिप्रसङ्ग इति भावः। तदनेन प्रबन्धेन यो बुद्धिमत्पूर्वमिति साध्यं प्रतिजानीते, तदनुकूलतया परिहृतम्। यदा तु सकर्तृकमिति प्रधानीभूतकृतिविषयाप्रधानीभूतबुद्धिमत्पूर्वकत्वं प्रतिज्ञायते, तदानीमनित्य प्रयत्नस्योपाधित्वशङ्कापि नास्तीत्याह बुद्धिमदिति।

ननु प्रधानीभूतकृतिपूर्वकत्वसाध्यपक्षे बुद्धिरप्रधानीभूता कुतः सिद्ध्येत्? न हि यत्नात्तत्सिद्धिः, शरीरसम्बन्धे ज्ञानगतकार्यत्ववद् बुद्धिसम्बन्धेऽपि प्रयत्नगतकार्यत्वस्योपाधेः सुवचत्वात्। तथा च कृतिमात्रशाली कर्त्ता प्राप्त इत्यत आह एतेनेति। प्रयत्नानित्यत्वस्यानुपाधित्वेनेत्यर्थः। कार्यत्वादेकैकजन्यत्वं सिद्ध्येत्, त्रितयजन्यत्वमपि सिद्ध्यति। आर्थस्तु समाजः। अत एव - ज्ञानादित्रयव्यतिरेकान्न कार्यव्यतिरेकः, किन्त्वेकैकव्यतिरेकादिति व्यर्थविशेषणत्वेन

मकरन्दः- यदा त्विति। यदि कृतिजन्यत्वमेव साध्यमित्यर्थः।

तस्यानुपाधित्वात्। न च प्रयत्न आत्मलाभार्थमेव मतिमपेक्षते, विषयलाभार्थमप्यपेक्षणात्। ततः प्रयत्नाद् बुद्धिः, तन्निवृत्तेश्च प्रयत्ननिवृत्तिः सिद्ध्यत्येवेति विस्तृतमन्यत्र। कार्यबुद्धिनिवृत्त्या तु कार्य एव प्रयत्नो निवर्तते, न नित्यः। नित्ये च प्रयत्ने नित्यैव बुद्धिः प्रवर्तते, नानित्या। न हि तया तस्य विषयलाभसम्भवः, शरीरादेः प्राक् तदसम्भवे देहानुपपत्तौ सर्वानुपपत्तेः। शरीराजन्यत्ववच्चानित्यप्रयत्नाजन्यत्वमिति संक्षेपः।२।

आमोदः– ननूक्तं जन्ये प्रयत्ने बुद्ध्यपेक्षा नाजन्येऽपीत्यत आह न चेति। बुद्धिविषय एव प्रयत्नविषय इति नियमात्। बुद्धिमन्तरेण यत्नस्य विषयलाभ एव न सम्भवतीत्यर्थः। ततश्चेति। विषयनियमार्थं बुद्ध्यपेक्षाया आवश्यकत्वेन बुद्धिः प्रयत्नव्यापिकेति व्यापकनिवृत्तेर्व्याप्यनिवृत्तिरिति सकर्तृकत्वं साध्येऽपि बुद्धिसिद्धिरित्यर्थः। अन्यत्रेति। *किरणावल्यामात्मतत्त्वविवेके चतुर्थाध्यायनिबन्धे* चेत्यर्थः। न हि तयेति। तया अनित्यबुद्ध्या, तस्य नित्यप्रयत्नस्येत्यर्थः। बुद्धिश्चेदनित्या, तदा शरीरात् प्राक् सा न स्यात्,तया च विना शरीरं न स्यादिति बुद्धेरनुत्पाद एवायात इत्याह शरीरादेरिति। ननु चानित्यप्रयत्नवत्त्वं न चेदुपाधिस्तदाह नित्यप्रयत्नाजन्यत्वात् क्षित्यादिकमकर्तृकमिति सत्प्रतिपक्षः स्यात् इत्यत आह शरीरेति। अत्रापि व्यर्थविशेषणत्वमेवेत्यर्थः।२।

प्रकाशः– विशिष्टव्यतिरेको न हेतुव्यतिरेकव्याप्य इति न हेतोर्विशिष्टसिद्धिः। साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगिन एव साध्यगमकत्वात् इत्यपास्तम्। ज्ञानाद्येकैकजन्यत्वस्यैव साध्यत्वात्, तथैव व्याप्तेरिति भाव;।

तत्रेति। ज्ञानाद्येकैकजन्यत्वे साध्ये इत्यर्थः। तस्य प्रयत्नगतकार्यत्वस्येत्यर्थः। किञ्च यदि प्रयत्नेन बुद्धिः स्वोत्पत्त्यर्थमेवापेक्ष्यते, तदा प्रयत्नगतकार्यत्वमेवोपाधिः स्यात्। न चैवम्, प्रयत्नस्य निर्विषयकत्वेन ज्ञानविषयेषु कार्यजनकमिति तदर्थं बुद्ध्यपेक्षा स्यादेवेत्याह न च प्रयत्न इति। तथापि नित्या बुद्धिः कुतः सिद्ध्यतीत्याह नित्ये च प्रयत्न इति। न हीति। बुद्ध्यनित्यत्वे तद्धेतुशरीरात् प्राक् तदभावे शरीरोत्पत्तिरेव न स्यादिति कदापि सा बुद्धिर्न जायेतेत्यर्थः। अनित्यप्रयत्नाजन्यत्वात् क्षित्यादेरकर्तृकत्वे साध्ये शरीराजन्यत्ववद्व्यर्थविशेषणत्वमित्याह शरीराजन्यत्ववदिति।२।

मकरन्दः– एवञ्च बुद्धिमत्पूर्वकत्वस्याप्राधान्यमनुपादानमेवेति बोध्यम्। यद्यपि विशिष्टाविशिष्टभेदादुपाधित्वं सम्भवति, तथापि व्याप्यं व्यापककोटावनिवेशयत एव व्याप्तिग्राहकत्वमिति मते

तर्काभासतयान्येषां तर्काशुद्धिरदूषणम्।
अनुकूलस्तु तर्कोऽत्र कार्यलोपो विभूषणम्।।३।।

कारकव्यापारविगमे हि कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः। चेतनाचेतन व्यापारयोर्हेतुफलभावावधारणात् कारणान्तराभावे इव कर्त्रभावे कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः, कर्तुरपि कारणत्वात्।

आमोदः- **अन्येषां** वादिनाम् ईश्वरानुमाने तर्काशुद्धिर्दूषणम्। तद्यदि ईश्वरः कर्ता स्यात्, शरीरी स्यादित्यादिप्रतिकूलतर्कपराघातरूपं, तत्र दूषणं सिद्ध्यसिद्धिपराहतत्वादित्याह **तर्काभसतयेति। अन्येषां** तर्काणामित्यपि *केचित्*। नन्वनुकूलतर्काभाव एव तर्कापरिशुद्धिरित्यत आह **अनुकूलस्त्विति।** कर्ताऽपि कारणमेव, तदभावे क्षित्यादि कार्यं नोत्पद्येतेत्यर्थः। एतदेव विवृणोति **कारकेति।** ननु परमाणोर्दृष्टादेव कार्यमुत्पद्यतामित्यत आह **चेतनेति।** चेतनव्यापारस्य हेतोरचेतनव्यापारः फलमिति। तेन विना न स्यादेवेति कार्यविलोपप्रसङ्ग इत्यर्थः। किञ्च यथा कार्यस्य कारणान्तरापेक्षा तथा कर्त्रपेक्षाप्यावश्यकीत्याह **कारणान्तरेति।**

प्रकाशः- तर्कापरिशुद्धिश्च यदि प्रतिकूलतर्काप्रतीघातस्तदा तेषां यदि ईश्वरः कर्त्ता स्याच्छरीरी स्यादित्यादीनां तर्काणामीश्वरसिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातेनाभासत्वान्न दूषणत्वमित्याह - **तर्काभासतयेति।** अथानुकूलतर्काभावरूपा सा? तत्राह **अनुकूलस्त्विति।** कर्त्तुः कारणस्याभावे कार्यं न स्यादित्येवानुकूलस्तर्क इत्यर्थः।

ननु कर्त्रभावेऽपि कारणान्तरव्यापारात् कार्यं स्यादित्यत आह - **कारकव्यापारेति।** कारकान्तरव्यापारं प्रति चेतनव्यापारस्य हेतुत्वात् कर्त्रभावे सोऽपि न स्यादित्यर्थः। कारणान्तरव्यापारसत्त्वेऽपि कर्त्रभावे कार्यं न स्यात्। यत्किञ्चित्कारणाभावस्य कार्यानुत्पत्तिव्याप्यत्वादित्याह - **कारणान्तरेति।**

मकरन्दः- साध्यव्यापकत्वाग्रहादुपाधित्वमिति भावः। वस्तुतो हेतौ विपक्षबाधकसम्भवादत्र च तदभावान्न तथात्वमिति। **प्रयत्नानित्यत्वस्येति।** तथा च प्रयत्नादेव बुद्धिसिद्धिरिति भावः। वस्तुतस्तु समूहालम्बनरूपैवानुमितिर्न तु प्रयत्नात्तत्सिद्धिरित्येकदैव त्रितयजन्यत्वं सिद्ध्यतीत्याह **कार्यत्वादिति। ज्ञानाद्येकैकेति।** प्रत्येकव्याप्तिभिरिति शेषः।

यस्त्वाह, प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तदुत्पत्तिनिश्चयो दृश्ययोरेव, न त्वदृश्ययोः। प्रत्यक्षस्यानुपलम्भस्य च तावन्मात्रविधिनिषेधसमर्थत्वात्, धूमाग्निवत्, कम्पमारुतवच्च। न हि धूमः कार्योऽनलस्येति उदर्यस्यापि, न हि शाखाकम्पो मातरिश्वन इति स्तिमितस्यापि स्यात्, किन्तु भौमस्पृश्ययोरेव। तथेहापि शरीरवत एव कारणत्वमवगन्तुमुचितं नान्यस्येति। तदसत्, प्रत्यक्षाऽनुपलम्भौ हि दृश्यविषयावुपायस्तदुत्पत्तिनिश्चये, न तु दृश्यतैव तत्रोपेया। किं नाम दृश्याश्रितं सामान्यद्वयम्।

आमोदः– *सौगतमत*मास्कन्दितुमुपन्यस्यति यस्त्विति। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। तदयमर्थ अदृश्यायाः कृतेर्व्यतिरेको दुर्ग्रह इति तत्साधारण्येन व्याप्तिग्रहोऽप्यशक्यः। अन्यथा वह्निसामान्यव्याप्तिबलाज्जाठर्यादिवह्निर्धूमात् सिद्ध्येत्। सिद्ध्येच्च शाखाकम्पात् अयोग्यस्तिमितो वायुरिति। भौमस्पृश्ययोरिति। भौमो वह्निविशेषः, स्पृश्यः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयो वायुः। शरीरवदिति। तथा च व्यापकांशस्य कृते दृश्यत्वमुपपद्यत इत्यर्थः। शरीरिकृतेर्घटादिकार्यविशेषेऽन्वयव्यतिरेकदर्शनात् कृतिसामान्यकार्यसामान्ययोरपि बाधकं विना व्याप्तिग्रहः सम्भवत्येवेत्याह प्रत्यक्षेति।

प्रकाशः– *सौगत*माह यस्त्विति। कृतिमात्रकार्यमात्रयोर्नान्वयव्यतिरेकाभ्यां व्याप्तिग्रहः। त्वन्मते व्यापककृतेः सत्त्वेनायोग्यकृतेर्व्यतिरेकानिरूपणात्। यदि च कृतिमात्रेण व्याप्तिग्रहाददृश्यकर्तृसिद्धिः, तदा वह्निमात्रव्याप्यधूमाददृश्यजाठर्यादिवह्निरपि सिद्ध्येत्। शाखाकम्पे चायोग्यस्यापि स्तिमितवायोः कारणताग्रहश्च स्यादित्यर्थः।

कृतिविशेषकार्यविशेषयोरन्वयव्यतिरेकग्रहो बाधकं विना कृतिमात्रकार्य मात्रयोर्व्याप्तिग्रहोपायः, न तु पक्षधर्मतालभ्यविशेषयोरन्वयादिग्रहः। यथा वह्निधूमविशेषयोरन्वयादिना तत्सामान्ययोरपि व्याप्तिग्रहः। अन्यथानुमान मात्रोच्छेदादित्याह – प्रत्यक्षानुपलम्भाविति। अन्यथा पाकं प्रत्यालोकात्मकस्यैव वह्नेः कम्पं प्रति रूपवत एव दण्डादेः प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां कारणत्व

मकरन्दः– अयोग्यस्यापीति। उद्भूतस्पर्शवेगशून्यवायोरित्यर्थः। आलोकात्मकस्येति। आलोकवत इत्यर्थः। तथा च पाकेन जाठर्य्यवह्निः कम्पेन पवनो नानुमीयेतेत्यर्थः। पूर्वोक्तयोरिति। यद्यपि पवनः स्तिमित एव पूर्वोक्तः स च न कम्पानुमेयस्तथापि कम्पमारुतवच्चेत्यनेन कम्पजनकवायोरपि पूर्वोक्तत्वमिति भावः। दहनस्तु

तदालीढस्य हि तदुत्पत्तनिश्चये दृश्यमदृश्यं वा सर्वमेव तज्जातीयं तदुत्पत्तिमत्तया निश्चितं भवति। यथा स्पर्शरूपरसगन्धानामुत्तरोत्तरनिमित्ततायां तव, अस्माकञ्चातीन्द्रियसमवायादिसिद्धौ। न चेदेवमुदाहृतयोरेव दहनपवनयोरालोकरूपवतोस्तदुत्पत्तिनिश्चये कथमनालोकनिरस्तरूपयोः सिद्धिः, यदुदर्यस्तिमितसाधारणी सिद्धिः स्यादिति। तद्भवेदप्येवं यदि शरीरादिकं विना कार्यमिव भौमं स्पर्शवद्वेगवत्तञ्च विनाग्निमात्रात्, पवनमात्राद्वा धूमकम्पौ स्याताम्, न त्वेवम्। न चैवं चेतनव्यभिचारोऽपि शक्याभिधान इत्यलं बालप्रलापानां समाधानैः।

आमोदः-तदालीढस्य तदाक्रान्तस्य। यथेति। दृश्यादृश्यस्पर्शस्य दृश्यादृश्यरूपकारणतायां प्रत्यक्षानुपलम्भगोचरदृश्यमात्रस्पर्शरूपयोस्तदुत्पत्तिनिश्चयव्यवस्थापनीयतादुर्दशन (?) इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। कार्यद्रव्यमुपादानवदिति व्याप्त्याऽस्मन्मते द्व्यगुणकपरमाणुसिद्धिरित्यर्थः। सालोकस्य वह्नेः पाकं प्रति कारणता प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां गृह्यत इत्यन्नादिपाकात् निरालोकजाठर्यवह्निर्न सिद्ध्येत्, दण्डादेरेव रूपवतश्चक्रादिकम्पकारणता गृहीता इति शाखाकम्पान्नीरूपो वायुरपि न सिद्ध्येदित्याह न चेदेवमित्यादि। उदाहृतयोरुक्तयोरालोकरूपवतोस्तदुत्पत्तिनिश्चये कथमनालोकनिरस्तरूपयोरुक्तयोर्दहनपवनयोः सिद्धिरित्यन्वयः। नन्वेवं धूमादुदर्यदहनसिद्धिः, कम्पाच्च स्तिमितवायुसिद्धिः स्यादित्युक्तमित्याह यत्त्विति। तद्भवेदिति। शरीरादिकं विना क्षित्यादिकार्यं यथोपलभ्यते तथा भौमेन्धनं विना धूमः, स्पर्शवद्वेगवद्वायुं विनापि कम्प उपलभ्येत, तदा तत्साधारणी सिद्धिर्भवेदित्यर्थः। न चैवमिति। चेतनं विनापि कार्यमित्यभिधातुमशक्यमित्यर्थः।

प्रकाशः- निश्चयादनालोकात्मकजाठर्यदहनस्य निरस्तरूपस्य पवनस्य च कथं सिद्धिः स्यादित्याह न चेदेवमिति। उदाहृतयोः पूर्वोक्तयोरित्यर्थः। दहनपवनयोरनालोकनिरस्तरूपयोः कुतः सिद्धिरालोकरूपवतोरेव तदुत्पत्तिनिश्चये सतीति योजना। आलोकवत एव वह्नेर्धूमोत्पत्तिनिश्चये रूपवत एव हस्तादेर्लोष्टादौ कम्पनिश्चये सतीत्यर्थः। अदृश्यवह्नेर्धूमानुत्पत्तेः पवनमात्राच्च कम्पानुत्पत्तेस्तत्र दृश्यत्वमेव तन्त्रमिति न धूमाददृश्यवह्निसिद्धिर्न वा कम्पात् पवनमात्रस्यानुद्भूतस्पर्शस्य सिद्धिरित्याह न त्विति।

तदुत्पत्तेरसिद्धावपि तत्तदुपाधिविधूननेन स्वाभाविकत्वस्थितौ यदि कर्तारमतिपत्य कार्यं स्यात्, स्वभावमेवातिपतेदिति कार्यविलोपप्रसङ्ग इति। एतच्च सर्व*मात्मतत्त्वविवेके* निपुणतरमुपपादितमिति नेह प्रतन्यते। एवञ्च सिद्धे प्रतिबन्धे न प्रतिबन्ध्यादेः क्षुद्रोपद्रवस्यावकाशः। प्रतिबन्धसिद्धाविष्टापादनात्, तदसिद्धौ तत एव तत्सिद्धेरप्रसङ्गादिति।

ननु तस्य सर्वदा सर्वत्राविशेषे कार्यस्य सर्वदोत्पत्तिप्रसङ्ग इति निरपेक्षेश्वरपक्षे दोषः, सापेक्षे उपेक्षणीय एवास्त्विति बालस्य प्रदीपकलिकाक्रीडयैव नगरदाहः। तन्न, स्थेमभाजो जगत एवाकारणत्वप्रसङ्गात्। ओमिति ब्रुवतः *सौगतस्य* दत्तमुत्तरं प्राक्।

आमोदः– अभ्युपेत्याह तदुत्पत्तेरिति। तथा च स्वाभाविकसम्बन्धबलादेव कार्यत्वाद्धेतोः कर्ता सेत्स्यतीत्यर्थः। उपाधिविधूननप्रकारस्याप्रपञ्चने हेतुमाह एतच्चेति। नन्वेवं शशेऽपि शृङ्गं पशुत्वात् सिद्ध्येत् योग्यबाधेऽयोग्यमपि सिद्ध्येदित्याह एवञ्चेति। व्याप्तिरेवात्र नास्ति। शृङ्गस्य योग्यसंस्थाननियमाद्बाध एवात्रेत्यर्थः। अपेक्षणीयान्तरेणान्यथासिद्धौ दण्डादेरप्यकारणत्वं स्यादित्याह स्थेमेति। स्थेमा स्थैर्यं, न तु स्थिरस्याकारणत्वं *बौद्धमत*मेवेत्याह ओमितीति। प्रागिति।

प्रकाशः– कारणत्वसिद्धावपि प्रकारान्तरेण कार्यलोपप्रसङ्गं वक्तुमाह तदुत्पत्तेरिति। ननूपाधिविधूननमेव कथमित्याह एतच्चेति। प्रतिबन्ध्यादेरिति। शशे पशुत्वाद् दृश्यशृङ्गबाधेऽप्यदृश्यशृङ्गसिद्धिरित्यादेरित्यर्थः। प्रतिबन्धसिद्धाविति। वस्तुतो विपक्षाबाधकाभावाद्व्याप्त्यभाव इत्यर्थः। प्रकृतादर्थादर्थानन्तरं शृङ्गत्वस्य योग्यसंस्थानव्यङ्ग्यत्वेनायोग्यं शृङ्गं विरोधाच्छङ्कितुमप्यशक्यं शशे शृङ्गस्यात्यन्ताभाव इति सर्वेषामबाधितप्रत्यक्षबाधश्चेति भावः। तत एव प्रतिबन्धासिद्धेरेवेत्यर्थः। अप्रसङ्ग इति शेषः शशशृङ्गादेरित्यर्थः। दत्तमिति। कार्यस्याहेतुकत्वे कादाचित्कत्वानुपपत्तिरित्यादिनेत्यर्थः।

मकरन्दः– धूमाग्निवदित्यनेनोक्तो न बोध्यः, किन्तु जाठर्य्य एव। उदाहृतस्थल एवेति जाठर्यलाभात् पूर्वोक्तयोरित्यर्थ इति व्याख्यातमिति ध्येयम्। धूमोत्पत्तिनिश्चय इति पाठे धूमपदेनैव पाक उपलक्षितः। तस्यैव जाठर्य्यवह्निसाधकत्वादुप क्रान्तत्वाच्चेति। तेनापि जाठर्य्यवह्निसिद्धिर्न स्यादित्यर्थः। उष्ममात्राच्चेति यदि पाठस्तदा उष्मपदं वायुपरमेवेति बोध्यम्। दोषान्तरमाह प्रकृतादिति।

'आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः'।। (मनुस्मृतिः१२।१०६।)

तमिममर्थमागमः संवदति, विसंवदति तु परेषां विचारम् –

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।।'
(श्वेता. उप०३।३।)

अत्र प्रथमेन सर्वज्ञत्वं, चक्षुषा दृष्टेरुपलक्षणात्। द्वितीयेन सर्ववक्तृत्वं, मुखेन वागुपलक्षणात्। तृतीयेन सर्वसहकारित्वं, बाहुना सहकारित्वोपलक्षणात्। चतुर्थेन व्यापकत्वं, पदा व्याप्तेरुपलक्षणात्। पञ्चमेन धर्माधर्मलक्षणप्रधानकारणत्वं, तौ हि लोकयात्रावहनाद्बाहू। षष्ठेन परमाणुरूपप्रधानाधिष्ठेयत्वं, ते हि गतिशीलत्वात्पतत्रव्यपदेशाः,

आमोदः– प्रथमस्तवकेन तूपनिषदादिसिद्धेऽपीश्वरे किमुक्तानुमानेन, किं वा तर्कोपवर्णनेनेत्यत आह आर्षमिति। न्यायानुसरणमन्तरेणाश्रद्धामलक्षालनमेव न भवतीत्यर्थः। तमिममिति। नित्यसर्वज्ञकर्तृत्वं क्षित्यादेरित्यर्थमित्यर्थः। प्रथमेनेति। विश्वतश्चक्षुरित्यनेन कथमेवमत आह चक्षुषेति। सर्ववक्तृत्वं सहस्रशाखवेदप्रणेतृत्वं, नायमर्थः पदस्य त(?) इत्यत आह मुखेनेति। सर्वसहकारित्वं सर्वकारणसहकारित्वम्। ननु नायं पदार्थ इत्यत आह बाहुपदेनेति। बाहुः पुरुषस्य स्वकृत्ये सहकारीति लक्षणया तत्प्रयोगः। चतुर्थेन विश्वतःपादित्यनेन व्यापकत्वं सकलमूर्तसंयोगित्वम्। ननु नायं पदार्थ इत्यत आह पदेति। बाहुपदेन धर्माधर्माभिधानाय यौगिकमर्थमाह तौ हीति।

प्रकाशः– नन्वागमादेवेश्वरसिद्धौ तत्र न्यायप्रदर्शनं व्यर्थमित्यत आह आर्षमिति। तर्कानुसन्धानं विनाऽर्षधर्मोपदेशे तात्पर्यमेव निश्चेतुमशक्यमित्यर्थः। यद्वा आगमाविरोधं न्यायमाह आर्षमिति। अस्मन्न्याये नागमविरोधोऽपि तु तत्संवादः।

मकरन्दः– शृङ्गत्वस्येति। यद्यपि शृङ्गत्वस्य योग्यसंस्थानव्यङ्ग्यत्ववदात्मनोऽपि योग्योपाधिमत्त्वनियमः। यदि च तत्संसारिमात्रविश्रान्तं तदा तदपि योग्यशृङ्ग-विश्रान्तमिति अयोग्यस्य न बाधः प्रत्यक्षेणापि, तथापि विपक्षबाधकाभाव एव मूलम्। अन्यथा पशुत्वस्य केवलान्वयित्वापत्तेः। तस्य च त्वयाऽनभ्युपगमादिति भावः। नन्वेवमपि तर्कोपदर्शनमात्रमर्हं न तु न्यायोपदर्शनमित्यताह यद्वेति। अनेनोभयोः समानविषयत्वप्रतिपादनात् विरोधमाह इत्यर्थः।।३।।

पतन्तीति। सन्धमति, सञ्जनयन्निति च व्यवहितोपसर्गसम्बन्धः। तेन संयोजयति, समुत्पादयन्नित्यर्थः। द्यावा इत्यूर्ध्वसप्तलोकोपलक्षणं, भूमीत्यधस्तात्, एक इत्यनादितेति। स्मृतिरपि –

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (भगवद् गीता १०।८) इत्यादि।

एतेन ब्रह्मादिप्रतिपादका आगमा बोद्धव्याः।३।

आयोजनात्खल्वपि –

स्वातन्त्र्ये जड़ताहानिर्नादृष्टं दृष्टघातकम्।

आमोदः– षष्ठेन पतत्रै'रित्यनेन पतन्तीति पतत्राः परमाणवोऽभिमताः। व्यवहितेति। 'छन्दसि परे व्यवहिताश्चेति (पा०सू० १।४।८१-८२) व्यवहितोपसर्गानुशासनं *पाणिनेः*। ननु ब्रह्मणो विश्वकर्तृत्वं श्रूयते, न त्वीश्वरस्येत्यत आह एतेनेति। ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वसाधनेनेत्यर्थः। ब्रह्मादीनामधिकारिपुरुषत्वेन ईश्वरस्यैव प्रयोजककर्तृत्वात् इति भावः।३।

खल्वपीति। उदाह्रियत इत्यर्थः। यद्वा, आयोजनादपि साध्यो विश्वविदव्यय इत्यर्थः। खल्वपीति निपातसमुदायस्य समुच्चयवाचित्वात्। सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकोत्पादकं कर्म स्वसमानकालीनप्रयत्नजन्यं कर्मत्वात् चेष्टावदित्यनुमानस्योपकुर्वाणं तर्कमाह स्वातन्त्र्य इति। आयोजनं हि परमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्म, तद्यदि परमाणुद्वयात् स्वतन्त्रादेव जायते तदा तेषां जड़त्वमचैतन्यं न स्यादित्यर्थः। ननु दृष्टादेव तदुत्पद्यतामत आह नादृष्टमिति। अदृष्टस्यापि दृष्टकारणसहकृतस्यैव जनकत्वादित्यर्थः। दृष्टघातकमिति।

प्रकाशः– परोक्तन्याये तु नैवमित्याह तमिममिति। व्यवहितेति। व्यवहिताश्चेत्यनेन उपसर्गसंज्ञाविधानादिति भावः। एतेन ब्रह्मादीति। ब्रह्मादिशरीरमधिष्ठाय ईश्वर एव जगत् सृजतीत्यर्थः।।३।।

खल्वपीति निपातसमुदायः उदाह्रियते – इत्यर्थे वर्त्तते, न समुच्चयार्थः। स साध्यो विश्वविदव्यय इत्यनेनान्वीयते इत्येके। साद्ध्यते इत्यनुवर्त्तते इत्यन्ये। एवमग्रेऽपि। आ युज्यते संयुज्यतेऽन्योन्यं द्रव्यमनेनेत्यायोजनं द्व्यणुकारम्भक संयोगजनकं सर्गाद्यकालीनपरमाणुकर्मात्र विवक्षितम्। तद् यदि स्वप्रयत्नादेव तेषां स्यात्, तदा परमाणूनामचैतन्यानुपपत्तिरित्याह स्वातन्त्र्ये इति। यदि च प्रयत्ननिरपेक्षाददृष्टादेव तत् स्यात्, तदा द्व्यणुकादीनामपि तत एवोत्पादः स्यादिति हेत्वन्तरोच्छेद इत्याह नादृष्टमिति। चेतनव्यापारसहितात्तस्मादिति भावः।

हेत्वभावे फलाभावो विशेषस्तु विशेषवान्।।४।।

परमाण्वादयो हि चेतनायोजिताः प्रवर्तन्ते, अचेतनत्वात्, वास्यादिवत्। अन्यथा कारणं विना कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः। अचेतनक्रियायाश्चेतनाधिष्ठानकार्यत्वावधारणात्। क्रियाविशेष-विश्रान्तोऽयमर्थो, न तु तन्मात्रगोचरः। चेष्टा हि चेतनाधिष्ठानमपेक्षते इति चेत्, अथ केयं चेष्टा नाम? यदि प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणिका क्रिया, प्रयत्नमात्रकारणिकेति वा विवक्षितम्। तन्न, तस्यैव तत्रानुपाधित्वात्। अथ हिताहितप्राप्तिपरिहारफलत्वं तत्त्वम्। तन्न। विषभक्षणोद्बन्धनाद्य

आमोदः-दृष्टकारणताविघटकमित्यर्थः। अत्र विपक्षबाधकमाह **हेत्वभावे फलाभाव** इति। चेतनव्यापारस्य हेतोरभावे कर्मैव फलं परमाणुषु नोत्पद्यत इत्यर्थः। ननु चेष्टारूपे कर्मणि चेतनापेक्षा, न तु क्रियान्तरेऽपीत्यत आह **विशेष** इति।

तर्कोपकार्यमानमाह **परमाण्वादय** इति। **तन्मात्रेति**। क्रियामात्रेत्यर्थः। **तस्यैवेति**। प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणत्वमेवात्र साधयितुमुपक्रान्तम्। साध्यञ्च नोपाधिरनुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्गादित्यर्थः। **तत्त्वमिति**। चेष्टात्वमित्यर्थः। एतच्चेष्टालक्षणेऽव्याप्तिमाह **विशेषेति**। तत्र हि न हितप्राप्तिर्न

प्रकाशः-तथा च सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकोत्पादकं कर्म स्वसमानकालीनप्रयत्नजन्यं कर्मत्वाच्चेष्टावदिति मानार्थः। विपक्षे किं बाधकमित्याह **हेत्वभाव** इति। हेतोश्चेतनव्यापार स्यान्यत्रोपलब्धस्याभावे क्रियारूपफलाभाव इत्यर्थः। ननु चेष्टारूपः क्रियाविशेषस्तथा, न तु क्रियामात्रमित्यत आह **विशेषस्त्विति**। चेष्टा हि भोक्तृगतप्रयत्नस्य प्रयोज्या, न तु प्रयत्नमात्रस्येत्यर्थः।

तर्कोपकार्यं मानमाह **परमाण्वादयो हीति**। आयोजिता उत्पादितकर्माणः प्रवर्त्तन्ते कार्यमारभन्ते इत्यर्थः। विशेषणीभूतकर्मपक्षत्वे पूर्वदर्शितानुमाने तात्पर्यम्। विशेषस्त्वित्यनिराकार्यं चेष्टात्वमुपाधिमाह **क्रियाविशेषेति**। **तस्यैवेति**। प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणत्वे हि परमाणुक्रियायां चेतनायोजितत्वमिति साध्यम्। तच्च नोपाधिः, साधनव्यापकत्वादित्यर्थः। **विषेति**। विषभक्षणादिक्रियाया

मकरन्दः- मूलोक्तस्य तस्य व्योमादौव्यभिचारात्तत्रापरितुष्यन् स्वयं तर्कोपकार्य्यमानमाह **सर्गाद्यकालीनेति**। अत एवाह **विशेषणीभूतेति**। अत एव चेष्टात्वस्योपाधित्वशङ्कापीति भावः।

व्यापनात्। इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारफलत्वमिति चेत्, कर्तारं प्रत्यन्यं वा? उभयथाऽपि परमाण्वादिक्रियासाधारण्यादविशेषः। भ्रान्तसमीहाया अतथाभूताया अपि चेतनव्यापारापेक्षणाच्च। शरीरसमवायिक्रियात्वं तदिति चेन्न। मृतशरीरक्रियाया अपि चेतनपूर्वकत्वप्रसक्तेः। जीवत इति चेन्न।

आमोदः–वाऽहितनिवृत्तिरित्यर्थः। उद्बन्धनादेरपि तत्कालमिष्यमाणत्वात्तत्संग्रहार्थं लक्षणान्तरं शङ्कते **इष्टानिष्टेति**। पक्षादव्यावृत्तादुपाधेः सधनव्यापकत्वमाह **उभयथेति**। परमाणुक्रियायास्तत्कर्तरीश्वरस्यास्मदादेश्च इच्छाविषयार्थहेतुत्वादित्यर्थः। चेतनाधिष्ठानजन्यत्वस्य साध्यस्य व्यापकोऽपीष्टानिष्टप्राप्तिपरीहारफल क्रियात्वमुपाधिरित्याह अचेतने क्रिया चेतनाधिष्ठानजन्या क्रियात्वात् शरीरक्रियावत् इत्यत्रेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारफलकक्रियात्वस्य साध्याव्यापकत्वमाह **भ्रान्तेति**। समीहा चेष्टा। **अतथाभूताया इति**। इष्टानिष्टप्राप्तिरूपफलरहिताया इत्यर्थः। **तदिति**। चेष्टात्वमित्यर्थः। तथा च न साध्याव्यापकमित्यर्थः। समव्याप्तोपाध्यभिप्रायेणाह **मृतेति**। जीवच्छरीरक्रियात्वमुपाधिरित्याह **जीवत इति**।

प्रकाशः– अहितमरणादिप्रापकत्वादित्यर्थः। **इष्टेति**। विषभक्षणाद्यनुकूलक्रियाया अपि इच्छाविषयविषभक्षणादिप्रापकत्वमस्त्येव। इच्छां विना तत्र प्रवृत्त्यभावादित्यर्थः। **उभयथाऽपीति**। परमाण्वादिक्रियायास्तत्कर्तुरीश्वरस्यास्मदादेश्चेच्छाविषयार्थ हेतुत्वादित्यर्थः। तथा च साधनव्यापकत्वादनुपाधित्वमिति भावः।

साध्याव्यापकत्वमप्याह **भ्रान्तेति**। भ्रमप्रवृत्तस्पन्दस्येष्टरजताप्रापकत्वादनिष्ट शुक्त्यपरीहारकत्वाच्च तत्र साध्याव्यापकत्वादित्यर्थः। न च रजतत्वेनेच्छाविषयस्य शुक्तेः प्रापकत्वमस्त्येवेति वाच्यम्। येन रूपेणेष्टं तद्रूप्येण प्राप्तेर्विवक्षितत्वादिति भावः। **मृतेति**। वाय्वादिना मृतशरीरक्रियायां साध्याव्याप्तेरित्यर्थः। एतच्च समव्याप्तोपाध्यभिप्रायेण। मृतेत्युपलक्षणं, जीवशरीरस्यापि वायुवशात् क्रियायां तथात्वमिति भावः। विषमव्याप्तोपाधिपक्षे तु शरीरावयवक्रियायां साध्याव्यापकत्वं

मकरन्दः– **साधनव्यापकत्वादिति**। न च कर्म्ममात्रस्य तत्प्रयत्नजन्यत्वेऽपि तत्संयोगसमवायिकारणत्वे मानाभाव इति वाच्यम्। यः स्पन्द इत्यादिप्रागुक्त व्याप्तेस्तथात्वादिति भावः। मृतशरीरे क्रियैव कथमित्यत आह **वाय्वादिनेति**। तन्नोदनादिनेति भावः। इदमपीत्युपलक्षणं, *त्वन्मतेने*त्यपि द्रष्टव्यम्। मन्मते तत एव साध्यापत्तेरिष्टत्वात्

नेत्रस्पन्दादेश्चेतनाधिष्ठानाभ्युपगमप्रसङ्गात्। स्पर्शवदद्रव्यान्तराप्रयोगे सतीति चेन्न। ज्वलनपवनादौ तथाभावाभ्युपगमापत्तेः। शरीरस्य स्पर्शवदद्रव्यान्तरा प्रयुक्तस्येति चेन्न। चेष्टयैव शरीरस्य लक्ष्यमाणत्वात्। सामान्यविशेषश्चेष्टात्वं, यत उन्नीयते प्रयत्नपूर्विकेयं क्रियेति चेन्न। क्रियामात्रेणैव तदुन्नयनात्। भोक्तृबुद्धिमत्पूर्वकत्वं यत इति चेत्, तर्हि तद्विश्रान्तत्वमेव तस्य। न चैतावतैव क्रियामात्रं प्रत्यचेतनमात्रस्य

आमोदः- नेत्रस्पन्दादेरिति। वायुमात्रकृतस्येत्यर्थः। स्पर्शवद्द्रव्यान्तराप्रयुक्त-क्रियात्वमुपाधिरित्याह स्पर्शवदिति। नेत्रक्रिया च स्पर्शवता वायुना क्रियत इत्यर्थः। ज्वलनपवनक्रिययोरदृष्टवदात्मसंयोगासमवायिकारणकयोरपि त्वन्मते चेतनाधिष्ठानप्रसङ्गादित्यपि समव्याप्तोपाध्यभिप्रायं स्पर्शवद्द्रव्यान्तरा-प्रयोज्यशरीरक्रियात्वमुपाधिमाशङ्कते शरीरस्येति। ज्वलनादिक्रियाव्यावर्तनाय, स्पर्शवदित्यादि वा नेत्रस्पन्दादिव्यावर्तनाय। अत्रान्योन्याश्रयमाह चेष्टयैवेति। शरीरावयवक्रियायां साध्याव्यापकत्वमत्रापि द्रष्टव्यम्। क्रियामात्रेणैवेति। स्वमताभिष्टम्भेन यत इति। उन्नीयत इत्यनुषङ्गः। तर्हि या चेष्टा बुद्धिमत्पूर्विका इति विशेषव्याप्तावपि या क्रिया बुद्धिमत्पूर्विकेति सामान्यव्याप्तिबलात् परमाण्वादिक्रियायां बुद्धिमत्पूर्वकत्वं स्यादेवेत्याह तर्हीति।

प्रकाशः-मन्तव्यम्। नेत्रेति। इदमपि दूषणं समव्याप्तोपाधिपक्षे। विषमव्याप्ते तु करादिक्रियायां साध्याव्यापकम्। स्पर्शवदिति। नेत्रादिस्पन्दनन्तु स्पर्शवद्वायुनोदनजन्यमिति नोक्तदोष इत्यर्थः। ज्वलनेति। *त्वन्मते* ज्वलनादिक्रिया न प्रयत्नजन्या, किन्त्वदृष्टवदात्मसंयोगजन्येत्यतस्तत्रापि समव्याप्तोपाधिपक्षे साध्यापत्तिरित्यर्थः। चेष्टयैवेति। चेष्टाश्रयः शरीरमिति लक्षणपक्षेऽन्योन्याश्रय इत्यर्थः। लक्षणान्तरे तु करादिक्रियायां साध्याव्याप्तिरिति भावः। सामान्येति। अतो नोक्तदोष इति भावः। तत्र मानमाह यत इति। क्रियामात्रेणेति। क्रियामात्रस्यैव मया प्रयत्नजन्यत्वानुमापकत्वाङ्गीकारादिति न तेनैषा जातिः सिद्ध्यतीत्यर्थः। विशेषस्येति। क्रियाप्रयत्नयोः सामान्यतः कार्यकारणभावनिश्चये साध्याव्यापकत्वमावश्यक-मिति भावः। यद्वा प्रयत्नवदात्मसंयोगजसंयोग एव साध्याव्यापकत्वमिति भावः।

मकरन्दः- त्वन्मत इति। यद्यपि सत्यन्तं शरीरगर्भोपाधिविशेषणमिति ज्वलनक्रियायां तदभावादत्रोक्तिसम्भवाभावस्तथापि तद्गर्भतायामिदं, तद्गर्भत्वेऽन्योन्याश्रय इति विकल्प्य दूषणे तात्पर्यम्।

चेतनाधिष्ठानेन व्याप्तिरपसार्यते, विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकतया सामान्यव्याप्तिं प्रत्यविरोधकत्वात्। अन्यथा सर्वसामान्य-व्याप्तेरुच्छेदादित्युक्तम्।

एतेनाशरीरत्वादिना सत्प्रतिपक्षत्वमपास्तम्। अत्राप्यागमसंवादः -

''यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति।। (मनु. १।५२)

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।। (महा.भा. वनपर्व ३०।२८)

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च''।। इत्यादि।
(भगवद्गीता ९।१०।९।१९।)

अत्र जागरस्वापौ सहकारिलाभालाभौ। ईश्वरप्रेरणाया

आमोदः- चेष्टामात्रविश्रान्तत्वमेव भोक्तृबुद्धिमत्पूर्वकत्वस्येत्यर्थः।

ननु परमाणवो न चेतनाधिष्ठिताः प्रवर्तन्ते शरीरत्वादिति सत्प्रतिपक्षः स्यादित्यत आह एतेनेति। सामान्यव्याप्तौ बाधकाभावेनेत्यर्थः। जागर्ति सिसृक्षावान् भवतीत्यर्थः। जगत् परमाणुरूपं चेष्टते क्रियावद् भवतीत्यर्थः। स्वपिति सञ्जिहीर्षुर्भवति। निमीलति निष्क्रियं भवति इत्यर्थः। जनयतीति जन्तुः परमाण्वादिः, स चाचेतनः। तथा च चेतनापेक्षास्यावश्यकी। सुखदुःखाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्ती लक्ष्येते तज्ज्ञानाधीनत्वात् तयोः। मध्याध्यक्षेणेति। मयाधिष्ठात्रा इत्यर्थः प्रकृतिर्मूलकारणं परमाणुः, सूयते आरभते। सचराचरमिति। चरेण जङ्गमेन सह वर्तमानं सचरं स्थावरमित्यर्थः। अन्यत्रापि शक्तिं दर्शयति तपामीति। वर्षातपयोरहमेव कर्ता। वर्षं निगृह्णामि अवग्रहो मदधीन एवेत्यक्षरार्थः। तात्पर्यं तु स्फुटयिष्यति सहकारीति। सिसृक्षासञ्जिहीर्षे सहकारिलाभालाभौ'।

प्रकाशः- ननु परमाणवो न चेतनाधिष्ठिताः प्रवर्त्तन्ते शरीरेतरत्वादिति सत्प्रतिपक्षता स्यादित्यत आह - एतेनेति। शरीरेतरक्रियायाश्चेष्टात्वाभावाद्भोक्तृ-प्रयत्नजन्यत्वं निवर्त्तते, क्रियामात्रे तु प्रयत्नजन्यत्वं स्यादेवेत्यर्थः। 'यदा स देव' इत्यादि *परकीयविचारे* आगमविरोधप्रदर्शनम्। अध्यक्षेण अधिष्ठात्रा प्रकृतिः परमाणुः।

मज्ञत्वमप्रयतमानत्वञ्च हेतू दर्शितौ परमाण्वादिसाधारणौ। स्वर्गश्वभ्रे चेष्टानिष्टोपलक्षणे। एतदेव सर्वाधिष्ठानमुत्तरत्र विभाव्यते, मयेत्यादिना। न केवलं प्रेरणायामहमधिष्ठाता, अपि तु प्रतिरोधेऽपि। यो हि यत्र प्रभवति, स तस्य प्रेरणावद्धारणेऽपि समर्थः। यथार्वाचीनः शरीरप्राणप्रेरण-धारणयोरिति दर्शितं तपामीत्यादिना।

धृतेः खल्वपि। क्षित्यादि ब्रह्माण्डपर्यन्तं हि जगत् साक्षात् परम्परया वा विधारकप्रयत्नाधिष्ठितं, गुरुत्वे सत्यपतनधर्मकत्वात्, वियति विहङ्गमशरीरवत्, तत्संयुक्तद्रव्यवच्च। एतेनेन्द्राग्नियमादिलोकपाल प्रतिपादका अप्यागमा व्याख्याताः। सर्वाविशनिबन्धनश्च सर्वतादात्म्य व्यवहारः, 'आत्मैवेदं सर्वमि'ति। यथैक एव मायावी अश्वो, वराहो, व्याघ्रो, वानरः, किन्नरो, भिक्षुस्तापसो, विप्र इत्यादि।

आमोदः- अप्रयतमानत्वञ्चेति। ईशिता यत्नः, अनीशोऽयतमानः, इष्टानिष्टे ईश्वरस्यैव, तेनेश्वरस्य यदिष्टं तद् गच्छति। तदारभत इत्यर्थः। अनिष्टं गच्छति ततो निवर्तत इत्यर्थः। धारकस्य प्रयत्नः, धारको वा प्रयत्नः। परम्परयेत्यत्र दृष्टान्तस्तत्संयुक्तद्रव्यवदिति। एवं सति च क्षित्यादिकं प्रत्यक्षप्रतिबद्धपतनम्, गुरुत्वे सति अपातिद्रव्यत्वादिति मानार्थः। कण्ठधृतवस्त्रादौ व्यभिचारवारणाय परम्परयेति। ननु लोकानां धृतिहेतवो लोकपाला एव न त्वीश्वर इत्यत आह एतेनेति। ईश्वरस्यैव साक्षाद्धारकत्वपरम्पराधारकत्वव्युत्पादनेनेत्यर्थः। यमादयोऽपि जगद्धारणे द्वारभूता इत्यर्थः। नन्वेवं सर्वतादात्म्यप्रतिपादकागमविरोधः स्यादित्यत आह सर्वाविशेति। सर्वत्रावेशेन प्रयत्नेनाधिष्ठानमस्येत्युपदर्शनार्थत्वात् तस्येत्यर्थः। *'आत्मैवेदं ब्रह्मैवेदं सर्वमि'*त्यागमोऽपि, अन्यथास्य सकलाभेद-प्रतिपादकत्वे प्रत्यक्षबाधः स्यादिति भावः। यद्वा, इन्द्रादिशरीरमाविश्य सर्वमिदमीश्वर एव धारयतीत्याह एतेनेति। अत्रानुरूपं निदर्शनमाह यथेति।

प्रकाशः- क्षित्यादीति। क्षित्यादिकं प्रयत्नप्रतिबद्धपतनं गुरुत्वे सत्यपातित्वादित्यर्थः। विहगादिसंयुक्तद्रव्यान्तरेण व्यभिचारनिरासाय तत् साध्येऽन्तर्भावयति साक्षात् परम्परया वेति। तत्र दृष्टान्तमाह तत्संयुक्तेति। एतेन धारकप्रयत्नधृतत्वव्युत्पादनेन। व्याख्याताः, मुख्यार्थतयेति शेषः। नन्विन्द्रादिदेवताभेदप्रतिपादकागमस्य मुख्यार्थतायामभेदप्रतिपादकागमविरोध इत्यत आह सर्वाविशेति। आवेशो ज्ञानादिमत्संयोग इति वक्ष्यते।

अदृष्टादेव तदुपपत्तेरन्यथासिद्धमिदमिति चेत्; तद्भावेऽपि प्रयत्नान्वयव्यतिरेकानुविधानेन तस्यापि स्थितिं प्रति कारणत्वात्। कारणैकदेशस्य च कारणान्तरं प्रत्यनुपाधित्वात्। उपाधित्वे वा सर्वेषामकारणत्वप्रसङ्गात्। शरीरस्थितिरेवं, न त्वन्यस्थितिरिति चेन्न। प्राणेन्द्रिययोः स्थितेरव्यापनात्। प्राङ्न्यायेनापास्तत्वाच्च। अत्राप्यागमः।

'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः' (बृह०उप० ३।८।९।) इति।

प्रशासनं दण्डभूतः प्रयत्नः।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'।। (भ.गीता १५।१७)

इति स्मृतिः। अत्रोत्तमत्वमसंसारित्वं, सर्वज्ञत्वादि च। परमत्वं सर्वोपास्यता। 'लोकत्रयमि'ति सर्वोपलक्षणम्। आवेशो ज्ञानचिकीर्षा प्रयत्नवतः संयोगः। भरणं धारणम्। अव्ययत्वमागन्तुकविशेषगुणशून्यत्वम्। ऐश्वर्यं सङ्कल्पाप्रतिघात इति। एतेन कूर्मादिविषया अप्यागमा व्याख्याताः।

आमोदः- तत्सद्भावेति। नादृष्टं दृष्टघातकमित्युक्तत्वादित्यर्थः। सर्वेषामिति। एकेनान्यस्यान्यथासिद्धशङ्काग्रस्तत्वादित्यर्थः। एवमिति। प्रयत्नप्रतिबद्धगुरुत्वेत्यर्थः। यत्र प्रयत्नप्रतिबन्धागुरुत्वं तत्र शरीरत्वमित्यत्र साध्याव्यापकत्वमाह प्राणेति। शरीरावयवेदन्तादौ च साध्याव्यापकत्वम्। प्राङ्न्यायेनेति। शरीरपदेनात्र साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयत्वं वा विवक्षितमिन्द्रियाश्रयत्वं वा भोगायतनत्वञ्चेत्यर्थः। यद्वा, विशेषस्तु विशेषवानित्यादिनेत्यर्थः। अक्षरस्य नित्यस्य, द्यौः सुरलोकः, दण्डभूत इत्यभिधानं 'प्रशासन पदार्थतया यत्नमात्रं तु विवक्षितम्। उत्तम-परमपदयोरर्थं भेत्तुमाह अत्रेति। सर्वोपलक्षणमिति। अन्यथा एकादशभुवनानामधार्यत्वमन्यधार्यत्वं व स्यादिति भावः। बिभर्तीति। प्रकृत्यर्थं प्रकृतार्थपरतया व्याचष्टे-भरणमिति। उत्तमपदादेव नित्यत्वे लब्धेऽव्ययपदस्यैव वैयर्थ्यमाशङ्क्याह-अव्ययत्वमिति। संयोगादि शून्यत्वमनुपपन्नमत आह विशेषेति परमपदेनोत्तमपदेन वा ऐश्वर्ये लब्धे तदुपादानवैयर्थ्यमाशङ्क्याह ऐश्वर्यमिति। एतेनेति। कूर्मादिशरीरपरिग्रहेण ईश्वरस्यैव क्षित्यादिधारकत्वादित्यर्थः।

प्रकाशः- तद्भावेऽपीति। पतनप्रतिबन्धकसंयोगभेदः स्थितिः। अत एव वायुसंयोगादाकाशपत्रस्थितिवत् सा स्यादित्यपास्तम्। अनुपाधित्वादिति। साधनव्यापकत्वादित्यर्थः। प्राङ्न्यायेन, विशेषश्च विशेषवानिति न्यायेनेत्यर्थः।

संहरणात् खल्वपि। ब्रह्माण्डादि द्व्यणुकपर्यन्तं जगत्, प्रयत्नवद्विनाश्यं विनाश्यत्वात्, पाट्यमानपटवत्। अत्राप्यागमः –

'एष सर्वाणि भूतानि समभिव्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं सम्भ्रामयति चक्रवत्।।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकीम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्'।। (भ.गी. ९।७)

इत्यादि। एतेन रौद्रमंशं प्रतिपादयन्तोऽ*प्यागमा* व्याख्याताः।।४।।

आमोदः– संहरणादिति। प्रयत्नवद्विनाश्यमिति। तथा चार्वाचीनस्य तादृशद्वेषाभावे पुरुषधौरेयसिद्धिरित्यर्थः। तथा च प्रयोगः–ब्रह्माण्डादि स्वजनकप्रयत्न समानकालीनचरमकारणकनाशप्रतियोगिजन्यत्वात्, तत्कालघटितविघटित घटवदिति। अन्येषां पक्षसमत्वादेव न व्यभिचारः। **मूर्तिभिरिति।** रुद्रादि-मूर्तिभिरित्यर्थः। **संभ्रामयतीति** उत्पाद्य विनाशयति विनाश्योत्पादयति इत्यर्थः। **सर्वभूतानीति।** प्रलयावस्थायां परमाणुमात्रविशिष्टानीत्यर्थः। **प्रकृतिमिति।** यामादिकारणमाहुस्तां सिसृक्षां यान्ति, पुनः सर्गायापेक्षन्ते इत्यर्थः। **विसृजामि** सर्गानुकूलानि करोमीत्यर्थः। **एतेनेति।** ईश्वरस्यैव संहारकर्तृत्वप्रतिपादनेनेत्यर्थः। **व्याख्याताः** ईश्वरपरतया।४।

प्रकाशः– किमिदं शरीरत्वं यत्साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठितत्वे परमाणूनां प्रसज्ज्यते इत्यादिना वेत्यर्थः। धृत्यादेरित्यादिपदसंग्राह्यमाह **संहरणादिति। ब्रह्माण्डादीति।** ब्रह्माण्डादिकं स्वजनकप्रयत्नसमानकालीनचरमकारणनाशप्रतियोगीति साध्यार्थः। **सर्वभूतानीति।** परमाणुमात्रावशिष्टानीत्यर्थः।

मकरन्दः– ननु साक्षात् परम्परया वेति न समुच्चयः, एकत्रोभयथाधिष्ठानाभावात्। प्रत्येकगर्भसाध्ये च व्यभिचार इत्यत आह **प्रयत्नप्रतिबद्धपतनमिति।** एतेन मूले व्यर्थविशेषणमपि सूचितम्। **मुख्यार्थतयेति शेष इति।** धारकप्रयत्नात्तदाश्रयाच्च भेदसिद्धावद्वैतनिरासे इन्द्रादि देवतानां परस्परभेद-प्रतिपादकागमा मुख्यार्था एवेत्यर्थः। **आवेश इति।** ज्ञानादिमता ईश्वरेण संयोगः सम्बन्धः साक्षात्परम्परासाधारण इत्यर्थः। **वक्ष्यते इति।** यो लोकत्रय-माविश्येत्यत्रावेशपदव्याख्यानावसरे मूल एव। **अत एवेति।** प्रयत्नान्वय-व्यतिरेकानुविधानेन स्थितिं प्रति तद्धेतुत्वादेवेत्यर्थः। नन्वदृष्टद्वारा अस्मदादि-नाश्यत्वेनार्थान्तरमित्यनुशयादाह **स्वजनकेति। स्वजनकप्रयत्नेत**

पदात् खल्वपि –

कार्यत्वान्निरुपाधित्वमेवं धृतिविनाशयोः।
विच्छेदेन पदस्यापि प्रत्ययादेश्च पूर्ववत्।।५।।

पदशब्देनात्र पद्यते गम्यते व्यवहाराङ्गमर्थोऽनेनेति वृद्धव्यवहार एवोच्यते। अतोऽपीश्वरसिद्धिः। तथा हि – यदेतत् पटादिनिर्माणनैपुण्यं कुविन्दादीनां, वाग्व्यवहारश्च व्यक्तवाचां, लिपितत्क्रमव्यवहारश्च बालानां, स सर्वः स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तो, व्यवहारत्वात्, निपुणतरशिल्पि निर्मितापूर्वघटघटनानैपुण्यवत्, चैत्रमैत्रादिपदवत्, पत्राक्षरवत्, पाणिनीयवर्णनिर्देशक्रमवच्चेति।

आमोदः– ननु घटादिनाश एव प्रयत्नपूर्वको न तु ब्रह्माण्डनाशोऽपीत्यत्र 'विशेषस्तु विशेषवान्', न तु सामान्यव्याप्तौ विशेषस्योपाधित्वं धूमानुमानादिविप्लवप्रसङ्गादिति यत् पूर्वमुक्तं तदेतद्वर्तिष्यमाणहेतुष्वप्यतिदिशति कार्यत्वादिति।

यथा धृतिविनाशयोः कार्यकारणभावो निरुपाधित्वग्राहकः, एवं पदस्यापि व्यवहारस्यापि न त्वादिमत्वमुपाधिः स्यादत आह विच्छेदेनेति। प्रलये विच्छेदेन प्रयोज्यप्रयोजकवृद्धाभावात्। घटादिनिर्माणे घटादिपदव्युत्पत्त्यभावादाद्य व्यवहारप्रवर्तक ईश्वरोऽभ्युपगन्तव्य इत्यर्थः। 'पद'पदमीश्वरादिपरं सार्थमिति द्वितीयव्याख्यानाद्धेतुं व्युत्पादयति पदशब्देनेति। व्यक्तवाचो मनुष्याः, स्वातन्त्र्यञ्च पुरुषस्य तज्जातीयव्यवहारानुपजीवित्वम्। अत्र पक्षभेदेन दृष्टान्तात् क्रमेणाह निपुणतरेत्यादि। व्यवच्छेदेत्यादि प्रतीकं व्याचष्टे।

प्रकाशः– ननु नाशविशेष एव प्रयत्नपूर्वकोऽन्यस्त्वन्यथापि भविष्यतीत्याशङ्क्य वृत्तसमाधानं कुर्वाण एव ग्रन्थलाघवाय वर्त्तिष्यमाणेऽप्यतिदिशति कार्यत्वादिति। यथा धृतिविनाशयोः कार्यकारणभावो विपक्षे बाधको निरूपाधित्वग्राहकः। तथा पदस्यापि स एव तद्ग्राहक इत्यर्थः। न चादिमत्त्वमुपाधिः। प्रलये विच्छेदादनादित्वाभावेन साधनव्यापकत्वादित्याह विच्छेदेनेति। प्रत्ययादिहेतुष्वपि पूर्ववत् कार्यकारणभाव एव विपक्षबाधक इत्यर्थः।

व्यक्तवाचो मनुष्याः। स्वतन्त्रेति। तज्जातीयव्यवहारानुपजीवित्वं पुरुषस्य स्वातन्त्र्यम्। साध्येषु क्रमेण दृष्टान्ताः– निपुणेत्यादि।

मकरन्दः– समानकालीनं चरमकारणं यस्य नाशस्य तत्प्रतियोगीत्यर्थः। अदृष्टद्वारकप्रयत्नस्यापि कालादिकारणसमानकालीनतयाऽर्थान्तरतादवस्थ्यमत उक्तं चरमेति। कालीनादिसमानकालीनत्वमादायार्थान्तरत्वमत आह प्रयत्नेति।

आदिमान् व्यवहार एवम्, अयं त्वनादिरन्यथापि भविष्यतीति चेन्न। तदसिद्धेः। आदिमत्तामेव साधयितुमयमारम्भः। न चैवं संसार स्यानादित्वभङ्गप्रसङ्गः, तथापि तस्याविरोधात्। न हि चैत्रादिव्यवहारो ऽयमादिमानिति भवस्याप्यनादिता नास्ति। तदनादित्वे वा न चैत्रादिपदव्यवहारोऽप्यादिमानिति। अस्त्वर्वाग्दर्शी कश्चिदेवात्र मूलमिति चेन्न। तेनाशक्यत्वात्। कल्पादावादर्शाभासस्याप्यसिद्धेः। साधितौ च सर्गप्रलयौ।

ननु व्यवहारयितृवृद्धः शरीरी समधिगतो, न च ईश्वरस्तथा, तत्कथमेवं स्यात्। न, शरीरान्वयव्यतिरेकानुविधायिनि कार्ये तस्यापि तद्वत्त्वात्।

आमोदः–अनादित्वमुपाधिमाशङ्कते आदिमानिति। अन्यथापीति। स्वतन्त्रपुरुष-मन्तरेणापीत्यर्थः। तद्सिद्धेरिति। अनादित्वासिद्धेरित्यर्थः। स्वतन्त्रपुरुषाधीनत्वे नादिमत्तैव सेत्स्यतीत्याह आदिमत्तामेवेति। न त्वपसिद्धान्त इत्यत आह न चैवमिति। तथापीति। संसारानादित्वेऽपि प्रकृतव्यवहारस्यादिमत्त्वाविरोधादित्यर्थः। यद्वा, प्रकृतव्यवहारस्यादिमत्त्वेऽपि संसारस्यानादित्वाविरोधादित्यर्थः। सर्गध्वंस व्याप्यप्रागभावप्रतियोगित्वं संसारानादित्वम्। प्रकृतव्यवहारस्य च स्वतन्त्र पुरुषाधीनत्वमादिमत्त्वमिति न विरोध इति भावः। एतदेव दृष्टान्तेनोपपादयति न हीति। प्रकृतहेत्वन्यथासिद्धिं शङ्कते अस्त्विति। लिप्यादिमूलमादर्शः। ननु यदि प्रलयेन विच्छेदः स्यात् तदादर्शाभावः स्यात्। नत्वेवमत आह साधिताविति। अस्मदाद्यदृष्टाधीनमीश्वरस्यापि शरीरमित्याह शरीरेति।

प्रकाशः- आदिमानिति। सादिव्यवहारत्वमुपाधिरित्यर्थः। अन्यथापीति। स्वतन्त्रपुरुषं विनापीत्यर्थः। तथापीति। पूर्वपूर्वसर्गेऽपि तज्जातीयव्यवहारस्येश्वर-पूर्वकत्वादित्यनादित्वं न विरुद्ध्यते इत्यर्थः। इदानीन्तनापूर्वव्यवहारस्य सादित्वेऽपि न भवस्यानादित्वं हीयते इत्याह न हीति। तदनादित्वे इत्यत्रापि न हीत्यनुषज्ज्यते। आदर्शेति। यद्व्यवहारं दृष्ट्वा व्यवह्रियते, सोऽपि नास्तीत्यर्थः। शरीरान्वयेति। ईश्वरस्यादृष्टाभावेऽपि तच्छरीरसाध्यहेतुकास्मदादिभोगसम्पादकादृष्टादेवेश्वरस्य शरीरोत्पत्तिरिति भावः।

मकरन्दः- उदासीनप्रयत्नसिद्ध्याऽर्थान्तरमत उक्तं स्वजनकेति। *केचित्तु* उदासीनसिद्धावप्रयोजकत्वमिति विपक्षबाधकसूचनाय तदित्याहुः। स्वपदं चरमकारणपरं ध्वंसपरं वा। न चैवं साध्याप्रसिद्धिः, अस्मदादिप्रयत्नस्यैव दृष्टान्तत्वात्। तन्नाशचरमकारणस्य

गृह्णाति हि ईश्वरोऽपि कार्यवशाच्छरीरमन्तरान्तरा, दर्शयति च विभूतिमिति। अत्राप्यागमः –

'पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः' (भगवद् गीता ९।१७)

तथा – 'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।

उत्सीदेयुरमी लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्'
(भगवद् गीता ३।२३-२४।) इति।

एतेन 'नमः कुलालेभ्यः, कर्मरिभ्यः' इत्यादि यजूंषि बोद्धव्यानि।

आमोदः– अत्रोपजीव्यसंगतिमाह गृह्णाति हीति। विभूतिरिति। ब्रह्माद्यवतारादीत्यर्थः। पिताहमस्येति। जगतोऽभिनवपटादिनिर्माणरूपस्य पिता जनकः। माता पालकः, धाता रक्षकः, पितामहो जनकस्यापि जनक इत्यर्थः। यद्यहं कर्मण्यतन्द्रितोऽनलसो न वर्तेयं न स्याम, ततश्च यदि कर्म न कुर्यां, तदा अमी लोकाः लोक्यमाना व्यवहारा उत्सीदेयुरुच्छिन्ना भवेयुरित्यर्थः। ननु कथमेतावतैवोत्सीदेयुरत उक्तम् ममे'त्यादि। मदुपदिष्टेन वर्त्मना मनुष्या वर्तन्ते व्यवहरन्तीत्यर्थः। एतेनेति। कुलालादिदेहमुपगृह्य ईश्वर एव प्रवर्तक इति साधनेनेत्यर्थः। प्रत्ययादपीति। साध्यो विश्वविदव्ययः इत्यनुषङ्गः। लिङ्गादिप्रत्ययादिति व्याख्यानान्तराद् व्यवच्छेतुं विषयिणा विषयमुपलक्षयति प्रत्ययशब्देनेति। सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्यायेति सम्प्रदायः। आगमश्चासौ सम्प्रदायश्चेति आगमसम्प्रदायः। प्रवाहो वा सम्प्रदायः। कारणं

प्रकाशः– पिताहमस्येति। अस्य जगतोऽहमेव पित्रादिरित्यर्थः। यदि ह्यहमिति। यदि ह्यहं न वर्त्तेयं तदा लोक्यन्ते इति लोकाः प्रामाणिकव्यवहारा उत्सीदेयुरिति व्यवहितेनान्वयः। अत्र हेतुः – मम वर्त्मेति। एतेन–घटादिव्यवहारस्य स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वव्युत्पादनेन। कुलालादिदेहवत ईश्वरस्य तथाभावादित्यर्थः।

प्रत्ययपदं समाश्वासशक्तं तत्सम्बन्धि तद्विषयं प्रामाण्यं लक्षयतीत्याह – प्रत्ययशब्देनेति। तथा चेति। *आगमस्य* सम्प्रदायः प्रवाहः प्रमात्व प्रयोजकवाक्यार्थप्रमाणरूपगुणजन्यो यथार्थचिख्यापयिषादिवक्तृगुणजन्यो वा

मकरन्दः–स्वविषयकसाक्षात्कारस्य स्वजनकप्रयत्नेन विषयीभूतेन समानकालत्वात्। यत्नध्वंसकारणयत्नसमानकालीनस्वसाक्षात्कारहेतुक नाशप्रतियोगित्वाच्च। पटादिश्च पक्षसम इति न तेषु व्यभिचारः। पित्रादिरिति। व्यवहारयितृत्वादिति भावः। ननु मूले कारणपदवैयर्थ्यं, अदृष्टादिजन्यत्वमादायार्थान्तरं, मनसि व्यभिचारश्चेत्यन्यथा व्याचष्टे प्रमात्वप्रयोजकेति। एतच्च विपक्षबाधकसूचनाय, न तु साध्ये प्रविष्टम्, अत

प्रत्ययोऽपि। प्रत्ययशब्देनात्र समाश्वासविषयप्रामाण्यमुच्यते। तथा च प्रयोगः – आगमसंप्रदायोऽयं कारणगुणपूर्वकः, प्रमाणत्वात्, प्रत्यक्षादिवत्। न हि प्रामाण्यप्रत्ययं विना क्वचित् समाश्वासः। न चासिद्धस्य प्रामाण्यस्य प्रतीतिः। न च स्वतः प्रामाण्यमित्यावेदितम्। न च नेदं प्रमाणं, महाजनपरिग्रहादित्युक्तम्। न चासर्वज्ञो धर्माधर्मयोः स्वातन्त्र्येण प्रभवति। न चासर्वज्ञस्य गुणवत्तेति निःशङ्कमेतत्।

श्रुतेः खल्वपि। तथा हि – सर्वज्ञप्रणीता वेदाः, वेदत्वात्। यत्पुनर्न सर्वज्ञप्रणीतं नाऽसौ वेदो, यथेतरवाक्यम्। ननु किमिदं वेदत्वं नाम? वाक्यत्वस्यादृष्टविषयवाक्यत्वस्य च विरुद्धत्वात्। अदृष्टविषय प्रमाणवाक्यत्वस्य चासिद्धेः। मन्वादिवाक्ये गतत्वेन विरोधाच्चेति चेन्न।

आमोदः–यो गुणस्तत् पूर्वक इत्यर्थः। प्रत्यक्षादिवदिति। प्रत्यक्षे सन्निकर्षे अनुमाने यथार्थपरामर्शः। समाश्वास इदमित्थमेवेति संप्रत्ययः। स च प्रामाण्यग्रहाधीनः, प्रामाण्यस्योत्पत्तौ गुणो हेतुः, गुणश्च शाब्दे ज्ञाने वक्तृयथार्थज्ञानमित्यादि प्रमायाः परतन्त्रत्वादित्यादिना साधितमेवेत्यर्थः। ननु ज्ञानमात्रहेत्वधीनत्वं स्वतस्त्वमेव प्रामाण्यस्य, न तु गुणजन्यत्वमत आह न चेति। ननु वेदजन्या प्रमैव न भवतीत्यत आह न च नेदमिति। ननु तथाप्यस्मदादिगुणजन्यत्वं स्यादित्यत आह न चेति। स्वातन्त्र्येणेति। वेदं विना नास्मदादेर्धर्माधर्मज्ञानमित्यर्थः। हेतूकृतं वेदत्वमाक्षिपति नन्विति। अस्मदादिविसंवादिवाक्ये सर्वज्ञपूर्वकत्वं विरुद्धमदृष्टविषयकास्मदविसंवादिवाक्ये वा दृष्टविषयवाक्यत्वं विरुद्धमत आह वाक्यत्वस्येति। व्यभिचारितो व्यतिरेकी विरुद्ध इति सिद्धान्तानुसारात्।

प्रकाशः– प्रमाणशब्दत्वात् लौकिकप्रमाणशब्दवदित्यर्थः। लक्षणाबीजं सम्बन्धमाह न हीति। न च प्रमाणत्वमसिद्धं, प्रामाण्याज्ञाने पारलौकिके कर्मणि वेदबोधिते प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यनुपपत्तेरित्याह न चेति। तथापि तेन वक्तृगुणपूर्वकेणैव भाव्यमित्यसिद्धमित्यत आह न च स्वत इति। तथापि वक्तुः सार्वज्ञ्यं कुतः सिद्ध्यतीत्याह न चेति। तथाहीति। यद्यपि परैः सर्वज्ञानङ्गीकारात्तत्प्रणीतत्वं परं प्रत्यसिद्धं, तथाप्यात्मत्वमसंसारिवृत्ति जातित्वात् पटत्ववत्। स चासंसारी किञ्चिद्वाक्यप्रणेता पुरुषत्वादिति साध्यप्रसिद्धौ, *वेदा* असंसारिपुरुषप्रणीता इति साध्यम्। न चास्मदाद्युच्चरिते वेदे व्यभिचारः। वेदज्ञानाजन्यज्ञानजन्यत्वस्य साध्यत्वादिति भावः। विरुद्धत्वादिति। प्रतारकवाक्यस्याप्यदृष्टविषयत्वादित्यर्थः। मन्वादीति। मन्वादिवाक्यस्याप्य –

अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वे सति महाजनपरिगृहीत वाक्यत्वस्य तत्त्वात्। न ह्यस्मदादीनां प्रत्यक्षादि मूलम्। नाऽपि भ्रमविप्रलिप्से, महाजन परिग्रहादित्युक्तम्। नापि परम्परैव मूलं, महाप्रलये विच्छेदादित्युक्तम्।

आमोदः- अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वे सतीति। मन्वादिवाक्यव्यवच्छेदाय। महाजनपरिगृहीतवाक्यत्वादिति। *सुगताद्यागम*व्यवच्छेदाय। प्रथमविशेषणा सिद्धिमाह न ह्यत्रेति। द्वितीयविशेषणासिद्धिमाह नापीति। अन्यथासिद्धिं निरस्यति नापीति। यद्यपि शाखासहस्रस्य प्रतिपादकत्वाभावात् वाक्यत्वमसिद्धम्। न च शाखासमुदायत्वमेव वेदत्वम्, शाखाया वेदनिरूप्यत्वेनात्माश्रयत्वात्। नापि वेदत्वं शब्दगतोऽपीति विशेषणं देवदत्तीयत्वाद्यनुमापकजातिसङ्करात्। स्वर्गकामादिपद समभिव्याहृतवाक्यत्वं च स्मृतावतिव्यापकत्वात् विरुद्धार्थम्, नापि शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थत्वे सति शब्दजन्यवाक्यार्थज्ञानाजन्यप्रमाणशब्दत्वं तत्। यद्यपि शब्दत्वं यत्किञ्चिच्छब्दे विरुद्धं, प्रमाणशब्दत्वं च तथा। ज्ञानाजन्यप्रमाणशब्दत्वमसम्भवि। वाक्यत्वेति विशेषणेऽपि तथा। जन्यवाक्यार्थज्ञानाजन्येत्यत्र जन्यपदव्यावर्त्याभावः।

प्रकाशः- दृष्टविषयप्रमाणत्वादित्यर्थः। अनुपलभ्यमानेति। मन्वादिवाक्ये च वेदस्यैव मूलान्तरस्योपलभ्यमानत्वादित्यर्थः। ननु वाक्यत्वमसिद्धम्, समुदायस्याप्रतिपादकत्वात्। न च शाखासमुदायो वेदः। तस्य वेदनिरूप्यत्वात्। नापि महाजनानां *वेदा*कारानुगतव्यवहाराद्वेदत्वं जातिः। देवदत्तीयत्वानुमापकशब्द-वृत्तिजातिभिः सङ्करप्रसङ्गात्। नापि स्वर्गकामादिशब्दः। *स्मृत्यादौ* तथात्वात्।

उच्यते। शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थकत्वे सति शब्दाजन्यवाक्यार्थज्ञानजन्यप्रमाणशब्दत्वं वेदत्वम्। ईश्वरप्रमाया अजन्यत्वात्।

मकरन्दः- एवाग्रिमसाध्ये नोपात्तम्। अव्यापकत्वमादायार्थान्तरमित्यरुचेराह यथार्थेति। न चात्रापि दोषतादवस्थ्यम्, अस्मदादेरनुवक्तृतया वक्तृत्वाभावात्, स्वतन्त्रवक्तृपरत्वाद्वा। न चाप्रयोजकत्वम्, अन्यथा दुःखित्वमसंसारिवृत्ति धर्म्मत्वादित्यादिकमपि स्यादिति वाच्यम्। ईश्वरप्रतिपादकागमादेर्विपक्षबाधकस्य सत्त्वात्तत्र च तदभावात्। न चास्मदादीति। ननु तस्य पक्षत्वात् पक्षसमत्वाद्वा कथं तत्र व्यभिचारः। अन्यथा वेदज्ञानाजन्येत्यादिसिद्धान्ते का गतिः। यदि चाजन्यज्ञानमादाय तत्र

अन्वयतो वा, वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि, वाक्यत्वात्, अस्मदादिवाक्यवत्। अस्मर्यमाणकर्तृकत्वान्नैवमिति चेन्न। असिद्धेः।

आमोदः- शब्दजन्येति कृते प्रत्यक्षदृष्टार्थवक्तृवाक्ये विरुद्धं जन्यप्रमित्यविषयार्थकत्वेऽसम्भवि। जन्यपदव्यावर्त्याभावश्च प्रमाया जन्यप्रमित्यविषयार्थकत्वे सतीत्यसम्भवि। शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तत्वेन प्रमाणविशेषणान्नोक्तदोषः। तथापि प्रमेयत्वसामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या यत् प्रत्यक्षं योगजधर्माधीनं च यत् प्रत्यक्षं तद्विषयकार्थत्वात् शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थकत्वं विशेषणं स्वरूपासिद्धम्। किंस्विद्विश्वस्य भेषजमित्यादौ भागासिद्धं वेदादर्थं प्रतीत्याऽस्मदाद्युदीरितवेदभागे शब्दजन्यवाक्यार्थज्ञानाजन्यमसिद्धमतो यथान्यायेन वा दुष्टं कृतमर्थन्यासेन। **वाक्यादिति**। संगृहीतं हेतुं व्याचष्टे **अन्वयतो वेति। पौरुषेयाणीति**। स्वजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चरितजातीयानीत्यर्थः। तेन तदर्थधीजन्यत्वे तदुच्चारणधीजन्यत्वे वा साध्ये व्यापकजन्यत्वेन सिद्धसाधनम्, स्वतन्त्रपुरुषप्रणीतत्वे च साध्ये इदानीं पठ्यमाने वेदे भागासिद्धिः, तज्जातीयत्वे च साध्ये स्मृत्यादौ व्यभिचार इत्यपास्तम्।

प्रकाशः- वेदार्थस्यानुमानादिविषयत्वेऽप्यनुमानादे*र्वेदो*पजीवकत्वात्। *स्मृत्या*दीनां वेदसमानार्थत्वेऽपि शब्दजन्यधीजन्यत्वात्। *वेदा*दर्थं प्रतीत्य तत्प्रणयनात्।

वाक्यादिति सङ्गृहीतं हेतुं व्याचष्टे **अन्वयतो वेति**। ननु किं पौरुषेयत्वम्?। न तदर्थधीजन्यत्वं, तदुच्चारणधीजन्यत्वं वा। अध्यापकतदुभयजन्यत्वेन सिद्धसाधनात्। नापि स्वतन्त्रपुरुषप्रणीतत्वम्। इदानीं पठ्यमाने *वेदे* तदभावात्। न च स्वतन्त्रपुरुषप्रणीतजातीयत्वं साध्यम्। आद्यस्मृत्यादौ व्यभिचारात्। तज्जातीयस्य स्वतन्त्रपुरुषप्रणीतत्वाभावात्। नाप्यर्थं प्रतीत्य तदर्थपरतया प्रतिसन्धीयमानपदत्वं पौरुषेयत्वम्। अर्थज्ञानवताध्यापकेन सिद्धसाधनात्।

मकरन्दः- साध्यसत्त्वमिति व्यतिरेकित्वमविकलं, तदाश्रयपुरुषमादाय प्रकृतेऽपि तथेति तुल्यमिति चेत्, न। असंसारिपुरुषप्रणीतत्वं तत्कण्ठताल्वाद्युच्चरितत्वमभिप्रेत्य व्यभिचारदर्शनात्। एतदभिप्रायेणैव मूले *मन्वा*दिवाक्ये व्यभिचारोद्भावनम्, अन्यथा तस्यापि सर्वज्ञप्रणीतत्वेन तदभावात्। अन्यथा तु चिन्त्यम्। **वेदज्ञानाजन्येति**। अप्रसिद्धिवारणाय वेदज्ञानेति विशेषणम्। अस्मदाद्युच्चरितवेदस्यापि पक्षत्वादजन्यज्ञानमादाय साध्यसत्त्वात्तत्र न व्यभिचारः। न चैवं वेदत्वहेतुविवेचने व्यर्थविशेषणत्वम्। अखण्डाभावतया व्याप्तिग्रहे तदभावात्। वस्तुतस्तथा सति

'अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।
प्रतिमन्वन्तरञ्चैषा श्रुतिरन्या विधीयते'।। (तन्त्रवार्त्तिकम् १।३।७)
'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्', इति स्मृतेः (भगवद् गीता १५।१५)।

'तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादिश्रुति पाठकस्मृतेश्च।

अर्थवादमात्रमिदमिति चेन्न। कर्तृस्मरणस्य सर्वत्राविध्यर्थत्वात्। तथा

आमोदः–*आद्यस्मृतिपुराणभारतेषु* स्वजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चरितजातीयत्वसत्त्वान्न व्यभिचारः। ननु यदि वेदः सकर्तृकः स्यात् तदा *रघुकाव्यादौ कालिदासा*देरिव कर्तुः स्मरणं स्यात् इत्याह स्मर्यमाणेति। प्रकृतेऽपि कर्तुः स्मरणमस्त्येवेत्याह अनन्तरञ्चेति। श्रुतिपाठकेति। श्रुतिपाठकानां या *स्मृति*स्तत इत्यर्थः। तथा चेति। श्रुतेरित्येवार्थः पर्यवस्यति, श्रुत्युपाधिकस्मृतेश्चेति पाठे श्रुत्युपाधिका स्मृत्यर्थप्रतिपादिकेत्यर्थः। ननु कार्यान्वित एव वृद्धव्यवहाराधीना शक्तिरिति तदेव प्रमाणं न त्वर्थवादोऽपीत्याह अर्थवादेति। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत (छान्दोग्य०।६) रुद्रः किल रुरोद इत्याद्यर्थवादानां मुख्यार्थपरत्वे बाधकाभावात् अर्थवादानामपि प्रमाणत्वात्। अत एव 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्' इत्यादीनामपि प्रमाणत्वमन्यथा स्वर्गपदशक्तिग्रहानुपपत्तेरित्यभि–प्रायवानाह कर्तृस्मरणस्येति।

प्रकाशः– अत्राहुः – सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चरितजातीयत्वं पौरुषेयत्वम्। आद्यस्मृतावपि तज्जातीयत्वान्न व्यभिचारः। यद्वा वेदत्वं सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चरितवृत्ति प्रमाणत्वावच्छेदकवाक्यधर्मत्वात्। स्मृतित्ववत्। यज्ञादिति। यज्ञो विष्णुः। ननु वेदे कर्त्तृस्मरणमर्थवादतया न मानम्, कार्यान्वितज्ञानजनकस्यैव पदस्य शक्तिग्रहादित्याह अर्थवादेति। 'आदित्यो वै यूप' इत्यादेरर्थवादस्य मुख्यार्थत्वे बाधकादप्रमाणत्वात्। स्तुतिपरत्वेऽपि प्रकृते बाधकानां निरासादविध्यर्थस्यापि मुख्यार्थत्वमेव। अन्यथा 'यन्न दुःखेन सम्भिन्न'मित्यादेरपि स्वार्थपरित्यागप्रसङ्गात्। *कालिदास*स्मरणेऽपि विध्यभावात् तत्काव्यस्याप्य–कर्त्तृकत्वप्रसङ्गात्। सकर्तृकत्वे वा तत्रैवायं हेतुरनैकान्त इत्याह कर्त्तृस्मरणस्येति।

मकरन्दः– व्यतिरेकिणि व्यर्थविशेषणत्वं नोद्भाव्येत। न चेष्टापत्तिः, कथकसम्प्रदायविरोधात्। नीलधूमस्यापि व्यतिरेकितया गमकत्वापत्तेः। यदि च व्यतिरेकसहचारेणान्वयव्याप्तिरेव गृह्यते इति मतं, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यमिति पूर्वास्वरसादेवान्वयतो वेति कल्पान्तरमिति। समुदायस्येति। पदवाक्यसमुदायविशेषो वेदः पक्षः, तत्र विशिष्टैकार्थप्रतिपादकत्वरूपस्य

चास्मरणे *कालिदासादेरस्मरणात्।* एवञ्च *कुमारसम्भवादेर-*कर्तृकत्वप्रसङ्गः। अनैकान्तिकत्वं वा हेतोः। प्रमाणान्तरागोचरार्थत्वात् सत्प्रतिपक्षत्वमिति चेन्न। प्रणेतारं प्रत्यसिद्धेः, अन्यं प्रत्यनैकान्तिकत्वात्। आकस्मिकस्मितबीजसुखानुस्मृतेः कारणविशेषस्यान्यं प्रति प्रमाणान्तरागोचरस्यापि तेनैव वक्त्रा प्रतिपाद्यमानत्वात्। वक्तैव प्रकृते

आमोदः- अनैकान्तिकत्वमिति। अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं कुमारसम्भवादौ न चापौरुषेयत्वमित्यनैकान्तिकत्वमित्यर्थः। तत्स्मरणस्यार्थवादत्वेन त्वया प्रामाण्यानभ्युपगमादिति भावः। ननु वेदाः न पौरुषेयाः प्रमाणान्तरागोचरार्थत्वादिति व्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षितमेतदित्याह प्रमाणेति। प्रणेतुरीश्वरस्य शब्दापेक्षया यत्प्रमाणान्तरं प्रत्यक्षं तद्गोचरार्थत्वं वेदेऽप्यस्तीति स्वरूपासिद्धिरित्याह प्रणेतारमिति। अनैकान्तिकत्वं स्फुटयति आकस्मिकेति। उत्तमाङ्गना काचित् स्वप्ने मया दृष्टेति वाक्ये पौरुषेयत्वे सत्यपि वक्तृभिन्नपुरुषप्रमाणान्तरा गोचरार्थत्वसत्त्वादनैकान्तिकत्वमित्यर्थः। वेदे पौरुषेयत्वानुमाने बाधमाह वक्तैवेति।

प्रकाशः- प्रमाणान्तरेति। *वेदा* न पौरुषेयाः प्रमाणान्तरागोचरार्थत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा मन्वादिवाक्यमित्यर्थः। यदि *वेद*प्रणेतृप्रमाणान्तरागोचरार्थत्वं हेतुः, तदा तत्प्रणेतुरीश्वरस्य प्रत्यक्षगोचरत्वादसिद्धिः। अथ यस्य कस्यापि प्रमाणान्त-रागोचरार्थत्वं, तदानैकान्तिकमित्याह प्रणेतारमिति। अनैकान्तिकत्वं स्पष्टयति आकस्मिकेति। दृष्टकारणोपहारं विना जातस्मितस्य यद्बीजं सुखानुस्मृतिरूपं कारणं तस्येत्यर्थः। सर्वज्ञो वेदवक्ता न सम्भावनास्पदम्, वाक्यार्थज्ञानसामग्रीरहि-तत्वादित्याह वक्तैवेति। ईश्वरो नातीन्द्रियार्थदर्शी पुरुषत्वात्, तज्ज्ञानं वा नातीन्द्रियविषयं ज्ञानत्वात्, तदिन्द्रियं वा नातीन्द्रियार्थग्राहि इन्द्रियत्वात्, तन्मनो

मकरन्दः- वाक्यत्वस्य समुदाये विरहादसिद्धिरित्यर्थः। ननु समुदितानि पदान्येव समुदायः, अतिरिक्तस्यानभ्युपगमात्। तत्र च प्रतिपादकत्वसत्त्वाद्वाक्यत्वम-प्रत्यूहमेव। अन्यथा वाक्यत्वमप्रसिद्धमेव स्यात्। प्रत्येकपदे वाक्यत्वाभावात्। समुदायस्याप्रतिपादकत्वात्। यदि च नैवं, तदा प्रमाणत्वस्यापि प्रतिपादकगर्भतया तद्गर्भसिद्धान्तलक्षणमपि भज्येतेति चिन्त्यम्। शब्दतदुपजीवीति *शब्दप्रकाशे* विपञ्चितम्। स्मृत्यादाविति। आद्यस्मृत्यादावित्यर्थः। एतदपि तज्जातीयत्वस्याभेदगर्भत्वविवक्षायामन्यथा सिद्धान्तेऽप्यगतेरिति ध्येयम्।

न सम्भवति, हेत्वभावे फलाभावात्, चक्षुरादीनां तत्रासामर्थ्यात्, अस्मदादीन्द्रियवत्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यात्। न, चेतनस्य ज्ञानस्येन्द्रियस्य, मनसो वा पक्षीकरणे आश्रयासिद्धेः प्रागेव प्रपञ्चनात्। नित्यनिराकरणे चासामर्थ्यात्।

आमोदः– स्वर्गापूर्वादिज्ञानवतो *वेदवक्तृत्वं* सम्भाव्येत, तच्च प्रकृतवक्तुर्नास्तीत्यर्थः। हेत्वभाव इति। स्वर्गापूर्वादिज्ञानहेत्वभावे ज्ञानरूपफलाभाव इत्यर्थः। हेत्वभावमेवाह चक्षुरादीनामिति। वेदवक्ता नातीन्द्रियार्थदर्शी पुरुषत्वात्। तज्ज्ञानं नातीन्द्रियविषयकं ज्ञानत्वात्। तदिन्द्रियं मनो वा नातीन्द्रियार्थदर्शी पुरुषत्वात्। तज्ज्ञानं नातीन्द्रिय-विषयकं ज्ञानत्वात्। तदिन्द्रियं मनो वा नातीन्द्रियार्थावगाहि इन्द्रियत्वात्, मनस्त्वाद्वेति। सिद्ध्यसिद्धिपराहतमिति पूर्वमेव प्रपञ्चितमित्याह चेतनस्येति। किञ्च सामग्री चेन्नास्ति तदा कार्यं तस्य ज्ञानं मास्तु, नित्यं तु स्यादेव इत्याह नित्येति।

प्रकाशः– वा नातीन्द्रिये प्रवर्त्तते मनस्त्वादित्यादयः प्रयोगाः प्रागेव निरस्ता इत्याह चेतनस्येति। अपि च सामग्र्यभावात् कार्यज्ञानाभावेऽपि अकार्यं ज्ञानं न निवर्त्तते इत्याह नित्येति।

मकरन्दः–प्रमाणतावच्छेदकेति। न चावच्छेदकत्वं यद्यन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वं तदाऽसिद्धिः, अनतिरिक्तवृत्तित्वमात्रञ्चेत्तदा पठ्यमानवेदत्वादौ व्यभिचार इति वाच्यम्। स्वसमानानुपूर्वीकसकलवाक्यवृत्तिधर्मत्वादित्यत्र तात्पर्यात्। न च विशेष्यभागस्यैव व्याप्यत्वं तावन्मात्रञ्च स्वरूपासिद्धमिति वाच्यम्। अखण्डाभाववदखण्डोपाधौ न व्यर्थत्वमिति मतेनोक्तत्वात्। यन्निष्ठा यन्निरूपितेति न्यायात्। अत एव प्रमेयत्वादेः शास्त्रे हेतुत्वेनाभिधानं प्रयोजनाभावान्नान्यत्र विशेषणप्रक्षेपः। अन्यथा अखण्डाभावे का गतिः। तत्रापि प्रतियोगिकोटावनेकविशेषणप्रक्षेपसंभवात्। अत एव भोगाधारत्वं भोगसमवायिकारणातिरिक्तवृत्ति सकलभोगाधिकरणवृत्तित्वादित्यत्र भोगाधिकरणपदं सार्थकम्। यत्तु व्याप्त्याश्रयसंकोचकविशेषणस्य व्यर्थत्वं यथा नीलधूमे, न तु विकाशकस्य, यन्निष्ठा यन्निरूपिता इति न्यायेन तद्विशेषणं विना तन्निष्ठव्याप्तेरग्रहात्। प्रकृते च विशेष्यभागस्य न्यूनवृत्तित्वविशिष्टस्याधिकवृत्तित्वमिति तस्य विकाशकत्वमिति। तत् प्रमादविजृम्भितम्। व्याप्याश्रयस्यैवंविकाशेऽपि व्याप्त्याश्रयविकाशाभावात् तद्घटितोपाधेरेकत्वात्।

न च व्याप्याश्रयविकाशस्यापि न व्यर्थत्वं, तत्र यन्निष्ठेत्यादि न्यायस्याप्य-सम्भवेन मानाभावादिति। अन्यथा धूमालोकान्यतरत्वादावपि व्यर्थविशेषणत्वं न

परमाण्वादयो न कस्यचित्प्रत्यक्षाः, तत्सामग्रीरहितत्वादिति चेन्न। द्रष्टारं प्रत्यसिद्धेः, अन्यं प्रति सिद्धसाधनात्। तथापि वाक्यत्वं न प्रमाणम्, अप्रयोजकत्वात्। प्रमाणान्तरगोचरार्थत्वप्रयुक्तं तत्र पौरुषेयत्वं, न तु वाक्यत्वप्रयुक्तम्। न, *सुगताऽऽद्यागमाना*मपौरुषेयत्वप्रसङ्गात्। प्रमाणवाक्यस्य सत इति चेन्न। प्रणेतृप्रमाणान्तरगोचरार्थत्वस्य साध्यानुप्रवेशात्। स्वतन्त्रपुरुषप्रणीतत्वं हि पौरुषेयत्वम्। अर्थप्रतीत्येकविषयौ हि विवक्षाप्रयत्नौ स्वातन्त्र्यम्।

आमोदः–अतीन्द्रियार्थदर्शित्वं वक्तुरनुमानबाधितमित्याह **परमाण्वादय** इति। द्रष्टा यद्यनित्यज्ञानवान् नूनं तत्सामग्र्यस्त्येव इति स्वरूपासिद्धो हेतुरित्याह **द्रष्टार**मिति। ननु यत्र यत्र पौरुषेयत्वं तत्र तत्र प्रमाणान्तरगोचरार्थत्वं दृष्टं, प्रकृते च तथा नास्तीति पौरुषेयत्वं निवर्तत इत्युपाधिं शङ्कते **प्रमाणन्तरे**ति। मण्डलीकरणादिप्रतिपादकवाक्ये पौरुषेयत्वे साध्ये सत्यपि प्रमाणान्तरगोचरार्थत्वं नास्तीति साध्याव्यापकत्वमाह **सुगते**ति। पक्षधर्मावच्छिन्न साध्यव्यापकतामाह **प्रमाणस्ये**ति। प्रणेतृषु प्रमाणान्तरगोचरार्थत्वमेव पौरुषेयत्वं साध्यमिह विवर्जितं, न च साध्यमेवोपाधिर्भवितुमर्हति, सकलानुमानोच्छेदकत्वादित्याह **प्रणेत्रि**ति उपाधेः साध्यानुप्रवेशं स्फुटयितुमाह **स्वतन्त्रे**ति। तथापि कथं प्रमाणान्तरगोचरार्थत्वमुपाधिः साध्यमध्ये निविशते इत्याह **अर्थप्रतीती**ति। वाक्यप्रणयनानुकूलज्ञानेच्छाकृतिमत्त्वं स्वातन्त्र्यं, तथा च प्रमाणान्तरगोचरार्थत्वं साध्यप्रविष्टमेवेत्यर्थः।

प्रकाशः– उपाधिं शङ्कते **प्रमाणान्तरे**ति। अत्र साध्याव्यापकत्वमाह **सुगते**ति। पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वादुपाधित्वं स्यादित्याह **प्रमाणे**ति। **प्रणेत्रि**ति। साध्यादभिन्नत्वे साध्याव्यापकत्वाद् भेदनिबन्धनत्वाच्च व्याप्यव्यापकभावस्येत्यर्थः। प्रमाणान्तरगोचरार्थत्वेन शब्देतरप्रमाणगोचरार्थत्वं विवक्षितं, मानान्तरगोचरार्थत्वं

मकरन्दः– स्यात्। आलोकादिपदस्यायोगोलकादिव्याप्याश्रयविकाशत्वात्।

आकस्मिकञ्च तत्र बीजञ्चेति व्याहतमत आह **दृष्टे**ति। **साध्यादभिन्नत्वे** इति। यद्यप्यत्र नाभेदः, उपाधिभेदस्य स्फुटत्वात्। किञ्च पौरुषेयत्वस्य *सुगतागमाद*ावपि सत्त्वादन्यथा वाक्यत्वस्य तत्र व्यभिचारापत्तेरिदञ्च तद्व्याप्तमिति सर्वथा भेद एव, तथाप्येतदस्वरसादेव दोषान्तरदानमिति ब्रूमः। अन्यथा तु चिन्त्यम्। **शब्देतरे**ति। शब्दतदुपजीविप्रमाणेतरप्रमाणगोचरार्थत्वमित्यर्थः।

*मन्वादि*वाक्यस्यापौरुषेयत्वप्रसङ्गाच्च। तदर्थस्य शब्देतरप्रमाणा-गोचरत्वात्। प्रयुज्यमानवाक्येतरगोचरार्थत्वमात्रमिति चेन्न। तस्य वेदेऽपि सत्त्वात्। एकस्याप्यर्थस्य शाखाभेदेन बहुभिर्वाक्यैः प्रतिपादनात्। अस्त्वेवं, न तु तेषां मिथो मूलमूलीभाव इति चेन्न। उक्तोत्तरत्वात्।

संख्याविशेषात् खल्वपि। द्व्यणुकत्र्यणुके तावत् परिमाणवती, द्रव्यत्वात्। तच्च परिमाणं कार्यं कार्यगुणत्वात्। न च तस्य परमाणुपरिमाणं द्व्यणुकपरिमाणं वा कारणम्, नित्यपरिमाणत्वात्, अणुपरिमाणत्वाच्च।

आमोदः– किञ्च *त्वन्मते मन्वादि*वाक्यानां शब्देतरप्रमाणागोचरार्थानाम् अपौरुषेयत्वं स्यादित्याह मन्वादीति। ननु *मन्वादि*वाक्ये प्रमाणान्तरं वेदस्तद्गोचरार्थत्वमस्त्येवेति नोक्तोपाधिव्यावृत्तिरित्याह प्रयुज्यमानेति। एवं सति साधनाव्यापकत्वमुपाधेरित्याह तस्येति। एकस्याः शाखायाः प्रयुज्यमानायाः शाखान्तरगोचरार्थत्वसत्त्वादित्याह एकस्यापीति। ननु मूलभूतप्रमाणान्तर-गोचरार्थत्वमुपाधिः, स च वेदाद्व्यावृत्त एवेति क्व साधनव्यापकत्वमित्याह अस्त्वेवमिति। उक्तोत्तरत्वादिति। मूलभूतप्रमाणान्तरगोचरार्थस्य पौरुषेयत्वस्य साध्यत्वान्नोपाध्युपाधिमद्भाव इत्युक्तत्वादित्यर्थः। द्व्यणुकपरिमाणजनकं परमाणुद्वयगतं द्वित्वं द्व्यणुकत्रयगतञ्च त्रित्वं त्रसरेणौ महत्त्वजनकं तदुभयमप्यस्मदाद्यपेक्षाबुद्धिजन्यं न सम्भवतीति यदपेक्षाबुद्धिजन्यं स ईश्वर इति साधयितुं पीठमारचयति द्व्यणुकेति। कार्यगुणत्वादिति षष्ठीसमासः। अणुपरिमाणत्वादित्युभयत्र हेतुः, मनः –

प्रकाशः– वा, मूलभूतमानान्तरगोचरार्थत्वं वा?। आद्ये मन्वादीति। द्वितीयमाशङ्क्य निराकरोति प्रयुज्यमानेति। तृतीयं शङ्कते अस्त्वेवमिति। मूलमूलीभावः उपजीव्योपजीवक भावः। उक्तेति। प्रणेतृमूलभूतप्रमाणान्तरागोचरार्थत्वस्यासिद्धेरन्यं प्रत्यनैकान्तिकत्वादित्यादिनेत्यर्थः।

द्व्यणुकादिपरिमाणमनेकवृत्तिसङ्ख्याजन्यं, तस्याश्च द्वित्वादेरपेक्षाबुद्धित उत्पत्तिः, तदाश्रय ईश्वर इति साधयितुमाह – द्व्यणुकेति। कार्यगुणत्वादिति। कार्यवृत्तिगुणत्वादित्यर्थः। ननु द्व्यणुके परमाणुपरिमाणात् त्र्यणुके च द्व्यणुकपरिमाणादेव परिमाणोत्पादोपपत्तेः किं द्वित्वादिसङ्ख्ययेत्यत आह न चेति। आकाशपरिमाणवदिति शेषः। यदि च *परः* परममहत्परिमाणमेव न स्वीकुर्यात्, तदा हेत्वन्तरमाह अणुपरिमाणत्वादिति।

अन्यथा अनाश्रयकार्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। द्व्यणुकस्य महत्त्वप्रसङ्गाच्च, त्र्यणुकवदणवारभ्यत्वाविशेषात्। तत्र कारणबहुत्वेन महत्त्वे अणुपरिमाणस्यानारम्भकत्वस्थितेरणुत्वमेव महदारम्भे विशेष इत्यपि न

आमोदः- परिमाणमत्र दृष्टान्तः। तच्च धर्मिग्राहकमानादणु च जनकत्त्वं चेति भावः। यदि नित्यं परिमाणमणुपरिमाणं व परिमाणमारभेत, तदा स्पर्शशून्यानामाकाशकालमनसां द्रव्याणामारम्भकाणामपि परिमाणमनाश्रयमेव परिमाणमारभेतेत्याह **अन्यथेति**। किञ्च त्रसरेणुमहत्त्वमणुत्वेनैव चेदुत्पाद्यं, तद परमाणुपरिमाणमपि द्व्यणुके महत्त्वमेवोत्पादयेत् इत्याह **द्व्यणुकस्येति**। ननु त्रसरेणौ कारणबहुत्वाधीनं महत्त्वं नाणुत्वाधीनमिति कथमविशेष इत्यत आह **कारणेति**। ननु चानित्यमणुत्वं महत्त्वारभते, न तु नित्यमपीत्याशङ्क्यनिराकरोति- **अणुत्वमिति**।

प्रकाशः-यद्यपि नात्र मनःपरिमाणं दृष्टान्तः, *परमते* मनसो विभुत्वात्। न चानारम्भकद्व्यणुकपरमाणुपरिमाणं दृष्टान्तः। तयोरपि कदाचिदारम्भकत्वात्। अवयवाणुपरिमाणस्य जनकत्वाभ्युपगमाच्च। अन्यथा नित्यवृत्तिसङ्ख्याया अप्यजनकत्वापत्तेः। तथापि प्रमाणबलेन मनसोऽणुत्वं साधयिष्यामीति तत्परिमाणमेव दृष्टान्त इति भावः।

अन्यथेति। कालादिमनसां परिमाणस्य परिमाणजनकत्वे तैर्द्रव्यैर्द्रव्यानारम्भादनाश्रयपरिमाणं जायेतेत्यर्थः। बाधकान्तरमाह **द्व्यणुकस्येति**। अणुपरिमाणं यदि त्र्यणुके महत्त्वारम्भकं, द्व्यणुकेऽपि स्यादविशेषादित्यर्थः। त्र्यणुकेऽपि वा द्व्यणुकवदणुत्वापत्तिरिति भावः। यदि च त्र्यणुकमहत्त्वारम्भकं बहुत्वं, तदा तत्रैवाणुत्वमनादृत्य बहुत्वसङ्ख्यया आरम्भकत्वसिद्धेर्द्व्यणुकपरिमाणस्यानारम्भकत्वं सिद्धमित्याह **तत्रेति**। ननु द्व्यणुकपरिमाणे काचिज्जातिरस्ति तद्विशिष्टाणुत्वं महत्त्वजनकमिति नोक्तदोष इत्यत आह **अणुत्वमेवेति**। एवं हि महत्त्वं महत्त्वारम्भकं न स्याद् व्यभिचारेण कारणत्वाभावादित्यर्थः। यद्वा किमणुत्वं महत्त्वमेव जनयति, क्वचिदणुत्वमपि वा? तत्राद्यमाशङ्क्य दूषयति **अणुत्वमेवेति**।

मकरन्दः-**यदि चेति**। अत्रेदं चिन्त्यम्। तदस्वीकारे दृष्टान्तान्तरं कर्तुमर्हति, न तु हेत्वन्तरम्। मनःपरिमाणदृष्टान्तत्वेन प्रथमहेतावप्युपपत्तेः। तस्माद् द्व्यणुकपरिमाणपक्षके प्रथमस्यासिद्धत्वमाशङ्क्य तदभिप्रायेण हेत्वन्तरम्। तत्र च प्रथमहेत्ववष्टम्भात् परमाणुपरिमाणमेव दृष्टान्तो मनः परिमाणं वेति मूलतात्पर्य्यं प्रतिभातीति। **तयोरपीति**। स्वरूपयोग्यत्वादित्यर्थः। यद्वा अनारम्भके तत्र मानाभावात्

युक्तम्, महतो महदनारम्भप्रसङ्गात्। अणुत्वमहत्त्वयोर्विरुद्धतया एकजातीयकार्यानारम्भकत्वप्रसङ्गात्। बहुभिरपि परमाणुभिर्द्वाभ्यामपि द्व्यणुकाभ्यामारम्भप्रसङ्गाच्च। एवं सति को दोष इति चेत्, परमाणुकार्यस्य महत्त्वप्रसङ्गः। कारणबहुत्वस्य तद्धेतुत्वात्। अन्यथा द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिरित्य

आमोदः– तर्हि व्यभिचारान्महत्त्वं महत्त्वारम्भकं न स्यादित्याह **महत्** इति। ननु अणुत्वमहत्त्वाभ्यां महत्त्वमारभ्यतां, को दोष इत्यत आह **अणुत्वेति**। यदि वाणुत्वस्य बहुत्वसामानाधिकरण्यमात्रं महत्त्वारम्भे तन्त्रं, तत्राह **बहुभिरिति**। अनित्याणुत्वमात्रं चेन्महत्त्वारम्भे तन्त्रं, तत्राह **द्वाभ्यामिति**। यद्वा, परिमाणारम्भे यदि संख्या न तन्त्रं, तदाऽनियमः स्यादित्यर्थः। **एवं सतीति**। बहुभिः परमाणुभिर्महदारभ्यतां, को दोष इत्यर्थः। महत्त्वं प्रति बहुत्वं तन्त्रं, तथा च बहुभिः परमाणुभिरारम्भे भग्ने घटे कपालशर्कराद्युपलम्भो न स्यादिति भावः। **कारणबहुत्वस्य तद्धेतुत्वात्** महदारम्भहेतुत्वात्, तस्य च त्वया परमाणावभ्युपगमादित्यर्थः। नन्वणुत्वसमानाधि-करणं बहुत्वमप्यणुत्वमारभताम्। तथा च परमाणुकार्यस्य कुतो महत्त्वापत्तिरित्यत आह– **अन्यथेति**। द्वाभ्यामणुभ्यामणुद्रव्यमारभते, त्रिभिश्चतुर्भिरपि यदा तादृशमेवाणुद्रव्यमारभ्येत, तदा बहुत्वसंख्याया वैयर्थ्यमेव

प्रकाशः– अन्त्यं दूषयति **अणुत्वमहत्त्वयोरिति**। अणुत्वमहत्त्वयोर्विरुद्ध जातीय तयाऽन्योन्यपरिहारेण स्थितेर्व्यभिचारान्नैकमप्यारम्भकं स्यादित्यर्थः। ननु कारण भेदात् कार्यभेदः स्यादित्यत आह **बहुभिरपीति**। यदि न संख्या कारणं, किन्त्वणुपरिमाणमिति शेषः। **परमाणुकार्यस्येति**। कारणबहुत्वस्याप्यन्यत्र महत्त्वहेतुत्वकल्पनाद् द्व्यणुककार्यवत् परमाणुत्रयारब्धस्यापि बहुत्वहेतुक-महत्त्वोत्पादापत्तिरित्यर्थः। ननु परमाणुद्वयारब्धस्येवाणुत्रयारब्धस्याणुत्वमेव स्यादित्यत आह **अन्यथेति**। तथा सति त्रित्वादिसंख्या वैयर्थ्यापत्तिरणुद्वयारब्धा-पेक्षया तद्विशिष्टारब्धे विशेषाभावादित्यर्थः। प्रत्येकं

मकरन्दः– तयोरपि कदाचिदारम्भकत्वादित्यर्थः। द्व्यणुकादीनामारम्भकत्वनियमे चावयवपरिमाणतया तत्परिमाणस्यापि जनकत्वमेवेति न दृष्टान्तत्वमित्याह **अवयवेति**। यदि च तादृशस्यापि नित्यपरिमाणत्वेनैवाजनकत्वमिति दृष्टान्तत्वं तत्राह **अन्यथेति**। यद्यप्येतद्दूषणं मनःपरिमाणदृष्टान्तत्वपक्षेऽपि, तथापि तदग्रे परिहरिष्यतीति ध्येयम्। **किमणुत्वमिति**। एवकारोऽत्र भिन्नक्रमः। तेन किमणुत्वमेव

नियमेनाप्यण्वारम्भे तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। अणुन एव तारतम्याभ्युपगमस्तु संख्यामवधीर्य न स्यात्। अस्तु महदारम्भ एव त्रिभिरिति चेन्न। महतः कार्यस्य कार्यद्रव्यारभ्यत्वनियमात्। तथापि वा तारतम्ये संख्यैव प्रयोजिकेति। न च प्रचयोऽपेक्षणीयः, अवयवसंयोगस्याभावात्।

तस्मात् परिमाणप्रचयौ महत एवारम्भकाविति स्थितिः। अतोऽनेकसंख्या परिशिष्यते। सा अपेक्षाबुद्धिजन्या, अनेकसंख्यात्वात्। न चास्मदादीनामपेक्षाबुद्धिः परमाणुषु सम्भवति। तत् यस्यासौ सर्वज्ञः।

आमोदः– स्यात्, कार्ये विशेषानाधानादित्यर्थः। ननु कथं बहुत्वमतन्त्रं यावताणुद्वयापेक्षया ऽणुत्रयारब्धम् अणुतरम्, अणुचतुष्टयारब्धम् अणुतमं स्यादित्यत आह **अणुन एवेति**। एवं सति संख्यायाः परिमाणारम्भकत्वं *त्वया*ऽभ्युपगतमिति सिद्धं नः समीहितमिति भावः। **परमाणुकार्यस्य महत्त्वप्रसङ्ग** इति यदुक्तं तत्रेष्टप्रसङ्गमाह **अस्त्विति**। **त्रिभिरिति**। परमाणुभिरित्यर्थः। **महत इति**। घटादौ तथादर्शनादिति भावः। ननु सहचारमात्रमेतत्, न तु नियम इत्यत आह **तथापि चेति**। परमाणुभिरपि महद्द्रव्यारम्भे महत्तरतमादिभावेन यत् तारतम्यमुपलभ्यते तत्र परमाणुसंख्यैव तन्त्रं, महत्त्वप्रचययोरभावादित्यर्थः। ननु द्व्यणुके परमाणुप्रचयेन द्व्यणुकप्रचयेन च त्रसरेणौ परिमाणमारभ्यतां किं द्वित्वत्रित्वाभ्यामत आह **न चेति**। तत्र प्रचयाभावात् संख्यैव तन्त्रमित्यर्थः। **परिशिष्यत इति**। द्व्णुकत्र्यणुक-परिमाणारम्भायेति शेषः। स्वापेक्षितं रचिते पीठे तावदुपपादयति **सा चेति**।

प्रकाशः– व्यभिचारादकारणत्वञ्च स्यादिति भावः। नन्वणूनां संख्यावैचित्र्यमणु-परिमाणतारतम्यभेदसम्पादनोपयोगि परिमाणेऽवान्तरकारणभेदव्यङ्ग्यजातिभेदाच्च न व्यभिचार इत्यत आह **अणुन एवेति**। तथापि तारतम्ये संख्यैव प्रयोजिका, संख्याभेदं विना समुदाये भेदकान्तराभावादित्यर्थः। परमाणुकार्यस्य महत्त्वप्रसङ्ग इत्यत्रेष्टापत्तिमाह **अस्त्विति**। **त्रिभिः** परमाणुभिरित्यर्थः। **महत इति**। अनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकाभ्यां तथैव कारणत्वनिर्णयादित्यर्थः। ननु द्व्यणुकादिपरिमाणस्य परिमाणाजन्यत्वेऽपि प्रचयजन्यत्वं स्यात्, तस्यापि महत्त्वे कारणत्वादित्यत आह **न चेति**।

मकरन्दः– महत्त्वं जनयतीत्यर्थः। तथा च महता महदनारम्भप्रसङ्गादिति घटते। मूलस्वरसोऽप्येवमेवेति *केचित्*। तृणारणिमणिवत् कार्य्यभेदान्न व्यभिचारः, अन्यथा सङ्ख्याहेतुत्वपक्षे का गतिरित्याह **नन्विति**। **यदि नेति**। यद्यपि सङ्ख्याकारणत्वपक्षेऽपि तत्र प्रसङ्गस्तुल्यः, तथापि

अन्यथा अपेक्षाबुद्धेरभावात् संख्यानुत्पत्तौ तद्गतपरिमाणानुत्पादेऽपरिमितस्य द्रव्यस्यानारम्भकत्वात् त्र्यणुकानुत्पत्तौ विश्वानुत्पत्तिप्रसङ्गः। अस्मदादीनामेवानुमानिक्यपेक्षाबुद्धिरस्त्विति चेन्न। इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्। जाते हि स्थूलकार्ये तेन परमाण्वाद्यनुमानं, तस्मिन् सति द्व्यणुकादिक्रमेण स्थूलोत्पत्तिः। अस्त्वदृष्टादेव परिमाणं, कृतमपेक्षाबुद्ध्येति चेन्न। अस्तु तत एव सर्वं, किं दृष्टकारणेनेत्यादेरसमाधेयत्वप्रसङ्गादिति।५।

आमोदः- अपेक्षाबुद्धिरिति। प्रात्यक्षिकीत्यर्थः। एवमनभ्युपगमेऽनिष्टपरम्परामाह अन्यथेति। अन्योन्याश्रयं विशदयति जाते हीति। कार्यपदं तात्पर्यपरम्, आयोजनपदं व्याख्यानपरं, पद पदमीश्वरादिपरम्।।५।।

प्रकाशः- अतोऽनेकेति। अत्रेदं तत्त्वम्। त्र्यणुकमहत्त्वं न परिमाणजन्यं संख्याप्रचयाजन्यमहत्त्वं प्रत्यवयवमहत्त्वेन कारणत्वात्। न त्ववयवपरिमाणत्वेन, परमाणुपरिमाणाद् द्व्यणुके महत्त्वापत्तेः। नापि जन्यावयवपरिमाणत्वेन, गौरवात्। नापि जन्याणुत्वेन, तथादर्शनात्। महत्त्वविशेषेऽनियतहेतुकतापत्तेश्च। महत्त्वावान्तरजातिकल्पने गौरवम्। बहुत्वकल्पनञ्च प्रामाणिकम्। एवं द्व्यणुकपरिमाणं न महत्त्वजनकम् अणुपरिमाणत्वात् परमाणुपरिमाणवत्। अन्यथा तस्य महत्त्वजनकत्वे द्व्यणुकस्यापि महत्त्वप्रसङ्गः। किन्त्ववयवबहुत्वं, परिमाणप्रचयाजन्यमहत्त्वे अवयवबहुत्वेन कारणत्वकल्पनात्। एवं द्व्यणुकपरिमाणं नाणुपरिमाणजन्यं परिमाणत्वाद्, अणुपरिमाणत्वाद्वा। परमाणुपरिमाणं न परिमाणजनकम् अणुपरिमाणत्वाद् द्व्यणुकपरिमाणवत्।

मकरन्दः- परमाणुभिन्नार्थकस्य द्व्यणुकाभ्यां त्र्यणुकस्यारम्भप्रसङ्गो बोध्यः। परिमाणद्वयत्वादिना कारणत्वे द्वित्वादेरेवावश्यकस्य कारणत्वात्। परमाणुभिस्तु महदारम्भे बाधकं वक्ष्यतीति। ननु यथा नित्यपरिमाणत्वादिना तत्र जनकं, तथा नित्यवृत्तिसंख्यात्वादिना बहुत्वसंख्यापि जनिका न स्यात्। न च द्व्यणुकस्य महत्त्वप्रसङ्गः, कार्य्यस्य महतः कार्य्यद्रव्यारभ्यत्वनियमादित्याशयेनाह अत्रेदं तत्त्वमिति।

न त्विति। यद्यपि महतः कार्यस्य कार्यद्रव्यारभ्यत्वनियमादेव न द्व्यणुके महत्त्वापत्तिः, तथापि नित्यस्य तस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भावापत्तिरित्यत्र तात्पर्यम्। महत्त्वविशेषे इति। प्रचयशून्यावयवद्वयारब्धघटादिमहत्त्वे व्यभिचारादित्यर्थः।

प्रकाशः- यत्तु नित्यपरिमाणत्वान्न तज्जनकं व्योममहत्त्ववदिति। तन्न, अवयवनित्यपरिमाणस्य जनकत्वाभ्युपगमात्। अन्यथा नित्यवृत्तिसंख्याया अप्यजनकत्वापत्तेः। अतो द्व्यणुकपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणप्रचयाजन्यत्वे सति जन्यपरिमाणत्वादित्यवयवबहुत्वाभावाद् द्वित्वमेव तज्जनकम्। यदि च द्व्यणुकत्र्यणुकपरिमाणं परिमाणजन्यं स्यात्, तदा कारणपरिमाणापेक्षया उत्कृष्टं स्यान्महज्जन्यमहत्तरमहत्तमवदित्यणुपरिमाणतरतमत्वापत्तिः। उत्कर्षश्च न कारणपरिमाणापेक्षयाधिकदेशत्वं, येनेष्टापत्तिः स्यात्। किन्तु तरबन्तकारण परिमाणवाचकवाच्यत्वं, तत्प्रवृत्तिनिमित्तजातिमत्त्वं वा।

ननु परमाणुद्वित्वं न परिमाणजनकं नित्यवृत्तिसंख्यात्वाद्, अणुवृत्ति द्वित्वत्वाद्वा, व्योमद्व्यणुकवृत्तिद्वित्ववत्। एवं द्व्यणुकवृत्तिबहुत्वं न परिमाणजनकम्, अवयववृत्तिबहुत्वात्, परमाणुबहुत्ववत्। यथा त्र्यणुकमहत्त्वस्याणुजन्यत्वे द्व्यणुकस्यापि महत्त्वप्रसङ्गः, तथाणुवृत्तिसंख्याजन्यत्वेऽपि द्व्यणुकस्य महत्त्वप्रसङ्गः। यथा च परिमाणस्य स्वोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वादणुतरत्वप्रसङ्गः, तथा संख्याया अपि समानाधिकरणपरिमाणोत्कृष्टपरिमाणारम्भकत्वप्रसङ्गः।

मैवम्। सर्गादौ परमाणुवृत्तिद्वित्वबहुत्वयोरसिद्धावाश्रयासिद्धेः, सिद्धौ वा धर्मिग्राहकमानबाधात्। अथ द्व्यणुकपरिमाणं न द्वित्वजन्यं परिमाणत्वात्, त्र्यणुकमहत्त्वं नाणुवृत्तिबहुत्वजन्यं महत्त्वत्वात् परिमाणत्वाद्वेति चेत्, न। प्रसिद्धद्वित्वबहुत्वजन्यत्वे साध्ये सिद्धसाधनात्, अप्रसिद्धतन्निषेधे साध्याप्रसिद्धेरिति संख्यैव तज्जनिकेति *वयम्*।

साम्प्रदायिकास्तु - द्व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणताग्राहकं मानं यद्यणुपरिमाणं विषयीकुर्यात् तदा परिमाणद्वयासमवायिकारणत्वे गौरवमिति द्वित्वमेकं विषयीकरोति। यद्वा एकत्वस्य परिमाणानारम्भकत्वे सजातीयनिरूपितोत्कर्षानाश्रयत्वं प्रयोजकम्, तच्च परमाणुपरिमाणेऽपि तुल्यमित्याहुः।

ऋजवस्तु- कारणपरिमाणवत् कारणानेकवृत्तिसंख्याप्यन्वयाद्यनुविधानात् परिमाणहेतुः। ग्रन्थस्तु संख्यानिरपेक्षपरिमाणकारणत्वनिषेधपर इति समादधुः।

तद् यस्यासाविति। ईश्वरापेक्षाबुद्धेर्नित्यत्वेनाविनाशेऽपि तदुत्पादित द्वित्वादेर्निमित्तान्तरनाशेन नाश इति भावः। **जाते हीति।** महत्त्वोत्पत्तेः पूर्वं द्व्यणुकस्याप्रत्यक्षत्वेन लिङ्गाभावादित्यर्थः।५।

अथवा, कार्येत्यादिकमन्यथा व्याख्यायते –

उद्देश एव तात्पर्यं व्याख्या विश्वदृशः सती।
ईश्वरादिपदं सार्थं लोकवृत्तानुसारतः।।६।।

आम्नायस्य हि भाव्यार्थस्य कार्ये पुरुषप्रवृत्तिनिवृत्ती। भूतार्थस्य तु यद्यपि नाहत्य प्रवर्तकत्वं निवर्तकत्वं वा, तथापि तात्पर्यतस्तत्रैव प्रामाण्यम्।

आमोदः– कार्ययोजनेत्यादिग्रहणककारिकाव्याख्यानमाह **उद्देश इति।** उद्देशोऽभिप्रायः। नतु प्रतीतिप्रयोजनकत्वादिकं *मीमांसका*भिमतमित्यर्थः। भूतभाव्यार्थयोरुभयत्रापि तात्पर्यमाह **आम्नायस्य हीति।** **भाव्यार्थस्य** *स्वर्गकामो यजेत* इत्यादेः, **भूतार्थस्य** *वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, तेजो वै घृतम्* इत्यादेः।

प्रकाशः–अत्र कार्यमुद्देश्यत्वम्, उद्देशश्च तात्पर्यम्। तद्विषय एव वेदस्य प्रामाण्यम्। तच्च परिशेषाद्वक्तुरिच्छा। सा च *वेदार्थे* नास्मदादीनामिति तदाश्रयेश्वरसिद्धिरित्याह **उद्देश एवेति।** *वेदस्या*योजनमासमन्ताद्भावेन योजनं व्याख्यानम्। तच्चास्मदादीनां सर्व*वेदा*दर्शिनां न निष्कम्पप्रवृत्तिहेतुरिति तद्व्याख्यातृतयेश्वरसिद्धिरित्याह **व्याख्येति।** ईश्वरादिपदानां सर्वज्ञे नित्यज्ञाने वेदादेव शक्तिग्रहात् ततोऽपि तत्सिद्धिरित्याह **ईश्वरादीति। लोकवृत्तेति।** लौकिकदृष्टान्ते व्याप्तिग्रहादित्यर्थः।

वृद्धव्यवहारेण कार्यान्विते पदार्थे पदानां शक्तिः कार्यान्वयश्च विधिसमभिव्याहृतस्य साक्षात्, तदसमभिव्याहृतस्य च परम्परयेति मतमाश्रित्याह **आम्नायस्येति। भाव्यार्थस्य** – साध्यार्थस्य।। यथा पथ्यं भुङ्क्ष्व अपथ्यं न भुङ्क्ष्व इत्यस्य साक्षात् कार्यान्वयज्ञानात् प्रवर्त्तकत्वनिवर्त्तकत्वे। **भूतार्थस्य–**

मकरन्दः– अणुवृत्तिद्वित्वत्वाद्वेति। अत्राणुवृत्तिपदं स्फुटार्थम्। **अवयववृत्तिबहुत्वादिति।** अत्रापि वृत्त्यन्तं स्फुटार्थम्। अन्यत्रापि बहुत्वस्य तज्जनकत्वानभ्युपगमादि*त्येके*। अवयवपदमणुपरं तुल्यपरिमाणाधिकसंख्यारब्धे महत्त्वोत्कर्षेण तस्य तज्जनकत्वे व्यभिचारादि*त्यन्ये*। आश्रयासिद्ध्यादिपरिहारार्थं परिमाणं पक्षयति **अथेति। प्रसिद्धेति।** एतच्च सामान्यलक्षणाभ्युपगन्तृमते दूषणम्। *स्वमते* त्वप्रयोजकत्वमित्यत्र तात्पर्यम्। **साम्प्रदायिकास्त्विति।** न चेश्वरासिद्धिदशायां द्वित्वस्य कल्पनीयतया धर्मिकल्पनात इति न्यायेन परिमाणमेव विषयीकरोतीति वाच्यम्। मानान्तरेणेश्वरस्य साधितत्वात् तदवष्टम्भेनेदमि*त्येके*। अत्र कल्पेऽस्वरस एवायमि*त्यन्ये*। परमाणोरणुतरत्वात् तत्परिमाणेऽपि सजातीयनिरूपितोत्कर्षाश्रयत्वमस्त्येवेत्यस्वरसादाह **इत्याहुरिति।** उभयहेतुत्वे गौरवमित्यस्वरसमाविष्करोति **ऋजवस्त्विति। निमित्तान्तरम् –** अदृष्टादि।

तथा हि – विधिशक्तिरेवावसीदन्ती स्तुत्यादिभिरुत्तभ्यते। प्रशस्ते हि सर्वः प्रवर्तते, निन्दिताच्च निवर्तते इति स्थितिः। तत्र पदशक्तिस्तावदभिधा, तद्बलायातः पदार्थः। आकाङ्क्षादिमत्त्वे सति चान्वयशक्तिः पदानां पदार्थानां वा वाक्यं, तद्बलायातो वाक्यार्थः। तात्पर्यार्थस्तु चिन्त्यते। तदेव परं साध्यं, प्रतिपाद्यं, प्रयोजनमुद्देश्यं वा यस्य, तदिदं तत्परम्, तस्य भावस्तत्त्वम्, तत् यद्विषयं स तात्पर्यार्थ इति स्यात्। तत्र न प्रथमः, प्रमाणेनार्थस्य कर्मणोऽसाध्यत्वात्।

आमोदः-विधिशक्तिः प्रवृत्तिजनकत्वम्। **अवसीदन्ती** च कार्यमजनयन्ती **उत्तभ्यते** प्रवृत्तिजनकीक्रियते। कथमुत्तम्भनमत आह **प्रशस्ते हीति**। *वायुः क्षेपिष्ठा देवता* क्षिप्रफलदायिनीति ज्ञात्वा। *वायव्यं श्वेतं छागलमालभेते*त्यादिविधिवाक्यबलाद्वायव्यं छागलमालभते। पदार्थवाक्यार्थाभ्यां तात्पर्यार्थं भेत्तुमाह **अभिधा** संकेतः, **तद्बलायातः** तत्प्रतिसन्धानस्मारितः, **अन्वयशक्तिः** संसर्गप्रतिपादकत्वम्। **पदानामिति** *स्वमते।* पदार्थानामिति *भट्टमते*। **तद्बलायात**स्तज्जनितानुभवविषयः। एतदुभयमपि तात्पर्यार्थ इत्याह **तात्पर्यार्थस्त्विति**। तत्परस्य भावस्तात्पर्यम् इत्यत्र परशब्दार्थं विकल्पयति, **तदेवेति**। **साध्यमिति**। कार्यमित्यर्थः। तदिदं वाक्यं तत्परम्, तस्य भावस्तत्परवाक्यत्वं तत्तत्परवाक्यं यद्विषयं स तात्पर्यार्थ इत्यर्थः। **प्रमाणेन** शब्देन **कर्मणो** विषयस्या**साध्यत्वाद**जन्यत्वात्। ननु वाक्यस्य यत् फलं तदेव तात्पर्यार्थः स्यादित्यत आह **फलस्येति**। वाक्यार्थप्रतिपत्तिर्वाक्यार्थधीरेवेति न तात्पर्यार्थ इत्यर्थः।

प्रकाशः-सिद्धार्थस्य। यथा परिणतिसुरसमाम्रफलं परिणतिविरसं पनसमिति वाक्यस्य तदभावाद् भक्षणाभक्षणकार्यत्वे तात्पर्यग्रहात् परम्परया तथात्वमित्यर्थः। तदुपपादयति **विधिशक्तिरिति**। कार्यत्वज्ञानजननेऽपि प्रवृत्त्यौपयिकं प्रवृत्तिविषयस्यान्यापेक्षया प्राशस्त्यज्ञानं, तद्रूपसहकार्यलाभो विधिशक्तेरवसादः, तल्लाभश्चोत्तम्भनम्। तत्सहकारित्वे मानमाह **प्रशस्ते हीति**। पदार्थवाक्यार्थाभ्यां तात्पर्यं भेदयितुं प्रस्तौति **तत्रेति**। तदेव परं यस्य स्तुत्यादिवाक्यस्येत्यत्र परपदार्थं विकल्पयति **साध्यमिति**। **तदिदमिति**। वाक्यमित्यर्थः।

ननु वाक्यार्थस्य वाक्यरूपप्रमाणासाध्यत्वेऽपि तन्निष्ठफलसाध्यतयैव तत्साध्यता स्यादित्यत आह **फलस्य चेति**। तस्य च द्वितीयविकल्प एव प्रवेशादिति

फलस्य च तत्प्रतिपत्तितोऽन्यस्याभावात्। प्रशस्तनिन्दितस्वार्थप्रतिपादनद्वारेण प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं साध्यं परमुच्यते इति चेन्न। 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र तीरस्याप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपस्यासाध्यस्यापि परत्वात्। तीरविषये प्रवृत्तिनिवृत्ती साध्ये इति तीरस्यापि परत्वमिति चेन्न। स्वरूपाख्यानमात्रेणापि पर्यवसानात्।

न द्वितीयः, पदवाक्ययोः पदार्थतत्संसर्गौ विहाय प्रतिपाद्यान्तराभावात्। पदशक्तिसंसर्गशक्ती विना स्वार्थाविनाभावेन प्रतिपाद्यं परमुच्यते इत्यपि न साम्प्रतम्। न हि यत् यच्छब्दार्थाविनाभूतं तत्र तत्र तात्पर्यं शब्दस्य, अतिप्रसङ्गात्। तदा हि 'गङ्गायां जलमि'त्याद्यपि तीरपरं स्यात्। अविनाभावस्य तादवस्थ्यात्। मुख्ये बाधके सति तत्तथा स्यादिति चेन्न। तस्मिन्नसत्यपि भावात्। तद् यथा –

'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान्'।। इति।

मुख्यार्थाबाधनेऽपि वारणे तात्पर्यम्।

आमोदः– ननु प्रवृत्तिनिवृत्ती एव तात्पर्यार्थः स्यादित्याह प्रशस्तेति। एवं सति तीरादिपरत्वं लक्षणादौ न स्यादित्यर्थः। ननु गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीत्यादिवाक्यमपि प्रवृत्तिनिवृत्तितात्पर्यकमेव, परन्तु तीरप्रतिपत्तिं जनयित्वा तदुभयं जनयतीति तीरतात्पर्यकताभिधीयत इति शङ्कते तीरविषय इति। यत्र तद्वाक्यं प्रतिपत्तिपरतया नाभिधीयते किन्तु तीरप्रतिपत्तिमात्रपरतया, तत्र तीरतात्पर्यकं न स्यादिति परिहरति स्वरूपेति। प्रतिपाद्यो हि पदार्थो वाक्यार्थो वा ताभ्यामन्यस्यैव तात्पर्यार्थत्वादित्युक्तमित्याह पदेति। ननु पदार्थवाक्यार्थान्यतराविनाभूतो योऽर्थः स एव तात्पर्यार्थः स्यादित्याशङ्क्य निराकोति न हीति। तथा स्यादिति। अविनाभूतार्थतात्पर्यकं वाच्यं स्यादित्यर्थः। वारणे गमनवारणे। ननु मया न गन्तव्यं मद्गमनस्य प्रियामरणहेतुत्वादित्यनुमानात्तत्र वारणप्रतीतिर्न तु वाक्यादिति वाच्यम्, तत्तात्पर्यकं यद्यपि मया न गन्तव्यं मयेति शब्दार्थो नानुमानिकः तथाप्यनुमानद्वारापि तात्पर्यं

प्रकाशः– भावः। तीरस्यापीति। साध्यफलभागितया तीरस्यापि साध्यत्वमित्यर्थः। स्वरूपेति। प्रवृत्त्यादौ तात्पर्याभावेऽपि तीरस्य तात्पर्यविषयत्वादित्यर्थः। पदवाक्ययोरिति। स्तुत्यादिवाक्यस्य पदार्थवाक्यार्थभिन्ने प्रवृत्त्यादावपि तात्पर्यात्तदव्यापकत्वादित्यर्थः। न च यदर्थज्ञानजनकत्वं यस्य, तस्य तत्र तात्पर्यमिति वाच्यम्। धूमोऽस्तीति वाक्यस्याग्निज्ञानाजनकत्वेऽप्यग्नौ तात्पर्यात्तदव्यापकत्वादिति भावः।

न च परं व्यापकमेव, अव्यापकेऽपि तात्पर्यदर्शनात्। तद् यथा – 'मञ्चाः क्रोशन्ती'ति पुरुषे तात्पर्यम्। न च मञ्चपुरुषयोरविनाभावः, नापि पुरुषक्रोशनयोः। नापि तृतीयः, तद्धि प्रतिपाद्यापेक्षितं, प्रतिपादकापेक्षितं वा स्यात्?। नाद्यः, शब्दप्रामाण्यस्यातदधीनत्वात्। तथात्वे वातिप्रसङ्गात्। यस्य यदपेक्षितं, तं प्रति तस्य परत्वप्रसङ्गात्। तदर्थसाध्यत्वेनापेक्षानियम इति चेन्न। कार्यज्ञाप्यभेदेन साध्यस्य बहुविधत्वे भिन्नतात्पर्यतया वाक्यभेदप्रसङ्गात्।

आमोदः– वाक्यस्यैव निर्वहति। तथा पर्वते धूमोऽस्तीति वह्नितात्पर्यकं वाक्यम् अनुमाननिर्वाह्यतात्पर्यकम्। वस्तुतस्तु वारणमपि वाक्यार्थ एव। न चापदार्थत्वात् तत्संसर्गः कथं वाक्यार्थः स्यादिति व्युत्पत्तिबलायातस्यापदार्थसंसर्गस्यापि वाक्यार्थत्वात्। अन्यथा प्रियामरणहेतुत्वादिति लिङ्गमपि वाक्यार्थो न स्यात्। मरणस्यापदार्थत्वात्। अन्यत्र जन्ममरणमन्तरेण न भवतीति तस्याक्षेप्यत्वात्। ननु पदार्थस्य यदेव व्यापकं तदेव परमित्यत आह **न चेति**। पुरुषक्रोशनयोरित्युपलक्षणम्। मञ्चक्रोशनयोरित्यपि द्रष्टव्यम्। **अतदधीनत्वादिति**। प्रतिपाद्यपुरुषापेक्षितप्रयोजनानधीनत्वादित्यर्थः। ननु तथैव किं न स्यादित्यत आह **तथात्व इति**। अतिप्रसङ्गमेवाह **यस्य यदिति**। अस्तं गतः सवितेति वाक्यं द्विजानां सन्ध्योपासने, वेश्यायाः प्रसाधने, वणिजः पण्योत्सारणे, स्नुषाया दीपदाने, गोपस्य गवानयने, गृहस्थस्यातिथिपरिग्रहेऽपेक्षासत्त्वाद्वाक्यभेदः स्यादित्यर्थः। नन्वत्र वाक्यार्थः सवितुरस्तमनं सन्ध्योपासनादिकं च न तत्साध्यमिति तत्परत्वाभावान्न वाक्यभेद इत्याह **तदर्थेति**। वाक्यार्थसाध्यतयेत्यर्थः। एवं सतीह प्रदेशे धूम इति वाक्यं तात्पर्यभेदात् भिद्यते इत्याह **कार्येति**।

प्रकाशः- **तद्धीति**। प्रयोजनं न वक्तुः श्रोतुर्वेत्यर्थः। यत्र वक्तुस्तात्पर्यं तत्र शब्दस्य प्रामाण्यमिति स्थितेराह **शब्देति**। अतिप्रसङ्गमेवाह **यस्येति**। तथा च तात्पर्यभेदेन वाक्यभेदः स्यादिति भावः। **तदर्थेति**। शब्दस्य योऽर्थस्तस्य यत्साध्यं प्रतिपाद्यस्य चापेक्षितं तत्परं, न तु तदसाध्यमपीत्यर्थः। **कार्येति**। साध्यं जन्यं ज्ञाप्यं वा? उभयस्याप्यनेकत्वात्। तथापि तात्पर्यभेदाद्वाक्यभेद एव स्यादित्यर्थः। न च प्रकरणादिना तात्पर्यनियमान्न वाक्यभेदापत्तिः। प्रकरणं हि न साध्यं नियमयति, अशक्यत्वात्। न हि धूमं जिज्ञासमानस्य प्रतीयमानधूमाद्धूमकेतुप्रतीतिवन्मशकादिनिवृत्तिर्न भवति, प्रतिपादकाभिप्रायनियमने च सिद्धं वेदस्य

धूमस्य हि प्रदेशश्यामलतामशकनिवृत्त्याद्यनेकं कार्यम्। आर्द्रेन्धनदहनाद्यनेकं ज्ञाप्यम्। तथा चेह प्रदेशे धूमोद्गम इत्यभिहिते तात्पर्यतः को वाक्यार्थो भवेत्?। चेतनापेक्षाया नियन्तुमशक्यत्वात्। नापि प्रतिपादकापेक्षितं, वेदे तदभावात्।

चतुर्थस्तु स्यात्। यदुद्देशेन यः शब्दः प्रवृत्तः स तत्परः तथैव लोकव्युत्पत्तेः। तथा हि – प्रशंसावाक्यमुपादानमुद्दिश्य लोके प्रयुज्यते, तदुपादानपरम्। निन्दावाक्यं हानमुद्दिश्य प्रयुज्यते, तद्धानपरम्। एवमन्यत्रापि स्वयमूहनीयम्। तस्माल्लोकानुसारेण वेदेऽप्येवं स्वीकरणीयम्। अन्यथा अर्थवादानां सर्वथैवानर्थक्यप्रसङ्गात्। स चोद्देशो व्यवसायोऽधिकारोऽभिप्रायो भाव आशय इत्यनर्थान्तरमिति।

आमोदः– ननु यद्यपि बहूनि कार्यज्ञाप्यभेदेन वाक्यार्थसाध्यानि, तथापि यदेव प्रतिपाद्यापेक्षितं तदेव तातपर्यार्थः स्यादित्यत आह चेतनेति। वेदे तदभावादिति *तव मत* इति शेषः। एवमन्यदपीति उपेक्षावाक्यमुपेक्षापरमित्यादि। अर्थवादानामिति। स्तुतिनिन्दापरकृतिपुराकल्पवाक्यानामित्यर्थः। तत्र स्तुतिः–

तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते इत्यादिः। निन्दा तु– *एष वाव प्रथमो यज्ञानाम्। अनेन हुत्वा योऽन्येन जुहोति सोऽन्धं तमः प्रविशतीत्यादिः।*

परकृतिस्तु– *वपामेवाग्रे अभिघारयन्त्यथ पृषदाज्यं तदु ह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिधारयन्तीत्यादिः*। पुराकल्पस्तु– *पुरा ब्राह्मणाः पवमानस्तोम मस्तोषन्नित्यादिः।* तदेतेषां यदि प्रवृत्तिपरता न स्यादानर्थक्यमेव स्यादित्यर्थः। उद्देश शब्दस्याभिप्रायार्थत्वं पर्यायेणाह स चेति। अधिकार इति।

प्रकाशः– सकर्तृकत्वमिति भावः। चेतनेति। एक एवार्थः सर्वेषां चेतनानामपेक्षित इत्यत्र नियामकाभावाद् भिन्नभिन्नार्थापेक्षायां तात्पर्यभेदाद् वाक्यभेदः स्यादिति भावः। वेद इति। तव दर्शने इति शेषः। अथैवेति। लोके हि पदानां स्वतन्त्राभिप्रायपूर्वकतया स्वार्थप्रतिपादकत्वदर्शनाद् वेदेऽपि तथात्वं तत्पूर्वकतयैव युज्यते। न च लौकिकशब्देभ्यो वैदिकाः शब्दा अन्य एवेति लोकमर्यादातिक्रमः स्यात्। यतोऽनेनैव न्यायेन लौकिकानामेव शब्दानामर्थविशेषे शक्तिग्रहाद् वैदिकानां तद्भिन्नत्वादगृहीत शक्तिकत्वादर्थाप्रतिपादकत्वप्रसङ्गः। अत एव य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एव चामीषामर्था इत्याहुरित्यर्थः। ननूद्देश्यत्वं नेच्छाविषयत्वं, किन्तु वस्त्वन्तरमेवेत्यत आह स चेति। लोके तथैव निश्चयादित्यर्थः।

तदाधारप्रणेतृपुरुषधौरेयसिद्धिः।

तथा च प्रयोगः – वैदिकानि प्रशंसावाक्यानि उपादानाभिप्रायपूर्वकाणि, प्रशंसावाक्यत्वात्, 'परिणतिसुरसमाम्रफलमि'त्यादिलोकवाक्यवदिति। एवं निन्दावाक्यानि हानाभिप्रायपूर्वकाणि, निन्दावाक्यत्वात्, परिणतिविरसं पनसफलमि'त्यादिवाक्यवत्। अन्यथा निरर्थकत्वप्रसङ्गश्च विपक्षे बाधकमुक्तम्।

अपि च – नो चेदेवं, श्रुतार्थापत्तिरपि हीयेत। सिद्धो ह्यर्थः प्रमाणविषयो, न तु तेनैव कर्तव्यः। न च 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र रात्रौ भुङ्क्ते इति वाक्यशेषोऽस्ति, अनुपलम्भबाधितत्वात्। उत्पत्त्यभिव्यक्तिसामग्रीताल्वादिव्यापारविरहात्। अयोग्यस्याशङ्कितुमप्य

आमोदः–एतदधिकृत्यानेनोक्तमित्यमर्थः प्रतीयत इति भावः। वैदिकानि वाक्यानीति सर्गाद्यकालीनानीत्यर्थः। सर्गस्य साधितत्वादत्राश्रयासिद्धिः। *वेदस्य* स्वतन्त्राभिप्रायपूर्वकत्वव्यतिरेके *भट्टं* प्रति विपक्षबाधकमाह नो चेदेवमिति। पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इति वाक्यश्रवणानन्तरं रात्रौ भुङ्क्ते इति वक्तुरभिप्रायविषयं वाक्यं यथा श्रोता कल्पयति तथा। *तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजेत* इत्यत्र विधिकल्पनं वक्तुरभिप्रायं विनानुपपन्नमित्यर्थः। नन्वर्थापत्त्या शेषीभूतवाक्यमेव जन्यतामित्यत आह सिद्ध इति। प्रमाणस्य ज्ञापकत्वं न तु ज्ञाप्यजनकत्वमपीत्यर्थः। अनुपलम्भेति। यदि स्यात् तदा वाक्यान्तरवदुपलभ्येतेत्यर्थः। ननु सदपि वाक्यमयोग्यत्वान्नोपलभ्येतेत्यत आह उत्पत्तीति। स्वमते अभिव्यक्तीति। परमते 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यादि वाक्योच्चारणानन्तरं वक्तुस्ताल्वादिव्यापारोऽपि नोपलभ्यते, येन रात्रौ भुक्तमिति

प्रकाशः– वैदिकानीति। ननु सर्गाद्यकालीनवैदिकवाक्यपक्षतायामाश्रयासिद्धिः। इदानीन्तनस्य तस्य पक्षत्वेऽध्येत्रास्मदादिनार्थान्तरत्वं, स्वरूपाख्यानपरपुत्रस्तुतिवाक्ये चानैकान्तिकम्। अत्राहुः –वैदिकप्रशंसावाक्यानि वेदसमानविषयकतात्पर्यार्थपूर्वक-तात्पर्यविषयकाणि सतात्पर्यवाक्यत्वात् लौकिकप्रशंसावाक्यवत्।

यदि च वेदे न स्वतन्त्रपुरुषाभिप्रायपूर्वकता, तदा *भट्टानां* श्रुतार्थापत्त्या शब्दः कल्प्यते इति राद्धान्तव्याघात इत्याह – अपि चेति। ननु मा भूच्छ्रुतार्थापत्त्या

मकरन्दः– वेदसमानविषयकेत्यादि। अत्र वेदपदं स्वपरं, तेन लौकिकप्रशंसावाक्ये न व्यभिचारः। अध्यापकतात्पर्यविषयत्वेनार्थान्तरमत उक्तं तात्पर्यापूर्वकेति

शक्यत्वात्। तस्मादभिप्रायस्थ एव परिशिष्यते, गत्यन्तराभावात्। स चेद्वेदे नास्ति, नास्ति श्रुतार्थापत्तिरिति तद्व्युत्पादनानर्थक्यप्रसङ्गः। तस्मात् कार्यात्तात्पर्यादप्युन्नीयते, अस्ति प्रणेतेति।

आयोजनात् खल्वपि। न हि वेदादव्याख्यातात् कश्चिदर्थमधिगच्छति। न चैकदेशदर्शिनो व्याख्यानमादरणीयम्। 'पौर्वापर्यापरामृष्टः शब्दोऽन्यां कुरुते मतिम्' इति न्यायेनानाश्वासात्। त्रिचतुरपदकादपि वाक्यादेकदेशश्राविणोऽन्यथार्थप्रत्ययः स्यात्, किमुतातीन्द्रियादन्तरान्तरवाक्यसम्भेददुरधिगमात्। ततः सकलवेदवेदार्थदर्शी

आमोदः– वाक्यमयोग्यमपि कल्प्येतेत्यर्थः। अभिप्रायस्थ एवेति वक्तुरिति शेषः। नन्वर्थ एव तादृशः कल्प्यतां, किं शब्दकल्पनया इत्यत आह गत्यन्तरेति। अर्थकल्पनयाऽन्वयबोध एव न सम्भवति। अन्वयबोधे हि पदविशेषोपस्थापितत्वं तन्त्रम्। अन्यथा गौः कर्मानयनं कृतिरित्यादौ अन्वयबोधः स्यात्। अत एव यत्रान्यत् क्रियापदं न श्रूयते तत्रास्ति भवतीति क्रियापदं प्रयोक्तव्यमित्याचक्षते *शाब्दाः*। पचतीत्युक्ते वधूपदर्शितकलापमादायान्वयबोधप्रसङ्गात्। न, ननु यथान्योदीरिते कलापादिपदेनान्वयबोधः, तथा प्रत्यक्षकलापादिकमादायापीति वाच्यम्, तत्र समभिव्याहाराभावात् आकाङ्क्षाया एवाभावात्, वेदे विधिशेष-कल्पनार्थमेव व्युत्पादनं तत्र शास्त्रे व्यर्थं स्यादित्याह– स चेदित्यादि। प्रकृतमुपसंहरति तस्मादिति। तात्पर्यविषयस्य प्रवृत्ति निवृत्त्यादेः कार्यत्वमिति लक्षणया कार्यपदेन तात्पर्यमुक्तमिति भावः।

प्रकाशः– शब्दकल्पनं, योग्यार्थकल्पनयैवोपपत्तेः। मैवम्। क्रियाकरकपदानामन्योन्योपस्थापितार्थान्वयबोधकत्वनियमव्युत्पत्तेः। अन्यथा गौः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यतोऽपि गामानयेत्यस्मादिवान्वयबोधापत्तेः। पुष्पेभ्य इत्यादौ स्पृहयतीत्यादिशब्दसमभिव्याहारं विना चतुर्थ्यनुपपत्तेश्च। न च स्पृहयतिशब्दार्थयोग एव चतुर्थी साधुः। पुष्पमिच्छतीत्यत्रापि चतुर्थ्यापत्तेः।

तथापि स्वयं स्मृतानामेव योग्यासन्नसाकाङ्क्षपदानां श्रुतपदैः सहैकार्थप्रतिपादने तात्पर्यकल्पनं श्रुतार्थापत्तिविषयः स्यादिति चेन्न। वेदे परस्परसमभिव्याहृतपदानामेकार्थप्रतिपादने तात्पर्योपलब्धेः। तस्य चोच्चारणाभिप्रायान्यतरनियतविषयत्वेनोभयथापि ईश्वरसिद्धिरित्याशयेनाह गत्यन्तराभावादिति।

कश्चिदेवाभ्युपेयः, अन्यथाऽन्धपरम्पराप्रसङ्गात्। स च श्रुताधीतावधृत-स्मृतसाङ्गोपाङ्गवेदवेदार्थस्तद्विपरीतो वा न सर्वज्ञादन्यः सम्भवति। को ह्यप्रत्यक्षीकृतविश्वतदनुष्ठान 'एतावानेवायमाम्नाय' इति निश्चिनुयात्?। कश्चार्वाग्दृक् निःशेषाः श्रुतीर्ग्रन्थतोऽर्थतो वाऽधीयीत, अध्यापयेद्वा?।

अत्रापि प्रयोगः - वेदाः कदाचित् सर्ववेदार्थविद्व्याख्याताः, अनुष्ठातृमतिचलनेऽपि निश्चलार्थानुष्ठानत्वात्, यदेवं तत्सर्वं

आमोदः- आयोजनं समस्तवेदव्याख्यानम्। तच्चार्वाचीनपुरुषाशक्यमिति ईश्वर एव प्रथमव्याख्याता इत्यर्थः। पौर्वापर्यापरामृष्टः विशेषणविशेष्यभावेनानवगतः। त्रिचतुरेति। विमलं जलमि'त्यश्रुतवतो नद्याः कच्छे महिषश्चरतीत्यादेः दुरधिगमादिति। *वेदादिति* शेषः। अन्यथेति। यद्यस्मदादिरेव व्याख्याता स्यादित्यर्थः। कार्यायोजनपदे व्याख्याय *धृत्या*देरित्यपि तदन्तर्भाविणैव व्याचष्टे स चेति। *अधीतो* ज्ञानविषयीकृतः। *श्रुतः* श्रोत्रेण साक्षात्कृतः, *धृतो* निरन्तराभ्यासेन दृढसंस्कारविषयीकृतः। *तद्विपरीतो* अध्ययनादिश्रवणादिकमन्तरेणैव समाकलितः साङ्गोपाङ्गवेदार्थः। अध्यापितश्रावितधारितसमस्तवेदार्थो वा। अन्यथासिद्धि-निरासायाह को हीति। इदानीं सर्ववेदार्थविद्व्याख्यातत्वमनुपलम्भबाधितमत आह कदाचिदिति। सर्गादौ

प्रकाशः- कार्येत्यादिकारिकायां धृत्यादेरित्यपि व्याचष्टे स चेति। श्रुतः - श्रोत्रेण साक्षात्कृतः। अधीतो-ज्ञानविषयार्थः। धृतः-सतताभ्यासेन दृढसंस्कारः। तद्विपरीतो विनैवाध्ययनं ज्ञातसकलाङ्गोपाङ्गवेदार्थः, अध्यापितधारितादिवेदार्थो वा। कदाचिदिति बाधनिरासाय। एकदेशदर्शिव्याख्यात*वेदात्*, शिष्याणां श्रद्धया प्रवर्त्तमानां निश्चलानुष्ठानमस्तीत्यनैकान्तिकमित्यत उक्तम् अनुष्ठात्रिति। तत्रानुष्ठातृणामव्यवस्थितमतित्वाभावादित्यर्थः। अननुष्ठानहेतुमाह अव्यवस्थानादिति।

मकरन्दः- तात्पर्यविशेषणम्। तात्पर्यविषयकाणीत्यत्र तात्पर्यविषयो विषयो यस्येति मध्यपदलोपी समास इत्याहुः। न च हेतौ सतात्पर्यकपदं व्यर्थम्, ईश्वरतात्पर्यमादाय वाक्यमात्रस्य पक्षसमत्वेन व्यभिचाराभावादिति वाच्यम्। बाधितार्थके तत्तात्पर्याभावेन व्यभिचारसम्भवात्। सा चेतीति। तथा च धृत्यादेरित्यनेन वेदधारकत्वादिक-मुक्तमिति तदाश्रयेश्वरसिद्धिरिति भावः। एकदेशदर्शीति। नन्वीश्वरव्याख्यानमादाय तस्यापि पक्षसमतया कथमनैकान्तिकम्,

तदर्थविद्व्याख्यातं, यथा *मन्वादिसंहितेति*। अन्यथा त्वनाश्वासेना व्यवस्थानादननुष्ठानमव्यवस्था वा भवेदनादेशिकत्वात्। अनुष्ठातार एवादेष्टार इति चेन्न। तेषामनियतबोधत्वात्। वेदवद्वेदानुष्ठानमप्यनादीति चेन्न। तद्धि स्वतन्त्रं वा, वेदार्थबोधतन्त्रं वा?। आद्ये, निर्मूलत्वप्रसङ्गः। द्वितीये, त्वनियमापत्तिः। न ह्यसर्वज्ञाविशेषे पूर्वेषां तदवबोधः प्रमाणं, न त्विदानीन्तनानामिति नियामकमस्ति।

आमोदः– *मन्वादीन्न* मानसानुत्पाद्येत्यर्थः। **अन्यथेति**। सर्वविद्व्याख्यानमन्तरेण इत्यर्थः। कथमननुष्ठानमत आह **अव्यवस्थानादिति**। अर्वाचीनव्याख्यानस्या व्यवस्थितत्वादित्यर्थः। अर्वाचीनेनैवान्यथा व्याख्यानेऽनुष्ठानं व्यवस्थितं न स्यादित्याह **अननुष्ठानेति**। **अनादेशिकत्वादिति**। परमार्थाभिज्ञोपदेशा विषयत्वादित्यर्थः। ननु पूर्वपूर्वानुष्ठातृणामुपदेश इदानीन्तनानुष्ठाने तन्त्रं स्यादित्याह **अनुष्ठातार इति**। **तेषामिति**। असर्वज्ञत्वेनानियतबोधत्वादित्यर्थः। **वेदवदिति**। तथा च किं सर्वविद्व्याख्यानेनेत्यर्थः। **स्वतन्त्रमिति**। यादृच्छिकमित्यर्थः। **वेदार्थावबोधतन्त्रमिति**। अर्वाचीनव्याख्यातवेदार्थावबोधतन्त्रमित्यर्थः। ननु कथमनियमः पूर्वेषां प्रामाणिकत्वात्, तद्व्याख्यानस्यैव नियामकत्वादित्यत आह **न हीति**। पूर्वत्वमतन्त्रमित्यर्थः। **प्रणवस्येश्वरवाचकत्वम्**।

समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् (शिवमहिम्नस्तोत्रम्) इति श्रवणात्।

प्रकाशः– अर्थनिश्चयस्येति शेषः। अन्यथा त्वनियतमनुष्ठानं स्यादित्याह **अव्यवस्था वेति**। अर्थनिश्चयाव्यवस्थानादित्यर्थः। **अनादेशिकत्वात्**–अनौपदेशिकत्वादित्यर्थः। ननु पूर्वेषामेव स्वतन्त्रवेदार्थज्ञानं प्रमाणमाधुनिकानान्त्वप्रमाणं स्यादित्यत आह **न हीति**। न च कश्चित् वेदार्थोऽस्तीत्यनेन रूपेणास्मदादिभिरेव व्याख्यानादनुमाने सिद्धसाधनम्। येन रूपेण वेदार्थो व्याख्यात इति लोके व्यवहारः, ताद्रूप्येण व्याख्यानस्य विवक्षितत्वात्। यद्वा *वेदा* व्याख्यानानुकूलतद्विषयानित्यज्ञान भिन्नज्ञानसमानविषया वाक्यत्वाद्, वेदा एतद्विषयानित्यज्ञानान्यज्ञानविधृता

मकरन्दः– अन्यथा तादृशस्थले कदाचिदनुष्ठातृमतिचलनस्यापि सम्भवेन तत्पदोपादानेऽपि व्यभिचारापत्तेरिति चिन्त्यम्। धृत्यादेरित्यभिप्रायेणाह वेदा इति।

पदात् खल्वपि। श्रूयते हि प्रणवेश्वरेशानादिपदम्। तच्च सार्थकम्, अविगानेन श्रुतिस्मृतीतिहासेषु प्रयुज्यमानत्वात्, घटादिपदवदिति सामान्यतः सिद्धे, कोऽस्यार्थ इति व्युत्पित्सोर्विमर्शे सति निर्णयः, स्वर्गादिपदवत्।

'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'।। भ.गीता १५।१७।
इत्यर्थवादात्।

यववराहादिवद्वाक्यशेषाद्वा। तद् यथा 'ईश्वरप्रणिधान'मुपक्रम्य श्रूयते –

आमोदः- अविगानेनेति। अविरोधेनेत्यर्थः। न च स्तोमेन व्यभिचारः। *श्रुत्या*दिषु प्रयुज्यमानत्वादिति हेत्वर्थो न तु *श्रुतौ* प्रयुज्यमानत्वादितिमात्रम्। यद्वा, विगानं निरर्थकतया प्रसिद्धिः। स्तोमे च ताद्रूप्येणैव प्रसिद्धेः। स्वर्गादिपदवदिति। यथा *यन्न दुःखेन सम्भिन्नमि*त्यद्यर्थवादात् स्वर्गादिपदे शक्तिग्रहः। तथा *उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः* (श्रीमद्भगवद्गीता) इत्याद्यर्थवादादीश्वरपदशक्तिग्रह इत्यर्थः। वाक्यशेषादिति। यद्यपि वाक्यशेषोऽप्यर्थवाद एव, तथापि वाच्यसन्देहे विधिशेषः, अन्यत्र त्वर्थवादमात्रमिति विकल्पेनाभिधानम्। यवादिपदे यथा *वसन्ते सर्वशस्यानामि*त्यादिना शक्तिग्रहस्तथा प्रकृतेऽपि सर्वज्ञतेत्यादिना शक्तिग्रह इत्यर्थः। अर्थवादमुपदर्शयति उत्तम इत्यादि।

प्रकाशः-धृतवाक्यत्वादिति भावः। अविगानेनेति। निरर्थकतया प्रसिद्ध्यभावेनेत्यर्थः। अत एव स्तोभैर्न व्यभिचारः, निरर्थकत्वेनैव तेषां प्रसिद्धेरिति भावः। यथा स्वर्गपदे विधिशेषीभूतार्थवादाच्छक्तिग्रहस्तथा प्रकृतेऽपीत्याह निर्णय इति। अर्थवादमाह उत्तम इति।

यववराहादिवदिति। 'यवमयश्चरुर्भवति' 'वाराही चोपानद्' 'वैतसे कटे प्राजापत्यं धिनोती'त्यत्र यववराहवेतसशब्दाः किं कङ्गुवायसजम्बूनां वाचकाः, उत दीर्घशूकशूकरवञ्जुलानामिति म्लेच्छार्यव्यवहारदर्शनाद्विप्रतिपत्तौ मुख्यार्थानध्यवसायेऽननुष्ठानापत्त्या तत्पदवद्वेदप्रामाण्यसंशये, पूर्वपक्षः – व्युत्पत्तिग्राहकव्यवहाराविशेषात् कङ्ग्वादावपि शक्तिरेव, पिकनेमतामरसपदेषु म्लेच्छप्रसिद्धेरादरणाच्चेति। राद्धान्तस्तु

वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम्।
मोदमानास्तु तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः।।

'वराहं गावोऽनुधावन्ति' 'अप्सुजो वेतसः' इत्यादिवाक्यशेषरूपवेदविरोधिनी

'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य'।। इति।
(वायु पु० १२।३३।)

एवम्भूतोऽर्थः प्रमाणबाधित इति चेन्न। प्रागेव प्रतिषेधात्। तथापि न तत्र प्रमाणमस्तीति चेत्, स्वर्गे अस्तीति का श्रद्धा?। न ह्युक्तविशेषणे सुखे किञ्चित्प्रमाणमस्त्यस्मदादीनाम्।

याज्ञिकप्रवृत्त्यन्यथाऽनुपपत्त्या तथैव तदित्यवधार्यते इति चेन्न, इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्। अवधृते हि स्वर्गरूपे तत्र प्रवृत्तिः, प्रवृत्त्यन्यथाऽनुपपत्त्या च तदवधारणमिति। पूर्ववृद्धप्रवृत्त्या तदवधारणेऽयमदोष इति चेन्न, अन्धपरम्पराप्रसङ्गात्। विशिष्टादृष्टवशात् कदाचित् कस्यचिदेवंविधमपि सुखं स्यादिति नास्ति विरोधः। तन्निषेधे प्रमाणाभावादिति चेत्, तुल्यमितरत्रापि। अत्रापि प्रयोगः – यः शब्दो

आमोदः- प्रणिधानं ध्यानम्। विधिशेषमाह सर्वज्ञतेत्यादि। तृप्तिः स्वभोगेच्छाविरहः। स्वतन्त्रता सर्वकारकप्रयोक्तृत्वम्। अलुप्तशक्तिः नित्ययत्नः। अनन्तशक्तिरविनाशिनीच्छा। एतानि षड् अङ्गानि धर्मान् विदित्वा आहुः प्रामाणिकाः। तथा च तावद्धर्मविशिष्टमीश्वरं प्रणिदध्यादिति विधेः शेषोऽयमित्यर्थः। एवम्भूत इति। सर्वज्ञतादिधर्मयुक्त इत्यर्थः। प्रागेवेति। योग्यानुपलब्ध्यादि प्रमाणजातबाधकत्वस्य प्रागेव दूषितत्वादित्यर्थः। तथापीति। अर्थवादस्या प्रमाणत्वादिति भावः। स्वर्ग इति। तत्रार्थवादस्यैव प्रमाणत्वादित्यर्थः। ननु स्वर्गः सुखं, तत्र प्रमाणं प्रत्यक्षमेवात आह न ह्युक्तविशेषण इति। दुःखासम्भिन्नत्वादि विशेषणविशिष्टः। किञ्चिदिति। अर्थवादादन्यदित्यर्थः। ननु विशिष्टं सुखमन्तरेण बहुवित्तव्ययायाससाध्ये वाजपेयादौ प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरेव न स्यादित्याह याज्ञिकेति। इतरेतराश्रयमेव स्फुटयति अवधृत इति। अन्धेति। मूलाभावादित्यर्थः। अदृष्टादुत्पन्ने विशिष्टसुखे तज्ज्ञानात्तज्जातीयसुखान्तरार्थं प्रवृत्तिः स्यादित्याह विशिष्टेति। तुल्यमिति। तददृष्टं यागादिनैवोत्पाद्यम्। यागादौ च प्रवृत्तिरर्थवादोपस्थित

प्रकाशः- म्लेच्छप्रसिद्धिर्हेयेति म्लेच्छप्रसिद्धौ निरस्तायां निष्प्रतिपक्षार्थव्यवहाराच्छक्तिग्रहः। यत्र तु वेदविरोधो नास्ति, तत्र पिकादिपदेष्वभियोगवत्त्वान्म्लेच्छानां तत्प्रसिद्धिरेवादरणीयेत्यर्थः।

प्रकृते विधिशेषीभूतं वाक्यशेषमाह सर्वज्ञतेति। तृप्तिः-स्वभोगेच्छाविरहः। अङ्गानि धर्माः। उक्तविशेषणे-दुःखादिसम्भिन्नत्वाभावादिविशिष्टे। याज्ञिकेति।

यत्र वृद्धैरसति वृत्त्यन्तरे प्रयुज्यते स तस्य वाचकः, यथा स्वर्गशब्दः सुखविशेषे प्रयुज्यमानस्तस्य वाचकः। प्रयुज्यते चायं जगत्कर्तरीति। अन्यथा निरर्थकत्वप्रसङ्गे सार्थकपदकदम्बसमभिव्याहारानुपपत्तिरिति। एतेन रुद्रोपेन्द्रमहेन्द्रादिदेवताविशेषवाचका व्याख्याताः।

अपि च – अस्मत्पदं लोकवद्वेदेऽपि प्रयुज्यते। तस्य च लोके नाचेतनेष्वन्यतमदर्थः, तत्र सर्वथैवाप्रयोगात्। नाप्यात्ममात्रमर्थः, परात्मन्यपि प्रयोगप्रसङ्गात्। अपि तु यस्तं स्वातन्त्र्येणोच्चारयति तमेवाह। तथैवान्वयव्यतिरेकाभ्यामवसायात्। ततो लोकव्युत्पत्तिमनतिक्रम्य वेदेऽप्यनेन स्वप्रयोक्तैव वक्तव्यः। अन्यथाऽप्रयोगप्रसङ्गात्। न च यो यदोच्चारयति वैदिकमहंशब्दं स एव तदा तस्यार्थ इति युक्तम्। तथा सति 'मामुपासीते'त्यादौ स एवोपास्यः स्यात्। 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इत्युपाध्यायशिष्यपरम्परैवात्मन्यैश्वर्यं समधिगच्छेत्। तथा च उपासनां प्रत्युन्मत्तकेलिः स्यात्। लोकव्यवहारश्चोच्छिद्येत। तस्मान्नानुवक्तास्य वाच्यः। अपि तु वक्तैवेति स्थिते प्रयुज्यते – वेदे

आमोदः– विशिष्टसुखप्रतीत्यैव, ईदृशश्चार्थवादः प्रकृतेऽपीत्यर्थः। सार्थकेति। संसर्गपरतयेत्यर्थः। तथा च न स्तोमेन व्यभिचारः। रुद्रादीति। *रुद्रो वै उग्रा देवता* इत्यर्थवादाद्रुद्रपदे, *सहस्राक्ष इन्द्र* इत्यर्थवादादिन्द्रपदे शक्तिग्रह इत्यर्थः। प्रयोगप्रसङ्गादिति परेणेत्यादिः। स्वातन्त्र्येणेति। अन्यथा, 'वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा (रघुवंश।१४) इत्यत्र कविरेवाहंपदवाच्यः स्यादिति भावः। तथैवेति। स्वतन्त्रोच्चारयितृवाचकस्यैवेत्यर्थः। स्वप्रयोक्तैवेति। स चेश्वर इत्यर्थः। मामुपासीतेति वेदभागमुच्चारयन् स एव उच्चारयितैव अस्योपास्य इत्यर्थः। तथा सतीति। अनुवक्तृपरम्परैवोपास्या स्यादित्यर्थः।

प्रकाशः– लौकिकसुखातिशयसुखं विना बहुवित्तव्ययायाससाध्ये कर्मणि प्रवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः। एतेनेति। रुद्रादिपदेष्वपि रुद्रस्त्र्यम्बक इत्यादिवाक्यशेषान्निर्णय इत्यर्थः।

यदि अस्मच्छब्दस्योच्चारयितरि शक्तिस्तदा 'वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजे'त्यत्र कविरेवास्मच्छब्देनोच्येतेत्यत उक्तं स्वातन्त्र्येणेति। अन्य कर्तृकत्वेनोच्चारणाभावः स्वातन्त्र्यम्। अत एव 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाये'त्यादावपि नेश्वरवाचकत्वम्, अस्यान्यपरतयैव ईश्वरेणोच्चारितत्वात्।

अस्मच्छब्दः स्वप्रयोक्तृवचनः, अस्मच्छब्दत्वाल्लोकवदिति।

एवमन्येऽपि यः कः स इत्यादिशब्दा द्रष्टव्याः। तेषां बुद्ध्युपक्रमप्रश्नपरामर्शाद्युपहितमर्यादत्वात्। तस्य च वक्तृधर्मत्वात्। बुद्ध्युपक्रमो हि प्रकृतत्वं, जिज्ञासाऽऽविष्करणञ्च प्रश्नः, प्रतिसन्धानञ्च परामर्श इति। एवञ्च संशयादिवाचका अप्युन्नेयाः। न च जिज्ञासासंशयादयः सर्वज्ञे प्रातिषिद्धा इति युक्तम्, शिष्यप्रतिबोधनायाहार्यत्वेनाविरोधात्। 'को धर्मः कथं लक्षणक' इत्यादि *भाष्य*वदिति। एतेन धिगहो बत हन्तेत्यादयो निपाता व्याख्याताः।६।

प्रत्ययादपि। लिङादिप्रत्यया हि पुरुषधौरेयनियोगार्था भवन्तस्तं प्रतिपादयन्ति। तथा हि –

आमोदः– द्रष्टव्या इति। ईश्वरसाधकत्वेनेति शेषः। कथमेवमत आह तेषामिति। यथासंख्यमन्वयः। उपहितमर्यादत्वादिति। उपहितवाचकत्वादित्यर्थः। एतावता कथं वक्तुः सिद्धिरत आह तेषामिति। प्रकृतत्वं प्रथमं बुद्धावुपनिपतितत्वम्। प्रतिसन्धानमिति। स्मरणारूढस्तत्पदवाच्य इत्यर्थः। उन्नेया इति। संशयाद्याधारसाधकत्वेनेति शेषः। विप्रतिषिद्धा इति दोषाभावादित्यर्थः। निर्दोषस्याप्याहार्यः संशय इत्यत्र दृष्टन्तमाह क इति। एतेनेति। संशयादीनां वक्तृधर्मकथनेनेत्यर्थः। धिगादिशब्दार्थानामपि कुत्साविषयखेदानुशयानां वक्तृधर्मत्वादित्यर्थः।।६।।

लिङादीत्यादिपदेन लिट्तव्यानीयरादयो गृह्यन्ते। नियोगः प्रवर्तनम्, प्रयोजनमर्थो येषां ते नियोगार्था इति।

प्रकाशः– अस्मच्छब्दत्वादिति। अनन्यपरास्मच्छब्दत्वादित्यर्थः। तेषामिति क्रमेण यच्छब्दादीनामर्थकथनम्। धर्म इति। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (मी.सू.१।१।१) इत्यनेन शास्त्रप्रयोजनमभिधाय विशेषे धर्मजिज्ञासोः शास्त्रारम्भे शिष्यजिज्ञासामुपादाय मीमांसाभाष्यम् – को धर्मः कथं लक्षणकः कान्यस्य साधनानीति यथेत्यर्थः। एतेन–बुद्ध्युपक्रमादीनां वक्तृधर्मत्वकथनेन। गर्हाविस्मयखेदानुशयानां वक्तृधर्मत्वादित्यर्थः।।६।।

लोके लिङादीनामाप्तेच्छायां शक्तिग्रहाद्वेदेऽपि स एवार्थः। न च वेदार्थे अस्मदादीनामिच्छा सम्भवतीति तदाश्रयेश्वरसिद्धिरित्याह – लिङादीति। नियोगोऽभिप्रायः। अन्येषां लिङर्थत्वे बाधकस्य वक्तव्यत्वादित्यर्थः।

प्रवृत्तिः कृतिरेवात्र सा चेच्छातो यतश्च सा।
तज्ज्ञानं विषयस्तस्य विधिस्तज्ज्ञापकोऽथवा।।७।।

प्रवृत्तिः खलु विधिकार्या सती न तावत्कायपरिस्पन्दमात्रम्, आत्मा ज्ञातव्य इत्याद्यव्यापनात्। नापीच्छामात्रम्, तत एव फलसिद्धौ कर्मानारम्भप्रसङ्गात्। ततः प्रयत्नः परिशिष्यते। आत्मज्ञानभूतदयादावपि तस्याभावात्। तदुक्तं 'प्रवृत्तिरारम्भ' इति। सेयं प्रवृत्तिर्यतः सत्तामात्रावस्थितात्, नासौ विधिः, तत्र शास्त्रवैयर्थ्यात्। अप्रतीतादेव

आमोदः- प्रवृत्तिरिति। कृतिरेव प्रयत्न एवेत्यर्थः। 'सा कृतिर्यतो भवति सा इच्छा चिकीर्षा इत्यर्थः। यतश्चिकीर्षा भवति तज्ज्ञानं चिकीर्षाज्ञानस्य यो विषय इष्टसाधनत्वादिर्मतभेदेन स विधिः विधिप्रत्ययार्थः। *स्वाभिमत*माह तज्ज्ञापक इति। तदनुमापकः प्रमाभिप्राय इति यावत्।

प्रवृत्तेः कृतित्वनिर्वाहाय परिशेषमाह प्रवृत्तिरिति। विधिकार्येत्यत्र विधिपदं विधायकवाक्यपरम्। ज्ञातव्य इति। ज्ञानानुकूलस्पन्दाभावादित्यर्थः। तत एवेति। इच्छामात्रादेव फलस्य स्वर्गादेरुत्पत्तौ कर्मणो यागादेरननुष्ठानप्रसङ्गादित्यर्थः। स्वाभिमतमाह तत इति। आत्मज्ञानेति। श्रवणमनननिदिध्यासनादेः प्रयत्नसाध्यत्वात् भूतदयादीनामपि प्रयत्नविषयत्वोपपादनादित्यर्थः।

तदुक्तमिति। 'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ इति गौतमीयसूत्रे [न्या०सू० 1.1.17] यत इति मनःसंयोगादेरित्यर्थः। नासौ विधिरिति। न लिङादिवाच्य इत्यर्थः। तत्रेति। तद्बाधनार्थं शास्त्रं न स्यादित्यर्थः। एतदेव स्फुटयति अप्रतीतादेवेति। ननु लिङादिना प्रवृत्तिहेतुः कश्चिदुत्पाद्यतामत्रैव शास्त्रमुप

प्रकाशः- प्रवृत्तिरिति। अन्यत्र ज्ञानादेरपि प्रवृत्तिपदवाच्यत्वेऽत्र कृतिरेव सा विवक्षितेत्यर्थः। तथा च कृतिकारणेच्छाज्ञानविषयो विधिरि*त्यन्येषां* मतम्। *स्वमत*माह तज्ज्ञापक इति।

यथा चाप्तेच्छाविषयत्वेन प्रवर्त्तकज्ञानविषय इष्टसाधनत्वमनुमीयते, तथा वक्ष्यति। तच्च *परमत*निरासं विना न भवतीति तन्निराकर्तुमाह प्रवृत्तिः खल्विति। विधिकार्या-विधिज्ञानकार्येत्यर्थः। आत्मेति। चेष्टां विनापि विध्यर्थसत्वादित्यर्थः। तत एवेति। इच्छामात्रेण विध्यर्थनिर्वाहे बहुवित्तव्ययायाससाध्ययागाद्यकरण प्रसङ्गादित्यर्थः। तत इति। कृतौ नायम्, क्रियमाणयागस्योपयोगादित्यर्थः। आत्मज्ञानेति। मोक्षकामस्य ज्ञानविधाने भूतेषु दयाविधाने च तेषामभावेऽपि

कुतश्चित् प्रवृत्तिसिद्धौ तत्प्रत्यायनार्थं तदभ्यर्थनाभावात्। न च प्रवृत्तिहेतुजननार्थं तदुपयोगः, प्रवृत्तिहेतोरिच्छाया ज्ञानयोनित्वात् ज्ञानमनुत्पाद्य तदुत्पादनस्याशक्यत्वात्। तस्य च निरालम्बनस्यानुत्पत्तेरप्रवर्त्तकत्वाच्च, नियामकाभावात्। तस्माद् यथा ज्ञानं प्रयत्नजननीमिच्छां प्रसूते, सोऽर्थविशेषस्तज्ज्ञापको वार्थविशेषो विधिः, प्रेरणा, प्रवर्तना, नियुक्तिर्नियोगः, उपदेश इत्यनर्थान्तरमिति स्थिते विचार्यते। स हि कर्तृधर्मो वा स्यात्, कर्मधर्मो वा, करणधर्मो वा, नियोक्तृधर्मो वेति?।७।

न प्रथमः –

इष्टहानेरनिष्टाप्तेरप्रवृत्तेर्विरोधतः।
असत्त्वात्प्रत्ययत्यागात्कर्तृधर्मो न सङ्करात्।।८।।

आमोदः– करिष्यति इत्यत आह न चेति। प्रवृत्तिं प्रति हेतुरिच्छैव, सा च ज्ञानाधीनैवेति ज्ञानमेव शास्त्रेणोत्पाद्यं, तच्च ज्ञानं सविषयकं निर्विषयकस्यानुत्पत्तेर्यत्र क्वचित् प्रवर्तकत्वप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः। सोऽर्थविशेष इष्टसाधनत्वादिर्विद्यमानः पर्यवस्यतीत्यर्थः। पर्यायोत्कीर्तनेन प्रवर्तकज्ञानविषयत्वं विधित्वमिति दर्शयति। विचारार्थं विकल्पयति स हीति। प्रवर्तकज्ञानविषय इत्यर्थः। कर्तृधर्म इति। यागादिकर्तुर्नियोज्यस्य स च स्पन्दः प्रयत्नः इच्छा वा स्यादिति भावः। कर्मपदेन यागादिक्रिया तद्धर्मः कार्यत्वादिव पूर्वस्य वा कर्मणः कश्चिद्धर्मः इत्यर्थः। करणधर्म इति। करणस्य यागादेरेव धर्म इष्टसाधनत्वमित्यर्थः। नियोक्त्रिति। नियोक्ता उपदेष्टा, तस्य धर्मोऽभिप्राय इत्यर्थः।७।

चरमं पक्षमुपग्रहीतुं परिशेषमाह इष्टहानेरिति। यदि कर्तृधर्मः स्पन्दो विधिः

प्रकाशः– यत्नस्य सत्त्वादित्यर्थः। आरम्भो–यत्नः। तत्प्रत्यायनार्थमिति। शास्त्रस्य ज्ञापकतया स्वरूपसद्धेतौ शास्त्रानुपयोगादित्यर्थः। तदिदं *परमत*निराकरणं विना न सिद्ध्यति, तदर्थमुपन्यस्यति स हीति। कर्त्तृधर्मः–प्रवर्त्त्यपुरुषधर्मः। स्पन्द इच्छा प्रयत्नो वा। कर्मधर्मोऽपूर्वस्य क्रियाया वा धर्मः कार्यत्वादिः। करणधर्म इष्टसाधनत्वं शब्दव्यापारो भावना वा। नियोक्तृधर्म आप्ताभिप्रायः।।७।।

मकरन्दः– स्पन्द इति। यद्यपि स्पन्दो न पुरुषधर्मस्तथापि तदवच्छिन्नशरीरे स्पन्द इति तथोक्तम्।

स हि न स्पन्द एव, आत्मानमनुपश्येदित्याद्यव्याप्तेः। 'ग्रामं गच्छती'त्यादावतिव्याप्तेश्च। नापि तत्कारणं प्रयत्नः, तस्य सर्वाख्यातसाधारणत्वात्।

आमोदः– स्यात् तदाऽत्मा ज्ञातव्यो, भूतेभ्यो दयां कुर्यादित्यादावव्याप्तिः, जलताडनादि स्पन्दोऽपि विधिः स्यादित्यतिव्याप्तिरित्याह **अनिष्टाप्तेरिति।** स्पन्दज्ञानञ्च न प्रवर्तकमिति भावः। यत्नस्य प्रवर्तकत्वं दूषयति **अप्रवृत्तेरिति।** न हि प्रयत्नज्ञानं प्रवर्तकमिति भावः। यत्नमात्रस्यानिष्टसाधनसधारण्यादित्येके। इच्छाविधित्वं दूषयति **विरोधत इति।** न हि इच्छाज्ञानमेवेच्छां प्रसूते, न वा इच्छैवेच्छामित्यर्थः। नन्विच्छा ज्ञातैव प्रवृत्तिहेतुरित्यत आह **असत्त्वादिति।** न च लिङादिश्रुतिकाले सा सती, तत्सत्त्वकाले वा प्रवृत्तिपूर्वं तज्ज्ञानसम्भव इति भावः। किञ्च इच्छाया इच्छाजनकत्वे प्रत्ययस्य इच्छाजनकत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धं व्यक्तं स्यादित्याह **प्रत्ययत्यागात् इति।** स्पन्देच्छायत्नानां कर्तृधर्माणाम् एकत्र यागादौ साङ्कर्यादन्यतरस्य विधित्वेनानिर्णयादित्याह **सङ्करादिति।** सङ्कर इच्छादिसङ्कल्पः चिकीर्षेति यावत्। यद्वा, सङ्कराद् गौरवसङ्कीर्णत्वादित्यर्थः। प्रयत्नजनकचिकीर्षाया इष्टसाधनताज्ञानसाध्यत्वेन तस्यामेव लाघवेन विधि-शक्तिकल्पनात् इच्छायां विधिशक्तौ गौरवमित्यर्थः।

नापि प्रयत्न इति। लिङ्वाच्यो विधिरित्यर्थः। **सर्वाख्यातेति।** भावनाख्यस्य यत्नस्य लडादिसर्वाख्यातसाधारणतया लिङाख्यातविशेषणं किमुपनेयं यतः प्रवृत्तिः

प्रकाशः– तत्र स्पन्दस्य विधित्वं दूषयति **इष्टहानेरिति।**

अव्याप्त्यतिव्याप्तिभ्यामित्यर्थः। यत्नस्य विधित्वं दूषयति **अप्रवृत्तेरिति।** यत्नमात्रस्यानिष्टसाधनसाधारण्यादित्यर्थः। इच्छाया विधित्वे बाधकमाह **विरोधत इति।** इच्छाया विधित्वे तयैव तज्जननाद्विरोध इत्यर्थः। न चेच्छा ज्ञाता प्रयत्नजननी, किन्तु सत्तया। न च लिङ्श्रवणकाले सा सतीत्याह **असत्त्वादिति।** न च लिङेव तां जनयति। तत्र ज्ञानकारणत्वत्यागापत्तेः, लिङं विनापीच्छोत्पत्तेश्चेत्याह **प्रत्ययेति।** उपायगोचरप्रवृत्ताविष्टसाधनत्वज्ञानस्य हेतुत्वनिश्चयात् तत्सङ्कीर्णेच्छायाः प्रवर्त्तकत्वे लाघवादिष्टसाधनतैव विधिरित्याह **सङ्करादिति।**

करोतीत्यत्र यत्नस्य कृधातुनैवोक्तत्वादाख्यातमात्रस्य यत्नार्थत्वे पौनरुक्त्यं

ननु न सर्वत्र प्रयत्न एव प्रत्ययार्थः। करोतीत्यादौ प्रकृत्यर्थातिरेकिणस्तस्याभावात्। संख्यामात्राभिधानेन प्रत्ययस्य चरितार्थत्वात्। ततो लिङादिवाच्य एव प्रयत्न इति। न, कुर्यादित्यत्रापि तुल्यत्वात्। प्रयत्नमात्रस्य प्रकृत्यर्थत्वेऽपि तस्य पराङ्गतापन्नस्य प्रत्ययार्थत्वान्न तुल्यत्वमिति चेन्न। तथापि तुल्यत्वात्। न चैकस्य तद्वाचकत्वेऽन्यस्य तद्विपर्यय आपद्येत, एको द्वौ बहव एषिषतीत्यादौ व्यभिचारात्। तत्र द्वितीयसंख्येच्छादिकल्पने करोति, प्रयतते इत्यादावपि तथा स्यात्।

आमोदः– स्यादित्यर्थः। **प्रकृत्यर्थेति**। प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थगतस्वार्थबोधकता न स्यात् यद्यर्थभेदो न स्यादित्यर्थः। नन्वेवं कृधातोः परस्य लडादेर्निरर्थकतैव स्यादित्यत आह **संख्यामात्रेति**। **प्रत्ययस्येति**। लडाख्यतस्येत्यर्थः। ननु चैत्रः कुर्यादित्यत्र कृञः प्रयत्नमात्रमर्थः प्रयत्नविशेषस्तु चैत्रादिसम्बन्धी लिङादिवाच्य इति पौनरुक्त्यमिति शङ्कते **प्रयत्नमात्रस्येति**। तर्हि करोतीत्यादावपि तथैव स्यादिति परिहरति **तथापीति**। प्रकृतिप्रत्यययोरभिन्नार्थतां दृष्टान्तेनाह **एक इति**। अत्र संख्याद्वयमिच्छाद्वयञ्च प्रकृतिप्रत्ययाभ्यामुपस्थाप्यते, परन्त्वन्वयाभिधानदशायां योग्यताबलादेकमेवान्वेतीति यदा, तदा प्रकृतेऽपि समानमित्याह **तत्रेति**। ननु

प्रकाशः– स्यादिति नाख्यातमात्रं यत्नमभिधत्ते, किन्तु लिङेवेत्याह **नन्विति**। ननु यदि प्रकृत्यर्थातिरिक्तो नाख्यातार्थः, तदा तत्प्रयोगो व्यर्थ इत्यत आह **संख्येति**। एकत्वादिसंख्यामात्रमाख्यातार्थः, तत्प्रत्यायनार्थमेव तत्प्रयोग इत्यर्थः। तर्हि लिङपि न यत्नार्थः, कुर्यादित्यत्र पौनरुक्त्यापत्तेः। अथाख्यातात् कृतेरुपस्थितावपि तात्पर्याभावात् सा नान्वीयते, किन्तु संख्यामात्रम्, तर्हि करोतीत्यादावपि तुल्यमित्याह **कुर्यादित्यत्रेति**। यदि कुर्यादित्यत्र यत्नमात्रं कृधात्वर्थः, तस्य च चैत्रादि सम्बन्धित्वमनुकूलत्वं वा प्रत्ययार्थ इति विशेषः, तदा करोतीत्यादावपि तुल्यमिति शङ्कोत्तराभ्यामाह **प्रयत्नमात्रस्येति**।

अपि च कृतेर्धात्वर्थत्वेऽपि प्रत्ययस्य तदर्थत्वं न दोषाय, प्रकृति प्रत्यययोरन्यत्र समानार्थत्वदर्शनादित्याह **न चेति**। एकस्य प्रकृतिरूपस्य, अन्यस्य प्रत्ययरूपस्य,तद्विपर्ययस्तदवाचकत्वमित्यर्थः। अथैक इत्यादौ प्रकृत्यर्थातिरिक्तं द्वितीयमेकत्वादिकम्, एषिषतीत्यत्रापरेच्छा प्रत्ययार्थः, तदा करोतीत्यत्र यत्नान्तरमेवाख्यातार्थ इत्यस्त्वित्याह **तत्रेति**।

प्रत्येकमन्यत्र सामर्थ्यावधृतौ सम्भेदे तथा कल्पनायास्तुल्यत्वात्। 'रथो गच्छती'त्यादौ तदसम्भवे का गतिरिति चेत्, तन्तवः पटं कुर्वन्तीत्यत्र या। लोकोपचारोऽयमपर्यनुयोज्य इति चेत्, तुल्यम्। लिङः, कार्यत्वे वृद्धव्यवहाराद्व्युत्पत्तौ सर्वं समञ्जसम्। आख्यातमात्रस्य तु न तथेति चेन्न। विवरणादेरपि व्युत्पत्तेः। अस्ति च तदिह - किं करोति? पचति, पाकं करोतीत्यर्थ इत्यादिदर्शनात्। तथापि फलानुकूलतापन्न धात्वर्थमात्राभिधाने तदतिरिक्तप्रयत्नाभिधानकल्पनायां कल्पनागौरवं

आमोदः- तथापि पौनरुक्त्यं न समाहितमित्यत आह प्रत्येकमिति। सामग्री-वशादुभाभ्यामेकोपस्थितौ पुनरुक्तदोषाभाव इत्यर्थः। तदसम्भव इति। यत्नार्थता अचेतने न सम्भवतीत्यर्थः। येति गतिरित्यनुषङ्गः। लोकेति। अत्र पटानुकूलव्यापारवन्तस्तन्तव इत्याख्यातस्य व्यापारमात्रे लक्षणा इत्यर्थः। तुल्यमिति। रथो गच्छतीत्यादावपि व्यापारमात्रे लक्षणेत्यर्थः। ननु पचेत्-स्नायादित्यादिश्राविणः पाकानुकूलयत्ने प्रवृत्तिदर्शनात् लिङादीनामेव यत्नार्थतेति शङ्कते लिङ इति। आख्यातान्तरस्यापि यत्नार्थतानिश्चयो विवरणादेवेत्याह नेति। विवरणमेव विवृणोति अस्ति चेति। ननु पाकं करोतीत्यत्र विवरणमपि फलानुकूलव्यापारवानित्येवम्। तथा च व्यापारो व्याख्यातार्थो व्यापारविशेषो वा इत्यत्र लाघवमेव नियामकमाशङ्कते तथापीति।

प्रकाशः- ननु द्वितीयसंख्येच्छा यत्नाननुभवान्न तथा, प्रकृतिप्रत्यययोः साम्येनान्वयानुपपत्तेरित्यत आह प्रत्येकमिति। तथा चोभयोपस्थिते-रावश्यकत्वेनैकस्यानन्वयेऽप्यदोषादित्यर्थः। रथो गच्छतीत्यादावित्यादिपदाज्जानाति यतते निद्रातीत्यादेर्ग्रहणम्। तत्र धात्वर्थानुकूलयत्नाभावेऽप्याख्यातप्रयोगात्। यदि चाचेतने व्यापारमात्रमाख्यातार्थः, तदा चेतनेऽपि तथेत्यर्थः। कृधातोर्यत्नार्थ-त्वस्योभयसिद्धत्वादचेतने यथा करोतेः प्रयोगो लाक्षणिकः, तथा रथो गच्छतीत्यादावाख्यातस्येत्याह तुल्यमिति। लिङः स्वात्मनि प्रवर्त्तकत्वेन ज्ञाते कार्यताज्ञाने वृद्धव्यवहारेण शक्तिग्रहात्तस्य प्रयत्नार्थत्वे मानमस्ति, न त्वाख्यातमात्रस्येत्याह लिङ इति। पचति पाकं करोतीत्यादौ यत्नार्थक करोतिना सर्वाख्यातविवरणाद् वृद्धव्यवहारादिव बाधकं विना विवरणादपि व्युत्पत्तेः। किं करोतीति यत्नविशेषप्रश्ने, पचतीत्युत्तरस्य यत्नार्थत्वं विनानुपपत्तेश्च प्रकृतेऽपि मानमस्तीत्याह विवरणादेरिति।

स्यात्। अतो विवरणमपि तावन्मात्रपरमिति चेत्, भवेदप्येवं, यदि पाकेनेति विवृणुयात्। न त्वेतदस्ति, धात्वर्थस्यैव पाकमिति साध्यत्वेन निर्देशात्। ततस्तं प्रत्येव किञ्चिदनुकूलतापन्नं प्रत्ययेनानभिधानीयमिति युक्तम्।

आमोदः- भवेदेवमिति। पाकस्य धात्वर्थस्य तुषप्रक्षेपणरूपव्यापारकलापस्य फलमोदनादिकं प्रति अनुकूलता यदि विवरणप्रतिपाद्या, तदा किं करोति पचतीति, पाकेन व्यापारकलापस्य साध्यत्वेन निर्देशश्चेत्, नूनं तत्साधकं यत्नस्वरूपमेवं विवरणीयमित्यर्थः। न हि यत्नं विना तुषादिप्रक्षेपो धात्वर्थः सम्भवतीति भावः। **किञ्चिदिति।** यत्नस्वरूपमित्यर्थः। **न त्वन्येनेति।** व्यापारान्तरेणेत्यर्थः। **तथेति** यत्नार्थत्वेनेत्यर्थः। **तस्येति** विवरणस्येत्यर्थः। भवति हि कोकिलः पिक इत्यादौ विवरणाधीनैव व्युत्पत्तिः। **अतिप्रसङ्गादिति।** अन्यत्रापि विवरणेऽर्थान्तरशङ्का स्यादित्यर्थः।

प्रकाशः- ननु धातुः स्वरूपेण स्वार्थं भावमाह, आख्यातन्तु यावता कर्मक्षणनिश्चयेन फलं सिद्ध्यति तावति वर्त्तते, ओदनं पचतीति दर्शनात्, न ह्येकेन कर्मक्षणेनौदनः सिद्ध्यति। अतः फलार्थो व्यापारसमूहो भाव्यत्वाद्भावनेत्युच्यते। भाव्यमानस्तु तस्य फलसाधनत्वात्। फलानुकूलताविशिष्टयत्नवाच्यत्वे तु कल्पनागौरवमिति शङ्कते **तथापीति।** पचेस्तावत्तुषबुषप्रक्षेपणादिव्यापारकलाप एवार्थः। तस्यैव रूपपरावृत्तिलक्षणफलं प्रत्यनुकूलता आख्यातवाच्या। अधिकयत्नस्यापि वाच्यत्वे गौरवमिति शङ्कार्थः। **तावन्मात्रपरं**-धात्वर्थस्य फलानुकूलतामात्रपरं, न तु यत्नपरमित्यर्थः।

ओदनं पचतीत्यत्र धात्वर्थः पाक ओदनानुकूल इत्यर्थे काष्ठेनौदनं पचतीतिवदोदनं पाकेन करोतीति प्रयोगप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः। किं करोति! पचति, पाकं करोतीत्यनुभवस्य सार्वलौकिकत्वात्, कर्त्रन्वयानुपपत्तेश्चेति परिहरति **भवेदप्येवमिति।** एवमप्यनुकूलव्यापारमात्रमाख्यातार्थोऽस्तु, न त्वनुकूलयत्नः।

मकरन्दः- तत्र न प्रथम इति मूलं कर्तृधर्मो नेति कारिकया गतार्थमिति यद्यपि, तथापि स्पन्दादित्रिके प्रथमः स्पन्दो नेत्यर्थः। उपसंहारश्च कर्तृधर्मो नेत्येके।

काष्ठेनौदनं पचतीतिवदिति। यद्यपि काष्ठकरणकः पाक ओदनानुकूल इत्यन्वयसम्भवात् प्रयोगेऽपि पाकेन पचतीति न प्रयोगप्रसङ्गः, पाके पाककरणत्वानन्वयात्, तथापि पाकं करोतीति विवरणं न स्यादित्यत्रैव तात्पर्यम्।

तथापि तेन प्रयत्नेनैव भवितव्यं, न त्वन्येनेति कुत इति चेत्, नियमेन तथा विवरणात्। बाधकं विना तस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात्। अन्यथातिप्रसङ्गात्।८।

स्यादेतत्, यस्य कस्यचित् फलं प्रत्यनुकूलतापत्तिमात्रमेव करोत्यर्थो, न तु प्रयत्न एव। सोऽपि ह्यनेनैवोपाधिना प्रत्ययेन वक्तव्यो, न तु यत्नमात्रेण, प्रयत्नपदेनाविशेषप्रसङ्गात्। तद्वरं तावन्मात्रमेवास्तु लाघवाय। अन्यथा त्वनुकूलत्वप्रयत्नत्वे द्वावुपाधी कल्पनीयौ। अचेतनेषु सर्वत्र गौणार्थास्तिङोऽसति बाधके कल्पनीया इति चेत् अत्रोच्यते –

कृताकृतविभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया।
यत्न एव कृतिः पूर्वा परस्मिन् सैव भावना।।९।।

आमोदः– ननु यत्नोऽप्यनुकूलव्यापारत्वेनैवाभिधीयतां, न तु यत्नत्वेन, अन्यथाऽख्यात यत्नपदयोः पर्यायतापत्तिरित्याह स्यादेतदिति। तावन्मात्रमेवेति। धात्वर्थानुकूलत्वमात्रमेवेत्यर्थः। युक्त्यन्तरमाह अचेतनेष्विति। असति बाधके इति। रथो गच्छतीत्यादावपि गमनानुकूलव्यापारमात्रप्रतीतौ लक्षणानु पयोगादित्यर्थः।।८।।

प्रकाशः– तथात्वे बाधकं विनैवाख्यातमचेतनेषु गौणं कल्प्यमिति गौरवमित्याह तथापीति। यत्नार्थं करोतिनाख्यातार्थस्य विवरणात् तस्य चाबाधितत्वात् प्रमाणवतो गौरवस्यापि न्याय्यत्वादित्याह नियमेनेति।।८।।

ननु करोतिर्न यत्नार्थः, किन्त्वनुकूलव्यापारमात्रार्थः। यत्नोऽप्यनुकूलत्वे नैवाख्यातार्थः। अन्यथा आख्यातार्थस्य यत्नपदपर्यायतापत्तेः। अत एव – यत्न एवाख्यातार्थः, आनुकूल्यन्त्वन्वयलभ्यम् – इत्यपास्तम्। एवञ्च धात्वर्थस्य पाकादेः साध्यताप्युपपद्यते। न च धातुनैव स्वार्थः साध्यत्वेनोच्यते इति वाच्यम्। पाक इत्यत्रापि तत्प्रतीत्यापत्तेः। यत्नस्य वाच्यत्वेन गौरवापत्तेः। मुख्ये बाधकं विनैव रथो गच्छतीत्यादावाख्यातस्य गौणत्वापाताच्चेत्याह – यस्य कस्यचिदिति।

मकरन्दः– यद्वा एतदस्वरसादेव स्वयं हेत्वन्तरमाह कर्त्रन्वयानुपपत्तेश्चेति, चैत्र ओदनं पचतीति शेषः। *परिमलस्तु* एवं पाकस्य साध्यता न प्रतीयेत, किन्तु सिद्धता, ततः पाकसिद्धताज्ञापकप्रयोगोपलक्षणपरं पाकेनेत्युक्तमिति।।८।।

यत्नपूर्वकत्वं हि प्रतिसन्धाय घटादौ कृत इत व्यवहारात्। हेतुसत्त्वप्रतिसन्धानेऽपि यत्नपूर्वकत्वप्रतिसन्धानविधुराणामङ्कुरादौ तदव्यवहारात् करोत्यर्थो यत्न एव तावदवसीयते। अन्यथा हि यत्किञ्चिदनुकूलपूर्वकत्वाविशेषात् घटादयः कृताः, न कृतास्त्वङ्कुरादय इति कुतो व्यवहारनियमः। तेन च सर्वमाख्यातपदं विव्रियते इति सर्वत्र स एवार्थ इति निर्णयः। तथा च समुदिते प्रवृत्तं पदं तदेकदेशेऽपि प्रयुज्यते,

---

आमोदः– कृताकृतविभागेनेति व्याचष्टे यत्नेति। स एव यत्न एव। सर्वत्र गौणार्थास्तिङः कल्पनीया इति समाधत्ते समुदित इति। यत्नत्वसमानाधिकरण पूर्वापरीभूतानुकूलत्वं समुदितमाख्यातवाच्यम्। रथो गच्छतीत्यादावयोग्यतया यत्नत्वं न भासते। पूर्वापरीभूतानुकूलत्वं तु तदेकदेशभूतं भासते। एवं च पङ्कजं कुमुदमित्यत्रापि रूढ्यर्थयोग्यतया योगार्थान्वयो लक्षणां विनैवेति भावः।

प्रकाशः– क्रियाजन्यत्वाविशेषेऽपि यत्नजन्यत्वाजन्यत्वप्रतिसन्धानेन घटाङ्कुरयोः कृताकृतव्यवहारात् तृजन्तकृधातुव्युत्पन्नकर्तृपदस्य कृत्याश्रयवाचकत्वाच्च कृञो यत्नार्थत्वम्। क्रियामात्रार्थत्वे तु क्रियाश्रयः कर्तृपदार्थः स्यादिति कारकमात्रेऽतिप्रसङ्गः। एवञ्च कृञो यत्नार्थकत्वात् तेन चाख्यातविवरणात्तस्यापि यत्नार्थकत्वमित्याह कृताकृतेति। कृतिश्च करोत्यर्थः। एवमाख्यातस्य यत्नपदपर्यायतापत्तिं निरस्यति पूर्वेति। परस्मिन्नुत्तरकालवर्त्तिनि धात्वर्थे सति सैव कृतिरेव पूर्वा साधनीभूता भावनेत्युच्यते। तेन फलसाधनीभूतः प्रयत्नो भावना, सैव चाख्यातवाच्या। यद्वा फलानुकूलधात्वर्थपूर्वापरव्यापारप्रचयनिका पूर्वापरस्मिन् पूर्वापरीभूतत्वे सति कृतिराख्यातार्थो भावना। भाव्यते फलमनयेति व्युत्पत्त्येत्यर्थः।

नन्वेवं पूर्वापरीभूतत्वं यत्नत्वमनुकूलत्वञ्चेति त्रितयमाख्यातवाच्यमिति तदभावे कथमाख्यातपदमचेतनेषु प्रयुज्यते इत्यत आह तथा चेति। यत्नस्य

मकरन्दः– अत एवेति। यत्नपदपर्यायतापत्तेरित्यर्थः। नन्वत्रेष्टापत्तावपि न क्षतिरित्याशङ्क्याह गौरवापत्तेरिति। व्यापारस्य सामान्यतया लघुत्व-मित्यभिमानेनेदम्।

नन्वेवमिति। यद्यपि द्वयवाच्यतयैव यत्नपदपर्यायतानिरासस्तथापि पूर्वापरीभूतत्वप्रकारकप्रतीतिमभ्युपेत्य तदप्याख्यातपदवाच्यमित्युक्तमिति ध्येयम्।

विशुद्धिमात्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणे श्रोत्रियपदवत्। अन्यथापि मध्यमोत्तमपुरुषगामिनः प्रत्ययाः, प्रथमे पुरुषे जानाति, इच्छति, प्रयतते, अध्यवस्यति, शेते, संशेते इत्यादयश्च गौणार्था एवाचेतनेषु।

आमोदः– दृष्टान्तमाह **विशुद्धीति**। ब्राह्मणत्वसमानाधिकरणविशुद्धपितृ-मातृ-योनिजत्वे सति छन्दोऽध्येतृत्वं यत् समुदितं श्रोत्रियपदवाच्यं तत्र छन्दोऽध्येतृत्वमनधीतवेदब्राह्मणेऽयोग्यतया नान्वेति, किन्तु ब्राह्मणत्वे सति विशुद्धयोनिजत्वपुरस्कारेण प्रवर्तते, न तु लाक्षणिकमित्यर्थः। अपि च अचेतने गौणत्वभिया व्यापारे शक्तिः कल्पनीया, तच्च *तवा*प्याषतितमित्याह **अन्यथापी**'ति। व्यापारशक्तावपीत्यर्थः।

प्रकाशः– पूर्वापरीभूतत्वानुकूलत्वे प्रवृत्तमाख्यातं, धात्वर्थस्य फलानुकूलतामात्रे रथो गच्छतीत्यादौ प्रयुज्यते इति लाक्षणिकमित्यर्थः। समुदितप्रवृत्तस्य पदस्यैकदेशे प्रयोगे निदर्शनमाह **विशुद्धिमात्रमिति**। श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते (पा.सू. ५।२।८४) इत्यनुशासनाच्छन्दोऽध्येतृब्राह्मणव्यक्तिः, 'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय' इति स्मृतेर्जन्मसंस्कारविद्यासमुदायवद्ब्राह्मणव्यक्तिर्वा श्रोत्रियपदशक्या। अतो विशुद्धब्राह्मणमात्रे यथा लक्षणया प्रयोगः। विशिष्टशक्तपदस्य विशेषणे शक्यसम्बन्धिनि तात्पर्यादित्यर्थः। ननु शक्यैकदेशे प्रयोगो न लाक्षणिकः। उपस्थित्यर्थं हि लक्षणा, विशिष्टशक्तपदाद्विशिष्टोपस्थितौ विशेषणमप्युपस्थित-मेवेत्ययोग्यतया विशेष्यांशमपहाय विशेषणान्वयस्य मुख्यवृत्त्यैवोपपत्तेः। मैवम्। तस्य धर्म्यन्तरान्वितत्वेनोपस्थितस्येतरधर्म्यनाकाङ्क्षततया स्वतन्त्रतदुपस्थित्यर्थं लक्षणाया न्याय्यत्वात्।

अत एव 'पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपती'त्यत्र पुरोडाशप्रयोजन-कत्वेनोपस्थितस्य कपालस्य प्रयोजनान्तरानाकाङ्क्षतत्वात् स्वतन्त्रकपालोपस्थित-येऽधिष्ठानलक्षणा। पङ्कजं कुमुदमित्यत्र पद्मगतत्वेन उपस्थितस्य पङ्कजनिकर्तृत्वस्य धर्म्यन्तरनिराकाङ्क्षतत्वात् कुमुदपरत्वे पङ्कपदस्य लक्षणेति विपञ्चितं द्वितीयाध्याये।

अपि च अचेतनेषु सर्वत्राख्यातस्य गौणत्वं मा भूदिति मानिनस्तव यत्नस्याख्यातवाच्यत्वानभ्युपगमः। तच्च तवाप्यापतितमित्याह **अन्यथापीति**। मध्यमोत्तमपुरुषलिङ्गोः सम्बोध्यवक्तृविषयत्वाच्चित्रस्यादौ तत्प्रयोगः। प्रथमपुरुषेऽपि जानातीत्यादिप्रयोगश्चाचेतने *त्वन्मते* यथा गौणस्तथा *स्मन्मते* रथो गच्छतीत्यादावपि प्रयोग इत्यर्थः। न चाक्षादिपदवदनेकार्थत्वम्। अक्षादिपदवैधर्म्येण

न च वृत्त्यन्तरेणापि प्रयोगसम्भवे शक्तिकल्पना युक्ता, अन्यायश्चानेकार्थत्वमिति स्थितेः। अत एवानुभवोऽपि, यावदुक्तं भवति, पाकानुकूलवर्तमानप्रयत्नवांस्तावदुक्तं भवति पचतीति। एवं तथाभूतातिवृत्तप्रयत्नोऽपाक्षीदिति। एवं तथाभूतभाविप्रयत्नः पक्ष्यतीति। न तु पचतीति पाकानुकूलयत्किञ्चिद्वानिति। अन्यथाऽतिथावपि परिश्रमशयाने पचतीति प्रत्ययप्रसङ्गात्।

आमोदः– *मेघदूतादौ* **आसारेण त्वमपि शमयेरित्यादौ** तथा दर्शनात्।

सम्बोध्ये मध्यमपुरुषस्य वक्तरि चोत्तमपुरुषस्यानुशासनात्। सम्बोध्यत्व वक्तृत्वं वचनेन तस्यैवेत्यर्थः। प्रथमपुरुषेऽपि जानातीति प्रयोगोऽचेतने यथा *त्वन्मते* गौणस्तथा*ऽस्मन्मतेऽपि* रथो गच्छतीत्यादावित्यर्थः। ननु चाचेतने धात्वर्थानुकूलो व्यापारोऽन्यत्र तु यत्न एवाख्यातार्थः स्यादित्यक्षादि-पदवन्नानार्थतैवास्त्वित्यत आह **न चेति। वृत्त्यन्तरेणापीति।** एकदेश मात्रपरत्वेनापीत्यर्थः। यद्वा, लक्षणयेत्यर्थः। एवञ्च पङ्कजं कुमुदमिवापि स्वतन्त्रोपस्थितये लक्षणा। यथा *पुरोडाशकपालेन तुषानावपति* इत्यादौ पुरोडाशश्रपणप्रयोजनकत्वेनोपस्थितकपालस्य तुषावापेऽन्वयमलभमानस्य स्वतन्त्रोपस्थितये लक्षणा। अत एव गौर्जात इत्यादौ व्यक्त्युपस्थितये लक्षणा। वस्तुतस्तु पङ्कजादिपदे गवादिपदे वैकदेशपरतया प्रयुज्यमानेऽपि लक्षणेति *शब्दमयूखे* विवृतम्। यत्नस्याख्यातार्थत्वेऽनुभवं प्रमाणयति **अत एवेति। यत्किञ्चिद्वानिति।** यत्किञ्चिद्व्यापारवानित्यर्थः। **अन्यथेति।** श्रमशान्तेः

प्रकाशः– एकत्रैव वाचकता, अन्यत्र वृत्त्यन्तरेणापि प्रयोगोपपत्तेरित्याह **न चेति।** अत्रैवानुभवं प्रमाणयति **अत एवेति। अतिथावपीति।** श्रमाच्छयानस्य श्रमशान्तेः पाकानुकूलत्वादित्यर्थः। कर्तृरूपव्यवस्थयेति व्याचष्टे **अपि चेति।** यस्य व्यापारं धातुराख्यातं वा प्राधान्येनाभिधत्ते, स्वतन्त्रश्चेतनोऽचेतनश्च स कर्त्तेत्यत्राभिधानं यदि विशेषणं, तत्राह **न हीति।** कर्तृत्वमज्ञात्वा तत्र कर्तृपदप्रयोगाभावादवगते कर्तृत्वे शब्देन तदभिधानम्।

मकरन्दः– अक्षादिपदवैधर्म्येणेति। विनिगमकाभावात्तत्रोभयत्र शक्त्या नानार्थत्वमत्र चैकत्रैव निरुपाधिप्रयोग इत्यत्र लक्षणा, अन्यथा गङ्गादिपदस्यापि तीरादौ लक्षणा न स्यादित्यर्थः।

अपि च – कर्तृव्यापार एव कृञर्थः, चेतनश्च कर्ता, अन्यथा तद्व्यवस्थानुपपत्तेः। न ह्यभिधीयमानव्यापारवत्त्वं कर्तृत्वम्, अनभिधानदशायां कुर्वतोऽप्यकर्तृत्वप्रसङ्गात्। नाप्याख्यात प्रत्ययाभिधानयोग्यव्यापारशालित्वं कर्तृत्वं, योग्यताया एवानिरूपणात्। फलानुगुणमात्रस्य सर्वकारकव्यापारसाधारणत्वात्। नापि विवक्षातो नियमः, अविवक्षादशायामनियमप्रसङ्गात्। स्वव्यापारे नेदमनिष्टमिति चेत्, एवं तर्हि 'स्वव्यापारे च कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके' इति न्यायेन करणादिविलोपप्रसङ्गः। न स्वव्यापारापेक्षया करणादिव्यवहारः, किन्तु प्रधानक्रियापेक्षया। अस्ति हि काञ्चित् क्रियामुद्दिश्य प्रवर्तमानानां कारकाणामवान्तरव्यापारयोगो, न त्ववान्तरव्यापारार्थमेव तेषां प्रवृत्तिरिति चेत्, तर्हि तदपेक्षयैव कर्तृकर्मादिव्यवहारविशेषनियमे किं कारणमिति

आमोदः– पाकानुकूलत्वात्। कर्तृरूपव्यवस्थयेति व्याचष्टे अपि चेति। कर्तृ रूपेति कर्तृपदेत्यर्थः। तद्व्यवस्थेति। अयं कर्ता नायं कर्तेति व्यवस्थाऽनुपपत्तेरित्यर्थः। व्यवस्थापकान्तरमाशङ्क्य निराकरोति न हीति। यस्य व्यापारं धातुराख्यात प्राधान्येनाभिधत्ते स कर्तेत्यचेतनेऽपि रथो गच्छतीत्यादौ कर्तृ त्वमित्यत्राभिधानस्य विशेषणत्वे दोषमाह अनभिधानेति। अभिधानस्योपलक्षणतया दोषमाह– कर्तृत्वज्ञानाधीनमभिधानमभिधानाधीनं कर्तृत्वमित्यन्योन्याश्रयोऽपीति भावः। नापीति। उपलक्ष्यतावच्छेदकापरिचयाद् योग्यताया एवानिरूपणादित्यर्थः। ननु फलानुगुणत्वमेव योग्यतावच्छेदकं स्यादित्यत आह नापीति। अनियमेति। करणादेरपि कर्तृत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। करणादेरपि स्वव्यापारे कर्तृत्वमित्याह स्वेति। एवं सर्वेषां कर्तृत्वमेवायातं न करणत्वादिकमित्याह एवमिति। ननु स्वव्यापारापेक्षया सर्वकारकाणां कर्तृत्वमेव प्रधानक्रियापेक्षया तु करणादिव्यवस्थेति शङ्कते न स्वव्यापारेति। प्रधानक्रियापेक्षयापि नियामकानुयोगस्तदवस्थ एवेत्याह तर्हीति।

प्रकाशः–तेन कर्तृत्वावगम इत्यन्योन्याश्रयश्चेति भावः। अथाभिधानमुपलक्षणमुपलक्ष्य च तद्योग्यता, तत्राह नापीति। योग्यत्वावच्छेदकरूपाज्ञाने अस्याज्ञानादित्यर्थः। न च प्रधानक्रियानुकूलव्यापारत्वमेव तदवच्छेदकमतिव्याप्तेरित्याह फलेति। फलानुकूलव्यापारवत्तया यत्कारकं विवक्ष्यते, स कर्तेति नोक्तदोष इति मतं निरस्यति नापीति। ननु स्वव्यापारे सर्वेषां कर्तृत्वमिष्टमेवान्यत्र करणत्वादित्याह स्वव्यापार इति। तर्हीति। प्रधानक्रियापेक्षयैव तत्कर्तृत्वं करणादिव्यावृत्तं तस्यैव

चिन्त्यताम्। स्वातन्त्र्यादीति चेत्, ननु तदेव किमन्यत् प्रयत्नादिसमवायादिति विविच्याभिधीयतामिति। तस्मात्सर्वत्र समानव्यापार एवाख्यातार्थः।९।

तथापि फलानुगुणतैवास्तु प्रत्ययस्य प्रवृत्तिनिमित्तं, प्रयत्नस्त्वाक्षेपतो लप्स्यते इति चेन्न।

भावनैव हि यत्नात्मा सर्वत्राख्यातगोचरः।
तया विवरणध्रौव्यादाक्षेपानुपपत्तितः।।१०।।

केन हि तदाक्षिप्येत? न तावदनुकूलत्वमात्रेण, तस्य प्रयत्नत्वेनाव्यापनात्। न हि यत्नत्वैकार्थसमवाय्येवानुकूलत्वम्। अत एव न संख्यया, तस्याः संख्येयमात्रपर्यवसायित्वात्।

आमोदः–स्वातन्त्र्यं कर्तृत्वम्। कर्तृव्यापारविषयत्वं करणत्वमित्यादिविशेष-नियामकमित्याशङ्कते स्वातन्त्र्यादिति। इदं कर्तृत्वमस्मदाद्यभिमतमिति सम्बोध्य बोधयति नन्विति। यतमानव्यापार एवेति। यत्न एवेत्यर्थः।९।

यत्नानुभवं प्रमाणत्वेनोपन्यस्तमन्यथासिद्धमित्याह तथापीति। आक्षेपत इति। पाकादिक्रियाणां यत्नं विनाऽनुपपत्तेः क्रियैव तमाक्षिपतीत्यर्थः। पादत्रयं यत्नानुवादमात्रम्। चतुर्थं पादं व्याचष्टे केनेति। तदिति। यत्नस्वरूपमित्यर्थः। अनुकूलत्वमात्रेणेति। धात्वर्थानुकूलत्वमात्रेणेत्यर्थः। तस्येति। प्रयत्नभिन्नस्याप्यनुकूलत्वात् प्रयत्नत्वेन रूपेण व्याप्त्यभावादित्यर्थः। अन्यथा रथो गच्छतीत्यादावपि यत्नाक्षेपः स्यादिति भावः। नन्वाख्यातवाच्यया शङ्कया पचतीत्यादौ यत्नाक्षेपः स्यादित्यत आह अत एवेति। संख्यायाः प्रयत्नैकार्थ नियमाभावादेवेत्यर्थः। एतदेवाह तस्या इति। नन्वाख्यातवाच्यः कर्ता, स च

प्रकाशः–किं लक्षणमित्यर्थः। स्वातन्त्र्यादीति। 'स्वतन्त्रः कर्तेति' (पा.सू. १।४।५४।) *पाणिनि*लक्षणादित्यर्थः। तस्यान्यस्य व्यवस्थाबीजस्याभावाज्ज्ञानचिकीर्षाकृतिसमवायित्वमेव तद्वाच्यमित्याह नन्विति।।९।।

आक्षेपेति। पाकादीनां यत्नं विनानुपपत्तेरित्यर्थः। पादत्रयस्य प्रागेव विवृतत्वादन्तिमं पादं व्याचष्टे केन हीति। तत् प्रयत्नत्वमित्यर्थः। न हीति। प्रयत्नस्याप्यनुकूलत्वात्, तथात्वे वा रथो गच्छतीत्यादि तवापि गौणं स्यादित्यर्थः। तस्या इति। सङ्ख्यया सङ्ख्येयमात्राक्षेपेऽपि न प्रयत्नाक्षेपः, प्रयत्ने सङ्ख्याया अभावादित्यर्थः।

कर्त्रेति चेन्न। द्रव्यमात्रस्याकर्तृत्वात्। व्यापारवतश्चाभिधाने व्यापाराभिधानस्यावश्याभ्युपगमनीयत्वात्। नापि धात्वर्थेन तदाक्षेपः, विद्यते इत्यादौ तदसम्भवात्। न ह्यत्र धात्वर्थो भावनाऽपेक्षी, सत्ताया नित्यत्वात्। तत्र न भविष्यतीति चेन्न। पूर्वापरीभूतभावनानुभवस्याविशेषात्। भावनोपरागेण ह्यतथाभूतोऽप्यर्थस्तथा भासते इति। न च पदान्तरलब्धया भावनयाऽनुकूलतायाः प्रत्ययार्थस्यान्वयः, तदसम्भवात्।

आमोदः- स्वव्यापारं यत्नमाक्षिपेत् इत्याह कर्त्रेति। शुद्धं द्रव्यमेव वा कर्तृपदेनोच्यते, व्यापारविशिष्टं वा, कृतिरूपव्यापारविशिष्टं वा? आद्य आह द्रव्येति। द्वितीये रथो गच्छतीत्यादावपि यत्नाक्षेपप्रसङ्गः। तृतीये त्वाह व्यापारवत इति। व्यापारोऽत्र यत्नो विवक्षितः। तत्र न भावं प्रतीत्यत्र यत्नाक्षेप इति शेषः। विद्यत इत्यादावपि पूर्वापरीभूतभावनान्वयः प्रथमं स्यादेव प्रयोगवत्त्वात् परन्तु बाधकात् तद् भज्यत इत्याह पूर्वेति। नन्वनुभव एवायं कथं स्यादित्यत आह भावनेति। भावनोपराग आख्यातसमभिव्याहारः। अतथाभूतो भावनानधीनः सत्तादिस्तथाभूतो भावनोपरक्त इत्यर्थः। अनुकूलमा माख्यातप्रत्ययार्थोऽस्तु, तस्य तु यत्नत्वं पदान्तरसमभिव्याहारलभ्यं स्यादित्यत आह न चेति। तदसम्भवात् तादृशपदान्तरा

प्रकाशः- कर्त्रेति। आख्यातवाच्येनेत्यर्थः। *परमते* तस्याख्यातवाच्यत्वात्। कर्त्ता न द्रव्यमात्रं, द्रव्यमात्रस्यायत्नवत्त्वात्। तेन यत्नस्यानाक्षेपादित्याह द्रव्यमात्रस्येति। नापि व्यापारवन्मात्रं, यत्नरहितस्याप्यचेतनस्य व्यापारवत्त्वात्। यत्नरूपव्यापार वदभिधाने तु प्रयत्नोऽपि वाच्य एव स्यादित्याह व्यापारवतश्चेति। तत्रेति। आक्षेप इति शेषः। पूर्वेति। पचतीत्यादाविव धात्वर्थानुकूलयत्नानुभवादित्यर्थः। ननु सत्ताया नित्यत्वे पूर्वापरीभावो विरुद्ध इत्यत आह भावनेति। तदसम्भवादिति। ओदनं पचति चैत्र इत्यत्र पदान्तरेण भावनानुपस्थानादित्यर्थः। *अस्माकन्तु* अनुकूलयत्नोपस्थितावपि अयोग्यतया स नान्वीयते इति भावः। न हि धातुनैव

मकरन्दः- ननु कर्त्ताऽप्यनुपस्थितः कथमाक्षेपहेतुः स्यादत आह आख्यातवाच्येनेति। पचतीत्यादाविवेति। तथा च तत्रापि तदाक्षेप आवश्यक इति भावः। अन्यथा तवापि यत्नकाले पचतीत्यादि न स्यादिति। यद्यपि व्यापारवत्त्वेन यत्नस्यापि शक्यत्वात्तत्काले पचतीति स्यादेव, तथापि तेनापि रूपेण यदि यत्नो न शक्यस्तदेदं दूषणं बोध्यम्। अपरं *शब्दप्रकाशे* प्रपञ्चितम्।

न खलु प्रकृत्यैव साभिधीयते, धातूनां क्रियाफलमात्राभिधायित्वात्। अन्यथा पाक इत्यादावपि भावनानुभवप्रसङ्गात्। नापि चैत्र इत्यादिना पदान्तरेण प्रकृतिप्रत्यययोरुभयोरप्यकारकार्थत्वात्।

आमोदः– भावादित्यर्थः। ननु धातुनैव भावनाभिधीयताम्, आख्यातं तु अनुकूलतामात्राभिधानपर्यवसितं स्यादित्यत आह **न खल्विति।** *मण्डनमत*माश्रित्य दूषयति **धातूनामिति।** क्रियाफलं विक्लित्त्यादि पच्यादिधात्वर्थोऽस्तु लाघवात्, न त्वधःसन्तापादि व्यापारकलापः। न चैवं व्यापारोपरमे फलदशायां पचतीत्यादिप्रयोगापत्तिः। व्यापारवर्तमानताया आख्यातार्थत्वात् कथं तथा प्रयोगः? ननु फलमेव चेत् क्रिया धात्वर्थस्तदा परसमवेतक्रियाफलशालितया तण्डुलादिना यत् कर्मत्वं तन्न स्यादिति चेन्न। परसमवेतव्यापारफलशालित्वादेव तण्डुलादीनां कर्मत्वोपपत्तेः। स च व्यापारो धात्वर्थ आख्यातार्थो वेति तत्फलभागिताया-स्तण्डुलादीनां सत्त्वात्। **अन्यथेति।** यदि धातूनां यत्नार्थता तदेत्यर्थः। **पदान्तरेणेति।** यत्नाक्षेप इति शेषः। प्रकृतिश्चैत्रः, प्रत्ययस्तु विभक्तिः। तथा च चैत्र इत्यतः शब्दात् शुद्धप्रातिपदिकमात्रोपस्थितौ कथं यत्नाक्षेप इत्यर्थः। ननु ओदनं पचतीत्यत्र ओदनस्य कर्मत्वं प्रतीयते, कर्मत्वञ्च भाव्यत्वमेव; तथा च तद्वाच्या वा तदाक्षेप्या

प्रकाशः– भावनोपरक्तार्थोऽभिधीयते इत्यत आह **न खल्विति। प्रकृत्या** धातुनेत्यर्थः।

फलस्य धात्वर्थतया पच्यर्थो विक्लित्तिर्लाघवाद्, न तु तत्फलको व्यापारोऽधःसन्तापनादिः। न चैवं व्यापारविगमे फलसत्त्वकाले पचतीति प्रयोगापत्तिः। धात्वर्थानुकूलव्यापारवत्त्वस्याख्यातार्थतया व्यापारकाल एव पचतीति प्रयोगात्। अथैवं धात्वर्थतया फलं क्रियेति तण्डुलादेः कर्मता न स्यात्, विक्लित्यादिजन्य फलभागित्वाभावादिति चेन्न। परसमवेतव्यापारफलशालिनः कर्मत्वात्। स च व्यापारो धात्वर्थ आख्यातार्थो वा, उभयथापि समवेतव्यापारफलशालिनस्तण्डुलादेः कर्मत्वात्। विक्लित्त्यनुत्पादे व्यापारविगमदशायां पाको वर्त्तते इत्यत्र पाकपदे व्यापारलक्षणेति मतमाश्रित्योक्तं दूषणमिदम्। **अन्यथेति।** यदि धातूनामेव भावनाभिधायकत्वमित्यर्थः। **प्रकृतीति। प्रकृतिश्चैत्रपदं, प्रत्ययः** प्रथमा, तयोरुभयोरपि शुद्धप्रातिपदिकार्थतया न कारकार्थत्वं, व्यापारवतः कारकत्वेन कारकार्थस्य भावनार्थत्वं सम्भाव्येतापीत्यर्थः।

ओदनमित्यादेः कारकपदत्वात् तस्य च क्रियोपहितत्वात् तेनाभिधानमाक्षेपो वा। कथमन्यथौदनमित्युक्ते, किं भुङ्क्ते, पचति वेति

आमोदः-वाऽवश्यम्भावना स्यादन्यथा भावनासामान्याज्ञाने पाकभावना भोजनभावना चेति विशेषाकाङ्क्षैव न स्यादिति शङ्कते ओदनमिति। भावनाया आख्याततोपस्थाप्यत्वमन्तरेण विशेषाकाङ्क्षा न स्यादिति तुल्यमिति। परिहरति पचतीति।

प्रकाशः- कथमिति। ओदनमित्युक्ते भावनाविशेषजिज्ञासा तत्सामान्यज्ञानं विना न स्यादित्यर्थः। कर्मपदादाक्षेपतोऽभिधानतो वाऽऽवश्यकी तदुपस्थितिरिति भावः। पचतीत्युक्त इति। कर्मपदानुच्चारणेऽपि तदभिधानाक्षेपयोरभावे पचतीत्यत्र भावनाधीर्न स्यादिति भावनाऽभिधायकमाख्यातपदं कल्प्यमित्यर्थः।

ननु वीजेनाङ्कुरः कृतो बीजमङ्कुरं करोतीति यत्नं विनापि कृञः प्रयोगाद् न यत्नो वाच्यः। नापि कर्तृपदं यौगिकं, तथा सति कृञो यत्नार्थत्वे तृचश्च कर्त्रर्थत्वे धातुप्रत्ययार्थयोः कृतिकर्त्रोः परस्परमनन्वयापत्तेः। कृतिविशिष्टस्य कृतिनिराकाङ्क्षत्वात्। एवं कृञः क्रियार्थत्वे तृचश्च तदाश्रयवाचकत्वे तयोः परस्परमनन्वय एवेत्युभयदर्शने कर्मपदवत् कर्तृपदं रूढमेव। तथा च कृताकृतविभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया च कृञो यत्नोऽर्थ इति न तेन विवरणादाख्यातस्य यत्नार्थत्वं, किन्त्वनुकूलत्वेन व्यापार एव तद्वाच्यः। तेन चेतनाचेतनयोर्धात्वर्थानुकूलव्यापारवत्त्वादाख्यातप्रयोगो मुख्यः। न चैवं पथि श्रमशयानेऽपि पचतीति प्रयोगापत्तिः, यत्नवाचकत्वेऽपि तण्डुलक्रियानुकूलयत्नवति पचतीति प्रयोगापत्तेः। यदि तु तस्य प्रयत्नविशेषो वाच्यः तदा ममापि व्यापारविशेषो वाच्य इत्यस्तु। यत्नधीस्त्वाक्षेपात् धात्वर्थविशेषस्य पाकादेस्तेन विनानुपपत्तेः। न चाख्यातस्य यत्नो वाच्यः, पचतीत्यस्य पाकानुकूलयत्नवानिति विवरणादिति वाच्यम्। तथा सति कर्तुरपि तद्वाच्यतापत्तेः। न हि पाकयत्न इत्येव विवरणम्। अथ तात्पर्यविवरणस्याक्षेपादिनापि निर्वाहः, तुल्यं यत्नेऽपि। अत एव रथो गच्छति विद्यते व्योमेत्यत्र न भावनानुभवः। भावनाया धात्वर्थान्वयायोग्यतया त्वयापि तत्र गौणत्वाङ्गीकारादिति।

अत्र वदन्ति - चैत्रः पचतीत्यत्र पाकानुकूलयत्नानुभवात् स एवाख्यातवाच्यः, लाघवात्। न त्वनुकूलव्यापारः, यत्नत्वजात्यपेक्षया व्यापारत्वस्योपाधित्वेन गुरुत्वात्। न चाचेतनेऽप्याख्यातस्य मुख्यत्वार्थमनुगतो व्यापार एव शक्य इति वाच्यम्। शक्तिग्राहकेण लघुनि शक्तिग्रहात्। मुख्यत्वार्थं

विशेषाकाङ्क्षेति चेन्न। पचतीत्युक्ते किमोदनं तेमनं वेति विशेषाकाङ्क्षादर्शनात्। सा चाक्षेपाभिधानयोरन्यतरमन्तरेण न स्यात्। तस्यां दशायां न चेदाक्षेपो नूनमभिधानमेवेति।

स्यादेतत्, अभिधीयतां तर्हि कर्तापि। तदनभिधाने हि

आमोदः- तस्यां दशायामिति। कर्मपदासमभिव्याहारदशायामित्यर्थः। नूनमिति। आक्षेपकाभिमतकर्मत्वादीनामनुपस्थितेरित्यर्थः। आख्यातेन तर्हि कर्तैवाभिधीयतां, तथा च 'कर्तरि लङि' त्यनुशासनमपि समर्थितं स्यादित्याह अभिधीयतामिति। अनभिधाने दण्डमाह तदिति। कर्तुरभिधाने समानपदाश्रिता संख्यापि कर्त्रैवान्वेति,

प्रकाशः- शक्तिकल्पने वृत्त्यन्तरोच्छेदापत्तेः। न च पाकस्य यत्नसाध्यत्वानुमित्या यत्नस्यापि लाभादन्यलभ्यत्वेन स नाख्यातवाच्यः। चैत्रः पचतीत्यत्र चैत्रः पाकानुकूलवर्त्तमानयत्नवान् प्रतीयते। न च पाकस्य वर्त्तमानयत्नेन प्राप्तिरस्ति, अतीतादौ व्यभिचारात्। नापि धात्वर्थेनानुमिते यत्ने आख्यातेन वर्त्तमानत्वान्वयबोधः सम्भवी, यत्नस्यापदार्थत्वात्। स्वार्थव्यापारवर्त्तमानत्वबोधनेनाख्यातस्य पर्यवसितत्वाच्च। न चाचेतने आख्यातस्य व्यापारवाचकत्वावधारणादेवं कल्पनेति युक्तम्। गौणतया शक्तिभ्रमेण वा तत्राख्याताद्व्यापारावगमोपपत्तेः। यत्नविगमदशायां तज्जन्यव्यापारकाले पचतीत्यत्र वर्त्तमानव्यापाराभिधानमाख्यातेन लक्षणया, रथो गच्छतीत्यत्र यथा, अतोऽन्यलभ्यत्वान्न तदनुरोधेन व्यापारे शक्तिः। अन्यथा तवापि यत्नकाले पचतीति न स्यादिति।

ननु धात्वर्थानुकूलयत्नस्याख्यातशक्यत्वे एककृतिकाले पचतीतिवत् कृतेर्ध्वंसे अग्रिमकृतेरनुत्पाददशायां मध्येऽप्यपाक्षीत् पक्ष्यतीति स्यात्। यत्नप्रचयस्य च शक्यत्वे पचतीति न स्यादेव, एकदा तस्याभावात्। अथ भूतभविष्यतोर्यत्नाभावनिरूप्यत्वात् यत्नकाले तदभावान्नोक्तदोष इति चेन्न। ध्वंसानुत्पादयोर्यत्नविशेषप्रतियोगिकतया यत्नकालेऽपि तत्सत्त्वात्, तयोः सकलकृतिप्रतियोगिकत्वाभावात्।

मैवम्। यत्राख्यातवाच्ये प्रचये एकैकस्य वर्त्तमानव्यवहारनिमित्तत्वं, तत्र तावतां ध्वंसैः प्रागभावैश्च भूतभविष्यद्व्यवहारः, न तु वर्त्तमानव्यवहारनिमित्त किञ्चिदभावात्, चेतनाचेतनभोजनगमनादौ तथैव प्रयोगात्, प्रयोगे सति निमित्तानुसरणात्। धातोराख्यातस्य चानुकूलव्यापारवाचकत्ववादिभिरनन्यगतिकतया तथैव स्वीकाराच्चेति।

संख्येयमात्रमाक्षिप्य संख्या कथं कर्तारमन्वियात्, न तु कर्म्मादिकमपि। 'शाकसूपौ पचति, शाकसूपौदनान् पचती'त्यादौ विरोधनिरस्ता संख्या चैत्र इति कर्तारमविरुद्धमनुगच्छतीति चेत्, 'चैत्र ओदनं पचती'त्यत्र का गतिः? एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि तथा, यववराहादिवदिति चेन्न। पच्यते इत्यादावपि तथाभावप्रसङ्गात्। चैत्राभ्यां, चैत्रैरिति विरोधनिरस्ता सूप इत्यविरुद्धं कर्म समनुक्रामतीति चेत्, चैत्रमैत्राभ्यां शाकसूपे पच्येते इत्यत्र का गतिः?

अन्यत्र निर्णीतेनार्थेन व्यवहार इति चेन्न। पचतीत्यादावपि

आमोदः- न कर्मादिनेत्यत्र न विनिगमकं स्यादित्यर्थः। आख्यातोपस्थाप्या संख्या द्वित्वबहुत्वोपरुद्धकर्मस्थले कर्तारमेवान्वेति चेत्, तदा एकत्वावरुद्धकर्मस्थलेऽपि कर्तारमेवान्वेष्यति। न हि 'यवमयश्चरुर्भवती'त्यत्र म्लेच्छप्रसिद्धकङ्गुपरत्वे निरस्तेऽर्थवादाद्दीर्घशूकपरत्वे च निर्णीते 'यवैर्यजेते'त्या दावपि निर्णयान्तरापेक्षा इत्याह शाकेत्यादि। तथाभावेति। कर्त्रैव संख्यान्वयप्रसङ्गादित्यर्थः। द्वित्वबहुत्वावरुद्धकर्तृस्थले कर्मान्वयस्य दर्शनात्। पचत इत्यत्रापि कर्मान्वय एव। यत्रापि कर्तृकर्मणोर्द्वित्वबहुत्वावरोधस्तत्रापि कर्मान्वय एव। 'एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थ' इति न्यायादित्याह चैत्राभ्यामित्यादि।

प्रकाशः- चैत्र ओदनं पचति चैत्रेण पच्यते ओदन इत्यत्र कर्त्तरि कर्मणि आख्यातार्थसङ्ख्यान्वयात् कर्तृकर्मणी लकारवाच्ये। तेन वाच्यगामिनी सङ्ख्येयेति नियमो भवति। अन्यथाऽऽक्षिप्तसङ्ख्यान्वये नियमो न स्यादिति *वैयाकरणमतमाह* - अभिधीयतामिति। का गतिरिति। ओदनमित्येकत्वेनोपस्थितेनैकत्व सङ्ख्याऽन्वयविरोध इति पचतीत्येकत्वमोदनान्वितं किन्न स्यादित्यर्थः।

यववराहादीति। यवमयश्चरुर्भवतीत्यत्र दीर्घशूकस्य यवपदार्थतया निर्णीतस्य यवैर्यजेतेत्यादौ न यत्र वाक्यशेषस्तत्रापि तस्यैव यवपदवाच्यता यथेत्यर्थः। तथाभावेति। आख्याताभिहितभावनायाः कर्त्रन्वयप्रसङ्गादित्यर्थः। तथा चौदनः पच्यते देवदत्त इति प्रयुज्येतेति भावः।

अन्यत्रेति। चैत्राभ्यां चैत्रैः सूपः पच्यते इत्यत्र कर्मणि सङ्ख्यान्वयस्य निर्णीतत्वादत्रापि तथेत्यर्थः। पचतीत्यादाविति। देवदत्त ओदनं पचतीत्यादावपि

तथाभावप्रसङ्गात्। तत्र पूर्वक एव निर्णयः, पच्यते इत्यत्र त्वपर इति चेन्न। विशेषाभावात्। आत्मनेपदपरस्मैपदाभ्यां विशेष इति चेन्न। पच्यते, पचते, पक्ष्यते इत्यादौ विप्लवप्रसङ्गादिति। दृश्यते च समानप्रत्ययाभिहितेनान्वयः संख्यायाः। तद् यथा – भूयते, सुप्यते इत्यादौ। न हि तत्र कर्त्रा, कर्म्मणा वा, अन्येनैव वा, केनचिदन्वयः, किन्तु भावेनैव।

आमोदः– पूर्वक इति। कर्त्रन्वय एवेत्यर्थः। अपर इति। कर्मान्वय एवेत्यर्थः। अत्र विनिगमनाविरहमाह नेति। विप्लवेति। यत्र धातुरात्मनेपदी कर्त्तरि च लकारस्तत्रापि तदुपस्थाप्या संख्या कर्मान्वितैव स्यादित्यर्थः। पच्यत इति दृष्टान्तार्थं, पक्ष्यत इति च कर्तृकर्मणोः समानरूपत्वादुदाहृतम्। यद्वा, विप्लवप्रसङ्गात् अविशेषप्रसङ्गादित्यर्थः। तथा च पच्यत इति न दृष्टान्तार्थम्। ननु कर्ता चेदाख्यातवाच्यः स्यात्तदा तद्वाच्यया तदन्वयो न स्यात्। न ह्येकपदोपस्थाप्ययोः पदार्थयोरन्योन्यमन्वयो दृश्यत इत्याह दृश्यत इति। सुप्यत इति। आख्यातोपस्थाप्येन भावेनैव संख्यायास्तदुपस्थाप्याया अन्वयबोधस्य दर्शनादित्यर्थः। ननु तत्रापि कर्त्रादिनैवान्वयः स्यादित्यत आह न हीति। कर्म तावदिह नास्त्येव, कर्त्रन्वये चैत्रमैत्राभ्यां सुप्यत इत्यत्र द्विवचनं स्यादत एव भावस्यैकत्वादेकवचनमिति पठन्ति। न चात्र चैत्रमैत्रगतस्वापद्वयलाभाय द्विवचनापत्तिः स्वापत्वेन तदुभयस्वापस्यैकत्वात्। द्विवचन बहुवचनयोरसाधुत्वादिति भावः।

प्रकाशः– कर्मगतैकत्वान्वयप्रसङ्ग इत्यर्थः। तत्रेति। पचतीत्यत्र सङ्ख्यान्वयः कर्त्रा, पच्यते इत्यत्र कर्मणेत्यर्थः। विशेषेति। क्वचित् कर्त्तरि क्वचित् कर्मणि सङ्ख्याऽन्वयस्य दृष्टत्वादन्यतरत्र नियामकाभावादित्यर्थः। पच्यत इति। पच्यत इति दृष्टान्तार्थम्। अतो यथात्मनेपदात् पच्यते इत्यत्र कर्मणा सङ्ख्यान्वयः, तथा पचते इत्यत्रापि स्यादित्यर्थः।

नन्वाख्यातवाच्यत्वे कर्त्तुस्तद्वाच्यया सङ्ख्ययाऽन्वयबोधो न स्यात्। एकपदोपस्थापितपदार्थयोर्मिथोऽन्वयबोधस्याव्युत्पन्नत्वात्। अन्यत्र भिन्नपदोपस्थापितानामेवान्वयबोधादित्यत आह दृश्यते चेति। यथा भाववाचकाख्याताभिधेयसङ्ख्या तेनैवान्वीयते न त्वाक्षिप्तेन कर्त्रा, साकाङ्क्षयोग्यासन्नपदार्थमात्रस्यैवान्वयप्रतियोगित्वात्। भिन्नपदोपस्थापितत्वस्य गौरवेणाप्रयोकत्वात्। तथाख्यातवाच्ययोः कर्तृसङ्ख्ययोरप्यन्वय इत्यर्थः। न हीति। अन्वये वा कर्तुरनेकत्वे द्विबहुवचनयोः प्रयोगः स्यादिति भावः।

अनन्वये तदभिधायिनोऽनर्थकत्वप्रसङ्गात्। आक्षिप्तेन चान्वये तत्रापि कर्त्रैवान्वयापत्तेः। को हि सुप्यते, स्वपितीत्यनयोः कर्त्राक्षेपं प्रति विशेषः।१०।

स्यादेतत्, 'भावकर्म्मणो'रित्याद्यनुशासनबलात्तावत् भावकर्मणी प्रत्ययवाच्ये। ततस्तदभिहिता संख्या ताभ्यामन्वीयते। यस्तु प्रत्ययो न तत्रोत्पन्नः, तदभिहिता संख्या 'मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवत्' (मी. सू. १२-२-२३) इति न्यायेन कर्तारमेवाश्रयते इति नियमः।

आमोदः- ननु भावस्थले संख्यान्वयो मास्तु, को दोष इत्यत आह अन्वय इति। निश्चितानन्वयत्वेनापार्थकत्वापत्तिरित्यर्थः। कर्त्रैवेति। तथा च चैत्रमैत्राभ्यां सुप्यत इत्यत्र एकत्वमनन्वितमेव स्यादित्यर्थः। ननु सुप्यत इत्यत्र कर्ता नाक्षिप्यत एवेत्यत आह को हीति। *वैयाकरणमते* संख्यान्वयं प्रति विनिगमकं शङ्कते स्यादेतदिति। यत्र भावे प्रत्यय उत्पन्नस्तत्र भावगता संख्या प्रतीयते। यथा सुप्यते चैत्रेणेत्यत्र भावोऽत्र धात्वर्थ एव, यत्र तु कर्मणि तत्र कर्मगता, यथा पच्यते तण्डुलः। यत्र तु न भावे, न वा कर्मणि तत्र कर्तृगता, यथा चैत्रः पचति तण्डुलमित्यत्रेत्यर्थः। अत्र कर्तृगतसंख्याप्रतीतौ न्यायमाह- मुख्यं वेति कारकपरिगणनानुशासने कर्तारमुपक्रम्याभिधानात् कतुरेव मुख्यत्वम्। तथा च तद्गतैव संख्या प्रतीयते। लोकवदिति। यथा चैत्रं तावद् भोजय, मैत्रमपि भोजयिष्यामि इत्यत्र लौकिकवाक्ये चैत्रभोजनस्य मुख्यत्वमित्यर्थः।

प्रकाशः- यदि च भावसङ्ख्ययोरन्योन्यमनन्वयः तदा निश्चितान्वय-पदत्वेनाख्यातमपार्थकं स्यादित्याह अनन्वय इति। यद्याक्षिप्तेन कर्त्रान्वयः सङ्ख्यायाः स्यात्, तदा स्वपितीत्यत्रेव सुप्यत इत्यत्रापि तेनैव तदन्वयः स्यादित्याह आक्षिप्तेन वेति। को हीति। आक्षेपहेतोर्भावनाऽभिधानस्योभयत्राविशेषादित्यर्थः।

मुख्यं वेति। 'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं चरुं निर्वपेत्, संग्रामे सरस्वतीमप्याज्यस्य येजेते'-त्यत्राग्नावैष्णवधर्मा अग्रतो भवन्त्याहो सारस्वतधर्माः? इत्यनियमे आग्नावैष्णवधर्मा एव प्रथमं भवन्ति। अत्र हेतुः-पूर्वचोदनात्-प्रथममुपस्थितत्वात्। अस्योदाहरणं-लोकवदिति। यथा लोके यत्र विवादपदे साक्षिद्वयसत्त्वान्मुख्यः साक्षी पृष्टस्तमनुजानाति, द्वितीयश्च पृष्टस्तमपलपति। तत्र प्रथमपृष्टेनैव व्यवहारः तस्य मुख्यत्वात्, तथा कारकाणां प्रथमं कर्त्तैव देशित इति बाधं विना तेनैव सङ्ख्याऽन्वीयते इत्यर्थः।

न, विपर्ययप्रसङ्गात्। 'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्', (पा.सू. ३।१।७८।) 'कर्तरि शबि (पा.सू.३।१।६८।) त्यनुशासनबलाद्भावकर्तारौ प्रत्ययवाच्यौ, ततस्तदभिहिता संख्याऽपि ताभ्यामन्वीयते। यस्तु प्रत्ययो न तत्रोत्पन्नस्तदभिहिता संख्या तेनैव न्यायेन कर्म्म समाश्रयेदिति नियमोपपत्तेः। तस्मात् मतिकर्दममपहाय यथानुशासनमेव गृह्यते इति प्राप्तम्।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते –

आक्षेपलभ्ये संख्येये नाभिधानस्य कल्पना।
संख्येयमात्रलाभेऽपि साकाङ्क्षेण व्यवस्थितिः।।११।।

आमोदः– न्यायोत्थानस्थानन्तु 'जैमिनीयसूत्रे (मी०सू० १२।२।२३)। तत्र 'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं चरुं निर्वपेत् 'संग्रामे सरस्वतीमप्याज्येन यजेते' त्यत्र प्रथमे देशितस्याग्नावैष्णवनिर्वापस्यैव प्रथमानुष्ठानं न सारस्वतस्येत्यादि। तदेतद्दूषयति नेति। विपर्ययमेवाह शेषादिति। न तत्रेति। न कर्तरि, न वा भाव इत्यर्थः। तेनैव न्यायेनेति। मुख्यं वेति न्यायेनेत्यर्थः। अत्र कर्तृविनिर्मुक्तत्वात् तदतिरिक्तकारकमध्ये कर्मण एव प्रथमं देशनेति न्याय संवादः। यथानुशासनं यथा *व्याकरणम्*। तेन कर्तरि विहितस्याख्यातस्य कर्तृगतसंख्याभिधानं, कर्मविहितस्य कर्मगतसंख्याभिधानं, भावविहितस्य भावगतसंख्याभिधानमिति भावः।।१०।।

कर्तृकर्मणी आख्यातवाच्ये इति पूर्वपक्षे प्राप्ते सिद्धान्तोऽभिधीयत इत्याह एवमिति। आक्षेपेति। संख्येयः कर्ता कर्म च तदुभयमाक्षेपलभ्यं चेत्तदाऽभिधानस्याख्यातवाच्यत्वस्य कल्पना न युक्ता इत्यर्थः। नन्वेवं यत्किञ्चित्

प्रकाशः– भावकर्त्ताराविति द्वन्द्वः तेनैव, मुख्यं वेत्यादिनैवेत्यर्थः। कर्मैवेति। तथा च पक्ष्यते ओदनं देवदत्त इति न स्यात्, किन्तु पक्ष्यते ओदन देवदत्तेन इत्येव स्यादित्यर्थः। यथाऽनुशासनं, व्याकरणानतिक्रमेणेत्यर्थः। तथा च कर्त्तरि विहितस्याख्यातस्य सङ्ख्या कर्त्रा कर्मणि च विहितस्य सा कर्मणान्वेतीति नियम उपपद्यते इति भावः।

मकरन्दः– मुख्यं वेत्यादिनैवेत्यर्थ इति। ननु तत्र कारके कर्त्तुः प्रथमं देशनादस्तु तथा, प्रकृते तु न तस्य न्यायस्यावतारः कर्मणः प्रथममदेशनादिति चेन्न। यथा कारकेषु प्रथमं देशनात् कर्त्तुर्मुख्यत्वं तथोद्देश्यतया कर्मणो मुख्यत्वमित्याशयादित्याहुः।

सङ्ख्याऽपि तावदियं भावनानुगामिनी, यं यं भावनान्वेति, तं तं सङ्ख्याऽपीति स्थितेः एकप्रत्ययवाच्यत्वनियमात्। भावना च शुद्धं प्रातिपदिकार्थमात्रमाकाङ्क्षति। न हि व्यापारवन्तं व्यापार आश्रयते, आत्माश्रयत्वात्।

आमोदः- संख्येयमादायैव पर्यवसानं स्यात् इत्यत आह साकाङ्क्षेणेति। भावनानुगामिनीति। भावनामनुयातुं शीलमस्येत्यर्थः। शीलमेव दर्शयति यं यमिति। एतादृशं शीलमेवास्याः कुत इत्यत आह एकेति। ननु भवत्वेवं भावनाया एवान्वये किंनियामकमत आह-भावना चेति। शुद्धमिति। भावनानवरुद्ध- मित्यर्थः। कथमेवमत आह न हीति। व्यापारवन्तं व्यापारविशिष्टम्। व्यापारश्चात्र कृतिः। तथा च तत्कृतिविशिष्टे तत्कृत्यन्वये आत्माश्रय इत्यर्थः।

प्रकाशः- समानप्रत्ययोपात्तत्वे प्रत्यासत्त्यान्तरङ्गत्वात् सङ्ख्येयमात्र-साकाङ्क्षापि सङ्ख्या भावनान्वयिनैवान्वेति। अग्निना चैत्र ओदनं पचतीत्यत्र चैत्रपदार्थस्य निर्व्यापारत्वेनोपस्थितस्य भावनात्मकव्यापारसाकाङ्क्षत्वाद् भावना याश्चाश्रयाकाङ्क्षत्वात् तेनैव भावनान्वेति, न कर्मकरणादिना। द्वितीयादिना तस्य व्यापारवत्तयोपस्थितेर्व्यापारान्तरनिराकाङ्क्षत्वात्। भावनायाः साकाङ्क्षत्वे-ऽप्यन्यतराकाङ्क्षाया अन्वयानङ्गत्वात्। ओदनः पच्यते चैत्रेणेत्यत्र तु कर्त्तुर्व्यापारवत्त्वेनोपस्थिते न तत्र भावनान्वयः किन्तु प्रथमानिर्दिष्टेन कर्मणा, तस्य व्यापारवत्त्वेनानुपस्थितेस्तत्साकाङ्क्षत्वात्। चैत्रेण सुप्यते इत्यत्र तु कर्तुर्निराकाङ्क्षत्वात् कर्मणश्चाभावाद् धात्वर्थेनैव सङ्ख्याया अन्वय इति आक्षेपादेव कर्तृकर्मणोर्लाभे सङ्ख्यान्वयो, नियमस्य चान्यथोपपत्तौ न ते लकारवाच्ये इत्याह सङ्ख्यापि तावदिति।

शुद्धं-निर्व्यापारत्वेनोपस्थितम्। इदञ्च कर्तृकर्मणोराक्षेपलभ्यत्वं यद्भावनाविशेष्यत्वे सति प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वं, न तु सङ्ख्यालिङ्गकानुमिति विषयत्वम्। अनुमित्या सङ्ख्येयमात्रगतत्वेन सङ्ख्याप्रतीतेः। शब्दोपस्थापित-सङ्ख्यायास्तदुपस्थापितेनैवान्वयनियमाच्चेति तत्त्वम्। किं तद्व्यापारविशिष्टे तद्व्यापाराश्रयणम्, उत व्यापारान्तरविशिष्टे? तत्र नाद्य इत्याह आत्माश्रयत्वादिति। अन्त्ये, त्वनवस्थितेरिति भावः।

मकरन्दः- यद्भावनेति। भावनाविशेष्यस्य कर्तुः कर्मणो वा प्रथमान्त-पदेनोपस्थाप्यत्वमेवाक्षेपलभ्यत्वमिति भावः।

समवायं प्रति तदनुपयोगात्। विजातीयव्यापारवतोऽकर्तृत्वाच्च। न च द्वितीयाद्याः प्रातिपदिकविभक्तयः। ततः प्रथमानिर्दिष्टेनैव

आमोदः–नन्वात्माश्रयभयात्तत्कृतिविशिष्टे तत्कृतिर्नान्वेतु, कृत्यन्तरमन्वीयतामित्यत आह **समवायं प्रतीति**। कृतिसमवायं प्रति कृतेरप्रयोजकत्वात्। कृतौ कृतिसमवायाभावात् प्रथमकृतावपि कृत्यन्तरापेक्षायामनवस्थानाच्चेत्यर्थः। ननु कृतिविशिष्टकृतिर्नान्वेतु, व्यापारान्तरमन्वीयतामित्याह–**विजातीयेति**। कृत्यन्वयादेव कर्ता भवति न तु व्यापारान्तरयोगादपि। तथा सति करणादीनामपि कर्तृत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। ननु कृतौ कृतिसमवायो मास्तु, सम्बन्धान्तरमस्तु, को दोष इत्यत आह **विजातीयेति**। विजातीयेन सम्बन्धेन समवायभिन्ने च सम्बन्धेन व्यापारवतोऽकर्तृत्वात्। अन्यथा विषयतासम्बन्धेन कर्मणोऽपि कर्तृत्वापत्तिरिति भावः। तदयं समुदयार्थः। चैत्रः पचति इत्यत्र चैत्रस्य प्रथमान्तस्य भावनानवरुद्धतयोपस्थितत्वाद् भावनां प्रत्याकाङ्क्षा, भावना च भावकं भाव्येनापेक्षते। तत्र तण्डुलानि द्वितीयया पाकभवनाभाव्यत्वेनैवोपस्थितांस्तण्डुलान् विहाय भावकमेव काङ्क्षतीत्युभयाकाङ्क्षावशात् कर्त्रैवान्वयो भावनाया इति संख्यान्वयोऽपि तेनैव समानपदोपात्तत्वप्रत्यासत्तेः। चैत्रेण तण्डुलाः पच्यन्ते इत्यत्र तु तृतीयया चैत्रः कर्तृत्वेनोपस्थापित इति तेनान्वयो, न कर्तृत्वं नास्त्येवातो धात्वर्थेनैवान्वयो भावनाया इत्याक्षेप्ये एव कर्तृकर्मणी, न तु वाच्य इति। ननु द्वितीयान्तेनैव वा न कथं भावनान्वय इत्यत आह **न चेति**।

प्रकाशः– युक्त्यन्तरमाह **समवायं प्रतीति**। **तदनुपयोगाद्** व्यापारवदनुपयोगात्। भावनाया इव तत्समवायस्यापि शुद्धप्रातिपदिकार्थापेक्षतया भावनादिविशिष्ट निराकाङ्क्षत्वादित्यर्थः।

यद्वा समवायो मेलकः। यत्समेलकस्य पूर्वापरीभूतभावनावाचकेनाख्यातेनैव बोधितत्वाद् न तदन्वयाय भावनान्तरापेक्षेत्यर्थः। नन्वात्माश्रयानवस्थाभ्यां सजातीयव्यापारवदनाकाङ्क्षेति द्वितीयाद्युपनीतविजातीयव्यापारवत् साकाङ्क्षत्वं स्यादित्यत आह **विजातीयेति**। तथासत्ययोग्यत्वादनन्वयापत्तिः, न हि घटानुकूलव्यापारेण पाककर्तृत्वं दृष्टमित्यर्थः। ननु शुद्धप्रातिपदिकार्थापेक्षिण्यपि भावना कुतो न द्वितीयाद्युपनीतेनान्वेतीत्यत आह **न चेति**।

मकरन्दः– **भावनादिविशिष्टेति**। सजातीयव्यापारमभिप्रेत्य। ननु भावनासमवायो न पदार्थः, किन्तु तदन्वय इति तस्यान्वयप्रतियोगित्वाभावान्निराकाङ्क्षत्वेऽप्यदोष इत्यरुचेराह **यद्वेति**। **भावनान्तरेति**। तथा च शुद्धप्रातिपदिकार्थमात्राकाङ्क्षैवेति भावः।

भावनान्वीयते इति तस्यान्वययोग्यतानियमात् सङ्ख्यापि तदनुगामिनी तेनैवान्वीयते इति नातिप्रसङ्गः, नञर्थवत्। यथा हि चैत्रो न ब्राह्मणो न गौरो न स्पन्दते न कुण्डलीत्यादौ विशेषणविशेष्यसमभिव्याहाराविशेषेऽपि नञा तदनभिधानाविशेषेऽपि नञर्थस्य विशेषणांशैरेवान्वयो न विशेष्यांशेन।

ननु बाधात्तत्र तथा। न हि विशेष्येण तदन्वये विशेषणोपादान-मर्थवद्भवेत्; तन्निषेधेनैव विशेषणनिषेधोपलब्धेः। उभयनिषेधे चावृत्तौ वाक्यभेदादनावृत्तौ निराकाङ्क्षत्वादिति चेन्न। तुल्यत्वात्। समानप्रत्ययोपात्तभावनाक्षिप्तान्वयोपपत्तौ बाधकं विना सन्निहितत्यागे व्यवहितपरिग्रहस्य गुरुत्वात्। भावनायाश्च

आमोदः- उभयोपस्थितावपि साकाङ्क्षेणैवान्वय इत्यत्र दृष्टान्तमाह नञर्थवदिति। अत एव विशेषणविशेष्योभयसमभिव्याहारेऽपि यथा विशेषणेनैवान्वयो न तु विशेष्येण, तथा प्रकृतेऽपि प्रथमातदन्यविभक्त्यन्तोपस्थितौ प्रथमान्तेनैवान्वय इत्यर्थः। न ब्राह्मण इत्यादिना जातिगुणकर्मद्रव्याणां क्रमेण नञर्थान्वयो दर्शितः। ननु यत्र विशेषणसमभिव्याहारस्तत्र विशेषणमात्रेणैव नञर्थान्वयो न विशेष्येणेति नियमात्तत्र तथास्तु, प्रकृते तु नियामकं न पश्याम इत्याह नन्विति। ननु विशेषणविशेष्याभ्यामेव नञर्थान्वयोऽस्तु इत्यत आह तन्निषेधेनैवेति। नञ्पदानुवृत्तानुभयान्वये वाक्यभेद एव, अनावृत्तौ त्वेकान्वयेनैव निराकांक्षत्वान्नापरान्वय इत्याह-उभयेति। भावनान्वये तावन्नियामकमुक्तमेव, संख्याया अपि तदन्वितेनैवान्वयकल्पने लाघवं, संख्येयान्तरगवेषणायां तु गौरवमित्याह समानेति। भावनान्वयमेव विशदयति भावनाया इति। ननु भावनाया

प्रकाशः- उभयोपस्थितावपि साकाङ्क्षेण सहान्वयो भावनाया न निराकाङ्क्षेणेति दृष्टान्तेन स्पष्टयति नञर्थवदिति। न चैत्र इत्यादिना क्रमेण जातिगुणकर्मद्रव्याणां विशेषणानां निषेध्यत्वमुक्तम्। आवृत्ताविति। उभयनिषेधे च सकृदुच्चरितस्य नञोऽन्यतरनिषेधेनैव निराकाङ्क्षत्वात् तदर्थान्वयार्थमावृत्तिकल्पने पदावृत्तिरूपवाक्यभेदापत्तिरित्यर्थः। अनावृत्ताविति। सकृदुच्चरितनञो येन केनचिदेकेनैव चरितार्थत्वाद् निराकाङ्क्षत्वादित्यर्थः।

भावनान्वयिनैव सङ्ख्याऽन्वेतीत्यत्राभिमतं नियामकं स्पष्टयति समानेति। यद्यपि व्यापारात्मिका भावना व्यापारिसामान्यमाकाङ्क्षति आक्षिपति, तथापि

सामान्याक्षेपेऽपि साकाङ्क्षपरित्यागेन निराकाङ्क्षान्वयानुपपत्तेः। न ह्यन्यतराकाङ्क्षा अन्वयहेतुः, अपि तूभयाकाङ्क्षा। प्रातिपदिकार्थो हि फलेनान्वयमलभमानः क्रियासम्बन्धमपेक्षते। भावनापि व्यापारभूता सती व्यापारिणमित्युभयाकाङ्क्षा अन्वयहेतुः। कटं कटेनेत्यादि तु कारकतयैव फलसमन्वितं न व्यापारान्तरमपेक्षते इति निराकाङ्क्षमिति।

अत एवास्यते सुप्यते इत्यादौ नाक्षिप्तेनान्वयः। न हि चैत्रेणेति तृतीयान्तशब्दस्य भावनायामाकाङ्क्षास्ति। भाव्याकाङ्क्षास्तीति चेन्न। फलेन शयनादिधात्वर्थेनान्वयात्। फलसंबन्धिनश्चात्र कर्त्रनतिरेकात्। न हि शयनादयो धात्वर्थाः कर्त्रतिरेकसंबद्धाः। न च फलतत्संबन्धि-व्यतिरेकेणान्यो भाव्यो नाम, यमपेक्षेत।

आमोदः–भाव्यभावकोभयाकाङ्क्षाऽस्त्येवातो न तस्याः सम्बन्धिप्रतिनियम इत्यत आह न हीति। फलेनौदनादिना क्रियासम्बन्धःसन्तापनादिधात्वर्थश्च भावनासम्बन्ध मन्तरेण नोपपद्यत इति भावनामप्यपेक्षत इति विशेषः। भावनापि व्यापारभूता सती व्यापारिणमपेक्षते निराश्रयायास्तस्या अनुपपत्तेरित्यर्थः। साकाङ्क्षमुक्त्वा निराकाङ्क्षमाह कटं कटेनेति। कारकतया कर्तृतया कर्मतया वेत्यर्थः। भाव्यस्य धात्वर्थानतिरेकत्वमाह फलेनेति। तर्हि फलसम्बन्धिना भावनान्वीयतामत आह– फलसम्बन्धिन इति। धात्वर्था इति। स्वापादय इत्यर्थः।

प्रकाशः–साकाङ्क्षेण व्यापारिणा प्रातिपदिकार्थेनान्वीयते, न तु निराकाङ्क्षेण कारकान्तरेणेत्याह सामान्येति। उभयाकाङ्क्षामाह प्रातिपदिकार्थ इति। फलेन धात्वर्थेन, क्रियासम्बन्धं व्यापारसम्बन्धमित्यर्थः। कटं कटेनेति। अत्र द्वितीयातृतीयाभ्यां कारकविभक्तिभ्यां क्रियानुकूलव्यापारसहितस्यैवोपस्थितेर्न भावनाकाङ्क्षेत्यर्थः।

ननु यदि स्वपिति इत्यादावाक्षिप्तेन कर्त्राऽन्वयस्तदा सुप्यते इत्यादावपि तथा स्यादित्यत आह अत एवेति। यत एव उभयाकाङ्क्षानिबन्धनोऽन्वय इत्यर्थः। भाव्यं भावनाजन्यं, फलञ्चेत्तत्राह फलेनेति। अथ फलसम्बन्धि कर्म भाव्यं, तत्राह फलेति। धातूनामकर्मकत्वात् तदाश्रयत्वं कर्तुरेवेत्यर्थः। तस्य च चैत्रेणेति तृतीयया कर्तृत्वोपस्थितेर्न भाव्यत्वेनान्वयान्तरमिति भावः।

मकरन्दः– तृतीययेति। 'कर्तृकरणयोस्तृतीये'ति (पा.सू. २।३।१८।) कर्तृत्वे तृतीयाऽनुशासनादिति भावः।

प्रकाशः– ननु चैत्रस्तण्डुलान् पचति इत्यत्र भावनान्वयश्चैत्रे सम्भवत्याश्रयत्वात्। चैत्रेण पच्यन्ते तण्डुला इत्यत्र तण्डुलानां न तावद्विषयत्वेन भावनान्वयः, यत्नस्य विक्लित्त्यनुकूलव्यापारविषयत्वात्। विषयत्वेनान्वये वा चैत्रस्तण्डुलान् पचतीत्यत्र तण्डुलानां विषयत्वेन भावनान्वयापत्तौ सङ्ख्याया अपि तदन्वयापत्तेः। नाप्याश्रयतया, भावनाया अतदाश्रितत्वात्। न च चैत्रेण भावनान्वयः, तृतीयार्थयत्नेनावरुद्धतया भावनायास्तदनन्वयात्। अचेतने वा कथं सङ्ख्याऽन्वयनियमः?। तत्र भावनाया अनन्वयात्। यत्र च पचतीत्येव प्रयुज्यते, तत्र कथं भावनायाः कर्त्रन्वयः?। यत्र वा चैत्रः कर्त्ता पचत्योदनम् इति प्रयोगः, तत्र चैत्रेणेतिवत् कर्तृत्वेनैवोपस्थितावाकाङ्क्षाविरहाद्भावनानन्वये कथं कर्त्तरि सङ्ख्याऽन्वयः?।

उच्यते - यत्र यद्विशेष्यं, तेन सङ्ख्याऽन्वयः। तथा हि चैत्रस्तण्डुलान् पचतीत्यत्र तण्डुलानां कर्मत्वेनान्वयात् तण्डुलवृत्तिफलजनकव्यापार जनकयत्नाश्रयश्चैत्र इति प्रतीतेः स विशेष्यः। चैत्रेण पच्यन्ते तण्डुला इत्यत्र चैत्रवृत्तियत्नजन्यव्यापारजन्यफलाश्रयास्तण्डुलाः प्रतीयन्ते इति यत्नस्य परम्परया तण्डुला विशेष्याः। एवं यद्यप्युभयत्र चैत्रः कर्त्ता तण्डुलाः कर्माणि, तथापि यत्नविशेष्ये सङ्ख्यान्वयः। अचेतनेऽपि रथो ग्रामं गच्छतीत्यत्र ग्रामवृत्तिफल जनकव्यापाराश्रयो रथः प्रतीयते, रथेन गम्यते ग्राम इत्यत्र रथवृत्तिव्यापार जन्यफलाश्रयो ग्राम इति, तत्रापि विशेष्ये सङ्ख्याऽन्वयः।

चैत्रेण सुप्यते इत्यत्र न चैत्रो भावनाविशेष्यः, तृतीयार्थावरुद्धत्वात्, कर्म तत्र नास्त्येव। अतो धात्वर्थ एव भावनाविशेष्यः, फलत्वाद् विषयत्वाद् वेति तत्र सङ्ख्याऽन्वयः। न च प्रातिपदिकार्थे भावनान्वयेऽपि न सङ्ख्याऽन्वयः, प्रथमोपनीतसङ्ख्यान्वयेन च तस्य तदनाकाङ्क्षत्वादिति वाच्यम्। प्रथमाख्याताभ्यामेकस्या एव सङ्ख्याया अभिधानात्। चैत्रो दण्डीत्यत्रेव सामानाधिकरण्यानुरोधात्। अन्यथा *त्वन्मते* प्रथमार्थसङ्ख्याऽन्वयश्चैत्रे न स्यात्, आख्यातेनैव स्ववाच्यकर्तृसङ्ख्याऽभिधानात्। नापि पचतीत्यत्र पाकयत्नवानिति विवरणात् कर्त्ता आख्यातवाच्यः। कर्तुरन्यलभ्यत्वेनावाच्यत्वस्थितौ विवरणस्य

मकरन्दः– ननु अत्राक्षिप्तेन चैत्रादिना भावनाऽन्वयः, अन्यथा तदनन्वय इष्ट एवेत्यरुचेराह यत्र वेति। यद्विशेष्यमिति। आख्याततात्पर्यविषयीभूतार्थविशेष्ये इत्यर्थः। अत एवाह अचेतनेऽपीति।

स्यादेतत्, किमिति न प्रयुज्यते कटः करोति चैत्रमित्यादि, अभिहितानभिहितव्यवस्थाऽभावादिति चेन्न। चैत्रमिति प्रथमान्तस्यासाधुत्वात् द्वितीयान्तस्य तु कर्मवचनत्वेन तत्संबन्धाद् भाव्यानपेक्षणी भावना भावकमात्रमपेक्षेत। न च कटस्य चैत्रं प्रति भावकत्वं, विपर्ययात्। अनाप्तेन तु विवक्षायां प्रयुज्यत एव। प्रयुज्यतां तर्हि 'कटं करोति चैत्र' इत्यादि।

आमोदः- किमितीति। यदि कर्तृकर्मणी नाख्यातवाच्ये, तदा नियामकाभावात् किमितीति फक्किकोत्थानं कथमेवं प्रयुज्यतामत आह अभिहितेति। चैत्रमिति। प्रथमान्तं द्वितीयान्तं वा। आद्य आह प्रथमेति। द्वितीये त्वाह कर्मेति। तत्सम्बन्धात् कर्मत्वसम्बन्धात्। भाव्यश्चैत्र एव स्यात्। तथा च तद्विषयिणी भावना भावकमपेक्षते, स च न कटस्तस्य भाव्यत्वात्। चैत्रस्यैव भावकत्वादित्यर्थः। तथाविवक्षायां कटस्यैव चैत्रं प्रति जनकत्वविवक्षायामित्यर्थः। प्रयुज्यतामिति। आप्तेनेति शेषः। तर्हीति। चैत्रस्य प्रथमान्तोपस्थितत्वेन चेतनत्वेन च भावनान्वययोग्यत्वादित्यर्थः।

प्रकाशः- तात्पर्यविषयपरत्वात्, द्वन्द्वादिसमासस्य विग्रहेण विवरणेऽपि तत्र शक्त्यभावाच्च।

अत्रास्मत्पितृचरणाः – कृतिरूपकर्तृत्ववत् कर्मत्वमपि लकारवाच्यम्, तद्धर्मिणोरन्यत एव लाभात्। तण्डुलान् पचतीत्यत्र द्वितीयात इव चैत्रेणौदनः पच्यते इत्यत्रान्यतः कर्मत्वालाभादित्याहुः।

कर्तृकर्मकरणादीनामभिहितानभिहितत्वविशेषाभावे कटं करोति चैत्र इत्यत्र बिभक्तिपरिणामे प्रयोगः किं न स्यादित्याह – किमिति। चैत्रशब्दस्य पुंलिङ्गत्वात् प्रथमायां तद्रूपमसाध्वित्याह चैत्रमितीति। भाव्यानपेक्षिणीति। द्वितीयायाः कर्मत्वाभिधायकत्वेन भाव्यानपेक्षिणी भावनेत्यर्थः।

मकरन्दः- तद्धर्मिणोरिति। कर्तृत्वकर्मत्वधर्म्मिणोः कर्तृकर्म्मणोरित्यर्थः। इत्याहुरित्यस्वरसोद्भावनम्। तद्बीजन्तु-तथाप्याश्रयत्वमात्रमनन्यलभ्यतया लकारवाच्यं, परसमवेतक्रियाफलशालित्वं हि कर्म्मत्वमिति चैत्रवृत्तियत्नजन्य व्यापारजन्यफलाश्रयत्वमेव तस्य कर्म्मत्वं वाच्यम्। तत्र तृतीयया यत्नस्य धातुना फलावच्छिन्नव्यापारस्याभिधानेऽपरस्यानन्यलभ्यत्वादिति।

द्वितीयाया इति। तथा च भाव्यतया चैत्रस्योपस्थितेस्तथात्वेन कटं नापेक्षते, किन्तु भावकत्वेनैव, तच्च विपर्य्ययादयुक्तमिति भावः।

न, नित्यसन्दिग्धत्वेन वाक्यार्थासमर्पकत्वात्। ततस्तदुपपत्तये विशेषस्य व्यञ्जनीयत्वात्। व्यज्यतां तर्हि तृतीयया चैत्रेणेति, एवं देवदत्तः क्रियते कटमिति व्यज्यतां द्वितीययेति चेन्न। अप्रयोगात्। न ह्यनाप्तेनाऽप्येवंप्रायाणि प्रयुज्यन्ते। लक्षणाविरोधेन कुत एतदेवेति चेत्, लोकस्यापर्यनुयोज्यत्वात्।

न हि गार्गिकयेति पदं साध्विति श्लाघाभिधायिपदसन्निधिमनपेक्ष्य प्रयुज्यते। तस्य तदुपाधिनैव विहितत्वादिति चेत्, एतदेव कुतः?। लोके तथैव प्रयोगदर्शनादिति चेत्, तुल्यम्। करोतीत्यादि कर्मविभक्ति समभिव्याहारेणैव प्रयुज्यते, क्रियते इति कर्तृविभक्तिसमभिव्याहारेणैवेति किमत्र क्रियताम्। इममेव विशेषमुररीकृत्यानभिहिताधिकारानुशासनेन ह्येतावान् परामर्शः सर्वेषां हृदि पदमादधातीत्यभिधानानभिधानविभाग एव व्युत्पादनदशायां पेशल इति।

आमोदः- व्यज्यतामिति। कटः करोति चैत्रेण, चैत्रः क्रियते कटमिति तृतीयाद्वितीयाभ्यां विशेषस्याभिव्यक्तत्वेन सन्देहाभावादित्यर्थः। अप्रयोगादिति। *पाणिनिस्मृते*रपि प्रयोगमूलकत्वादिति भावः। लक्षणाविरोधेनेति। अनुशासनविरोधेनेत्यर्थः। अभिहितानभिहितव्यवस्था *तव* नास्त्येवेति भावः। लोकस्येति। अनादेरप्रयोगस्यापर्यनुयोज्यत्वादित्यर्थः। एतदेव दृष्टान्तेनाह न हि गार्गिकयेति। स्वस्य गार्ग्यत्वेन श्लाघते। अत्र वुण्प्रत्ययस्य श्लाघ्यसमभिव्याहारादेव साधुत्वादित्यर्थः। तस्येति वुण् प्रत्ययस्य। तदुपाधिना श्लाघापदसमभिव्याहारेणेत्यर्थः तर्हि कथमीदृशमनुशासनमत आह इममेवेति। लोकप्रयोगाप्रयोगावेव यदि तन्त्रं, तदानुशासनवैयर्थ्यमित्यत आह न ह्येतावानिति। इत्यभिधानेति। अत्र यद्विशेष्यं तेन संख्यान्वयः। तेन चैत्रः तण्डुलान् पचतीत्यत्र फलजनकयत्नाश्रयश्चैत्र एव विशेष्यः, चैत्रेण तण्डुलाः पच्यन्त इत्यत्र चैत्रवृत्तियत्नविषया तण्डुला इति। त एव विशेष्या इति तत्रैव संख्यान्वय इति। रथो गच्छतीत्यत्र रथस्यैव विशेषणं विशेष्यः, तेनैव

प्रकाशः-नित्येति। कर्तृकर्मभावे इति शेषः। लोकस्येति। व्याकरणस्याप्यनादि-प्रयोगानुपजीव्यैव शब्दान्वाख्यायकत्वादित्यर्थः। तुल्यमिति। अनादिः प्रयोगोऽस्माकमप्युपजीव्य इत्यर्थः। इममेवेति। बालव्युत्पत्त्यर्थं प्रकृतिप्रत्यय-विभागस्येवाभिहितानभिहितत्वस्यापि व्युत्पादनमित्यर्थः। वस्तुतो यत्पदस्य यत्पदसमभिव्याहारेणैव प्रयोगनियमः, तस्य तत्पदं विना न प्रयोग इत्यर्थः।

स्यादेतत्, भवतु सर्वाख्यातसाधारणी भावना। कालविशेषसंबन्धिनी सा लडाद्यर्थः, कालत्रयापरामृष्टा लिङर्थ इति चेन्न। यत्नपदेन समानार्थत्वप्रसङ्गात्। विषयोपरागानुपरागाभ्यां विशेष इति चेन्न। यागयत्न इत्यनेन पर्यायतापत्तेः। कर्तृसंख्याभिधानानभिधानाभ्यां विशेष इति चेन्न। यागयत्नवानित्यनेन साम्यापत्तेः। इष्ट एवायमर्थ इति चेत्, न। इतो वत्सरशतेनाप्यप्रवृत्तेः। फलसमभिव्याहाराभावान्न प्रवर्तते इति चेन्न। स्वर्गकामो यागयत्नवानित्यतोऽप्यप्रवृत्तेः। तत् कस्य हेतोः?। न हि यत्नो

आमोदः– संख्यान्वयः। रथो गच्छतीत्यत्र रथस्यैव विशेष्यत्वं, रथेन गम्यते ग्राम इत्यत्र तु ग्रामस्येति। तेनैवाचेतनस्थलेऽपि संख्यान्वयश्चैत्रेण सुप्यत इत्यत्र कर्माभावात्। कर्तृव्यापारोपरुद्धतयैवोपस्थितेश्चैत्रवृत्तिव्यापारविषयः स्वाप इति धात्वर्थ एव विशेष्यः, तेनैव संख्यान्वयः। तेन चैत्रः कर्ता पचत्योदनमत्र भावनान्वयं विनापि संख्यान्वयश्चैत्रेणैव, तस्य विशेष्यत्वात्। न च तत्र भावनान्वयादपदार्थता आख्याता, नैवं तृचा एकस्या एव भावनाया अभिधानात्। एवं चैत्रः पचतीत्यत्रापि सुपा तिङा च एकस्या एव संख्याया अभिधानमिति नेयं भावना विशेष्यत्वे सति प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वमेव कर्तुः कर्मणो व आधेयत्वं न त्वनुमेयत्वमित्यवधेयम्। कर्तृधर्मो यत्नो न लिङर्थः। तस्य सर्वाख्यातसाधारणत्वादिति यदुक्तं तत्राभ्युपगम्य विशेषं शङ्कते– स्यादेतदिति। कालत्रयेति। नहि यजेत स्नायादित्यादौ कश्चित् कालो भासते इत्यर्थः। यत्नपदेनेति तत्रापि कालत्रयापरामृष्टो यत्न एवार्थ इत्यर्थः। ननु यजेतेत्यत्र यागविषयो यत्नः प्रतीयते। यत्नपदात्तु यत्नमात्रमिति न साध्यमिति शङ्कते विषयेति। ननु यजेत स्वर्गकाम इत्यत्र लिङा कर्तृसंख्याभिधीयते, न तु यागप्रयत्न इत्यत्रेति शङ्कते कर्तृसंख्येति। इष्ट एवेति। अयमेव लिङर्थ इत्यर्थः। लिङर्थस्य प्रवर्तकत्वात् अस्य चातथाभूतत्वान्नायं लिङर्थ इत्याह इत इति। अर्थसाम्येऽपि फलसमभिव्याहारविरहान्न प्रवर्तकत्वमस्येत्याह फलेति। अर्थाविशेषेऽपि विनिगमकं पृच्छति तदिति। उत्तरं न हीति। यत्न इति। प्रतीयमानो

प्रकाशः– कर्तृधर्मस्य यत्नस्य विधित्वे सर्वाख्यातसाधारण्येनोक्तातिप्रसङ्गे समाधिं शङ्कते स्यादेतदिति। लडादीनां वर्त्तमानादिकालनियमवल्लिङस्तदभावादिति नातिप्रसङ्ग इत्यर्थः। यत्नज्ञानस्याप्रवर्त्तकतया प्रागुक्ताप्रवृत्तेरिति स्मारणेन परिहरति यत्नपदेनेति।

मकरन्दः–यत्नस्येति। यद्यपि यत्नस्य लिङर्थत्वे तज्ज्ञानं प्रवर्त्तकमिति न स्वात्मनि वृत्तिविरोधो दोषः, तथापि प्रवृत्तिहेतौ सङ्कल्पे शक्तेरित्युक्तत्वात् तद्दूषणे तात्पर्य्यम्।

यत्नस्य हेतुः, यत्नप्रतीतिर्वा यत्नस्य कारणम्, अपि त्विच्छा। न च सापि प्रतीता यत्नजननी येन सैव विध्यर्थ इत्यनुगम्यताम्, अपि तु सत्तया। न च लिङः श्रुतिकाले सा सती। न च लिङेव तां जनयति। अर्थविशेषमप्रत्याययन्त्यास्तस्यास्तज्जनकत्वे व्युत्पत्तिग्रहणवैयर्थ्यात्। अनुपलब्धलिङाञ्चेच्छाऽनुत्पत्तिप्रसङ्गादिति। एतेन वृद्धव्यवहाराद् व्युत्पत्तिर्भवन्ती बालस्यात्मनि प्रवृत्तिहेतुर्योऽवगतस्तमेवाश्रयेत्, स्वयञ्च कुर्यामिति सङ्कल्पादेवायं प्रवृत्तः, ततः स एव लिङर्थ इति निरस्तम्। कुर्यामिति प्रयत्नो वा स्यादिच्छा वा?। नाद्यः, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्।

आमोदः– यत्न इत्यर्थः। नन्विच्छा चेद् यत्नं जनयति, तदा सैव लिङर्थः स्यादित्याह न चेति। इच्छायाः प्रवृत्तिहेतुज्ञानविषयत्वाभावादित्यर्थः। इच्छायाः कर्तृधर्मस्य विधित्वेन कारिकयाऽसत्त्वादिति (५।८।) यद्बाधकमुक्तं तद् विवृणोति न च लिङ इति। सा सती येन यत्नं जनयेदिति शेषः। न च लिङः श्रुतिकालेऽपि स्वहेतुबलायाता साऽस्तीति वाच्यम्, तदा प्रवृत्तिं प्रति लिङोऽप्रयोजकत्वेन वैयर्थ्यापत्तेरिति भावः। ननु नाप्रयोजकत्वम् इच्छाजन्यस्यैव प्रयोजनत्वादित्याह न चेति। तस्या इति। लिङ इत्यर्थः। व्युत्पत्तीति। तर्हि लिङ्पदमव्युत् पन्नस्यापीच्छां जनयित्वा प्रवृत्तिं जनयेत् इत्यर्थः। इच्छाया लिङर्थत्वे युक्त्यन्तरमाशङ्क्य निराकरोति एतेनेति। अहं सङ्कल्पात् प्रवृत्तः, अतोऽयमपि वृद्धं पचेतेत्यादिश्रवणसमनन्तरं सङ्कल्पादेव प्रवर्तत इति सङ्कल्प एव लिङर्थ इति व्यवहाराधीनो व्युत्पत्तिग्रह इत्यर्थः। स एवेति। सङ्कल्प एवेत्यर्थः। स्वात्मनीति। न हि यत्न एव यत्नं जनयतीत्यर्थः।

प्रकाशः– अथ लिङा न यत्नः क्रियते अपि तु यत्नज्ञानमिति। तत्राह यत्नप्रतीतिर्वेति। अत्रापि न हीति योज्यम्। अस्तु कर्तृधर्म इच्छैव लिङ्वाच्येत्यत आह न चेति। प्रवृत्तिहेतुज्ञानविषयस्य लिङर्थत्वादित्यर्थः।

असत्त्वादिति विवृणोति न च लिङ इति। प्रत्ययत्यागादिति हेतुं व्याचिख्यासुर्भूमिकामारचयति न च लिङेवेति। अथ विषयज्ञानमनुत्पाद्य लिङपि नेच्छां जनयति, अन्यथा व्युत्पन्नस्येवाव्युत्पन्नस्यापि लिङ्श्रवणादिच्छा स्यादित्याह अर्थेति। स्वयञ्चेति। इष्टसाधनं ममेति मत्वा कुर्यामिति यः सङ्कल्पः, तज्ज्ञानादहं प्रवृत्तः। अतः प्रयोज्यवृद्धोऽपि तत एव प्रवृत्तः। ततः सङ्कल्पज्ञानं लिङुच्चारणान्तरं जातमिति लिङेव तत्करणमित्यवगच्छति व्युत्पद्यमानो बाल इत्यर्थः।

न द्वितीयः, सा हि सत्तयैव प्रयत्नोत्पादिनी, न च लिङः श्रुतिकाले सा सतीत्युक्तम्। फलेच्छा तु निसर्गवाहितया सत्यपि न प्रयत्नं प्रति हेतुः। अन्यविषयत्वात्। तदर्थञ्च शास्त्रवैयर्थ्यात्। तस्याः कारणान्तरत एव सिद्धेः। तत्प्रतीत्यर्थमपि शास्त्रानपेक्षणात्। तस्या मनोवेद्यत्वात्। अप्राप्ते च शास्त्रानवकाशात्। तदभिधाने च स्वर्गकाम इति कर्तृविशेषणपौनरुक्त्यात्। तदा हि यजेतेत्यस्यैव यागकर्त्ता स्वर्गकाम इत्यर्थः स्यात्।

आमोदः- सा हीति। साधनगोचरेच्छेत्यर्थः। प्रयुक्तमिति। लिङ् च न तदुत्पादिकेत्यप्युक्तमिति भावः। ननु फलेच्छा तदानीं सम्भवत्येवातः सत्त्वात् सैव लिङर्थः स्यादित्यत आह फलेच्छेति। निसर्गवाहित्वं निरुपाधित्वं प्रवृत्तिः साधने न तु फलेऽपि, न च फलेच्छा साधने प्रवर्तयति भिन्नविषयत्वादित्यर्थः। तदर्थं चेति। फलेच्छोत्पादनार्थं ज्ञापनार्थं वा न शास्त्रमर्थवदित्यर्थः। कारणान्तरत इति। फलज्ञानादेवेत्यर्थः। तस्या इति। फलेच्छाया इत्यर्थः। ननु मनोवेद्याऽपि शास्त्रेण बोध्यतामत आह अप्राप्त इति। *विधिरत्यन्तमप्राप्ताविति* वस्तुगतेरित्यर्थः। दोषान्तरमाह तदभिधान इति। लिङा फलेच्छाभिधीयते। स्वर्गकाम पदेन चेति पौनरुक्त्यात्र सा लिङित्यर्थः। पौनरुक्त्यमेव स्पष्टयति तदा हीति। तथा च स्वर्गकाम इति पदं व्यर्थमापद्येतेत्यर्थः।

प्रकाशः – स्वात्मनीति। यत्नस्य यत्नहेतुत्वे स्वात्मनि वृत्तिविरोध इत्यर्थः। अनेन विरोधत इति कारिकांशो विवृतः। इच्छा साधनगोचरा प्रवृत्तिहेतुरपि न ज्ञाता सतीति न लिङर्थ इत्याह सा हीति। न चेति। लिङः श्रवणात् प्रागिच्छाहेत्विष्ट साधनताज्ञानाभावादित्यर्थः।

सङ्करादिति कारिकांशं विवरीतुं, सुखादीच्छा लिङः श्रुतिकालेऽप्यस्तीति सा लिङर्थः प्रयत्नहेतुश्च स्यादिति निरस्यति फलेच्छा त्विति। निसर्गवाहित्वं-निरुपाधित्वम्। अन्यविषयत्वादिति। फलसाधने हि पुरुषः प्रवर्त्तते, न फले अन्येच्छायाश्चान्यत्र प्रवृत्तिहेतुत्वेऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। अपि च फलेच्छां शास्त्रमुत्पादयेत्, ज्ञापयेद्वा? तत्र नाद्य इत्याह तदर्थञ्चेति। फलेच्छायाः फलज्ञानादेवोत्पत्तेः, तस्य स्वविषयेच्छाजनकत्वस्वभावत्वादित्यर्थः। अतएव यज्ज्ञातं स्ववृत्तितयेष्यते,तदेव स्वतः प्रयोजनमिति भावः। द्वितीयमाशङ्क्य निराकरोति तदिति। किमतो यद्येवमित्यत आह अप्राप्ते चेति। अवकाशे वा फलेच्छाया लिङैवोक्तत्वात् स्वर्गकाम इति पुनरुक्तरूपसङ्करापत्तिरित्यत आह तदभिधान इति।

यदि च फलविषयैव साधनविषयं प्रयत्नं जनयेत्, अन्यत्रापि प्रसुवीत, नियामकाभावात्। हेतुफलभाव एव नियामक इति चेन्न। अज्ञातस्य तस्य नियामकत्वे लिङं विनापि स्वर्गेच्छातो यागे प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। ज्ञातस्य तु तत्साधनत्वस्य नियामकत्वे तदिच्छैव तत्र प्रवर्त्तयतु। यो यत्कामयते स तत्साधनमपि कामयत एवेति नियमात्। न च सा तदानीं सती। न च तज्ज्ञानमेव प्रयत्नजनकं, तच्च लिङा क्रियत इति युक्तम्। स्वर्गकामो यागचिकीर्षावानित्यतोऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। लिङो वेच्छां प्रतीत्यनिच्छन्नपि

आमोदः- अन्यविषयत्वादिति हेतुं तर्कोपष्टम्भेन स्फुटयति यदि चेति। ननु फलेच्छा हेतौ प्रवर्तयन्तीति कुतोऽतिप्रसङ्ग इति शङ्कते हेत्विति। अज्ञातस्य नियामकत्वे शास्त्रवैयर्थ्यमाह अज्ञातस्येति। भ्रमादसाधने प्रवृत्तिर्न स्यादित्यपि बोध्यम्। तस्येति। हेतुफलभावस्येत्यर्थः। यागस्वर्गयोर्हेतुफलभावो यदि ज्ञातस्तदा हेतुगोचरेच्छैव हेतौ प्रवर्तिकेति कृतं शास्त्रेणेत्याह ज्ञातस्येति। ननु शास्त्रं विना साधनेच्छैव कथं स्यादित्यत आह य इति। इष्टसाधनताज्ञानादेव तत्रेच्छेति भावः। ननु तथापि तत्साधनेच्छैव लिङा बोध्यतामत आह न चेति। तदानीम्। लिङश्रवणकाले। ननु चासत्या एव साधनेच्छाया ज्ञानं लिङ् जन्यतामत आह न चेति। जनितमपि तज्ज्ञानमसत्यामिच्छायां प्रवृत्तिं जनयतीति ज्ञानजननतन्त्रमित्याह स्वर्गेति। इत्यतोऽपीति। एतज्जनितज्ञानादपीत्यर्थः। ननु लिङा जनितमिच्छाज्ञानं प्रवर्तकं न तु तदुदाहृतवाक्यजनितमित्यत आह लिङ् इति। ननु स्वसम्बन्धीच्छाया

प्रकाशः- ननु समानविषयकतयेच्छाप्रवृत्त्योर्हेतुहेतुमद्भाव एव कुतः इत्यत आह - यदि चेति। अन्यत्राप्यसाधनेऽपीत्यर्थः। नियामकमाह हेतुफलेति। फलेच्छा तत्साधन एव प्रयत्नमुत्पादयति नान्यत्रेत्यर्थः। यदि स्वरूपसन्नेव हेतुफलभावः प्रवृत्तिनियामकः, तदा स्वर्गकामो यजेतेत्यादिविधिजन्यज्ञानं विनापि स्वर्गसाधने प्रवृत्त्यापत्तिरित्याह अज्ञातस्येति। भ्रमादसाधनेऽप्रवृत्त्यापत्तेश्चेति भावः। अथ ज्ञातः, तदा फलसाधनेच्छैव तत्साधने प्रवर्त्तयतु समानविषयत्वादित्याह ज्ञातस्य त्विति।

ननु साधनविषया नेच्छा तस्य निसर्गसुन्दरत्वाभावादित्यत आह ये यदिति। अस्तु साधनविषयैवेच्छा प्रयत्नजननी लिङर्थ इत्यत आह न चेति। साधनेच्छा न लिङः श्रुतिकाले सतीत्यर्थः। ननु साधनेच्छायास्तत्कालासत्त्वेऽपि तज्ज्ञानादेव प्रवृत्तिः स्यादित्यत आह न चेति। तच्चेति। साधनविषयेच्छाज्ञानमित्यर्थः। यदि च साधनेच्छाज्ञानादेव प्रवृत्तिः, तदा स्वेच्छानुत्पत्तिदशायामपि ततः प्रवर्त्तेतेत्याह लिङो वेति। यजेतेत्यतः साधनेच्छाज्ञानं जातं न तु स्वसम्बन्धितया। तादृशञ्च

सर्वः प्रवर्त्तेत। स्वसंबन्धितया तदवगमस्तथा, न तु सामान्यत इति चेन्न। प्रथमपुरुषेण तदभिधाने तस्याविध्यर्थत्वप्रसङ्गात्। ओदनकामस्त्वं पाकचिकीर्षावानित्यतोऽपि प्रवृत्त्यापत्तेश्च। अपि च, सङ्कल्पज्ञानात् यदि प्रयत्नो जायेत तथापि सङ्कल्पस्य कुतो जन्म किमर्थञ्च?। सङ्कल्पज्ञानादेव, प्रयत्नार्थञ्चेति चेत्, नन्विच्छाविशेषः सङ्कल्पः, स तावत् सुखे स्वभावतः, तत्साधने चौपाधिकः। सङ्कल्पविषयस्तु कथम्? तत्साधनत्वादेवेति चेत्,

आमोदः–यदा ज्ञानं भवति, तदा प्रवर्तत एवेत्याह स्वेति। तर्हि यजेतेति वाक्यान्न प्रवर्तेत, अनेन स्वसम्बन्धिन्या इच्छाया प्रत्यायनात् इत्याह प्रथमेति। स्वसम्बन्धीच्छा प्रवृत्तावपि न प्रवर्तत एवेति व्यभिचारमाह ओदनेति। सङ्कल्पज्ञानस्य यत्नजनकत्वे सङ्कल्पस्य वैयर्थ्यमाह अपि चेति। कुत इति। इष्टसाधनताज्ञानस्य *त्वया* सङ्कल्पजनकतानभ्युपगमादिति भावः। किमर्थञ्चेति। किं वास्य प्रयोजनमित्यर्थः। लिङा सङ्कल्पविषयकं ज्ञानं जन्यते, तेन च ज्ञानेन सङ्कल्प उत्पाद्यते, उत्पन्नेन च प्रयत्नो जन्यते इत्युभयत्रैव प्रश्ने उत्तरमाह सङ्कल्पेति। इच्छाविशेष इति। कुर्यामिति। चिकीर्षारूपमित्यर्थः। संकल्पे सङ्कल्पज्ञानस्य प्रयोजकत्वमाह सुख इति। स्वभावत इति। फलेच्छाया फलज्ञानमात्रजन्यत्वात् साधनेच्छायास्तु फलेच्छाजन्यत्वादुभयत्रापि सङ्कल्पज्ञानमप्रयोजकमित्यर्थः। सङ्कल्पज्ञानस्य सङ्कल्पातिरिक्तागोचरसङ्कल्पजनकत्वात् सङ्कल्पगोचरमेव सङ्कल्पं जनयेत्, सङ्कल्पस्य च फलतत्साधनेतरत्वात् न सङ्कल्पविषयत्वमित्याह सङ्कल्पेति। सङ्कल्पविषयः सङ्कल्प इत्यर्थः। ननु सङ्कल्पोऽपि प्रवृत्तिद्वारा

प्रकाशः–प्रवर्त्तकम्। अतो नानिच्छन्नपि प्रवर्त्स्यतीत्यत आह स्वसम्बन्धितयेति। एवं यजेतेत्यस्य विध्यर्थत्वं न स्यात्तस्य स्वेच्छाज्ञानाजनकत्वादित्याह प्रथमेति।

किमर्थमिति। इच्छाज्ञानादेव प्रवृत्तौ किमर्थमिच्छोत्पादनमित्यर्थः। कुत इति प्रश्ने सङ्कल्पज्ञानादित्युत्तरं, किमर्थमित्यत्र तु प्रयत्नार्थमिति। इच्छाविशेषः, – कुर्यामित्याकारः। स्वभावतः–सुखज्ञानस्य स्वविषयविषयकेच्छाजनक स्वभावत्वादित्यर्थः। औपाधिकः–तत्साधनताज्ञानजन्य इत्यर्थः। सङ्कल्पस्तु न फलं न वा तत्साधनमिति नेच्छाविषयः, न च सङ्कल्पज्ञानात् फलसाधन एवेच्छा,

मकरन्दः–न वा तत्साधनमिति। यद्यपि परम्परया तत्साधनत्वं वक्ष्यति, तथापि साक्षान्न तथेत्यापातत इदम्। यद्वा कुम्भकारपितृवदन्यथासिद्धतया न साधनमिति भावः। न चेति। तथा च सङ्कल्पविषयः सङ्कल्पो न भवत्येवेति भावः।।११।।

तर्हि तत्साधनत्वज्ञानात्, न तु सङ्कल्पस्वरूपज्ञानाद्भवितुमर्हतीति। अन्यथेष्टसाधनताज्ञानमप्यनर्थकमापद्येत। तस्मात्, सङ्कल्पः प्रवर्तक इत्यभ्युपेयते, किन्तु सत्तामात्रेण न तु ज्ञात इति नासौ विधिः। ज्ञानञ्च विषयोपहारेणैव व्यवहारयतीति तद्विषय एवावशिष्यते इति कर्तृधर्म्मव्युदासः।११।

आमोदः- सुखसाधनं भवत्येवेति तत्र कथं नेच्छा स्यादित्याह **तत्साधनेति।** सुखसाधनत्वादेवेत्यर्थः। तर्हि सङ्कल्पेऽपीष्टसाधनताज्ञानाधीनैवेच्छा न तु सङ्कल्पस्वरूपज्ञानाधीनेत्याह **तर्हीति।** अन्यथा चन्दनादावपि स्वरूपज्ञानादेवेच्छा स्यान्न तु सुखसाधनताज्ञानादित्याह **अन्यथेति।** यद्वा, औपाधिक इष्टसाधनताज्ञानाधीन इत्यर्थः। **सङ्कल्पविषयस्त्विति।** बोध इति शेषः। **कथमिति।** अङ्गीक्रियत इति शेषः। सङ्कल्पोऽपि प्रवृत्तिद्वारा तत्साधनत्वसत्त्वादुपायेच्छार्थमेव सङ्कल्पे सुखसाधनत्वज्ञानमित्याह **तत्साधनत्वादेवेति।** तर्हि इष्टसाधनत्वज्ञानमेव सङ्कल्पहेतुरङ्गीकृतो न तु सङ्कल्पस्वरूपज्ञानम् इत्याह **तर्हीति। अन्यथेति।** चन्दनादिस्वरूपज्ञानादपि इच्छोत्पत्त्यापत्तिरिति भावः। **नासौ विधिरिति।** न सङ्कल्पः प्रवर्तकज्ञानविषय इत्यर्थः। ननु यत्किञ्चिज् ज्ञानं प्रवर्तकमस्तु, किं विषयविवेचनेनेत्यत आह **ज्ञानञ्चेति। अवशिष्यत** इति वक्तुमिति शेषः। **कर्तृधर्मेति।** स्पन्दप्रयत्नेच्छानां कर्तृधर्माणां प्रवर्तकत्व व्युदास इत्यर्थः।११।

प्रकाशः- ज्ञानस्य स्वसमानविषयकेच्छाजनकत्वनियमादिति भावः। **तत्साधनत्वादेवेति।** परम्परया फलसाधनत्वज्ञानादेवेत्यर्थः। **तर्हीति।** तथा चेष्टसाधनतैव विधिः स्यान्न सङ्कल्पः, तेन रूपेणाप्रवर्त्तकत्वादिति भावः। यद्वा सङ्करादिति विवृणोति **तर्हीति।** एवं लाघवादिष्टसाधनतैव विधिः। सङ्कल्पस्य तु तत्सङ्कीर्णत्वादित्यर्थः।

यदि च नैवं तदा भोजनादाविष्टसाधनताज्ञानमिच्छोत्पादकं न स्यादित्याह **अन्यथेति।** सङ्कल्पस्याप्रवर्त्तकत्वे शास्त्रविरोधं परिहरति **तस्मादिति।** तर्हि ज्ञानमेव कर्तृधर्मो विधिरस्त्वित्यत आह **ज्ञानञ्चेति। तद्विषय एव**-ज्ञानविषय एव। विधिरित्यनुषज्यते। यदि हि विषयविशेषानवच्छिन्नं ज्ञानं प्रयर्त्तयेत्, सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गः। तदवच्छिन्नस्य च तस्य तथात्वे यं विषयमुपनयत्तत् प्रवर्त्तकं स एवार्थो विधिरिति कृतिहेतुचिकीर्षाकारणज्ञानविषयो विधिरित्यर्थः।।११।।

अस्तु तर्हि कर्मधर्मः। नेत्युच्यते,

अतिप्रसङ्गान्न फलं नापूर्वं तत्त्वहानितः।
तदलाभान्न कार्यञ्च न क्रियाप्यप्रवृत्तितः।।१२।।

कर्म हि फलं वा स्यात्, तत्कारणमपूर्वं वा, तत्कारणं क्रिया वा?। न प्रथमः, फलेच्छायाः प्रवृत्तिं प्रत्यहेतुत्वात्, अतिप्रसङ्गादित्युक्तत्वात्।

आमोदः– कर्मधर्म इति। कार्यत्वमित्यर्थः। विधिरित्यनुषङ्गः। तदेव लिङादि पदजन्यज्ञानविषयोऽस्त्वित्यर्थः। तत्र प्रवृत्तियोग्यं कार्यं विकल्पयति कर्म हीति। फलं स्वर्गादि, तत्कारणं स्वर्गादिकारणं, तत्कारणमपूर्वकारणं, क्रिया यागादिरित्यर्थः। तदेतेषां मध्ये कस्य कार्यत्वं धर्मं ज्ञात्वा पुरुषः प्रवर्तत इत्यभिप्रायः। अत्र कारिका पठितुमुचिता। अतिप्रसङ्गादिति। स्वर्गः कार्य इति ज्ञानात् स्वर्ग एवेच्छा स्यात्। सा च कुत्र प्रवर्तयेदित्यर्थः। अपूर्वं कार्यमिति ज्ञानं यदि लिङा जन्येत, तदा व्युत्पत्तिग्रहदशायामेवापूर्वावगतावपूर्वत्वव्याघातः। शब्देतरप्रमाणगम्यत्वस्य *त्वया*ऽभ्युपगमात् तदलाभात्। अपूर्वस्य पूर्वमलाभात्। अनुपस्थितेः कार्यत्वेनापि प्रवृत्तिनिमित्तेन न तदुपस्थितिः। क्रियाया अपि यागादेः कार्यत्वं लिङा ज्ञात्वा न प्रवर्तते क्रियाया दुःखमयत्वादित्यर्थः। कारिकया तमेव विशदयति फलेच्छाया इति। उक्तत्वादिति। यदि कालविषयैव सा साधनविषयं

प्रकाशः– क्रियते इति व्युत्पत्त्या कर्मपदेन यदि फलं स्वर्गाद्युच्यते, तस्य च कार्य्यत्वं ज्ञात्वा प्रवर्त्तते तदा अनुपायेऽपि प्रवर्त्तेतेत्याह अतिप्रसङ्गादिति। अथापूर्वस्य कार्य्यत्वं ज्ञात्वा प्रवर्त्तते, तदा शब्दानुभवात् पूर्वं तदुपस्थितं न वा? आद्ये अपूर्वत्वव्याघातः। तस्य शब्दानुभवैकवेद्यत्वादित्यर्थः। अन्त्ये कथं शक्तिग्रह इति भावः। ननु कार्यत्वेनोपलक्षिते अपूर्वे कार्यत्वेनैव रूपेण शक्तिग्रहः, कार्य्यत्वविशिष्टञ्चोपस्थितमेवेत्याह तदलाभादिति। उपलक्ष्यस्यान्यत्र मानान्तरसिद्धत्वादत्रापि तथात्वे अपूर्वत्वहानिरन्यथा तु तदलाभ इत्यर्थः।

यद्वा कार्य्यत्वविशिष्टे कार्य्ये धर्मिणि शक्तिग्रहः, वाक्यार्थानुभवदशायाम योग्यतया घटादौ निरस्ते च तदतिरिक्तापूर्वलाभः स्यादित्यत आह तदलाभादिति। तथापि नित्यनिषेधापूर्वयोरलाभः स्यादित्यर्थः। न क्रियाऽपीति। क्रियायाः कार्य्यत्वज्ञानात् न प्रवृत्तिरनिष्टसाधनत्वादित्यर्थः।

तत्कारणमपूर्वकारणम्। फलेच्छाया इति। स्वर्गादेः कार्य्यतां जानन्नपि उपायज्ञानं विना न प्रवर्त्तते। कथं वाऽन्यज्ञानादन्यत्र साधने प्रवृत्तिः। यदि च

न द्वितीयोऽव्युत्पत्तेः। लिङो हि प्रवृत्तिनिमित्तमपूर्वत्वं वा स्यात्, कार्यत्वं वा स्यात्, उभयं वा?। न प्रथमः, शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्यापूर्वत्वस्य प्रमाणान्तरादवगताव पूर्वत्वव्याघातात्। अनवगतावव्युत्पत्तेः। संबन्धिनोऽनवगमे संबन्धस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्। तत एवावगतावितरेतराश्रयदोषात्। न च गन्धवत्त्वेनोपनीतायां पृथिव्यां पृथिवीशब्दवत् अपूर्वे प्रवर्त्तते लिङिति युक्तम्। तत्रोभयोरपि प्रतीयमानत्वेन सन्देहे कल्पनागौरवपुरस्कारेण पृथिवीत्व एव सङ्गतिविश्रान्तेरुपपत्तेः। न त्वत्रापूर्वत्वप्रतीतिः।

आमोदः- यत्नं जनयेत् अन्यत्रापि प्रमुचीते(?) त्यादिनेत्यर्थः। अव्युत्पत्तेरिति। विवरितुमाह लिङो हीति। उभयमिति। अपूर्वत्वसमानाधिकरणं कार्यमित्यर्थः। अपूर्वत्वेति। शब्देतरप्रमाणविषयत्वस्य *त्वया* ऽनभ्युपगमादित्यर्थः। स्वसम्बन्धिन इति। प्रवृत्तिनिमित्तस्येत्यर्थः सम्बन्धस्य सङ्केतस्येत्यर्थः। ननु व्युत्पत्तिरपि लिङ्पदादेव स्यादित्यत आह तत एवेति। लिङ्पदादर्थं प्रतीत्य व्युत्पन्नः स्यात्, व्युत्पत्तौ च सत्यां तदर्थप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। ननु गन्धवत्त्वोपलक्षितं पृथिवीत्वं यथा पृथिवीपदे प्रवृत्तिनिमित्तं, तथा कार्यत्वोपलक्षितमपूर्वत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तम दूरविप्रकर्षात् सामानाधिकरण्यात् उपलक्ष्योपलक्षकभावः स्यादित्याशङ्क्य निराकरोति न चेति। विशेषमाह तत्रेति। तत्रोभयोर्युगपदुपस्थितौ गन्धवत्त्वस्योपाधित्वेन गौरवमिति पृथिवीत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यवसीयत इत्यर्थः। ननु कार्यत्वेनैव रूपेण कार्यं किञ्चित् स्मारयति। लिङ्पदं प्रथमम् अनन्तरमन्विताभिधानदशायां यागं यत्नं घटादिकञ्च तिरस्कृत्य काम्याव्यवहितमपूर्वमादाय पर्यवस्यतीति

प्रकाशः- साध्यसाधनभावो नियामकः, तदा भ्रमादसाधने न प्रवर्त्तेतेत्यर्थः।

प्रमाणान्तरादिति। शब्देतरप्रमाणागोचरत्वस्यापूर्वस्य त्वयाऽभ्युपगमादित्यर्थः। अनवगताविति। मानान्तराच्छक्तिग्रहविषयानुपस्थितौ तदसम्भवादित्यर्थः। तत एवेति। लिङ्पदादेवेत्यर्थः। इतरेति। लिङः शक्तिग्रहे ततोऽपूर्वोपस्थितिस्तदुपस्थितौ च तत्र शक्तिग्रह इत्यर्थः। तत्रेति। पृथिवीत्वगन्धवत्त्वयोः प्रत्यक्षतः सिद्धौ तदन्यतरत्र प्रवृत्तिनिमित्तत्वसंशये गन्धवत्त्वस्योपाधित्वेन सखण्डत्वात् पृथिवीत्वस्य च जातित्वेनाखण्डत्वात् तत्रैव शक्तिः कल्प्यते, प्रकृते त्वपूर्वत्वाप्रतीतौ न तथेत्यर्थः।

स्यादेतत्, कार्यत्वमुपलक्षणीकृत्य तावदेषा लिङ् प्रवृत्ता। तदुपलक्षितश्च यागो वा यत्नो वाऽन्यो वा शब्देतरप्रमाणगोचरो नाधिकारिविशेषणस्वर्गसाधनसमर्थः। न चाकाम्यफले कामी नियोक्तुं शक्यते। ततोऽन्यदेवालौकिकं किञ्चिदनेनोपलक्ष्यते, यो लिङादि प्रवृत्तिगोचर इति किमनुपपन्नमिति चेत्, उपलक्षणं हि स्मरणमनुमानं वा? उभयमप्यनवगतसंबन्धेनाशक्यम्। न हि संस्कारवन्मनोवददृष्टवद्वा कार्यत्वमपूर्वत्वमुपलक्षयति, ज्ञानापेक्षणात्। ततो हस्तीव हस्तिपकं, धूम इव धूमध्वजं, तत्संबन्धज्ञानादुपलक्षयेत्, न त्वन्यथा।

आमोदः- शङ्कते स्यादेतदिति। अधिकारिविशेणं यः स्वर्गः तत्साधनसमर्थो न यागादिराहत्येत्यर्थः। ननु यागादि साक्षात् स्वर्गसाधनं मास्तु, किमेतावता इत्यत आह न चेति। अकाम्यफलेति। न काम्यं स्वर्गादिकम् अव्यवधानेन फलं यस्येत्यर्थः। नियोक्तुं प्रवर्तयितुम्। तत इति। अन्यदेव स्वर्गसाधनम् अनेन कार्यत्वेन धर्मितया उपलक्षणीयं तच्चापूर्वमेवेत्यर्थः। कार्यत्वेन धर्मि किञ्चिदुपलक्षणीयमिति यदुक्तं तत्र पृच्छति उपलक्षणमिति। कार्यत्वेन धर्मेणापूर्वस्य धर्मिणः सम्बन्धस्यावगमो नास्तीति नेदमुपलक्षणीयमित्यर्थः। ननु यथा संस्कारादीनामज्ञातमेव ज्ञापकत्वं तथा प्रकृतेऽपि स्यादत आह न हीति। ज्ञानापेक्षणादिति। स्मारकस्यानुमापकस्य वा सम्बन्धज्ञानापेक्षणादित्यर्थः। एतदेव दृष्टान्तेन दर्शयति तत इति।

प्रकाशः- कार्य्यत्वमिति। वृद्धव्यवहाराद्व्युत्पद्यमानो बालः आत्मन्यवगतं प्रवृत्तिहेतुं कार्य्यत्वं लिङमवधारयति। ततः कार्य्यशक्तं लिङ्पदं स्वर्गयोः कार्य्यत्वं त्यक्त्वा स्वर्गसाधनतायोग्यं तन्मध्यवर्त्तिकार्य्यत्वोपलक्षितमपूर्वत्वमनुभावयिष्यतीत्यर्थः।

उपलक्षणं हीति। यथा गङ्गापदं स्वार्थान्वयानुपपत्त्या स्वसम्बन्धितया प्रतीतचरं तीरं स्मारयति, यथा वा व्याप्यं व्यापकतयाऽवगतमनुमापयति, न तद्वदपूर्वमप्रतीतचरत्वेन सम्बन्धितया व्यापकतया वाऽनवगतं कार्य्यत्वं स्मारयितुमनुमापयितुं वाऽलमित्यर्थः। न च यथा संस्कारादिरज्ञात एव स्मृत्यादि जनयति, एवं कार्य्यत्वमज्ञातमेवापूर्वं ज्ञापयति, सम्बन्धित्वव्याप्यत्वाभ्यां ज्ञातस्यैव ज्ञापकत्वादित्याह न हीति। तत्सम्बन्धेति। अपूर्वेण सम्बन्धज्ञानादित्यर्थः।

मकरन्दः- एवं कार्य्यत्वमिति। स्वभावादिति भावः। तमेवाह सम्बन्धित्वेति। प्रागुक्तेति। उपलक्षितस्येत्यादिना प्रागुक्तेत्यर्थः।

तथा च न्यायसम्पादनाप्यरण्ये रुदितम्। न हि युक्तिसहस्रैरप्यविदिते सङ्गतिग्रहोऽविदितसङ्गतिर्वा शब्दः प्रवर्तते इति। एतेन भेदाग्रहात् क्रियाकार्ये व्युत्पत्तिरिति निरस्तम्। न ह्यज्ञाते भेदाग्रहो व्यवहाराङ्गम् अतिप्रसङ्गात्। किञ्चापूर्वत्वे प्रवृत्तिनिमित्ते कल्प्यमाने लौकिकी लिङनर्थिका प्रसज्येत। तत्रोपलक्षणीयाभावात्। तत्र कार्यत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति यदि, प्रकृतेऽपि

आमोदः- न्यायसम्पादनेति। यागे यत्ने वा नाधिकारिविशेषणं स्वर्गसामर्थ्यं किन्त्वपूर्वं तथेत्यादिना यो न्यायः सम्पादितः सोऽपि व्यर्थ एव सम्बन्धावगमाभावादित्यर्थः। कथमरण्ये रुदितमित्यत आह न हीति। ननु क्रियाकार्यत्वे एव व्युत्पत्तिग्रहः, परन्तु क्रियया सममपूर्वस्य भेदाग्रहात् अपूर्वमेवोपस्थापयति लिङित्यपि नेत्याह एतेनेति। यद्वाऽपूर्वं न भेदाग्रहात् क्रियाकार्यत्वे व्युत्पत्तिरित्यपूर्वमेव लिङुपस्थापयतीति निरस्तमित्यर्थः। अज्ञातभेदाग्रहस्य व्यवहाराङ्गत्वे सर्वः सर्वत्र प्रवर्तेत, न तु रक्षणार्थी मुक्तावेव भ्रमादित्याह न हीति। अनर्थिकेति। तत्र नापूर्वत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः। कार्यत्वेनापूर्वत्वमुपलक्षणीयमित्यत्र दोषमाह तत्रेति। प्रकृतेऽपीति।

प्रकाशः- एवञ्च प्रागुक्तन्यायसम्पादनमपि अफलं, सर्वथाऽपूर्वस्याप्रतीततया तत्र शक्तिग्रहाशक्यत्वादित्याह तथा चेति। स्थायिकार्य्यत्वमेव लिङः प्रवृत्तिनिमित्तं, क्रियारूपकार्य्ये तु भेदाग्रहाल्लिङः प्रवृत्तिरित्यप्यत एवापास्तं, ज्ञातेनैव सह भेदाग्रहस्य प्रवर्त्तकत्वादित्याह एतेनेति। किञ्चेति। पचेतेत्यादौ क्रियाया योग्यत्वेन त्यागाभावात्तत्क्रियाकार्यत्वमेव लिङ्पदात् प्रतीयते इत्यपूर्वत्वस्य तत्प्रवृत्तिनिमित्तत्वे तदानर्थक्यं स्यादित्यर्थः। प्रकृतेऽपीति। तच्च क्रियासाधारणमिति नापूर्वव्यक्तिलाभ इति भावः।

ननु कार्यधर्मिणि कार्यत्वेन रूपेण घटादावेव शक्तिग्रहः सम्भवति। कार्यत्वञ्च मानान्तरोपस्थितमेवातोऽन्विताभिधानदशायां स्वर्गकामायोग्यतया घटादिकं तिरस्कृत्य क्रियातोऽन्यत् स्थायिस्वर्गसाधनतायोग्यं लिङा बोध्यते। न चान्यत्र शक्तिग्रहोऽन्यच्च शब्देन बोध्यते इति न स्यादिति वाच्यम्। येन रूपेण शब्दादनुभवः, तेन शक्तिग्रहस्य हेतुत्वात्। तथा च कार्यत्वेन रूपेण घटादौ शक्तिग्रहे योग्यतादिसहकारिवशादप्रतीतं धर्म्यन्तरं लिङाऽनुभाव्यते। न च स्मृतानां

मकरन्दः- स्थायिकार्यत्वमेवेति। अपूर्वनिष्ठमिति शेषः। यद्वा अपूर्वत्वमेवानेनोपलक्षितम्, अत एव किञ्चेत्यादिना तदेव दूषयतीति भावः।

तथैवास्तु क्लृप्तत्वात् सम्भवाच्चेति। अस्तु तर्हि तदेव प्रवृत्तिनिमित्तं, तर्कसम्पादनया त्वपूर्वव्यक्तिलाभ इति चेन्न। नित्यनिषेधापूर्वयोरलाभप्रसङ्गात्। न चास्मिन् पक्षे एकत्र निर्णीतेन शास्त्रार्थेनान्यत्र तथैव व्यवहार इति सम्भवति। कार्यत्वस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन निर्णीतत्वात्, न त्वपूर्वत्वस्य। न्यायसम्पादनायाश्च तत्रासम्भवात्। फलानुगुण्येन हि

आमोदः– वैदिकलिङपि इत्यर्थः। क्लृप्तत्वात् लौकिकलिङि सम्भवात् अन्वययोग्यत्वात् उपस्थितत्वाच्चेत्यर्थः। ननु कार्यत्वेनैव प्रकारेण पूर्वमभिधत्तां लिङित्याशङ्कते अस्तु तर्हीति। तर्कसम्पादनयेति। अन्यस्य स्वर्गसाधनायोग्यत्वात् कार्यत्वेनापि रूपेण योग्येनापूर्वमेवोपस्थापनीयमित्यर्थः। पूर्वं तु कार्यत्वेनापूर्वत्वमुपलक्षणीयम्। अपूर्वत्वेनैवापूर्वोपस्थितिरिति भेदः। नित्येति। *अहरहः सन्ध्यमुपासीत, न कलञ्जं भक्षयेदि*त्यत्र स्वर्गादिकं फलं न श्रूयते, येनायोग्यतया क्रियानिरासादपूर्वलाभः स्यादित्यर्थः। ननु काम्यस्थले येन रूपेणापूर्वलाभः तेनैव नित्यनिषेधापूर्वलाभोऽपि, न हि वैदिकलिङ्त्वेनात्र कश्चिद्विशेष इत्यत आह न चेति। भवेदेवं यदि अपूर्वत्वं प्रवृत्तिनिमित्तं स्यात्, किन्तु कार्यत्वमेव। तथा च कथमपूर्वलाभ इत्यर्थः। ननूक्तमन्यस्यायोग्यत्वान्न्यायसम्पादनबलादपूर्वलाभ इत्यत आह न्यायसम्पादनायाश्चेति। न्यायसम्पादना हि काम्याव्यवहितसाधनत्वं, नित्ये च काम्यं

प्रकाशः– पदार्थानां योग्यतादिसाचिव्याच्छब्देनान्वयो बोध्यते। न चापूर्वं स्मृतिगोचर इति वाच्यम्। शक्तिग्रहपदार्थस्मरणवाक्यानुभवादीनां समानप्रकारत्वेनैव कार्यकारणभावात्, लाघवादावश्यकत्वाच्च। न च क्वचित् सहचार मात्रेणान्वयप्रतियोगिन एव स्मृतिरन्वयबोधे हेतुः, गौरवात्। प्रकृतेऽपि कार्यशक्ता लिङिति शक्तिग्रहात् कार्यमिति। ततः स्मृतिः, यागविषयकं कार्यमित्यनुभव इति क्रमेण तेषां समानप्रकारकत्वमस्त्येवेत्यभिसन्धायाह – अस्त्विति। यदि कार्यत्वेन क्रियासाधारण्येन लिङः शक्तिग्रहः, स्वर्गकामायोग्यतया च क्रियानिरासः, तदा '*अहरहः सन्ध्यामुपासीत, न कलञ्जं भक्षयेदि*'त्यत्र नित्यनिषेधापूर्वयोरलाभः, न हि तत्रायोग्यतया क्रिया त्यक्तुं शक्यते, फलाश्रवणेन न्यायासम्पादनानवकाशादित्याह नित्येति। अस्मिन् पक्षे–कार्यत्वप्रवृत्तिनमित्ततापक्षे। न्यायेति। न ह्यपूर्वत्वेन शक्तिरपि तु कार्यत्वेन कार्ये धर्मिणि, क्रिया च तथा भवत्येवेति न तद्भिन्नं लिङा बोध्येतेत्यर्थः।

प्रकाशः– ननु न लोके कार्ये धर्मिणि शक्तिः कल्पिता, किन्त्वनन्यलभ्ये कृतिरूपे कार्यत्वमात्रे, धर्मिणः पाकादेर्धातोरेवोपस्थितिसम्भवात्। क्रियाकार्यत्वस्य चान्विताभिधानलभ्यत्वात्। तथा च धर्मिणि शक्तिर्वेद एव कल्प्या, सा च क्रियानिरासेनैव। क्रियाया अन्वययोग्यत्वे धर्मिणि शक्तिग्रहस्याशक्यत्वात्। तस्मादयोग्यतया क्रियायां निरस्तायां धर्मिणि शक्तिग्रहकाले वस्तुतो यत्क्रियाभिन्नं कार्यं, तत्र शक्तिः। तथा च नित्यनिषेधयोरपि तदेवोपासनाद्यन्वययोग्यं लिङाऽभिधीयते, क्लृप्तत्वात्, न तु क्रियान्वययोग्यकार्यत्वमात्रं, लक्षणाप्रसङ्गात्, धर्मिणि बाधकाभावाच्च। अत एव क्रियाकार्यत्वे लौकिकी लिङ् लाक्षणिकी, उक्तरीत्या क्रियानिरासेनैव वेदे धर्मिणि शक्तिकल्पनात्। लौकिकानां तत्र तात्पर्यासम्भवात्, क्रियासाधारणशक्तावपि लोके लिङ् लाक्षणिकी। पचेतेत्यादौ पाककार्यताज्ञानेऽपि लाघवात् कार्यत्वे लिङ्स्तात्पर्यम्, न तु धर्मिण्यपि धातुलभ्यत्वात्। तथा च तृतीयायाः करणैकत्ववत् कार्यं कार्यत्वञ्च न स्वतन्त्रं शक्यं, किन्तु विशिष्टम्। विशिष्टाच्च विशेषणमन्यदेवेति कार्यत्वे लक्षणा। न चानुपपत्त्या कार्यत्वविशिष्टोपस्थितावपि धर्म्यंशमपहाय क्रियायाः कार्यत्वान्वयोपपत्तौ किमुपस्थित्यन्तरार्थं लक्षणयेति वाच्यम्। यत इतरधर्मिगतत्वेनोपस्थितस्य कर्यत्वस्य न धर्म्यन्तराकाङ्क्षाऽस्ति, येन तदितरधर्म्यन्वयो ज्ञायेत। तथा च स्वतन्त्र कार्यत्वोपस्थितये लक्षणा युक्ता।

मैवम्। कार्यत्वमात्रशक्तस्य लिङ्पदस्यापूर्वलक्षणयैवोपपत्तौ तत्र शक्तौ मानाभावात्। न चापूर्वं शक्यकार्यत्वसम्बन्धितया न ज्ञातमिति न तत्र लक्षणेति युक्तम्। यथा हि शक्तिपक्षे कार्यत्वेन रूपेण घटादावेव लिङः शक्तिग्रहः कार्यमिति, ततः स्मृतिश्चानुभवदशायां च योग्यतावशात् घटादिकं विहायापूर्वं भासते, तथा लक्षणायामपि लिङ्वाच्यं कार्यत्वं कार्यघटादिसम्बन्धितया ज्ञातं कार्यं घटादि स्मारयतु, योग्यतावशाच्चापूर्वमनुभवे भासताम्। कार्यस्मरणं हि अन्विताभिधानोपयोगि न त्वपूर्वस्मरणम्, तच्च पदेन पदार्थेन वेति न कश्चिद्विशेषः।

मकरन्दः–कार्य्यत्वमात्रमित्युपलक्षणं, न क्रियासाधारणं कार्य्यमात्रमभेदश्चान्वयः, न हि यत्प्रयुक्तानुपपत्त्या यत्कल्पनं तदेव तस्य विषय इत्यभ्युपगमादित्यपि द्रष्टव्यम्।

कार्य्यमात्रशक्तस्येति। न च स्वार्थादन्येन रूपेण ज्ञाते भवति लक्षणेति नियम इति वाच्यम्। अप्रयोजकत्वात्। अत एव नीलादिपदस्य तद्वति लक्षणाऽभ्युपगम इति भावः। अधिकं *शब्दप्रकाशे* द्रष्टव्यम्।

प्रकाशः–न च लिङो लाक्षणिकत्वेनापूर्वाननुभवप्रसङ्गः। लाक्षणिकपदस्याननुभावकत्वादिति युक्तम्। त्वन्नये इतरान्वितस्वार्थशक्तस्य यजिपदस्यैवेतरदपूर्वमादायानुभावकत्वात्। अन्यथा तीरादेरप्यननुभवापत्तिः।

अथेतरोपलक्षितस्वार्थान्वयमात्रे पदानां शक्तिर्न तु इतरत्रापि, गौरवात्, पदान्तरलभ्यत्वाच्च। न च तीरादिप्रतिबन्धिः। तत्र हि तीरोपलक्षितान्वयशालिस्वार्थान्वयानुभावकत्वं वसतीत्यादिपदस्य, तीरस्य तु संस्कारादुपस्थितिः। प्रकृते चापूर्वस्य संस्काराविषयत्वादिति चेत्, न। मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीत्यवगम्यते। न च मञ्चस्थः पुरुषः प्रागनुभूतो येन तीरमिव संस्कारादुपतिष्ठेत। न चापूर्वः पुरुषविशेषो न भासते इति वाच्यम्। गृहप्रवेशानन्तरं अयं यथा पूर्वमज्ञात एव मञ्चाः क्रोशन्तीति शब्दात् क्रोशनकर्तृतयाऽवगत इत्यनुभवात्। तस्मादनन्यगतिकतयेतरान्वितस्वार्थबोधकत्वमभ्युपेयम्।

अथैवं सति यजिपदेन स्वर्गकामकार्यविषयो याग इत्यनुभवो जन्येत। लक्षणायामितरपदस्य लक्षणीयविशेषणस्वार्थविशेष्यकानुभवजनकत्वात्। न चैतादृशो बोध आकांक्षित इति चेत्, न। स्वर्गकामकार्यविषयो याग इत्यनुभवेऽपि स्वर्गकामकार्य्ययोरन्वयप्रकारत्वेनापूर्वलाभात्। तादृशशब्दानुभवानन्तरमर्थाद्यागविषयकं कार्यमित्यौपादानिकबोधात् प्रवृत्त्युपपत्तेश्च। अस्तु वा लाक्षणिकमपि पदमनुभावकम्, तच्च *द्वितीयाध्यायप्रकाशे* प्रपञ्चितमस्माभिरिति नेह प्रतन्यते।

किञ्च न कार्ये घटादौ लिङः शक्तिग्रहः, स्वर्गकामायोग्यतया शक्तिग्रहकाले क्रियानिरासवत् यागान्वयानुपपत्त्या घटादिनिरासस्यपि सम्भवात्। तत्र यागविषयकत्वस्य बाधात्। अन्यथाऽन्विताभिधानकालेऽपि तन्निरासानुपपत्तेः। न च शक्तिग्रहकाले यागान्वयानुपपत्तेरप्रतिसन्धानम्, किन्तु स्वर्गकामान्वयानुपपत्तिमात्रं प्रतिसन्धीयते इति युक्तम्। प्रत्ययस्यान्तरङ्गप्रकृत्यर्थान्वयं बोधयत एवेतरान्वय बोधत्वमिति तदन्वयानुपपत्तिप्रतिसन्धानस्यैव प्राथमिकत्वात्। पुरुषदोषाद प्रतिसन्धानेऽपि शक्तिग्रहस्य भ्रमत्वापत्तेः, घटादेरशक्यत्वात्। घटादीनामानन्त्येऽपि पृथिवीत्वादिनान्विताभिधानकालवन्निरासोपपत्तेः। एवञ्च प्रचरत्कार्यनिरासे क्व कार्यधर्मिणि शक्तिग्रहः?।

एतेन–लिङ्पदमेकत्रोच्चारणे स्थायिकार्यस्वर्गजनकत्वादीनां ज्ञाने शक्तमिति व्युत्पत्तिः। स्थायिज्ञानादिकञ्चोपस्थितमेव। अतो लिङ्पदेनैकत्रोच्चारणे योग्यतादिवशाद् यागविषयकं स्थायिस्वर्गजनकं कार्यमित्येकं ज्ञानमनुभवरूपं

व्यक्तिविशेषो लभ्यते। न च तत् तत्र श्रूयते। न चाश्रुतमपि कल्पयितुं शक्यते, बीजाभावात्।

तद्धि विध्यन्यथाऽनुपपत्त्या कल्प्येत, कार्य्यत्वप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या वा, लोकवत्। न प्रथमः। भवतां दर्शने तस्योपेयरूपत्वात्। यतः

आमोदः- नास्त्येवेत्यर्थः। न्यायसम्पादनामेवाह फलेति। तदिति। फलमित्यर्थः। तत्रेति। नित्यनिषेधस्थल इत्यर्थः। ननु विश्वजिन्न्यात् तत्रापि फलं कल्पयित्वा न्यायसम्पादना स्यादत आह न चेति। बीजेति। फलकल्पने बीजमेव नित्ये

प्रकाशः- प्रचरद्वस्तुविलक्षणविषयं क्रियते। न चैवं ननार्थवदेकैकज्ञाने शक्तिग्रहादेकैक विषयोऽनुभवो भवेत्, न समुदितविषय इति वाच्यम्। शक्तिग्रहकाले एकत्रोच्चारणे इति विशेषणमहिम्ना तत्सम्भवात्। नानार्थे तु प्रमाणाभावेन गौरवेण शक्तिग्रहे तस्याप्रवेशात्। तथाप्यमीषां समूहालम्बनपत्तिर्न तु मिथो वैशिष्ट्यज्ञानमिति न वाच्यम्। साकाङ्क्षधर्मधर्मिणोरेकं ज्ञानमेव हि विशिष्टज्ञानम्। इत्थमेवालौकिककार्येषु स्वर्गादिपदेषु शक्तिग्रह इत्यपास्तम्।

स्थायिनां घटादीनां निरासाद् धर्ममात्रे च शक्तिग्रहस्य प्रकृतेऽनुपयोगात्। किञ्च तेषु समुदितेषु न शक्तिग्रहः, प्रथमं समुदायस्यैकज्ञानाविषयत्वात्। विषयत्वे वा पूर्वमेव विशिष्टस्य सत्त्वे अपूर्वत्वव्याघातः। एकज्ञानविषयक साकङ्क्षधर्मधर्मिणोरेव विशिष्टत्वात्। नापि प्रत्येकम्, तथाहि – लिङ्पदात् स्मरणत्रयं यजिपदाच्च यागस्मरणम्। न च चतुर्णां तेषां यौगपद्यमस्ति। न च प्रत्येकं शक्तिग्रहेऽपि समुदितविषयमेकं स्मरणं लिङ्पदादिति वाच्यम्। समुदायस्य पूर्वमननुभवात्। किञ्च एकमेव स्मरणं यदि साकाङ्क्षधर्मधर्मिविषयकं, तर्ह्यपूर्वत्वक्षतिः। तवैकज्ञानारूढयोः साकाङ्क्षधर्मधर्मिणोरेव विशिष्टत्वादित्य *स्मत्पितृचरणाः*।

ननु विश्वजिन्न्यायेन नित्येऽपि फलं कल्पयिष्यते इत्यत आह न चेति। *त्वन्नये* इति शेषः।

तथा च तवापसिद्धान्त इति भावः। बीजाभावं स्पष्टयति तद्धीति। तत्- फलम्। विधित्वं-कार्यत्वम्। तत् फलजनकत्वं विनाऽनुपपन्नं फलं कल्पयतीत्यर्थः। लोकवदिति। यथा लोके कार्यत्वं पाकादेरिष्टसाधनत्वेन लिङ्गेनानुमीयते इति

मकरन्दः- त्वन्नये इति। त्वया निष्फलत्वेनाभ्युपगमादिति भावः। न त्विति। न त्वपूर्वं स्वर्गसाधनमिति तत्र गौणप्रयोजनत्वधीरित्यर्थः।

श्रुतस्वर्गफलत्वेऽपि साध्यविवृद्धिरुच्यते। न द्वितीयः। शब्दबलेन तत्प्रत्यये तदनपेक्षणात्। लोके हि तत्प्रत्यय इष्टाभ्युपायताधीनो न तु वेदे इत्यभ्युपगमात्। अन्यथेष्टाभ्युपायतैव प्रथमं वेदादवगन्तव्या।

आमोदः– नास्तीत्यर्थः। बीजाभावमेव स्फुटयति तदितरेति। विधिरेव फलं विनानुपपन्न इति तावन्नास्ति *सन्ध्यामुपासीतेति* विधे*स्त्वया* फलं विनापि स्वीकारात्। तस्यैवोपेयरूपत्वात्, स्वतः सुन्दरत्वात्, अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वादिति यावत्। यत इति। यत्रापि स्वर्गः फलं श्रूयते तत्रापि साध्यस्यापूर्वस्य बुद्धिः स्वर्गादिफलपर्यन्तस्थायिता, न तु स्वर्गादिरेव स्वातन्त्र्येण तत्र फलम्। अपूर्वस्य स्वतः सुन्दरत्वभङ्गप्रसङ्गात्। विश्वजितस्तु काम्याधिकाराम्नाततत्वेन फलकल्पनौचित्यात् ईक्षितवद्दर्शनादित्यर्थः। इष्टसाधनताज्ञानमन्तरेण कार्यत्वप्रत्यय एव नोत्पद्यत इति इष्टसाधनताज्ञानार्थमिष्टं किञ्चिन्नित्यनिषेधमूलेऽपि कल्पनीयमिति कल्पनाबीजमेतदेव। यथा लोके कार्यत्वमिष्टसाधनतालिङ्गकमिति। यद् द्वितीयं

प्रकाशः–कार्यत्वमिष्टं फलं प्रतीत्यैव प्रतीयते, तथा वेदेऽपीत्यर्थः। उपेयरूपत्वादिति। *त्वन्नये* अपूर्वस्यैव स्वतःकाम्यतयाऽनन्योद्देशकृतिव्याप्यत्वादित्यर्थः। तथा च फलजनकत्वं विनापि फलस्येवापूर्वस्य कार्यत्वमुपलभ्यमानं न फलकल्पकमिति भावः। यत इति। यत्रापि स्वर्गः फलं श्रूयते, तत्राप्यपूर्वस्येव स्वतःप्रयोजनता स्वर्गपर्यन्तं व्याप्नोति। न त्वपूर्वं स्वर्गसाधनमिति धीः, प्रधानस्य गुणत्वानुपपत्तेरिति तव दर्शनादित्यर्थः।

एतच्च विरोधोद्भावनमात्रम्, वस्तुतोऽपूर्वं न स्वतः प्रयोजनं, लोके तथानवगमात्। वेदेऽपि काम्यस्थले काम्यसाधनस्यैवापूर्वस्य गौणप्रयोजनस्य लिङाभिधानम्। काम्यसाधनताज्ञानं विना कामिकार्यत्वस्य बोधयितुमशक्यत्वात्। न तु स्वतःप्रयोजनत्वेन, तत्रासामर्थ्यादनुपयोगाच्च। प्रवृत्तेर्भोजनादाविव लोकक्लृप्तकाम्यसाधनताज्ञानात् कार्यताज्ञानाद्वा गौणप्रयोजत्वेनैवोपपत्तेः। अथ नित्ये लोकवेदावगतगौणमुख्यप्रयोजनाभावे सति लिङेवापूर्वस्य स्वतःप्रयोजनत्वं बोधयति। तेन विना प्रवृत्तिपरत्वानिर्वाहादिति चेत्, न। निरुपधीच्छविषयत्वं हि स्वतःप्रयोजनत्वमपूर्वस्य लिङा बोधनीयं, न चापूर्वस्य तादृशेच्छाविषयत्वं क्वचिदपि सिद्धमिति भावः।

मकरन्दः–प्रधानस्येति। तथा चापूर्वं स्वतःप्रयोजनमेव न तु गौणप्रयोजनमिति भावः। अत्र मते अस्वरसमुद्भावयति एतच्चेति। परं प्रत्यपसिद्धान्तोद्भावनमात्रमित्यर्थः।

प्रमाणान्तराभावात्। ततः कार्यतेत्यानुमानिको विधिः स्यात्, न शाब्दः। आनुमानिकं फलमस्तु, यत्कर्तव्यं तदिष्टाभ्युपाय इति व्याप्तेरित्यपि न युक्तम्, सुखेन व्यभिचारात्। अन्यत्वे सतीति चेन्न, दुःखाभावेन व्यभिचारात्। फलं विहायेति चेत्, तदेव किमुक्तं स्यात्। इष्टं स्वभावत इति चेत्, तर्हि ततोऽन्यदनिष्टं स्यात्, तच्च कर्तव्यमिति व्याघातः। तत्साधनमिति चेत्, तत्साधनत्वे सतीति साध्याविशिष्टं विशेषणम्। स्वभावतो

आमोदः-तद् दूषयति न द्वितीय इति। शब्दबलेनेति। वेदे लिङैव चेत् कार्यत्वं *त्वन्मते* बोध्यते, तदेष्टाभ्युपायतारूपप्रतिपत्त्यर्थं कथमिष्टं किञ्चित् कल्प्यतामित्यर्थः। तत्प्रत्ययः कार्यत्वप्रत्यय इत्यर्थः। तदनपेक्षणात् इष्टकल्पनापेक्षणादित्यर्थः। तत्प्रत्ययः कार्यत्वप्रत्यय इत्यर्थः। लोके भोजनादाविष्टाभ्युपायतान्वय-व्यतिरेकगम्या, तेन तया लिङ्गेन कार्यत्वं भोजनादावनुमाय प्रवर्तत इति *तवाभ्युपगमादित्यर्थः*। अन्यथेति। वैदिकयागादावन्वयव्यतिरेकग्रहाधीना नेष्टाभ्युपायताधीरित्यगत्या सा लिङर्थ एव *त्वया* वाच्या। तथा च कार्यताऽनुमात-व्येति *त्वन्मते* विधिः शब्दो न स्यादित्यर्थः। ननु नित्यस्थलेऽपि कर्तव्यताधीस्तावत् शाब्दी, यच्च कर्तव्यं तदिष्टाभ्युपायता इति व्याप्तिबलादेवेष्टोपस्थितिरिति शङ्कां निरस्यति आनुमानिक इति। सुखेनेति। कर्तव्यत्वं हि कृत्यधीनोत्पत्तिकत्वं, तच्च सुखेऽप्यस्ति, नत्विष्टसाधनत्वमिति व्यभिचारः इत्यर्थः। दुःखाभावेनेति। दुःखध्वंसेनेत्यर्थः। क्षेमसाधारणकृतिसाध्यत्वमादाय दुःखप्रागभावेन वेत्यर्थः। फलमिति। तच्च सुखदुःखाभावसाधारणमिति भावः। तदेवेति। फलं निष्पाद्यञ्चेत् तदा पूर्वसाधारणमेव तत्रेष्टाभ्युपायता न सिद्ध्येदिति न नित्यापूर्वलाभ इत्यर्थः। इष्टमिति। निरुपाधीच्छाविषय इत्यर्थः। तर्हीति। तथा चापूर्वस्याप्यनिष्टत्वमायातं, तथा न कर्तव्यत्वान्वय इत्यर्थः। *त्वयाऽ*पूर्वस्यापि स्वभावत एवेष्टत्वाभ्युपगमाच्चेति भावः। अनित्यञ्च कर्तव्यञ्चेत्युक्तिव्याघात एवात्रेत्याह तच्चेति। नन्विष्टसाधनत्वे

प्रकाशः- शब्दबलेनेति। कार्यताधीर्लैङ्गिकी। तत्र सा लिङ्गमिष्टसाधनत्वमपक्षते। वेदे तु कार्यशक्ता लिङेव तां जनयतीति न तत्र सा तदपेक्षेतेत्यर्थः। यदि चापूर्वं न स्वतःकार्यमिति तत्रापि सा तदपेक्षेत, तदेष्टसाधनत्वज्ञापकस्यान्यस्याभावाद्वेद एव तद्बोधयेत्। तथा च लोकवल्लिङ्गादेव कार्य्यताधीसम्भवान्न लिङस्तत्र शक्तिः कल्प्येतेत्याह अन्यथेति। साध्याविशिष्टमिति। इष्टसाधनत्वस्यैव साध्यत्वादित्यर्थः। स्वभावत इति। सोपाधीच्छाविषयत्वे सति कर्त्तव्यत्वेनापूर्वं

मकरन्दः- यदि चेति। स्वतः काम्यत्वे इष्टसाधनत्वाभावान्न तदपेक्षेति भावः।

नेदमिष्टं कर्तव्यञ्च, ततो नूनमिष्टसाधनमिति साधनार्थ इति चेन्न। स्वभावतो नेदमिष्टमित्यसिद्धेः। अनन्योद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्तत्वात्। अन्यथा तदसिद्धेः। ततो व्याघातादन्यतरापाय इति।

अस्तु नित्यनिषेधापूर्वयोरलाभः, किं नश्छिन्नमिति चेत्, किं नश्छिन्नं, यदा कामाधिकारेऽपि तदलाभः। न हि लिङा कार्यं स्वर्गसाधनमुक्तम्।

आमोदः–सति यत् कर्तव्यं तदिष्टसाधनमिति व्याप्तिरित्याह तत्साधनत्वे सतीति। अत्र साध्याविशेषमाह तर्हीति। नन्विष्टसाधनत्वेन न विशेष्यं येन साध्याविशेषः स्यात्, अपि तु सोपाधीच्छाविषयत्वे सति यत् कर्तव्यं तदिष्टसाधनमित्याह स्वभावत इति। नित्यापूर्वस्यापि स्वभावत*स्त्वया* इष्टत्वाभ्युपगमात् स्वरूपासिद्धिरत्रेत्याह स्वभावत इति। तदेव स्फुटयति अन्यस्येति। अन्यथेति। नित्यापूर्वमपि यद्यन्योद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्यं तदा सन्ध्योपासनादेर्नित्यत्वं भज्येत फलाभावादपूर्वमपि तत्र निषिद्ध्येदित्यर्थः। तत इति। स्वभावत एव यदीष्टत्वं तदा न काम्यसाधनत्वं तच्चेन्न तदा स्वभावत इष्टत्वं, *त्वया* च स्वभावत एव तस्येष्टत्वाभ्युपगमात् काम्यसाधनत्वाभावान्न तत्सिद्धिरित्यर्थः। नित्यनिषेधस्थले न्यायसम्पादनाविरहादपूर्वं मा सिद्ध्यंतु काम्यस्थले तु कार्यत्वेन रूपेणापूर्ववाच्यत्वं सेत्स्यत्येवेत्याह अस्त्विति। तदा लाभ इति। अपूर्वलाभ इत्यर्थः। एतदेव स्फुटयति न हीति। यदि लिङा स्वर्गसाधनगतं कार्यत्वमभिधीयेत तदा क्रियाया घटादेश्चायोग्यतया निरासादपूर्वकार्यता प्रतीयेत। तच्च नास्ति लोके वेदे नित्यस्थानां स्वर्गसाधनत्वानभिधानादित्यर्थः। ननु स्वर्गाकामादिसमभिव्याहारबलात्

प्रकाशः– फलसाधनमित्यनुमेयमित्यर्थः। असिद्धेरिति। *त्वन्मते*ऽपूर्वस्यैव स्वतःकाम्यतया विशेषणासिद्धौ हेतुरित्यर्थः। असिद्धिं स्पष्टयति अन्यथेति। उद्देश्यफलान्तरसद्भावे नित्यनिषेधापूर्वत्वासिद्धेरित्यर्थः। तत इति। अपूर्वस्य स्वभावत इष्टत्वे न काम्यसाधनत्वं, तथात्वे वाऽनन्योद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वरूपं स्वभावत इष्टत्वं नेत्येकतरसत्त्वमन्यतरसत्त्वविरुद्धमित्यर्थः।

तदलाभोऽपूर्वालाभः। किं निरपेक्षा लिङेव स्वर्गसाधनतामाह येन तत्साधनं स्थिरमपूर्वं शब्दबोध्यं, स्वर्गकामपदसमभिव्याहृता वा? आद्ये न हीति। तथा सति लौकिकी लिङनर्थिका स्यात्। *वेदे*ऽप्यनन्योद्देश्यकृतिव्याप्यत्वरूपस्य कार्य्यत्वस्य स्वर्गसाधनत्वविरोध इति भावः।

नापि स्वर्गकामपदसमभिव्याहारान्यथानुपपत्त्या तल्लब्धं, ब्राह्मणत्वादिवदधिकार्यवच्छेदमात्रेणैवोपपत्तेः। न चेदमनुमानं, यस्य यदिच्छातो यत्कर्तव्यं, तत्तस्येष्टसाधनमिति। अन्येच्छया स्वाभाविक कर्तव्यत्वा सिद्धेः, तदिच्छयैव तत्कर्तव्यतायाः सुखेनानैकान्तिकत्वात्। औपाधिककर्तव्यतायाश्चेष्टसाधनत्वमप्रतीत्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्।

आमोदः– काम्याधिकारेऽवश्यं स्वर्गसाधनमेव कार्यं लिङर्थ इत्यत आह **नापीति**। यथा ब्राह्मणो यजेत, राजा राजसूयेन यजेत इत्यादावधिकारिविशेषणत्वेन ब्राह्मणत्वादीनामन्वयः। तथा च स्वर्गकामनाया अप्यधिकारि विशेषणत्वेनैवान्वयसम्भावनायामपूर्वस्य कार्यस्य स्वर्गसाधनत्वालाभादित्यर्थः। काम्याधिकारेऽपूर्वलाभप्रकारमाह **यस्येति**। यस्य कामिनो यत्स्वर्गादीच्छतो यत्कर्तव्यतया ज्ञानं भवति तत् तस्येष्टसाधनं भवत्येवेति व्याप्तिबलात् कालान्तरभावि यदि प्रमाणं तत् प्रति साधनत्वेन यज्ज्ञायते नूनं तत् स्थिरं सेत्स्यति तदेवापूर्वमित्यर्थः। न हि काम्यासाधिने कामिनः कर्तव्यताधीरिति भावः। स्वर्गमिच्छतो यद्यपूर्वे कर्तव्यताधीस्तदा तस्य निरुपाधीच्छाविषयत्वं भज्येत। *त्वया* च नित्यापूर्वानुरोधेन तथाभ्युपगमात् इत्याह **अन्येच्छयेति**। ननु यदिष्यमाणं सत् कर्तव्यं भवति तदिष्टसाधनमेवेति व्याप्त्याऽपूर्वलाभो न तु निरुपाधीच्छाभङ्ग इत्यत आह **तदिच्छयैवेति**। सुखमिच्छतः सुखं कार्यं भवति न तु तदिष्टसाधनमिति व्यभिचार इत्यर्थः। ननु चापूर्वस्य लिङा औपाधिक्येव कर्तव्यता बोध्यतां मा भूत्तस्य स्वतः सुन्दरत्वमित्यत आह **औपाधिकेति**। अन्येच्छाधीना कर्तव्यता तावदौपाधिकी कर्तव्यता सा चान्यदिष्टं प्रतीयमानं प्रति साधनत्वेन ज्ञात एव सम्भवति। तज्ज्ञापकत्वञ्च स्वर्गकामपदस्याधिकारिविशेषणत्वेनैव

प्रकाशः– द्वितीयमाशङ्क्यान्यथासिद्ध्या निराकरोति **नापीति**। यथा यस्य ब्राह्मण्यमस्ति तस्य कार्य्यमिति धीः। तथा यस्य स्वर्गकामनास्ति तत्सम्बन्धि कार्य्यमिति शाब्दी धीः। न तु स्वर्गोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यं कार्य्यमिति। तथा च न स्थायिनोऽपूर्वस्य लाभ इत्यर्थः।

अनुमानादपूर्वलाभोऽस्त्विति मतमाशङ्क्य निराकारोति **न चेदमिति**। **यस्येति**। काम्यासाधने कामिनः कर्त्तव्यताज्ञानाभावाद् व्याप्तेरित्यर्थः। किमन्येच्छया कर्त्तव्यत्वं, स्वभावतो वा? आद्ये, **अन्येच्छयेति**। अन्येच्छया कर्त्तव्यत्वेऽनन्योद्देश प्रवृत्तकृतिसाध्यत्वं भज्येतेत्यर्थः। अन्त्ये **तदिति**। आद्ये दूषणान्तरमाह **औपाधिकेति**।

किमनया विशेषचिन्तया? प्रतीयते तावच्छब्दादन्यदिच्छतोऽन्यत्कार्यमित्येतावतैवानुमानमिति चेत्, नन्वन्वितमभिधानीयं, योग्यञ्चान्वीयते। अन्यदिच्छतश्चान्यत् कर्तव्यमन्वयायोग्यं, तत्कथमभिधीयताम्? तत एव तत्साधनत्वसिद्धिरिति चेत्, एवं तर्हीष्टसाधनतैकार्थसमवायिकर्तव्यत्वाभिधानादनुमानानवकाशः। न चान्विताभिधानेऽपि तत्साधनत्वसिद्धिः। अधिकार्यवच्छेदमात्रेणाप्यन्वययोग्यतोपपत्तेः।

न च कार्यत्वमपूर्वे सम्भवति। तद्धि कृतिव्याप्यता चेत्, व्रीह्यादिष्वेव,

आमोदः– ब्राह्मणवच्चरितार्थत्वात् इत्यर्थः। अन्येच्छया तदिच्छया चेति विशेषचिन्ता तावदास्तां स्वर्गकामो यजेतेति विधिः स्वर्गमिच्छतोऽपूर्वकार्यमित्ययं बोधस्तावद् भवत्येव। एतावता कामाधिकारे कथं नापूर्वलाभ इत्याह किमनयेति। अन्यदिच्छतोऽन्यत् कर्तव्यतामित्ययोग्यतया वाक्यं नाभिधत्त इति। न हि घटमिच्छतः पटः कर्तव्यो भवति इत्याह नन्विति। ननु शब्दादेवेष्टसाधनत्वं कर्तव्यत्वं च द्वयमुपस्थितं स्यात्तथा चान्यदिच्छतोऽन्यत् कर्तव्यमित्यन्वययोग्यं भवत्येव यथौदनमिच्छतः पाकः तत्साधनत्वेन ज्ञायत एवेत्याह तत एवेति शब्दादेवेत्यर्थः। एवमिष्टसाधनत्वमपि शब्दादेव चेदुपस्थितं तदा त्वदुक्तमनुमानमनवकाशमेवेत्याहएवमिति। ननु स्वर्गकामपदसमभिव्याहारलभ्यं तत्, न तु लिङ्लभ्यमित्यतस्तत्रानुमानमेव पर्यवस्यति साधनत्ववाचकपदाभावादित्यत आह न चेति। अत्रोक्तं स्मारयति अधिकार्येति। कार्यत्वेन न्यायसम्पादनयाऽपूर्वमेव लिङ्वाच्यमत्र दूषणान्तरमाह न चेति। कृतिव्याप्यता कृतिविषयत्वं कृतेः सिद्धविषयत्व

प्रकाशः–अत्र स्वाभाविकत्वोपाधिकत्वरूपविशेषाविवक्षायां कर्त्तव्यत्वमात्रं विवक्ष्यते, तच्च शब्देनान्येच्छोरेव बोध्यते इति पूर्वमनुमानमदुष्टमेवेत्याह किमनयेति। इष्टसाधनताभिधानं विनान्यदिच्छतोऽन्यत् कर्त्तव्यमयोग्यतया नान्वेतुमर्हतीत्याह नन्विति। काम्यभिन्नस्य कामिकार्य्यस्य काम्यसाधनस्यैवान्वययोग्यत्वादित्यर्थः। तत एवेति। शब्दादेवेष्टसाधनत्वसिद्धिरित्यर्थः।

अस्तु वा अन्यदिच्छतोऽन्यत् कर्त्तव्यमन्वययोग्यं, तथापि नेष्टसाधनत्वमनुमातुं शक्यते, ब्राह्मणत्वस्येव स्वर्गकामत्वस्याधिकारितावच्छेदकत्वेनाप्यन्वययोग्यतोपपत्तेरित्याह न चान्वितेति। वस्तुतः तवापूर्वस्यैव स्वतःकाम्यसाधनत्वं विरुद्धमिति भावः। कार्य्यत्वमपूर्वस्य विकल्प्य निराकरोति न चेति। तद्धीति।

सिद्धत्वात्। कृतिफलत्वं चेत्, यागस्यैव। ततस्तस्यैवाहत्योत्पत्तेः। कृत्युद्देश्यता चेत्, स्वर्गस्यैव, निसर्गसुन्दरत्वात्। न त्वपूर्वस्य, तद्विपरीतत्वात्। स्तन्यपानादिवदौपाधिकीति चेत्, साऽपि यागस्यैव। स्वर्गस्य साध्यत्वस्थितौ यागस्यैव साधनत्वेनान्वयात्।

कालव्यवधानान्नैतन्निर्वहतीति चेत्, यथा निर्वहति, श्रुतानुरोधेन तथा कल्प्यताम्। व्यापारद्वारा कथञ्चित् स्यात्, न तु भिन्नकाल

आमोदः- नियमादित्यर्थः। कृतिफलत्वमिति। कृतिसाक्षान्निष्पाद्यत्वमित्यर्थः। कथमेवमत आह तत इति। कृत्युद्देश्यत्वमिति। अनन्योद्देशकृतिव्याप्यत्वमित्यर्थः। तद्विपरीतत्वादिति। अन्योद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वादित्यर्थः। एतच्च निसर्गसुन्दरत्वविरहादध्यवसेयम्। ननु कृत्युद्देशेन स्तनपाने कार्यत्वं, तथा स्वर्गोद्देशेनापूर्वेऽपि कार्यत्वमौपाधिकमित्याह स्तन्येति। कृत्युद्देश्यतेत्यनुषङ्गः। सापीति। स्वर्गौपाधिकी कृत्युद्देश्यतेत्यर्थः। सा तु यागस्यैव न पुनरप्रतीयमानस्यापूर्वस्य इत्यर्थः। ननु चिरभाविनं स्वर्गं प्रति आशुविनाशिनो यागस्य साधनत्वमनुपपन्नमतः फलौपाधिकी कृत्युद्देश्यताऽपूर्वस्य भवितुमर्हति, न तु योग्यस्य यागस्य इति शङ्कते कालेति। स्वर्गसाधनतातीवानुपस्थितस्यैव प्रकृत्यर्थस्य यागस्य लिङा बोध्यते, सा च व्यापारमन्तरेणापर्यवस्यन्ती व्यापारकल्पनया पर्यवस्यतीत्याह यथेति। अव्यवहितपूर्ववर्तित्वं साधनत्वं, तच्च स्वर्गं प्रति यागस्यानुपपन्नं, कारणत्वे ज्ञाते च व्यापारकल्पना, तच्चायोग्यतया लिङा बोधयितुमशक्यमिति न व्यापारकल्पनेत्याशङ्कते व्यापारेति। ननूत्पादेतर

प्रकाशः- कृतिजन्यव्यापाराश्रयत्वमित्यर्थः। न ह्यसिद्धस्य व्यापारभागित्वमिति भावः। कृतिफलत्वं कृत्यनन्तरभावित्वमिति भावः। कृत्युद्देश्यत्वमनन्योद्देशकृति व्याप्यत्वमित्यर्थः। तद्विपरीतत्वादिति। सुखदुःखाभावयोरेव स्वतः काम्यत्वादित्यर्थः। न च लिङैव तद्बोध्यते, वस्तुसत एव बोध्यत्वात्। न चापूर्व्वस्य निरुपाधीच्छाविषयत्वमस्ति, यल्लिङा बोध्येतेत्युक्तमिति भावः। सापीति। औपाधिकीष्टसाधनता यागस्य स्वर्गसाधनतयास्तीति कृतिसाध्यत्वमप्यौपाधिकमिति तत्परित्यागे नापूर्व्वसिद्धिरित्यर्थः।

मकरन्दः- कृतिजन्यत्वमपूर्वस्यापीत्यन्यथा व्याचष्टे—कृत्यनन्तरेति। कृत्यव्यवहितानन्तरेत्यर्थः। यद्यपि तत्रापि किञ्चिद् व्यवधानं तथापि पूर्वापेक्षयाऽव्यवधानमस्त्येवेति भावः।

प्रकाशः– यागस्याशुतरविनाशित्वात् स्वर्गस्य च कालान्तरभावित्वात् यागस्य स्वर्गसाधनत्वं न सम्भवतीत्याह **कालेति**। यागस्य प्रतीतस्वर्ग साधनताऽन्यथानुपपत्त्या फलसमयपर्यन्तस्थायी व्यापारः कल्प्यते इत्याह **यथेति**।

ननु साधनताप्रतीतिरेव योग्यताज्ञानाभावान्न सम्भवति। तथाहि स्वर्गसाधनताज्ञानं यागस्य भवत्साक्षात्साधनताविषयं भवेत् परम्परासाधनताविषयकं वा, एतदुभयोदासीनसाधनताविषयकं वा? नाद्यः, आशुतरविनाशित्वेन क्रियायाः कालान्तरभाविस्वर्गाव्यवहितपूर्व्वसमयावृत्तित्वात्। न द्वितीयः, परम्परा घटकस्यानुपस्थितेः।

अथास्तु तृतीयः। तथाहि – साक्षात्परम्परोदासीनसाधनतामात्रं यागस्य स्वर्गं प्रति नायोग्यम्। न च साक्षात्परम्पराविशेषद्वयं विना सामान्यं नास्त्येवेति वाच्यम्। साक्षात्परम्पराभ्यां विशेषणानुपपत्तेः। न च विशेषद्वयबाधे सामान्यमपि बाधितं, परम्परासाधनत्वस्याबाधनात्। बाधो हि विपरीतप्रमा। न च स्वर्गे यागो न परम्परासाधनमिति प्रमा नास्ति। न च योग्यानुपलब्ध्या परम्पराघटकबाधः, संस्कारवदयोग्यस्यापि तस्य सम्भवात्। अन्यथा वाच्येऽप्यपूर्व्वे क्रिया कामिकार्य्या न स्यात्, काम्यासाधनत्वात्। न हि यदयोग्यं तत्पश्चाद् योग्यम्। तस्मात् स्वर्गसाधनं याग इति सामान्यतः परम्परासाधनत्वमनुल्लिख्य वस्तुगत्या परम्परासाधनविषयकं ज्ञानमुत्पद्यमानं नायोग्यतया परिभवितुं शक्यमिति।

मैवम्, तथाहि – स्वर्गं प्रति यागो न साक्षात्साधनमिति ज्ञानानन्तरं स्वर्गसाधनं याग इति सामान्यज्ञानं भवत् परम्परासाधनताप्रकारकं स्यात्। एकविशेषबाधे शाब्दज्ञानस्य तदितरविशेषप्रकारकत्वनियमात्। यथा छिद्रबाधे घटपदजन्यं घटज्ञानं छिद्रेतरत्वप्रकारकम्। न च परम्पराघटकानुपस्थित्या प्रकृते तथा घटते। तन्न। एतादृशनियमे मानाभावात्। न हि छिद्रबाधानन्तरं घटपदेन छिद्रेतरत्वेन ज्ञानं जन्यते, किन्तु योग्यतया छिद्रं विहाय यद्वस्तुगत्या छिद्रेतरम्, तस्य घटत्वेन ज्ञानम्। न च छिद्रेतरत्वेन ज्ञानं सम्भवत्यपि, तस्याशक्यत्वेन घटपदादुपस्थित्य भावात्। न च घटपदात्तथैवानुभव आनुभविकत्वेनोभयसिद्धः। येन लक्षणयापि तथा निर्वाह्येत। न च लक्षणापि, सा हि जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था वा? नाद्या, घटाननुभवप्रसङ्गात्। नान्त्या, शक्यलक्ष्यसाधारणैकरूपाभावात्। एवं सर्व्वत्र सामान्यशब्दस्य विशेषपरत्वे द्रष्टव्यम्।

प्रकाशः- अथ छिद्रेतरतया योग्यतावधारणेन शब्दानुभवात् पूर्वं नियमेनोपस्थितिः संस्कारादेव। न च विभक्तीनां प्रकृत्यर्थानुगतस्वार्थान्वय-बोधकत्वव्युत्पत्तेस्तत्र विभक्त्यर्थो नान्वीयेतेति वाच्यम्। प्रकृत्यर्थो हि प्रकृतिप्रतिपाद्यः, स च प्रकृतेऽप्यस्ति, अन्यथा पाचकमानयेत्यत्र पाककर्त्तरि विभक्त्यर्थकर्मतान्वयानुपपत्तिः, तस्याशक्यत्वात्। तथा च संस्कारोपस्थितं छिद्रेतरत्वमादाय शाब्दान्वयबोधः स्यात्। मैवम्, शब्दानुपस्थितस्य शब्देनान्वयबोधाजननात्। एतच्च शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्य्यते इत्युपपादयद्भिरस्माभिर्घ्राणादिसूत्रे (न्या.सू. १।१।१२।) प्रपञ्चितमिति नेहोपपाद्यते। संस्कारस्यानियतोद्बोधतया नियमेन तदुपस्थितेरभावाच्च। फलस्योभयासिद्धतया तद्बलेनापि नियतोपस्थितेरभावात्। तथापि सामान्यभानस्य विशेषभाननियतत्वाद् विशेषाभाने कथं सामान्यं भासते इति चेत्, न। परम्परासाधनत्वस्य परम्पराघटकानुपस्थित्याभानेऽपि वस्तुतः परम्परासाधनस्य भानात्।

ननु काम्यादन्यत् काम्याव्यवहितसाधनतयावगतमेव कर्त्तव्यतया चेति। न च यागस्य स्वर्गाव्यवहितसाधनता सम्भवति। न च तृप्तिकामस्य पाके प्रवृत्तेर्व्यभिचारः,ओदनकामस्य तत्र प्रवृत्तेः। तृप्तिकामना च तृप्तिसाधनतत्साधन परम्पराकामनोपयोगिनी, न तु साक्षात्। अन्यथा साधनसाधने प्रवृत्त्यभावापत्तेः।

मैवम्। कम्यसाधनत्वज्ञानस्यैव प्रवर्त्तकत्वात्, लाघवात्। न च तृप्तिकामस्य सिद्धौदनस्य पाके प्रवृत्तिप्रसङ्गः, गुरूपायत्वात्। इष्टोत्पत्त्यनान्तरीयकदुःख जनकत्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्त्वाच्च। तस्मात् प्रतीता स्वर्गसाधनता व्यापारं विनानुपपद्यमाना व्यापारमपूर्वं कल्पयति।

ननु व्यापारेण तन्निर्वाहो न तज्जननात्, उत्तरवर्त्तित्वेन व्यापारस्य तत्रासामर्थ्यात्। न ज्ञापनात्, लिङ्गैव तज्ज्ञापनात्। न च चिरध्वस्तं कारणं

मकरन्दः- प्रकृत्यर्थो हीति। यद्यपि संस्कारस्योपस्थापकत्वमुक्तं न तु प्रकृतेः, शक्तिलक्षणयोरभावे तदुपस्थापकत्वस्यासम्भवाच्च। अत एव शब्दानुपस्थितस्येति सिद्धान्ते वक्ष्यति। तथापि प्रकृतिप्रतिपाद्यत्वं प्रकृतितात्पर्य्य-विषयत्वमित्*येके*। तन्मते औपादानिकी तदुपस्थितिः, तत्र प्रकृतेरपि तेन हेतुताभ्युपगमात् तथोक्तमित्*यन्ये*। **अन्यथेति**। यदि वृत्त्युपस्थितस्यैव विभक्त्यर्थान्वयस्तदेत्यर्थः। **अशक्यत्वादित्युपलक्षणम्** – अलक्ष्यत्वाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। **शब्दानुपस्थितस्येति**। वृत्त्येति शेषः।

योर्व्यापारव्यापारिभावः। कारणत्वञ्च व्यापारेण युज्यते। अव्यवधानेन पूर्वकालनियमश्च तत्त्वम्। अन्यथातिप्रसङ्गादिति चेन्न, पूर्वभावनियममात्रस्य

आमोदः– व्यापारद्वारा साधनत्वं, का नो हानिरित्यत आह न हीति। व्यापारव्यापारिभावः कार्यकारणभावः। यद्वा भिन्नकालयोरिति सप्तमीद्विवचनम्। तथा च भिन्नकालयोः पदार्थयोर्भिन्नकालीने पदार्थद्वयस्थले इति यावत्। तत्र कथं न व्यापारव्यापारिभाव इत्यत आह–कारणं चेति। कारणत्वमेव तत्र कथमित्यत आह अव्यवधानेनेति। नियतपूर्ववर्तित्वं कारणत्वं, तच्च यागेऽस्त्येव, तदेव लिङा बोध्यते। तथा च नायोग्यत्वमिति परिहरति पूर्वेति। तथा च चिरध्वस्तं कारणं व्यापारव्याप्तमिति

प्रकाशः– व्यापारव्याप्तं, विपक्षे बाधकाभावात्, प्रायश्चित्तस्य च फलप्रतिबन्धकत्वं स्यात्। तस्मात् पपान्मुच्यते इति फलश्रवणस्य च निषिद्धक्रियातः फलभागी न भवतीत्यर्थः। न च मुख्ये बाधकाभावः, उपस्थितत्वेन विहितनिषिद्धक्रियायामेव धर्माधर्मशक्तिग्रहस्य बाधकत्वात्।

मैवम्। चिरध्वस्तस्य व्यापारसत्त्वे कारणत्वमिति निरुपाध्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्याप्त्यवधारणात्। न चाप्रयोजकत्वं, यागो यदि चिरध्वस्तत्वे सति सव्यापारो न स्यात्, स्वर्गसाधनं न स्याद् घटवदिति विपक्षबाधकात्। न चात्र कारणताग्राहकाभाव उपाधिः, तेनापि समं व्याप्त्यवधारणेन तस्याप्यापादनात्।

तथापि देवताप्रीतिर्यागव्यापारोऽस्तु। न च तत्र मानाभावः, यजिधातोः पूजार्थतया तस्याश्चाराध्यप्रीतिहेतुक्रियात्वात्। तथा च यागस्य देवताप्रीतिसाधनत्वेन कालान्तरभाविस्वर्गं प्रति तद्द्वारा साधनतोपपत्स्यते। प्रीतेः क्षणिकत्वेऽपि तदनुभवजनितसंस्कारद्वारा तत्सम्भवात्।

अत्राहुः – देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागेन देवताप्रीतिर्जन्यते इत्यत्र मानाभावः। यज देवपूजायामिति शाब्दिकस्मृतिः, स्मृतित्वादेव न स्वतः प्रमाणम्। तन्मूलञ्च मानान्तरं नास्त्येव। न वा स्वर्गस्य प्रीतदेवतासाध्यत्वे मानम्। वस्तुतो लाघवात् कर्तृगतफलावसानिकव्यापारस्य कल्पनान्न देवताप्रीतिर्व्यापारः। न च स्वर्गभागिदेहान्तरमेव तद्व्यापारः, प्रलये विच्छेदेऽपि तद्व्यापारानुवृत्तेः, शरीरस्य च कार्य्यद्रव्यतया अभावात्। नापि ध्वंस एव तद्व्यापारः। तस्यानन्त्येऽपि स्वभावात् सावधिफलजनकत्वमिति वाच्यम्। प्रतियोगिध्वंसयोरेकत्राजनकत्वादिति संक्षेपः।

मकरन्दः– नन्वेवमपूर्वानभ्युपगमे प्रायश्चित्तविधिवैफल्यमित्यत आह प्रायश्चित्तस्य च फलप्रतिबन्धकत्वं स्यादिति।

कारणत्वात्। कार्यानुगुणावान्तरकार्यस्यैव व्यापारत्वात्। कृषिचिकित्सादौ बहुलं तथा व्यवहारात्। लाक्षणिकोऽसाविति चेत्, न। मुख्यार्थत्वे विरोधाभावात्।

अस्तु तर्हि पुत्रेण हते ब्रह्मणि चिरध्वस्तस्य पितुस्तमवान्तर-व्यापारीकृत्य कर्तृत्वम्। तथा च लोकयात्राविप्लव इति चेत्, न। सत्यपि सुते कदाचित्तदकरणात्। तस्मिन्नसत्यपि कदाचित् करणादनिर्वाहकतया

आमोदः- व्याप्त्यैव व्यापारकल्पनमिति भावः। ननु तथापि तेन व्यापारेण व्यवहितं कथं कारणं स्यादित्यत आह कार्येति। तथा च स्वाङ्गमव्यवधायकमिति भावः। कृषीति। यथा कृषिर्व्यवहितापि चिरभाविने फलाय कल्पते, तत्र हि पाकजगुणोत्पत्तिर्व्यापारः, चिकित्सापि दशमूलीकषायपानादि वाशुतरविनाश्यपि धातुसाम्यादिव्यापारत्वाद् वा चिरभाविरोगोपशमाय फलाय कल्पते, तथेदमपीत्यर्थः। शस्यकारणं कृषिः, रोगोपशमनसाधनं चिकित्सेति प्रयोगो लाक्षणिकः कारणकारणे न तु कारणे तयोर्व्यवधाने कारणत्वादित्याह लाक्षणिक इति। अतिप्रसङ्गेन व्यवहितस्य कारणमेव न सम्भवतीति शङ्कते अस्त्विति। तथा चेति। तद्रूपितब्रह्मावधित्वेन व्यवह्रियेतेत्यर्थः। पितुः पुत्रस्तदा तत्र व्यापारः स्यात्, यदि पुत्रमन्तरेण वध एव स्यात्, यदि च तस्मिन् सति अवश्यं वधः स्यात्। न चैवमिति। परिहरति सत्यपीति।

प्रकाशः-शङ्कते व्यापारेति। न च प्रकृते तथेति शेषः। कारणस्यावान्तरव्यापारयोगः। यागश्च न स्वर्गकारणं, कार्य्याव्यवहितप्राक्कालसत्त्वस्य कारणत्वादित्यर्थः। अत्राव्यवहितत्वमतन्त्रं गौरवात्। अतएव न सहभावेन कारणत्वम्। न च विनश्यदवस्थसमवायिनः कारणत्वापत्तिः। तावता समवायिकारणस्यैव तथात्वादिति परिहरति पूर्वभावेति। कार्य्येति। यज्जन्यं सज्जन्यजनकं, स एव तस्य व्यापार इत्यर्थः। कृषीति। यथा माघमासीयभूकर्षणस्य पाकजपरम्पराव्यापारद्वारा हेमन्त भाविसस्यजनकत्वम्, यथा वा दशमूलीकषायपानस्य धातुसाम्यद्वारा भाविज्वरशान्तिजनकत्वमित्यर्थः। व्यवहितस्य कारणत्वेऽतिप्रसङ्गमाह - अस्त्विति। येन विना यत्कारणत्वं न निर्वहति तस्य स व्यापारः, न च पितुः कारणत्वं पुत्रं विना न निर्वहतीति न स व्यापार इत्याह सत्यपीति। तदेव स्पष्टयति यं जनयित्वैवेति। यदि च कार्य्यसमानकालस्यैव कारणत्वं, तदा तवाप्यनिष्टमित्याह न चेदेवमिति। उभयं वेति। कार्यत्वमपूर्वत्वञ्च लिङः

तस्य व्यापारत्वायोगात्। यं जनयित्वैव हि यं प्रति यस्य पूर्वभावनिर्वाहः, स एव तं प्रति तस्य व्यापारो नापरः। यथानुभवस्य स्मरणं प्रति संस्कारः। तस्य ह्यन्वयव्यतिरेकानुविधाने सिद्धे तदन्यथानुपपत्त्या संस्कारः कल्प्यते, न त्वन्यथा। तथेहापि। न चेदेवं, तवापि ब्रह्मभिदुरशरविमोकसमसमयहतस्य हन्तृत्वं न स्यात्। स्याच्च स्वनिवेशनशयानस्य तत्पितुरिति। एतेनोभयं वेति निरस्तम्।

अस्तु तर्हि क्रियाधर्म एव कार्यत्वं विधिः। सर्वो हि कर्तव्यमेतदिति प्रत्येति। ततः कुर्यामिति सङ्कल्प्य प्रवर्तते इति चेन्न। कर्तव्यं मयेति कृत्यध्यवसायार्थो वा स्यात्, कर्तव्यं मयेत्युचितार्थो वा स्यात्? तत्र प्रथमः सङ्कल्पान्न भिद्यते। व्यवहितकार्ये सङ्कल्पो हि कर्तव्यो मयेति, सन्निहितकार्यसङ्कल्पस्तु कुर्यामिति। स च न लिङर्थः। सत्तामात्रेण

आमोदः– व्यापारिव्यापारभावमेव विशदयति यमिति। एतदेव दृष्टान्तेन स्फुटयति यथेति। तदन्यथा उपपत्त्येति। चिरध्वस्तं कारणं व्यापारिव्यापारव्याप्तमिति व्याप्तेरिति भावः। तथेहापीति। लिङा योगस्य कारणत्वेऽवगते चिरध्वस्तं कारणमित्यादिव्याप्तेर्व्यापारकल्पनमित्यर्थः। कार्यसमानकालस्यैव कारणत्वाभ्युपगमे दण्डमाह न चेदेवमिति। ब्राह्मणवधमुद्दिश्य येन शरः क्षिप्तः स शरविमोककाल एव मृतो ब्राह्मणश्च क्रमिकशरनिपातेन व्रणपाकपरम्परया मृतः, तत्र शरक्षेप्तुर्हन्तृत्वं न स्यात्, तदानीं वर्तमानस्य तत्पितुस्तु स्यादित्यर्थः। एतेनेति। अपूर्वत्वोपस्थितिमन्तरेण च्युत्यभावेन कामाधिकारोऽपि न्यायसम्पादनावैधुर्येण चेत्यर्थः। उभयमिति। कार्यत्वमपूर्वत्वञ्च लिङ्प्रवृत्ति निमित्तमित्यर्थः। क्रिया यागादि। विधिरिति। प्रवर्तकता न विषयो लिङर्थ इत्यर्थः। अत्रानुभवं प्रमाणयति सर्वो हीति। एतादृशज्ञानेच्छाकृतीनां कार्यकारणभावस्य सकलानुभवसिद्धत्वादिति भावः। अध्यवसायार्थ इति। अवश्यं कर्तव्यमेव मयेति प्रतिज्ञार्थ इत्यर्थः। उचितार्थ इति। कर्तुमिदमर्हतीत्यौचित्यमात्रार्थ इत्यर्थः। प्रतिज्ञायाः सङ्कल्पात्मकत्वान्न विध्यर्थत्वमित्याह तत्रेति। ननु मयेदं कर्तव्यमिति न सङ्कल्पाकारः, किन्त्वहं कुर्यामित्यत आह व्यवहितेति। ननु स एव लिङर्थः स्यादित्यत आह स चेति।

प्रकाशः–प्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः। कृत्यध्यवसायः –कृत्यनुकूलेच्छा। उचितार्थोऽर्हार्थः। तत्रैव कृत्यविधानादिति भावः। व्यवहितेति। प्रवृत्त्यपेक्षयेति शेषः। स चेति, उभयरूपोऽपि सङ्कल्पः। तस्याज्ञातस्यैव प्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रवर्तकज्ञानाविषयत्वादित्यर्थः।

प्रवर्तनादित्युक्तम्। तदेतत् कर्तव्यतायां जातायां प्रवर्तते इति वस्तुस्थितौ भ्रान्तेर्ज्ञातायामिति गृहीतम्। औचित्यन्तु क्रियाधर्मः प्रागभाववत्त्वं, तस्मिन् सति शक्यत्वं वा, तस्मिन् सति कर्तारं प्रत्युपकारकत्वं वा? प्रथमे, कुतश्चिदपि न निवर्तेत। द्वितीये, दुःखेऽपि तथाविधे प्रवर्तेत। तृतीये तु वक्ष्यते।१२।

आमोदः- एवं तर्हि कार्यत्वं विधिरिति *मीमांसकानां* किंनिबन्धनः प्रवाद इत्यत आह तदेतदिति। भ्रमनिबन्धन इत्यर्थः। द्वितीयं कल्पं दूषयति औचित्यमिति। प्रागभावप्रतियोगित्वमात्रनिबन्धनं यदि कर्तव्यत्वं तदा तज्ज्ञानात् सर्वकार्ये तक्षकचूडाद्याहरणेऽपि प्रवर्तेतेत्यर्थः। दुःखेऽपीति। दुःखसाधनेऽपि प्रवर्तेतेत्यर्थः। वक्ष्यत इति। इष्टसाधनताविधिपर्यवसन्नमिदमग्रे दूष्यमित्यर्थः। ननु *स्वर्गकामो यजेतेति* वाक्यश्रवणानन्तरं पुरुषः प्रवर्तत इति प्रवृत्तिकारणं शब्द एव, तदनन्तरं प्रवृत्तिदर्शनात्। तथा च शाब्दो यागानुकूलां कृतिं मदीयामभिधत्ते इति विधिवाक्यात् प्रतीत्य यागानुकूलां भावनां पुरुष उत्पादयति। तथा च शब्दव्यापारभूतामभिधां ज्ञात्वा पुरुषश्चेत् प्रवर्तते तदा सैव लिङर्थः। तदुक्तं- लिङोऽभिधा सैव च शब्दभावना भाव्या च तस्याः पुरुषप्रवृत्तिरित्यादि?। प्ररोचना स्तुतिः, सा च सुखोत्पादनद्वारा प्रवृत्त्यङ्गम्। उक्तञ्च -

अभिधां भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातस्य गोचरः।।

अन्यस्य शब्दापेक्षया अर्थात्मनः। तस्य भावना कृतिः, सा चान्या शब्दसमवेता भावनापेक्षया।१२।

प्रकाशः- सङ्कल्पविधिवादिनमुपहसति तदेतदिति। शक्यत्वं, कृतिसाध्यत्वमित्यर्थः। कुतश्चिदिति। अनिष्टादपीत्यर्थः। तृतीये इति। इष्टसाधनार्थत्वनिरासेनेत्यर्थः। तद्धर्मोऽभिधा वेति। वाक्यार्थज्ञानानुकूला भावना-शब्दव्यापारादिपदवाच्या अभिधा शब्दधर्मो वा लिङर्थः। तदाहु *भट्टपादाः* -

अभिधां भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।
अर्थात्मभावना चान्या सर्वाख्यातेषु गम्यते।। इति।

तदर्थो भावनादिर्वेत्यत्र करणमित्यनुषञ्जनीयम्। लिङर्थो भावादिः प्रयत्नादिः करणं, तद्धर्म इष्टसाधनता वेत्यर्थः।।१२।।

मकरन्दः-करणमित्यनुषञ्जनीयमिति। यदि हि धर्म्मविकल्प एवायमपि स्यात्, तदास्य पृथगदोषात् न्यूनत्वापत्तिः। करणविकल्पे च शब्दः। प्रयत्नादिश्च करणत्वेन

अस्तु तर्हि करणधर्मः? न, करणं हि शब्दः, तद्धर्मोऽभिधा वा स्यात्, तदर्थो भावनादिर्वा, तद्धर्म इष्टसाधनता वा? न प्रथमः।

असत्त्वादप्रवृत्तेश्च नाभिधापि गरीयसी।

बाधकस्य समानत्वात् परिशेषोऽपि दुर्लभः।।१३।।

सङ्गतिप्रतिसन्धानाधिकायां तस्यां प्रमाणाभावात्। अन्यसमवेतस्या-

आमोदः– तदेतत् *भट्टमत*मुत्थापयति करणमिति। शब्द इति। लिङादिशब्द इत्यर्थः। किंचालिङ आख्याततत्वेन योऽर्थो भावनादिस्तद्गतमिष्ट-साधनत्वं लिङर्थ इत्यर्थः। असत्त्वादिति। शब्दगताया भावनाया असत्त्वात्। न वाऽभिधाज्ञानात् प्रवृत्तिः गरीयसीति सकलापेक्षया प्रवर्तिकेत्यर्थः। परिशेषादपि नाभिधासङ्कल्पादीनामप्रवर्तकत्ववदभिधाया अपि प्रवर्तकत्वे बाधकस्योक्त-त्वादित्यर्थः। असत्त्वादि व्याचष्टे सङ्गतीति। सङ्केतस्मृतेरन्या काचिच्छब्दसमवेता भावना नास्त्येवेत्यर्थः। ननु सङ्गतिस्मृतिरात्मसमवेता, सा कथं शब्दव्यापारः स्यान्न हि शब्दस्याशुतरविनाशिनोऽन्वयप्रतिपादकत्वं व्यापारमन्तरेण। तस्माच्छब्दव्यापारः, शब्दसमवेतैव भावना वक्तव्या इत्यत आह अन्यथेति। यथा यागादेरात्मसमवेतमपूर्वं व्यापारः, तथा प्रकृतेऽपि स्यादित्यर्थः।

प्रकाशः– पराभिमतशब्दधर्मस्वरूपाभिधायां मानाभावादित्याह **असत्त्वादिति**। तत्सत्त्वेऽपि पदान्तरेण तदुपस्थितौ ततोऽपि न प्रवृत्तिरित्याह **अप्रवृत्तेश्चेति**। सर्वत्रान्यत्र पक्षेषु बाधकसत्त्वात् परिशेषेणाभिधा लिङर्थ इत्यपि नास्ति, तत्रापि बाधकसत्त्वादित्याह **बाधकस्येति**।

ननु शब्दस्य वाक्यार्थधीकारणत्वात् तस्य व्यापारेण भाव्यमवश्यमित्यभिधैव तद्व्यापारः। किञ्च पदानां प्रत्येकमर्थज्ञानाजनकत्वादाशुविनाशितया क्रमभावितया च तन्मेलकस्याभावादर्थज्ञानानुपपत्त्या अभिधा कल्प्यते इत्यत आह सङ्गतीति। सङ्गतिस्मृतिरेव पदस्यावान्तरव्यापारः, एकस्मृतिविषयानुपूर्वीविशेषविशिष्टपदमालैव पदार्थस्मृतिव्यापारा वाक्यार्थधीकरणमिति न तत्र मानमित्यर्थः।

ननु सङ्गतिस्मृतिर्न शब्दव्यापारः, व्यापारिणं विहायान्यत्रात्मनि तत्समवायात्। ततो यः शब्दसम्बन्धस्तद्व्यापारः साऽभिधा स्यादित्यत आह अन्येति यथात्मसमवेतमपूर्वं यागादेः करणस्य व्यापारः, तथा सङ्गतिस्मृतिरपि तादृशी

मकरन्दः– विकल्पितः, तद्धर्मश्चाभिधा इष्टसाधनता वेति विकल्पद्वयं पर्य्यवस्यति। तच्च दूषितमेव। किञ्च धर्म्मविकल्पपक्षे प्रयत्नादेः शब्दधर्म्मत्वाभावाद्विरोध इति भावः।।१२।।

पूर्ववदन्यव्यापारत्वेनाप्युपपत्तेः। विषयतयापि च स्वव्यापारं प्रति लिङ्गवद्धेतुभावाविरोधात्। अधिकत्वेऽपि ततोऽप्रवृत्तेः। बालानां तदभावेऽपि तद्भावात्। शब्दान्तरेण तत्श्राविणामप्यप्रवृत्तेः।

न च विलक्षणैव सा लिङो विषयः। तद्वैलक्षण्यं प्रतिपत्तिं प्रति

आमोदः- ननु सङ्गतिस्मृतौ पदं करणं न भवति, तथा च कथं सा पदव्यापारः स्यादित्यत आह विषयतयापीति। सङ्गतिस्मृतेः पदं विषयो भवत्येवातः सा कथं न व्यापारः, भवति हि विषयतया लिङ्गम् लिङ्गपरामर्शजनकम्, स च तद्व्यापारः, तथाऽत्रापीत्यर्थः। स्मृतेर्विषयजन्यत्वमभ्युपेत्योक्तं भवतु वा भावना शब्दसमवेता, तथापि तज्ज्ञानं प्रवर्तकं भावनापदादपि प्रवृत्तिप्रसङ्गादित्याह अधिकत्वेऽपीति। भावनायाः प्रवर्तकत्वे व्यतिरेकव्यभिचारमाह बालानामिति। अन्वयव्यभिचारमाह शब्दान्तरेणेति। भावनादिशब्दान्तरेणेत्यर्थः। ननु लिङुपस्थाप्या अन्यैव भावना यतः प्रवृत्तिर्भावनादिपदोपस्थाप्या त्वन्यैवेति नान्वयव्यभिचारः इत्यत आह न चेति। तच्च वैलक्षण्यं ज्ञाननिष्ठमेव विलक्षणप्रतीतिविषयत्वमेव च तस्या वैलक्षण्यमित्याह - तद्वैलक्षण्यमिति। लिङ् पदजनितभावना प्रतीतिर्भावनादि पदजनितभावनाप्रतीतेर्विलक्षणैवातः प्रवर्तिकिति यदि, तदा प्रतीतिवैलक्षण्यं

प्रकाशः- शब्दव्यापार इत्यर्थः। अतएव-यद्व्यापारे कर्तृ तदेव करणं, यथा पाककरणानि काष्ठानि ज्वलनावान्तरव्यापारकर्तृणि, न स्वविषयज्ञाने शब्दः कर्त्ता किन्तु कर्म इत्यपास्तम्। कर्तृपदस्य मुखार्थतायामचेतनस्य व्यापारासम्भवात्, हेतुमात्रविवक्षायाञ्च प्रकृतेऽप्यदोषादिति भावः।

ननु व्यापारी व्यापारकारणं भवति, न च सङ्गतिस्मृतौ पदं कारणम्, अतः शब्दजन्याभिधा मन्तव्येत्यत आह विषयतयापीति। यथा लिङ्गस्य स्वविषयपरामर्शे विषयतया हेतुत्वं, तथा शब्दस्यापि सङ्गतिस्मृतावित्यर्थः। *अस्मन्मते* स्मृतेर्विषयाजन्यत्वेऽपि *परमते*नेदमुक्तम्। अस्तु वा शब्दव्यापारोऽभिधा लिङ्वाच्या। तथापि नासौ प्रवृत्तिहेतुः अपुरुषार्थत्वादित्याह अधिकत्वेऽपीति। अभिधायामव्युत्पन्नानामभिधाज्ञानाभावेऽपि प्रवृत्तिसत्त्वादित्याह बालानामिति। अभिधादिपदैरभिधां ज्ञातवतोऽप्यप्रवृत्तेरित्याह शब्दान्तरेणेति।

अथाभिधादिपदात्तत्सामान्यज्ञानेऽपि न प्रवृत्तिः, लिङभिधेयविलक्षणाभिधाज्ञानस्य प्रवर्त्तकस्य ततोऽनुत्पादात्। अत एव नाख्यातान्तरेण तज्ज्ञानेऽपि प्रवृत्तिः। अत्राह न चेति। प्रतिपत्तिं प्रतीति। प्रतिपत्तिविशेषकमित्यर्थः

चेत्, अर्थविशेषोऽपि स्यात्। प्रवृत्तिमात्रं प्रति चेत्, अभिधासमवेतं तदिति कुतः? तत्सन्निधानादिति चेन्न, अनियमात्। अन्यस्य सर्वस्य निषेधादिति चेन्न। प्रवृत्तिहेतुत्वनिषेधस्य तुल्यत्वात्। तत्सन्निधिनिषेधस्य चाशक्यत्वात्। शब्दैकवेद्यत्वे चाव्युत्पत्तेः।

आमोदः– विषयवैलक्षण्याधीनमिति कुतस्तन्मात्रात् प्रवृत्तिरित्याह **अर्थविशेष** इति। ननु प्रवृत्तिजनकत्वमेव वैलक्षण्यम्, न ततोऽन्यदित्याशङ्क्य निराकरोति **प्रवृत्तीति**। प्रवृत्तिजनकत्वं सहकार्यधीनं न तु तत्रान्यत् प्रयोजकमभिधाज्ञानादिकं येन शब्दनिष्ठमभिधास्वरूपमायास्यतीत्याह **अभिधानसमवेतमिति**। अभिधानं शब्दः, न तु किञ्चिदवश्यं प्रवर्तकं कल्पनीयं प्रवृत्तिदशायाञ्च सन्निहितः शब्द एवातः प्रवर्तकं कल्प्यमानं तत्समवेतमेव कल्पयितुमुचितमिति शङ्कते **तदिति**। अन्यनिष्ठेनापि कल्पितेन प्रवृत्तिः सम्भवत्येवेति परिहरति **नेति**। **अन्यस्य** संकल्पकार्यत्वादेः प्रवर्तकत्वनिषेधात् भावनैव परिशिष्यत इति शङ्कते **अन्यस्येति**। अन्येषां प्रवृत्तिहेतुत्वनिषेधकयुक्तेर्भावनासाधारण्यादिति परिहरति **नेति**। ननु प्रवर्तकान्तरालिकसन्निहिताया एव भावनायाः प्रवर्तकत्वं पर्यवसन्नमत आह **सन्निधीति**। सङ्कल्पादयः सन्निहिता एवेत्यर्थः। अभिधाया लिङर्थत्वे व्युत्पत्तिर शक्येत्याह **शब्दैकेति**। ननु प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या उपस्थितायामभिधायां व्युत्पत्तिः

प्रकाशः– **अर्थविशेषोऽपीति**। अर्थविशेषं विना बुद्धिविशेषस्यानुत्पत्तेरित्यर्थः। यदि प्रवर्त्तकज्ञानविशेषादेव सोऽर्थः प्रतीयते, तदा लोके यत्प्रतीयमानं प्रवर्त्तकत्वेन ज्ञातं तत् लिङ वाच्यम्। न चाभिधायां तत्सम्भवतीति भावः।

अथाभिधाज्ञानमात्रस्याप्रवर्त्तकत्वात् प्रवृत्त्यैव तद्वैलक्षण्यमनुमेयम्, तत्राह **प्रवृत्तिमात्रमिति**। **तदिति**। अभिधायाः सन्निहितत्वात्तद्वैलक्षण्यं प्रवर्त्तकमित्यर्थः। **नानियमादिति**। बौद्धसन्निधानं धात्वर्थे इष्टसाधनत्वे चास्तीत्यर्थः। प्रवृत्तिहेतुत्वस्य निषेधः प्रमाणान्तरात्, विधिवादसन्निधेर्वा? आद्ये **प्रवृत्तिहेतुत्वेति**। अन्त्ये **तत्सन्निधीति**। यथाऽभिधायां विधिसन्निधिनिषेधोऽशक्यः, तथा धात्वर्थादावपीत्यर्थः।

ननु मानान्तरादभिधाज्ञानेऽपि न प्रवृत्तिः, लिङादिपदैकवेद्याभिधाज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वादित्यत आह **शब्दैकेति**। एवं तत्र लिङादिशक्तिग्रह एव न स्यात्,

---

मकरन्दः– **स्वविषयज्ञाने** – सङ्गतिग्रहरूपशब्दव्यापारतया अभिहिते इत्यर्थः। **प्रकृतेऽपीति**। विषयतया कथञ्चित् लिङ्गवद्धेतुत्वादिति मूल एवोक्तत्वादित्यर्थः। तदेव दर्शयितुं शङ्कते **नन्विति**। **अपुरुषार्थत्वादिति**। पुरुषार्थसुखादिप्रतिसन्धानं विना प्रवृत्त्यभावादिति भावः। **यत्प्रतीयमानमिति**। इष्टसाधनत्वादिकमित्यर्थः।

प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिसिद्धे व्युत्पत्तिरित्यपि वार्त्तम्। न हि प्रवृत्तिहेतुः कश्चिदस्तीति प्रवर्तते। इष्टसाधनता तु स्यात्। सर्वो हि मया क्रियमाणमेतन्मतं समीहितं साधयिष्यतीति प्रतिसन्धत्ते, तत इच्छति कुर्यामिति, ततः करोतीति सर्वानुभवसिद्धम्।

तदयं व्युत्पित्सुर्यज्ज्ञानात् प्रयत्नजननीमिच्छामवाप्तवान्, तज्ज्ञानमेव लिङ्श्राविणः प्रवृत्तिकारणमनुमिनोति। ततश्च कर्तव्यतैकार्थसमवायिनी इष्टसाधनता लिङर्थ इत्यवधारयति। न च

आमोदः- स्यादित्याह प्रवृत्तीति। प्रवृत्त्या कार्येण कारणमात्रमायाति न त्वभिधाविशेष्यमात्रान्यतः प्रवृत्तिहेतुरिति ज्ञानं तु न प्रवर्तकमित्याह न हीति। साम्प्रदायिकमतमाह इष्टेति। स्यादिति। लिङाद्यर्थ इति शेषः। अत्रानुभवं प्रमाणत्वेन दर्शयति सर्वो हीति। मया क्रियमाणमेतदिति स्वकार्यं दर्शयति। तेन स्वकृत्यसाध्ये प्रवृत्तिरपास्ता। समीहितं साधयिष्यतीति विषभक्षणादौ प्रवृत्तिरपास्ता। मम समीहितमिति परेष्टसाधने स्वसाध्ये प्रवृत्तिरपास्ता प्रवर्तकज्ञानमुक्त्वा तज्जनितामिच्छां दर्शयति तत इति। लिङ्श्राविण इति पठेत यजेत इत्यादि लोकवेदसाधारण्येनैव प्रयोज्यप्रवृत्तावपीष्टसाधनताज्ञानमेव कारणमिति तटस्थो बालकः स्वानुभवानुसारेण कल्पयतीत्यर्थः। पर्यवसन्नं लिङर्थमाह तथा चेति। ततश्चेति। कार्यतासमानाधिकरणमिष्टसाधनत्वं लिङर्थ इत्यर्थः। कार्यतामात्रविधिवादिनो मतमुत्थाप्य निराकरोति न चेति। तावन्मात्रस्य विषभक्षणादौ व्यभिचारात् उक्तस्यैव

प्रकाशः- मानान्तरेण तदनुपस्थितेरित्यर्थः। न हीति। प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या हि तद्धेतुः कञ्चिदित्येव ज्ञानं स्यात्, न च तत्प्रवर्त्तकमित्यर्थः। द्वितीयं पक्षमाह इष्टसाधनता त्विति। करणधर्मो विधिरिति शेषः। तदुपपादयति सर्वो हीति। मयेत्यादिनाऽसाध्ये कृत्यसाध्ये स्वकृत्यसाध्ये च प्रवृत्तिर्निवारिता।

तदयमिति। ननु कार्य्यत्वमेव विधिः, तथाहि – ज्ञानस्य कृतावुत्पाद्यायां चिकीर्षाऽतिरिक्तं न कर्त्तव्यम्। सा च कृतिसाध्यत्वप्रकारिका कृतिसाध्यविषयेच्छा, पाकं कृत्या साधयामीति तदनुभवात्, पाकं कुर्य्यामित्यस्य पाकं कृत्या साधयामीति विवरणाच्च। सा स्वकृतिसाध्यताज्ञानसाध्या, इच्छायाः स्वजनकज्ञानसमान प्रकारकत्वनियमात्। अत एव स्वकृतिसाध्ये प्रवर्त्तते, न त्विष्टसाधनेऽपि स्वकृत्यसाध्ये।

प्रकाशः– अथ कृत्या साध्येऽपि विषभक्षणादावप्रवृत्तेरिष्टसाधनत्वमादाय विधिः। न च तत्रानिष्टसाधनताज्ञानं प्रतिबन्धकम्, प्रवृत्तौ तदभावस्य हेतुत्वे गौरवापत्तेः। तद्वरं लाघवादिष्टसाधनत्वं विषयतावच्छेदकमस्तु। न च प्रवृत्तेः पूर्वमनिष्टसाधनताज्ञानविरह उभयसिद्धः, इष्टसाधनताज्ञानञ्च सन्दिग्धम्, अतो युगपदुपस्थित्यभावान्न लाघवावतार इति वाच्यम्। त्वयापि प्रवृत्तेः पूर्वमिष्टसाधनताज्ञानविनियोगस्वीकारात्। यत्र शब्दादनुमानाद्वा तदधिगतं, तत्र तदभावाच्च, तस्माद्विषभक्षणादौ वृष्ट्यादौ च प्रत्येकं व्यभिचारात् कृतिसाध्यत्वे सतीष्टसाधनत्वं विधिरिति।

न। विषभक्षणादौ स्वकृतिसाध्यत्वाभावात्, न हि कश्चिद्विषभक्षणं चिकीर्षति ततः करोतीति दृश्यते, जीवनयोनिकृतिसाध्यञ्च तत्र भवत्येव, न चान्या कृतिरस्ति।

अथेष्टसधनताभ्रमानन्तरं विषभक्षणमपि चिकीर्षाजन्यकृतिसाध्यम्, अतो विशेषदर्शनेऽपि तत्र प्रवर्त्तेतेति चेत्, न। द्विधा हि कृतिरनुभूयते, बलवदनिष्टजनिका यथा विषभक्षणादौ, तदजनिका च यथा पाकादौ, तदिह बलवदनिष्टाजनक कृतिसाध्यत्वं विवक्षितम्। न च विषभक्षणे तदस्ति।

अत एव तत्र प्रथममिष्टसाधनतया तथाविधकृतिसाध्यत्वमविद्यमानमवगत्य प्रवर्त्तते। प्रवृत्त्यनन्तरञ्च बलवदनिष्टहेतुकृतिसाध्यत्वं विरोधि तत्र विगतमिति न प्रवर्त्तते।

तथाभूतकृतिसाध्यत्वं पूर्वानुभूतं स्मृत्वा प्रवर्त्तेतेति चेत्, न। विशेषदर्शनेन भ्रमाहितसंस्कारोन्मूलनात्। अन्यथेष्टसाधनतास्मरणेऽप्यप्रतीकारात्। न चैवं श्रमेऽपि प्रवर्त्तेत, स्वेच्छाजन्यकृतिसाध्यस्य विवक्षितत्वात्। श्रमस्य च नियमतोऽन्येच्छाधीन कृतिसाध्यत्वं, दुःखत्वेन तत्रेच्छाविरहात्। अतएव स नान्तरीयक इत्युच्यते। न चैवमिच्छाज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गः, कृतौ परिचायकमात्रत्वात्।

यद्वा कृतौ स्वरूपसतीच्छा जनिका, इच्छायान्तु तज्ज्ञानं जनकमस्तु, को विरोधः। न हि यदेकत्र स्वरूपतो हेतुस्तज्ज्ञानमन्यत्र न जनकम्। एवं चिकीर्षाहेतुतया कृतिसाध्यताज्ञाने व्यवस्थिते विषभक्षणादौ व्यावर्तककृतिवृत्तिबलवदनिष्टा जनकचिकीर्षाधीनत्वमेव, न त्विष्टसाधनत्वम्। कृतिवृत्तिधर्मापेक्षया बहिरङ्गत्वात्,

मकरन्दः–ननु चिकीर्षाजन्यकृतिसाध्यत्वाभावेऽपि जीवनयोनिकृतिसाध्यत्वं स्यादित्यत आह जीवनेति। इच्छायान्त्विति। चिकीर्षायामित्यर्थः। तथाचेच्छाज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्व-प्रसङ्गो वारित एव, कृतौ स्वरूपसदिच्छाया एव हेतुत्वाभ्युपगमादिति भावः।

प्रकाशः- जीवनयोनिकृतिजन्यप्राणादिसञ्चारनिवृत्त्यर्थमावश्यकत्वात् भोगचिकीर्षायां व्यभिचाराच्च। न चोपायचिकीर्षेष्टसाधनताज्ञानसाध्या उपायेच्छात्वात् वृष्टीच्छावदिति वाच्यम्। साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधेनैकत्र ज्ञातुमशक्यत्वात्। असिद्धतां सिद्धताञ्चादाय तयोर्व्यवस्थितेः। न च यद्वस्तुतः कृतिसाध्यं तदिष्टसाधनमिति ज्ञायते इति युक्तम्। कृतिसाध्यतोत्तीर्णज्ञानात् चिकीर्षानुत्पत्तेः। अपि च साधनत्वस्य सिद्धमात्रधर्म्मत्वात् साधनत्वज्ञानमिच्छाविरोधि, न हि कश्चित्कृतिसिद्धमिच्छति, अतोऽसुन्दरे वृष्ट्यादौ चेच्छा तत्साध्येष्टज्ञानात्।

अथ तादृशकृतिसाध्यत्वे कृतिर्न विशेषणम्, असत्त्वात्। सत्त्वे वा कृतौ सत्यां कृतिसाध्यताज्ञानं, तथा ज्ञाने च कृतिर्वेत्यन्योन्याश्रयः। नोपलक्षणम्, अनतिप्रसक्तोपलक्ष्याभावादिति चेत्, न। ज्ञाने विषयतया कृतेर्विशेषणत्वात्, साध्ये च प्रवृत्तिविषये परिचायकतयोपलक्षणत्वात्। अन्यथेष्टसाधनतापक्षेऽपीष्टस्य तथाविधविकल्पग्रासात्।

ननु तादृशकृतिसाध्यत्वज्ञानाच्चिकीर्षा ततः कृतिः। कृतौ सत्यां प्रत्यक्षेण कृतिसाध्यताज्ञानमित्यन्योन्याश्रयात्, कृतिसाध्यतोत्तीर्णे चिकिर्षाकृत्योरसम्भवाच्च। नानुमानात्, कृतक्रियमाणयोः पक्षत्वे कृतिसाध्यतोत्तीर्णत्वेन बाधात्। भाविपक्षत्वे चाश्रयासिद्धेः।

उच्यते – पाको मत्कृतिविशेषसाध्यः मत्कृतिं विनाऽसत्त्वे सति मदिष्टसाधनत्वात् मद्भोजनवत्। यस्य यदिष्टसाधनं यदा यत्कृतिं विना न सिध्यति, तत् तदा तत्कृतिविशेषसाध्यमिति व्याप्तेः। असिद्धस्येष्टसाधनत्वाभावात्।

न च पक्षानुपपत्तिः, पाके कृतिसाध्यत्वं हि सिध्यत् सिद्धे बाधादनागतं पाकमादाय सिध्यति, पक्षतावच्छेदकधर्मसामानाधिकरण्यं साध्यमानस्य हेतुना सिध्यतीत्यनुमाने क्लृप्तत्वात्। यथा प्रसिद्धवह्निबाधेऽपि वह्निमात्रं न

मकरन्दः- वस्तुतश्चिकीर्षाहेतुज्ञानस्यैव प्रवर्त्तकत्वमितीच्छाज्ञानस्य चिकीर्षाहेतुत्वे प्रवर्त्तकत्वापत्तिरिति प्रथमकल्प एव साधुरिति।

यद्यपि बलवदनिष्टाजनकत्वं कृतौ विशेषणीकृतं प्राक्, तथापि चिकीर्षाविशेषणत्वेऽपि न दोष इत्याशयवानाह **बलवदनिष्टाजनक चिकीर्षाधीनत्वमिति**। वस्तुतो बलवदनिष्टाजनकत्वे सति चिकीर्षाधीनत्वमित्यर्थः। तथा च न पूर्वविरोधः। क्वचित्तु बलवदनिष्टाजनकचिकीर्षाजन्ययत्न चिकीर्षाधीनत्वमिति पाठः। तत्र बलवदनिष्टाजनकचिकीर्षाजन्ययत्ने

प्रकाशः-- बाधितमित्यप्रसिद्धोऽपि बह्निः सिध्यति। तथा प्रसिद्धपाके कृतिसाध्यत्वबाधेऽपि पाकमात्रे न बाधितमित्यप्रसिद्धं पाकमादाय सिध्यति। अप्रसिद्धयोः पक्षसाध्ययोः सिद्धावविशेषात्। तथापि प्राथमिकत्वादावश्यकत्वाच्च लिङ्गज्ञानमेव प्रवर्त्तकमस्तु। न च लाघवात् कृतिसाध्यत्वं तथा। तदा कृतिसाध्यत्वानुमितौ मानाभवेन युगदुपस्थित्यभावादिति चेत्, न। लिङ्गज्ञाने कृतिसाध्यत्वाप्रकाशे तत्प्रकारकचिकीर्षायां तस्याहेतुत्वात्।

ननु कृतिसाध्यत्वस्य विधित्वे 'न कलञ्जं भक्षयेदि'त्यत्र विध्यर्थ निषेधानुपपत्तिः। कलञ्जभक्षणं न कृतिसाध्यमित्यस्यायोग्यत्वात्। न, तत्रापूर्वस्य लिङर्थत्वेन कलञ्जभक्षणप्रवृत्तं प्रति कलञ्जभक्षणाभावाविषयकापूर्वस्य कृतिसाध्यत्वेन बोधनात्। न चानादित्वेन प्रागभावो न साध्यः, भक्षणप्रवृत्तस्य हि भक्षणप्रागभावस्तत्कृतिं विनोत्तरकाले न भवति, तत्कृत्या तु भवतीत्यन्वय व्यतिरेकाभ्यां तत्कृतिसाध्य एवानुभूयते। न हि कृत्यनन्तरक्षणे घटस्वरूपं कृत्यधीनमित्यतोऽन्यत् कृतिसाध्यत्वं घटे। इयांस्तु विशेषः। क्वचित् कृत्यधीनः प्राक्कालयोगः क्वचिदुत्तरकालयोग इत्युभयोरपि योगक्षेमयोः कृतिसाध्य-त्वमानुभविकम्, अत एवेदं मत्तोऽभूतमिति व्यवहारः।

ननु कृतौ नष्टायां सन्नपि धर्मी न कार्य्यः, तथासति कथमपूर्वे कार्य्ये कामिनोऽन्वयः? आशुविनाशितया क्रियातुल्यत्वात्। मैवम्, यद्वृत्ति काम्यसाधनत्वं तत्र कार्य्यताबुद्धिः प्रयोजिका, न तु कार्य्यताविशिष्टस्य काम्यसाधनताविशिष्टेतेति व्याप्तिः। तस्मात् कृतिसाध्यत्वमेव विधिः।

मकरन्दः– यच्चिकीर्षाधीनत्वमुक्तरूपं, तदेव विशेषणमिति योजनया तादृशार्थलाभ इत्याहुः।

ननु यागस्येव कृतेरपीष्टसाधनत्वं धर्म इति तुल्यमेवान्तरङ्गत्वमत आह **जीवनयोनिजेति**। यद्यपि तद्व्यावर्त्तकं चिकीर्षाधीनत्वमात्रं न तु बलवदनिष्टाजनकत्वमपि, तथापि मधुविषसंपृक्तान्नभोजनव्यावृत्त्यर्थं तदावश्यकमिति भावः। **भोगेतीति**। तस्य स्वतःपुरुषार्थत्वेनेष्टसाधनत्वाभावादित्यर्थः। **वस्तुत इति** – यदा कदापीत्यर्थः। **कृतिसाध्यतोत्तीर्णेति**। सिद्धत्वज्ञानादित्यर्थः, अन्यथा साधनत्वस्यैवाग्रहादिति भावः। शेषं *शब्दप्रकाशे* प्रपञ्चितमनुसन्धेयम् अत एवेदं मत्तोऽभूतमित्यत्राकारप्रश्लेषः। अभवनस्य प्रागभावरूपत्वादित्यर्थः। अत एव क्वचित् मत्तो न भूतमित्येव पाठः।

प्रकाशः- अत्रोच्यते-कृतिसाध्यताज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वे तृप्तोऽपि भोजने प्रवर्त्तेत तथा विशेषदर्शनेऽपि चैत्यवन्दनादौ।

अथ स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्यं कार्य्यताज्ञानं प्रवर्त्तकम्। तथा हि - काम्ये पुरुषविशेषणं कामना, ततः काम्यसाधने यागपाकादौ कार्यताज्ञानम्। नित्ये च कालशौचादि स्वविशेषणम्। तृप्तस्य तृप्तौ कामनाविरहेणेष्टसाधनताज्ञानाभावात् न तथा बोधः। विशेषदर्शने च भ्रमदशायामिव चैत्यवन्दने नेष्टसाधनताज्ञानं, येन तज्जन्यकार्यताबोधात् प्रवर्त्तेत।

मैवम्। कृतिसाध्यत्वज्ञाने लाघवाद्विषयतयेष्टसाधनत्वस्यैवावच्छेदकत्वात्। न तु स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्यत्वं तत्र विशेषणं, गौरवात्। न च साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधः, निर्विशेषितयोस्तयोरविरोधात्। तदा साध्यत्व साधनत्वयोरेव विरोधात्। तथात्वस्य चानभ्युपगमात्। अन्यथा साध्यत्व साधनत्वयोरन्यतरमेव स्यात् पाके, न तु समयभेदादुभयम्। तस्मात् समयभेदमादाय साध्यत्वसाधनत्वयोर्ज्ञानमबाधितम्। न चैवं गौरवं, समयभेदस्य प्रवृत्तावनुपयोगात्, ज्ञानोत्पत्तावेव तदुपक्षयात्।

कथं वा इष्टसाधनत्वेन कार्यत्वानुमानं, पक्षे साध्यसाधनयोरन्यतरसत्त्वे बाधासिद्ध्योरन्यतरप्रसङ्गात्। समयभेदेन तयोरविरोध इति तु तुल्यम्। अपि च स्वविशेषणवत्ताज्ञानजन्यकार्यताज्ञानाभावात् कथं सुखे चिकीर्षा?

अथोपायचिकीर्षायां तद्धेतुः, इच्छाकारणसुखज्ञाने कृतिसाध्यत्वं यदा विषयः,तदा सुखे चिकीर्षा, नो चेदिच्छामात्रमित्युभयं चिकीर्षाहेतुः। तर्हीच्छाहेतुज्ञाने कृतिसाध्यत्वं यदा भासते, तदा चिकीर्षा, नो चेदिच्छामात्रमित्यनुगतमेव सुखतदुपायचिकीर्षाहेतुरस्तु, लाघवात्। सुखत्वज्ञानवदिष्टसाधनत्वज्ञानस्यापि इच्छाहेतुत्वात्। अत एव पाकादाविष्टसाधनताज्ञाने कृतिसाध्यत्वं विषय इति चिकीर्षा, वृष्ट्यादाविष्टसाधनताज्ञाने तु न तद्विषय इतीछामात्रम्। सुखचिकीर्षायामिच्छा कारणज्ञाने कृतिसाध्यताविषयके चिकीर्षाहेतुत्वावधारणात्।

परमार्थतस्तु दैवाधीनवृष्टीच्छादौ स्वतोऽसुन्दरविषयेच्छामात्रं प्रतीष्टसाधनता ज्ञानं कारणं क्लृप्तम्। अतः पाकादिचिकीर्षापि तज्जन्या। न हि यज्जातीयं प्रति यत्कारणं गृहीतं, तदतिपत्य तद्भवति। न च चिकीर्षान्यत्वे सत्युपायेच्छात्वं तत्र तन्त्रं, गौरवात्। न च साधनत्वज्ञानमिच्छाविरोधि, निर्विशेषितयोः सिद्धत्वासिद्धत्व योरविरोधेनेच्छासाधनत्वयोरविरोधात्।

प्रकाशः– यत्तु तत्साध्येष्टज्ञानाद्वृष्ट्यादाविच्छेत्युक्तम्। तत्र, असिद्धावस्थावतो वृष्ट्यादेरिष्टानुत्पत्तेस्तस्यावश्यं सिद्धत्वमवगन्तव्यम्, इच्छानुरोधाच्चासिद्धत्वमिति तत्रापि विरोधात्। वृष्टिसाधनत्वमादायैवेष्टसाध्यत्वग्रहाच्च। एवञ्चेष्टसाधनता मात्रज्ञानात् कृतिसाध्यताप्रकारिकेच्छा नोत्पत्तुमर्हति। न चातिप्रसङ्गनिवृत्तिरिति कृतिसाध्यत्वमपि तत्र विषयतयाऽवच्छेदकमस्तु।

ननु कृताविच्छा चिकीर्षा, सनः प्रकृत्यर्थगोचरेच्छावाचित्वात्। न च कृतिविषयपाकादिविषये कृतिसाध्यत्वप्रकारकेच्छावाचित्वम्। तथा च कृताविष्टसाधनताज्ञानादिच्छा, वृष्ट्यादौ तथा कल्पनात्। यदा कृताविच्छा,तदा सैव चिकीर्षा, अन्यत्रेच्छामात्रम्, न तु कृतिसाध्यताज्ञानात्, कृतौ कृति साध्यत्वाभावात्।

अथ पाकं कृत्या साधयामीतीच्छा अनुभवसिद्धा, सा च कृतिसाध्यताज्ञानात्। सा च चिकीर्षापदाप्रतिपाद्यापि कृतिहेतुः, समानविषयकत्वात्। न तु कृतीच्छा कृतिहेतुः, कृतिविषयाविषयत्वादिति चेत्। अस्ति तावत् पाककृताविच्छा वृष्टीच्छावत्। अस्ति च कृतिसाध्यत्वप्रकारिका तत्रेच्छा। तथापि कृतीच्छैव कृतिहेतुर्लाघवात्, न तु कृतिसाध्यत्वप्रकारिकेच्छा, गौरवात्। न चावगतिप्रवृत्त्योः समानविषयत्वमुभयसिद्धं, तस्यैव विचार्यत्वात्। कथन्तर्हि पाकं कृत्या साधयामीतीच्छा? येन रूपेण यस्येष्टसाधनत्वं तेन रूपेण तत्रेच्छासत्त्वात्। यथा स्वकेदारवृष्टित्वेनेष्टसाधनत्वात्तथैवेच्छा। तथा कृतिसाध्यत्वेन पाकस्येष्टसाधनत्वात् तथैवेच्छासत्त्वात्। अन्यथा तत्तदुपायसाध्यत्वेनेच्छा तत्तदुपायसाध्यत्वप्रकारकज्ञानात् स्यादित्यनन्तकारणकल्पनापत्तिः। मम तूपायेच्छायामिष्टसाधनत्वज्ञानमेव हेतुः। अत एवैकप्रत्ययाभिधेयत्वप्रत्यासत्तेरन्तरङ्गतया विधिप्रत्ययाभिधेयेष्टसाधनत्वस्य कृतावेवान्वयो न प्रकृत्यर्थे। तथैव चिकीर्षाहेतुज्ञानजनकत्वात्। प्रकृत्यर्थस्य च कृतौ विधेयत्वेनान्वयः। उच्यते–पाकस्य वह्निसाध्यत्वेन कृतिसाध्यत्वेन वा नेष्टसाधनत्वं गौरवात्, किन्तु पाकत्वेन, स च कृतिं विना नेत्यन्यदेतत्। कथं तर्हि वह्निना साधयामीतीच्छा। इष्टसाधनत्वेन ज्ञाते यत्र यत्साध्यत्वं ज्ञायते, तत्र तत्साध्यत्वेनेच्छासत्त्वात्। यथा हीष्टसाधनत्वेन ज्ञाते वह्निसाध्यत्वज्ञानाद् वह्निना पाकं साधयामीतीच्छा, तथा कृतिसाध्यत्वेन ज्ञाते पाके इष्टसाधनत्वज्ञानात् कृत्या साधयामीतिच्छा। तथा चेष्टसाधनत्वेन कृतिसाध्यत्वेन च ज्ञाते कृतिसाध्यत्वप्रकारिकेच्छा न त्विष्टसाधनताज्ञानमात्रादिति कृतिसाध्येष्टसाधनता

वाच्यमेवञ्चेत्, वरं कर्तव्यतैवास्तु, अवश्याभ्युपगमनीयत्वात्, कृतमिष्टसाधनतयेति। यथा हि नेष्टसाधनतामात्रं प्रतीत्य प्रवर्तते, असाध्येषु व्यभिचारात्। तथा प्रयत्नविषयसमवायिनीमिष्टसाधनतामधिगम्याधिकारी प्रवर्तते इत्यनुभवः। तत्र विषयो धातुना भावनाख्यातमात्रेण, शेषन्तु तद्विशेषेण लिङा इत्येवमिष्टाभ्युपायतायामधिगतायामन्वयबलात् तद्विषयस्येष्टसाधनत्वावगतिरिति कर्तव्यतैकार्थसमवायिनीष्टाभ्युपायता लिङः प्रवृत्तिनिमित्तमित्युक्तम्।

आमोदः– प्रवर्तकत्वमभ्युपेयम् इत्याह यथा हीति। प्रयत्नविषयस्वरूपमिति। मत्कृतिविषयोऽयमिति। ज्ञानमपि न प्रवर्तकमित्यर्थः। विषय इति। यागपाकादिरित्यर्थः। आख्यातप्रत्ययमात्रेणेति। लिङ एव आख्यातत्वपुरस्कारेणैव भावनात्मककृतिवाचकत्वं लिङ्त्वनिबन्धनं तु लिङ इष्टसाधनता वाच्येत्याह शेषस्त्विति। शेषमित्यपि क्वचित् पाठः। यजेतेति। प्रकृतिप्रत्यय

प्रकाशः– विधिः। नित्ये च स्नानादौ यथेष्टसाधनताज्ञाने सत्यपि न नित्यताक्षतिः, तथा निपुणतरमुपपादितं *द्वितीयाध्यायप्रकाशे* इति संक्षेपः।

तत्रेति। पचतीत्यादौ भावनाविषयः पाकादिर्धातुनोच्यते, भावना त्वाख्यातेनेत्यर्थः। शेषमिति। यजेतेत्यादौ लिङा भावनाविषयस्य यागादेरिष्टसाधनत्वमुच्यते इत्यर्थः। अन्वयबलादिति। प्रकृतिसमभिव्याहारादित्यर्थः। तद्विषयस्येति। इष्टसाधनीभूतस्य भावनाविषयस्येत्यर्थः। भावनाया इष्टसाधनतया तत्कारणको यागोऽपि तथेति भावः। कर्त्तव्यतैकेति। यद्यपि पूर्वं तदर्थो भावनादिस्तद्धर्म इष्टसाधनता वेत्यनेन भावनाधर्म एवेष्टसाधनत्वं लिङर्थ इति विकल्पितम्। अधुना च भाव्यस्योच्यते इति विरोधः। तथापि तत्रादिपदेन भाव्यस्याप्यभिधानाददोषः।

मकरन्दः– भावनाया इष्टसाधनतयेति। यद्यपि भावनाकारणं न यागः प्रत्युत भावनैव यागजनिका, तथापि तत्कारणेत्यत्र बहुब्रीहिः, कारणपदेन विषयविवक्षा वेति भावः।

तत्रादिपदेनेति। न च तदर्थ इत्यस्य पूर्वं लिङर्थ इति विवरणाद् यागस्य च लिङर्थत्वाभावाद्विरोध इति वाच्यम्। लिङर्थत्वेन तस्यापि विकल्पे दोषाभिधाने दोषाभावादित्यर्थः। तदर्थ इत्यत्र तच्छब्देन शब्दस्यैव विवक्षा, उपस्थितत्वात्, न लिङः, अनुपस्थितत्वात्। *प्रकाशे* च लिङर्थ इति विवरणं भावनामात्राभिप्रायेणेत्याहुः।

करणस्येष्टसाधनताभिधाने ज्योतिष्टोमेनेति तृतीयया न भवितव्यमिति तु देश्यमवैयाकरणस्यावधीरणीयमेव। तत्सङ्ख्याऽभिधानं हि तदभिधानमाख्यातेन। न च तत् प्रकृते। न च यागेष्टसाधनताभिधानं लिङा, किन्त्वन्वयबलात्तल्लाभ इत्युक्तम्।

यत्तु सिद्धापदेशादपि प्रतीयते इष्टसाधनता, न चातः सङ्कल्पात्मा प्रवृत्तिरस्तीति देश्यम्। तत्र समुत्कटफलाभिलाषस्य समर्थस्य

आमोदः– समुदायबललभ्यमर्थमाह कर्तव्यतेति। ननु करणस्य यागस्य इष्टसाधनता लिङा चेद्बोद्धव्या तदा ज्योतिष्टोमेनेति तृतीयाऽनर्थिकैव स्यात्, तदभिधेयस्य करणत्वस्य लिङो वा अभिहितत्वात् इत्याह करणस्येति। यजेतेत्याख्यातेन करणगता संख्या नाभिधीयते किन्तु कर्तृगता, कर्तरि लकारस्यानुविधानात् इत्याह तत्संख्येति। प्रकृत इति। यजेतेत्यर्थः। किञ्च लिङा साधनतामात्रं बोध्यते, न तु यागेष्टसाधनत्वं न तु यागनिष्ठमित्यर्थः। अन्वयबलात् तृतीयापदसमभिव्याहारात् तल्लाभः, करणत्वलाभः इत्यर्थः। तथा च साधनत्वकारणत्वयोर्भिन्नोपाधितया न पौनरुक्त्यमित्यर्थः। सङ्कल्पात्मेति। सङ्कल्पात्मापि प्रवृत्तिर्न भवति किं पुनः कृतिरूपेत्यर्थः। तत्र भवत्येव प्रवृत्तिरित्याह तत्रेति। किञ्च येषामपि कार्यतादिर्विधिः

प्रकाशः– ननु यदीष्टसाधनता लिङर्थः, 'तदा ज्योतिष्टोमेन यजेते'त्यादौ तृतीया न स्यात्। यागकरणत्वस्य लिङैवाभिधानादित्यत आह करणस्येति। लिङ् आख्यातेन यागसंख्याभिधानरूपं तदभिधानं वाच्यम्, न चैवमिहास्तीत्याह तत्संख्येति। यजेतेत्यत्र हि न करणे लकारो येन तद्गतसंख्यामभिदध्यात्, किन्तु कर्त्तरीति तत्संख्याऽभिधाने तृतीयोपयोगः। तृतीयातोऽपि लब्धे करणत्वे नेह तात्पर्य्यमित्यर्थः। लिङा चेष्टसाधनतामात्राभिधानेऽपि न यागस्य तदभिधानमित्याह न चेति। यद्यप्येवमप्यभिधानमस्ति, तथापि वाक्यार्थतया न पदार्थतया, तथानभिधानञ्चा'–नभिहित' इति (पा.सू. २।३।१।) सूत्रे विवक्षितमित्येके। लिङ्कृत्तद्धितैः परिसंख्यानं नियामकमित्यन्ये।

मकरन्दः– तृतीयोपयोग इति। तृतीयासम्भव इत्यर्थः। कारणसङ्ख्याया अनभिहितत्वादिति भावः। नन्वेवं तृतीयया करणत्वस्याभिधानात् लिङापि च तदभिधाने पौनरुक्त्यमित्यत आह तृतीयातोऽपीति। गौरवादुक्तदोषाच्चेति भावः। वाजपेयाधिकरणन्यायात् कर्मनामधेयतया तृतीयायाः प्रथमं मूकत्वादित्यन्ये। परिसङ्ख्यानमित्यभिधानपर्य्याय एव अन्यस्य दुर्वचत्वादित्यनुशयमाविष्करोति इत्यन्ये इति।

तत्साधनताऽवगमेऽपि न प्रवृत्तिरिति कः प्रतीयात्? सर्वपक्षसमानञ्चैतत् समानपरीहारञ्चेति किं तेन? अत्राभिधीयते – अस्तु प्रयत्नविषय समवायिनीष्टसाधनता प्रवृत्तिहेतुः, तथापि नासौ लिङर्थः, सन्देहात्। सा हि किं साक्षादेव लिङावगम्यते, स्तनपानादावनुमानादिव बालेन, किं वा तत्प्रतिपादितात् कुतश्चिदर्थादनुमीयते। चेष्टाविशेषानुमितादिवाभिप्राय विशेषात् समयाभिज्ञेनेति सन्दिह्यते? एवञ्च सति सा नाभिधीयते इत्येव निर्णयः।१३।

हेतुत्वादनुमानाच्च मध्यमादौ वियोगतः।
अन्यत्र क्लृप्तसामर्थ्यान्निषेधानुपपत्तितः।।१४।।

आमोदः– तेषामपि यागः कार्य इति। सिद्धापदेशात् प्रवृत्तिप्रसञ्जने यः परिहारः सोऽस्माकमपीत्याह सर्वेति। **अत्राभिधीयत** इति। अत्र लिङर्थविवेचने स्वसिद्धान्तोऽभिधीयत इत्यर्थः। **अस्त्विति।** स्वकार्यतासमानाधिकरणेष्टसाधनताज्ञानं प्रवर्तकमित्यनुमन्यामहे एव तद्विषययोर्लिङादि वाच्यो लिङादिवाच्यानुमेयो वा इति सन्देह इत्यर्थः। सन्देहाकारमाह **सा हीति।** स्तनपानमिष्टसाधनं स्तनपानत्वात् पूर्वानुभूतस्तनपानवदिति जीवनादृष्टोद्बोधितप्राग्भवीयसंस्कारजन्यव्याप्तिस्मृतिबलात् यथा लिङ्गेन साक्षादेवेष्टसाधनता प्रतिपाद्यते, तथा लिङापि साक्षादेवेष्टसाधनता बोध्यते। यद्वा, लिङः पुमभिप्रायोऽर्थः। तेनेष्टसाधनताऽनुमीयत इति विकल्पार्थः। अत्र दृष्टान्तमाह **चेष्टेति।** यथा कृतसमया चेष्टा तथा पुरुषाभिप्रायमुन्नीय प्रतिपाद्यप्रवृत्तिनिवृत्ती भवत इत्यर्थः। स्वपक्षमाह **एवमिति।।१३।।**

प्रकाशः– **यत्त्विति।** यागः स्वर्गसाधनमिति सिद्धार्थवाक्यादिष्ट-साधनत्वज्ञानेऽपि न प्रवृत्तिरिति नायं विधिरित्यसिद्धं, ततोऽपि स्वर्गकामस्य तत्साधनताज्ञानवतः प्रवृत्तेरित्यर्थः। अन्येषामपि विधीनां सिद्धार्थात् प्रतीतावप्रवृत्त्या न ते विधयः स्युरित्याह **सर्वपक्षेति।** एतद्दूषणमित्यर्थः। एवमिष्टसाधनतां विधिं व्युत्पाद्य स्वसिद्धान्तेन निराकर्त्तुं सन्देहं तावदाह **अस्त्विति। स्तनपानादाविति।** यथा स्तनपानादेरिष्टसाधनत्वं साक्षादेव पानादवगम्यते इत्यर्थः। **तत्प्रतिपादितादिति।** लिङा बोधितादाप्ताभिप्रायादिष्टसाधनत्वमनुमीयते, ततः प्रवृत्तिरित्यर्थः। समयश्चेच्छाविशेषः सङ्केतः। **एवञ्चेति।** इष्टसाधनता न लिङाऽभिधीयते, किन्त्वाप्ताभिप्रायविषयत्वेनानुमीयते इत्यर्थः।१३।

तथा हि अग्निकामो दारुणी मथ्नीयादिति श्रुत्वा कुत इत्युक्ते वक्तारो वदन्ति, यतस्तन्मन्थनादग्निरस्य सिद्ध्यतीति। 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' इत्यादाविष्टाभ्युपायतायामेवावगतायामनुमिमते तान्त्रिकाः। यदश्वमेधेन यजेत मृत्युब्रह्महत्यातरणकाम इत्यादिविधिम्। निन्दया च निषेधम्। तद्यथा – 'अन्धं' तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः' – इत्यतो नात्मानं हन्यादिति। कुर्याः कुर्यामित्यत्र विधिविहितैव लिङ् नेष्टाभ्युपायतामाह, किन्तु वक्तृसङ्कल्पम्। न हीष्टाभ्युपायो ममायमिति कुर्यामिति पदार्थः, किन्तु तत्प्रतिपत्तेरनन्तरं योऽस्य सङ्कल्पः – कुर्यामिति, स एव। सर्वत्र चान्यत्र वक्तुरेवेच्छाभिधीयते लिङेत्यवधृतम्। तथा ह्याज्ञाऽध्येषणाऽनुज्ञासंप्रश्नप्रार्थनाऽऽशंसालिङि नान्यच्चकास्ति।

यां वक्तुरिच्छामननुविदधानस्तत्क्षोभाद्बिभेति सा आज्ञा। या तु श्रोतुः पूजा सम्मानव्यञ्जिका सा अध्येषणा। वारणाभावव्यञ्जिका अनुज्ञा।

आमोदः– हेतुत्वादिति। लिङः श्रवणादपि हेत्वाकाङ्क्षासत्त्वादित्यर्थः। अनुमानादिति। हेतुत्वेऽवगतेऽपि विधिशेषानुमानादित्यर्थः। मध्यममादाविति। मध्यमोत्तमपुरुषलिङोरिष्टसाधनताबोधकत्ववैधुर्यादित्यर्थः। अन्यत्रेति। आज्ञाध्येषणादौ पुमभिप्रायस्यैव लिङाभिधानादित्यर्थः। निषेधेति। अभिप्रायस्य लिङर्थतामन्तरेण न कलञ्जं भक्षयेदित्यादिनिषेधानाम् अनुपपत्तेश्चेत्यर्थः।

प्रकाशः– तदुपपादयति–हेतुत्वादिति। अनुमानादिति। विधेरिति शेषः। मध्यममादाविति। मध्यमपुरुषोत्तमपुरुषलिङ इष्टसाधनतावियोगादित्यर्थः। अन्यत्रेति। आज्ञाऽध्येषणादौ लिङ इच्छाविषयत्वकल्पनात्। लिङ्मात्रस्य तथौचित्यादित्यर्थः। निषेधेति। सर्वत्र विधिप्रकारेषु न हन्यादिति निषेधानुपपत्तेरित्यर्थः। हेतुत्वादिति व्याचष्टे अग्निकाम इति। लिङैवेष्टसाधनत्वाभिधाने यतस्तन्मथनादिति हेत्वभिधानं व्यर्थमित्यर्थः। अनुमानादिति विवृणोति तरतीति। लिङेष्टसाधनताऽभिधाने विधेरनुमानं व्यर्थं, तदर्थस्य वाक्यादेव प्रतीतेरिति तदन्य एव लिङर्थ इत्यर्थः। मध्यममादाविति व्याचष्टे कुर्य्या इति। तवेदमिष्टसाधनमतः कुर्य्याः, ममेदमिष्टसाधनमतः कुर्यामिति व्यवहारान्मध्यमपुरुषादौ सङ्कल्प एव लिङर्थ इत्यर्थः। अन्यत्र क्लृप्तसामर्थ्यादिति विवृणोति सर्वत्रेति। अन्तिमं हेतुं व्याचष्टे न चेति।

अभिधानप्रयोजना संप्रश्नः। लाभेच्छा प्रार्थना। शुभाशंसनमाशीरिति।

न च विधिविकल्पेषु निषेध उपपद्यते। तथा हि – यदाऽभिधा विधिः, तदा न हन्यात् हननभावना नाभिधीयते इति वाक्यार्थो व्याघातान्निरस्तः। यदा कालत्रयापरामृष्टा भावना, तदा नेति संबन्धाऽत्यन्ताभावो मिथ्या। यदा कार्यं, तदा न हन्यात् न हननं कार्यमित्यनुभवविरुद्धम्। क्रियत एव यतः। न हननेन कार्यं हननकारणकं

आमोदः- अभिधानेति। जिज्ञासिताभिधानप्रयोजिकेत्यर्थः। शुभाशंसनमिति। पुत्रादिगतसुखित्वाद्यभिप्राय इत्यर्थः। निषेधानुपपत्तितः इति व्याचष्टे न चेति। व्याघातादिति। लिङा हननभावनाय अभिहितत्वात् तस्या एव *त्वन्मते* लिङर्थत्वादित्यर्थः। वर्तमानत्वाभ्युपरक्ता भावना लडाद्यर्थः। कालत्रयापरामृष्टो लिङर्थ इति मतं दूषयति यदेति। हननगोचरा भावना कालत्रयेऽपि नास्तीति हननगोचरकृतेरत्यन्ताभावोऽर्थः पर्यवस्येत्, स च नास्ति केनचिद्धननकरणादित्यर्थः। कार्यताविधिपक्षे निषेधानुपपत्तिमाह यदेति। क्रियत इति। हननस्य कृतिगोचरत्वानुभवादित्यर्थः। ननु यागविषयकं कार्यम् इत्यनु यो यजेतेत्यत्र यथा प्रतीयते तथा नञर्थान्वयस्तत्रैव स्यात्, तेन हननजन्यं कार्यं नास्तीत्यन्वयः स्यादित्याह हननेति।

प्रकाशः- न हन्यादिति। निषेधेन सह हननान्वये हननाभावविषया भावना तदर्थः स्यात्। तत्र च विधिवैयर्थ्यं,हननप्रागभावात्यन्ताभावयोरसाध्यत्वात्। हननभावना नास्तीत्यन्वयस्तु न सम्भवति, बाधात्। ततो हननविषयभावनाऽभिधाया निषेधो वाच्यः, तत्राह व्यापारादिति। अभिधाविधिवादिनां हन्यादिति पदं हननभावनाऽभिधायकमेवेति तन्निषेधे व्याघात इत्यर्थः। यद्यपि *भट्टाना*मभिधा न सङ्केतः किन्तु शक्यनिष्ठं धर्मान्तरं, तथापि सिद्ध्यसिद्धिव्याघाताभ्यां तन्निषेधो न शक्य इति भावः।

यदा कालत्रयापरामृष्टा भावनेत्यत्र विधिरित्यनुषज्यते। एवमुत्तरत्र। कदाचिद्धननभावनायाः सत्त्वात्तन्निषेधस्यात्यन्ताभावरूपत्वं नास्तीत्याह तदा नेतीति। कार्यताविधिपक्षे निषेधानुपपत्तिमाह यदा कार्यमिति। यद्याख्यातेन नञन्वयः, तदा हनने कृतिसाध्यत्वकृत्युद्देश्यत्वयोरुभयोरपि सत्त्वान्निषेधो बाधित

मकरन्दः- यद्यपीति। तथा च नोक्तव्याघातः, वाच्यवाचकभाव-सम्बन्धात्मकाभिधापक्ष एव तत्सम्भवादिति भावः।

कार्यं नास्तीत्यर्थ इत्यपि नास्ति। दुःखनिवृत्तिसुखाप्त्योरन्यतरस्य तत्र सद्भावात्। हननकारणकमदृष्टं नास्तीत्यर्थ इति तु निरातङ्कं दृष्टार्थिनं प्रवर्तयेदेवेति साधु शास्त्रार्थः। अहननेनापूर्वं भावयेदिति त्वशक्यम्। कारणस्यानादित्वेन कार्यस्यापि तथाभावप्रसङ्गात्। भावनायाश्च तदविषयत्वात्। अहननसङ्कल्पेनेति यावज्जीवमविच्छिन्नतत्सङ्कल्पः स्यात्। सकृत् कृत्वैव वा निवृत्तिः। पश्चाद्धन्यादेवाविरोधात्। सम्पादितो ह्यनेन नियोगार्थः।

आमोदः– हननजन्यं कार्यं दर्शयति दुःखेति। ननु कार्यसामान्यं न लिङर्थः, किन्तु कार्यत्वेन रूपेणापूर्वं तत्राह हननेति। अत्र धर्मनिषेधो यदि वाक्यार्थः, तदा तदभावेऽपि भोजनप्रवृत्तौ रन्धने प्रवृत्तिः स्यादेव। यदि स्वधर्मनिषेधस्तदा निःशङ्कं प्रवर्तेतेत्यर्थः। नित्यापूर्ववन्निषेधापूर्वमपि स्वतः पुरुषार्थ इत्यहननेनापूर्वं भावयेदित्यभिमतं चेत्तत्राह अहननेनेति। हननप्रागभावस्यानादित्वादपूर्वमप्य-नादीत्यर्थः। नन्वहननप्रागभावविषया भावनाऽपूर्वं भावयेदित्यर्थः स्यात् इत्यत आह भावनाया इति। प्रागभावविषया भावना न भवतीत्यर्थः। क्षेमसाधारणं कृतिसाध्यत्वं नास्तीत्यभिमानः सङ्कल्पविपक्षे निषेधानुपपत्तिमाह अहननेति। अहननसङ्कल्पेनापूर्वं भावयेदित्यर्थे यावज्जीवमहननगोचरः सङ्कल्पो यदि विवक्षितस्तदा विषयान्तरसञ्चारो न स्यादेव। यदि च कादाचित्क एव अहनन सङ्कल्पो विवक्षितः, तदा न हन्यामित्येकदाकृतसंकल्पस्यापूर्वोत्पत्त्या कृतकृत्यस्य कालान्तरे हननप्रवृत्तिः स्यादेवेत्यर्थः। नियोगार्थ इति। विध्यर्थ

प्रकाशः– इत्यर्थः। हननस्य कार्यमाह दुःखनिवृत्तीति।

निरातङ्कमिति। अत्र किं सुकृतापूर्वस्य निषेधः, दुरितापूर्वस्य वा? आद्ये धर्मानुत्पादेऽप्यधर्मोत्पादकमानाभावाद् दृष्टफलार्थी हनने प्रवर्त्तेत। अन्त्ये च सुतरां प्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः। अथ नञा धात्वर्थान्वयः, तत्राह अहननेति। कारणस्येति। हननप्रागभावस्यानादित्वादनाद्यपूर्वं स्यादित्यर्थः। ननु हननप्रागभावविषया भावनाऽपूर्वमुत्पादयिष्यतीत्यत आह भावनायाश्चेति। प्रागभावस्तदा भावनाविषयः स्यात्, यदि तत्स्वरूपं भावनासाध्यं स्यात्; न चैवमित्यर्थः। सङ्कल्पविधिपक्षे निषेधानुपपत्तिमाह अहननेति। सर्वदा किमहननसङ्कल्पेनापूर्वं भावयेदित्यर्थः। यदा कदाचिद्वा? आद्ये, यावज्जीवमिति। अन्त्ये, सकृदिति। नियोगार्थो विध्यर्थः।

यावद् यावद्धननसङ्कल्पवान् तावत्तावद्विपरीतसङ्कल्पेनापूर्वं भावयेदिति वाक्यार्थः। तथाभूतस्याधिकारित्वादित्यपि वार्तम्। तदश्रुतेः। प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यते नाप्रसक्तमिति चेत्, न वै किञ्चिदिह प्रतिषिध्यते। तदभावः प्रतिपाद्यते इति निषेधार्थः। अहननकरणकमपूर्वं वाक्यार्थः।

किञ्च न हन्यादिति अहननेनापूर्वस्य कर्तव्यताप्रत्ययो जातो वेदात्। जातश्च हननक्रियायां रागात्। निष्फलाच्च कार्यादपेक्षितफलं गरीय इति न्यायेन हन्यादेवेत्यहो वेदव्याख्याकौशलमास्तिक्याभिमानिनो *मीमांसक*दुर्दुरूढस्य।

आमोदः- इत्यर्थः। ननु न सार्वदिकं सङ्कल्पं ब्रूमो, न वा यदा कदाचित् सङ्कल्पं किन्तु यदा हननमिच्छति तदा तदा न हन्यादिति विपरीतसङ्कल्पेनापूर्वं भावयेदिति योगार्थं शङ्कते **यावदिति**। **वार्तं** तुच्छम्। **तदश्रुतेरिति**। न हन्यादिति वाक्यादेतदर्थ स्याप्रतीतेरित्यर्थः। ननु निषेधबलादेवायमर्थः कल्पनीयः। प्रसक्तं हि प्रतिषिद्ध्यते प्रसङ्गश्चेच्छैव। तथा च तद्विपरीतेच्छा कथं नार्थः स्यादिति शङ्कते **प्रसक्तमिति**।

निराकरोति **नेति**। हननेच्छा न निषिध्यते तस्याः स्वरसवाहित्वात्, किन्तु पर्युदासनञा तद्विपरीतेच्छा अभिधीयत इति तदभावप्रतिपत्तिरार्थीति *तवा*नुमतमित्यर्थं। नञ्पदार्थं दूषयित्वा वाक्यार्थं दूषयति **इह त्विति**। हननसङ्कल्पविपरीत सङ्कल्पोऽत्राहननसङ्कल्पः हननसङ्कल्पविपरीतसङ्कल्पेन यदपूर्वं जन्यं न हि तत् सुखं सुखसाधनं वा अदैक्षपशुहननेन तत्तन्मांसभक्षणादिजन्यं सुखमिति सफलत्वात् हननमेव कुर्यात्, न तु कदाचिन्निवर्तेत इत्याह- **न हन्यादिति**।

प्रकाशः-**विपरीतेति**। अहननसङ्कल्पेनेत्यर्थः। **तथाभूतस्येति**। प्रवृत्तिमत एव निषेधापूर्वेऽधिकारादित्यर्थः। **तदश्रुतेरिति**। हननसङ्कल्पवतो विपरीतसङ्कल्पकत्वाश्रुतेरित्यर्थः। ननु प्रसक्तं हननं निषेध्यं, प्रसङ्गश्च तत्करणसङ्कल्प एव, इच्छाया एवाद्यप्रवृत्तित्वादित्यश्रुतमपि तल्लभ्यते इत्याह **प्रसक्तमिति**। नात्र हननं निषिध्यते, किन्तु हननाभावसङ्कल्पकारणकमपूर्वं विधीयते इत्याह **न वै किञ्चिदिति**।

किञ्चेति। अपूर्ववाच्यत्वेऽपि 'न कलञ्जं भक्षयेदि'त्यादितः कलञ्ज-भक्षणाभावविषयकमपूर्वमवगम्यापि तदभावे न प्रवर्त्तेत। तथाहि कलञ्जभक्षणे

मकरन्दः- **यावज्जीवमिति**। न च तत्सम्भवति, सुषुप्त्यादिदशायां तद्विच्छेदादिति भावः। ननु प्रवृत्तिमतो निवृत्तिनियोगाधिकारात् प्रसङ्गः प्रवृत्तिः न तु सङ्कल्प इत्यत आह **इच्छाया एवेति**। आद्या प्रवृत्तिरिच्छैवेत्यभिधानादिति भावः।

इष्टसाधनतापक्षेऽपि न हन्यात् न हननभावना इष्टाभ्युपाय इति वाक्यार्थः। तथा चानिष्टसाधनत्वं कुतो लभ्यते? न हीष्टसाधने यन्न भवति तदवश्यमनिष्टसाधनं दृष्टमुपेक्षणीयस्यापि भावात्। यत् रागादिप्रसक्तं प्रतिषिध्यते तदवश्यमनिष्टसाधनं दृष्टम्। यथा सविषमन्नं न भुञ्जीथा इति। तेन वेदेऽप्यनुमास्यते इत्यपि न साधीयः। प्रतिषेधार्थस्यैव चिन्त्यमानत्वात्।

न हि कर्तव्यत्वस्येष्टसाधनत्वस्य भावनाया वा अभावः प्रतिपादयितुं शक्यते। लौकिकानां लौकिकप्रमाणसिद्धत्वात्। तथापि प्रतिपाद्यते

आमोदः– स्वपक्षमवतारयितुं *साम्प्रदायिकं* पक्षं दूषयति इष्टेति। कुतो लभ्यत इति। येन निवृत्तिः स्यादिति शेषः। ननु इष्टानिष्टे द्वे एव कोटी, तेनैककोटिनिषेधे द्वितीयैव पर्यवस्येत्। तथा चानिष्टसाधनमिदमिति प्रतिसन्धाय कुतो न निवर्तेतेत्याह न हीति। उपेक्षणीयस्य तृतीयकोटेः सत्त्वान्नैवमित्यर्थः। ननु कलञ्जभक्षणं हननं वा रागप्राप्तं प्रतिषिध्यते चेदायातं तदनिष्टसाधनमित्यर्थः। यदिति। कलञ्जभक्षणादिनिषेधोऽत्र नञर्थः। किन्तु लिङसमभिव्याहृतताया नञो लिङर्थ एव निषेध्यो लिङर्थश्च कर्तव्यत्वाद्यन्यतम एव मतभेदेन तन्निषेधश्चाशक्य इत्यर्थः। ननु योग्यमपि शब्दमहिम्ना क्वचिद् भासत एवेत्याह तथापीति। तथा चायातं यत् प्रसक्तं

प्रकाशः– रागादस्य कर्त्तव्यताबुद्धिर्जाता, शब्दाच्च भक्षणाभावे। निष्फलाच्च कार्यात् सफलं गरीय इति न्यायेन सुखहेतौ भक्षण एव प्रवर्त्तेत, न तदभावे, तस्य निष्फलत्वात्। न च निषेधापूर्वमेव फलं तस्य सुखदुःखाभावान्यतया पण्डत्वेन तदजनकतया च गौणमुख्यप्रयोजनत्वाभावात्।

अथ प्रवृत्तिमतो निवृत्तिनियोगाधिकार इति यदा भक्षणे प्रवृत्तिस्तदा तन्निषेधे शब्दकार्यज्ञानात्तद्विपरीतप्रयत्ने जनिते रागान्न क्रियोत्पत्तिः, तेनैव प्रतिबन्धादिति चेत्। निवृत्तिकार्यताज्ञानेऽपि निष्फलत्वे निवृत्तौ प्रयत्न एव नोत्पद्यते, यस्य प्रतिबन्धकता स्यात्। न च शास्त्रस्थस्य शास्त्रजकर्त्तव्यताज्ञानं बलवदिति वाच्यम्। तस्य सफलविषयत्वादेवास्य च निष्फलविषयत्वात्। अथ कलञ्जभक्षणस्य निन्दार्थवादेन बलवदनिष्टसाधनत्वज्ञानात् तद्भक्षणे न प्रवर्त्तते इति चेत्। एवमपि कलञ्जभक्षणे न प्रवर्त्ततां, तदभावेऽपि निष्प्रयोजनत्वेनाप्रवृत्तौ किमायातमित्यर्थः।

तथा चेति। वस्तुतः शत्रुहननभावनायाः कलञ्जभक्षणभावनायाश्चेष्टसाधनत्वमस्त्येवेति भावः। अतएव वक्ष्यति न हीति। अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हीति न्यायेनाह तथापीति।

तावदिति चेन्न। पाषण्डागमनिषेधेनानैकान्तात्। नासौ प्रमाणमिति चेन्न। अर्थविपर्ययप्रतिपादनाविशेषेऽस्यापि तथाभावात्। तात्पर्यतः प्रामाण्यमिति चेन्न। विधिनिषेधयोरनन्यपरत्वात्। 'न विधौ परः शब्दार्थ' इति वचनात्। तथापि निषेधे तथा भविष्यतीति चेन्न।

आमोदः–प्रतिषिध्यते तदवश्यमनिष्टसाधनमिति भावः। भावार्थे दूषणमाह **पाषण्डेति**। दैक्षपशुहिंसा पाषण्डागमे निषिद्धा, न तु तस्या अनिष्टसाधनत्वमिति व्यभिचार इत्यर्थः। ननु प्रमाणशब्देन यत् प्रसक्तं प्रतिषिध्यते तदनिष्टसाधनमिति व्याप्तिः पाषण्डागमश्च न तथेति न व्यभिचार इत्याह **नासाविति**। परिहरति **नेति**। अर्थविपर्ययोऽत्रायोग्योऽर्थः। तथा चायोग्यार्थप्रतिपादकतया निषेधबोधकागमोऽप्ययम प्रमाणमेवेत्यर्थः। ननु वेदत्वेन निषेधकवाक्यं तावत् प्रमाणमेव, तथा चेष्टसाधनत्वनिषेधरूपमुख्यार्थबाधात् गङ्गायां घोष इति च लक्षणयाऽनिष्टसाधनपरं स्यादित्याह **तात्पर्यत इति**। स्तुत्यर्थवादानां विधिपरत्वं निन्दार्थवादानां च निषेधपरत्वं सम्भवति, न तु विधिनिषेधवाक्यानामपीत्याह **विधीति**। अत्र प्रमाणमाह **न विधाविति**। ननु विधौ मा भवतु, वचनान्निषेधे तत् स्यादेवेत्याह **तथापीति**। यत्राविनाभावो यत्र च तात्पर्येण प्रयोगस्तत्रैव लक्षणा, प्रकृते चेष्टसाधन

प्रकाशः–प्रसक्तैव हिंसा यागादिविषया पाषण्डेन प्रतिषिध्यते, न च सा अनिष्टसाधनमिति व्यभिचार इत्याह **पाषण्डेति**। **नासाविति**। प्रमाणत्वेन हेतुर्विशेष्य इत्यर्थः। प्रमाणबाधितार्थविषयत्वेन पाषण्डागमस्येव न हन्यादित्यस्याप्य-प्रमाणत्वादित्याह **अर्थेति**। ननु गङ्गायां घोष इत्यस्येव न हन्यादित्यस्याप्यर्थान्तरे निषिध्यमानानिष्टसाधनत्वरूपे तात्पर्यादबोधकत्वं स्यादित्याह **तात्पर्यत इति**। अर्थवादवचनानामन्यत्र विधौ तात्पर्यं न तु विधिवचनस्येत्यभ्युपगमात् तदनुरोधेनान्यत्र लक्षणा युक्ता न तु तत्रैवेत्याह **न विधाविति**। भावविधावेव तथा न तु निषेधविधावपीत्याह **तथापीति**। यत्र लक्षणीयार्थेनाविनाभावस्तदुद्देशेन प्रयोगश्च तत्रैव लक्षणा, न च न हन्यादिति वाक्यमन्यपरत्वेन प्रयुक्तं, न वाऽनिष्टसाधनत्वेना

मकरन्दः– अत एव न हि कर्त्तव्यत्वस्येष्टसाधनत्वस्य वा अभावः प्रतिपादयितुं शक्यते इति वक्ष्यतीत्याह **न हीति**। **समास एवेति**। यद्यपि न घटः पट इत्यादौ व्यासेऽपि पर्युदासवृत्त्या तदितरपरत्वमस्त्येव, तथापि *शब्दप्रकाश*ोक्तमनुसन्धेयम्। यागो मदिष्टसाधनमित्याद्यनुमानं *शब्दप्रकाशे* विपञ्चितमनुसन्धेयम्।

अविनाभावतदुद्देशप्रवृत्त्योरभावात्। नाप्यसुरा अविद्यादिवदस्य नञो विरोधिवचनत्वम्, क्रियासंगतत्वात्, असमस्तत्वाच्च।१४।

तस्माद्,

विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः।
अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तुरिष्टाभ्युपायता।।१५।।

तत्र स्वयङ्कर्तृकक्रियेच्छाभिधानं कुर्यामिति। सम्बोध्यकर्तृकक्रियेच्छाभिधानं कुर्या इति। शेषकर्तृकक्रियेच्छाऽभिधानं कुर्वीतेति।

आमोदः– निषेधानिष्टसाधनत्वयोरविनाभावाभावात् उपेक्षणीये व्यभिचारस्य दर्शितत्वात्। न वा इदं वाक्यं तत् तात्पर्येण प्रयुक्तमित्यत्र किञ्चिन्नियामकमिति परिहरति **अविनाभावेति**। ननु पर्युदासनञाऽनिष्टसाधनत्वमभिधीयतामत आह **नापीति**। क्रियां सङ्गतस्यासमस्तस्य च नञपदस्य प्रसज्यप्रतिषेधमात्रार्थत्वात्। 'यजतिषु ये यजामहं कुर्यात्, नानुयाजेष्वि'त्यत्र समस्तस्यापि वाक्यभेदभयेन पर्युदासार्थत्वकल्पनमिह तु न तथेति भावः।।१४।।

नियोक्तृधर्मो वेति यद्विकल्पितं तत्र स्वाभिमतमाह **तस्मादिति**। विधिः परम्परया प्रवर्तको वक्तुरभिप्रायः। **प्रवृत्त्यादाविति**। प्रवृत्तौ निवृत्तौ चेत्यर्थः। ननु वक्त्रभिप्रायमात्रज्ञानात् कथं प्रवृत्तिनिवृत्ती इत्यत आह **अनुमेयेति**। **इष्टाभ्युपायतेत्युपलक्षणम्**, अनिष्टाभ्युपायतेत्यपि द्रष्टव्यम्। सर्वत्र लिङ इच्छाभिधानमित्याह **तत्रेति**। **शेषः** स्वभिन्नः संबोध्यभिन्नः, अलौकिकवाक्यस्य

प्रकाशः– विनाभाव इत्याह **अविनाभावेति**। ननु यथा असुरादिपदे न निषेधो नञर्थः किन्तु तदन्यद्विरोधि, तथात्रेष्टसाधनविरोध्यनिष्टसाधनमर्थः स्यादित्यत आह **नापीति**। क्रियासङ्गतस्य नञः प्रसज्यप्रतिषेधवाचकत्वात् समास एव। तस्य पर्युदासवृत्त्या तदितरविरोधिपरत्वादित्यर्थः।१४।

नियोक्तृधर्मो वेत्यभिमतं पक्षमुपसंहरति **विधिरिति**। प्रवृत्त्यादावित्यादि पदान्निवृत्तिः। विषयसप्तमीयम्। तेन प्रवृत्तिनिवृत्तिविषय आप्ताभिप्रायो लिङर्थ इत्यर्थः। प्रवर्त्तकमिष्टसाधनताज्ञानमेव लिङर्थस्त्वाप्ताभिप्रायो लाघवादिति भावः। वक्त्रभिप्रायस्य विधित्वे कुर्यामित्यादावर्थभेदमानुभविकमुपपादयति **तत्रेति**।

स्वर्गकामो यजेतेत्यस्य स्वर्गकामकृतिसाध्यतया यागो यागयत्नो वा आप्तेष्ट इत्यर्थः। ततो यो व्यापारो यस्य कृतिसाध्यतया यद्व्यापारविषयः प्रयत्नो वा यस्याप्तेनेष्यते, स तस्य बलवदनिष्टानुबन्धीष्टसाधनमिति व्याप्तिग्रहाद्

तथा चा'ग्निकामो दारुणी मथ्नीयादि'त्यस्य लौकिकवाक्यस्यायमर्थः सम्पद्यते – 'अग्निकामस्य दारुमथने प्रवृत्तिर्ममेष्टे'ति। ततः श्रोताऽनुमिनोति, नूनं दारुमथनयत्नोऽग्नेरुपाय इति। यद्विषयो हि प्रयत्नो यस्याप्तेनेष्यते, स तस्यापेक्षितहेतुः। तथा तेनावगतश्च, यथा ममैव पुत्रादेर्भोजनविषय इति व्याप्तेः।

'विषं न भक्षयेदि'त्यस्य तु – 'विषभक्षणगोचरा प्रवृत्तिर्मम नेष्टे'त्यर्थः। ततोऽपि श्रोतानुमिनोति, नूनं विषभक्षणभावना अनिष्टसाधनम्। यद्विषयो हि प्रयत्नः कर्तुरभिमतसाधकोऽप्याप्तेन नेष्यते, स ततोऽधिकतरानर्थहेतुः। तथा तेनावगतश्च, यथा ममैव पुत्रादेः क्रीडाकर्दमविषभक्षणादिविषय इति व्याप्तेः।

आमोदः– नियोक्तुरभिप्रायार्थत्वे यथा प्रवर्तकत्वं तथाह तथा चेति। निवृत्तिस्थले ऽनुमितिप्रकारमाह विषमिति। यस्य यो यत्नो यदाप्तेनेष्यते स तस्य बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनं, यद्विषयस्तु यत्नो यदाप्तेन नेष्यते तत्तस्य बलवदनिष्टसाधनमिति व्याप्तिद्वयम्। तथा च यागयत्नो मदिष्टसाधनं मदाप्तेनेष्यमाणत्वात्, भुङ्क्ष्व चेत्यत्र भोजनवत्, निवृत्तौ तु कलञ्जभक्षणं मम बलवदनिष्टसाधनं मत्कृतिसाध्यत्वे मदिष्टसाधनत्वे च सत्यपि मदाप्तेना निष्यमाणत्वात्। सविषमन्नं न भुङ्क्ष्वेत्यत्र सविषान्नभक्षणवत् कलञ्जभक्षणयत्नो वा पक्षः। सविषान्नभक्षणगोचरयत्नो दृष्टान्तः, इष्टसाधनत्वादिकं साक्षात्प्रवर्तकमपि

प्रकाशः–यागस्येष्टसाधनत्वमनुमिनोति। तथाहि – यागो मदिष्टसाधनं मत्प्रयत्न-विषयतया मदाप्तेष्यमाणत्वात्, यथा मत्पित्रा मत्प्रयत्नविषयतया इष्यमाणं भोजनं मदिष्टसाधनम्। न कलञ्जं भक्षयेदित्यस्य कलञ्जभक्षणं मम बलवदनिष्टसाधनं मदिष्टसाधनत्वे सत्यपि मदाप्तेन मत्प्रयत्नविषयतयाऽनिष्यमाणत्वात्। यथा मत्पित्रा मत्प्रयत्नविषयतयाऽनिष्यमाणं मधुविषसम्पृक्तान्नभोजनं ममानिष्टसाधनम्।

लिङादीनां साक्षात् प्रवर्त्तकज्ञानजनकत्वे बाधकाभावान्न परम्पराजनकत्वमिति न वाच्यम्। अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्त्वनियमे कर्त्रादेरिवान्यलभ्यत्वस्य हेतुत्वादित्यादेश्च बाधकत्वात्। त्वयापि स्वकृतिसाध्येष्टसाधनतामन्तरानुमापयता शब्दस्य साक्षात् प्रवर्त्तकत्वानङ्गीकाराच्चेति भावः।

मकरन्दः– हेतुत्वादित्यादेश्चेति। हेतुत्वादनुमानाच्चेत्यादेश्चेत्यर्थः।

लौकिके एव वाक्येऽयं प्रकारः कदाचिद्बुद्धिमधिरोहति न तु वैदिकेषु, तेषु पुरुषस्य निरस्तत्वादिति चेन्न। निरासहेतोरभावात्। तदस्तित्वेऽपि प्रमाणं नास्तीति चेत्, मा भूदन्यत्, विधिरेव तावद् गर्भ इव पुंयोगे प्रमाणं श्रुतिकुमार्याः, किमत्र क्रियताम्? लिङो वा लौकिकार्थातिक्रमे य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एव चैषामर्था इति विप्लवेत। तथा च 'जबगडदशा'दिवदनर्थकत्वप्रसङ्ग इति भव सुस्थः।

आमोदः– न लिङादिवाच्यमन्यलभ्यत्वात्। पुमभिप्रायस्त्वन्यलभ्य इति नासौ पुमभिप्राय इति, स एव लिङर्थ इति भावः। कदाचिदिति। तत्रापि क्रियेष्टसाधनत्वादिरेव लिङर्थ इत्यर्थः। निरस्तत्वादिति। सङ्कल्पविधिनिरासेन निरस्तत्वादित्यर्थः। निरासहेतोरिति। तत्र नियोज्यस्य इच्छा लिङर्थत्वेन निरस्ता, न तु नियोक्तुरिच्छेत्यर्थः। ननु यदि नियोक्ता कश्चित् प्रमाणगोचरः स्यात्तदा इच्छा लिङर्थत्वेन निरस्ता, न तु नियोक्तुरिच्छेत्यर्थः। ननु यदि नियोक्ता कश्चित् प्रमाणगोचरः स्यात्तदा तदिच्छा लिङाद्यर्थः स्यात्, स एव नास्तीत्याह तदस्तित्व इति। मा भूयादन्यदिति। प्रमाणमित्यनुषङ्गः। विधिरेव तावदिति। प्रमाणमित्यनुषङ्गः। विधिर्विधायके पुमभिप्रायवाचकलिङादिसमभिव्याहृतमीश्वरमन्तरेणानुपपद्य मानमीश्वरेण प्रमाणमित्यर्थः। विधिः पुमभिप्रायो वा यजेतेत्यादेरपौरुषेयत्वे पुमभिप्रायो लिङादिवाच्योऽनुपपन्न एव स्यात्। एतावता परिशेषेण तदभिधानस्यैव प्रामाणिकत्वादित्यर्थः। प्रमाणान्तरमाह लिङो वेति। लौकिकलिङामिच्छार्थत्वे व्यवस्थितेऽन्यत्रापि तथैव कल्पनादित्यर्थः।

प्रकाशः– विधिरेवेति। नन्वेवमन्योन्याश्रयः, न वा लाघवं तात्पर्यगौरवात्। ईश्वराद्यनन्तकल्पनापत्तेश्च। मैवम्। लोके आप्ताभिप्राये लिङः शक्तिग्रहाद्वेदे परिशेषादीश्वराभिप्राये पर्यवसानात्। न तु तत्रैव शक्तिः। यथा तवैव कार्यशक्तस्य लिङादेरपूर्वे पर्यवसानम्। फलमुखञ्च गौरवं न दोषाय। शक्तिग्रहकाले सिद्ध्यसिद्धिपराहतत्वात्, ईश्वरे मानान्तरोपदर्शनाच्चेति भावः।

एतदेवाभिप्रेत्याह य एवेति। लोकदृष्टा एव पदार्था वेदे प्रत्यभिज्ञायमानाः कथमन्य इत्यर्थः। अनर्थकत्वेति। गृहीतसङ्गतेर्लौकिकपदादन्यत्वेना

स्यादेतत्, तथापि वक्तृणामुपाध्यायानामेवाभिप्रायो वेदे विधिरस्तु, कृतं स्वतन्त्रेण वक्त्रा परमेश्वरेणेति चेन्न। तेषामनुवक्तृतयाभ्यासाभिप्रायमात्रेण प्रवृत्तेः शुकादिवत्तथाविधाभिप्रायाभावात्। भावे वा न राजशासनानुवादिनोऽभिप्राय आज्ञा, किं नाम राज्ञ एवेति लौकिकोऽनुभवः।१५।

श्रुतेः खल्वपि –

कृत्स्न एव हि वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः।
स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद्विधौ।।१६।।

न सन्त्येव हि वेदभागा यत्र परमेश्वरो न गीयते। तथा हि – स्रष्टृत्वेन पुरुषसूक्तेषु, विभूत्या रुद्रेषु शब्दब्रह्मत्वेन मण्डलब्राह्मणेषु, प्रपञ्चं पुरस्कृत्य निष्प्रपञ्चतयोपनिषत्सु, यज्ञपुरुषत्वेन मन्त्रविधिषु, देहाविर्भावैरुपाख्यानेषु, उपास्यत्वेन च सर्वत्रेति।

सिद्धार्थतया न ते प्रमाणमिति चेन्न। तद्धेतोः कारणदोष–

आमोदः– ईश्वरसिद्धावन्यथासिद्धिं शङ्कते स्यादेतदिति। परिहरति नेति। तेषां नियोज्यप्रवृत्तिनिवृत्तितात्पर्यकोच्चारणाभावादित्यर्थः। ननु किमत्र प्रमाणमित्यत आह भावे वेति। वेदस्य पौरुषेयत्वव्यवस्थापनादिति भावः।१५।

पूर्वं लिङ्विधया श्रुतेः प्रमाणत्वमुक्तं, सम्प्रति शब्दविधयैव श्रुतिः प्रमाणमित्याह श्रुतेरिति। न गीयते न विषयीक्रियते। स्रष्टृत्वेनेति। *तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयतोदत* इत्यादिषु पुरुषसूक्तेषु। रुद्रेषु–*नमो विरूपेभ्यः* इत्यादिषु। *उपनिषत्सु– अतमोऽवायुरनाकाशमित्यादिषु।* मन्त्रविधिषु–*इदं विष्णुर्विचक्रमे* इत्यादिषु। उपाख्यानेषु– मत्स्यकूर्मवराहाद्यवतारकथासु, पुरुषसूक्तावपि स्रष्टृत्वविभूत्यादिप्रतिपादनमुपास्यत्वतात्पर्यकमेवेत्याह उपास्यत्वेनेति। पुरुषसूक्तादीनां कार्योपस्थापकपदसमभिव्याहाराभावाव्यवहारविरहेण तत्र शक्तिग्राहकाभावान्न ते प्रमाणानीत्याह सिद्धार्थतयेति। शब्दाप्रामाण्यप्रयोजको

प्रकाशः– गृहीतसङ्गतित्वादित्यर्थः। तेषामिति। उपाध्यायवंशानामतीन्द्रियार्थ-ज्ञानाभावात्तत्रेच्छा न सम्भवतीति शुकादीनामिव तावत्पदज्ञानात् विवक्षातश्चोच्चार-यितृत्त्वमात्रमित्यर्थः।१५। स्वार्थद्वारैवेति। मुख्यार्थाबाधात्तत्रैव *श्रुतेस्तात्पर्यमिति* नान्यपरत्वमित्यर्थः। सिद्धार्थतयेति। इदमत्राभिसंहितम्–व्यवहारत एवाद्या व्युत्पत्तिरूपायान्तरस्य

प्रकाशः– व्युत्पत्त्यधीनत्वात्। तथाहि प्रयोजकवाक्योच्चारणानन्तरं प्रयोज्यप्रवृत्तिमुपलभमानो व्युत्पित्सुः प्रेक्षावद्वाक्योच्चारणस्य प्रयोजनजिज्ञासायां तदन्वयाद्यनुविधानादुपस्थितत्वाच्च प्रयोज्यप्रवृत्तिमेव प्रयोजनमवधारयति।

तच्च तदनुकूलव्यापारं विनाऽनुपपद्यमानं कार्यताज्ञानमेव व्यापारं कल्पयति, स्वप्रवृत्तौ तस्यैव कारणत्वनिश्चयात्। एवञ्च तत्र शब्दस्य हेतुत्वमवधार्य तत्रैव शक्तिं कल्पयति, उपस्थित्वात्। पश्चादावापोद्वापाभ्यां क्रियाकारकपदानां कार्यान्विततत्तदर्थेषु शक्तिं गृह्णाति प्रथमं सामान्यतस्तत्रैव शक्तिग्रहादिति कार्यान्वित एव पदानां शक्तिरिति सिद्धार्थः शब्दो न प्रमाणम्।

अथाकाङ्क्षादेस्त्वयापि वाक्यार्थज्ञानहेतुत्वोपगमात् तत एव कार्यपदसमभिव्याहारात् कार्यत्वज्ञानसम्भवेनान्यलभ्यत्वान्न कार्यांशेऽपि शक्तिः। परम्परयाऽपि शब्दस्य कार्यत्वज्ञानानुकूलत्वादर्थापत्तेः परिक्षयात्। किञ्च कार्यत्ववाचिलिङादीनामाकाङ्क्षाद्युपेतपदार्थान्वितस्वार्थबोधकत्वस्यावश्यकत्वात् पदान्तराणामपि तथात्वमस्तु लाघवात्।

मैवम्। पदानां कार्यान्वितज्ञाने साक्षात्त्वस्यौत्सर्गिकत्वेन तथैव हेतुत्वस्य न्याय्यत्वात्। अन्वितपदार्थज्ञाने च हेतुत्वे परम्पराया अन्याय्यत्वात्। अर्थापत्तेः साक्षादुपपादकविषयत्वेन साक्षादुपपादके कार्यान्वितज्ञाने पदानां शक्तिकल्पनात्। लिङादीनां शक्तेरकल्पनादन्यलभ्यत्वतर्कस्याप्यभावात्। आद्यव्युत्पत्तेर्विचार्यत्वात्। न च कार्यवाचिलिङादीनां व्यभिचारः। कार्यत्वविशिष्टज्ञानजनकत्वं हि सर्वपदानाम्। तच्च कार्यान्वितस्वार्थप्रतिपादकतया इतरान्वितस्वार्थकार्यप्रतिपादकतया वेति न कश्चिद्विशेषः।

अथ सिद्धार्थेऽपि व्युत्पत्तिः सम्भवति। तथा हि उपलब्धचैत्रपुत्रजन्मा बालस्तादृशेनैव वार्त्ताहारेण समं चैत्रसमीपं गतः 'चैत्र! पुत्रस्ते जातः', – इति वार्त्ताहारवाक्यं शृण्वन् चैत्रस्य मुखप्रसादं पश्यन् श्रोतुर्हर्षमनुमिनोति, हर्षाच्च तत्कारणं पुत्रजन्मज्ञानं कल्पयति, उपस्थितत्वादुपपादकत्वादन्योपस्थितौ गौरवाच्च, तत्र वाक्यस्य कारणतां कल्पयति लाघवात्।

मैवम्। हर्षहेतूनां बहूनां सम्भवात् हर्षेणापि लिङ्गेन पुत्रजन्मज्ञानस्य बालेनानुमातुमशक्यत्वात्, प्रियान्तरज्ञानस्य परिशेषयितुमशक्यत्वात्। अत एव

मकरन्दः– साक्षात्त्वस्यौत्सर्गिकत्वेनेति। यथा च कार्यान्वितव्युत्पत्त्या साक्षात् कार्यान्वितज्ञानं नान्वितव्युत्पत्त्या, तथा *शब्दप्रकाशे* अनुसन्धेयम्।

शङ्कानिरासस्य भाव्यभूतार्थसाधारणत्वात्। अन्यत्रामीषां तात्पर्यमिति चेत्, स्वार्थप्रतिपादनद्वारा, शब्दमात्रतया वा? प्रथमे, स्वार्थेऽपि प्रामाण्यमेषितव्यम्। तस्यार्थस्यानन्यप्रमाणकत्वात्। अत एव तत्र तस्य स्मारकत्वमित्यपि मिथ्या। तत्प्रतिपादकत्वेऽपि न तत्र तात्पर्यमिति चेत्, स्वार्थापरित्यागे ज्योतिःशास्त्रवदन्यत्रापि तात्पर्ये को दोषः?

आमोदः- वक्तुर्भ्रमादि दोषः, स चेश्वरे नास्ति, तस्मादाप्तप्रणीतत्वेन साध्यार्थवत् सिद्धार्थस्यापि प्रामाण्यमस्त्येवेत्याह **तद्धेत्विति**। **अन्यत्रेति**। उपासनादावित्यर्थः। सिद्धार्थस्याप्रामाण्ये पुत्रस्ते जात इति वाक्यात् प्रमैव नोत्पद्यते। प्रमा नोत्पद्यत एवास्मादिति चेत्, हर्षहेतुकं पित्रादेर्दर्शनात् तत्र प्रमोत्पत्तेरन्वयनात्। हर्षहेतूनामानन्त्याच्च तत्रानुभवकल्पनमिति चेत्, न। उपस्थितहेतुपरित्यागे अनुपस्थितहेतुकल्पने गौरवात् **अमीषामिति**। सिद्धार्थानामित्यर्थः। **शब्दमात्रतया वेति**। *पुरुषसूक्ता*दिशब्दमात्रस्तोमभागवन्न तु स्वार्थप्रतिपादकमित्यर्थः। **तस्यार्थस्येति**। स्रष्टृत्वविभूत्यादिरूपस्येत्यर्थः। ननु सिद्धार्थाः स्मारयन्ति न त्वनुभावयन्ति इत्यत आह **तत एवेति**। तदर्थस्य प्रमाणान्तराविषयत्वेना नुभवादित्यर्थः। स्वार्थप्रतिपत्तेरनुभवत्वे बाधकाभावादिति भावः। ननु तात्पर्यार्थे शब्दस्य प्रामाण्यं न त्वक्षरार्थमात्रे इत्यत आह **तदिति**। स्वार्थे बाधकं चेन्नास्ति, तदान्यत्र तात्पर्ये को दोष इत्याह **ज्योतिःशास्त्रवदिति**। 'ऐन्द्रं दधि भवत्यमावास्यायाम्' इत्यादिविधाने वाऽमावास्यागणना शास्त्रस्य तात्पर्ये सत्यपि स्वार्थप्रतिपादकत्ववदित्यर्थः।

प्रकाशः-विधिशेषीभूतार्थवादानां स्वर्गादिपदशक्तिग्राहकाणाञ्च प्रवृत्तिपरत्वेन परम्परया कार्यान्वयात् कार्यान्वितस्वार्थबोधकत्वमिति। **तद्धेतोरिति**। साध्यार्थानामिव सिद्धार्थानामपि वक्तृदोषनिबन्धनाप्रामाण्यनिरासादित्यर्थः।

अन्यत्रेति। कार्ये तदन्विते च शब्दशक्तेरवधारणात् सिद्धार्थानामपि तत्रैव तात्पर्यमिति न मुख्येऽर्थे प्रामाण्यमित्यर्थः। **स्वार्थेति**। कार्ये तेषां तात्पर्यं किं प्रतिपाद्यमानसिद्धार्थान्वयपुरस्कारेण, किं वा स्वार्थमप्रतिपाद्येत्यर्थः।

प्रथमे इति। अबाधितं पदसमन्वयलभ्यमर्थमादायैव तेषां कार्यपरत्वात् स्वार्थेऽपि प्रामाण्यमवर्ज्जनीयमित्यर्थः। **ज्योतिःशास्त्रवदिति**। यथा ज्योतिःशास्त्रस्य वेदाङ्गस्य दर्शादिकालं स्वार्थमादायैव दर्शादियागविधौ तात्पर्यं,तथा सिद्धार्थवादानामपि स्वार्थं

अन्यथा स्वर्गनरकव्रात्यश्रोत्रियादिस्वरूपप्रतिपादकानामप्रामाण्ये बहु विप्लवेत। तत्राबाधनात्तथेति चेत्, तुल्यम्।

न तादृगर्थः क्वचित् दृष्ट इति चेत्, स्वर्गादयोऽपि तथा। तन्मिथ्यात्वे तदर्थिनामप्रवृत्तौ विधानानर्थक्यप्रसङ्ग इति चेत्, इहापि तदुपासनाविधानानर्थक्यप्रसङ्गः। तन्मिथ्यात्वे हि सालोक्यसायुज्यादिफलमिथ्यात्वे कः प्रेक्षावांस्तमुपासीतेति तुल्यमिति।

आमोदः– अन्यथेति। यद्यर्थवादानां प्रामाण्यं न स्यादित्यर्थः। व्रात्यः संस्कारहीनः। बहु विप्लवेतेति। स्वर्गनरकादिप्रतिपादकार्थवादाप्रामाण्ये यागादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्। परदारगमनादौ निवृत्तिश्च न स्यादित्यर्थः। ननु स्वर्गनरकादिबोधकागमे बाधो नास्ति, येन विप्लवः स्यात् इत्याह तत्रेति। तुल्यमिति। ईदृशप्रतिपादनेऽपि बाधाभावस्तुल्य इत्यर्थः। न तादृगर्थ इति। सर्वज्ञत्वादियुक्त इत्यर्थः। स्वर्गादय इति। दुःखासम्भिन्नसुखस्याप्यदर्शनं तुल्यमित्यर्थः। ननु विलक्षणं सुखं यदि न स्यात्, तदा यागाद्यनुष्ठानं न स्यात्। तथा च तदर्थकवेदभागस्याननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यमेव पर्यवस्येदित्याह तन्मिथ्यात्व इति। ईश्वरस्याप्यभावे 'ईश्वरमुपासीतेति' विधानानर्थक्यं तुल्यमेवेत्याह इहापीति। सालोक्यं समानलोकता, सायुज्यं सहयोगः।

प्रकाशः–प्रतिपादयतामेव कार्ये प्रामाण्यमित्यर्थः। अन्यथेति। यदि स्वार्थमप्रतिपाद्यैवान्यपरत्वमिति द्वितीयः कल्प इत्यर्थः। तादृश इति। *वेदान्त*बोध्यनित्यज्ञानादिरूप इत्यर्थः। इहापीति। ईश्वराभावे ईश्वरमुपासीतेत्यादिविधेरानर्थक्यप्रसङ्ग इत्यर्थः। सालोक्यं–समानलोकता। सायुज्यं–सार्वज्ञ्याणिमादिकम्। आदिपदात् सारूप्यादि।

अत्रापीदमभिप्रेतम्–यद्यर्थापत्त्या साक्षादुपपादक एव पदानां शक्तिः, तदा घटानयनकार्यताज्ञान एव पदशक्तिप्रसङ्गः,घटमानयेति वाक्यश्रवणानन्तरं प्रयोज्यस्य घटानयनप्रवृत्त्या घटानयनकार्यताज्ञानस्यैवानुमानात्। न तु कार्यान्वितज्ञानस्य, प्रवृत्तिविशेषे तस्याहेतुत्वात्।

अथ घटानयनक्रियायां प्रथमं क्रियात्वज्ञानात्प्रवृत्तिमात्रानुमानम्। तेन च कार्यान्वितज्ञानमनुमाय तत्र वाक्यमात्रस्य कारणतां गृहीत्वा शक्तिं कल्पयति। तदुत्तरं विशेषयोः कार्यकारणभावग्रह इति चेत् न। प्रथमं प्रवृत्तिमात्रकार्यान्वित

मकरन्दः–ननु सायुज्यं संयोगः, स च परमेश्वरेण शरीरस्य सर्वदा अयत्नसिद्ध एव, आत्मनस्तु न कदाऽपीत्यन्यथा व्याचष्टे सायुज्यमिति।

वाक्यादपि। संसर्गभेदप्रतिपादकत्वं ह्यत्र वाक्यत्वमभिप्रेतम्। तथा च यत्पदकदम्बकं यत्संसर्गभेदप्रतिपादकं, तत् तदनपेक्षसंसर्गज्ञानपूर्वकं, यथा लौकिकं, तथा च वैदिकमिति प्रयोगः। विपक्षे च बाधकमुक्तम्।१६।

आमोदः- यत्पदकदम्बकमिति। तज्ज्ञानपूर्वकमित्येतावति कृते वेदाधीनतज्ज्ञानपूर्वकास्मदाद्युच्चरितवेदे सिद्धसाधनमत उक्तम् तदनपेक्षेति। पदकदम्बत्वादित्येवात्र हेतुः। सर्गाद्यकालीन*वेदवाक्यं* तदर्थज्ञानजन्यं वाक्यत्वात्, अस्मदादिवाक्यवदित्यर्थः। कर्तृगुणाभावे वेदस्य प्रामाण्यमेव भज्येतेति विपक्षबाधकमाह विपक्ष इति।१६।

प्रकाशः- ज्ञानमात्रयोरनुमानं भवति क्रमेणेत्यत्र मानाभावात्। घटादिपदशक्तिग्रहस्य तेन विनापि सम्भवात्। न च सामान्ययोः कार्यकारणभावग्रहो विशेषयोस्तथात्वज्ञाने हेतुरिति वाच्यम्। विशेषयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तद्ग्रहात्। विशेषयोः कार्यकारणभावज्ञानं प्राथमिकमिति तन्मूलकः पदविशेषग्रह एव स्यात्। निष्प्रयोजनत्वेनान्तरानुमितौ मानाभावात्।

किञ्च ममेदं कार्यमिति ज्ञानं साक्षादुपपादकं प्रवृत्त्या स्वकारणत्वेनानुमितम्। अतस्तत्र शक्तिं गृह्णीयात्, साक्षादुपपादकविषयत्वात् कल्पनायाः। न त्विदं कार्यमिति ज्ञाने, तस्य साक्षादुपपादकोपपादकत्वात्। अथेदं कार्यमिति ज्ञानशक्त्यैव परम्परयानुमानद्वारा ममेदं कार्यमिति ज्ञानसम्भवादन्यलभ्यत्वे न तत्र शक्ति-कल्पनमिति तुल्यम्।

अपि च-अस्तु प्रथमं कार्यान्वितज्ञाने वाक्यस्य साक्षात् कारणताबोधात्तत्र शक्तिग्रहः। तथाप्यावापोद्वापाभ्यां पदविशेषस्येतरान्वितस्वार्थज्ञाने शक्तिं कल्पयति, लाघवात्। न तु कार्यत्वांशे, गौरवादन्यलभ्यत्वाच्च। अन्यथासिद्धिमपश्यतो हि बालस्य पूर्वं तत्सम्भवेऽपि पश्चाद्गौरवान्यलभ्यत्वतर्कसहकृतमानेन तद्बाधैवोचिता।

न च प्रवृत्तिहेतुतयोपस्थितं कार्यान्वितज्ञानं हित्वा कल्पयित्वाऽन्वितज्ञानं तत्र शक्तिकल्पनमयुक्तमुभयथा गौरवादिति वाच्यम्। कार्यान्वित ज्ञानेऽन्वितज्ञानस्यापि सत्त्वात्, तद्विशेषत्वात्तस्य। तथात्वेऽपि तदुपस्थिता वन्वितज्ञानत्वं न विषय इति तदुपस्थित्यन्तरं कल्प्यमिति चेत्, न, कार्यान्वितज्ञाने अन्वितज्ञानं विशेष्यमिति तदुपस्थितौ तस्यापि विषयत्वात्। विशिष्टज्ञानस्य विशेष्यविषयत्वनियमात्। अन्यथा अन्यज्जातिज्ञानमन्यच्च जातिविशिष्ट व्यक्तिज्ञानमिति व्यक्तिज्ञानमपहाय जातिज्ञानं क्वापि नोपस्थितमिति न तव जातिरेव पदार्थः स्यात्।

सङ्ख्याविशेषादपि –

स्यामभूवं भविष्यामीत्यादिसङ्ख्या च वक्तृगा।
समाख्यापि न शाखानामाद्यप्रवचनादृते।।१७।।

कार्यतया हि प्राक् सङ्ख्योक्ता, सम्प्रति तु प्रतिपाद्यतयोच्यते। तथा ह्युत्तमपुरुषाभिहिता सङ्ख्या वक्तारमन्वेतीति सुप्रसिद्धम्। अस्ति च तत्प्रयोगः प्रायशो वेदे। ततस्तदभिहितया तयाऽपि स एवानुगन्तव्यः। अन्यथानन्वयप्रसङ्गात्।

आमोदः– स्याम् इत्याद्युत्तमपुरुषप्रयोगः। संख्याशब्दस्य समाख्यामर्थमादायाह समाख्यापीति। ननु पूर्वमपि सङ्ख्येश्वरसाधकत्वेनोक्तेति पौनरुक्त्यमित्याह कार्येति। द्व्यणुकत्र्यणुकपरिमाणजनकद्वित्वत्रित्वसंख्याजनकापेक्षाबुद्धिमत्त्वेन पूर्वमीश्वरः साधित इत्यर्थः। प्रतिपाद्यतयेति। उत्तमपुरुषाख्यातप्रतिपाद्यतयेत्यर्थः। स एव वक्तैव। अनुगन्तव्य इति। अन्वेष्यत इत्यर्थः। 'अवगन्तव्य' इति पाठे

प्रकाशः–यच्च हर्षहेतूनां बहूनां सम्भवादित्युक्तम्। तन्न, स्वतो गृहीतहर्षहेतु स्तनपानादेर्बाधावतारादन्यस्य हर्षहेतोरग्रहात्। अत उपस्थितत्वादुपपादकत्वाच्च पुत्रजन्मज्ञानमेव हर्षहेतुतया कल्पयति। न चान्यदपि प्रियं हर्षहेतुर्भविष्यतीति शङ्कया कथमेवमिति वाच्यम्। कार्यान्वितज्ञानेऽपि शक्तिग्रहानापत्तेः। प्रयोज्यज्ञानहेतूनां बहुत्वात्। अनन्यथासिद्धशब्दार्थविधानञ्च तुल्यमिति संक्षेपः।

यत्पदकदम्बकमिति। एतद्वेदवाक्यसमानकालोत्पत्तिकज्ञानाजन्यमिदं वेदवाक्यं समानविषयकज्ञानजन्यं वाक्यत्वात् लौकिकवाक्यवदित्यत्र तात्पर्यम्। विपक्षे चेति।।१६।।

मकरन्दः– एतद्वेदवाक्येति। समानकालपदेन स्थूलकालोपाधेर्विवक्षणात् पूर्वकाल एव विवक्षितः। समानकालोत्पत्तिकस्य जनकत्वासम्भवेन तदादायार्थान्तरादि-शङ्काऽनवकाशात्। एवञ्चाध्यापकादिज्ञानजन्यत्वेनार्थान्तरवारणायाजन्यान्तम्। न चैवमप्यसिद्धिः तादृशपदज्ञानादिजन्यत्वादिति वाच्यम्। समानविषयत्वेनापि ज्ञानविशेषणात्। न चैवमपि वाक्यार्थं ज्ञात्वा अस्मदादिनैवोच्चरिते इदानीन्तनवेदे दोषतादवस्थ्यमिति वाच्यम्। तद्भिन्नवेदस्यैव पक्षत्वादित्याहुः। यद्यपि सोत्पत्तिकतादृशज्ञानाजन्यत्वविशेषणादेव पक्षधर्मताबलादजन्यज्ञानसिद्धाविष्टसिद्धिः, तथाप्यन्यकालोत्पत्तिकस्य जनकत्वशङ्कैव नेति स्वरूपतानिर्वचनपरं तदिति मन्तव्यम्। न च शुकादिवाक्ये व्यभिचारः, तस्यापि पक्षसमत्वादिति भावः।

अथवा, समाख्याविशेषः सङ्ख्याविशेष उच्यते। काठकं कालापकमित्यादयो हि समाख्याविशेषाः शाखाविशेषाणामनुस्मर्यन्ते। ते च न प्रवचनमात्रनिबन्धनाः, प्रवक्तृणामनन्तत्वात्। नापि प्रकृष्टवचननिमित्ताः। उपाध्यायेभ्योऽपि प्रकर्षे प्रत्युतान्यथाकरणदोषात्। तत्पाठानुकरणे च प्रकर्षाभावात्। कतिचनादौ संसारे प्रकृष्टाः प्रवक्तार इति को नियामक इति? नाप्याद्यस्य वक्तुः समाख्येति युक्तम्। भवद्भिस्तदनभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा स एवास्माकं वेदकार इति वृथा विप्रतिपत्तिः।

स्यादेतत्, ब्राह्मणत्वे सत्यवान्तरजातिभेदा एव कठत्वादयः। तदध्येया तदनुष्ठेयार्था च शाखा तत्समाख्यया व्यपदिश्यते इति किमनुपपन्नम्? न। क्षत्रियादेरपि तत्रैवाधिकारात्। न च यो ब्राह्मणस्य विशेषः, स क्षत्रियादौ सम्भवति। न च क्षत्रियादेरन्यो वेद इत्यस्ति। न च कठाः काठकमेवाधीयते तदर्थमेवानुतिष्ठन्तीति नियमः। शाखासञ्चारस्यापि

आमोदः- तु संख्याविशिष्टतया अवगन्तव्य इत्यर्थः। इयं कठशाखा, इयं कलापशाखा इत्यादिसहस्रस्यापि शाखानां या समाख्या नामत ईश्वरकृतमेवेत्याह काठकमिति। ननु येन या शाखा पठिता तन्नामाकाङ्क्षिता सा शाखा इति किमीश्वरेणेत्याह न चेति। चेतन इत्यपि क्वचित् पाठः। ननु यद्यप्यनन्ता प्रवक्तारस्तथापि कठकलापादयस्तासु तासु शाखासु प्रकृष्टाः प्रवक्तारोऽभूवन्निति तत्तन्नामाङ्किताास्ताः शाखा इत्यत आह नापीति। अध्यापकापेक्षया प्रकर्षश्चेद्विवक्षितस्तदा पूर्वपूर्वाध्यापकापेक्षया यः कश्चित् पूर्वोत्कृष्टस्तस्यैव नाम्ना समाख्या स्यादित्यर्थः। ननु तासु तासु शाखासु त एव कठादयः सर्वोत्कृष्टा इत्यत आह कति चेति। अनादौ संसारे चैवम्भूता एव कति महान्तो जाता इति एकस्या एव शाखाया बहवः समाख्याः स्युरित्यर्थः। ननु कठजातीयब्राह्मणाधीता शाखा काठिकेति व्यपदिश्यत इत्याह स्यादेतदिति। तर्हि क्षत्रियवैश्याभ्यां सा नाधीयेत इत्याह

प्रकाशः- पुरुषगुणाभावे तज्जन्यप्रशोभनवर्णोच्चारायितृत्वं प्रकर्षः, तत्राह कति चेति। न च ब्राह्मणत्वव्याप्यं कठत्वादि क्षत्रिये सम्भवतीत्याह न चेति। ननु क्षत्रियाद्यधीयमानापि शाखा कठादिपदवाच्येत्यत आह न च कठा इति। प्रागेवायमिति। पूर्वं कठैः स्वशाखैवाधीता, अधुनाशाखान्तराध्ययनरूपो विप्लव

प्रायशो दर्शनात्। प्रागेवायं नियम आसीदिदानीमयं विप्लवते इति चेत्, विप्लव एव तर्हि सर्वदा, कठाद्यवान्तरजातिविप्लवादित्यगतिरेवेयम्। तस्मादाद्यप्रवक्तृवचननिमित्त एवायं समाख्याविशेषसम्बन्ध इत्येव साध्विति।

स एवं भगवान् श्रुतोऽनुमितश्च, कैश्चित् साक्षादपि दृश्यते प्रमेयत्वादेर्घटवत्। ननु तत्सामग्रीरहितः कथं द्रष्टव्यः? सा हि बहिरिन्द्रियगर्भा मनोगर्भा वा तत्र न सम्भवति। चक्षुरादेर्नियतविषयत्वात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यात्। तदुक्तं "हेत्वभावे फलाभावादि"त्यादि। न। कार्यैकव्यङ्ग्याया: सामग्र्या निषेद्धुमशक्यत्वात्। अपि च दृश्यते

आमोदः- क्षत्रियेति। एवं नियम इति। कठाः काठमेव पठन्तीत्येवंरूप इत्यर्थः। अयं विप्लव इति। कठाद्यवान्तरजातिविप्लवादिति भावः। पूर्वमपि कठाद्यवान्तरजातौ मताभावेनायं नासीन्नियम इत्याह विप्लव एवेति। अगतिरेवेति। आद्यप्रवचनं विनेति शेषः। आद्येति। आदौ यः प्रवक्ता ईश्वरस्तेन या शाखा प्रथमं यस्मै प्रोक्ता सा तन्नाम्ना प्रसिद्धेत्यर्थः। ईश्वरदार्ढ्यार्थं प्रमाणसंप्लवमाह स इति। यद्वा, श्रवणमननाभ्यामेव न मोक्षः, किन्तु साक्षात्कारपर्यन्तः। तेन सदातनमिथ्याज्ञानोच्छेद इत्यत आह स एव इति। कैश्चिदिति। योगिभिरित्यर्थः। प्रत्यक्षसामग्र्यभावादप्रत्यक्षतामाह नन्विति। कार्यं चेदस्ति तदा सामग्र्यपि तत्रास्त्येवेत्याह कार्यैति। योगजधर्मसहकृत आत्ममनोयोग एव तत्सामग्रीति

प्रकाशः- इत्यर्थः। विप्लव एवेति। कठत्वादिशाखाव्याप्यजातिविप्लवः कठादिसमाख्याव्यवस्थाव्यतिरेकश्चेत्यर्थः। तस्मादिति। कठादिशरीरमधिष्ठाय सर्गादावीश्वरेण या शाखा कृता, सा तत्समाख्येति परिशेष इत्यर्थः। अत्र अनित्यज्ञानवद्वक्तृकवाक्यावाचकानि श्रौतकठपदादीनि किञ्चित्प्रवक्तृकवाक्य वाचकानि वाक्यवाचकपदत्वात् *मन्वादिसंहिता*पदवदिति मानमभिप्रेतम्।

इयता प्रबन्धेन मननरूपां प्रतिज्ञातामुपासनां निर्वाह्य न तावन्मात्रान्मोक्षो- ऽनुमितिरूपविशेषदर्शनस्य प्रत्यक्षभ्रमानुच्छेदकत्वात्। अपि तु प्रत्यक्षरूपं तत्तद्धेतुरिति दर्शयितुमाह स एवमिति। अत्र प्रत्यक्षसामग्रीमुपाधिमाह नन्विति। सामग्र्या अतीन्द्रियतया योग्यानुपलम्भेन निषेधोऽपास्तः। न च तस्याः कार्यव्यङ्ग्यतया तदभावादेवाभाव इति वाच्यम्। कार्यस्यापि पुरुषान्तरप्रत्यक्षज्ञानत्वेन योग्यव्यतिरेकत्वात्। साधनव्यापकतया स नोपाधिरित्याह कार्यैकेति।

तावद्बहिरिन्द्रियोपरमेऽपि असन्निहितदेशकालार्थसाक्षात्कारः स्वप्ने। न च स्मृतिरेवासौ पटीयसी। स्मरामि स्मृतं वेति स्वप्नानुसन्धानाभावात्, पश्यामि दृष्टमित्यनुव्यवसायात्। न चारोपितं तत्रानुभवत्वम्, अबाधनात्। अननुभूतस्यापि स्वशिरश्छेदनादेरवभासनाच्च। स्मृतिविपर्यासोऽसाविति चेत्? यदि स्मृतिविषये विपर्यास इत्यर्थः, तदाऽनुमन्यामहे। अथ स्मृतावेवानुभवत्वविपर्यास इति, तदा प्रागेव निरस्तः। न च सम्भवत्यपि।

आमोदः–व्यवस्थापयितुं पीठमारचयति दृश्यत इति। पटीयसी स्फुटा, तत्काले स्मरामीति स्यात्। जागरावस्थायां स्मृतमिति स्याद् इत्याह स्मरामीति। ननु स्मृतावेव तत्रानुभवत्वारोप इत्याह न चेति। स्मृतिरेवानुभूतित्वेन गृहीतेति बाधाभावान्नैवमित्याह अबाधनादिति। अनुपलब्धस्यापीति। स्मृतेरुपलब्धमात्र-विषयत्वात् स्वप्नज्ञानं न स्मृतिरिति भावः। *प्राभाकरः* शंकते–स्मृतीति एतद् विकल्य दूषयति यदीति। स्वप्नज्ञानस्यारोपत्वेनास्माभिरभ्युपगमादित्यर्थः। प्रागेवेति। अबाधनादित्युक्तत्वादित्यर्थः। न च सम्भवत्यपीति। स्मृतावनुभवत्वारोप इत्यनुषङ्गः।

प्रकाशः–अथ प्रत्यक्षहेतुयावद्विशेषाभावादयोग्याया अपि सामग्र्या अभावः उन्नेयः। तत्र, यथा स्वप्नज्ञाने सहकारिविशेषान्मनसो बहिः स्वातन्त्र्यं, तथा प्रकृतेऽपि योगजधर्मात्तस्य तथात्वमित्याह अपि चेति। पटीयस्त्वम्–असन्दिग्धविषयत्वम्। स्मृतिविपर्यासः–विपर्यस्ता स्मृतिः। प्रागेवेति। अनुभवत्वस्याबाधनादित्यर्थः। न च सम्भवत्यपि इत्यत्र स्मृतावनुभवत्वविपर्यास इत्यनुषञ्जनीयम्। यदि स घट इति स्मृतावनुभवत्वारोपः, तदा तं घटमनुभवामीति स्यात्, न तु इमं घटमनुभवामीत्याह न हीति। ननु प्रमायामेव मनसो बहिरस्वातन्त्र्यं स्वप्नज्ञानं त्वप्रमा इत्यत आह

मकरन्दः- वक्तरीति। न च वक्तृत्वानुवक्तृत्वयोर्भेदादनुवक्ता न वक्तेति न तद्विशेषणमर्थवदिति वाच्यम्। वक्तृत्वं हि वचनकर्तृत्वं, तच्च तत्रापि। आगन्तुकेति। तथा च कठादिशरीरमधिष्ठायाद्यवक्तुरीश्वरस्यैव तत्तत्समाख्याविशेषे निबन्धनत्वमिति भावः।।१६।।

अव्यवस्थाव्यतिरेक इति। नियमगर्भस्योक्तनियामकस्यासिद्धेरिति भावः। अनित्यज्ञानवदिति। तन्मते अपौरुषेयत्वादस्मन्मते नित्यज्ञानवद्वक्तृकत्वादु-भयसिद्धविशेषणमिति बोध्यम्। शेषं सुगमम्।।१७-२०।।

न ह्यन्येनाकारेणाध्यवसितोऽन्येन ज्ञानावच्छेदकतयाऽध्यवसीयते। तथा च 'स घट' इत्युत्पन्नायां स्मृतौ भ्राम्यतः 'तं घटमनुभवामी'ति स्यात्, न त्विमं घटमिति। न ह्ययं घट इति स्मृतेराकारः। तस्मादनुभव एवासौ स्वीकर्तव्यः।

अस्ति च स्वप्नानुभवस्यापि कस्यचित् सत्यत्वं, संवादात्। तच्च काकतालीयमपि न निर्निमित्तम्। सर्वस्वप्नज्ञानानामपि तथात्वप्रसङ्गात्। हेतुश्चात्र धर्म एव। स च कर्मजवत् योगजोऽपि योगविधेरवसेयः। कर्मयोगविध्योस्तुल्ययोगक्षेमत्वात्।

तस्मात् योगिनामनुभवो धर्मजत्वात् प्रमा, साक्षात्कारित्वात् प्रत्यक्षफलं, धर्माननुगृहीतभावनामात्रप्रभवस्तु न प्रमेति विभाग इति। अतस्तत्सामग्रीविरहोऽसिद्धः।

तथापि विपक्षे किं बाधकमिति चेत्? 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' इत्यादियोगविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गः, अशक्यानुष्ठानोपायोपदेशकत्वात्। न

आमोदः– न ह्यन्येति। तत्तावच्छेदेनोत्पन्ना स्मृतिरिदन्तावच्छेदेन कथमनुव्यवसीयेतेत्यर्थः। ननु मनसः प्रमायामेव बहिरस्वातन्त्र्यं न तु भ्रमेऽपि, तथा च मनसैव स्वप्नज्ञानं जन्यते। योगिसाक्षात्कारस्तु प्रमारूप इति कथं मनोमात्रयोनिः स्यादित्यत आह **अस्तीति**। **अत्रेति**। स्वप्नान्तिकसत्यज्ञान इत्यर्थः। **धर्म एवेति**। कर्मजन्य इति शेषः। यदर्थं पीठरचना तदाह **स चेति**। कर्मविधिः 'स्वर्गकामो यजेते'त्यादिः, योगविधिः 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' इत्यादि। **योगो** यमेन तात्पर्येण प्रवृत्तिः, तेनैव तात्पर्येण परिपालनं **क्षेमः**। **धर्मजन्यत्वादिति**। दोषासहकृतधर्मजन्यत्वादित्यर्थः। तेन कामातुरकामिनीभ्रमस्य सुखहेतुत्वेन धर्मजत्वेऽपि न व्यभिचार इति भावः। तथा च योगिसाक्षात्कारे प्रत्यक्षसामग्र्यभाव इति यदुक्तं तदसिद्धमिति दर्शितं, स कैश्चित् साक्षात्कृतः प्रमेयत्वादिति यदुक्तं तत्र किं विपक्षबाधकमित्याह **तथापीति**। वेदनशब्दस्य प्रत्यक्षज्ञानपरत्वमभ्युपेत्याह **अशक्येति**। ईश्वरप्रत्यक्षासिद्धावियं *श्रुतिः* ग्रावप्लवन*श्रुति*वदनन्वितैव स्यादित्यर्थः।

प्रकाशः– अस्ति चेति। तथापि साक्षात्कारो भ्रमो वासनाप्रभवत्वात् कामातुरकामिनीसाक्षात्कारवदित्याशङ्क्य तत्प्रमात्वमुपपादयति **स चेति**। **अर्थज्ञानावधिनेति**। स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति विधेः परिशेषादर्थज्ञानफलसिद्धावर्थज्ञानावधित्वं सिद्धमिति भावः। **एतेनेति**। परमाण्वादयोऽपि प्रमेयत्वात् प्रत्यक्षा इत्यर्थः।

चासाक्षात्कारिज्ञानविधानमेतत्। अर्थज्ञानावधिनाऽध्ययनविधिनैव तस्य गतार्थत्वादिति। एतेन परमाण्वादयो व्याख्याता इति।

तदेनमेवम्भूतमधिकृत्य श्रूयते – 'न द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति, 'एकमेवाद्वितीयमि'ति, 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण' इति, 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परञ्चापरमेव चे'ति, 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' इति, 'यज्ञा वै देवा' इति, 'यज्ञो वै विष्णु'रित्यादि। स्मर्यते च, –

सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज। इति। (भगवद्गीता १८।६६)

तदर्थं कर्म कौन्तेय, मुक्तसङ्गः समाचर। इति।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। (भगवद्गीता ३।९) इति।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते। (भगवद्गीता ४।२३) इत्यादि।

अनुशिष्यते च साङ्ख्यप्रवचने ईश्वरप्रणिधानम्। तमिमं ज्योतिष्टोमादिभिरिष्टैः, प्रासादादिना पूर्तेन, शीतातपसहनादिना तपसा, अहिंसादिभिर्यमैः, शौचसन्तोषादिभिर्नियमैः, आसनप्राणायामादिना योगेन

आमोदः– ननु वेदनमात्रमनेन विधीयते, तच्च शक्यमेवेत्याह न हीति।

स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति विधेरर्थज्ञानपर्यन्तमध्ययनं विषय इति भावः। तथा चोपनिषदध्ययनेनैव ब्राह्मणः श्रौतज्ञानविषयत्वं प्राप्तमतो *द्वे ब्रह्मणी*त्यादि व्यर्थमित्यर्थः। एतेनेति। ईश्वरमानसप्रत्यक्षव्युत्पादनेनेत्यर्थः। तदेनमीश्वररूपम्। दृष्टेर्विलोप इति। दृष्टिःप्रत्यक्षज्ञानम्। तदप्रतिहतमेव सर्वत्र परमेश्वरस्येत्यर्थः। एकमेवेति। ईश्वर एक एव, न द्वितीय ईश्वर इत्यर्थः। पश्यत्यचक्षुरिति। इन्द्रियादिव्यतिरेकेणैव सर्वविषयकसाक्षात्कारवानित्यर्थः। द्वे ब्रह्मणी इति। परमात्मा स्वात्मा चेति व्यापकत्वात् स्वात्मनि ब्रह्मपदप्रयोगः। यज्ञेनेति। यष्टा यष्टव्यश्च। विष्णुरेवेति। तन्मयत्वभावनपरम्। यज्ञार्थादिति। विष्णुमुद्दिश्य यत् कर्म क्रियते तेन कर्मणा संसारानुप्रच्यव इत्यर्थः। दर्शनान्तरेणैकमत्यमाह अनुशिष्यत इति। उपदिश्यत इत्यर्थः। ज्ञानकर्मसमुच्चयनिरासार्थमाह तमिममिति। इष्टापूर्तादीन्यपि

प्रकाशः– एकमेवेति। ईश्वराख्यं ब्रह्म एकमेव न द्वितीयमित्यर्थः। मदर्थमित्यनेन ईश्वरज्ञानार्थतां कर्मणो दर्शयता न ज्ञानकर्मणोस्तुल्यकक्षतया समुच्चय इत्यभिप्रेतम्। अनुशिष्यते, उपदिश्यते इत्यर्थः। ईश्वरोऽवश्यं ज्ञेयो महर्षीणामपि तज्ज्ञानान्वितत्वादित्याह तमिममिति।

महर्षयोऽपि विविदिषन्ति। तस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवतीत्येवं विज्ञाय श्रद्धैकतानस्तत्परो भवेत्। यत्रेदं गीयते, –

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः। (भगवद्गीता ९।३४)
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।। (भगवद्गीता ५।२९) इति।

इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक, त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः।।१८।।

आमोदः– कर्माणि तत्त्वज्ञानद्वारेणैव मोक्षसाधनानीत्यर्थः। **तस्मिन्निति**। ब्रह्मणीत्यर्थः। **एवमिति। श्रद्धैकतानः** श्रद्धापरः ईश्वरमात्रे श्रद्धावान्। तदुपदेशमेव प्रमाणमाह **यत्रेदमिति युक्त्वा** निरिन्द्रियप्रदेशे मनः संयोज्य **मामेवैष्यसि** मां साक्षात्करिष्यसीत्यर्थः। **भोक्तारमिति**। एतादृशं मां साक्षात्कृत्य **शान्तिं** मोक्षम् **ऋच्छति** प्राप्नोतीत्यर्थः।१७।

इत्येवमिति इत्यनेन ग्रन्थोक्तप्रकारेण **श्रुति**राम्नायो **नीति**र्नयः तयोर्यः **संप्लवः** परस्पराविरोधेन साहित्यं तदेव **जलं**, श्रुतीनां न्यायानां च भूयस्त्वात् तत्साहित्यानाञ्च भूयस्त्वमिति बहुवचनं, तैर्जलैराक्षालितेऽपि ईश्वरविषयक विप्रतिपत्तिनिरासेन शुद्धीकृते **हृदये पदं नादधासि**। **ते** वादिनः **शैलसाराशयाः** पाषाणसारवत् लोहवत्त्वाद् दृढाशया इत्यर्थः। सर्वमुक्तिमभिप्रेत्याह **किन्त्विति**। **प्रस्तुता** तावदीश्वरसिद्धिः, तद्विप्रतीपो विरोधी विधिः कुतर्काभ्यासादिर्येषां तेऽपि **त्वयैव भवच्चिन्तका भावनीया** इत्यर्थः।।१८।।

प्रकाशः– ईश्वरवेदनस्य फलमाह **तस्मिन्निति**। मयि परमेश्वरे मनः संयुज्येत्यर्थः। योगजेश्वरसाक्षात्कारस्य फलमाह **शान्तिमृच्छतीति**। मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः।।१७।।

यस्त्वेवं निर्दोषन्यायावगमितं कुतर्काभ्यासान्न प्रत्येति, तं प्रत्याह **इत्येवमिति**। **इतिशब्दः** स्वरूपार्थः। **एवंशब्दश्च** प्रकारार्थः। **नीतिर्न्यायः**। **शैलसारः** पाषाणं, लौहं वा, तद्वदाशयो येषां ते तथा, युक्तिप्रतिसन्धानानाश्रयहृदया इत्यर्थः। **प्रस्तुते** ईश्वरे, **विप्रतीपविधयः** प्रतिकूलप्रकाराः, तादृशा **अप्युच्चैर**त्यर्थं **काले** कदाचित् **भवच्चिन्तका** इति योजना। **भावनीया** वासनीयाः शङ्काकलङ्कशून्याः कर्त्तव्या इत्यर्थः।१८।।

अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर, चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धाऽऽनन्दनिधे, तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते।
तन्नाथ, त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुयाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः।।१९।।

इत्येष नीतिकुसुमाञ्जलिरुज्ज्वलश्री
र्यद्वासयेदपि च दक्षिणवामकौ द्वौ।

आमोदः- चेतो निमग्नं श्रवणमननयोरनन्तंर निदिध्यासनमपि कृतम्। तथापि साक्षात्कारं विना नाद्यापि संतृप्यते तृप्तं न भवतीत्यर्थः। त्वदेकात्मतां त्वन्मात्रगोचरसाक्षात्कारजनकतामित्यर्थः। याम्या यमभवाः पूर्वं प्राप्ता एव, पुनर्नाप्नुयाम येन तद्विधेहीत्यन्वयः।।१९।।

इतीति। इत्यनेन प्रकारेण कण्टकोद्धारादिना उज्ज्वलश्रीरत्यन्तविशुद्धः कृतः कुसुमाञ्जलिः दक्षिणवामकौ सुजनदुर्जनौ वासयेदप्यनुरञ्जयेदपि। अन्योऽपि कुसुमाञ्जलिर्दक्षिणवामनासापुटे वासिते करोति। ननु कुतर्काभ्यासव्यसन मग्नमानसं दुर्जनं कथं वासयिष्यति इत्यतस्तत्रानाश्वासादाह नो वेति।

प्रकाशः- अस्माकं त्वश्रद्धा नास्तीत्याह **अस्माकं त्विति**। यद्यपि त्वयि चेतो निमग्नमित्यद्धा तत्त्वम्, तथापि तरलं मनो नाद्यापि सन्तृप्यते तृप्तं भवति। तृपेः क्वचित् सकर्मकत्वात् कर्मकर्त्तरि रूपम्। त्वदेकाग्रतां त्वत्प्रवणताम्। याम्या यमदेवताकाः। यातना नरकपीडाः।।१९।।

इत्येष इति। इतिः समाप्तौ। एष नीतिकुसुमाञ्जलिर्दक्षिणवामकौ द्वौ यदि वासयेत्, ततः किमस्माकम्। यद्वा यद्वासयेदित्यत्र प्रोक्त एव यदि ब्रूयात् माऽस्मान् वासयतीति, तं प्रत्याह नो वा इति। वासयेदित्यनेन सम्बन्धः। ततः किं! तद्वासनायाः फलं न किञ्चिदित्यर्थः। पदमेव पीठं, तत्र न्यायकुसुमाञ्जलेर्यत् समर्पणं,तेन भगवान् प्रीतोऽस्तु।।२०।।

नो वा ततः किममरेशगुरोर्गुरुस्तु
प्रीतोऽस्त्वनेन पदपीठसमर्पितेन।।२०।।

।।इति महामहोपाध्यायश्रीमदुदयनविरचितं न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकरणं समाप्तम्।।

आमोदः– दुर्जनानुरञ्जनमशक्यत्वान्नोद्देश्यं किन्त्वमरेश इन्द्रस्तस्य गुरुर्ब्रह्मा बृहस्पतिर्वा तस्यापि गुरुरुपदेष्टा महादेवः, तत्प्रीतिरेवात्रोद्देश्य अतस्तत्पदपीठ एवायं कुसुमाञ्जलिरर्पित इत्यर्थः।।२०।।

।। इति श्रीशङ्करमिश्रकृतकुसुमाञ्जल्यामोदः समाप्तः।।

।। समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।।

प्रकाशः

यस्तर्कतन्त्रशतपत्रसहस्त्ररश्मिर्गङ्गेश्वरः सुकविकैरवकाननेन्दुः।
तस्यात्मजोऽतिविषमं कुसुमाञ्जलिं तं प्राकाशयत्कृतिमुदे बुधवर्द्धमानः।।

इति महामहोपाध्यायश्रीवर्द्धमानविरचितो न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाशः समाप्तः।।

□□

तृतीयस्तबकः

बोधनी

नन्वेतदपि कथं .... क्वानुमानमनाश्रयम्। पृ० १-२

तदेवमीश्वरविषयस्योपदेशलिङ्गानुमानस्यान्यथासिद्धिर्निराकृता। अथेदानीं तदभावावेदकप्रमाणसद्भावादित्याशङ्कितं, तस्य कालात्ययापदिष्टत्वं निराचिकीर्षुः स्मारयति तावत्-नन्वेतदपि इति। मा भुन्नित्यवेदद्वारा वा कपिलादिद्वारा वा धर्मसंप्रदायस्तथाप्येतदीश्वरद्वारकत्वमपि कथं सिध्यति, तत्रेश्वरे बाधकसद्भावात्। यद्वा, यद्यप्यन्यथासिद्धिर्निराकृता, तथाप्येतत्परोक्तं कालात्ययापदिष्टत्वं कथं निरसनीयम्। यद्वानन्यत्प्रत्यक्षं सिद्धमप्येतत्कथं साधकं तत्रानुमाने बाधकसद्भावादिति। बाधकमेवोपपादयितुमुपक्रमते-तथा हि इति। तत्र प्रत्यक्षानुपलम्भेन बाधकं तावदाह-यदि स्यात् इति। न चोपलभ्यत इति शेषः। तर्केणानेनानुगृहीतं प्रत्यक्षं जगत्कर्त्तुरभावमावेदयतीति भावः। सिद्धान्ती शङ्कते-अयोग्यत्वात् इति। योग्यानुपलम्भो हि बाधक इति। एवं तर्हि इति। न चासत्त्वादिति शेषः। शशशृङ्गप्रतिबन्दीमुन्मोचयन् सिद्धान्ती शङ्कते नैतदेवम् इति। शृङ्गस्य रूपत्वमहत्त्वाभ्यां प्रत्यक्षयोग्यत्वेन गवादिशृङ्गे व्याप्तिदर्शनादस्यापि शृङ्गस्य सतो योग्यतया भवितव्यम्-तस्माच्छशशृङ्गस्य योग्यानुपलम्भोऽस्तीति। इतरः पुनरीश्वरस्यापादयति-चेतनस्य इति। चेतनादियोगिनो हीश्वरस्य शरीराद्युपाधिसंबन्धोऽवश्यंभावी तत्कारणकत्वाच्चेतनादेर्योग्यं च शरीरादि। तथा च तस्यानुपलम्भेन बाधात् तद्वतोऽपि बाधः स्यादिति न केवलं प्रत्यक्षमनुमानमपि बाधकमित्याह - व्यापक इति। कर्तृव्यापकत्वेन स्वप्रयोजनसिद्धिः कुलालादिषूपलब्धा, न च साऽनवाप्तावाप्तकामविरहिणि जगत्कर्तरि संभवति। तस्माद् व्यापकानुपलब्ध्या जगत्कतुरभावोऽनुमीयत इति। स्वार्थस्य कर्तृव्यापकत्वमेवाह- को हि इति। प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तत इति न्यायादिति। तदेवं प्रत्यक्षानुमानबाधितविषयमीश्वरानुमानमिति पूर्वपक्षिते सिद्धान्तमाह- उच्यते इति। अयोग्यत्वात्परमात्मनस्तस्मिन् योग्यानुपलब्धिः कुतो भवेत्, न कुतश्चिदित्यर्थः। यद्वा, योग्येऽपि स्वात्मन्यनुपलब्धिर्नाभावं गमयितुमलं, कुतोऽयोग्ये परमात्मनि। ततश्चोन्मोचिता शशशृङ्गप्रतिवन्दिर्न हि शृङ्गमयोग्यमनुपलब्ध्या बाध्यते, किन्तु योग्यमेव। न च परमात्मा योग्य इति। न

स्वात्मैव तावत् .... अद्रव्यस्यापिकरणत्वात्। पृ० ३-५।

तावत्प्रत्यक्षबाधः। न च व्यापकानुपलब्धिलक्षणमन्यद्वाऽनुमानं बाधकमीश्वरस्यानभ्युपगमेनाश्रयासिद्धेरिति व्याचष्टे – **स्वात्मैव इति**। स्वात्मनः प्रत्यक्षयोग्यत्वं सुख्यहं दुःख्यहमित्यादिप्रतीतिसाक्षिकमेवेति। किमिति स्वात्मा योग्योऽप्यनुपलब्ध्या न प्रतिषेद्धुं शक्यत इत्यत्राह– **तथाहि इति**। जाग्रदवस्थायामुपलम्भदर्शनात्सिद्धं स्वात्मनो योग्यत्वमन्यदा नापैतीति भावः। पृच्छति–**कस्य इति**। स्वरूपायोग्यत्वाभावेऽपि सहकारिविरहादनुपलम्भो युक्त इत्याह **सामग्रीवैगुण्यात् इति**। का तर्हि स्वात्मनो ग्रहणसामग्री यद्वैगुण्यात्तदानीमनुपलम्भ इत्यत्राह **ज्ञानादीति**। जानाम्यहमिच्छाम्यहमित्यादि-रूपेणैवात्मनो ग्रहणदर्शनाद् ज्ञानादिविशेषगुणोपगृहीतत्वमात्मनो ग्रहणसामग्रीति। सुषुप्तिसमये कस्यापराधेन ज्ञानमेव न जायते, कस्यानुग्रहाद्वान्यदा जायत इत्याह– **ज्ञानमेव इति**। मनसो बाह्येन्द्रियप्रत्यासत्तिभावाभावाभ्यां जननाजनने इत्याह **मनस इति**। तदेतन्मनसोऽनिन्द्रियप्रत्यासन्नत्वं *कौमारिला* न सहन्ते विभुत्वान्मनस इत्याह–**मनोवैभववादिनाम् इति**। तेषां मनोवैभवहेतूनामुपन्यस्यति – **तथाहि इति**। न हि द्रव्यसमकालं तत्समवेतानां स्पर्शादीनाम् उत्पत्तिः कार्यकारणयोः पौर्वापर्यनियमात्। तेनानुत्पन्नस्पर्शैः प्रथमक्षणावस्थितैर्घटादि-द्रव्यैरनैकान्तिकत्वमाशङ्क्योक्तं – **सर्वदा इति**। आकाशादिरत्र दृष्टान्तः। **विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात् इति**। अत्रापि सर्वदेत्यनुषज्यते। दिक्कालावत्र दृष्टान्तः। अनारम्भकद्रव्यत्वमन्त्यावयविनोऽप्यस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमुक्तं– **नित्यत्वे सति इति**। **अनारम्भकत्वमिति च** द्रव्यानारम्भकत्वमिह विवक्षितम्। आकाशादय एव दृष्टान्तः। ज्ञानस्यासमवायिकारणमात्ममनसोः संयोगः, तदाश्रयत्वान्मनसो वैभवमनुमीयते। आत्मवत्सर्वत्रोपलभ्यमानकार्यत्वादात्मवदित्यादिशब्दार्थः। **न इति**। द्रव्यत्वासिद्ध्या चतुर्णां हेतूनामापाततः स्वरूपासिद्धिः, निरूपणदशायां तु धर्मिग्राहकप्रमाणबाध इति भावः। स्वरूपासिद्धिं तावदाह – **तथाहि इति**। अद्रव्यमपि ह्यदृष्टप्रयत्नसंयोगादिक्रियाकरणं दृष्टमिति।

अथासामेव .... वैभवहेतूनामिति। पृ० ५-७।

यद्यासां सुखाद्युपलब्धीनां साक्षात्काररूपत्वादिन्द्रियस्यैव तत्साधनत्वाच्चेन्द्रियतया मनोऽनुमीयते। तथा च द्रव्यत्वं सिध्यति, द्रव्यस्यैवेन्द्रियत्वादित्युच्येत तथापि व्यापकत्वे तस्योपाध्यवच्छेदेनैवेन्द्रियत्वं

वक्तव्यम्। न हि कर्णशष्कुल्यनुपहितमाकाशं श्रोत्रं भवतीत्याह – **अथ इति।** अस्तु तर्हि शरीरावयवः कश्चिदत्रोपाधिरित्यत्राह – **तत्र यदि इति।** दृश्यते चावयवान्तरे शरीरमात्रेऽपि मनसो वृत्तिरिति भावः। ततः किमित्यत आह– **तत इति।** ततोऽपि किमित्यत आह – **तथा च इति।** ननु न कर्णशष्कुलीवन्नियतः शरीरावयवः कश्चिदुपाधिः, किन्तु शरीरं तदवयवाश्चानियमेनोपाधयः सन्तु। तेन व्याप्यवृत्तिरवयवान्तरवृत्तिश्चोपपत्स्यत इत्यत्राह – **शरीरतदवयव इति।** किञ्च सर्वेषामप्यवयवानामुपाधित्वे शिरसि सुखमित्ययं नियमो नोपपद्येत। अवयवान्तराणामप्युपाधित्वेन तत्रापि सुखाद्युत्पत्त्युपलम्भयोः प्रसङ्गादित्याह – **नियमानुपपत्तिश्च इति।** यतो नियतस्य शरीरावयवस्योपाधित्वे सुखादीनामपि नियतत्वप्रतीतिविरोधः। शरीरमात्रस्योपाधित्वे च व्याप्यवृत्तित्वप्रतीतिविरोधः। शरीरतदवयवानामनियमेनोपाधित्वे कल्पनागौरवप्रसङ्गो नियमानुपपत्तिश्चेत्येते दोषाः प्रादुष्युः। तस्मादेवमङ्गीकार्यमित्याह– **ततोऽन्यत् इति।** आशुतरसंचारीत्युपसंख्यानं कार्यं, तेन शिरःपादयोर्युगपदुपलम्भाभिमानः सिध्यतीति। अस्तु तादृश उपाधिः, ततः किमित्यत आह – **तथा च इति।** तस्यैवोपाधित्वेनाङ्गीकृतस्य शरीरसंयुक्तत्वे सति साक्षात्प्रतिसाधनत्वेनेन्द्रियलक्षणलक्षिततत्वादिन्द्रियत्वे स्वभावतः सिद्धे तदेवास्तु मन इति। तथा चाणुत्वेनैव मनःसिद्धेर्धर्मिग्राहकप्रमाणबाधो वैभवहेतूनामिति। तदेवं सुखादिसाक्षात्कारसाधनत्वेन मन इन्द्रियकल्पनायां धर्मिग्राहकप्रमाणबाध उक्तः। यदा बाह्येन्द्रियेषु युगपद्विषयैः संयुक्तेष्वपि यत्संनिधानक्रमाज् ज्ञानोत्पत्तिक्रमः प्रक्रमते, तेनेन्द्रियसहकारिणा केनचिद्भवितव्यमिति युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गेन मनोऽनुमीयते। तदा स्फुट एव धर्मिग्राहकप्रमाणबाध इत्याह – **अथ इति।** व्यापकत्वे हि तस्य युगपत्सर्वेन्द्रियैः युगपज्ज्ञानोदयप्रसङ्गात्। ज्ञानाक्रमार्थं कल्प्यमानस्याणुत्वेनैव सिद्धिरिति। न च विभुत्वेऽपि मनसोऽदृष्टस्यापि ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वात् तत्क्रमवशादेव ज्ञानक्रम उपपद्यत इति वाच्यम्, युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेरन्यथासिद्धत्वेन प्रमाणाभावात् मनस एवासिद्धिप्रसङ्ग इत्याह– **यदि च इति।**

अथ यत्रादृष्टस्य .... अनेकत्वादिति चेत्। पृ० ८-९।

अत्र शङ्कते- **अथेत्यादिना चेदित्यन्तेन।** द्वेधा ह्यदृष्टस्य कारणत्वं दृष्टकारणोपहारमात्रेण, तदनपेक्षं स्वयमेव चेति। तत्र पूर्वत्र दृष्टकारणसाकल्ये कार्यमुत्पद्यत एव न पुनस्तस्मिन्सत्येवादृष्टवैकल्यादेव कार्यानुत्पत्तिरिति। अन्यथा

द्रव्यगुणकर्मणां सत्स्वेव दृष्टकारणेषु कदाचिददृष्टवैकल्यादनुत्पादः स्यात्, न चैतदस्ति। यत्र तु साक्षाददृष्टस्यैव कारणत्वं यथा परमाणोराद्यकर्मणि। तदुक्तम्- "अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनमणुमनसोश्चाद्यं कर्मेत्यदृष्टकारितानि' इति (वै. सू. ५।२।२३) – तत्रादृष्टवैकल्यादेव कार्यानुत्पत्तिरिति। अस्त्वेवं, प्रकृते किमायातमित्यत आत–तदिहापि इति। विषयेन्द्रियात्मनां साहित्येऽपि सुष्वापादौ ज्ञानानुदयात्तदतिरिक्तं किमप्यदृष्टोपहरणीयं दृष्टं कारणमस्ति तन्मन इति मनःसिद्धेर्नाश्रयासिद्धिरिति। तथापि तस्य विभुत्वाङ्गीकारे युगपज्ज्ञानोत्पत्ति प्रसङ्गस्तदवस्थ इत्यत्राह – तच्च इति। विभुत्वेऽपि तस्य करणत्वेन कल्प्यमानत्वात्। करणानां च क्रमेण क्रियाकरणस्वभावत्वात् ज्ञानक्रम उपपद्यत इति। ननु कल्पितेऽपि मनसि यदि करणधर्मत्वादेव ज्ञानक्रमः तर्हि क्लृप्तस्यैवात्मनो बाह्येन्द्रियाणां चानेन न्यायेन क्रियाक्रमोऽस्तु किं मनःकल्पनयेत्यत्राह – अकल्पिते तु इति। कुत इत्यत आह–प्रतिपत्तुरिति।

नन्वेवमपि .... तस्मदण्वेव मनः। पृ० ९-११।

करणधर्मोऽयं न तु कर्तृधर्मः। कर्ता चात्मा करणत्वेऽपि चक्षुरादीनामनेकत्वादेकस्य चैकैकज्ञानोत्पादनाविरोधात् पञ्चभिरपीन्द्रियैर्युगपच्च ज्ञानान्युत्पाद्येरन्। कल्पिते तु मनसि तस्यैकत्वात्करणत्वाच्च न युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिरुपपन्नेति निराकारोति नन्वेवम् इति। मा नाम भूत् पञ्चानां ज्ञानानां युगपदुत्पत्तिस्तथापि गन्धादिसंयुक्तघ्राणादिपञ्चेन्द्रियव्यापिना मनसा गन्धादिपञ्चकविषयैकज्ञानोत्पत्तिर्भवन्ती गीर्वाणशापेनापि नापयाति, तच्चानिष्टमिति। उक्तमर्थं यथावदजानानश्चोदयति – भवत्येव इति। इष्यत एतत्सेनावनादिष्वनेकालम्बनमेकं ज्ञानमतो नानिष्टमिति स्वाभिसन्धिमुद्घाटयन्नाह – न इति। अनेकेन्द्रियग्राह्यगन्धरसादिविषयैकज्ञानोत्पत्तिरापद्यते, तच्चानिष्टमिति। अत्र *सांख्यः* शङ्कते– तेष्वपि इति। दीर्घशष्कुलीं भक्षयतः पुरुषस्य तद्गतगन्धरसस्पर्शशब्दादिविषयमेकमुत्पद्यत एव ज्ञानं ततो नेदमप्यनिष्टिमिति। न तत्राप्यनेकविषयमेकं ज्ञानमुत्पद्यते भिन्नानां क्रमवतामेव ज्ञानानां कालभेदः सूक्ष्ममत्वान्नोपलभ्यत इत्येवाङ्गीकर्तव्यमिति। कुत इत्यत्राह – व्यासङ्ग इति। आत्मेन्द्रियविषयसमवधाने सत्यपि यदा कस्मिंश्चिदेव विषये ज्ञानमुत्पद्यते न सर्वेषु तस्मिन् व्यासङ्गकाले ज्ञानक्रमदर्शनादन्यदापि मनसः क्रमकरण-स्वभावोऽनुमीयत इति। तत्रान्यथासिद्धिमाशङ्कते बुभुत्सा-इति। व्यासङ्गकाले ज्ञानक्रमो

बुभुत्सातत्क्रमप्रयुक्तो न तु मनसः क्रमकरणस्वभावप्रयुक्त इति। मैवम्-इति। न हि बुभुत्साया एष महिमाऽस्ति यत्स्वव्यतिरेके ज्ञानव्यतिरेक इति। किन्तु सामग्रीव्यतिरेकादेव ज्ञानव्यतिरेक इति। कस्तर्हि बुभुत्साया महिमेत्यत्राह– अपि तु इति।

स्वसामग्र्या जायमानः प्रत्ययो बुभुत्सया दृढ़तरसंस्काराधानसमर्थो भवतीति। ज्ञानमात्रोत्पत्तावपि बुभुत्सोपयोगेऽनिष्टमाह – यदि तु इति। यदि बुभुत्सा न कारणं तर्हि बुभुत्सिताबुभुत्सितयोरविशेषेण ज्ञानं जायेत। न च मधुरतरसङ्गीतमादरेणाकर्णयतः सन्निहितेष्वपि विषयान्तरेषु युगपदेव ज्ञानोत्पत्तिर्दृश्यत इत्याशङ्क्याह– तस्मात् इति। यतो ज्ञानोत्पत्तौ बुभुत्सायाः साक्षादनुपयोगस्तस्मात्तत्रापि मनःसंयोगक्रमादेव ज्ञानक्रमस्तत्संयोगक्रम एव बुभुत्साया उपयोग इत्यर्थः। पुनरपि ज्ञानक्रमवादी शङ्कते – विभुनोऽपि इति। न इति। तस्य व्यापारस्य संयोगरूपत्वे तावन्न क्रमः संभवति विभुत्वान्मनसः। तदतिरेकेण तु कल्प्यमानस्य कर्मत्वेऽपि विभुत्वव्याघातः। गुणत्वेऽपि तस्य नित्यत्वाभ्युपगमे क्रमोत्पत्तिरिति न संभवति, अनित्यत्वे तु विभुद्रव्यैक-गुणस्याप्यविभुद्रव्यसंयोगासमवायिकारणकत्वेन व्याप्तेराकाशैकगुणे शब्दे भेर्याद्यविभुद्रव्यसंयोगासमवायिकारणकत्वदर्शनेनावधारणादविभुद्रव्यमन्तरेण तदनुपपत्तेरसमवायिसंयोगाधिकरणं किञ्चिदविभुद्रव्यं कल्पनीयम्। यदि तदपि कल्प्येत तर्हि कल्पनालाघवाय तदेवास्तु मन इत्युपसंहरति – तस्मात् इति।

तथा च तस्मिन्ननिन्द्रियप्रत्यासन्ने ... तदा सुषुप्तिः। पृ० ११-१२

उपपादितमर्थमुपजीव्य पूर्वप्रकृतमेवोपक्रम्याह–तथा च इति। यथोक्तमार्गेणाणुनि मनसि तस्यानिन्द्रियप्रदेशावस्थानोपपत्तौ मनःसहकारिविधुरैरिन्द्रियैः ज्ञानादिविशेषगुणानुत्पादादात्मनो निरुपधानत्वात् सुषुप्तावस्थायामनुपलम्भः सिध्यतीति। एतत् इति। विशेषगुणोपहितमेवात्मानं गृह्णातीत्येतदेवेति। विशेषगुणोपधानानुपधानयोरात्मनो ग्रहणाग्रहणाभ्यां तन्निश्चितमित्याह – अन्वय इति। न केवलं मनस एवेदं शीलं किन्तु सर्वेन्द्रियाणामपीत्याह– केवलम् इति। एतदेवोपपादयति न हि इति। अन्यथा वाय्वादावपि चक्षुः प्रवर्त्तेतेति भावः। स्वप्ने वा कथं सुषुप्तिवन्मनसो व्याप्रियमाणेन्द्रियसंयोगाभावात् ज्ञानोत्पत्तिरित्याह – स्वप्न इति। तत्तद्विषयेन्द्रियव्यापाराभावेऽपि पूर्वानुभवजनितसंस्कारोद्बोध–

प्रभावितत्तद्विषयस्मरणसहकृतं मनः स्वप्नभ्रमानुत्पादयतीत्याह–तत्तत् इति। तदानीं बाह्यविषयानुपलम्भे संस्कारोद्बोध एव कुत इत्याह – तदुद्बोधः इति। मन्द इति। तदापि बाह्येन्द्रियाणां मन्दतरतमादिभावेन व्यापारानुवृत्तेः शब्दाद्युपलम्भात्तदनुपलम्भेऽप्यन्ततो गत्वा शरीरोष्मादेस्त्वगिन्द्रियेणोपलम्भासंभवात् संस्कारोद्बोधोपपत्तिरित्याह – अन्त इति। यदा तु मनस्त्वगिन्द्रियेणाप्यसंयुक्तं पुरीतति, तदा स्वप्नस्याप्यभावात् सुषुप्तिरेव स्यादित्याह – यदा तु इति।

स्यादेतत् .... परबुद्ध्यादयो व्याख्याताः। पृ० १२-१४।

एवं तावद्योग्यस्यापि स्वात्मनोऽनुपलब्धिकारणमुक्तम्। इदानीं तु कुतस्त्वयोग्यः परमात्मेत्यत्र शङ्कते – स्यादेतदिति। न कथञ्चिदयोग्य इत्यर्थः। न तावत्स्वरूपयोग्यता नास्तीत्याह – न हि इति। अयं परमात्मा, स्वयं स्वेन परमात्मनापीति। न च प्रमातृत्वरूपसहकारियोग्यता नास्तीत्याह – नापि इति। तद्योग्यता गृहीतत्वयोग्यतेति। न च करणरूपसहकारियोग्यताविरह इत्याह – नापि इति। न चास्ति एकाकीयस्य मनसः परमात्मानं प्रत्ययोग्यतेत्याशङ्क्याह– साधारणत्वात् इति। सर्वेषां मनसां सर्वात्मनः प्रति साधारणत्वादिति। साधारण्यमेवाह– न हि इति। न ह्येकस्यात्मनः सर्वदैकमेव मन इत्यत्र नियमहेतुरस्तीति। नन्वस्ति मनःस्वभाव एव नियामक इत्याह – स्वभाव इति। यदि तदेकात्मसंबन्धित्वमस्य स्वभावात्तर्हि मुक्तात्मनां मनःसम्बन्धाभावात् स्वभावहानिः स्यादित्याह – मुक्तौ इति। सिद्धान्ती नियमहेतुमाह – न इति। यस्यात्मनो यद्भोजकमदृष्टमसाधारणं तेनोपनीतं मनस्तस्यैव ज्ञानहेतुर्नान्यस्य शरीरादीनामप्यसाधारणादृष्टाकृष्टत्वमेवासाधारण्ये हेतुः। व्युत्पादितं चैतदन्यत्रेति। एतेन मनसोऽसाधारण्येन परात्मवत्परदुःखादयोऽप्यप्रत्यक्षा इति व्याख्याता इत्याह – एतेन इति।

तदेवं योग्यानुपलब्धिः .... चिन्तयिष्यामः। पृ० १४-१६

तदेवं 'योग्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये' इत्येतत् व्याख्यायोपसंहरति – तदेवमिति। द्वितीयं पादं व्याचष्टे – तदितरेति। तृतीयं व्याचष्टे – नहीति। किन्तु योग्यानुपलब्ध्येति। न च प्रकृते परमात्मनीश्वरे योग्यानुपलब्धिरस्तीत्याह – न चेति। तस्मान्न प्रतिबन्धिरिति पराशयमाशङ्कते – अथेति। यद्यप्ययोग्यस्य शशशृङ्गस्यानुपलब्धिर्न बाधिका स्यात्। ततो बाधकाभाव मात्रात् किं तच्छृङ्गं सिध्यति। अयमत्राभिसन्धिः–अयोग्यानुपलब्धिप्रतिपादनेन बाधकाभावमीश्वरस्य

सिध्यति न तु सद्भाव इति। *केचित्तु* व्याचक्षते यदि शशशृङ्गमप्ययोग्यं तदा तस्यानुपलब्धिर्न बाधिका स्यादिति। उत्तरं–**ततः किम् इति**। बाधकाभावात्किमायातं शशशृङ्गस्येति शङ्कितुर्भावाविष्करणं तत्सिध्येदिति। बाधकाभावादीश्वरवन्न शशशृङ्गं सिध्येदिति। निराकरोति – **एवमस्तु इति**। स्यादेवं यदि शशशृङ्गस्यास्तित्वे प्रमाणं स्यात्। तत्तु नास्ति। नहि वयं बाधकाभाव–मात्रेणेश्वरमभ्युपगच्छामः। किन्तु साधकसद्भावादेवेति भावः। शृङ्गेऽपि प्रमाणमाशङ्कते– **पशुत्वादिकम् इति**। शशः शृङ्गवान् पशुत्वात् गवादिवदिति। हन्तैवमश्वारूढोऽश्वस्यैवास्मार्षीदित्याह–**परसाधने इति**। प्रथममीश्वरस्यानुपलब्ध्या बाधकमभिधाय तदबाधे शृङ्गस्याप्यबाधः तद्बाधे तस्यापि बाध इति बाधने प्रतिबन्धिमुद्भावयितुमुपक्रान्तः संप्रति परसाधने प्रतिबन्धिमुद्भावयसि। परेण हीश्वरसाधने कार्यत्वादिति हेतौ प्रयुक्ते शशोऽपि शृङ्गवान् पशुत्वादित्यादि वक्तुं संगच्छत इति। तर्हि परसाधन एतत्प्रतिबन्धिर्भविष्यतीत्यत्राह– **तत्र इति**। तदेतद्विकल्प्य निराकरोति–**किं तत्र इति**। यदि कार्यत्वं कर्त्तारं साधयेत् पशुत्वमपि शृङ्गं साधयेदिति किं प्रतिबन्धिरेव दूषणं किं वा योग्यानुपलब्ध्या पशुत्वस्येव कार्यत्वादेरपि बाधितविषयत्वमिति। तस्मिन् व्यापके पशुत्वादेः शृङ्गादिसाधनत्वेऽसति तत्कार्यत्वादेः कर्तृत्वसाधनं व्याप्यभूतं प्रतिषिध्येतेति। **मिथोऽनुपलभ्य इति**। यदि परात्मादेर्योग्यानुपलब्धिर्बाधिका स्यात् तदा परस्परमनुपलभ्यमानयोरेव वादिप्रतिवादिनोः परस्पराङ्गीकारो न स्यादिति। ननु मा भूदिदं परसाधने दूषणं, तथापि शृङ्गसाधनतया प्रयुक्ते पशुत्वादौ को दोष इत्याह–**तथापि इति**। पृच्छतोऽयमाशयः– य एवात्र दोषः स एवेश्वरानुमाने भविष्यतीति। अनवसरत्वान्नेदमिह वक्तव्यमित्याह– **न जानीमस्तावत् इति**।

स्यादेतत् .... प्रतिषेध्यत्वानुपपत्तेश्चेति। पृ० १६-१८।

तदेवं प्रत्यक्षस्य बाधकत्वं निराकृतम्, इदानीं तु व्यापकानुपलब्धिलक्षणमनुमानमङ्कुरादिषु कर्तृबाधकमाशङ्कते – **स्यादेतत् इति**। **तन्नेति**। परमात्मन इति शेषः। कायवाग्व्यवहारैकप्रमाणकत्वेऽनिष्टमाह – **अन्यथा इति**। न हि तस्य कायिको वाचिको वा व्यापारोऽस्तीति। निरुद्धपवनः प्राणानायम्य तूष्णीमासीनः। शेषं सुगमम्। यस्मान्न कायवाग्व्यापारैकप्रमाणकः परमात्मा तस्मादेवमङ्गीकर्त्तव्यमित्याह–**तस्मादिति**। तथापि विश्वकर्तुः कथं सिद्धिरित्यत्राह– **न च कार्यमात्रस्य इति**। न वयं कार्यप्रमाणकत्वं चेतनस्याभ्युपगच्छाम इत्यत्राह–

न च इति। किं चास्तु त्वदभ्युपगमे तदेव प्रमाणं तथापि तदभावान्नाभावश्चेतनस्येत्याह – **न च प्रमेयस्य इति।** व्याप्त्यभावमेव विकल्प्याह– **सा हि इति।** प्रमेयस्य प्रमाणव्याप्तिः सर्वैः प्रमाणैरिति प्रमाणकार्त्स्न्येनाभ्युपगम्येत किं वा येन केनचित्प्रमाणैकदेशेन। तत्र कृत्स्नप्रमाणव्याप्यैः प्रत्यक्षाद्यन्यतमनिवृत्तावपि प्रमेयं निवर्त्तेत। न चैतदस्ति। द्वितीयेऽपि यदि नियतस्यैकस्य पुरुषस्य तर्ह्येकस्य सर्वप्रमाणनिवृत्तावपि प्रमेयं निवर्तेत। अथानियमेन सर्वेषां न हि तदा सर्वपुरुषाणां यत्किञ्चिदपि प्रमाणं नास्तीति निश्चेतुं शक्यत इति। ननु यदि न प्रमेयस्य प्रमाणव्याप्तिः कथं तर्हि रूपादिज्ञानाभावात्तदेकप्रमाणकस्य चक्षुरादेरभावनिश्चय इत्याह–**कथं तर्हि इति।** उत्तरं– **व्यापक इति।** न हि तत्रापि प्रमाणाभावादनिश्चयः। किं तर्हि ! **व्यापकानुपलब्धेरिति।** कथं रूपादिज्ञानं चक्षुरादेर्व्यापकं, न हि कार्यं कारणस्य व्यापकं वैपरीत्यादित्यत्राह– **चरम इति।** चरमसामग्रीत्वेन निविशमानस्य हि कारणस्य कार्यमेव व्यापकं यथा अन्त्यतन्तुसंयोगस्य पटस्तेन तस्य व्यापकस्य कार्यस्य निवृत्तौ व्याप्यभूतस्यैव कारणस्य निवृत्तिरवसीयते, न तु प्रमाणनिवृत्त्या प्रमेयनिवृत्तिरित्यर्थः। किञ्चित्तु कारणमस्मिन्सत्येव भवति नासतीति कार्यं प्रति योग्यतया निविशते यथा तन्त्वादयस्तस्यापि कदाचिद्भवत्कार्यं व्यापकं न हि सर्वदा कार्यानन्वितं कारणमिति शक्यं वक्तुम्। तस्मात्तस्य कादाचित्कस्यापि कार्यस्य निवृत्तौ तथाभूतस्य योग्यतयानिष्टस्यापि निवृत्तिः **अन्यथा इति।** यदि विधाद्वयमपि चक्षुरादौ नास्ति तदा रूपादिज्ञानाभावान्न तत्राप्यभावनिश्चयः किन्तु सन्देह एव स्यादिति। यद्वा योग्यतामात्रस्य कदाचित् कार्यं न तु व्यापकं तेन कारणस्य निवृत्तौ कादाचित्कस्यापि कार्यस्य निवृत्तिस्तद्व्यतिरेकेणास्य निवृत्तिरन्यथा कार्यनिवृत्तौ तत्रापि कारणेऽपि सन्देहो नाभावनिश्चय इति। *केचित्तु* न तन्निवृत्तौ तथाभूतस्यापि निवृत्तिरिति नञ्प्रश्लेषेण पठन्ति। तत्रायमर्थः, ननु चरमसामग्रीनिवेशिन इति विशेषणं योग्यस्येत्येवोच्यतामित्यत्राह – **योग्यतामात्रस्य इति।** तस्य कार्यं न व्यापकं तस्मात्कार्यनिवृत्तौ योग्यतामात्रस्य निवृत्तिः। **अन्यथा इति।** चक्षुरादेश्चरमसामग्रीनिवेशाभावे तत्रापि नाभावनिश्चयः सन्देह एवेति।

चक्षुरादिवत्प्रकृतेऽपीश्वरे व्यापकस्य प्रयोजनादेरनुपलब्ध्या व्याप्यस्य कर्त्तुः प्रतिषेधोऽस्तु न प्रमाणाभावेनेत्याह – **प्रकृतेऽपि इति। न इति।** प्रतिषेधाधिकरणस्य सिद्धिमेवाह– **न हि इति।** न ह्यनाश्रय एव सर्वकर्तृत्वस्य

विषयत्वस्य वा प्रतिषेधः संभवतीति। **आभास इति।** तेनाश्रयत्वोपपत्तिरिति। **न इति।** न परमाभासप्रतिपन्नाश्रयतानुपपत्तिः। प्रतिषेधप्रतियोगित्वं च नोपपद्यत इति।।१।।

व्यावर्त्याभाववत्तैव .... प्रमाणं नामेति।२। पृ० १८-१९

उभयीमप्यनुपपत्तिमुपपादयति **व्यावर्त्त्य-इति।** **व्यावर्त्त्यस्य**=निषेधस्य। **अभाववत्ता**=तत्संबन्धिता। **भाविकी** =पारमार्थिकी। विशेष्यता नामाभावाधिकरणतेति। यावत्पारमार्थिकी चाभाववत्ता पारमार्थिकस्यैव भावस्य न चाभासप्रतिपन्नस्येति भावः। **निषेध्यस्य** प्रतियोगिनः परमार्थतोऽभावविरुद्धात्मत्वं हि प्रतियोगिता निषेध्यत्वमिति यावत्। न चैतदप्याभासप्रतिपन्नस्यास्तीति। यथाहुः "लब्धरूपे क्वचित्किञ्चित्तादृगेव निषिद्ध्यते" इति। **न चैतदिति।** विशेष्यप्रतियोगिनोर्दर्शितं रूपमिति। **कथं तर्हि-इति।** यद्यसिद्धस्यैतन्नास्तीति। उत्तरं **न कथञ्चिदिति।** शशशृङ्गप्रतियोगिको निषेधो न कथञ्चित्संभवतीति। कुत इत्यत्राह **स हि इति।** स हि निषेधोऽभावप्रत्यय एव प्रतीयते। **न-इति।** प्रत्ययः प्रमाणं प्रमाणत्वेनैव, स हि निषेधोऽभ्युपगम्यत इत्यर्थः। ततः किमित्यत्राह **न च- इति।** मा भूदभावः पारमार्थिकः, ततोऽपि किमित्यत आह **तथा-इति।** न चेत्यनुषञ्जनीयमिति।।२।।

अपि च, दुष्टोपलम्भसामग्री .... विषाणाभावोऽस्ति।
पृ० २०-२१

न केवलमाभासप्रतिपन्नस्य पारमार्थिकप्रतिषेधप्रतियोगित्वमेव नास्ति। प्रतिषेधमात्रविषयत्वमपि न सम्भवतीत्याह – **अपि चेति।** यद्यपि तदतिरिक्तसामग्रीसाकल्पमेव योग्यता, तथापि कल्पितस्य शशशृङ्गस्य दुष्टैव सामग्री योग्यता। अन्यथोपलम्भस्याप्यदुष्टत्वेनोपलम्भस्यापि तात्त्विकस्य प्रसङ्गात्। ततः किम्? तस्यां तादृश्यां योग्यतायां सत्यां शशशृङ्गादेर्नानुपलम्भोऽस्ति, अपि तूपलम्भ एव स्यात्तस्या आभासोपलम्भव्याप्तेः। अत एवानुपलम्भकाले योग्यता नास्ति।

तस्माद्योग्यतानुपलम्भयोरेकतरसन्निधानेऽन्यतरस्याभावात् समुदायसाध्यमभावावधारणं दुष्करमिति व्याख्यातुमुपक्रमते **केन-इति।** योग्यानुपलम्भेनेति चेत्तत्राह **सर्वथा इति।** कदाचिदुपलम्भे ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां शक्यज्ञाना सामग्रीति। **आभास-इति।** तेन सर्वथानुपलब्धिरसिद्धेति।

तदुत्तरत्वेन श्लोकार्धं विवृणोति **अत एव**-इति। **कस्तर्हि**-इति। **यद्यशक्यनिषेधम्** इति। सुहृद्भावेनाह **शश** इति। प्रमाणसिद्धमेव विषाणं निषिद्ध्यते न त्वाभासप्रतिपन्ने तादृशमेवेति।३।

स्यादेतत् ..... आश्रयासिद्धिरिति स एव दोषः। पृ० २२-२२।

प्रकृतेऽपि प्रमाणसिद्धं निषेधाधिकरणं दर्शयन्नाह **स्यादेतत्**-इति। तस्यामेव प्रतिज्ञायां वस्तुत्वद्रव्यत्वादयोऽपि हेतव इत्याह **एवम्**-इति। यथाहुः-

प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च।

अभावकरणे शक्तं को नु तं कथयिष्यति।। (श्लो० वा०, पृ० ८५)

एतदप्याश्रयासिद्धत्वादिना दत्तोत्तरमित्याह - **तदेतदिति** तदेव विकल्प्योपपादयति **इष्टसिद्धिरिति**। उभयवादिसिद्धेषु पक्षीकृतेषु सिद्धसाधनं तेषां सर्वज्ञत्वासर्वकर्तृत्वयोः अस्माकमपि सिद्धत्वात्। भवतामगोचरेऽपीश्वरे पक्षीकृते हेतोराश्रयतोऽसिद्धिः। नन्वात्मात्रे पक्षीकरणे सोऽपि तत्तया गृह्यत इत्यस्ति सामान्यतः सिद्धिरित्यत उक्तम् – **नान्या सामान्यतः सिद्धिरिति**। उभय-सिद्ध्यनुभयसिद्धिभ्यामन्यतः सिद्धिर्नाम न काचिदस्ति। नह्युभयीमपि विधामतिक्रम्य विधान्तरमस्ति।

आत्मत्वजातावपि पक्षीकृतायां यथेष्टसिद्ध्या पक्षत्वानिपातेनाश्रयासिद्धिः। तथा सैवाश्रयासिद्धिः स्यात्। निषेधस्य सर्वज्ञत्वादेः क्वचिदप्यसिद्धेरप्रसिद्ध विशेषणत्वात्पक्षस्येति व्याचष्टे-**प्रमाणेनेति**। तृतीयं पादं व्याचिख्यासुः शङ्कते **आत्मत्वमात्रेणेति**। विकल्प्य दूषयति **कोऽस्यार्थ इति**। भवतोऽसिद्धाप्य-स्मदभिमतैव सर्वज्ञसर्वकर्तृव्यक्तिरात्मत्वेनोपलक्षिता किं पक्षीक्रियेत। तस्या अप्यात्मत्वोपलक्षितत्त्वेन वस्तुगत्या सिद्धत्वात्। अथ तदन्या संप्रतिपन्नैव व्यक्तिः। अथ वात्मत्वमात्रमेव। प्रथमे **हेत्वसिद्धिरगोचर इति स्यात्**। द्वितीये **त्विष्टसिद्धिरिति स्यात्**। तृतीयेऽपि सैव आत्मत्वस्यासर्वज्ञासर्वकर्तृकयोः सिद्धत्वात्। तुरीयपादव्याचिख्यासया शङ्कते **अथायम्**-इति। तत्राश्रयासिद्धिसिद्धसाध्यते न स्यातामिति भावः। **तदसत्**-इति। न हि *मीमांसकस्य* सर्वज्ञत्वादिकं क्वचित्सिद्धमिति। किमतोऽनुमानस्येत्यत आह **तथा च**-इति।। साध्यविशिष्टस्य पक्षत्वाद् विशेष्याप्रसिद्धाविव विशेषणाप्रसिद्धावपि विशिष्टस्यासिद्धेराश्रयस्य पक्षस्याभावेन हेतुराश्रयासिद्धो भवतीति।।४।।

त्वदभ्युपगतागम .... निगदव्याख्यातमेतत् । पृ० २३-२३

त्वदभ्युपगमैः-इति। नैयायिकाभ्युपगमैर्लोकप्रसिद्ध्या चाश्रयः सेत्स्यतीति। न-इति। किमाश्रयग्राहकोऽयमागमादिः प्रमाणमाभासो वा? प्रमाणत्वे तदेव धर्मिग्राहकप्रमाणात् बाधितविषयं निषेधानुमानमात्मानमेव नासादयेत्। आभासे तु पूर्वोक्तैवाश्रयासिद्धिरागमादिप्रमाणोपन्यासेन तिरोभूता तत्परित्यागे पुनरुद्भूता स्यादिति। संग्रहस्याविवरणे कारणमाह-निगद इति। निगदः पाठः, स एव व्याख्यानमस्येति।।५।।

चार्वाकस्त्वाह .... कार्यकारणभावादिति। पृ०२३-२५।

तदेवमनुपलब्धिमात्रं न बाधकं योग्यानुपलब्धिस्तु नास्तीति *मीमांसके* निरस्ते परमनास्तिकश्चार्वाकः प्रत्यवतिष्ठत इत्याह-**चार्वाकस्तु**-इति। सिद्धान्ती शङ्कते **एवम्**-इति। इतर आह **नेदम्**-इति। प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनो हि वयमिति। **तथा च**-इति। प्रायशो व्यवहाराणामनुमानाधीनत्वादिति। **न**-इति। धूमादि-दर्शनेऽग्निसंभावनामात्रेण व्यवहरन्ति न तु निश्चयात्, अतो न तदर्थमनुमान-प्रामाण्यमङ्गीकर्त्तव्यमिति। कथं तर्हि व्यवहर्तॄणां प्रमाणमूलोऽयं व्यवहार इत्यभिमान इत्यत्राह **संवादेन च**-इति। संभावनामात्रेण प्रवर्त्तमाना यादृच्छिकार्थसंवादेन प्रवर्त्तकविज्ञानस्य प्रामाण्यमभिमन्यन्ते न तु निश्चायकत्वादिति।

अत्रोच्यते-इति। सन्देहात् प्रवृत्तिरिति तावन्न संभवति, भवत्पक्षे सन्देहस्यैवासंभवात्। दृष्टौ सत्यामदृष्टौ वा सत्यां क्व कस्मिन्विषये दृष्टेऽदृष्टे वा सन्देहः स्यादुभयोरप्युभयत्रापि न संभवति। संशयस्य हेतुर्विषयश्च नास्तीत्यर्थः। कुतः भावाभावनिश्चयात् दृष्ट्यदृष्ट्योरित्येव दर्शनदशायां भावावधारणादर्शनदशायां वाऽभावावधारणात्। अतो व्यवहारार्थमनुमानादिकमेवाङ्गीकरणीयं, तच्चानुपलम्भमात्रेणाभावनिश्चये दुर्लभम्। न केवलम् अनुमानादिकमेव, प्रत्यक्षमपि तद्धेतौ चक्षुरादावनुपलब्धिमात्रेण बाधिते कारणाभावात् कार्याभाव इति न्यायेन दुर्लभमिति सर्वोपप्लव इति।

ननु मा नाम भूत्सन्देहः संभावनया व्यवहारमभ्युपगच्छतः किमायातमिति शङ्कामपनुदन् व्याचष्टे **संभावना हि**-इति। ततः किमित्यत आह **तथा चेति**। गृहान्तर्वर्त्तिनोऽपि निर्गतस्याभावावधारणात् विलीयेयुरिति भावः। **स्मरण**-इति। बहिर्निर्गतेनापि पुत्रादीनां स्मरणेनोपलम्भात् नोक्तः प्रसङ्ग इति। **न**-इति।

प्रतियोगिस्मरणसहकृतस्यैवानुपलम्भस्याभावविशेषपरिच्छेदहेतुत्वान्न स्मरणोपलम्भो न केवलमभावपरिच्छेदं प्रतिबध्नाति प्रत्युतोन्मथ्नातीति यदृच्छया परावृत्तोऽपि न पुनः पुत्रादीनासादयेदित्याह **परावृत्तोऽपि**-इति। तेऽपि नासादयेयुरिति भावः। ननु परावृत्तिकाले तेषां सत्त्वादासादयिष्यन्तीत्याह **सत्त्वात्**-इति। **अनुपलम्भकाल** इति। स्पष्टः परिहारः। नानुपलम्भकालेऽपि सन्तः पुत्रादयः पुनरासाद्यन्ते। किन्तु यदोपलभ्यन्ते तदैवोत्पन्ना अन्य एवेत्याह **तदैव**-इति। **न**-इति। तदुत्पत्तिहेतूनां तदानीमनुपलम्भेन बाधितत्वात्तदुत्पत्तेरसंभवादनुपलम्भेऽपि वा तेषामबाधे स एवानुपलम्भमात्रेण नाभावावधारणमिति दोषः स्यादिति संग्रहस्योत्तरमर्धं व्याचष्टे **अत एव**-इति। यत एवानुपलम्भमात्रेणासत्वाङ्गीकार इति। **उपलभ्यन्ते**-इति। स्पष्टम्। तन्मतमङ्गीकृत्यैवाह **न**-इति। गोलकादयः स्वोपलब्धेः पूर्वमनुपलम्भेनासन्तः कथं स्वस्वविषयमुपलम्भमुत्पादयेयुरिति। तर्हि स्वोपलम्भकाल एव सन्तः स्वविषयमुपलम्भान्तरमारभेरन्नित्यत्राह **न च**-इति। न हि चक्षुरादीनां स्वविषयोपलम्भस्य च कार्यं कारणभावाद्यौगपद्यं भवतीति।

एतेन न परमाणवः ..... भीषयितव्यश्चेति।६। पृ० २५-२६।

एवं तावदनुपलम्भमात्रेण ईश्वरनिषेधोऽशक्य इत्युक्तम्। इदानीमनेनैव मार्गेण तेषां परमाण्वादिनियमोऽपि न सिध्यतीत्याह **एतेन**-इति। एतेन निरसनीयमिति संबन्धः। तत्र परमाणूनां परमेश्वरस्यैव योग्यानुपलम्भाभावेन प्रत्यक्षेण बाधः। तत्सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वयोरिव तेषां नित्यत्वनिरवयवत्वयोर्निषेधे धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः। तज्ज्ञानं पक्षीकृत्य सर्वविषयत्वनिषेधवत् पाथःपरमाणुगतरूपादिविशेषगुणानां नित्यत्वनिषेधे चाश्रयासिद्धिः। आत्मत्वं पक्षयित्वा तस्य सर्वज्ञसर्वकर्तृव्यक्तिसमवायनिषेधवद्रूपत्वादेरतीन्द्रियाश्रयत्वनिषेधे चाप्रसिद्धिविशेषणः पक्षः। इन्द्रियासत्त्वहेतोर्योग्यानुपलम्भस्य विशेषणासिद्धिः। यद्ययोग्यानीन्द्रियाणि सन्ति तर्हि शशशृङ्गमप्ययोग्यमस्ति चेति प्रतिवन्दिग्रहणेनेमानि निरसनीयानि इत्येतदपि परमात्मयोग्यत्वप्रतिपादनेन निरसनीयम्। तथा स्वर्गादिनिराकरणमपि निरसनीयम्। स्वर्गादिनिराकरणप्रदर्शनेन *मीमांसको* भीषयितव्यः, तन्निषेधं दर्शयित्वा च परितोषयितव्यः। यद्वा ईश्वरनिराकरणनिषेधेन तस्य भीषणमितरनिराकरणनिषेधेन तोषणमिति।।६।।

यद्येवमनुपलम्भेन .... कार्यत्वसावयवत्वयोरपि हेतुभावात्। पृ० २६-२९।

चार्वाकः सिद्धान्तिनं प्रत्याह **यद्येवम्**-इति। मा भूत्प्रत्यक्षानुपलभ्य-पिशाचाद्युपाधिनिषेधः, ततः किमित्यत्राह **तथा च**-इति। तथाभूतस्य = यथाज्ञानमवस्थितस्य। यद्वा अनुमित्सितस्य। यद्वा अनुमित्सितस्य जगत्कर्तुरिति। कथमसिद्धिरित्यत्राह **अनुमान**-इति। निरुपाधिको हि संबन्धः प्रतिबन्ध इति। अनुमानाभावे शब्दादेरपि प्रमाणस्याभाव इत्याह **तदभावे**-इति। प्रामाण्यग्राहिणस्तज्जातीयत्वानुमानादेरपि प्रामाण्याभावापराधेन शब्दादिप्रामाण्यासिद्धेरिति। एवं चानुपलम्भमात्रस्यानिषेधकत्वेऽनुमानाद्युच्छेदादीश्वरो न सिध्येत्। निषेधकत्वे तु तत् एव निषिध्येतेति। सेयं शिरोद्वयेऽपि पाशवती रज्जुरित्याह **सेयम्**-इति।

अत्रैकदेशिनः परिहारं दूषयितुमुपन्यस्यति **अत्र कश्चित्**-इति। किमनेनोपाधिविधूननव्यसनेन केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोश्च रूपसंपत्तिमात्रेण प्रतिबन्धसिद्धेर्न हि तयोर्विपक्षसपक्षाभावेन तद्व्यावृत्त्यवृत्ती संभवतः। अन्वयव्यतिरेकिणस्तु पञ्चरूपसंपत्तिमात्रेण तस्य सपक्षविपक्षयोर्भावेन तदनुवृत्तिव्यावृत्त्योः संभवादिति। न च रूपसंपत्त्यवधारणेऽप्युपाधिविधूननमुपयुज्यत इत्याह **तस्याश्च**-इति। कथं तत्प्रमाणकत्वं तस्या इत्यत्राह **यत्र तु**-इति। तयोर्भङ्गे प्रमाणभङ्गस्यावश्यकत्वादिति। कस्मादेवमित्यत्राह **न हि**-इति। हेतोश्चतुःपञ्चानां रूपाणां विप्लवो हेतुविप्लवः। प्रमाणविप्लवाविप्लवयोर्हि प्रमेयविप्लवाविप्लवौ भवत इति भावः। यदि दर्शनादर्शनाभ्यामेव प्रतिबन्धसिद्धिस्तर्हि मैत्रीतनयत्वादिरपि हेतुः स्यादित्याह **अप्रयोजक** इति। तयोरविप्लवे तु नाप्रयोजको नाम कश्चिदस्तीत्याह **भूयोदर्शन** इति। स एवाप्रयोजकत्वेन संभावितानाशङ्क्य निराकरोति **न तावदिति**। अनुमानसूत्रे पूर्ववच्छेषवदिति कार्यकारणानुमाने परिगृह्य सामान्यतो दृष्टमित्यकार्याकारणभूतस्य सलिलादिविषय-वलाहकाद्यनुमानस्यापि स्वीकारादिति **नापीति**। सामग्री कार्यलिङ्गं तदेकदेशोऽप्रयोजकः स्यादित्यपि न युक्तम्। पूर्वं = कारणं यस्यास्ति लिङ्गत्वेन तत्पूर्ववदिति। पूर्ववतोऽपि तत्र सूत्रेऽनुमानत्वेन स्वीकारादिति। **नापि व्यभिचारीति**। न हि मैत्रीतनयत्वादेर्व्यभिचार उपलभ्यते तदुपलम्भे वा व्यभिचार एव दोषः स्यान्नाप्रयोजकत्वमिति। **न चेति**। तथा च सर्वोऽपि हेतुरप्रयोजकः स्यादिति। **नापि व्याप्यान्तर इति**। स्पष्टम्। **नाप्यल्पविषय इति**। न हि धूमादिः सपक्षव्यापक इति। स एव तत्र किञ्चिदाशङ्क्य निराकरोति **ननु इति**। न हि धूमः स्वनिवृत्तावप्यनिवर्तमाने वह्नौ प्रयोजको

नामेति। कुत्र तर्हि प्रयोजक इत्यत्राह आर्द्रेन्धनवत्तम् इति। तस्यैव वह्निविशेषस्यैवेति। कुतो युक्तमित्यत्राह सामान्य-इति। न हि संभवति वह्निविशेषं साधयति न तु सामान्यमिति सामान्यासिद्धौ विशेषस्यासिद्धेर्नियतत्वात्। यदि वा तदापि विशेषः सिध्येन्न तर्हि सामान्यविशेषभावः स्यात्। न हि तस्मिन्नसिद्धेऽपि सिध्यतस्तद्विशेषकत्वमिति। सकलसपक्षवर्त्तिनि हेत्वन्तरे सत्येकदेशवृत्तिरप्रयोजको यथा निषिद्धत्वे सति हिंसात्वम्। निषिद्धत्वं हि सकलञ्जभक्षणादेरप्यधर्मत्वसिद्ध्यर्थं क्लृप्तसामर्थ्यमिति। तदेव सर्वत्राधर्मत्वे प्रयोजकं हिंसात्वं च नैवंविधम-प्रयोजकमित्याशङ्क्याह नापि क्लृप्त इति।

तदेतदपेशलम् .... तदवधारणञ्चाशक्यम्। पृ० २९-३०।

अत्र सामर्थ्यं व्याप्तिस्तस्या अनुमितिज्ञानोत्पादने लिङ्गसहकारित्वादिति तदेकदेशिमतं पूर्वपक्षी दूषयति–तदेतदिति। किमुपाधिविधूननेन भूयःसाहचर्यदर्शने सति कोऽयमप्रयोजको नामेत्येतदशोभनं शङ्कितव्यभिचारस्या-प्रयोजकत्वादुपाविविधूननायत्तत्वाच्च शङ्कानिरासस्येति भावः। तदेवोपपादयति–कथं हि इति। निश्चिताव्यभिचारो हि हेतुर्गमकः, अन्यथातिप्रसङ्गात्। तन्निश्चयश्च न साहचर्यमात्रात्सिध्यति भूयःसहचरितानामपि क्वचिद् व्यभिचारदर्शनात्। तस्माद् व्यभिचार्यव्यभिचारिणोः साहचर्ये विशेषाभावात्तन्मात्रेणाव्यभिचार-निश्चयानुपपत्तेर्व्यभिचारशङ्कानिरसनहेतुः कश्चिदन्वेष्टव्यः, स चोपाधेर्विधूननमेवेति भावः। तत्र यदुक्तं निर्बीजशङ्का न युक्तेति तदप्यत एव निरस्तमित्याह– अत इति। निर्णायकविशेषादर्शने सति साहचर्यमेव व्यभिचार्यव्यभिचारणोः साधारणधर्मत्वात्संशयहेतुर्भवति। एवं च यदि भूयोदर्शने सत्यपि शङ्का स्यात् सर्वत्रापि सा स्यादित्येकदेशिना *चार्वाकं* प्रत्यापादिताऽतिप्रसक्तिरनुमान-प्रामाण्यमनिच्छतस्तस्य नोपालम्भाय भवति प्रत्युत नन्दनायेत्याह– एवं सति इति। यद्वा अनुमानमिच्छतः सिद्धान्तिनो नोपालम्भाय तस्योपाधिविधूननेन शङ्कानिवारणाभ्युपगमादिति। एकदेश्याह– स्वभावादेवेति। तेनाव्यभिचारः स्वभावमात्राधीनः न तु तदर्थमन्योऽन्वेष्टव्य इति। इतर आह– केन इति। सत्यमेवं, स तु स्वभावो निर्णीत एव व्यभिचारशङ्कां निवर्त्तयतीति तन्निर्णयार्थमन्योऽन्वेष्टव्य इति। तर्हि भूयोदर्शनमेवास्तु निर्णायकमित्यत्राह– भूयोदर्शनस्य इति। शङ्काया एव बीजमेतदित्युक्तमिति भावः। यत्र इति। तद् = अदृष्टभङ्गम्। तथा अव्यभिचारस्वभावम्–इति। आपातत इति। सर्वत्र सर्वदा

व्यभिचारो न भूयोदर्शनमात्रात्सिध्यतीति तत एव वक्तव्यमित्याह–**तस्मात्** इति। तर्ह्यनुपलम्भे नोपाधिविरहोऽवधार्यत इत्यत्राह– **तदवधारणम्** इति। अनुपलम्भमात्रस्य निषेधकत्वाभ्युपगमादिति।

ननु यः सर्वैः प्रमाणैः .... न व्यभिचरत इति। पृ० ३०-३१।

तर्ह्यनुमानान्निषेत्स्यत इत्याह–**ननु** इति। **वह्नौ**= वह्निसंबन्ध इति। **न** इति। अस्याप्यनुमानस्योपाध्यभावनिश्चयायानुमानान्तरापेक्षयां तस्य तस्यापीत्यनवस्थेति। किञ्च, सर्वैः सर्वदोपाधिमत्तया धूमस्यानुपलम्भो नासर्वज्ञेन निश्चेतुं शक्यत इति संदिग्धासिद्धो हेतुरित्याह– **सर्वादृष्टेश्च** इति। अस्तु तर्हि स्वेनैकेनानुपलम्भो हेतुस्तत्राह– **स्वादृष्टेरिति**। न ह्येकेन तद्वृत्तानुपलम्भस्तदभावव्याप्त इति सर्वदा स्वादृष्टिरप्यसिद्धेत्याह – **सर्वदा** इति। **असिद्धेरिति**। कदाचिदपि न द्रक्ष्यत इति निश्चयासंभवादिति। तदेवमेकदेशिनं निराकृत्य *बौद्ध*मतं दूषयितुमुपन्यस्यति– **तादात्म्य** इति। यस्य य आत्मा वा यत्कार्यं तयोस्तेनात्मना कारणेनाविनाभावः, अन्यथा तदात्मकत्वव्याघातात् कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गाच्च। ततोऽविनाभाव-निश्चयार्थमुपाधिविधूननापेक्षेति। यथाह –

कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमो दर्शनान्न न दर्शनात्। इति।

तादात्म्यतदुत्पत्त्योरेव निश्चय इत्यत्राह **तत्र** इति। अवृक्षे शिलादौ शिंशपात्वस्यानुपलब्धिबाधितत्वाद् वृक्षः शिंशपात्मेति निश्चीयते। तदुत्पत्तिस्तु पूर्वापरभावेन प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां सिध्यति। "प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन तदुत्पत्तिनिश्चयः" इति हि *बौद्धाः*। तत्र पौर्वापर्येण वह्निधूमयोरुपलम्भौ प्रत्यक्षद्वयं वह्न्यनुपलम्भे धूमानुपलम्भः। अन्यस्मिन्पूर्वभावेनोपलब्धेऽपि धूमस्यानुपलम्भ इत्यनुपलम्भत्रयमिति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकम्। अन्येषां तु वह्नेर्धूमस्य पौर्वापर्यस्य च त्रीणि प्रत्यक्षाणि वह्नेर्धूमस्य च द्वावनुपलम्भाविति। नन्वेवमप्यदृश्यभावः पिशाचादिर्धूमस्य कारणं, वह्निस्तु नान्तरीयकसन्निधिर्न वेति शङ्कायां न तदुत्पत्तिसिद्धिरित्यत्राह **न ह्येवम्**-इति। पिशाचादेस्तु पौर्वापर्येण प्रत्यक्षा-नुपलम्भगोचरत्वरूपस्य कारणलक्षणस्य विरोधाभावेन तत्त्वस्य कारणत्वस्य निर्वाहान्न शङ्कावकाश इति। नानेनापि प्रकारेणाविनाभावनिश्चय इत्याह **नैवम्** इति। कुत इत्यत आह **उभय** इति। किमत्र क्वचित्तादात्म्यमव्यभिचार-

निबन्धनमन्यत्र तदुत्पत्तिरिति विषयव्यवस्थयोच्यते किं वा स्वतन्त्रमुभयं तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वेति। नाद्यः, अनुवृत्तस्याव्यभिचारनिबन्धनस्यावचनात्, तदवचने च तस्यालक्षितत्वात्। नाप्युत्तरः, तादात्म्यस्य तदुत्पत्तावभावात् तस्याश्चेतरत्राभावादव्यापकत्वादत एव नापि संभूयेति भावः। किञ्च उपाधिविधूननापेक्ष एव ताभ्यामप्यविनाभावनिश्चय इत्याह कुतश्च इति। तदेवमनुमानस्याव्यभिचारनिश्चयापेक्षत्वात्तस्य चोपाधिनिषेधायत्तत्वात्तन्निषेधे योग्यानुपलम्भाभावादनुपलम्भमात्रस्य च निषेधकत्वानङ्गीकारादनुमानेन च तन्निषेधेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। *बौद्धाना*मपि निषेधाच्चानुमानादिविलोपप्रसङ्ग इति।

अत्रोच्यते, शङ्काचेदनुमास्त्येव ... किमनुपपन्नम्। पृ० ३२-३४।

चार्वाके प्रत्यवस्थिते परमसिद्धान्तीत्याह **अत्रोच्यते**-इति। उपाधिविरहस्य दुरवधारणत्वेनानुमानकुलोत्सादशङ्कास्ति चेत् तत एवानुमाऽस्त्येव तत्कालतद्देशयोः सहदृष्टस्य किं कालान्तरे देशान्तरे वाऽविनाभावो भविष्यति न वेत्येवं व्यभिचारस्य शङ्कनीयत्वात्। कालान्तरभवनमसंनिहितं च देशमनाकलय्य शङ्कानुपपत्तेः। तदाकलनस्य चानुमानमवधीर्याशक्यत्वादिति हृदयम्। तदनाकलने तु शङ्कैव न स्यान्निराश्रयत्वादित्यभिसन्धायोक्तं **न चेच्छङ्का ततस्तराम्** इति। न चेच्छङ्का, ततः शङ्काभावादेव सुतरामनुमाऽस्त्येव शङ्कानिरासप्रयासस्याप्यभावः। स्वीकृत्यैवानुमानं कथमियं व्यभिचारशङ्का निवर्तनीयेति तत्त्वबुभुत्सया पृच्छत उत्तरम्-अर्थक्रमानुरोधेन पाठक्रममनादृत्य **तर्कः शङ्कावधिर्मत** इति। तावदेवावकाशः शङ्कापिशाच्या यावत्तर्केण नागतं, समागतस्तु तर्कः शङ्काया अवधिरन्तो मतो *न्यायविदाम्।* ननु तर्कोऽप्यविनाभावमूल एव प्रवर्तमानोऽन्यथासिद्धिशङ्कया तर्कान्तरमपेक्षत इति अनवस्थादौस्थ्यात् पुनरप्यनुमानं दत्तजलाञ्जलि स्यादित्यत उक्तं **व्याघातावधिराशङ्का** इति। अयमाशयः-किमियमाशङ्काऽर्थक्रियार्थिनो लौकिकस्य, हेतुफलभावं जिघांसतः परीक्षकस्य वा ? प्रथमे क्रियाव्याघातावधिराशङ्का लोकस्य न तु यथा क्रियाव्याघातादयोऽवतरन्ति तथा भवतीत्यर्थः। तथा च द्वित्रस्थानपर्यवसानान्नानुमानप्रामाण्यविघातः। द्वितीये तु शङ्कैव न स्यात्। तस्या अपि कस्यचित् फलत्वात्तया हेतुफलभावप्रत्यक्षे प्रामाण्यनिश्चयोऽपि न स्यात्। तस्या अपि तथाभावात्, सोऽयं व्याघात इति।

व्याचष्टे **कालान्तरे** इति। **भवन्मुहूर्त्ता अनुमेया**-इति। वर्त्तमानमुहूर्त्तादयो भाविमुहूर्तादिवन्तः मुहूर्त्तत्वादतीतमुहूर्त्तवदिति। मा भूदनुमानं स्मरणं तु भविष्यति

कालान्तर इत्यात्राह **अनवगत इति**। भाविनः कालस्य प्रत्यक्षासंभवादिति सर्वथा चानाकलने निर्विषया शङ्कैव न स्यादित्याह **अनाकलने इति**। तर्हि ननु माभूद् व्यभिचाराशङ्केत्यत्राह **तथा च इति**। तुरीयं पादं व्याचिख्यासुः शङ्कते **स्वीकृतम् इति**। सुहृद्भावेनैवोत्तरमाह **न-इति**। द्वयी हि शङ्का किमस्य हेतोरनेन साध्येन संबन्ध उपाधिरस्ति वा न वेत्येका, अन्या तूपाधिकङ्कानिमित्ता हेतोः साध्यव्यभिचारशङ्का। तत्रोभयत्रापि तर्कप्रवृतेः शङ्कानिवृत्तिरिति। कथं तर्हि ततस्तन्निवृत्तिरित्यत्राह **तेन हीति**। यद्यत्रोपाधिः स्यात् तदायत्तो वा हेतोर्व्यभिचारस्तत एव स्यादिति। प्रामाणिकत्यागाप्रामाणिकस्वीकारात्मका-निष्टमुपनयता तर्केण पक्ष एव जाता विपक्षजिज्ञासात्मिकेच्छा विच्छिद्यते। तद्विच्छेदे चानुमाता निरस्तान्तरायेण भूयोदर्शनेनावधारिताव्यभिचारं लिङ्गं निःशङ्क एवानुमितिज्ञानोत्पादे विनियुङ्क्ते। विनियुक्ताच्च कारणलिङ्गादनुमिति-क्रियानिष्पत्तिरिति न संकटं किञ्चिदिति।

ननु तर्कोऽप्यविनाभावम् ... तद् व्युत्पादनवैयर्थ्यात्। पृ० ३४-४०।

ननु यदि तर्केण व्यभिचारशङ्कानिवृत्तिः तर्हि तर्कस्याप्यविना-भावापेक्षत्वात्तत्रापि शङ्कानिवृत्त्यर्थं तर्कान्तरापेक्षायामनवस्था स्यादित्याशङ्क्याह **ननु इति**। अत्रोत्तरत्वेन तृतीयं पादमवतारयति **न-इति**। नानवस्थया भवितव्यम्। न हि यत्र यत्राविनाभावग्रहस्तत्र सर्वत्र शङ्कोदय इति। व्याघातावधित्वमेवाह **तदेव हीति**। यस्मिन्नाशङ्क्यमाने लोकस्य व्यवहारव्याघातादयो न प्रादुष्यन् तत्रैव शङ्का न सर्वत्रेति। कुत इत्यत आह **न हीति**। न हि कार्यकारणभावोऽपि न स्यादिति शङ्कायाः संभवस्तस्या अपि कस्यचित्कार्यत्वादिति न केवलं शङ्कानुदयः सर्वमपि कार्यजातं मिथ्या कार्यकारणभङ्गादित्यादि च बाधकमूहनीयमित्याह **सर्वम्-इति**। यद्वा सर्वं व्यभिचरिष्यतीतिवत्सर्वं मिथ्या भविष्यतीत्यपि शङ्काया अनुत्थानं तस्या अपि सर्वान्तर्भावेन मिथ्यात्वेन व्याघातादिति प्रसङ्गादुच्यतेऽइति। नन्वसार्वत्रिकत्वेऽपि यत्र कुत्रचिदपि संभवन्तीत्याशङ्कोपाधिनेषेधेनैव निवर्तनीया, तत्रैन्द्रियकस्य योग्यानुपलम्भेन निषेधेऽप्यतीन्द्रियस्य कथं निषेध इत्याह **तथापीति। न वै कश्चित्-इति**। **प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यत इति**। तर्हि भूयोदर्शनेनैव प्रतिबन्धसिद्धेस्तर्कः शङ्कावधिरित्यादिकमरण्यरुदितं स्यादित्यत्राह **केवलम्-इति**। न तावत् भूयोदर्शनमात्रात्प्रतिबन्धनिश्चयः, नापि सर्वत्रोपाध्याशङ्का, किन्तु निबन्धनान्तरकृतस्यापि साहचर्यस्य क्वचिद्दर्शनात् किमत्रापि निबन्धनान्तरमस्ति

वा न वेति क्वचिच्छङ्का जायते। सा च हेतोर्विपक्षसंसर्गशङ्कां फलति ततो न प्रतिबन्धनिश्चयः स्यात्, तेन हेतोः साध्यसंसर्गे निबन्धनान्तरशङ्का स्वरूपतः फलतश्च प्रतिबन्धनिश्चयार्थं निबन्धनीया। तत्र या फलभूता धूमवानपि पर्वतः किमनग्निः स्यादिति पक्ष एव विपक्षत्वेन जिज्ञासा सा तर्केण साक्षान्निवर्तते। यदि तथा स्याद् धूमस्याकारणत्वेन कादाचित्कत्वभङ्गप्रसङ्गः दुष्टत्वं वाग्नेरनियतत्वान्नियतस्य च हेत्वन्तरस्याभावादिति। ततो निवृत्तव्यभिचारशङ्को निष्कलङ्को भूयोदर्शनेनावधृतप्रतिबन्धाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनमनुमिनोति। तत उपाधिशङ्कास्वरूपमपि निवर्तते। न चोपाधिशङ्काऽप्यनुमानप्रवृत्तेः पूर्वमेव निर्वतनीया विपक्षजिज्ञासानिवृत्तयैवानुमानप्रवृत्तेः। पाश्चात्या तूपाधिशङ्कानिवृत्तिर्वस्तुगत्योक्ता, न त्वनुमानप्रवृत्त्युपयोगित्वेनेति। न च तर्कसनाथेन भूयोदर्शनेन निश्चितप्रतिबन्धं लिङ्गमनुमानाङ्गमित्ययमर्थः स्वमनीषिकामात्रकल्पित इत्याह न चैतत्-इति।

तदयं संक्षेपः .... त्युपाधिरसावुच्यते। पृ० ४०-४३।

"अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क" (१।१।४०।) इति तर्कं लक्षयित्वा वादसूत्रे प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ इति न्यायाङ्गतां तर्कस्य व्युत्पादयतः *सूत्रकृतो* न्यायोपकारकत्वस्याभिमतत्वात्। अन्यथा तर्कस्य न्यायानङ्गत्वे तद्व्युत्पादनमनर्थकं स्यात् प्रयोजनान्तराभावादिति विस्तरतः प्रतिपादितमर्थं शिष्यानुकम्पया संक्षिप्य वक्ष्याम इत्याह तदयम्-इति। यत्र हेतावुपाधिविधूननेन भूयोदर्शनसहायकमाचरन्ननुकूलस्तर्को नास्ति सोऽप्रयोजकः। उपाधिमानप्रयोजक इत्युक्तं भवति। तत्र शङ्कितोपाधेरप्रयोजकत्वे मीमांसावार्त्तिकमुदाहरति यावच्च-इति। कोऽसावुपाधिर्नाम यद्वा न प्रयोजक इत्यत्राह उपाधिस्तु-इति। एकस्मिन्साध्ये साधनत्वेनोपप्लवमानयोः यः साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तिकः स इतरस्य साध्यसंबन्धे उपाधिः स्यात्। तत्र साध्यव्यापक इत्येवोच्यमाने अनित्यत्वसाधने सावयवत्वे कृतकत्वमुपाधिः स्यात्। अथ साधनाव्यापक इत्येवाभिधीयते तदा कृतकत्वे सावयवत्वमुपाधिः स्यात्। न चैतद्युक्तमुभयस्यापि प्रयोजकत्वादिति। एवं लक्षणमुपाधिशब्दप्रवृत्तिर्निमित्तमाह तद्धर्म इति। संसृज्यमाने तद्धर्मविरहिणि धर्मिणि स्वधर्मप्रतिभासनिमित्तत्वमुपाधिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तिमिति।

तदिदमाहुः, अन्ये पर प्रयुक्तानाम् .... निर्णीते तदनवकाशादिति। पृ० ४३-५७।

अत्रापि वार्त्तिकमुदाहरति तदिदमाहुरिति। येऽपि वैशेषिकादयः "अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि समवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम्" इति (वै. सू. ९. २. १) वदन्ति तेषामपि तत्प्रतिबन्धनिश्चये तर्कसनाथं भूयोदर्शनमेव निदानम्। न च तस्मिन्सति सविशेषणनिर्विशेषणयोर्बलाबलं प्रति कश्चिद्विशेषः। अन्यथा यदि तर्कसनाथं भूयो दर्शनं न स्यात् ततस्तत् सर्वं लिङ्गाभासं भवेदित्याह तदनेनेति। तादात्म्यतदुत्पत्तिनिबन्धनः प्रतिबन्ध इति वदतामपि तन्निश्चयोपायस्तर्क एवेत्याह **तादात्म्य इति**। तत्र तर्कं दर्शयति **यदि हि इति**। तयोः कार्यात्मनोस्तत्त्वं कार्यत्वमात्मत्वं चेति। यतस्तर्क एव प्रतिबन्धबीजं न तु कार्यत्वमात्मत्वं वा, तत एव *बौद्धानामय*मभ्युपगमः सिद्धान्तीत्याह **अत एव इति**। तस्माद्विपक्षे दण्डभूतस्तर्क एव प्रतिबन्धहेतुः सर्वत्रेत्युपसंहरति **तस्मादिति**। विपक्षे बाधकाभावेन सोपाधिकमुदाहरति **तथाहि-इति**। श्यामत्वे साध्ये मैत्रतनयत्वस्य हेतोः शाकाद्याहारपरिणतिरुपाधिः पक्षभूते मैत्रतनये शाकाद्याहारपरिणतेरसत्त्वे बाधकाभावेन तद्विरहसंभवेन साधनं मैत्रतनयत्वं प्रति तस्या अव्यापकत्वात् श्यामिकां प्रति च कारणत्वेन व्यापकत्वात्कारणातिपाते च कार्यासंभवप्रसङ्ग इति विपक्षे बाधकेन कार्यं प्रति कारणस्य व्यापकत्वसिद्धेः। इदं च शङ्कितोपाधेः प्रयोजकस्योदाहरणं शाकादिपरिणतेर्मैत्रतनयत्वं प्रति व्यापकत्वानिश्चयात् निश्चयोपाधेस्त्वधर्मत्वसाधनं निषिद्धत्वोपाधिकं हिंसात्वं गमकमिति सव्यभिचारादिषु कुत्रान्तर्भावो अप्रयोजकस्येति प्रसङ्गात् पृच्छति **क्व पुनरिति**। तत्रैकदेश्युत्तरमाह **न क्वचित् इति**। कथं सव्यभिचारादिषु पञ्चस्वनन्तर्भूतो हेत्वाभासः स्यादित्याशङ्क्याह **यथा हि इति**। सिद्धसाधनवदयमपि पृथगेव हेत्वाभास इति संदिग्धसाध्यधर्मविशिष्टस्य पक्षत्वात् साध्यनिर्णये सति तदभावादपक्षधर्मः सिद्धसाधनमिति सिद्धान्तदृष्ट्याशङ्क्याह **नापि-इति**। एवं कालातीतोऽपि न पृथक् हेत्वाभासः स्यात्। तत्रापि विपर्ययनिर्णयेन साध्यसन्देहाभावात् सपक्षधर्मतोपपत्तेरिति। **न च इति**। विरुद्धत्वादेस्तत्संभावनैव नास्तीति भावः। दार्ष्टान्तिके निगमयति **तथायमपि इति**। यद्यनयोर्नान्यत्रान्तर्भावः कथं तर्हि "सव्यभिचारविरुद्धप्रकरण-समसाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासा" (१।२।४) इति विभागोद्देशसूत्रमित्यत आह **सूत्रं तु इति**। **विभागस्य इति**। अन्यथा विभागोद्देशोऽनर्थकः स्यादिति। यद्यनयोर्हेत्वाभासान्तरत्वं न स्यात् तर्हि सव्यभिचारादिषु कस्मिन्नन्तर्भाव इत्याह **क्व तर्हि इति**। **असिद्ध एव इति** तयोर्निवेश इत्यनुषङ्गः। सिद्धिनिरूपणपुरः सरमसिद्धिप्रकारानभिधाय तत्रैवानयोरन्तर्भावमुपपादयति **तथा हि इति**। तत्रान्यथासिद्धोऽप्रयोजकः।

मध्यमाप्याश्रयासिद्धिर्द्विधा भवति। आश्रयस्य धर्मिणोऽभावात्। तद्विशेषणस्य सन्दिग्धसाध्यधर्मवत्त्वस्याभावाद्विशेष्याभाव इव विशेषणाभावेऽपि विशिष्टाभावस्याविशिष्टत्वात्तयोर्द्वितीया सिद्धसाधनमिति। तत्र कालातीतविलोपप्रसङ्ग उक्त इति चेत्तत्राह **व्याप्तिस्थितौ** इति। सिद्धसाधने हि सत्यामेव व्याप्तौ पक्षत्वमात्रविघटनादाश्रयासिद्धिरेव, बाधितविषये तु व्याप्तेरेवाहत्य भङ्गः। पश्चात्तु साध्यविपर्ययनिर्णयात् पक्षत्वातिपात इत्यनयोर्विशेष इति अप्रयोजकस्य व्याप्त्यसिद्धावन्तर्भावं मन्यमानो मतान्तरमाशङ्क्य दूषयति **यत्तु**-इति। प्रथमव्याप्त्यसिद्धिं निमित्तीकृत्य व्यभिचारशङ्केत्यत्र पूर्वसिद्धासिद्धिरेव दूषणं स्यान्न तु तदुपजीवनेन प्रवृत्ता व्यभिचारशङ्का, अन्यथा व्याप्तिनिर्णये तु व्यभिचारशङ्कात्मकं दूषणमेव नोदेतीति निर्णीते विषये शङ्काया निरवकाशत्वादिति।।७।।

उपमानं तु .... नोपमानविषयोऽर्थान्तरम् । पृ० ६१-६३।

तदेव प्रत्यक्षानुमानयोस्तदभावावेदकत्वं निराकृत्य संप्रत्युपमानस्य निराचिकीर्षुरेकेषां मतं तावदुपन्यस्यति **उपमानं तु** इति। क्लृप्तप्रमाण-विषयातिरिक्तविषयासंभवादुपमानस्य पृथक्प्रामाण्यमेव नास्ति कुतस्तेन बाध आशङ्क्येतेति। विषयानतिरेकमेवाह **न तावत्** इति। पदार्थान्तरं हि भवत् सादृश्यं किं भावाभावाभ्यामन्यत्किं वोभयात्मकं किमुत् भावात्मकमेव षट्पदार्थातिरेकेणेति विकल्पं हृदि निधाय सामान्येन कोटिद्वयातिरेकस्यापि न संभवतीत्याह **परस्पर-** इति। भावाभावयोः परस्परप्रतिक्षेपत्वलक्षणस्वरूपत्वाद्भावनिषेधोऽभावविधिः स्यात्। तन्निषेधश्च भावविधिः, तेन ताभ्यामन्यः प्रकारः संभवति न कस्यापीति शेषः। नहि यस्मात्तस्माद्दूरे सादृश्यस्य विशेषस्य प्रकारान्तरस्थितिवार्तेति भावः। न च क्वापि विरुद्धानामैकात्म्यं विरुद्धत्वादेव अन्यथा विरोध एव न स्यात्। तथा च कथं परस्परविरुद्धभावाभावात्मकं भवेत्सादृश्यमिति भावः। किञ्च आस्तां तावद्वस्तुगतो विरोधः, वचनमात्रस्यैव विरोधात् भावाभावात्मता निरस्तेत्याह **उक्ति** इति।

एतेनैव भावत्वेऽपि षट्पदार्थातिरेको निरस्तः। परस्परविरोधिसगुण-निर्गुणादिव्यतिरेकेण प्रकारान्तरासंभवादुभयात्मकत्वासंभवाच्चेति व्याचष्टे **न हि-** इति। भवतु भावात्मकमेव तत्त्वान्तरमित्यत्रापि श्लोकं व्याचक्षाण आह **भावत्वेऽपि**-इति। **पूर्ववत्**-इति। भावाभावयोरिव परस्परविधिनिषेध-रूपत्वात्सगुणनिर्गुणयोरित्यर्थः। एवमुत्तरेष्वपि द्रष्टव्यम्। समवायस्याश्रितत्वे

बाधकमनवस्था इति। आश्रितत्वं नाम समवायस्य समवायित्वमेवाद्रव्यत्वेन संयोगासम्भवात्। तत्र च समवायस्याश्रितत्वाभ्युपगमेऽनवस्था स्यात्। इह पटे रूपसमवाय इति प्रतीतिस्तु विशेषणविशेष्यमात्रनिबन्धनेति। तदेवं पदार्थव्यवस्थितौ यदि सादृश्यं सगुणत्वादिविधास्वन्तर्भवेत् पदार्थषट्कान्नातिरिच्येत, अनन्तर्भावे वा पदार्थ एव न स्यादित्याह तदिति। शक्तिसंख्यादीनामपि षट्पदार्थान्तरत्वमनेनैव मार्गेण निराकृतमिति प्रसङ्गादाह एतेन इति। उपसंहरति तत इति। ततश्चाप्रमाणत्वादेव न बाधकमिति।।८।।

स्यादेतत्। भवतु ... प्रमाणमिति। एतदपि नास्ति। पृ० ६४-६४।

तदेवं तत्त्वान्तरभूततत्रान्तर्भूतसादृश्यविषयमुपमानं पृथक्प्रमाणमिति *गुरुमतं* निराकृत्य *भाट्टमतं* निराचिकीर्षुः शङ्कते स्यादेतत्-इति। पदार्थान्तरावयवादिवर्तीनि सामान्यान्येव पदार्थान्तरस्यावयवादिषु वर्त्तमानानि सादृश्यं न तु तत्त्वान्तरम्। तथाहुः-

सामान्यान्येव भूयांसि गुणावयवकर्मणाम्।

भिन्नप्रधानसामान्यवर्ति सादृश्यमुच्यते।। इति।

न च तत् प्रत्यक्षविषयः संभवतीत्याह **गोसदृशोऽयम्-इति। न पूर्व-** इति। प्रतियोग्यनुसन्धानस्येन्द्रियसहकारिणो वैधुर्येणेन्द्रियसंनिपातमात्रात्सादृश्यज्ञानानुपपत्तिः। न च तावतेन्द्रियजन्यत्वहानिः प्रत्यभिज्ञानवदिति। तस्मिन्सन्निहितपदार्थप्रतियोगिकसादृश्यविशिष्टासन्निहितपदार्थविषयमेतत्सदृशः स इति। ज्ञानमुपमानफलं भविष्यति। न ह्येतदिन्द्रियेण जन्यते व्यवहितस्येन्द्रियेण संबन्धाभावादित्याह ननु-इति। न चेदं स्मरणं व्यवहितस्य पिण्डस्य सादृश्यविशिष्टतयाननुभूतत्वदित्याह **न चेदम्-इति।** ननु तत्सदृशोऽयमिति ज्ञानं तावदैन्द्रियकं, तस्माच्चैतत्सदृशः स इति ज्ञानस्य तत्तेदन्ताक्रमविपर्यय एव विशेषः। न च तावता प्रत्यक्षत्वहानिः सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञानवदयं स इति विपरीतप्रत्यभिज्ञानस्याप्यैन्द्रिकत्वेनेष्टत्वादित्यत्राह **न चैतत् इति।** उभयमपि प्रत्यभिज्ञायां विशेष्यस्यैकत्वात्तस्य च संनिहितवर्त्तमानत्वादिन्द्रियसंनिकर्षे न कश्चिद्विशेषः। एतत्सदृशः स इत्यत्र तु विशेष्यस्यासंनिहितत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षासंभवात्तत्सदृशोऽयमित्येतस्मान्महान्विशेष इति। तस्मादसंनिहितपिण्डस्मरणसहायं तत्प्रतियोगिकसंनिहितपिण्डवर्त्तिसादृश्यज्ञानमेव

तथाविधसंनिहितपिण्डप्रतियोगिकासंनिहितपिण्डवर्त्तिसादृश्यविषयं विज्ञानं जनयत्तदुपमानं नाम प्रमाणान्तरमास्थेयमित्युपसंहरति तस्मात् इति। तदेतदति-प्रसङ्गापादनेन दूषयति एतदपीति।

साधर्म्यमिव वैधर्म्यं .... तस्मान्नोपमानमधिकमिति। पृ० ६५-६७।

तर्ह्यसंनिहितपिण्डवर्त्तिवैसादृश्यज्ञानं जनयत्तत्प्रतियोगिकसंनिहित-पिण्डवर्त्तिवैसादृश्यज्ञानं सप्तमं प्रमाणं प्रसज्येत, तुल्यन्यायत्वात्। अथ तद्वैधर्म्यमेतस्य प्रत्यक्षसिद्धमन्यथानुपपद्यमानं तस्यैतद्वैधर्म्यं कल्पयतीति न तत्र प्रमाणान्तरप्रसक्तिरिति चेत् तर्हि तत्सादृश्यविशिष्टत्वमेतस्य प्रत्यक्षसिद्धं तस्यैतत्सादृश्यं विनानुपपन्नं तस्यैतत्सादृश्यं कल्पयदर्थापत्तिरेव स्यादिति व्याचष्टे यदा हि-इति। ननु संनिहितपिण्डगतधर्माभावविशिष्टत्वमेव सन्निहितस्य तद्वैधर्म्यं तत्राभावरूपत्वादभावप्रमाणस्यैव विषयः, सादृश्यस्य तु भावरूपत्वात्प्रमाणान्तर-मन्वेषणीयमित्याशयादाह न चेति। न इति।

इतः पुरोवर्त्तिनः पिण्डाद्व्यावृत्तधर्मयोगोऽपि वैधर्म्यं, तस्य च भावत्वान्नाभावप्रमाणविषयतेति।

उत्तरार्धं व्याचष्टे स्यादेतत्-इति। व्यवहितपिण्डवर्त्तिधर्माभाववत्त्वं तत्राविद्यमानधर्मत्वं वा संनिहितस्य तावत्प्रत्यक्षम्। तच्च व्यवहित-स्यैतद्धर्माभाववत्त्वेनात्राविद्यमानधर्मवत्त्वेन वा विनानुपपद्यमानं तत्कल्पयतीति न तदर्थं प्रमाणान्तरं मृग्यमिति। तर्हि सादृश्यमप्यर्थापत्तिरेव गमयेत् तुल्यन्यायत्वादित्याह एवं तर्हि-इति।

एतेन इति। पूर्वं मथुरायां पश्चाच्चोज्जयिन्यां दृष्टस्य पुनः प्रत्यभिज्ञानसमये चाद्य सन्निकृष्टस्य यत्प्रत्यभिज्ञानं य एव मथुरायां दृष्टः स एवोज्जयिन्यां दृष्ट इति तदप्यर्थापत्तिरिति व्याख्यातं कथमिति तत्राह तत्रापि-इति। मथुरायां दृष्टपुरुषवर्त्तिस्वरवर्णादिशालित्वमुज्जयिनीदृष्टस्येदानीं स्मर्यमाणमुभयत्रापि दृष्टस्यैकतामन्तरेणानुपपद्यमानं तां कल्पयतीति। यद्वा, दृष्टस्यासंनिकृष्टस्य चैकगोचरं यत्प्रत्यभिज्ञानमयं स इति विपरीतप्रत्यभिज्ञानं तदप्यर्थापत्तिरेव। तत्र संनिकृष्टस्य पिण्डस्य ये धर्मा उपलभ्यन्ते तद्धर्मशालित्वमसन्निकृष्टस्य स्मर्यमाणं तस्य सन्निकृष्टस्य चैकतामन्तरेणानुपपद्यमानं तयोस्तां कल्पयति। इदन्ताश्रय एव तत्ताश्रय इति व्यवस्थापयति। न हि तत् प्रत्यक्षफलम्, अयं स इत्यसंनिकृष्टपर्यवसायित्वात्तेन

चेन्द्रियसंनिकर्षाभावादिति। तस्मात्सामान्यरूपसादृश्यविषयत्वेऽप्युपमानस्य प्रमाणान्तरत्वाभावात् सिद्धं विषयानतिरेकादबाधकत्वमिति उपसंहरति तस्मादिति।।९।।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते .... समयपरिच्छेदोपपत्तेरिति। पृ० ६७-६८

अथ सिद्धान्ती प्रमाणान्तरत्वमङ्गीकृत्योपमानस्य नियतविषयत्वादबाधकत्वं वक्तुमुपक्रमते **एवमिति**। गवयादिसंज्ञायाः संज्ञिना गवयादिना सह संज्ञासंज्ञिलक्षणस्य संबन्धस्य प्रमितिरुपमानस्यैव फलं प्रत्यभिज्ञानादिना तदसिद्धेरिति संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतीतिस्तावदस्तीत्याह **यथा गौरिति**। तस्याः प्रत्यक्षादिभिरसाध्यत्वमाह **सेयम्-इति**। ननु नगरस्थस्य गवये नेन्द्रियसन्निकर्ष इति भिन्नकालतया तयोः स्वरूपतः समाहाराभावेऽपीन्द्रियसन्निकर्षसमये वाक्यतदर्थयोः स्मर्यमाणत्वेन समाहारसंभवात्तत्फलमेवास्त्वित्यत्राह **वाक्यतदर्थयोरिति**। न ह्यसत्येवेन्द्रियसंबन्धे उत्पद्यमानं प्रत्यक्षेऽन्तर्भवतीति। ननु सादृश्योपलम्भे तावदुत्पद्यते, तच्च प्रत्यक्षफलम्। तेन वाक्यफलस्य वाक्यार्थस्मरणस्य प्रत्यक्षफलस्य सादृश्यज्ञानस्य च समाहारादुत्पद्यमानः समयपरिच्छेदस्तयोरेवान्तर्भवेदित्यत्राह **फलसमाहार इति**। अनुमेयादिज्ञानमपि हि प्रत्यक्षफललिङ्गादिज्ञानहेतुकमेवेति। ननु यदि समयं परिच्छिन्दतः सादृश्यज्ञानस्य समाहारादुत्पद्यमानप्रत्यक्षफलस्यापि प्रत्यक्षेऽनन्तर्भावः। तर्हि विकल्पजनकं निर्विकल्पकमपि प्रत्यक्षे नान्तर्भवेत् अनुमानादिकमपि तथा स्यादिति नियमहेतुर्वाच्य इति पृच्छति **तत्किम् इति**। नियमहेतुमसाक्षात्कारादिरूपस्य यस्य ज्ञानविशेषस्य यदसाधारणं कारणमिन्द्रियादि तदनुवृत्तौ जायमानं ज्ञानं तस्य प्रमाणस्य फलं भवति। तन्निवृत्तौ तु ततो बहिर्भवतीति। यदीन्द्रियव्यापारानुवृत्तावुत्पद्यमानं प्रत्यक्षफलं तर्हि समयं परिच्छिन्दतः सादृश्यज्ञानस्य कालेऽप्यस्ति चक्षुर्व्यापार इति समयपरिच्छेदोऽपि प्रत्यक्षफलं स्यादित्याह **अस्ति तर्हि इति**। **न-इति**। न खलु तत्र सन्नपि चक्षुर्व्यापारः कारणं व्यभिचारात्। भवति हि वाक्यार्थस्मरणभावेन केवलं सादृश्यविशिष्टतया पिण्डमनुभूतवतः पश्चादुपरतेन्द्रियव्यापारस्यैव वाक्यार्थस्मरणे सति गोसदृशपिण्डस्मरणादेव समयपरिच्छेदः यो गवयपदवाच्यः स गोसदृश इति।१०।

अत्र जरन्नैयायिक आह ननु इति। नगरस्थेनैव वाक्यमात्रात्समयः परिच्छिन्नः, वनस्थेन तु केवलं प्रत्यभिज्ञायते सोऽयं गवयशब्दवाच्य इति। तेन शब्दप्रमाणक

एव समय इति। आधुनिकस्त्वाह प्रयोगाद्वा इति। गोसदृशो गवय इत्यत्र गोसदृशे वस्तुनि गवयशब्दप्रयोगमुपलभ्य तस्मादेव हेतोर्गोसदृशस्य गवयवाच्यत्वमनुमीयत इति। तदेव दर्शयति यो यत्र इति। गौणलाक्षणिकप्रयोगे व्यभिचारो मा भूदित्युक्तं असति वृत्त्यन्तरे इति। पक्षद्व्यमप्युसंहरति तत्-किम् इति।

सादृश्यस्य इति। प्रतीते हि प्रवृत्तिनिमित्ते संबन्धग्रहस्तदत्र वाक्ये शक्यग्रहः प्रतीतं सादृश्यं च निमित्तं, निमित्ति तु गवयत्वं न प्रतीतम्। तस्मान्न तावद्वाक्यमात्रेण सम्बन्धग्रहः, नाप्यनुमानेन तद्वाचकत्वज्ञानमन्तरेणासति वृत्त्यन्तर इति विशेषणस्यासिद्धेरिति।

नहि इति। यदि गोसादृश्यं निमित्तं स्यात् तदा नित्यवनवासिनां गवयपदेन व्यवहारो न स्यात्। तेषां गोरप्रतीतौ तत्प्रतियोगिकस्य सादृश्यस्य गवयेऽवगन्तुमशक्तेरिति। तर्हि तेषां गवयत्वं नागरिकाणां तु गोसादृश्यमित्युभयं विकल्पेन निमित्तमस्त्वित्यत आह न चोभयम् इति। तदा हि कथमारण्यकस्तेनाप्रतीतं गोसादृश्यविषयं समयं परस्मै प्रतिपादयितुमतिदेशवाक्यं प्रयुञ्जीतेति। कथमेतत् इति। गवयत्व एव न सादृश्येऽपीत्येतत्त्राप्रतीतगुत्वेन तस्य सादृश्ये व्युत्पत्तिर्न संभवतीत्युत्तरमुक्तप्रायमेवेति मन्वानोऽन्यथा परिहरति वस्तुगतिरिति। ननु वस्तुगतिरेत्येतावता न तत्प्रतिपादनमन्तरेण निर्धारणा सिध्यतीत्यत्राह तदापातत इति। तत्रापाततः प्रतिपादनं यावन्निमित्तिसन्देहेऽपि न पराभिमतस्य वाक्यादेव समयपरिच्छेद इत्यस्य फलस्य सिद्धिरिति कुत इत्यत आह गन्धवत्त्वम् इति। यथा हि गन्धवती पृथिवीत्यत्र गन्धवत्त्वं पृथिवीशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य पृथिवीत्वस्योपलक्षणं, तथा गोसादृश्यं निमित्तस्योपलक्षणम्। यद्वा इदं सादृश्यमेव निमित्तिमिति निर्धारणाधीनश्च वाक्यादेव संबन्धग्रह इति न पराभिमतसिद्धिरिति।।११।।

स्यादेतत्। पूर्वं निमित्तानुपलब्धेः ..... मानान्तरमनुसरणीयम्। पृ० ७०-७२।

स्यादेतत् इति। मा भूत् सादृश्यं निमित्तं मा च भून्निमित्तस्य गवयत्वस्याप्रतीतेः पूर्वं समयग्रहस्तथापि पश्चाद्वनगतस्य प्रवृत्तिनिमित्तोपलम्भे सति तत्सहकृतप्रागनुभूतमतिदेशवाक्यमेव स्मृतिस्थं तत्फलिष्यति संबन्धग्रहं, यथा ह्यध्ययनसमये पाठमात्रगृहीतो वेदः पश्चादङ्गोपाङ्गसंस्कृतः तस्य वाक्यार्थज्ञानं

प्रसूत इति। ननु युक्तं तत्राङ्गाध्ययनात्पूर्वं वाक्यार्थप्रतिपादनाय गृहीतस्य वेदस्यापर्यवसानादङ्गादिसहकृतस्य तस्यैव धर्मादिज्ञानहेतुत्वम्। अत्र त्वतिदेशवाक्यस्य स्वार्थप्रतिपादनेन पर्यवासानादयुक्तः समयपरिच्छेदहेतुभाव इत्याशङ्क्याह **न च वाच्यम्** इति। अतिदेशवाक्यमपि न तावत्पर्यवस्यति गोसदृशपदस्य तात्पर्यानवधारणेनार्थानिश्चयात्पदार्थपूर्वकत्वाच्च वाक्यार्थस्य गवयत्वावगतौ तु तर्कं पुरस्कृत्य गोसदृशपदस्योपलक्षणपरत्वसिद्धौ च गवयत्वविषयं समयवाक्यमेव प्रतिपादयति। यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र मुख्यार्थबाधेन गङ्गापदस्य तीरोपलक्षणत्वस्थितौ पश्चादन्वयप्रतिपादनम्। तर्कश्चात्र–सादृश्यस्य गवयत्वातिरेकिणः निमित्तत्वे क्लृप्तकल्प्यविरोधः, सादृश्यमात्रनिमित्तत्वेऽतिप्रसङ्गः, सादृश्यस्य निमित्तत्वे विशेषणस्य गोरप्यभिधानेऽशक्तिकल्पनागौरवमिति वक्ष्यते। तस्माच्छब्द एव समये प्रमाणमिति।

न, श्रुतान्वयात् इति। तदर्थानामाकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावशेन परस्परमन्वयादेव पर्यवसितमतिदेशवाक्यं नान्यत्पक्षोपनीतं गवयत्वादि-कमाकाङ्क्षति वाक्यार्थप्रतिपादनायेति शेषः। गङ्गायां घोष इत्यत्र तु गङ्गापदस्य मुख्यार्थेन पदार्थान्तराणामनन्वयात् मुख्यार्थलक्षितेन तु कूलेन सह संगतिरिति व्याचष्टे **गोसदृश** इति। कोऽसौ गोसदृश इति विशेषसन्देहोऽपि यो गोसदृशः स गवयशब्दवाच्य इति सामान्येनैवान्वयसिद्धेर्न मानान्तरोपमेय–विशेषाकाङ्क्षा वाक्यस्य। न हि पटो भवतीति वाक्यं रक्तत्वादिनिश्चयादृते न पर्यवस्यतीति। यदि हि वाक्यमेव सामान्येनान्वयं प्रतिपाद्य विशेषावगत्युत्तरकालं तदन्वयमपि प्रतिपादयेत् तदा वाक्यभेदः स्यादित्याह **अन्यथा** इति। गङ्गायां घोष इत्यत्र मुख्यार्थस्यान्वयायोग्यत्वात्तीरलक्षणयैवान्वयप्रतीतिः। नैवमत्र सामान्यस्यैवान्वय-योग्यत्वादिति विशेष इत्याह **न च** इति। ननु पर्यवस्यतां नाम वाक्यं, तथापि तत्प्रतिपादितार्थबलायत्तः समयपरिच्छेदस्तस्यैव वाक्यस्यार्थः स्यादित्यत्राह **अथ** इति। यथा हि भवतः साधुत्वादेव गवयपदस्य सामान्यतोऽर्थवत्त्वे सिद्धेऽपि विशेषज्ञानार्थं वाक्यार्थापेक्षा तथा गोसदृशस्य वाचक इति वाक्यावगतेऽपि तद्विशेषार्थं मानान्तरमित्युपसंहरति **तस्मात्**–इति।

अस्त्वनुमानम् ...... तदेव निमित्तमवगच्छतीति। पृ० ७२–७६।

अस्तु तर्ह्यनुमानं प्रमाणं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धे इत्याह **अस्तु** इति। **नासिद्धेरिति।** विशेषणासिद्धिमेवाह **न हि** इति। संगतिग्रहे हि सति मुख्यवृत्त्यवगमेन वृत्त्यन्तरासत्त्वं

ज्ञातुं शक्यते, तदसत्त्वविशेषिताच्च च प्रयोगात्सङ्गतिग्रह इतीतरेतराश्रयप्रसङ्ग इति। अस्तु तर्हि गोसदृशपदेन सामानाधिकरण्यात् गवयपदस्य गोसदृश-विषयत्वसिद्धेर्गवयत्वस्य तत्सदृशत्वात्तद्वाचकत्वसिद्धिरित्याह सामानाधिकरण्यात् इति। न इति। सामानाधिकरण्येन गोसदृशपिण्डमात्रविषयताप्रयोगः स्यात्। तेन च तन्मात्रवाचकत्वमेव सिद्ध्येत् नाभिमतं गवयत्ववाचकत्वमिति। न च निमित्तेन च गवयत्वेन सामानाधिकरण्यं सिद्धं गवयत्वस्याप्रतीतेः। प्रतीतेन तु सादृश्येन सामानाधिकरण्यसिद्धावपि नास्त्युपयोगस्तस्यानिमित्तत्वादित्याह निमित्ते इति।

नन्विति। गवयपदवाच्यं पृष्टः साक्षात्तत्प्रतिपादनाशक्तेः तदनुमानसामग्रीं व्याप्तिमेवाचष्टे यो गोसदृशः स गवयपदवाच्य इति। ततः श्रोतुरनुमानप्रवृत्तेर्नावकाशः प्रमाणान्तरस्य इति। न इति। व्याप्यव्यापकयोर्विपर्ययादिति। तमेवाह न हि इति। अस्तु तर्हि यो गवयपदार्थः स गोसदृश इति वाक्यार्थः। तत्राह ततः किम् इति। न हि गवयपदार्थं जिज्ञासमानस्य व्याप्यत्वेन तस्य निर्देश उपयुज्यत इति।

अथ इति। असौ-गवयपदार्थवाच्य इति। तदा इति। लक्षणप्रश्ने सत्युत्तरवाक्यं केवलव्यतिरेकिहेतुप्रतिपादनपरं स्यात्, लक्षणस्य केवलव्यतिरेकित्वात्। तदुक्तं *तार्किकरक्षायां* – "असाधारणधर्मत्वात् व्यतिरेक्येव लक्षणम्" इति। विवृतश्च *सारसंग्रहे*ऽस्यार्थ इति। व्यतिरेकिपरत्वे चातिदेशवाक्यस्यायमर्थः स्यादित्याह तथा च इति। एवं वाक्यावगत-व्यतिरेकव्याप्तिना च नागरिकेण लक्षणज्ञानार्थमेवमनुमानप्रयोगः कार्य इत्याह एवं च इति। तथा नाम प्रयुक्तम् इत्यत्राह न च इति। येन विपक्षाद् व्यतिरेकः सिद्ध्येदिति। हस्त्यादिषु गवयपदाप्रयोगस्तेषां विपक्षत्वे प्रमाणमित्याशङ्क्याह सर्वेति। मा भूत्तर्हि व्यतिरेकिरूपलिङ्गविशेषप्रश्नः, सामान्यप्रश्नस्तु भविष्यति-केन लिङ्गेन गवयपदार्थं जानीम-इति तदेतदाह ननु इति। न इति। जिज्ञासितविषयो हि प्रश्नः, यद्यनेन प्रष्ट्रा गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तं ज्ञात्वा तस्य लिङ्गमात्रमेवाविज्ञातं जिज्ञास्येत तदा हि तदेव पृष्टं भवेदस्य तु प्रवृत्तिनिमित्तमेवावगतं जिज्ञासमानस्य तदेव प्रष्टुं युक्तमिति। तर्हि प्रवृत्तिनिमित्तमेव जिज्ञासमानस्य तत्र ज्ञानोत्पादाय लिङ्गप्रश्नो भविष्यतीत्याह प्रवृत्तिनिमित्तेति। न इति। स्पष्टम्। ननु ज्ञानोपायमात्रं जिज्ञासुरप्राक्षीदितरस्तु लिङ्गस्य तदुपायत्वात् तेनैवोपायेनोदतीतरदित्याह न ज्ञानोपायेति। तर्हि ज्ञानोपायत्वाविशेषात्प्रत्यक्षं पर्यायान्तरं वोत्तरयेदित्याह न

इति। न हि तल्लिङ्गैकवेद्यमिति भावः। गत्यन्तराभावादयमेव प्रश्नवाक्यार्थ इत्याह **तस्मात्** इति। तर्हि गवयत्वमेवोपदिशेत् न गोसादृश्यं तत्राह **तस्य च** इति। किमनेनोपमानस्य सिद्ध्यतीत्यत्राह **तच्च** इति। तद्वाक्यं सादृश्यात्मकमुपलक्षणं वोपमानसामग्रीं वाक्यार्थस्मरणसहकृतसादृश्यप्रत्यभिज्ञानरूपामुत्थापयतीति किमेतावता गवयत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति सिद्ध्यतीत्यत्राह–**तस्य च** इति। तर्कस्वरूपमाह–**सादृश्यस्य** इति।

लक्षणन्त्वस्य ...... न त्वनतिरेकादिति स्थितिः। पृ० ७६-७६।

एवमुपमानस्य प्रमाणान्तरेभ्यो विषयभेदाद् भेदं दर्शयित्वा लक्षणतोऽप्याह **लक्षणं तु** इति। अनवगतस्वार्थसंबन्धया गवयादिसंज्ञया समभिव्याहृतं यद्वाक्यमतिदेशवाक्यमिति यावत्। तस्य योऽर्थस्तस्य संज्ञिनि गवयादिपिण्डे यदनुसन्धानमयमसौ गोसदृश इत्यादि प्रत्यभिज्ञानं तदुपमानमिति। नन्वव्यापकमेतत्, कीदृगश्व इति हि प्रश्ने गवयादिविलक्षणः केसरादिमानश्व इति वैधर्म्य-रूपवाक्यार्थप्रत्यभिज्ञानस्याप्युपमानत्वेनेष्टत्वादित्यत्राह **वाक्यार्थश्च** इति। ननु तथाप्यव्यापकं 'कीदृक्करभ' इति पृष्टेनोदीच्येनोदीरितं 'दीर्घग्रीवः प्रलम्बोष्ठः कठोरतीक्ष्णकण्टकाशी पशुः करभ' इति वाक्यं श्रुतवतो दाक्षिणात्यस्योत्तरापथे पुनस्तादृशपिण्डे तांस्तान् धर्मान् प्रत्यभिजानानस्यायं करभशब्दवाच्य इति। यथोक्तं *तार्किकरक्षायाम्*– अत्रातिदेशवाक्यार्थस्त्रिविधः परिगृह्यते।

साधर्म्यं धर्ममात्रं च वैधर्म्यं चेति भेदतः।। इति।

परमप्रकृतमुपसंहरति **तस्मात्**-इति। नियतविषयत्वात्संज्ञा-संज्ञिसंबन्धमात्रविषयत्वादिति।।१२।।

शब्दोऽपि न बाधकम् .... विशेषाप्रतिलम्भ इति।

अथ प्रमाणान्तरस्यैव सतः शब्दस्याबाधकत्वं प्रतिपादयिष्यन्मतान्तरं तावदाह **शब्दोऽपि** इति। अनुमानानतिरेकात्तस्य चाबाधकत्वस्य स्थितत्वादिति शेषः। द्वयोरपि 'यद्यपि' शब्दयोः तथापीति वक्ष्यमाणेन संबन्धः। पदार्थत्वस्य घटपटादिभिरनैकान्तिकता, पदस्मारितत्वस्य तु गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यादि पदस्मारितैः, पदपक्षीकारेऽपि पूर्वोक्तदोषस्तावदस्ति, तन्निस्तारेऽपि साध्याभावेन बाधितविषयत्वं पदानां पादर्थसंसर्गेण सह संयोगादिसंबन्धलक्षणस्य मत्वर्थस्याभावाज् ज्ञापकत्वलक्षणस्य चानुमानप्रवृत्त्युत्तरकालीनत्वेन ततः पूर्वं

भवतामसिद्धत्वादिति। तर्हि लिङ्गतया ज्ञापकत्वमेव मत्वर्थः साध्यः स्यादित्याह **न च लिङ्गतया इति।** प्रसङ्गमेवाह **तदुपलम्भे इति।** तस्य लिङ्गतया ज्ञापकत्वस्य साध्यस्योपलम्भे हि सति तेन सह शब्दलिङ्गस्य व्याप्तिनिश्चयः तन्निश्चये च ज्ञापकत्वानुमानमिति प्रकारान्तरासंभवेऽनतिरेक एव, पदार्थपक्षीकारेण तु तेषां मिथः संसर्गस्यैवमनुमानसंभव इत्याह **तथापि इति।** नन्वेतावता संसर्गमात्रं सिध्येन्नत द्विशेष इत्यत्राह **न च इति।** पदस्यारितान् पदार्थविशेषान् पक्षीकृत्य तेषां संसर्गे साध्यमाने तद्विशेष एव सिध्यतीति। **यद्वा इति।** तथा ज्ञानपूर्वकत्वस्य साध्यत्वान्न साध्याभावः, न चानैकान्तिकता आकाङ्क्षादिमत्त्वेन विशेषणात्। **तदिति** पदार्थपरामर्श इति। नन्वेवं कुतः संसर्गवत्ता सिध्येत् कुतो वा तद्विशेष इत्यत्राह **न चैवम् इति।**

अत्रोच्यते, अनैकान्तः परिच्छेदे...... विशेषणासिद्धत्वेनानुपपत्तेरिति। पृ० ८२-८३।

तत्र प्रथमप्रयोगे दोषमाह **अनैकान्त इति।** यद्यत्र संसर्गवन्त एवेति परिच्छेदो नियमः साध्येत तदा नामोक्तपदस्मारितैरनैकान्तो हेतुस्तेषां तन्नियमाभावात्। अथ संभवो योग्यतामात्रं साध्येत तदा वाक्यफलं निश्चयो न सिद्ध्येदिति। द्वितीयेऽप्याह **आकाङ्क्षा इति।** आकाङ्क्षा नाम प्रतिपत्तर्जिज्ञासा सा च सत्तामात्रेणान्वय-प्रतीतिहेतुस्ततः तया न व्यभिचारव्यावर्त्तनाय हेतुर्विशेषणीयः तर्हि योग्यतासन्निधिभ्यामेव विशेष्यत इत्यत्राह **योग्यासत्तिरिति।** न हि तावन्मात्रमन्वयप्रतीतौ निबन्धनमयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामित्यादौ वाक्यद्वयस्थयो राजपुरुषयोः सतोरपि तयोरन्वयप्रतीत्यभावादिति।

आद्यं पादं व्याचष्टे **एते इति।** आप्तोक्तपदस्मारितत्वादिति हेतुः-स्यादित्याह-**आप्तोक्त्येति। न इति।** अस्मिन्नर्थेऽयमाप्त इति वाक्यार्थप्रतीति-पूर्वकमाप्तत्वमवगन्तव्यं, तदवगत्युत्तरकालं च तद्विशिष्टहेतुना वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति परस्पराश्रयतापत्तिरिति भावः। प्रागाप्तत्वात्सिद्धिमाह **न हि इति।** येन प्रागेव वाक्यार्थप्रतीतेस्तत्सिद्ध्येत् इति। नन्वस्तु वाक्यार्थज्ञानसत्यत्वमाप्तिस्ततः किमित्यत्राह **न चैतत् इति।** क्वचिदाप्तत्वमवधार्य सर्वत्रायमीदृश इत्यनुमास्यामह इत्यत्राह **यत्र क्वचित् इति।** वाक्यार्थप्रतीतेः प्रागाप्तत्वासिद्धिमुपसंहरति **ततोऽस्मिन् इति।** ननु पदार्थास्तावत्प्रागेव प्रतीयन्ते तेषां सत्यत्वात्तत्राप्तिरप्यवधार्यत इत्यत्राह **पदार्थमात्रे च इति।** नन्वनवगतेऽपि वाक्यार्थे पदस्मारितानां पदार्थानां

परस्परसंसर्गयोग्यतावदागमादेतत्संसर्गेऽयमभ्रान्त इति। निश्चेतुं शक्यमित्याह एतेषाम् इति। न इति। नहि तदानीमेषां संसर्ग इत्यनुभवात्मिका बुद्धिः सिध्यति कारणाभावादिति। तत एव न स्मरणात्मिकापीत्याह अननुभूत इति।

नापि द्वितीयः ..... इति न किञ्चिदनुपपन्नमिति। पृ० ८४-८५

द्वितीयं पादं व्याचष्टे नापि द्वितीय इति। न परं साध्यासिद्धिः सिद्धसाधनं चेत्याह योग्यतामात्रस्य च इति। प्रागसिद्धौ दोषमाह अन्यथा इति। उत्तरमर्धं व्याचक्षाणः पदानि स्मारितार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणीति प्रयोगं दूषयति एवं द्वितीयेऽपि इति। एतच्च पूर्वत्रापि द्रष्टव्यम्। स एव संभविनः साक्षादुपन्यस्य निरस्यति न तावत् इति। साध्यत्वादिति। न साध्यमेव हेतुविशेषणमाकाङ्क्षा भवतीति। अस्तु तर्हि विशेषणविशेष्यभावयोग्यतैवाकाङ्क्षा तत्राह नापि इति। तस्याः प्रागेव हेतुविशेषणत्वेनोपादानादिति। तर्हि पदस्मारितानां पदार्थानामन्योन्याविनाभाव आकाङ्क्षेत्यत्राह नापि इति। नन्वस्ति तावद् गुणद्रव्यविशेषाभ्यां नीलसरोजाभ्यामाक्षिप्तयोः गुणद्रव्यसामान्ययोरविनाभावः। सोऽप्याकाङ्क्षेत्याह विशेष इति। यद्यविनाभाव आकाङ्क्षा तर्ह्यहो विमलं जलं नद्या इत्येतद्वाक्यगतस्य नदीपदस्य कच्छे महिषश्चरतीति वाक्यान्तरगतस्य कच्छपदस्य स्वार्थाविनाभाव-लक्षणं साकाङ्क्षत्वमस्तीत्यनयोर्वाक्यभेदो न स्याद्विभागे साकाङ्क्षाणामेक-वाक्यत्वादित्याह न इति।

ननु श्रोतुर्जिज्ञासा आकाङ्क्षा, तस्याश्च विमलं जलं नद्या इत्येतावतैव पर्यवसानाद्वाक्यभेदोपपत्तिरित्यत्राह – नापि इति। ननु न वयं जिज्ञासामात्र-माकाङ्क्षेति ब्रूमः किन्तु पदस्मारितविशेषविषयम्, अतो नातिप्रसङ्ग इत्याह-गुणक्रिया इति।

एवं तर्हि .... निवृत्ताकाङ्क्षस्य तदभावात्। पृ० ८५-८६

सत्यमियमेवाकाङ्क्षा तथापि नैष हेतुविशेषणं संभवतीत्याह– एवं तर्हि-इति। जातायां जातमात्रायामज्ञातायामेवेति। नानया इति। न ह्यज्ञातमेव विशेषणं हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तिं बोधयतीति मा भूदाकाङ्क्षा विशेषणमित्यत्राह–आसत्ति इति। अयमेति पुत्रो राज्ञ इति एक वाक्यं, पुरुषोऽपसार्यतामित्यपरं, तत्र राज्ञः पुरुष इत्यनयोर्योग्यतासत्ती स्तः तथापि नैकवाक्यत्वं क्रियान्तरसंबन्धेन निराकाङ्क्षत्वादिति। तर्ह्याकाङ्क्षापि ज्ञातैव विशेषणं भविष्यतीत्यत्राह द्वितीयस्तु

इति। यथा हि सविशेषणेष्वनुमानान्तरेषु सत्यपि विशेषणे तज्ज्ञाना-भावेनानुमानाप्रतीतिः तद्वदत्रापि सत्यामप्याकाङ्क्षायां तज्ज्ञानाभावे यदि संसर्गप्रतीतिर्न स्यात्स्यादपि तदा द्वितीयकल्पे, न चैतदस्ति योग्यतासत्तिमात्रं प्रतिसन्दधानस्याकाङ्क्षास्वरूपमात्रान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनान्वय-प्रतीतेर्दर्शनादिति।

कथमेष निश्चयः .... संसर्गज्ञानपूर्वकत्वमिति। पृ० ८६-८७।

नन्वाकाङ्क्षासत्तैवान्वयप्रतीतिहेतुर्न तु ज्ञानमिति कुतो निश्चय इत्याह **कथम् इति।** सत्तामात्रेणोपपत्तौ ज्ञानकल्पनायां प्रमाणाभावाच्छब्दादन्यत्र जिज्ञासाहेतुकेषु तावन्मात्रेण तदुपयोगदर्शनाच्चेत्याह **न इति। अविशेषादिति** जिज्ञासाहेतुकत्वेनाविशेषादिति। किञ्च संसर्गप्रतियोगिपदार्थविशेषस्मरणकाले तद्विषयजिज्ञासावगतिरपेक्षेत ततः प्रागेव वा ? न प्रथमः, घटमित्युक्ते पश्यतीतिपदस्मारिते क्रियाविशेषे तत्संसर्गस्यैवावगमात्। न द्वितीयः, पदस्मारितविशेषजिज्ञासाया एवाकाङ्क्षापदार्थत्वेन ततः प्राग्भाविन्यास्तस्या गुणक्रियाद्यशेषविषयत्वेनाकाङ्क्षानात्मनो वाक्यार्थज्ञानं प्रत्यनङ्गत्वादित्याह **विशेषेति।** अस्तु ज्ञातैवाकाङ्क्षा संसर्गज्ञानहेतुः अस्तु च हेतोर्विशेषणं, तथापि न वाक्यार्थप्रतीतिरानुमानिकी विशेषणत्रयविशिष्टस्यापि पदार्थस्मारकत्वस्य हेतोरनैकान्तिकत्वादित्याह **न चैवंभूतोऽपि इति। न च इति।** न हि राज्ञ इत्यादिपदत्रयस्मारितानां राजपुरुषापसारणानां संसर्गबुद्ध्या तदुच्चारितं राजपुरुषयोः पुत्रापसारणाभ्यां संसर्गज्ञानपूर्वकत्वादिति।

स्यादेतत् इति। यावन्ति समभिव्याहृतानि पदानि तावतामाकाङ्क्षादिमत्वे सति पदार्थस्मारकत्वं हेतुस्ततो न व्यभिचार इति यदि विशिष्टो हेतुः कुतस्तर्हि तदभावे संसर्गप्रत्यय इत्याह **कुत इति।** वाक्यैकदेश एव यावत्समभिव्याहृतत्व-भ्रान्तेरित्याह **अलिङ्ग इति।** भ्रान्तिमेव दर्शयति **एतावानेव इति।** यावत्समभि-व्याहृतत्वसन्देहेऽपि संसर्गावगमान्न तदध्यारोपकारणमिति। नन्वसावेकदेशश्राविणः संसर्गप्रत्ययो भ्रान्तिरित्याह **भ्रान्तिरिति।** भवतु भ्रान्तिस्तथापि कुतश्चित्प्रमाणा-भासाद्भवितव्यं, न तावत्प्रत्यक्षाभासात् लिङ्गाभासाद्वा भवति, तत्फलवैधर्म्यादित्याह **न तावत् इति।** यदि कतिपयाग्रहणदूषितं पदकदम्बकप्रतिसन्धानमेव भ्रान्तिं जनयेत्तदेवादुष्टमभ्रान्तिं जनयेन्नानुमानं लिङ्गाभिमानाभावेऽपि यथोक्तप्रकारेण प्रतीतिजननसामर्थ्यावधारणादित्याह **एतादृक् इति।** ननु स्यादेवं यदि

यावत्ससभिव्याहृतत्वसन्देहेऽपि व्याप्तिप्रतिसन्धानविधुरस्य संसर्गावगमो जायेत, न त्वेतदस्तीत्याह **नास्त्येवेति**। कुतस्तर्हि तत्र संसर्गव्यवहार इत्यत्राह **असंसर्ग** इति। यदि यावत्समभिव्याहृतत्वविशेषणविधुरस्य संसर्गज्ञानपूर्वकत्वाभावो न दोषाय विशिष्टस्य हेतुत्वात् तर्हि तद्विशेषितेऽपि हेतावनैकान्तिकत्वं सुवचमित्याह **तर्हि** इति। नन्वनाप्तवाक्यस्याप्यसंसर्गाग्रहपूर्वकत्वात्तावन्मात्रसाधने न व्यभिचार इत्याह **असंसर्गाग्रह** इति। एवं हि न कुतश्चिदपि वाक्यात् संसर्गावगतिः स्यादित्याह **एवं तर्हि** इति। नन्वाप्तप्रणीतत्वेनापि हेतुं विशेषयिष्यामः। तथा च तस्य न व्यभिचार इत्याह **आप्तवाक्येषु** इति। तदेतत्प्रथमानुमान एवाशङ्क्य निरस्तमित्याह **न** इति।

न च सर्वत्र जिज्ञासानिबन्धनम् .... विषयनिरूप्यत्वादिति। पृ० ८९-९०

एवमाकाङ्क्षा नाम जिज्ञासेत्यङ्गीकृत्य तस्याः सत्तया वाक्यार्थ-ज्ञानहेतुत्वाल्लिङ्गविशेषणत्वं न संभवतीत्युक्तम्। इदानीं तु सत्तयापि हेतुत्वं नास्तीत्याह **न च सर्वत्र** इति। न हि प्रथममेव पूर्णवाक्यश्राविणो जिज्ञासापूर्वकः संसर्गप्रत्यय इति। यदि न जिज्ञासा का तर्हि वाक्यार्थप्रतीतिहेतुराकाङ्क्षेत्याह **कस्तर्हि** इति। **जिज्ञासाम्** इति। अयमर्थः –पदस्मारितस्य स्मारिताप्तस्य वा स्मारितेन तदाक्षिप्तेन वाऽविनाभावे सति श्रोतरि तत्पदार्थोत्पाद्यस्य संसर्गावगमस्य प्रागभावो जिज्ञासां प्रति योग्यता, सा चात्राकाङ्क्षेति। पदार्थाविनाभाव आकाङ्क्षेत्युक्ते पटो भवतीति वाक्यपदपदार्थस्य गुणाविनाभावेन तत्साकाङ्क्षत्वात् रक्तः पटो भवतीति वाक्यैकदेशवन्न पर्यवस्येदत उक्तं **पदस्मारित** इति। तर्हि नीलं सरोजमित्यत्र पदस्मारितयोर्नीलसरोजयोरविनाभावाभावादेकवाक्यता न स्यादत उक्तं **तदाक्षिप्तस्य** इति। तत्र च विशेषयोर्विनाभावेऽपि तदाक्षिप्तगुणत्वद्रव्यत्व-सामान्ययोरविनाभावात्साकाङ्क्षत्वेनैकवाक्यतेति। तथाप्यहो विमलं नद्या जलं कच्छे महिषश्चरतीति वाक्ययोर्भेदो न स्यात्। नदीकच्छयोरविनाभावेन साकाङ्क्षत्वादत उक्तं **तदुत्पाद्य** इति। अत्र हि पूर्ववाक्यस्थनदीपदार्थोत्पाद्यस्य जलसंसर्गावगमस्य न प्रागभावस्तथोत्तरवाक्यस्थकच्छपदार्थोत्पाद्यस्य महिषसंचरणसंसर्गावगमस्यापि न प्रागभावः। तेन तयोर्निराकङ्क्षत्वान्नैकवाक्यतेति। अस्त्वियमाकाङ्क्षा ततः किमित्यत आह **न चैष** इति। तेन हेतुविशेषणत्वा-योगान्नानुमानत्वमिति। कुतो नापेक्ष्यत इत्यत्राह **प्रतियोगि** इति। संसर्गावगम-

प्रागभावोऽपि प्रतियोगिभूतसंसर्गावगमनिरूप्यः, स चाकाङ्क्षाधीननिरूपण इति इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्ग इति। तदेवं शब्दमात्रस्यानुमानान्तर्भावं वदन्तो निरस्ताः।।१३।।

प्राभाकरास्तु .... तथा निश्चयादिति। पृ० ९२-९४।

सम्प्रति ये वैदिकस्य पृथक्प्रमाणत्वमङ्गीकृत्य लौकिकस्यानुमानान्तर्भाव-मातिष्ठन्ते तेषां मतमुपन्यस्य निरस्यति **प्राभाकरास्तु** इति। स्थूलतामेवाह **निर्णीतशक्तेरिति**। लोकवेदसाधारणव्युत्पत्तिबलेन वाक्यार्थप्रतिपादने निर्णीतशक्तेर्वाक्यादेव वेदवल्लोकेऽपि वक्तृज्ञानानुमानात् प्रागेव वाक्यार्थनिर्णये जाते सति व्याप्तिस्मृतिसव्यपेक्षत्वेन विलम्बितप्रवृत्तेः वक्तृज्ञानस्यैवानुवादत्वं भवेन्न वाक्यस्येति व्याचष्टे **यावती** इति। आकाङ्क्षादिमत्प्रतियोग्यन्वित-स्वार्थाभिधानशक्तिप्रतिसन्धानमेव हि वेदवाक्यार्थप्रतिपादनसामग्री, सा च लौकिकानामप्यविशिष्टेति कथमिव तानि न वाक्यार्थं प्रतिपादयेयुः। वक्तृज्ञान लिङ्गे तु वाक्ये सति स्वार्थविषयज्ञानानुमानायार्थाभिधानशक्तिं तावत् प्रतिसन्धाय वाक्यस्य वक्तृज्ञानेन व्याप्तिरनुसन्धातव्या। ततश्च विलम्बकारिणो लिङ्गस्य निर्णेतव्यं नावशिष्यते। यथाहुः 'अश्वैरुपहतं को हि गर्दभैः प्रार्थितुं क्षमः' इति। **लोके** वक्तुराप्तिनिश्चयः सामग्रीति वाच्यं व्युत्पत्तिकाले तस्यातन्त्रीकृतत्वादित्याह **लोके तु** इति। आप्तेरपि शक्त्यवधारणोपयोगित्वे तद्विरहिणि वेदे वाक्यार्थप्रत्ययो न स्यादित्याह **अन्यथा** इति। **न च** इति। लौकिकवेदाधिकरण-सिद्धान्तव्याकोपप्रसङ्गादिति। ननु तुल्यापि सामग्री अनाप्तवाक्येषु दृष्टव्यभिचारपौरुषेयत्वसाधर्म्येण सर्वत्रापि व्यभिचारशङ्कायां नार्थप्रतिपादनसमर्था भवतीत्याह **अनाप्तोक्तौ** इति। **न** इति। न हि दृष्टव्यभिचारं चक्षुर्ज्ञानं न जनयतीति।

ननु ज्ञायमानतया ज्ञापकत्वाद्वाक्येन लिङ्गस्य रीतिरनुसर्तव्या न तु चक्षुरादेरित्याह **ज्ञायमानस्य** इति। किमत्र वाक्यस्य स्वरूपसन्देहो वाक्यार्थज्ञानजननं प्रतिबध्नाति, किं वा वाक्यफलस्य ज्ञानस्य विसंवादात् प्रामाण्यसन्देहः। तत्र वाक्यं तावन्निश्चितमेव, ज्ञानप्रामाण्यसन्देहस्तु कथं ज्ञानोत्पत्तेः पश्चाद्भवन् पूर्वभाविनीं तदुत्पत्तिं प्रतिबन्धीयादित्याह **न वाक्यस्य** इति। नन्वाप्तोक्तत्वसन्देह एव वाक्यस्य प्रत्यायकत्वं प्रतिबध्नातीत्यत आह **आप्तोक्तत्वस्य** इति। वेदे तदभावेऽप्यर्थप्रत्यायकत्वदर्शनादनङ्गत्वमिति मा भूद्वेदे, लौकिके तु तदङ्गं भविष्यतीत्यत्राह **लोकेऽपि** इति। वेदानुकारः स्वरविशेषस्तेन सादृश्याद्वेदत्वाभिमानालम्बनमुक्तं, मन्वादिवाक्येष्वन्वर्थसादृश्यात्।

गौडो मीमांसकः पञ्चिकाकारः। *गौडो* हि वेदाध्ययनाभावादवेदत्वं न जानातीति *गौडमीमांसकस्येत्युक्तमिति।* ननु पौरुषेयत्वाग्रहणकृतोऽयं निश्चयो भ्रान्तिरित्यत आह न चासौ इति। यदि हि तथा स्यात्पौरुषेयत्वग्रहे सति बाध्येत तदग्रहकृतस्य भ्रमस्य तद्ग्रहणे निवर्त्तनीयत्वात्, न बाध्यते चायं निश्चय इति।।१४।।

स्यादेतत् । नाप्तोक्तत्वम् ... वेदस्यापि तत्कुतः। पृ० ९४-९५।

स्यादेतत् इति। शङ्कानिराकरणे अङ्गमित्यनुषङ्गः, तत् किमिति न श्रद्धेयः प्रमाणत्वेनेति शेषः। सत्यादय इत्यर्थः। प्रत्ययस्याभावः शपथादिभाव्यः, सद्भाव एव प्रतिपत्तॄणां संसर्गव्यवहारदर्शनादवगम्यत इति भावः। व्यवहारस्यान्यथा-सिद्धिमाशङ्क्याह न च इति। यदि बाधकाभावेऽपि असंसर्गाग्राहक इति कल्प्येत तर्हि सर्वत्रापि तथात्वापत्तेः संसर्गप्रत्यय एवोच्छिद्येत। तथा च शब्दप्रामाण्यमेव दत्ताजलाञ्जलि स्यादित्याशयवानाह **तथापि** इति। भवन्नेवार्थप्रत्ययः केवलमश्रद्धेय इति पक्षे कथमियमश्रद्धा वेदे निवर्त्तनीयेति पृच्छामः। यदि ब्रूयात् यथा प्रत्यक्षे बाधदर्शनादश्रद्धा निवर्त्तते तथैवापौरुषेयत्वनिश्चयादिति, तर्हि लोकवाक्येऽपि पूर्वमेवार्थप्रत्ययो जायते तदश्रद्धा चाप्तोक्तत्वनिश्चयान्निवर्त्तत इत्यभ्युपगच्छेत्याह **द्वितीये तु** इति।

लोके पूर्वमर्थप्रत्ययानङ्गीकारे बाधकमाह **अन्यथा** इति। यद्वा वेदेऽप्यपौरुषेयत्वनिश्चयोत्तरकालमेवाभिधायकत्वे दोषमाहेति तदुच्यते इति। यथानुवादकत्वं वेदस्य प्रसज्यते तथोच्यत इत्यर्थः। **व्यस्त** इति। अमी पदार्था मिथः संसर्गवन्तः निरस्तसमस्तदोषशङ्कैः पदैः स्मारितत्वात् इत्यनुमानेन निर्णीते संसर्गे पश्चात्प्रवर्तमानस्य तदनुवादकत्वं कुतो न स्यादिति।

यदाह्यपौरुषेयत्व ..... तदसत् प्रमाणाभावात्। पृ० ९५-१०१।

यदा हि इति। अपौरुषेयत्वनिश्चयेन दोषाभावे निश्चितेऽनुमानसामग्री पूर्णेत्यनुमानादेव संसर्गसिद्धेर्वेदानुवाद एव स्यादिति किमविशेष एव सर्वथा लोकवेदयोरित्यत्राह **इयांस्तु** इति। वेदे वक्तुरभावात् पदार्थानेव पक्षीकृत्य तत्संसर्गः साध्यः, लोके तु वक्तृज्ञानविशेषणतयेत्येतावान् विशेषः। संसर्गस्यानुमानतः सिद्धिरित्यत्र फले तु न विशेष इति। **तथा च** इति। वेदेऽपि संसर्गस्यानुमानतः सिद्धावित्यर्थः। किञ्चैवमनुमानात्संसर्गसिद्धौ न तत्रान्विताभिधाने शब्दस्य प्रमाणमस्ति तत्प्रमाणस्यान्वितत्वेन प्रतीतेरन्यथाप्युपपन्नत्वादित्याह **न चैवम्**

इति। वृथा प्रयासः। अन्विताभिधानकल्पन इति शेषः। तस्माल्लोक एव शब्दस्यानुवाद कत्वमिच्छतो वेदस्याप्यनुवादकत्वमनिष्टं प्रसज्यत इति श्लोकार्थमुपसंहरति तस्मात् इति। यद्वा लिङ्गेन निर्णीतेऽर्थे शब्दस्यानुवादकत्वं वदतो विलम्बित प्रवृत्तेर्लिङ्गस्यैवानुवादकत्वं न शब्दस्येति निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धीति, पूर्वश्लोकार्थोपसंहार इति।

एवमन्विताभिधानमङ्गीकृत्य लोकवेदयोस्तुल्यत्वमावेदितम्, इदानीं तदपि निराकुर्वन्नाह **किं चेदम्** इति। **अविवादात्** इति। अभिहितान्वयवादिनोऽप्यन्वितप्रतिपादनमात्रं संवदन्ति, तदभिधान एव ते विवदन्त इति। अविवादादेव इति। अन्वितप्रतिपादनोद्देशेन पदार्थानभिदधति पदानीत्यत्रापि नास्माकं विवाद इति। तद्यदि व्युत्पत्तिबलेनान्वितप्रतिपादनं तर्हि अनुभूतो वाक्यार्थो नावगम्येतेत्याह **नापि संगति** इति। न च पदार्थविषययैव संगत्या वाक्यार्थप्रतिपादनं तस्याः पदार्थप्रतीतिमात्रोपक्षीणत्वादित्याह **नापि स्वार्थ** इति। अर्थसंगतिरेव तत्रानुपक्षीणा वाक्यार्थेऽप्युपयुज्यत इत्युच्यते तर्हि पदार्थवाक्यार्थप्रतीत्योः पूर्वापरभावो न स्यादित्याह **नापि सैव** इति। अस्तु तर्हि यौगपद्यमित्यत्राह **यौगपद्य** इति। अवगतपदार्थो हि तेषां योग्यतादिकं प्रतिसन्धातुं क्षमत इति। नन्वेकस्या एव संगतेः पदार्थवाक्यार्थप्रतीत्योः क्रमेणैव हेतुत्वं काष्ठस्येव ज्वालापाकयोरित्यत्राह **नापि सैव** इति। करणानामेव ह्यवान्तरव्यापारापेक्षेति भावः। ननु तदनुवादकत्वं वदतो विलम्बितप्रवृत्तेर्लिङ्गस्यैवानुवादकत्वं संगतिमन्ति पदानि करणं तथापि वाक्यार्थानुगुणसंगतिभाञ्जि तानि तथा न तु केवलानि, ततश्च संगतिरपि करणशरीरानुप्रवेशिन्येवेत्याह **तथापि** इति। **न तावत्** इति। पदार्थविषयत्वेन संगतेस्त्वदृष्ट्या सामान्यमात्रविषयत्वात् अस्मद्दृष्ट्या तद्विशिष्टव्यक्तिमात्रविषयत्वाद्वा न तत्संसर्गात्मकवाक्यार्थप्रतिपादनानुगुणना संभवतीति पदार्थाश्रयत्वेऽपि संगतेर्वाक्यार्थप्रतिपादनानुगुणव्यापारवत्त्वेन तदानुगुण्यमस्तीत्यत्राह **नापि तदनुगुण** इति। उक्तं ह्येतत्संगतेरकरणत्वान्नावान्तरव्यापारयोगित्वमिति। नन्वस्तु पदानामेव करणत्वादवान्तरव्यापारः, स तु संगत्यधीन इति वाक्यार्थप्रत्ययानुगुणत्वं तस्या इत्यत्राह **तदनुगुण** इति करणानां पदानां पदार्थप्रतिपादनलक्षणोऽवान्तरव्यापारः संगत्यधीन इत्यत्र नास्माकं विवाद इति। नन्वाकाङ्क्षादित्रयोपेतपदार्थान्तरान्वित एवार्थे संगतिरिति ब्रूमः, तत्रास्त्येव विवाद इत्याह **अन्वित** इति। विस्मरणमेवात्रापराध्यतीत्याह **उक्तम्**

इति। अथ संभावितसकलदोषपरिहारेण *प्राभाकरः* प्रत्यवतिष्ठते स्मृतेति चेदित्यन्तेन। पदान्तरस्मृतेन प्रतियोगिमात्रेण कारकेण क्रियया वाऽन्विते स्वार्थे क्रियायां कारके वा संगतिर्गृह्यते न तु विशेषान्विते। तथा च सर्वेष्वपि वाक्येषु तथात्वाविशेषात् संगतिर्गृहीता स्यादिति। ततश्च न तावद्वाक्यार्थस्यापूर्वत्वदोषः पदार्थस्मृत्युत्तरकालभावित्वात्तदन्वयप्रतीतेः क्रमभावोऽपि संगच्छत इति। तर्हि कारकपदस्य क्रियाप्यर्थः क्रियापदस्यापि कारकमिति तयोः पर्यायता स्यादित्यत्राह नापि इति। ओदनमिति कारकपदमोदनत्वं निमित्तीकृत्य स्वेन रूपेणौदनमभिधत्ते, ओदनं तु तत्प्रतियोगित्वमात्रेण। ततश्च स्वरूपाभिधानलक्षणस्य प्राधान्यस्य स्वार्थ एव नियतत्वान्न पर्यायतेति। यदि पदार्थस्यैवान्वितोऽर्थः तर्हि पदसंधातात्मनो वाक्यस्यापि स एवेति वाक्यार्थः पुनरुक्तः स्यादित्यत्राह नापि पौनरुक्त्यम् इति। पदार्थविशेषविशिष्टेऽन्वये तात्पर्यं वाक्यस्य, न त्वेवं पदस्येति। यद्वा क्रियाकारकपदयोः पौनरुक्त्यमाशङ्क्य स्वार्थविशेषान्वयतात्पर्यभेदात्परिहारः। ननु क्रियाभिधाने सति तदन्वितं कारकमभिधेयं कारकपदेन, तथा कारकाभिधाने सति तदन्विता क्रियाभिधेया क्रियापदेनेतीतरेतराश्रयत्वं स्यादित्याह नापि इति। तथा स्यादयं दोषः यद्यभिहितेनार्थान्तरेणान्वितः स्वार्थेऽभिधीयेत, न त्वेवं स्मारितेनान्वितस्याभिधानादन्वितस्यैव च स्मरणादिति। नन्वोदनं पचतीत्यत्र क्रियापदं कारकापेक्षं सत्समुच्चारितादन्येन तेमनादिनान्वितं स्वार्थमभिदध्यात्। एवमोदनमपि क्रियान्तरेणौदनमानयेत्यादिनान्वितमित्यर्थभेदाद्वाक्यभेदः स्यादित्यत्राह नापि वाक्यभेद इति। संनिधेरप्यन्वयहेतुत्वान्न संनिहितमतिक्रम्यान्यदपेक्ष्यत इति। यद्वा अन्विताभिधायीनि पदानि प्रत्येकवाक्यानि भवेयुरित्याशङ्क्य यदि परस्परं संस्मृतौ संनिहितानामन्योन्याकाङ्क्षा न भवति तदा वाक्यभेदात् भवेत् यथाऽयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामित्यत्र राजपुरुषयोर्यत्र तु स्मृतिसंनिहिता-नामन्योन्याकाङ्क्षाऽस्ति यथा राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामित्येतावन्मात्रोच्चारणे राजपुरुषयोस्तथैकवाक्यतेति परिहारः। अथ सिद्धान्ती यावत्संभवं विकल्प्य दूषयति नान्विते इति। अन्वितमित्यत्रेतिशब्दो द्रष्टव्यः प्रकृतस्यान्विताभिधानस्य यत्र रूपवति तद्वत्ता स्पर्शवत्ता तस्य चक्षुषः अन्विते संगतिग्रह इत्यस्य प्रकृतोपयोगिनमर्थमाशङ्क्य प्रमाणाभावेन दूषयति अथ इति।

अन्वितार्थप्रतिपत्ति ..... कृतं प्रसक्तानुप्रसक्तया। पृ० १०२-१०६।

नन्वस्ति प्रमाणमर्थापत्तिरित्याह अन्वित इति। न इति।

आकाङ्क्षादिमत्पदार्थप्रतिसन्धानादप्यन्वितप्रतीत्युपपत्तेरिति। ननु पचतीत्युक्ते किमोदनं तेमनं वेति कारणविशेषजिज्ञासा तावज्जायते, न चासावज्ञाते सामान्येऽवकल्प्यते। तेन क्रियापदादेव कारकसामान्यान्वितां क्रियामयमज्ञासीदेवं कारकपदादेव क्रियासामान्यान्वितं कारकमित्यन्विते व्युत्पत्तिः कल्प्यत इत्याह **आकाङ्क्षा इति। न इति।** क्रियाकारकयोरविनाभावेनेतरेतरसामान्याक्षेपादपि विशेषजिज्ञासोपपद्यते, न हि चक्षुषा रूपेऽधिगते द्रव्ये रसविशेषजिज्ञासा भवन्ती रससामान्यस्य चाक्षुषत्वं कल्पयतीति। ननु यदि पदार्थमात्रपर्यवसितेषु पदेषु पदार्थेभ्य एवान्वयप्रतीतिः स्यात्तर्हि हेत्वन्तरप्रतीतेभ्योऽपि भवेन्न चैवमस्ति ततः पदान्येव यावदन्वयं गच्छन्तीत्याह **शब्द इति।** अस्त्येव हेत्वन्तरप्रतीतेभ्योऽपि पदार्थेभ्योऽन्वयप्रतीतिरित्याह **कुतस्तर्हि इति।** न ह्युत्प्रेक्षिते संसर्गे कर्त्तुः प्रत्यक्षादीनि तदाभासा वा संभवन्ति। स्मृता एव पदार्थास्तत्र कारणम्। यथा चाहुः

पश्यतः श्वेतमारूढं ह्रेषाशब्दं च शृण्वतः।
खुरनिष्पेषशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः। इति।

असंसर्ग इति। तेन न शब्दव्यभिचार इति। **मम इति।** तेन यतः कुतश्चिदपि स्मृतैरन्वयप्रतीतेर्नानिष्टप्रसङ्ग इति। न वापि विशेषहेत्वभावेनायं विभागो युज्यत इत्याह **तवापि इति।** विशेषहेतुमाह **आप्त इति।** विकल्प्य दूषयति **किम् इति।** तथाविधेनाप्तेन वक्त्रा तेषु पदेष्वन्वयपर्यवसानानुगुणः कश्चिदतिशय आधीयते किमाप्तवक्तृत्वमेव वा तेषां विशेषः? प्रथमे यथाभिहितान्वयवादिनां पदार्थप्रतिपादनानुगुणपदगतशक्तिव्यतिरेकेण पदप्रतिपादितानामेव पदार्थानां वाक्यार्थप्रत्यायनदर्शनात्तेष्वपि पदाधेया शक्तिरङ्गीकर्त्तव्येति गौरवमापद्यते। तथा भवतोऽपि पदान्तरसाधारणशक्तिव्यतिरेकेणाप्तोक्तेषु पदेष्वन्वय प्रतीत्यनुगुणस्याप्तेनाधीयमानस्यातिशयस्याभ्युपगमाद् गौरवम्। द्वितीये तु यथा तव वक्तुरवच्छेदकत्वेन पदविशेषत्वं तथा ममापि पदानां पदार्थावच्छेदकत्वेनैव विशेषकत्वमस्तु न चातिशयाधानेनेति। यदि प्रतिपादितत्वविशेषेण पदार्था वाक्यार्थं गमयेयुः तर्हि नाभिमतान्वथसिद्धान्तसिद्धि रित्याशयेन पृच्छति **एवं तर्हि इति।** गूढाभिसन्धिराह **कः संदेह इति।** तर्ह्यन्विताभिधानमेवाङ्गीकृतं स्यादित्याशङ्क्याभिसन्धिमुद्घाटयन्नाह **परम् इति।** अन्वयोद्देशेन पदार्थाभिधानेन पदानामुपयोगो न त्वन्विताभिधानेनेति। यद्याप्तानामन्वयप्रतीतावप्युपयोगः तदा

शालिकानाथस्यायं

प्राथम्यादभिधातृत्वात्तात्पर्योपगमादपि।
पदानामेव सा शक्तिर्वरमभ्युपगम्यताम्।।

इति श्लोकः। पदानामिति पदं प्रतिक्षिप्य तस्य स्थाने आप्तानामितिपदं प्रक्षिप्य पठितव्यमित्याह **अन्यथा तु** इति। तथा पठति प्राथम्यादित्येतदुक्तं भवति। पदार्थेभ्यः पदानां प्राथम्यात्तेषामभिधातृत्वस्य च संप्रतिपन्नत्वाद-भिहितान्वयवादिभिरपि तेषां वाक्यार्थे तात्पर्यस्य चाभ्युपगमादन्वयं प्रति पदानामेव शक्तिरभ्युपगम्यतां न पदार्थानामिति हि श्लोकेन प्रतिपाद्यते। तत्र यद्याप्तानां समभिव्याहारयोग्यपदोच्चारणव्यतिरेकेण पदेषु शक्त्याधानमप्यङ्गीक्रियते तदा पदेभ्य आप्तानामेव प्राथम्यादित्यादिहेतुभिः अन्वयप्रतिपादने शक्तिरङ्गीक्रियतां न पदानामिति।

तदेवं यतः कुतश्चिदपि प्रतीतेरन्वयप्रतीतिरस्त्येवेत्युक्तं, संप्रति नास्माकमत्र निर्बन्धः, पदाभिहितानामन्वयप्रतीतिरित्येतावतैवास्मत्सिद्धान्तसिद्धेस्तत्र चातिप्रसङ्गाभावादित्युपसंहारव्याजेनाह **तस्मात्** इति। नन्वेवं वाक्यार्थबुद्धौ पदार्थानामेव कारणत्वापत्तेः अशाब्दो वाक्यार्थः स्यादित्यत्राह **न चैवम्** इति। पूर्वभावनियमो हि कारणत्वं, तत्कथं संसर्गप्रत्ययपतितानामनागतानां पदार्थानां भवेत्, दूरे च कारणत्वविशेषः करणत्वमिति। न च शब्दादिप्रमाणव्यतिरेकेण पदार्थेभ्य एवान्वयप्रतीतिः क्वचिदपि दृश्यते। येन पदार्थानामेव हेतुत्वं भवेदित्याह **प्रमाणान्तरेति**। पश्यतः श्वेतमित्यादौ तु व्याप्त्याद्यनुसन्धानेनैव पदार्थैरन्वयप्रतीतिरित्यनुमानादित्वमेवेति भावः। पदानां तु करणत्वे न कश्चिद्दोष इत्याह **पदानां तु** इति। ननु तेषामपि पदार्थप्रतीतिव्यवधानेन न पूर्वभावोऽस्तीत्यत उक्तं **व्यापारस्य** इति। यथाहुः– 'पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्' इति।।१५।।

अस्तु तर्हि .... विच्छेदादित्यावेदितम् । पृ० १०७-१०९।

अस्तु पृथक् प्रमाणं शब्दः, स एव जगत्कर्त्तरि बाधकः स्यादित्याह **अस्तु** इति। कथमागमो जगत्कर्त्तारं बाधत इत्यत्राह **अस्यायमर्थ** इति। अस्तु तर्ह्याभिमानिकं कर्तृत्वम् ईश्वरस्येत्यत्राह **न च** इति। अभिमानो नाम भ्रान्तिः, स कथं सर्वज्ञस्य स्याद्विशेषाग्रहणहेतुकत्वात्तस्या इति। अस्तु तर्ह्यसर्वज्ञ इत्यत्राह **न चासर्वज्ञस्य** इति। **न प्रमाणम्** इति। न तावदनाप्तप्रणीतः शब्दो

बाधकस्तस्याप्रमाणत्वात्। अथाप्तोक्तस्तर्हि तदर्थदर्शिना तेन भवितव्यं, यदि चातीन्द्रियमागमार्थं दृष्ट्वा तं प्रणयेत्स तर्हि सर्वज्ञः कर्त्ता च स्यात्। न च नित्य एवागमो बाधकः सर्गप्रलयसंभवेन तस्यापास्तत्वादिति निगदव्याख्यातं व्याख्यानमिति।१६।

अपि च .... मप्यन्यत्र तात्पर्यमिति वक्ष्यामः। पृ० १०९-११०

बाधकं शब्दमभ्युपगम्याप्याह **अपि च** इति। न चासावागमो जगत्कर्तुरसत्त्व एव नियतः सत्त्वस्यापि तेन प्रतिपादनोपलम्भात्। ततश्च नानियतत्वात्तेना-सत्त्वसिद्धिः। तर्हि तत एव सत्त्वमपि न सिध्येदित्यत उक्तं निरञ्जनेनेति। चेतनस्याकर्तृत्वप्रतिपादक आगमो विशेषगुणलक्षणाञ्जनरहितात्म-स्वरूपप्रतिपादनार्थत्वेनान्यपरत्वान्नासत्त्वमावेदयति। तर्हि सत्त्वप्रतिपादकोऽ-प्यन्यपरः स्यादत उक्तं **न चासौ** इति। सत्त्वावेदकस्य नान्यत्र तात्पर्यमिति **पञ्चमे वक्ष्याम** इति। न हीत्यादिविवरणग्रन्थो गतार्थः।।१७।।

अर्थापत्तिस्तर्हि .... धारयन्ति विचारयन्ति च। पृ० ११०-१११।

अथार्थापत्तेर्बाधकत्वं निराचिकीर्षुः शङ्कते **अर्थापत्तिस्तर्हि** इति। असौ सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता वेदाननुपदिश्यैव ज्योतिष्टोमादौ पुरुषान् प्रवर्त्तयितुं कलञ्जभक्षणादिभ्यश्च निवर्त्तयितुं शक्नोत्येवेति तदर्थस्तस्योपदेशो व्यर्थ इति। नान्यथेति जगत्कर्तुः सत्व एवोपदेशस्योपपत्तेः नासत्व इति। तदेवोपपादयन्नाह **हेत्वभावे** इति। न तावदसति हेतौ फलस्यासंभवादसत्युपदेशात्मके प्रमाणे ज्योतिष्टोमादेः स्वर्गादिसाधनत्वविषया प्रमा भवति। तदभावे च तत्रास्मदादीनां प्रवृत्तिः सिध्येदुपदेशश्च नोपदेष्टारं विनेति। ततस्तत्सिद्धिरितरथाऽयमनुयोग-प्रकारकर्मवशाद् भूतानां प्रवृत्तिरिति पक्षे सुलभः कर्मण एव प्रवृत्तिसिद्धेः किमुपदेशेनेति।

बुद्धिपूर्वा इति। न हीश्वरोऽपि वस्तुस्वभावातिक्रमेण प्रवर्त्तयतीति प्रकृतज्योतिष्टोमादेः स्वर्गादिसाधनत्व इति। ननु यथा पिशाचादयः प्राणिन आविश्याबुद्धिपूर्वकमेव प्रवर्त्तयन्ति तथैवायं किमिति न प्रवर्त्तयेदित्याह **भूतावेशेति**। अबुद्धिपूर्वकत्वमनुतिष्ठतां फलाभावान्न तथा प्रवर्त्तयतीत्याह **प्रवर्त्तयेदेव** इति। अबुद्धिपूर्वानुष्ठाने फलाभाव आप्तोपदेशान्यथानुपत्तेरेवावसेय इति तुरीयं पादं व्याचष्टे **यस्यापि** इति। तुल्यतामेवाह **यद्यस्ति** इति। न हि सत्यपि कारके ज्ञापकाभावेन

कार्यं निवर्त्तत इति। **तदभावे इति।** न हि कारकाभावे ज्ञापकसंभवेन कार्यं भवतीति नित्य इति पर्युनयोज्यस्तु कर्ता नास्तीति भावः। तथापि निरर्थकमिममुपदेशं धारयन्तः तदर्थं च विचारयन्तो यूयं मीमांसाकाः पर्यनुयोज्या इत्याह **यूयम् इति।**।१८।।

नचार्थापत्तिः .... यद् यत्र यदेति प्रकारानुपपत्तेः। पृ० ११२-११५।

तदेवमर्थापत्तेः पृथक्प्रमाणत्वमङ्गीकृत्य बाधकत्वं निरस्तम्। इदानीमनुमानान्तर्भावात्तन्निरासेनैव निरस्तमित्याह **न च इति।** अनुमानागोचरस्य प्रमेयस्याभावात् सामग्रीभेदाभावाच्च ततो न भिद्यत इति। ननु व्याप्याद् व्यापकज्ञानमनुमानम्, अर्थापत्तिस्त्वनुपपद्यमानादुपपादककल्पनं, ततः सामग्रीतो विषयतश्च भेद इत्याशङ्क्याह **तथा हि इति।** यद्धि येन नियम्यते तस्य तेन विनानुपपत्तिर्नान्यस्य, तथा येन यन्नियम्यते तदेव तस्योपपादकं नान्यत्, नियमश्च व्याप्तिरेव। ततश्चानुपपद्यमानोपपादकत्वाभ्यां व्याप्यव्यापकभाव एवाभिहितः स्यात्। अथ प्रमाणद्वयविरोधे सत्यविरोधापादनमर्थापत्तिरिति चेत्, मैवं व्याहतं भाषिष्ठाः। न हि विरोधिनोर्द्वयोरपि प्रामाण्यं संभवति रज्जुसर्पज्ञानयोरिवान्यतरस्य मिथ्यात्वावश्यंभावात्। प्रमाणयोश्च सतोर्विरोध एव नास्ति स्थूलः शुक्ल इति वद् द्वयोः समावेशसंभवात्। तस्माज्जीवतो गृहाभावात् बहिर्भावकल्पनमनुमानमेव व्याप्तिबलेन जायमानत्वात्। अन्यथानुमानतया प्रसिद्धे धूमादावपि असौ अनुपपत्तिः प्रमाणद्वयविरोधश्च सम इति तदपि प्रमाणान्तरमापद्येतेति। व्याचष्टे **जीवंश्चैत्र इति।** किमनुपपन्नं न किञ्चिदिति। तदेवाह **न हि इति। ननु इति।** गृहाभावस्वरूपमेव बहिर्भावेन विनानुपपन्नमिति। **तन्न तावत् इति।** तत्स्वरूपमुत्पत्तौ तावन्न तेन विनानुपपन्नमिति। नन्वस्य गृहाभावस्य स्थितिस्तेन बहिर्भावेन विना नोपपद्यत इत्याह **स्थितिरेव इति।** हन्तैवं गृहाभावस्तेन बहिर्भावेन नियतस्वभाव इत्युक्तं स्यादित्याह **एवं तर्हि इति।** कुत इत्यत्राह **व्याप्तेरेव इति।** साध्येन विना नैव भवितव्यं साधनेनेति हि व्यतिरेकव्याप्तेर्व्यपदेश इति। द्वितीयं पादं व्याचष्टे **कथं वा इति।** नन्वयं स्वभावोऽस्य बहिःसत्त्वस्य यदनेन गेहासत्त्वं क्रोडीकृत्य स्थातव्यमिति, सत्येव बहिःसत्त्वे गेहासत्त्वमिति यावत्, तदेतदाह **एवम् इति।** तर्हीयं साध्येन सहैव साधनेन भवितव्यमित्यन्वयव्याप्तिरेवोक्ता भवेदित्याह **सेयम् इति। न वयम् इति।** ज्ञातस्यैवाविनाभावस्यानुमानसामग्रीत्वादिति भावः। **न इति।** अनुपपत्तिश्चाविनाभाव एवेत्युक्तमिति भावः। **अर्थापत्त्याभासेति।**

ज्ञानस्य हि हेतुत्वे तद्दोषाद्विपर्ययः संभवतीति। गृहाभावबहिर्भावयो-र्व्यधिकरणत्वाद्दुर्ग्रहा व्याप्तिरित्याशयेन पृच्छति **तथापि इति**। क्वचित्सत्त्वस्य ततोऽन्यत्रासत्त्वेन क्वचिच्चासत्त्वस्य ततोऽन्यत्र सत्त्वेन व्याप्तेः सर्वेषां स्वात्मन्येवैकस्मिंश्च धर्मिणि सुग्रहत्वेन न काचिदत्र कथन्तेत्याह **यदाहमिति**। ननु कथमेकत्र स्थितेन ततोऽन्यत्र स्वात्मनोऽभावः शक्यावगमः, तेषां देशानामेवाप्रत्यक्षत्वेन योग्यानुपलम्भा-भावादित्याशङ्क्याह **सर्वदेश इति**। न हि तेषु स्वात्मनो निषेधः किन्तु स्वात्मनि तेषां संसर्गस्य निषेधः। स्वात्मा च प्रत्यक्ष एव, प्रतियोगिनश्च ते स्मरणमात्रेणोपयुज्यन्ते न प्रत्यक्षत्वेनेति। स्वात्मनि वा कथमयोग्यानां प्रतिषेध इत्याह **अयोग्यानाम् इति**। तत्रायोग्याः परमाण्वादयो द्विविधाः आरब्धस्थूलकार्यावयवभूताः केवलाश्च। तत्र पूर्वेषां स्वात्मनि निषेधः तदारब्धस्थूलावयविसंसर्गनिषेधादनुमानत एव सुकरस्तदसंसर्गस्य तदवयवासंसर्गेण व्याप्तेः। उत्तरेषां तु संसर्गनिषेधे न काचिद्वार्त्ता प्रमाणाभावेनाशक्यत्वादित्याह **तदवयवानाम् इति**। अस्त्येवाविनाभावनिश्चयोऽप्यङ्गमर्थापत्तेः, तथापि नानुमानत्वं पक्षधर्मत्वाभावादित्यत्राह **नचाविनाभावेति**। एवं ह्यनुमानेऽपि पक्षधर्मत्वं निमित्तं न स्यात् व्यधिकरणेनापि साधनेन साध्यसिद्ध्युपपत्तेरिति। न च व्यधिकरणेन साध्येनाविनाभावः शक्यनिश्चयः, यत्साधनं यत्र देशे यदा यस्मिन् कालेऽस्ति तत्र तदा वा तत्साध्यमिति देशतः कालतो वा सामानाधिकरण्येनैवाविनाभावस्य निरूपणीयत्वादित्याह **व्यधिकरणेनेति**। अत्रापि हि देवदत्तं पक्षीकृत्य तस्य बहिःसत्त्वं गृहासत्त्वेन साध्यत इति पक्षधर्मत्वोपपत्तिरिति भावः।

प्रमाणयोर्विरोधे ... पूर्ववदादिवदिति युक्तम्। पृ० ११६-१२०।

तृतीयं पादं व्याचष्टे **प्रमाणयोरिति**। ननु प्रकृतोदाहरणे जीवनग्राहकस्य गणितानुमानस्य क्वाप्यस्तीति सामान्यतः प्रवृत्तत्वेन सामान्यानुप्रवेशिनो गेहस्यापि क्रोडीकरणादभावप्रमाणेन सहैकविषयताप्यस्तीत्याह **प्रकृते इति**। एवं तर्हि भिन्नसामान्यविशेषविषयतया न विरोध इत्याह **यद्येवम् इति**। नन्वत्राप्यनिर्धारितदेशविषययोरस्तित्वनास्तित्वप्रमाणयोः एकस्य विषयेऽन्यस्यानुप्रवेशादस्त्येव विरोध इत्याह **अत्रापि इति**। यद्यत्रापि विरोध एव तर्ह्यन्यतरद् बाध्येतेत्याह **एकम् इति**। नन्वर्थापत्त्या भिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापनान्नैकस्यापि भङ्ग इत्याह **न भज्येत इति**। सिद्धान्ती गूढाशयः पृच्छति **किमनुपपद्यमानम् इति**। एवमर्थापत्तिः प्रवर्तेतेति पूर्वपक्ष्याह **विरोध एव इति**।

व्यवस्थापयति प्रमाणद्वयमित्याशयमुद्घाटयन्नेव पुनः पृच्छति **अथ** इति। अज्ञातपराशय एवेतर आह **व्यवस्थापनम्** इति। ततः किमित्यत आह **एकविषयतया** इति। ततोऽपि किमित्याह **स कथम्** इति। विषान्तरमूर्छितो विषान्तरेणैवोत्थाप्यो भवति न तु तेनैवैतदुक्तं यद्विषेति। आशयमाविष्कर्तुं पुनरपि पृच्छति **एकविषयतया** इति। पूर्वपक्ष्याह **विभिन्नेति**। सिद्धान्ती स्वाशयमाविष्करोति **नन्वियम्** इति। अयमस्तित्वनास्तित्वप्रमाणयोर्भिन्नदेश-संबन्धित्वस्वभावो व्याप्तिरेव स्वभावप्रतिबन्धलक्षणाद् व्याप्तेस्तथा चानुमानत्वप्रसङ्गभयाद् व्याप्तिं परिहर्त्तुं प्रवृत्तेन सैव स्वीकृता स्यात्। तथा च **घट्टकुटीप्रभातम्**। घट्टकुटी नाम शौल्किकशाला। यथा हि शौल्किकेभ्यो बिभ्यतो रात्रावेव शुल्कशालातिक्रमितव्येति गच्छतः पान्थस्य तस्यामेव प्रभाता शर्वरी तथेदमपीति। तुरीयं पादं व्याचष्टे **धूमोऽपि वा** इति। यदि सतोरपि व्याप्तिपक्ष-धर्मत्वयोरनुपपद्यमानतया गृहाभावो बहिर्भावं गमयेत्ततोऽनुमानत्वोच्छेद इति। न केवलमनुपपत्तिः प्रमाणद्वयविरोधोऽपि तत्र वक्तुं शक्यत इत्याह **विरोधोऽपि** इति। सति धूमे वह्निना भवितव्यमिति वह्नेः सत्तामेकं प्रमाणं गमयति, अनुपलब्धिश्चासत्तां प्रमाणस्य व्यवहितदेशवह्निविषयत्वव्यवस्थापनमर्थापत्तिरेव स्यादिति। ननु चैवमनुमानोच्छेदः धूमाद्वह्निना भवितव्यमित्यस्यानुमानत्वात्तस्य त्वनुपलब्धिविरोधपरिहाराय पर्वतापरभागावस्थापनमर्थापत्तिरिष्टैवेत्याह **वह्निमानयम्** इति। **न** इति। न वयमिदानीं तेन धूमज्ञानजन्मना वह्निज्ञानेनानुपलब्धिविरोधं ब्रूमः। येनानुमानमास्पदं लभेत, किं तर्हि? पूर्वकालीनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरस्तीति व्याप्तिग्राहकप्रमाणेनेदानीमनुसन्धीयमानेन, अतो न प्रमाणद्वयविरोधसिध्यर्थमनुमानाङ्गीकार इति। परभागावस्थापनं च नार्थापत्तिरित्याह **नापि** इति। यदि तु विरुद्धयोर्विषयव्यवस्थापनमेवार्थापत्तिः स्यात्। ततः पाण्डर धूमस्य पालालाग्निना व्याप्तत्वेनापालालत्वविरोधात् पालालत्वव्यवस्थापन मर्थापत्तिः स्यादित्याह **अन्यथा** इति। ननु पाण्डरत्वविशिष्टस्य पालालत्वेन व्याप्तिर्भवन्ती पालालत्वव्यवस्थितिर्नार्थापत्तिरित्याह **तद्विशिष्टस्य** इति। तर्हि विशिष्टस्य धूमस्य वह्निना परभागवर्तिना व्याप्तिर्भवन्ती परभागव्यवस्थितिर्वा कथमर्थापत्तिः स्यादित्याह **यद्येवम्** इति। ननु यत्केवलव्यतिरेक्यनुमानत्वेन *नैयायिकाना*मभिमतं तदेव नोऽस्माकमर्थापत्तिरन्वयव्याप्त्यभावेन तस्यानुमानत्वायोगात् इत्याह **केवलव्यतिरेकीति**। अस्त्वन्वयो नास्तीत्येतावता विशेषणार्थापत्तिव्यवहारः, न तावताऽनुमानत्वहानिरित्याह **एवम्** इति। तत्र

केवलव्यतिरेकिणि असत्येवान्वये किंनिबन्धनमनुमानत्वमित्याशङ्क्याह **अविनाभूतेति**। अविनाभावेन तन्निश्चयेन च मामकं ह्यनुमानं केवलव्यतिरेकिणि चाविनाभावस्तन्निश्चयश्चास्तीत्यनुमानमेव। केवलमेतावान् विशेषः अन्वयव्यतिरेकिणि लिङ्गेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामविनाभावो निश्चीयते, नत्वन्वयिन्यन्वयेनैव व्यतिरेकिणि व्यतिरेकेणैवेति अर्थापत्तेरनुमानान्तर्भावमुपसंहरति **तस्मात् इति**।।१९।।

अनुपलब्धिस्तु .... तद्विपरीतजातीयमिति न्याय्यम्। पृ० १२२-१२३।

एवमर्थापत्तिर्न बाधिका न भिद्यते चानुमानादित्युक्तम्। अनुपलब्धेस्त्व बाधकत्वस्य चिन्तितपूर्वकत्वादन्तर्भाव एव चिन्तनीय इत्याह **अनुपलब्धिस्तु इति**। तत्तावदिह भूतले घटो नास्तीति प्रतीतेरैन्द्रियकत्वे चतुरो हेतूनुपन्यस्यति **प्रतिपत्तेरिति**। विप्रतिपन्ना प्रतीतिरिन्द्रियकरणिका अपरोक्षरूपत्वात् रूपादिबुद्धिवदिति। अनन्यत्रोपक्षीणेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् अज्ञातकरणत्वाच्च। तथेयं प्रतीतिर्भावात्मप्रमाणसहकृतेन मनसा जायते बाह्यार्थानुभवत्वात्। भावरूपं च प्रमाणमिन्द्रियमेव परिशिष्यत इति भावः। भावावेशो भावप्रमाणसहकार इति। तत्राद्यं हेतुं विवणोति **या हि इति**। प्रतिवाद्यसिद्धो हेतुरित्याह–**साक्षात्कारित्वम् इति**। **न इति**। नास्तीति बुद्धयः काश्चिदज्ञात-करणिकाः, काश्चिद् ज्ञातकरणिकाः। तत्र यद्युभयेऽप्यसाक्षात्कारजातीयाः तत इदं कारणवैचित्र्यं न स्यादिति। विपर्ययेऽनिष्टमाह **लिङ्गेति**। असाक्षात्कारिज्ञान-जनकस्यापि लिङ्गस्य सत्तया हेतुत्वं साक्षात्कारहेतोरपीन्द्रियस्य ज्ञायमानतया हेतुत्वं च प्रसज्येतेति। किञ्च यद्यज्ञातादपि करणाज्जातीयमेव ज्ञानं जायेत तदा तत्र कारणमेव तज्ज्ञानं भवेत् व्यतिरेकाभावादित्याह **ज्ञानस्य इति**। यत एवं तस्माज्ज्ञातानुपलब्धिजन्यस्यासाक्षात्कारित्वमभ्युपगच्छतामवश्यमज्ञातानुपब्धिजन्यस्य साक्षात्कारित्वमवर्जनीयमित्याह **तस्मात् इति**।

ननु क्व नाम ज्ञातानुपलब्धिः ... रूपाभावानुभवेन। पृ० १२४-१२७।

स्यादेवं यदि ज्ञातानुपलब्धिः क्वचिदसाक्षात्कारं जनयेत्, न चैवमस्तीत्याशयेनाह **ननु क्व नाम इति**। तत्रोदाहरणेनोत्तरयति **तद्यथा इति**। न हि तदा देशान्तरस्थस्य श्रोतुर्योग्यानुपलब्धिरस्ति किं त्वाप्तवाक्यावगत-

यानुमिनोतीति। एवं प्रातः कारणेऽनुपलब्धस्य मैत्रस्य मध्यन्दिनसमयभाविप्रातस्तनाभावज्ञानमप्यनुमानफलमेव मध्यन्दिनानुसन्धीयमानप्रातस्तनानुपलब्धिलभ्यत्वादित्याह **एतेन** इति। नन्वस्तु ज्ञातानुपलब्धिजन्यादज्ञातानुपलब्धिजन्यस्य जातिभेदः स तु साक्षात्काररूप इति कुत इत्याह **ननु** इति। न हि विधाद्वयव्यतिरेकेण ज्ञानावान्तरजातिभेद इत्यभिप्रायेणाह **कारणविरोधादिति**। द्वितीयं हेतुं विवृणोति **अनन्यत्र** इति। विशेषणासिद्धिमाशङ्कते **अधिकरणेति**। यथाहि धूमज्ञानोपक्षीणेन्द्रियव्यापारानन्तरभाविनो वह्निज्ञानेन्द्रियहेतुकत्वं तथाधिकरणग्रहणोपक्षीणेन्द्रियव्यापारानन्तरभाविनो भावज्ञानस्यातद्धेतुकत्वमिति, तर्ह्यन्धस्यापि सामग्रीसाकल्याद्रूपाभावप्रतीतिः स्यादित्याह **न** इति। योग्यस्य स्थूलद्रव्यसमवेतत्वादिति। ननु भवन्तोऽप्यधिकरणग्राहकेणेन्द्रियेण ग्राह्योऽभाव इति मन्यन्ते, तत्र चान्धस्य त्वगिन्द्रियेण रूपविशेषाभावप्रतीतिः प्रसज्येतेत्याह **अधिकरणेति**। **न** इति। ततश्च चाक्षुषरूपप्रतीतिर्नान्धस्य स्यादिति **ममापि** इति। ततश्च चाक्षुषाधिकरणग्रहणाभावान्नान्धस्य रूपविशेषाभावप्रतीतिरिति। **न** इति। प्रतियोगिग्राहकेण चक्षुषा वायोरग्रहणात्तत्र रूपाभावप्रतीतिः कदाचिदपि न स्यादिति। नन्वगृह्णदपि चक्षुर्वायौ यावत्संनिकृष्टं तावता रूपविशेषस्यानुपलब्धिरभावं गमयतीत्याह **तथापि** इति। **हन्तैवम्** इति। वायोर्ग्रहणाभाचादनन्यत्र चरितार्थता त्वगन्धस्य च रूपाभावप्रतीत्यभावादवश्यापेक्षणीयत्वं चक्षुष इति।

स्यादेतत्। तथापि ... अनैकान्तिकत्वादसिद्धेश्च। पृ० १२७-१३०।

ननु मा भूदधिकरणग्रहणोपक्षयस्तथापि तत्र संनिहितस्य यस्य कस्यचिद्वस्तुनो ग्रहण एवोपक्षीयत इत्याह **स्यादेतत्** इति। **न** इति। अत्र ह्यन्वयव्यतिरेकानुविधाने सत्येवाभावबुद्धेरनिन्द्रियहेतुकत्वमन्यत्र तदुपक्षयादुच्यते। स चाभावबुद्धिहेतौ कस्मिंश्चिद्वक्तव्यः। अन्यथा तदनुविधानानुपपत्तेः। न चात्र तस्य वस्त्वन्तरग्रहणस्य तदभावानुभवं प्रति कारणत्वमस्तीति, यदि स्यात्तत्राह **कारणत्वे वा** इति। अन्धकारे वस्त्वन्तरग्रहणाभावात्स्पर्शवद्विशेषाभावप्रतीतिर्न स्यात् इति प्रतीयाच्चेति। प्रतियोगिग्राहकेण तदा तदालोके विस्फारिताक्षस्य वस्त्वन्तरग्रहणसंभवाच्चेति। उत्तरत्र शङ्कते **आर्जवेति**। आर्जवावस्थानादधिकरणस्य नयनसंनिकर्षेऽपि तद्गताभावग्रहण एवोपयुज्यते न तु तद्ग्रहण इत्यङ्गीकर्तव्यमित्याह **नयनेति**। कुत इत्यत्राह **तदेक** इति। आलोकसंनिकर्षस्तावदपेक्षणीयो रूपाभावज्ञानेन तमन्तरेण तदनुपपत्तेः। स च तस्य नयनसंनिकर्षस्यैव सहकारी नानुपलब्ध्यादेः। तस्मान्नयन-

संनिकर्षोऽप्यपेक्षणीय एव, न हि संभवति यस्य यत्सहकारितयैव कार्योपयोगस्तस्य तदनपेक्षायामप्यपेक्षेति। चक्षुःसंनिकर्षानुपयोगेऽनिष्टमप्याह **वातायनेति**। तत्र हि सत्येवाधिकरणस्यार्जवावस्थाने तद्ग्रहणे चक्षुःसंनिकर्षाभावादेव तस्य श्यामत्वाभावस्यानुपलम्भो भवति।

नन्वस्त्वपेक्षणीयश्चक्षुः संनिकर्षस्तथाप्यन्यत्रोपक्षयस्तस्येत्याह **तथापि इति**। योग्यानुपलब्धिर्ह्यभावज्ञानहेतुः, योग्यता च प्रतियोगिव्यतिरिक्ता-भावज्ञानकारणसाकल्यं, तच्च साकल्यं चक्षुः संनिकर्षे सति भवति तस्यापि तत्कारणत्वात्। ततश्च सामग्रीसाकल्यापादनोपक्षीणं चक्षुर्नाभावाज्ञानं यावत् गच्छतीति। **न तु परिपूर्णानि इति**। न खलु साकल्यं नाम कारणेभ्यस्तत्त्वान्तरं तत्साध्यमस्ति यत्रोपक्षयः तस्य स्यात् किं तु परिपूर्णानां कारणानामेव तथात्वादिति। नन्वस्ति मेलनं नाम तत्त्वान्तरं क्षयविषय इत्याह **अथ इति**। एवं हि रूपादिज्ञानेष्वर्थसंनिकर्षसंपादनोपक्षीणं चक्षुर्न कारणं स्यादित्याह **तदुपक्षय इति**। नन्वभावाधिकरणसमवेतस्य कस्यचिद्वस्तुनः प्रतियोगिग्राहकेणेन्द्रियेणो-पलम्भोऽभावग्रहणे सहकारित्वेनानुपलब्धेरपेक्षणीयस्तत्रेदमिन्द्रियमुपक्षीयत इत्याह **अथाधिकरणसमवेतकिञ्चिदिति**। तर्हि वायौ रूपाभावप्रतीतिर्न स्यात्। तत्र वस्त्वन्तरस्य चक्षुषानुपलम्भादित्याशङ्क्य स एवाह **वाय्वादिषु इति**। **न इति**। न तत्राभावप्रमाणगम्योऽभावः अनुपलब्धिलिङ्गानुमेयत्वादिति। **न इति**। असिद्धेरनुपलब्धेरज्ञातासिद्धत्वादिति। न तावदभावप्रमाणात्सिध्यतीत्याह **नहि इति**। ऐन्द्रियकस्याभावो हि भवतामभावगम्य इति। ननु रूपोपलम्भजन्यस्य प्राकट्यस्याभावेन वायौ रूपानुपलम्भोऽनुमीयत इत्याह **प्राकट्याभावेन इति**। वायौ रूपाभावस्येव प्राकट्याभावस्यापि नाभावप्रमाणात्सिद्धिरित्याह **न वायौ इति**। नन्वस्तु वायौ रूपव्यवहाराभावेन प्राकट्याभावोऽनुमेय इत्याह **व्यवहाराभावेन इति**। व्यवहाराभावस्यानैकान्तिकत्वान्न प्राकट्याभावे ज्ञानाभावे लिङ्गतेत्याह **न इति**। इतश्चानैकान्तिकतेत्याह **मूकस्वप्न इति**। मूकतया वाचिकस्य व्यवहारस्याभावः, स्वप्नतया कायिकस्येति। ननु मा नाम हानोपादानलक्षणयोः कायवाग्व्यवहारयोः ज्ञानविशेषकार्यत्वात्तदभावात् ज्ञानामात्राभावः प्राकट्यमात्राभावो वानुमीयतां, ज्ञानमात्रस्य प्राकट्यमात्रस्य च व्यवहारमात्रं कार्यं, ततस्तदभावात् तयोरन्यतरस्याभावोऽनुमास्यत इत्याशङ्क्याह **न च इति**। यदि तावद्व्यवहारा-भावमात्रमित्यत्र यः कश्चिद्व्यवहारो विवक्षितस्तदानैकान्तिकता यस्य

कस्यचिद्व्यवहाराभावस्य येन केनापि ज्ञानाभावेन व्याप्तेः, तथापि कस्यापि व्यवहारस्य सर्वत्रासत्त्वादसिद्धश्च तन्मात्राभाव इति।

तद्विषयस्तु .... कारणनियमनिश्चयः। पृ० १३०-१३३।

अथ यद्विषयस्य ज्ञानस्य प्राकट्यस्य वा भावोऽनुमित्सितः तद्विषयव्यवहाराभाव एव लिङ्गमुच्यते तत्राह तद्विषयस्तु इति। कायिकवाचिकव्यवहारयोरपेक्षाज्ञानव्याप्यत्वाद् व्यापिनश्च व्यवहारान्तरस्यानवगमात् तद्विषयो व्यवहारस्तद्विषयं ज्ञानं तदाश्रितं वा प्राकट्यलक्षणं धर्मं पुरस्कृत्य तज्जन्य इति वा तज्जनक इति वा निरूपणीयः। ततो व्यवहाराभावश्चात्र तज्ज्ञानतदाश्रितधर्माभावपुरस्कारेणैव निरूप्येत। तच्चाशक्यमात्माश्रयादिदोषप्रसङ्गात्। तथाहि यदा तद्विषयज्ञानव्यवहाराभाव स्तद्विषयज्ञानाभावे लिङ्गं तदापेक्षज्ञानादिव्यापिनो व्यवहारान्तरस्या-भावात्तद्विषयज्ञानमेव तज्जन्यव्यवहारोऽभ्युगन्तव्यः। तथाचात्माश्रयत्वं तद्विषयज्ञानाभावादेव तद्विषयज्ञानाभावानुमानमिति। यदा तु तद्विषयज्ञानजनकस्य व्यवहारस्याभावो लिङ्गं तदा चक्षुरादिव्यापारस्य तज्जनकत्वात्तस्य च ज्ञानस्य कार्यैकगम्यत्वात्तदभावोऽपि ज्ञानाभावावगम्यः। तथा चेतरेतराश्रयता-तज्ज्ञानाभावज्ञानात्तज्जनकव्यवहाराभावज्ञानं ज्ञानजनकचक्षुरादिव्यापार-रूपव्यवहाराभावज्ञानाच्च तदभावज्ञानमिति। यदा च तदाश्रितधर्मजनकस्य व्यवहारस्याभावो लिङ्गं तदा प्राकट्याख्यधर्मस्य ज्ञानहेतुकत्वादात्माश्रयत्वमेव। अथ तु ज्ञानद्वारा चक्षुरादिव्यापार एव जनकः तदा चक्रकं भवति। ज्ञानाभावाच्चक्षुरादिव्यापारलक्षणस्य व्यवहारस्याभावः ज्ञानाभावश्च प्राकट्याभावात्। स च तज्जनकव्यापाराभावात् स च ज्ञानाभावादिति। न च व्यवहाराभावमात्रेणेत्यादेरपरा व्याख्या न केवलमनैकान्तिक असिद्धश्च व्यवहाराभाव इत्याह न च इति। उक्तस्यैवानैकान्तिकत्वस्यानुभाषणं दृष्टान्तार्थमिति व्यवहारस्वरूपनिरूपणपुरःसरं व्यवहाराभावं निरूपयंस्तस्यासिद्धिमेवाह तद्विषयस्तु इति। ननु विज्ञायमान एवानुपलम्भो यदि रूपाभावं गमयेत् अविनाभावेन तत एते दोषाः प्रादुष्युः न त्वेवमित्याशङ्क्याह न चाज्ञातस्य इति। तथा सति लिङ्गतैव न स्यादिति भावः। ननूपलम्भलिङ्गस्य प्राकट्यस्याभावो लिङ्गिन उपलम्भस्याभावं गमयिष्यतीत्यत्राह न च इति। स हि लिङ्गाभाव इत्येव लिङ्गिनोऽभावं गमयेदविनाभावेन वा ! प्रथमे धूमाभावोऽप्यग्न्यभावं गमयेत्,

द्वितीये त्वविनाभावः। स्वस्य हेतुस्वरूपस्य च प्रतिसन्धानमपेक्ष्येत, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति। ननु *नैयायिक*मतावलम्बेन प्रत्यक्षत्वमभ्युपगच्छामः। ततो भावप्रमाणावगतेनैव ज्ञानाभावेन वायौ रूपाभावमनुमीमह इत्याह **ज्ञानप्रत्यक्षत्वेन इति**। तर्हि प्रामाणिकं पन्थानमागतो यथा प्रमाणं वायो रूपाभावश्चक्षुष इत्यभ्युपगच्छ। न च कथं नामाचाक्षुषो वायो रूपाभावश्चाक्षुषः स्यादिति शङ्कावकाशः शब्दप्रध्वंसप्रत्यक्षत्वसाधनेनाधिकरण-प्रत्यक्षत्वस्यानङ्गत्वप्रतिपादनेन दत्तोत्तरत्वादित्याह **न शब्देति**। तदेवं यदि प्रतियोगिग्राहिणेन्द्रियेणाधिकरणसमवेतधर्मोपलम्भः तद्विषयाभावग्रहे हेतुः ततो वायौ रूपाभावप्रतीतिर्न स्यात् अनुमानतस्तदसिद्धेरित्युक्तम्। इदानीं तत्रैव दूषणान्तरमाह **अपि च इति**। **तद्रहिताया** वस्त्वन्तरप्रतीतिरहितायास्तस्या अनुपलब्धेः कार्यव्यभिचारात्सत्यामप्यनुपलब्धौ कदाचित्कार्यस्याभाव-ग्रहणस्यानुत्पत्तेः तत्प्रतीतिरप्यङ्गमिति व्यवस्थाप्येत व्यतिरेकाभावेऽ-प्यन्वयव्याप्तिबलाद्वेति। तत्र प्रथमे दूषणं **न तावत् इति**। प्रतियोगि-ग्राहकेन्द्रियसन्निकर्षैः सहितानां प्रतीतिद्वये दूषणं- **नापि व्याप्तेरिति**। सत्यां हि व्याप्तौ भवन् रूपाभावप्रत्ययः तां वस्त्वन्तरप्रतीतिमाक्षिपेदेवं-भूतत्वादभावप्रत्ययस्य वस्त्वन्तरप्रतीतिव्याप्तत्वात्। यदि नाक्षिपेत् तर्ह्यभावप्रत्ययो वस्त्वन्तरप्रतीतिहेतुको न स्यात्स्वयं वा न भवेत् तत्कारणकस्य वस्त्वन्तरग्रहणस्याभावात्। अस्ति चायं वायाविति प्रतिक्षिप्तमपि पक्षं दूषणान्तरविवक्षयोपक्षिपति **तत इति**। ततः प्रमाणान्तरभूताया अनुपलब्धेर्वायौ रूपाभावप्रतीतिर्न भवतीत्येव किंतु लिङ्गभूताया तदा च वस्त्वन्तरप्रतीतिनपेक्षणीयेति। **लिङ्गमपि इति**। न हि तस्या एव कदाचिद्वस्त्वन्तरप्रतीतिरपेक्षणीयाऽन्यदापि युक्तमिति। ननु यथा ह्यलिङ्गदशायां मातापितृसंबन्धश्चक्षुःसंनिकर्षमपेक्षते ब्राह्मण्यज्ञानेन तु लिङ्गावस्थायां तथेहापि स्यादित्याह **यथा इति। न इति**। तत्र हि ज्ञानात्मनः कार्यस्य पारोक्ष्यापारोक्ष्यलक्षणजातिभेदात् योनिसंबन्धस्येन्द्रि-यापेक्षानपेक्षयोरुपपत्तिरिह चोभयोरिति। वस्त्वन्तरग्रहापेक्षतदनपेक्षानुपलब्धि-कार्ययोरभावज्ञानयोः पारोक्ष्याभ्युपगमेन जातिभेदाभावात् सहकारिवैचित्र्या-नुपपत्तिरिति। ननु परोक्षत्वेऽपि वस्त्वन्तग्रहणापेक्षानुपलब्धिजन्यस्य प्रकारान्तरेणासौ जातिभेदो भविष्यतीत्याह **पारोक्ष्य इति। न इति**। परोक्षापरोक्षव्यतिरेकिणो ज्ञानावान्तरजातिभेदस्याप्रामाणिकत्वादिति। **संभाव्यते इति**। यद्यपि न प्रमाणोपलम्भ इति शेषः। **संभाव्यताम् इति**। न हि संभावनामात्रसिद्धं जातिभेदमाश्रित्यास्मिन्

जातिभेदे वस्त्वन्तरग्रहापेक्षानुपलब्धिः कारणमस्मिंस्तु तन्निरपेक्षेति कारणनियमः शक्यनिश्चय इति।

अज्ञातकरणत्वाच्च .... कार्यकारणाव परिग्रहव्यसनेन। पृ० १३४-१३७।

तृतीयं हेतुमनूद्य व्याचष्टे **अज्ञातकरणत्वात्** इति। साक्षादनन्यत्र-चरितार्थेन्द्रियेण जन्यमिति। तत्रैवोदाहरणान्तरमाह **यथा वा** इति। यदि स्मरणं साक्षान्मन इन्द्रियजं तर्हि सुखादिज्ञानवदस्य साक्षात्कारित्वानुभवत्वे न किमिति स्त इत्याह **कुत** इति। **संस्कार** इति न तावदनुभवत्वं संस्कारातिरिक्ता-साधारणकारणाभावात्, नापि साक्षात्कारित्वमिन्द्रियार्थसंनिकर्षासमुत्थत्वादिति वक्ष्यामश्चतुर्थे परिच्छेद इति।

अज्ञायमानकरणकेन ज्ञानेनेन्द्रियजेन भवितव्यमिति व्याप्तिर्भावज्ञानेषु नाभावज्ञानेष्वपीत्याह **तथापि** इति। **न** इति। सामान्यतः प्रवृत्ताया व्याप्तेर्बाधकमन्तरेणाभावविषयत्वेन संकोचानुपपत्तेस्तथापि वा संकोचेऽतिप्रसङ्ग इति। मा भूत्संकोचः तथाप्यज्ञायमानकरणकस्यैव कस्यचिद् ज्ञानस्यानिन्द्रियजत्वे किं बाधकमित्याह **तथापि** इति। बाधकं विनोत्सर्गापवादेऽतिप्रसङ्ग इत्येतदेव तावद् बाधकं किमन्यन्मृग्यत इत्याह **नन्विदम्** इति। नन्वन्यतः सिद्धायां व्याप्तावेव तद्वक्तुं युक्तं तत्सिद्धिश्च विपक्षे बाधकादित्याशङ्क्याह **अन्यदपि** इति। इह घटो नास्तीति बुद्धिरतीन्द्रियजा निर्हेतुकैव स्यात् हेत्वन्तरासंभवादिति बाधकान्तरमाह **रूपादी**ति। तासामपीन्द्रियजत्वमज्ञातकरणत्वाधीनसिद्धीति भावः। तमेव स्फोरयति **न हि** इति। उपलभ्यमानकरणिकास्वनुमित्यादिषु इन्द्रियस्य कारणत्वेना-व्यवस्थापनादनुपलभ्यमानकरणिकासु रूपादिबुद्धिषु तद्व्यवस्थापनादज्ञात-करणत्वमेवेन्द्रियत्वे प्रयोजकमिति निश्चीयत इति। ननु रूपादिबुद्धीनां चक्षुरादिकारणत्वकल्पने तासां साक्षात्कारित्वमेव प्रयोजकं न त्वज्ञातकरण-त्वमित्यत्राह **यद्यपि** इति। रूपादिबुद्धीनां सत्यपि साक्षात्कारित्वे प्रथमतः कार्यदर्शनसमय एव कारणमपेक्षमाणः कारणान्तराज्ञानेनैव चक्षुरादि कल्पयति, न तु तासां साक्षात्कारित्वमप्यनुसन्धाय, ततश्च प्रथमभाविनो ज्ञातकारणत्वस्यैव प्रयोजकत्वमिति तदेव व्यतिरेकमुखेन स्फोरयति **नहि** इति। **अत एव** इति। यत एवाज्ञातकारणत्वमेव प्रयोजकमैन्द्रियकत्वे न तु साक्षात्कारित्वमत एवेति। संस्कारकरण एव स्मृतेः न तु मन इति चेत् तत्राह **संस्कारस्तु** इति। करणस्य

मन इन्द्रियस्य विषयप्राप्तिरूपतया संस्कार उपयुज्यते, न तु कारणत्वेनेति।

तुरीयं हेतुमनूद्य व्याचष्टे **भावावेशाच्च** इति। बहिः स्मरणादन्तः सुखाद्यनुभवाच्चान्यत्र सर्वत्रेन्द्रियलिङ्गादिभावात्मककरणसहायमेव मनः प्रवर्त्तमानं दृष्टमतो व्याप्तिबलादभावानुभवेऽपि किमपि भावरूपं कारणमाविश्य मनः प्रवर्त्तत इत्यनुमीयते। तच्च कारणमिन्द्रियमेवावशिष्यत इत्यर्थः। ननु भावानामुपलम्भ एवायं नियमः, अभावानुभवे तु बहिरस्वतन्त्रमनुपलब्धिमात्रसहायं भविष्यतीत्यत्राह **नहि** इति। अभावानुभवेऽपि शाब्दलैङ्गिकादौ मनसः शाब्दादिभावरूप-कारणापेक्षादर्शनादिति। अन्यत्र तथादर्शनेऽपीह घटो नास्तीत्यत्रानुपलब्धिमात्रसहायं भविष्यतीत्याह **न च** इति। यद्वा भावानुभवे भावकारणापेक्षमप्यभावानुभवे तन्निरपेक्षमेव मनो भविष्यतीत्यत्र दोषान्तरमाह **न च** इति। **तथा च** इति। अपेक्षणीयत्वेनावधृतस्याभावेऽपि कार्योत्पत्त्यभ्युपगमे न किञ्चित्कस्यचित्कार्यं कारणमिति वा परिगृह्येताविशेषादिति।।२०।।

अपि च, प्रतियोगिनि ..... संयोगवदिति। पृ० १३८-१३९।

अपरानपि चतुरो हेतूनुपन्यस्यति **अपि च प्रतियोगिनि** इति। इन्द्रियाणि पक्षः, अभाव ज्ञानकारणमिति साध्यमध्याहार्यमभावप्रतियोगिनि घटादौ समर्थत्वात् शब्दलिङ्गादिन्द्रियस्यावान्तरव्यापारत्वादधिकरणग्रहणेन व्यवधानाभावात्। इदं चाभावग्रहणेऽधिकरणग्रहणस्योपयोगमङ्गीकृत्योक्तम्। अभावविषयविपर्ययज्ञानहेतूनां दोषाणामिन्द्रियाश्रयत्वात् अघटं भूतलमिति विशिष्टबुद्धेरिन्द्रियहेतुत्वाच्चेति। तत्राद्यं व्याचष्टे **यद्धि** इति। भावग्राहिणः प्रमाणस्य तदभावेऽपि सामर्थ्यानङ्गीकारेऽनिष्टमाह **अन्यथा** इति। शब्दादेरप्यभावानापादकत्वमस्त्वित्यत्राह **न चैवमेव** इति। मैत्रो नास्तीत्याप्तवाक्यात्र दृष्ट इत्याप्तवाक्यावगतानुपलब्धिलिङ्गादपि तदभावावगतेरिति। द्वितीयं विवृणोति **ग्राह्यं त्विति**। आश्रयग्रहणव्यापृतमपीन्द्रियमभावबुद्धेः कारणं तस्येन्द्रियावान्तरव्यापारत्वेन तदव्यवधायकत्वादिति। यद्यवान्तरव्यापारोऽपि व्यवदध्यात् ततः सविकल्पकज्ञानानां प्रत्यक्षत्वं न स्यात् निर्विकल्पक-ज्ञानव्यवहितत्वादिन्द्रियस्येत्याह **अन्यथा** इति।

यदि व्यवधानेऽपीन्द्रियमेवाभावज्ञाने कारणं स्यात् तर्ह्यवान्तर-व्यापारीकृतधूमज्ञानमिन्द्रियमेवाग्निं ग्राहयेत्। तत्र चाभावप्रमाणवदनुमानमपि दत्तजलाञ्जलि स्यादित्याह **ननु** इति। तदवान्तरव्यापारलक्षणमपि दृष्टेपवल्गितमित्याह **न** इति। न हि यद्येन जन्यते तत्सर्वं तस्य व्यापारः, किन्तु

येन विना यस्य यदुत्पादनं न संभवति स एव तस्य कारणस्य तस्मिन् कार्ये जनयितव्येऽवान्तरव्यापारः। न च वह्निसंयोगमन्तरेणेव धूमोपलम्भमन्तरेण चक्षुर्न वह्निज्ञानमुत्पादयति पुरोवर्त्तिनि वह्नौ तमन्तरेणैव तदुत्पादनदर्शनादिति।

अस्ति च भावाभावविपर्ययः ... रूपप्रमाकरणं चक्षुरिति। पृ० १४०।

तृतीयं विवृणोति **अस्ति च** इति। अस्ति तावद्विद्यमान एव वस्तुनि नास्तीति विपर्ययात्मकोऽभावप्रत्ययः। यस्मिन् दुष्टे सति भवति तदेवादुष्टं समीचीनाभाव-ज्ञानकारणं भवितुं युक्तमिति। ततः किमायातमिन्द्रियकरणत्वस्येत्यत्राह **न च** इति। न तावदनुलब्धेरभावात्मिकाया दोषाश्रयत्वं संभवति। न चाधिकरणग्रहणस्य प्रतियोगिस्मरणस्य वा स्वगतो दोषः संभवति। कार्यप्रतिबन्धको हि दोषः, तयोस्तावदुत्पन्नयोरर्थप्रकाशात्मनः कार्यस्य केनापि प्रतिबन्धायोगात् अनुत्पन्नयोश्च कार्याभावस्य स्वभावनिबन्धनत्वेन दोषानधीनत्वात्तस्मादिन्द्रियदोषादेवाभावविपर्यय इति शिष्यत इति भावः। दुष्टं हेत्वन्तरमाशङ्कते **असंसृष्टयोरिति**। अभावे भावविपर्ययो दृष्टान्तार्थ इति। **नन्वयम्** इति। तथा प्रतिभानमेव विपर्ययो न त्वन्यस्तावत्साध्यः। तथा च ततो विपर्ययोत्पत्तौ विपर्ययादेव विपर्यय इति स्यादिति परिशेषसिद्धमुपसंहरति **तस्मात्** इति। उक्तमर्थं प्रयोगमारोपयति **तथा च** इति।

विकल्पनात् खल्वपि .... अलमसद् ग्रहेणेति। पृ० १४१-१४२।

चतुर्थं हेतुं व्याचष्टे **विकल्पनात्** इति। नन्विन्द्रियस्य विशेष्यभूतभूतलोपक्षेप्यभावप्रमाणेन विशिष्टधीः सेत्स्यति किं समेनेत्यत्राह **यथा हि** इति। **अत्र** इति। अघटं भूतलमिति विशिष्टबुद्धावित्यर्थः। ननु प्रत्येकसामर्थ्ये तयोः समाहारः कारणमस्तु न तु सप्तमस्यावकाश इत्याह **स्वस्वविषय** इति। **न** इति। भावाभावरूपविषयभेदे परोक्षापरोक्षलक्षणफलवैजात्ये च सति येनेन्द्रियानुपलब्ध्योः समाहारः संभवतीति विषयभेदे फलवैजात्ये च समाहाराभावमेवोदाहरणेन दर्शयति **न हि** इति। ननु तत्रोदाहरणे कर्बुरस्य घटपटात्मकस्य कार्यस्याभावात्समाहाराभावः न तु विषयभेदात्फलवैजात्याद्वा। इह त्वभावविशिष्टे भावविषयस्यानुपलब्धीन्द्रिययोरनुगुणपरोक्षापरोक्षात्मनः प्रत्ययस्य दर्शनाद्युक्तः समाहार इत्याह **तत्र** इति। **न** इति। न हि मिथोविरुद्धे परोक्षापरोक्षत्वे एकत्र ज्ञाने समाविशत इति दर्शनबलात्समावेशाङ्गीकारे तत्र विशिष्टकार्येऽ-नुपलब्धेरिन्द्रियत्वद्वयोरपि शक्तिरङ्गीकार्या, तदा च प्रत्यभिज्ञानवत् प्रत्यक्षफलमेव

ज्ञानं भवेदिति भावः। ननु स्वस्वविषयमात्रपर्यवसितयोरेव समाहारः कारणमस्तु किं शक्त्यन्तरकल्पनयेत्यत्राह न हि इति। प्रत्यभिज्ञादावपि नियतविषययोरेव संस्कारेन्द्रिययोः समाहारादेव सिद्धेरिन्द्रियशक्तिकल्पनं न स्यादिति। नन्वनुपलब्धीन्द्रिययोः प्रत्येकं भावाभावविषयशक्त्यभ्युपगमेऽन्यतरेणैव विशिष्टधीसिद्धेः किं परस्परसाहित्येनेत्याह ननु इति। न इति। अनुपलब्धि-सहितस्यैवेन्द्रियस्य तत्र शक्तिर्न केवलस्य। न चान्यसाहित्येनैन्द्रियकत्वविरोधः प्रत्यभिज्ञानादिवदिति। सुरभि चन्दनमित्यादिप्रत्ययेष्विवात्रापि समाहारः कारणं स्यादित्याशङ्क्याह एतेन इति। अन्यसहितस्येन्द्रियस्य विशिष्टधीहेतुत्वप्रतिपादनेन तेऽपि प्रत्यया गन्धज्ञानसहकृतया त्वचा वा चक्षुषा वा जायन्ते न त्विन्द्रियसमाहारेणेति व्याख्यात इति। एवमुक्तप्रकारेण विशिष्टज्ञान इवेन्द्रियस्याभावेऽपि सामर्थ्यमवर्जनीयमित्युपसंहरति तथा च इति।२१।

स्यादेतत्। नागृहीते विशेषणे .... वज्रलेपायमानत्वादिति। पृ० १४२-१४६।

अथानुपपत्तिचतुष्टयेनाभावप्रत्यक्षत्वं पूर्वपक्षी प्रतिक्षिपति स्यादेतत् इति। अघटं भूतलमिति विशिष्टबुद्धेः पूर्वमेव विशेषणस्याभावस्य ग्रहणं वक्तव्यं विशेषणग्रहणकार्यत्वात् विशिष्टबुद्धेर्न च विशिष्टे सामर्थ्यमस्तीति विशेषणेऽपीन्द्रियस्य सामर्थ्यमतिप्रसङ्गात्। तस्मादभावात्मनो विशेषणस्य ग्रहणाय षष्ठं प्रमाणमास्थेयम्। यदि वा भाव ऐन्द्रियकः सविकल्पको ग्राह्यः, ततो निर्विकल्पकेनासौ पूर्वं ग्रहीतव्यः निर्विकल्पपूर्वत्वात् विकल्पस्य। न चाभावे निर्विकल्पकसंभवः प्रतियोग्यवच्छेदेनैव तस्य स्फुरणात्। न च षष्ठप्रमाणवादिनोऽप्ययं प्रसङ्गः ऐन्द्रियकविकल्पस्यैव तत्पूर्वकत्वनियमात्। न चाभावस्येन्द्रियेण प्राप्तिः संभवति संयोगादीनां भावधर्मत्वात्। विशेषणविशेष्यभावलक्षणस्य च संबन्धस्य संयोग-समवायादिसम्बन्धान्तरपूर्वकत्वेनैव दण्डिनीलोत्पलादिषु दृष्टत्वात्। किञ्च अभावप्रत्यक्षत्ववादिनापि प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिरवश्यमिन्द्रियसहकारित्वेनाप्यङ्गी-कर्त्तव्या। तथा चोभयसिद्धा सैवाभावज्ञानहेतुरस्त्विति।

समाधत्ते उच्यते इति। अवच्छिद्यतेऽनेनेति अवच्छेदः प्रतियोगी, तद्ग्रहणस्याभावनिरूपणेऽवश्यंभावः। प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणोऽभाव इति यावत्। तस्माद्विशेषणत्वेऽपि न केवलस्याभावस्य पूर्वग्रहणं, नापि विकल्पवेद्यत्वेऽपि

पूर्वमालोचनमास्थेयम्। एतदुक्तं भवति– न हि पूर्वग्रहणे विशेषणत्वं प्रयोजकं, नाप्यालोचनीयत्वेन विकल्पवेद्यत्वं किन्तु प्रतियोगिनिरपेक्षनिरूपणीयत्वं ज्ञानसमवायादौ तथावसायात्। अथाभावज्ञानस्यावच्छेदग्रहो ध्रुवो नाङ्गीक्रियेत तर्हि केवलस्याभावस्य पूर्वग्रहणमालोचनं च को नाम नाङ्गीकुर्यात्। विशेषणविशेष्यरूपस्य संबन्धस्य संबन्धान्तरपूर्वकत्वनियमाभ्युपगमे च संबन्धान्तरस्यापि सम्बन्धपूर्वकत्वप्रसङ्गेऽनवस्थाप्रसङ्गः। न चेदयमस्मदुक्तप्रकारोऽङ्गीक्रियेत ततः प्रमाणान्तरपक्षोऽपि दुर्घटः स्यादिति। तत्राद्यचोद्योत्तरतयाद्यं पदं व्याचष्टे **स हि** इति। एषां हि दण्डकुण्डलादीनामर्थानाम् अर्थान्तरज्ञाननिरपेक्षैः स्वविषयैरेव ज्ञानैरितरेतरव्यवच्छेदः सिद्ध्यति, त एव विशेषणीभवन्तः केवला अपि स्फुरेयुः। येषां तु ज्ञानसमवायाभावादीनां स्वस्वगोचरं ज्ञानव्यञ्जकमात्रं न तु व्यवच्छेदकं, न हि ते प्रतियोगिज्ञाननिरपेक्षैरेव स्वविषयज्ञानैः स्वेतरव्यवच्छिन्नाः प्रतीयन्ते, तेषां केवलस्फुरणमन्तरेणैव विशिष्टज्ञानगोचरत्वमिति। द्वितीयस्यापि चोद्यस्य तमेवोत्तरतया व्याचष्टे **स च विकल्पयितव्य** इति। तैरेव विकल्पवेद्यैः भवद्भिः पूर्वमालोचनविषयैर्भवितव्यं ये प्रतियोगिनिरपेक्षैरेवेन्द्रियैः ज्ञाप्यन्ते यथा घटादयः, ये तु प्रतियोगिज्ञानपुरःसरमेव जायन्ते यथा ज्ञानादयः तेषां निर्विकल्पकवेद्यत्वासंभवात् न तत्पूर्वकत्वमिति।

अथ पाठक्रममनादृत्यार्थक्रमेण द्वितीयं पादमवसरे व्याख्यास्यंस्तृतीय–चोद्योत्तरतया तृतीयं व्याचष्टे **स्वभावेति**। स्वाभाविके हि विशेषणविशेष्ये सम्बन्धे सत्यपि रूपादिष्वधिकः समवायादिसम्बन्धो दृष्टत्वादेव स्वीक्रियते। तद्धेतुकत्वेनाभावे तु स्वभावतः प्राप्तिरस्ति न च सम्बन्धान्तरं दृश्यत इति भावः। तथापि तदभ्युपगमोऽनवस्थादुस्थ इत्याह **इह तु** इति। एतावता संबन्धान्तराभावमात्रेणेति तुरीयं पादं व्याचष्टे **न चेदेवम्** इति। दौर्घट्यमेवाह **तथाहि** इति। प्रत्यक्षं साक्षादनुमानादीनि तु परम्परया निर्विकल्पकपूर्वकाणि तेषां प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्, तस्य च निर्विकल्पकपूर्वकत्वादिति। यतः सर्वस्यापि प्रमाणस्यायं स्वभावः तस्मादनुपलब्ध्या प्रमाणान्तरभूतयाप्यालोचितपूर्व एवाभावो विकल्पनीय इत्याह **तत** इति। अस्तु तर्ह्यनुपलब्ध्यैवालोचनमित्यत्राह **न च** इति। आलोचनविषयत्वसंभवे वाभावस्यास्माकमपीन्द्रियेण तदालोचनं भविष्यतीत्याह **शक्यत्वे वा** इति। एतेन द्वितीयः पादो व्याख्यातः। षष्ठेनापि प्रमाणेनाभावः कस्यचिद्विशेषणत्वेन वा ग्राह्यः। ततश्च सम्बन्धान्तरपूर्वकत्वनियमे

विशेषणविशेष्यभावस्यानवस्थाप्रसङ्गस्तवापि तुल्य इत्याह **तदभावस्य इति**। ननु संयोगाद्यभावेऽपि तादात्म्यात्मकसम्बन्धान्तरमभ्युपगम्यते *भाट्टैस्ततो* न तुल्यत्वमित्याह **परस्य इति**। यदि हि तादात्म्यं प्रमाणतोऽस्ति ततोऽस्तीति स्यात्, न चैवं प्रमाणाभावादित्याशयेनाह **ननु इति**। नन्वस्माभिस्तावदेतदभ्युपगम्यत इत्यत्राह **न हि इति**। न ह्यभ्युपगमतदभावमात्राभ्यां वस्तुनः सदसत्त्वसिद्धिरिति। यत्त्ववश्याभ्युपगन्तव्यत्वादनुपलब्धेः सैव प्रमाणमस्त्विति। तत्राह **अवश्येति**। यदावश्याभ्युपगम्यत्वमात्रेणानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वमपि सिद्ध्येत् तर्हि भावोपलम्भेऽपि तदभावानुपलब्धिरेव प्रमाणं भवेत् भावोपलम्भ-समयेऽभावानुपलब्धेरवर्जनीयत्वादित्याह **अन्यथा इति**।२२।

प्रत्यक्षादिभिरेभिः .... प्रपद्यामहे। पृ० १४६।

अथ परमेश्वरप्रतिपत्तिव्याजेन परिच्छेदार्थमुपसंहरति **प्रत्यक्षेति**। बाधकत्वेन शङ्कितानामपि सर्वेषां प्रमाणानां कार्यत्वेनेश्वरायत्तात्मलाभत्वादनु-मानस्याश्रयासिद्धेरपि तदधीनत्वादागमस्य च प्रामाण्येऽपि तत्परतन्त्रत्वादुक्तं **यन्मुखवीक्षणेति**। प्रत्यक्षस्योत्पत्तौ तदपेक्षायामपि प्रामाण्ये तदनपेक्षत्वादुक्तं **प्राय इति**। तदयमर्थः– एवमीश्वरस्याधरैरर्वाक्प्रवर्त्तमानैस्तमपि विषयी-कर्त्तुमशक्नुवद्भिरिति यावत्। यन्मुखवीक्षणैकविधुरैरात्मापि नासाद्यते तैः प्रत्यक्षादिभिस्तस्य विरोधो बाधश्च दूरे, तमेवंभूतं सर्वेषां परमपुरुषार्थ-प्राप्तिहेतुत्वादनुविधेयमेकं समेनाधिकेन वा द्वितीयेन रहितं असमायां स्वच्छन्दतः प्रवणलक्षणायां लीलायामबद्धरतिं परमेश्वरमुद्भवदतिश्रद्धावन्तो वयं प्रपद्यामह इति।।२३।।

इति श्रीमद्रामदेवमिश्रसूनोर्वरदराजस्य कृतौ कुसुमाञ्जलिटीकायां तृतीयः परिच्छेदः।।

अथ चतुर्थः स्तबकः

ननु सदपीश्वरज्ञानं .... तवाप्यनवस्थानादिति। पृ० १४८-१५२।

सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वादित्यस्यासिद्धिव्युत्पादनं परिच्छेदार्थः। तत्रेश्वरप्रामाण्यस्य तज्ज्ञानद्वारत्वात् तदाक्षेपेण पूर्वपक्षयति नन्विति। कथं तल्लक्षणायोगः यथार्थज्ञानस्यैव प्रमाणत्वादित्यत्राह–**अनधिगतार्थगन्तुरिति**। तर्हि ईश्वरज्ञानमप्यनधिगतार्थगन्तृत्वेन प्रमाणं भविष्यतीत्यत्राह–**न चेति**। तत्र परोक्तलक्षणदूषणपुरस्सरं स्वाभिमतलक्षणमभिदधानः सिद्धान्तयति–**अव्याप्तेरिति**। **अपूर्वदृगिति**। भावप्रधानो निर्देशः। अनधिगतपूर्वगन्तृत्वं न प्रमाणलक्षणम्। कुतः धारावाहिकबुद्धिष्वव्याप्तेः विभ्रमबुद्धिष्वतिव्याप्तेश्चेति शेषः। किन्तर्हि लक्षणम्! यथार्थानुभवः। अनुभवत्वैकनियतं यथार्थत्वमित्यर्थः। कुतोऽनुभव एव मानम्, न तु स्मृतिः! अनपेक्षतया अनुभवस्य। यथा हि स्मृतेः याथार्थ्यमनुभवपरतन्त्रम् नैवमनुभवस्येत्यर्थः। अधिगतार्थगन्तुरप्रामाण्यकारणादि यावत् सम्भवमाशङ्क्य निराकुर्वाणः श्लोकं व्याचष्टे– **न हीति**। **अतदधीनत्वादिति**। प्रमात्रपेक्षानधीनत्वादिति। फलोत्पादानुत्पादाभ्यां विशेषादिति। निष्पादिते कर्मणि किं परशुनेति साधनन्यासातिपातादसाधकत्वं परश्वादेरुक्तम्, चक्षुरादेस्तु परिच्छिन्न एवार्थे पुनः परिच्छेदलक्षणफलोत्पत्तेर्नैषा रीतिः।

ननु फलस्योत्पादेऽपि तस्याप्रमाणत्वात् तत्साधनं न प्रमाणं भवेदित्याह– **तत्फलमिति**। किमिदमिह प्रमात्वं नाम यन्निषेधः साध्यते। यथार्थानुभवत्वमनधिगतार्थगन्तृत्वम्वेति विकल्पाभिप्रायेण दूषयति– **न यथार्थेति**। **साध्यसमत्वादिति**। अधिगतार्थगन्तृत्वस्यैव हेतुत्वादिति। यदि तत्र प्रमाव्यवहारनिषेधः साध्यते, तदा गृहीतग्राहित्वमप्रयोजकं स्मृतौ प्रमाव्यवहाराभावस्य अव्यवहारतद्व्यवहारनिमित्तविरहप्रयुक्तत्वात्। बाधितविषयत्वं च गृहीतग्राहिष्वपि प्रमाव्यवहारदर्शनादित्याह– **व्यवहारेति**। अस्तु निमित्तविरह उपाधिः, निमित्तं चानधिगतार्थत्वम्, ततस्तद्विरहोऽस्तीत्याशङ्क्याह – **न चेति**। अनधिगतार्थत्वस्यैव प्रमाव्यवहारहेतुत्वे विपर्ययज्ञानेऽपि तद्व्यवहारः स्यादिति, तर्हि यथार्थत्वविशिष्टमनधिगतार्थत्वं प्रमाव्यवहारनिमित्तमित्यत्राह– **नापीति**। प्रमाव्यवहारगोचराणामपि धारावाहिकबुद्धीनामनधिगतार्थत्वाभावादिति। तास्वपि कालभेदावभासादनधि-

गतार्थत्वमस्तीत्यत्राह – **न चेति**। कालस्य स्वतो भेदाभावादौपाधिकभेदस्य चौपाधिकभेदाधीननिरूपणत्वादुपाधीनां च सूक्ष्मत्वेनाकलयितुमशक्यत्वादिति।

नन्वज्ञातेष्वपि कालभेदरूपेषु विशेषणेषु तज्जनितस्य विशिष्टतालक्षणस्याधिकस्यार्थान्तरस्य सद्भवादधिकविषयत्वम् धारावहन-बुद्धीनामित्यत्राह-**न चेति**। यदि सत्तया कालभेदोऽपि विशिष्टतां जनयेत्, तदानागतादिकालस्येदानीमसत्त्वात् तद्विशिष्टस्यानुभवो न स्यात्। ज्ञायमानतया तु तज्जनने सूर्यगत्यादीनामुपाधीनामज्ञानेन तदा यत्कालभेदस्याज्ञानात् विशिष्टता नोत्पद्येतेति। विशिष्टता नाम किञ्चिद्रूपान्तरमविशेषणेन विशेष्यजन्यमिति *मीमांसक*दृष्ट्या कालभेदेन तज्जननानुपपत्तिरुक्ता, सम्प्रति सापि नास्तीत्याह-**न चैतस्यामिति**। विशेषणाविशेष्यभावानुपपत्तिरेव तत्र प्रमाणमित्याह **नन्विति**। विशेष्यगतातिशयजननेन तदुपकारिण एव विशेषणत्वम्। अन्यथा सर्वं सर्वस्यापि विशेषणं विशेष्यं च स्यादिति अन्यथैवोपपत्तिमाह-**व्यवच्छित्तीति**। व्यवच्छित्तिप्रतीतेर्जनकत्वविषयत्वाभ्यां विशेषणविशेष्यभावः, न तूपकार्योपकारकत्वाभ्याम् इति अतिशयमादधानस्यैव व्यवच्छित्ति-प्रतीतिहेतुत्वेऽप्यतिप्रसङ्गः स्यादित्यत्राह-**व्यवच्छित्ताविति**। स्वभावेनैव किञ्चिदेवास्य किञ्चिद्व्यवच्छित्तिप्रत्यायकं भवति, न सर्वं सर्वस्येत्यति-प्रसङ्गवारणमिति। यदि स्वभावमवधीर्य व्यवच्छित्तिप्रत्यायनमतिशयाधानेनैव व्यवस्थाप्यते, तदा तत्रैवातिशयाधानं नान्यत्रेत्येषापि व्यवस्थातिशयान्तराधानद्वारा स्यादित्यनवस्थेत्याह-**अन्यथेति**।

ज्ञाततैवोपाधिरिति .... प्रतीत्यसाधनत्वात्। पृ० १५३-१५५।

मा भूत् सूर्यगत्यादिरुपाधिः, ज्ञाततोपाधिक-कालभेदेन ज्ञाततयैव वा प्रमेयाधिक्यात् धारावहनबुद्धीनां प्रामाण्यं भविष्यति। पूर्वपूर्वबुद्धिजनितायाः ज्ञातताया उत्तरोत्तरबुद्धाववभासनादित्याह-**अस्त्विति**। न तावत् ज्ञातता नाम किञ्चित् तत्त्वमस्तीत्यग्रे निवेदयिष्याम इत्याह-**नेति**। अस्तु वा तस्याः सद्भावः, तथापि तत एव स्मृतावप्यधिकविषयत्वलाभात् प्रामाण्यं स्यादित्याह-**तत्सद्भावेऽपीति**। तत एव स्मृतावप्यधिकविषयत्वलाभात् प्रामाण्यं स्यादित्याह-**तत्सद्भावेऽपीति**। **अस्तु जनकागोचरत्वेऽपीति**, ज्ञातताजनकस्य स्मरणस्य गोचरत्वेऽपीत्यर्थः। **अस्तु वेति**। प्रत्यक्षज्ञाने कालभेदादि कापि गतिः संभवेदपि, पूर्वं तु गृहीते तदनु विस्मृते पुनः श्रूयमाणेऽर्थे जायमानस्य ज्ञानस्यानधिगतार्थत्वा-भावान्न प्रमात्वं भवेदिति नेदमनिष्टापादनमित्याह-**अप्रमेति**। अनिष्टतामेव दर्शयति-**गतमिति**।

कुत इत्यत आह–न हीति। अवगतत्वनिश्चयो न शक्यत इत्यत्राह–सन्देहेऽपीति। न च तत्रापि प्रत्यक्षवत् गतिः संभवतीत्याह–न चेति। न चास्मिन् जन्मनि वेदार्थोऽनेनाधिगतपूर्व इति चेत् किमतस्तर्हि अनधिगतगन्तृप्रमाणमिति लक्षणं प्रणयता एकस्मिन् जन्मनि परिभाषितमित्यत्राह – न चैकस्मिन्निति। अङ्गीकृत्यापि परिभाषामाह–तत्रापीति। उत्तरार्थव्याचिख्यासया पृच्छति–कथन्तर्हीति। यद्यधिगतगन्तुरपि प्रमाण्यं स्यादिति। अननुभवत्वेनेति। न त्वनधिगतगन्तृतयेति। कुत एतत् गम्यत इत्यत्राह–तत्त्वज्ञानादिति। प्रथमसूत्रे तत्त्वशब्देन यथार्थत्वस्य, ज्ञानशब्देनानुभवत्वस्य च सूत्रणात्। तथा प्रत्यक्षसूत्रे चाव्यभिचारिज्ञानपदाभ्यां यथार्थत्वास्यानुभवत्वस्य च ग्रहणादिति याथार्थ्यमेव प्रमाव्यवहारनिमित्तमिति मन्यमानश्चोदयति- नन्विति। नेति। लोकसिद्धव्यवहारे तन्निमित्तमात्रं परीक्षकैरनुसरणीयम्, न तु स्वमनीषकाकल्पितेन निमित्तेन व्यवहार एव नियन्तुं युक्तः। तथा सति सर्वे व्यवहाराः सर्वत्र प्रवर्तिता भवेयुः। ननु स्मृतौ प्रमाव्यवहारोऽस्तीति, यदि स्यात् ततः तद्धेतुस्संकारः प्रमाणमिति व्यवह्रियेत। नचैतदस्तीत्याह – न चेति। कुतोऽवगम्यत इत्यत आह – पृथगिति। तथा सति हि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दसंस्कारः प्रमाणानीति प्रत्यक्षादिभ्यः पृथगेवोपदिशेयुरिति। उक्तेष्विति। अर्थापत्यादीनामिवेति। नेति। संस्कारस्य ह्यसाक्षात्कारिफलत्वेन प्रत्यक्षे नान्तर्भावः, सत्तया ज्ञानहेतुत्वेन नानुमानादिष्विति, तदेवं स्मृतेः प्रमात्वे साध्ये यथार्थज्ञानत्वादिति हेतोः लौकिकपरीक्षकव्यवहाराभावेन बाधितविषयत्वं व्यवस्थापितम्।

एवं व्यवस्थिते .... मानसप्रत्यक्षमस्तीति। पृ० १५५-१५८।

सम्प्रतिविशेषणासिद्धिमभिसन्दधान आह - एवं व्यवस्थित इति। स्मृतेर्याथार्थ्यं तात्त्विकमौपचारिकं वेति विचार्यत इति। तत्रौपचारिकत्वं दर्शयति- यदियमिति। स्मृतेरनुभवमात्रत्वेन तद्याथार्थ्याधीनं याथार्थ्यमतः स्वकार्ये प्रवृत्तिनिमित्तरूपे व्यवहारे हेतुर्भवन्ती प्रमितिः पूर्वानुभव एव न स्मृतिः, तदपेक्षत्वादिति। अनुभवपारतन्त्र्यमेव दर्शयति - असमीचीने हीति। अतः स्वयमयथार्थैव स्मृतिः, यथार्थेति व्यवह्रियते।

ननु महदिदमिन्द्रजालं यदनुभवो यथार्थः, तदेकविषया स्मृतिः अयथार्थेति। मैवं यदि समानो विषय इत्येतावता तयोर्याथार्थ्यं सिध्येत्, तर्हि, श्यामे घटे श्यामताबुद्धिः साध्वीति पुनः पाकरक्तेऽपि घटे श्यामताबुद्धिः साध्वी स्यात्।

अथ पूर्वश्यामताबुद्धिसमये तस्यार्थस्य तादवस्थ्यात्, पाकरक्ते पुनस्तादवस्थ्याभावात् नैवमिति चेत् समः समाधिः। अनुभवकालेऽर्थस्य तादवस्थ्यात् स्मृतिकाले त्वतादवस्थ्यात्। न हि पूर्ववर्तमानकालावच्छेदरूपार्थस्य सत्ता स्मृतिकाले सति पाकरक्तेऽपि श्यामतासद्भावे वा पूर्वतैव न स्यात्। यदि पूर्वं तदवस्थ इत्येतावता याथार्थ्यम्। तर्हि पाकरक्तेऽपि श्यामतामतिः यथार्था स्यादेतदेव ह्ययाथार्थ्यम्। यद्यदा यादृशोऽर्थः प्रतीयते न तदा तादृशोऽसाविति। न च निवृत्तपूर्वावस्थाकलनमेव स्मृतौ नास्तीति तत्ताहानप्रसंगात्। न च पूर्वावस्थानिवृत्तेरेव तदंशेनावलम्बनात् यथार्थत्वमिति वाच्यम्; यथार्थानुभवत्वप्रसंगात्। तस्मादयथार्थाया एव स्मृतेरनुभवैकविषयत्वेन याचितकमण्डनेन कमनीयमेव स्मृतेः याथार्थ्यं तदेतत्सर्वं *तात्पर्यपरिशुद्धि* परिश्रमशालिनां सुगमं सुखं च *तार्किकरक्षायाम्* अस्माभिर्दिङ्मात्रेण प्रदर्शितं नेह प्रतन्यते। हन्तैवं यथार्थग्रहणेनैव स्मृतिव्यवच्छेदसिद्धेः किमनुभवग्रहणेन। सत्यमेवम्। तथाप्यनुभवैकनियतं यथार्थत्वमिति दर्शयितुं यथार्थानुभवो मानमित्युक्तम्। कथं तर्हि स्मृतेः व्यवछेद इति अनुभवत्वेनेति ग्रन्थः अभ्युपगमादेवेति द्रष्टव्यः। उक्तमर्थं यथावदजानानश्चोदयति नन्विति। किमनेन यथावदबोधितेनेति मन्वानोऽन्यथा परिहारमाह–विषयभेदादिति। स्यादेतदेवं यद्यनुभवापेक्षामात्रेण स्मृतेरप्रामाण्यं ब्रूमः। तदेकविषयत्वेन तु तदपेक्षया स्मृत्यप्रामाण्यं वदतां नायं-प्रसंगोऽपेक्षणीय–प्रत्यक्षस्य लिङ्गविषयत्वादनुमानस्य च लिङ्गिविषयत्वादिति तर्हि मूलप्रमाणापेक्षस्तदेकविषयश्चागमो न प्रमाणं भवेदित्याह–**आगम इति**। नेति। श्रोतुः प्रमाणमागमः वक्तुः प्रमाणान्तरमिति। **धारावाहिकबुद्धय इति**। विषयस्य प्रमातुश्चैकत्वादिति। नेति। आद्याया इवोत्तरासाम् अपि कारणशुद्धिरेवापेक्षणीया न पूर्वा बुद्धिरिति। पौर्वापर्यनियमो हि कार्यकारणभावः स चासामस्तीति कथं तदनपेक्षत्वमित्यत्राह–कारणवशादिति। सामग्रीवशायत्तत्वादन्यथासिद्धं पौर्वापर्यमिति यदि तर्हीति पृच्छति। पृच्छतोऽयमाशयः स्मृत्यप्रामाण्येऽनुभवो न सिध्येत्, तदेकप्रमाणत्वात्तस्य तदसिद्धौ च तदपेक्षया स्मृत्यप्रमाण्यं दुर्भणमिति स एव सिद्धान्ती सन् शङ्कते – स्मृतीति। नेति। तथानुपपत्त्या तेन स्मृतिकारणेनेति। **अननुभूतेऽपीति**। यदि स्मृतिकारणत्वे प्रमाणाभावादननुभूतेऽपि स्मरणं किं न भवेदिति अनुभवकारणत्वे प्रमाणमाह–**पूर्वानुभवेति**। अनुभूतः स इति स्मृतेराकार इति। तदेतद्विकल्प्य दूषयति–**तत्किमिति**। *बौद्धाः* हि ज्ञानस्य विषयाकारता एव विषये प्रमाणम् विषयसिद्धिस्तु ततोऽन्या तद्धेतुकेत्याहुः। विषयाकारतैवास्य प्रमाणं तैरनुमीयत इति। अन्ये तु

विषयोल्लेखिज्ञानमेव [नोपपद्यत इति] तत्सिद्धिरिति। तत्र पूर्वत्र *बौद्धाना* मिव तवाप्यनैकान्तिकं न ह्यनागतादिज्ञाने भ्रान्ते च य आकारः परिप्लवते तत्पूर्वकत्वं तयोः, तस्य तदानीमसत्त्वात्। तत्पूर्वकत्वं नाम तद्धेतुकत्वं तद्विषयत्वमिति यावत्। हेतुत्वमेव हि बौद्धानां विषयत्वम्। यथाहुर्बाह्यतां विद्याहेतुत्वमेव युज्येत ज्ञानाकारार्पणक्षममिति उत्तरत्र घटाद्युल्लेखिनो ज्ञानस्य पादाविवानुभवोल्लेखिन्याः स्मृतेरनुभवे प्रामाण्यमवर्जनीयमिति। यदि स्मृत्यप्रामाण्ये अनुभवो न सिध्येत्। मा भूत्तत्सिद्धिः। न तु स्मृतिप्रामाण्यं लोकविरुद्धम् अङ्गीकार्यमित्याह–मा भूदिति। **न तर्हीति**। तथा च स्मृतेरनुभवपारतन्त्र्यासिद्धेः प्रामाण्यसिद्धिरिति।

अथ सिद्धान्ती स्मृत्यप्रामाण्येऽपि स्मृत्यनुभवयोः कार्यकारणसिद्धिमाह– **न तदप्रामाण्येऽपीति**। मानसं प्रत्यभिज्ञानमेव दर्शयति–**योऽहमिति**। तदेवं गृहीतग्राहिणोऽपीश्वरज्ञानस्य यथार्थानुभवत्वेनैव प्रामाण्यं सिध्यति। अनधिगतार्थगन्तृत्वस्यालक्षणत्वादित्युक्तम्।

न च गृहीतग्राहित्वम् .... अतिप्रसङ्गादिति। पृ० १५९।

इदानीं ज्ञानान्तरगृहीतविषयं हि ज्ञानम् गृहीतग्राहि भवति। न हि तथेश्वरज्ञानं तस्यैकत्वादित्याह–**न चेति**।

नन्वेकस्यापि पूर्वं विषयीकृतस्यैव पश्चादपि विषयीकरणेन गृहीतग्राहित्वाद् प्रामाण्यमित्यत आह – **न च तदेवेति**। प्रमात्वहेतोरन्यानपेक्षत्वस्य कालान्तरेऽपि भावादिति। अन्यान्यपेक्षत्वस्य कालान्तरेऽपि भावादिति अन्यानपेक्षत्वस्य प्रमाण्ये न किञ्चित् प्रमाणं स्यादित्य आह–**तथापीति**।।१।।

स्यादेतत् .... प्राकट्यानाधारत्वादिति। पृ० १६०-१६२।

मा भूत् गृहीतग्राहित्वादीश्वरज्ञानस्य प्रामाण्यं विषयाव्यवस्थया भविष्यतीत्याह – **स्यादेतदिति**। न हि विषयगतं किञ्चिदतिशयमनादधत् घटस्येदं ज्ञानं न पटस्येति व्यवतिष्ठते। उभयत्रापि अविशेषादिति ततः किमित्यत आह–**न चेति**। सर्वस्य सर्वत्र प्रामाण्यप्रसङ्ग इति तर्ह्याधीयतामिति इश्वरज्ञानेन नोपकार इत्यात्राह – **न च तदिति**। न हि भवत्पक्षे उपकारजनकज्ञानाभिज्ञमन्तरेणोपकारोत्पत्तिः सर्वस्यापि कार्यजातस्योपादानोपकरणाद्यभिज्ञानकर्तृपूर्वकत्वनियमाङ्गीकारात् तदभिज्ञानमन्तरेणाप्युपकारोत्पत्त्यंगीकारे वा कार्यत्वस्य तेनैवानैकान्तिकत्वात्। न चोपकारकमीश्वरज्ञानमिति तदीयेनैव ज्ञानान्तरेण ज्ञायत इति युक्तम्।

तदेकत्वाभ्युपगमात् ज्ञानान्तराभ्युपगमे च तस्याप्युपकारजननार्थं ज्ञानान्तरापेक्षायामनवस्थानादिति। तदयं संक्षेपः, न तावदीश्वरज्ञानं तदभिज्ञानमन्तरेण विषयगतमुपकारं जनयति। तथा च सति कार्यत्व-स्यानैकान्तिकत्वप्रसङ्गात्। न च तद्विषयं ज्ञानान्तरमस्ति, अनभ्युपगमात् अनवस्थानाच्च। न चोपकारजननमन्तरेण विषयस्य व्यवस्था सिध्यति। न चाव्यवस्थितिविषयं प्रमाणं नाम, तस्मादीश्वरज्ञानं न प्रमाणमिति। यद्वा धारावहधियां ज्ञाततोपाधिकाधिकविषयत्वमाशङ्क्य तन्निराकरणं सामान्यतः कृतम्। स्मृतीनामपि तत एव प्रामाण्यं स्यादित्युक्तम्।

इदानीं तन्निराकर्तुमाशङ्कते – **स्यादेतदिति**। अन्यथोपपत्त्या दूषयति– **स्वभाव-नियमाभावादिति**। उपकाराधानपक्षेऽपि तत्रैव उपकारो नान्यत्रेति। को नियन्ता यदि स्वभावनियमः, तर्हि विषयनियमेऽपि प्रतिसन्दधीथाः। तदवधीरणे हि व्यवस्थिताधार उपकारोऽपि दुर्घटः स्यात्। अथ स्वभावमन्तरेण यथाकथञ्चित् उपकारस्सुघटः। सत्यपि सुघटत्वेऽर्थे तदन्यथात्वे सत्यर्थे का गतिः ! उपकारस्य अतीतानागतादेरसत्त्वेन ज्ञानजन्यफलानाधारत्वाद्विषयत्वव्याघात इत्यर्थः। स्वभावनियमाभावादिति गतमुत्तरमर्थं व्याचष्टे–**अवश्यं चेति**। स्वभावेनैव विषयनियमो ज्ञानस्य **एतदिति**। नन्वतीतादिविशेषाणामसत्त्वेऽपि तदाश्रयस्य सामान्यस्य नित्यत्वात्तदधीन उपकार आधास्यत इत्यत्राह **न चेति**। नन्वतीतादि ज्ञानजन्यस्योपकारस्य सामान्याश्रयत्वे तदेव तद्विषयः स्यात्। ज्ञातताश्रयस्यैव विषयत्वाङ्गीकारादिति।

ननु सामान्यविशेषयोस्तादात्म्यात् सामान्याश्रयापि ज्ञातता विशेषाश्रयस्यापि स्यादित्यत आह – **तादात्म्यादिति**। अनिष्टप्रसंगेन दूषयति – **तत्किमिति**।

ननु द्व्याकारो रसः तर्हि रसोऽपि ज्ञात एवेति नेदमनिष्टापादनमित्याह– **घटाकारेणेति**। सुगममन्यत्।।२।।

ननु क्रियया कर्मणि .... परिस्फुरतीति चेत्, तदसत्। पृ० १६२-१६४।

मा भूद्विषयनियमान्यथानुपपत्तिः, प्रमाणमनुमानं तु भविष्यतीत्याह–**नन्विति**। ज्ञानं स्वकर्मणि किञ्चित् करोति, क्रियात्वात्, विदिक्रियावदिति विकल्पाभिप्रायेण दूषयति–**अनैकान्त्यादिति**। किमिदमिह क्रियात्वं विवक्षितम्, धात्वर्थमात्रं स्पन्दो वा। पूर्वत्र संयोगादिभिरनैकान्त्यात्परत्रासिद्धेः न क्रियात्वं ज्ञाततालिङ्गं भवति। वा

शब्दोऽत्र व्यवस्थितविकल्पार्थं मा भूत्, अन्यत् ज्ञातोऽयमर्थः इति। विषयविशेषणत्वेन ज्ञाततायाः स्फुरणात् प्रत्यक्षमेव प्रमाणमित्यत आह–**तद्वैशिष्ट्येति**। ज्ञातोऽसाविति। ज्ञानविशिष्टत्वेनार्थस्य प्रकाशनात्, ज्ञानावधिके ज्ञाततारूपे प्रत्यक्षानुभवो नास्ति। तदनेन प्रत्यक्षस्य विषयान्तरविनियोगेनान्यथासिद्धिरनुक्तेति व्याचष्टे–**धात्वर्थेति**। संयोगो हि युजिधातोरर्थः। न च तेन संयुज्यमाने गगने किञ्चित् क्रियते। **अन्त्यशब्दाभिव्यक्त्या वेति**। तस्मिन्नभिव्यज्यमाने यावदतिशयाधानं तस्यानवस्थानात्। आद्यादीनां तु अनभिव्यक्तेरन्त्य इत्युक्तम्। अथ स्पन्दः क्रिया। तदसिद्धम्, कार्यत्वे सति विभुद्रव्यसमवायिनो ज्ञानस्य गुणत्वादित्याह–**स्पन्देति**।

ननु व्यापारः क्रिया, स च हेतूनामविषयौन्मुख्यम्। तच्च ज्ञानानामप्यस्ति इत्यत्राह–**व्यापारेति**। कथमनेकान्ताः यावता तेऽपि ह्यभिधानार्थसन्निकर्षपरामर्शात्मनो ज्ञानमुत्पादयतीत्यत्राह–**न हीति**। फलं क्रिया तत्राप्यनैकान्तिकत्वमतिदिशति–**फलेति**। न हि गमनफलेन प्राप्त्या ग्रामे किञ्चित् इति माभूदन्यदनैकन्तिकोदाहरणं, तेनैव ज्ञानजन्यत्वेन त्वया साध्यमानेन फलेनानैकान्तिकत्वं, न हि तेनापि विषये किञ्चित् क्रियत इत्याह–**अन्तत इति**। यदि फलेन फलान्तरं जनयितव्यमेव, ततस्तेन तेनापीत्यनवस्थानमेवेत्याह–**अनवस्थानाच्चेति**। यद्याशुविनाशिधर्मसंक्रियात्वं तत्राह–**आशुविनाशीति**। न ह्याशुविनाशिनो द्वित्वादयः स्वाश्रये किञ्चिदादधति। एकत्वसंख्ययैव संख्यान्तरोपजननादिति आशुकारकत्वं [कुर्यात्] [न च] ज्ञानं च तथा। न हि तत् क्षणमप्यास्त इति न्यायादित्याह–**आशुकारकेति**। किमिह कर्मण्याशुकारकत्वं हेतुः, कर्तरि वा। पूर्वत्र साध्यसमो हेतुः उतरत्र व्याप्त्यसिद्धिः, पूर्वोक्तैरेव शब्दादिव्यापारैर्व्यभिचारात्। न तर्हि ते कर्तव्यात्मनि ज्ञानं कुर्वन्तं [अनुमेयादौ किञ्चित् जनयन्ति। येऽपि किञ्चित्] जनयन्तीति उत्तरार्धं व्याचिख्यासुः शङ्कते–**अनुभवसिद्धिमिति**। ज्ञानमात्रजन्यातिशयो ज्ञाततारूपेण सामान्यतः स्फुरति, प्रत्यक्षज्ञानजन्यस्तु साक्षात्काररूपेण विशेषत इति – **तदसदिति**। यथा हि–स्वयमनाकाराणां ज्ञानानां घटज्ञानं पटज्ञानं घटादिविशिष्टतया व्यवहारो घटादिजन्यमतिशयमन्तरेणैव तदवच्छेद्यतामात्रेण भवति। ज्ञातो घट इत्यादि व्यवहारोऽपि ज्ञानजन्यातिशयाभावेऽपि ज्ञानक्रियावच्छेद्यतामात्रेणोपपद्यत इति।।३।।

यथा हि अर्थेनैव विशेषो हि ..... किं ज्ञानकल्पनयेति। पृ० १६४-१६८।

ननु [न] क्वचिदपि क्रियामात्रेण विशिष्टस्य व्यवहारो दृश्यत इति शङ्कां निराकुर्वन् व्याचष्टे–**किं न पश्यसीति**। यदि ज्ञानमेवार्थस्य विशेषणं न तद्गतः कश्चिदतिशयः तर्ह्यसम्बद्धयोः ज्ञानार्थयोः धर्मधर्मिभावोऽनुपपन्न इत्याह–**कथमिति** परस्परासम्बद्धयोरेव घटतत्प्रध्वंसयोरिवोपपन्न इत्याह–**ध्वस्त इति**। तत्रापि नास्माकं संप्रतिपत्तिरित्याह–**तदपीति**। **नूनमिति**। युक्तमसत्याश्रयेऽतिशयाधानायोगादिति। घटादिप्रतियोग्यधीननिरूपणो ध्वंसः, स्वभावादेव प्रतियोगिना सम्बन्धी, तत्र सम्बन्धेऽनपेक्षेत्यत आह–**तन्निरूपणेति**। समःसमाधिरित्याह–**प्रकृतेऽपीति**। विषयाधीननिरूपणस्वभावत्वात् ज्ञानस्येति।

ननु ज्ञानजन्यफलानाधारत्वे अर्थस्य कथं ज्ञानक [र्मत्वं] क्रियाजन्य-फलाभावादित्यपि ध्वंसोदाहरणेन निरस्तमित्याह – **एतेनेति**। तदेव विवृणोति-**विनाश्यवदिति**। न हि विनाश्ये विनाशक्रियाजन्यफलभागित्वात् कर्म भवति। किं तर्हि करणव्यापारस्य मुद्गरप्रहारादेर्विषयत्वात्, एवमत्रापि। ये तु मन्यन्ते स्वाभाविकं फलनिरूपकत्वमेव फलाश्रयत्वम्, तदेव च कर्मत्वमिति, तन्मतेऽपि करणव्यापारफलस्य विनाशस्य निरूपकत्वात् यथा विनाश्यस्य कर्मता तथा ज्ञाननिरूपकत्वेन ज्ञेयस्यापि कर्मतोपपत्तिरित्याह–**स्वाभाविकेति**। तर्हि ज्ञानव्यवहारान्यथानुपपत्तिरेव ज्ञाततायामप्रमाणमित्याह – **नन्विति**। यद्धि कार्यं यस्यैवासाधारणं कारणं तत्तदेकसमवायिक्रियापूर्वकं दृष्टम्। यथा गन्तुरसाधारणी ग्रामप्राप्तिः तदेकसमवायिक्रियापूर्विका, अतः प्रकाशेनापि कस्यचित् प्रमातुरसाधारणेन तदेकसमवायिक्रियापूर्वकेण भवितव्यम्। सा च क्रिया ज्ञानमिति ज्ञानमनुमीयते इति मा भूत् ज्ञानानुमानमित्यत आह–**अप्रतीतं चेति**। **तदप्यसदिति**। ज्ञाततासिद्धौ तद्व्यवहारान्यथानुपपत्त्या ज्ञाततासिद्धिरिति। **परस्पराश्रयतेति**। एतच्च ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वमभ्युपगम्योक्तम्। न च तत्र प्रमाणमस्तीत्याह-**कुतश्चेति**। प्रमाणमाशङ्कते–**इन्द्रियेणेति**। **नेति**। किमनेन ज्ञानमतीन्द्रिय-मिन्द्रियेणानुपलभ्यमानत्वात्, परमाण्वादिवदित्यनुमानमुपन्यस्तम्। किम्वा ज्ञानविषयस्यैवालम्भस्याभावमात्रम्। आद्ये साध्याविशिष्टो हेतुः इन्द्रियेणानुपलभ्यमानत्वमेव ह्यतीन्द्रियत्वम्। इतरत्र न तावदयोग्यानुपलब्धिरिन्द्रिय-जन्यस्य ज्ञानस्याभावं गमयति, अतिप्रसङ्गात्। इन्द्रियग्रहणयोग्यत्वे सतीति विशेषणे तु अतीन्द्रियत्वमिन्द्रियत्वमिन्द्रियग्रहणयोग्यस्यैवैन्द्रियकत्वादिति। तर्हि साक्षात्काररूपज्ञातत‌ानाधारत्वं हेतुर्भविष्यतीत्याह–**तथाविधेति**। **नेति**। अप्रत्यक्षत्वे

ज्ञानस्यासिद्धिरिति वा कदाचित्कस्य घटव्यवहारस्य कदाचित्केन हेतुना भवितव्यम्। स च हेतुज्ञानमेवेत्याश्रयस्य सिद्धिरित्याह – **व्यवहारा[न्यथा]नुपपत्त्येति।** [व्यवहारानुपपत्तिरि]ति हेतुत्वेन ज्ञानमिच्छतापि कादाचित्कत्वात् ज्ञानस्याप्यात्ममनःसंयोगादिहेतुरङ्गीकर्तव्यः। तेनैव घटादिव्यवहारोपपत्तेः किमन्तर्गडुना ज्ञानेनेति। **तस्येति।** गतम्। **नेति।** ज्ञानहेतोः सेन्द्रियात्मप्रदेशमनःसंयोगस्यैव व्यवहारहेतुत्वेनाभ्युपगमात्, तस्य चाव्यभिचारादिति। **अन्यथेति।** तावन्मात्रस्यैव ज्ञानहेतुत्वाभ्युपगमे सुषुप्तिदशायां तस्य सत्त्वात्। ज्ञानस्वीकारेऽपि तद्द्वारा व्यवहारो भवेदिति – **स्मरणेति।** ज्ञानकार्यत्वात् स्मरणस्येति। **नेति।** स्मरणस्यापि ज्ञानात्मकत्वेनास्यामवस्थायामसिद्धेरिति निराकृतमप्युत्तरविवक्षया शङ्कते – **अस्ति तावदिति।** पूर्वोक्तमेव परिहारं स्मारयति **किञ्चिदिति इति।** स एवाह-**न हीति।** आत्ममनस्संयोगादिनैवोपपत्तेरिति। अत्र विवक्षितमाशङ्कते – **तथापीति।** अन्यधर्मेणान्यस्य प्रवृत्त्यसंभवात्। कर्तृधर्मेणैव प्रवृत्तिहेतुना भवितव्यम्। स च ज्ञानमेवात्ममनस्संयोगादेर्मनसोऽपि धर्मत्वादिति। तर्हि मानसप्रत्यक्ष-सिद्धत्वादिच्छैव प्रवृत्तिहेतुः कर्तृधर्मेऽस्तु किं ज्ञानेनेत्याह-**अस्त्विति।** नन्विच्छाया अपि नियतायाः स्वाश्रयनियतेनैव केनचिद्धेतुना भवितव्यम्, तच्च ज्ञानमेवेत्याशयवानाह-**सैवेति।** तर्हि ज्ञानस्यापि नियतस्य नियामकेन धर्मान्तरेण विना कथमुत्पत्तिरित्याह-**ज्ञानेति।** नन्वन्तरेणापि धर्मान्तरमात्ममनःसंयोगादिरूपस्वहेतुसामर्थ्यादेव नियताधिकरणं ज्ञानमुत्पद्यत इत्याह – **स्वहेतोरिति।** तर्हि तत एव हेतोरिच्छैवोत्पद्यतां किं ज्ञानेन, ततश्च ज्ञानातीन्द्रियत्वहेतोराश्रयासिद्धिः सुस्थेति।

स्यादेतत् ...... त्वदुक्तयुक्तेरेव। पृ० १६८-१७१।

स्यादेतदिति। विलक्षणमात्ममनस्संयोगादेरिति। **हन्तैवमिति।** गतम्। कथं सुस्वापनिवृत्तेर्मानसानुभवसिद्धत्वेन ज्ञानस्यैवापरोक्षत्वसिद्धिरित्याह – **अचेतयन्निति।** ततोऽपि किमित्यत्राह – **अचैतन्येति।** तथापि ज्ञानप्रत्यक्षत्वस्य किमायातमित्युक्तम्। **ज्ञानमिति। सैव हि ज्ञानमिति।** एवं ज्ञानस्यापरोक्षत्वे सिद्धेऽतीन्द्रियत्वहेतोर्बाधितविषयत्वं स्यादित्याह – **तथा चेति। एतेन** आश्रयासिद्धकालात्ययापदिष्टत्वप्रतिपादनेन ज्ञानातीन्द्रियत्वे हेत्वन्तरमपि निरस्तमित्याह-**एतेनेति।** दूषणान्तरमप्याह-**अपि चेति।** अनैकान्ति[कम्। इच्छादावित्यर्थः।] **असिद्धिमिति।** द्वित्रिक्षणावस्थायित्वाभ्युपगमात् ज्ञानस्येति।

एकक्षणावस्थायित्वे प्रमाणमाह–नन्विति। तर्ह्यतीतक्षणविशिष्टतया गृह्णातीत्यत उक्तम् **प्रत्यक्षस्येति**। विरम्य व्यापाराभावादिति। न हि तदेव ज्ञानं प्रथमक्षणेऽन्यादृशमर्थं गृहीत्वा द्वितीयक्षणेऽन्यादृशं गृह्णाति। शब्दबुद्ध्यादीनां विरम्य व्यापाराभावादिति। तर्हि द्वितीयक्षणविशिष्टमप्यर्थं प्रथमत एव ग्रहणादुत्पद्यत इत्यत्राह - **प्रथमत इति**। **ज्ञानत्वहानेरिति**। अर्थग्रहणात्मकमेव ज्ञानमिति अनवसरदुस्थोऽयं विकल्प इत्याह - **तदसदिति**। गृहीतज्ञानमित्यभ्युपगमे तु कुतः प्रश्नः स्यादित्यत्राह – **तथा चेति**। तत्र वा किमुत्तरयत्यत्राह – तत्रेति।

ननु यदि द्वितीयक्षणेऽपि प्रथमक्षणावच्छिन्नमेवार्थमालम्बते। तर्हि भ्रान्तिरेव स्यादित्याशङ्क्याह – **न चैवमिति**। न खलु विपरीतार्थालम्बनात् भ्रान्तत्वम्। किन्तर्हि, विपरीतार्थावगाहनात्, तदवगाहनं च तज्ज्ञानस्योत्पत्तिसमये तदुल्लेखनं विवक्षितम्। ततश्च द्वितीयक्षणे विपरीतार्थावलम्बने विपरीतानवगाहनात् न भ्रान्तत्वम्। यदा त्ववगाहः प्रथमक्षणे तदा विपरीत्यभावान्न भ्रान्तत्वमिति। तथापीति। भ्रान्तित्वाभावेऽपीति। ज्ञानार्थयोरेकत्वस्यैककालत्वनियमस्य वानभ्युपगमान्नानुपपत्तिरित्याह – **किमस्मिन्निति**। तदेवं ज्ञानस्य क्षणिकत्वमसिद्धमित्युक्तम्। सम्प्रत्यभ्युपगम्याह–**सत्यपि वेति**। इतर आह–इत्थमिति। तमेव प्रकारमाह–**स्वप्रकाशमिति**। तर्ह्युत्तरकालभाविना ज्ञानान्तरेण गृह्यत इत्यत्राह-ग्राहकेति। तस्य स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानान्तरग्राह्यत्वेन वा प्रत्यक्षत्वाभावादतीन्द्रियत्वमेव परिशिष्यत इति भावः। यदि क्षणिकत्वेन ज्ञानं न प्रत्यक्षं स्यात्, तर्हि तत एव हेतोः ज्ञाततापि न प्रत्यक्षा स्यादित्याह – **नन्वेवमिति**। न तावत् ज्ञातता स्वजनकेन ज्ञानेन ग्राह्या, तदुत्पत्तिसमये तज्जन्याया ज्ञातताया अभावादित्याह – न जनकेति। तर्हि तां जनयित्वा पश्चाद् ग्रहीष्यत इत्युक्तम्–विरम्येति। नापि ज्ञाततायाः समकालभाविना ज्ञानेन ग्राह्येत्याह – नापीति। सत्यां ज्ञाततायां तत्सम्बद्धमिन्द्रियं तद्विषयं ज्ञानं जनयेत्। न च ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वं तज्जन्या ज्ञाततास्ति, ययेन्द्रियं सम्बध्येतेति। तर्हि ज्ञाततोत्तरकालभाविज्ञानग्राह्यस्त्वित्यत्राह-न तदुत्तरेति। नह्यतीतमैन्द्रियकज्ञानेन गृह्यते इति। ततश्च ज्ञाततायाः असिद्धत्वात् न तस्या ज्ञानलिङ्गत्वमिति भावः। स्यादेवं यदि ज्ञाततायाः क्षणिकत्वं भवेत्। तदेव कुतः इत्याह– **क्षणिकत्वमेवेति**। ज्ञानक्षणिकत्वे त्वदुक्तयुक्तेरेवेत्याह–त्वदुक्तेति।

यथा हि यं क्षणमाश्रित्य .... तस्यापि न क्षणिकत्वमिति। पृ० १७१-१७३।

तामेवात्राप्यनुसन्धत्ते – तथा हीति। अप्रातिसंक्रमादिति।

प्रतीतेरर्थान्तरसंक्रमणे तत्कार्यज्ञाततापि संक्रमेदपि, न च तत्सम्भवति, तर्हि प्रथमक्षणावगाहिना ज्ञानेनैव द्वितीयक्षणाश्रयापि ज्ञाततोत्पद्यत इत्यत्राह – **एकक्षणेति**। तर्हि तदेव ज्ञानं द्वितीयक्षणमवगाहतामित्यत्राह – **न चान्यमपीति**। उत्पत्तिसमय एव हि ज्ञानानि विषयमवगाहन्ते ज्ञानोत्पत्तिकाले च द्वितीयक्षणस्यासत्त्वान्न तदवगाहनमिति। **निःस्वभावतेति**। विषयाश्रितत्वस्वभावा हि ज्ञाततेति तदेवाह– **न हीति**। निःस्वभावत्वपरिजिहीर्षया शङ्कते – **अतीतेनापीति**। **एवं तर्हीति**। अतीतेनैवोपलक्ष्यमाणत्वादिति। यद्यतीतक्षणोपलक्षणेनापि प्राकट्यस्य वर्तमानार्थताभ्युपगम्येत, तर्हि तादृशप्राकट्यसम्बन्धेन वर्तमानार्थस्यैव तज्जनकज्ञानस्यानुवृत्तिः स्यादित्याह – **अन्यथेति**। [वर्तमानार्थत्व इ]त्येवमित्यत्राह – **न हीति**।

ननु माभूदर्थो वर्तमानः तथापि तद्विषयः प्रकाशोऽनुवर्तते। तावता तज्जनकज्ञानस्य वर्तमानार्थतोपपत्तिरित्यत्राह – **अर्थेति**। भूतादिविषयज्ञानानामपि वर्तमानावभासताप्रसङ्गः। ज्ञाततालक्षणप्रकाशानुप्रसक्तेरिति। एवं निराश्रयैव ज्ञातता[नुवर्ति]ष्यत इति *महायानिकपक्ष*माक्षिप्य *मीमांसकमा*शङ्कते – **अथेति**। सूक्ष्मवर्तमानैकक्षणविशिष्टो न ज्ञातताया आश्रयः किन्तर्हि, स्थूलेनास्मदादिगोचरेण त्रिचतुरक्षणलक्षणेन वर्तमानत्वेन विशिष्टः, ततो द्वितीयादिक्षणेऽप्याश्रयसद्भावात् न क्षणिकत्वमिति। तदेतत् ज्ञानेऽपि सुवचमित्याह – **ज्ञानस्यापीति**।

ननु ज्ञानमैन्द्रियकं .... तुल्यमेतत्। पृ० १७३-१७५।

नन्वैन्द्रिकत्वे ज्ञानस्य चक्रकमेव ज्ञानं मनसा सम्बन्धयोग्यं चेति तद्विषयज्ञानान्तरमुत्पद्यते, तस्यापि ज्ञानत्वात् द्वितीयं ज्ञानान्तरमेवं तस्य तस्यापीति ज्ञानपरम्परायामेव व्यापृतत्वान्मनसो विषयान्तरसंचारो न स्यादित्याह – **ननु ज्ञानमिति**। स्यादेवं यद्यजिज्ञासितमेव ज्ञानं सुखादिवत् गृह्येत। न त्वेतदस्तीत्यत आह – **न चेति**। जिज्ञासा तावत् संशयपूर्विका। सा च सामान्यतोऽवगते धर्मिणि भवति। तज्जिज्ञासार्थमेव धर्मिरूपं ज्ञानं ज्ञातव्यम्। तच्च किमुत्पन्नमात्रं जिज्ञासितमेव ज्ञायते। किं जिज्ञासितं वा पूर्वत्र पूर्ववत् ज्ञानपरम्परैव स्यात्। उत्तरत्र जिज्ञासायाः धर्मिज्ञानापेक्षत्वात् धर्मिणोऽपि ज्ञानत्वेन जिज्ञासापेक्षत्वात् तस्या अपि जिज्ञासाया धर्मिज्ञानापेक्षत्वात्, तस्य च जिज्ञासापेक्षत्वात्, धर्मिज्ञानार्थमेव जिज्ञासायामेव मनसो व्यापारात् विषयान्तरसंचारो न स्यादिति। तदेतत् ज्ञातताप्रत्यक्षत्वेऽपि तुल्यमित्याह – **तन्नेति**। ज्ञातताया अप्यजिज्ञासितज्ञेयत्वे ज्ञातताविषयज्ञानजन्याया

अपि तथात्वात्। विषयान्तरसंचाराभावः जिज्ञासिताया एव ज्ञेयत्वे ज्ञानवदेव जिज्ञासापरम्परैव स्यादिति।

ननु विषयान्तरे संचारे सति चक्षुरादेः ज्ञाततासम्बन्धविच्छेदात् ज्ञानपरम्परा विरंस्यतीत्याशङ्क्याह – **न चेति**। स्यादेष परिहारो बाह्यविषये, आत्मनि जनितस्य तु प्राकट्यस्य मनस्सम्बन्धविच्छेदायोगात्। ज्ञातता तत्परम्परैव स्यादिति। **स्वभावत इति**। असौ ज्ञातता तदेतत् ज्ञानेऽपि सुवचमित्याह – **तुल्यमिति**। अथ जिज्ञासितैव ज्ञातता ज्ञायते, तथापि न जिज्ञासानवस्था न हि तामेव ज्ञाततां सामान्यतो ज्ञात्वा जिज्ञासोपपत्तिः। किन्तर्हि आगमानुभूतपूर्वज्ञातता धर्मिस्मरणेन संजातजिज्ञासः सम्प्रति समुत्पन्नां ज्ञाततां प्रतिपाद्यत इत्युच्येत, तर्हि ज्ञानेऽपि तथैव स्यादित्याह – **प्रागुत्पन्नेति**।

ननु ज्ञानं न सविकल्पकग्राह्यं .... शब्दादिप्रत्यक्षं व्याख्यातम्। पृ० १७५-१७६।

ननु प्रत्यक्षज्ञानवादिनः प्रष्टव्याः। किमिदं विकल्पमात्रेण गृह्यते। निर्विकल्पकपूर्वकेण वा सविकल्पकेन निर्विकल्पकमात्रेण वेति विकल्पमभिसन्धायाद्ये दूषणमाह – **ननु ज्ञानमिति**। द्वितीयेऽप्याह – **निर्विकल्पकगृहीतस्येति**। किमिति विकल्पोदयं यावन्नावतिष्ठत इत्यत्राह – **तस्येति**। निर्विकल्पकविषयस्य ज्ञानस्य तेनैव निर्विकल्पकेन विरोधिना गुणेन विनाशादिति तृतीयेऽप्याह – **नापीति**। दृष्टान्तावष्टम्भेन विकल्पैकवेद्यत्वमाशङ्क्याह – **न चेति**। समवायाभावयोरवच्छेदकांशस्य समवायिनः प्रतियोगिनश्च प्रागेव ज्ञानान्तरेण गृहीतत्वात् युक्तम् अनुमेयस्येव विकल्पवेद्यत्वम्। ज्ञाने तु विशेषणांशस्य ज्ञानत्वस्य प्रागग्रहणात् कथं विकल्पैकवेद्यत्वमिति नोत्पन्नमात्रस्येति। उत्पन्नमात्रस्य विद्यमानस्यैव नीलादिज्ञानस्य निर्विकल्पकेन तावदालोचनं भवति। ततस्तद्व्यक्तिनाशेऽपि तदालोचितेनैव ज्ञानत्वेन व्यक्त्यन्तरमुत्पन्नमात्रमेव विकल्प्यत इति कथं तदालोचनमन्तरेण प्रथमत एव व्यक्त्यन्तरं विकल्प्यत इत्यत्राह – **इन्द्रियसन्निकर्षस्येति**। विकल्प[ज्ञानं ज]नयत इन्द्रियसन्निकर्षस्य विशेषणग्रहणसहकार्यपेक्षया, तच्च सहकारि द्वितीयज्ञानोत्पत्तिसमय एवास्तीति प्रथमत एवं तद्विकल्पापत्तिरिति कथं व्यक्त्यन्तरसमवेतत्वेन गृहीतं ज्ञानत्वं व्यक्त्यन्तरविकल्पोपयोगि स्यादित्याह – **व्यक्त्यन्तरेति**। यदि गृहीतेऽपि

विशेषणविशेष्यव्यक्तिसमवेतत्वेनाग्रहणात् विशिष्टप्रत्ययो न स्यात्, तर्ह्यनुमानविकल्पोऽपि न स्यात् अनुमित्सितविशेष्यगतत्वेन विशेषणस्याग्रहणात्, गृहीतस्य चान्यत्र विशिष्टप्रतीतिहेतुत्वानभ्युपगमात्, विशिष्टप्रत्ययलिङ्गग्रहणस्य विशेषणग्रहणलक्षणसहकार्यभावादित्याह – **अन्यथेति। एतेनेति।** व्यक्त्यन्तरालोचितेन विशेषणेन व्यक्त्यन्तरं विकल्प्यत इति प्रतिपादनेन।

स्यादेतदिति। विषय निरूप्यं ..... संवेदनाध्यात्मम्। पृ० १७७-१८१।

अथातीन्द्रियपरमाण्वादिविषयविज्ञानानां मनोवैद्यत्वानुपपत्तिमाह – **स्यादेतदिति।** न हि बाह्येन्द्रियविषयस्यैव मनोवेद्यत्वं मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति अनुपपत्त्यन्तरमाह – **न च नित्येति। नेति।** न तावन्मनोवेद्यत्वे बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं तन्त्रम्, विषयोपस्थापनाय हि मनसो बाह्येन्द्रियापेक्षा यदि वातीन्द्रियोऽपि विषयस्तद्विषयज्ञानेनोपस्थाप्यते ततस्तदेव ज्ञानविशेषणत्वेन मनसा वेद्यत इति बाह्येन्द्रियग्राह्यस्यैव मनोवेद्यत्वेऽतीन्द्रियार्थविषया स्मृतिरपि न स्यात्। तद्विषयस्यापि मानसत्वादित्याह – **अन्यथेति।** अत्रापि हि पूर्वज्ञानोपस्थापित एव विषये मानसी स्मृतिरिति भावः। किं स्मरणानुव्यवसाययोरविशेष एवेत्यत्राह – **इयांस्त्विति।** अनुव्यवसाये विषयोपस्थापकस्य ज्ञानभूतस्य ज्ञानस्य सत्त्वात्तद्बलेनैव ज्ञानविशेषणग्रहणात्तदुत्पत्तिः, स्मरणे तु विषयोपस्थापकस्य पूर्वानुभवस्य तत्काले स्वरूपेणासत्त्वात् तज्जनितवासनाद्वारेण तदुत्पत्तिरित्येतावान्विशेष इति। यद्यनुव्यवसायोऽपि पूर्वज्ञानोपस्थापितविषयः स्यात्, तर्हि स्मरणमेव स्यादित्यत्राह – **न चैवमिति।** मा भूत् ज्ञानांशे, स्मृतिविषयांशे त्वनुव्यवसायज्ञानं स्मृतिः स्यात् गृहीतपूर्वत्वात् तस्येत्यत्राह – **न च विषयांश इति।** अनुभवावस्थायामिवानुव्यवसायेऽपि विषयस्यागृहीतपूर्वेणैव ज्ञानावच्छेदकत्वरूपेणावभासमानत्वादिति किमित्येवं क्लिश्यते, प्रत्यभिज्ञानवत् ग्रहणस्मरणात्मकोऽनुव्यवसायोऽङ्गीक्रियतामित्यत्राह – **न चेति।** ग्रहणस्मरणाकारयोर्विरुद्धत्वेनैकस्मिन् धर्मिणि समावेशायोगात्। प्रत्यभिज्ञानमपि नोभयात्मकम् किन्तु ग्रहणात्मकमेवेति। **अथेति।** यदि संस्करजमपि ज्ञानं ग्रहणमेव स्यादिति उत्तरम्– **अधिक इति।** यस्यां ज्ञानसामग्र्यां संस्कारातिरिक्तोऽप्यर्थसन्निकर्षोऽस्ति सा ग्रहणासामग्री यस्यां तु संस्कारमेवार्थसन्निकर्षः, सा स्मरणस्य। एतदुक्तं भवति, पूर्वानुभवजनितसंस्कारबलोपस्थापिततद्विषयसन्निकर्षादेव मनसा यदुत्पद्यते ज्ञानं तदेव स्मरणमनुव्यवसायस्तु तत्तद्विषयावच्छिन्नेन ज्ञानेन मनसः सन्निकर्षात्

संस्कारातिरिक्तादेव जायमानो ग्रहणमेवेति – **अथेति**। एतदनुव्यवसयज्ञानमिति– **कारणान्तरेति**। संस्काराधिकसन्निकर्षेण तावज्जनितत्वात् ग्रहणात्मकत्वं सिद्धम्। लिङ्गादिकारणान्तरनिरपेक्षेणेन्द्रियेण जनितत्वात् अपरोक्षा[का]रत्वसिद्धिरिति – **अधिक इति**। मन इन्द्रियस्येति शेषः। **ज्ञानेनेति**। काकाक्षिवत् प्रश्नोत्तराभ्यां सम्बध्यत इति। **तदर्थेनेति**। तस्य ज्ञानस्यावच्छेदकेन विषयेण सन्निकर्षः संयुक्तसमवेतविशेषणत्वमनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानविशेषणत्वात् – **तस्येति**। **मनस इति**। बहिर्ज्ञानावच्छेदक इत्यर्थः। **ज्ञानावच्छेदकमिति**। चक्षुरादिगृहीतपूर्वस्यैव ज्ञानावच्छेदकत्वेन मनोवेद्यत्वादन्धादीनां च तदसंभवादिति। किञ्चायमनुव्यवसायेन[मन]सो निरपेक्षस्य बहिर्व्यापारः किमनुव्यवसीयमान-ज्ञानापेक्षयोच्यते, किम्वा तदवच्छेदकविषयापेक्षया पूर्वत्र बहिरिति नास्ति, अनन्तरत्वात् ज्ञानांशस्य उत्तरत्र सत्यपि बाह्यत्वे निरपेक्षस्येति नास्ति, विषयोस्थापनाय तस्यैव ज्ञानस्यापेक्षणादित्याह – **न च ज्ञानापेक्षयेति**। **तथापीति**। मा भूत् ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वे प्रमाणम्, मा च भूवन्नैन्द्रियकत्वे बाधकानि तथापीत्यर्थः। ज्ञानविषयापरोक्षानुभवस्य सर्वजनस्वसवेद्यत्वान्नात्र प्रमाणान्तरं मृग्यमित्याह **प्रत्यक्षमेवेति**। ज्ञानस्य मानसप्रत्यक्षत्वं *सूत्रकारस्यापि* सम्मतमित्याह **यदवोचदिति**। घटमुपलभे नोपलभ इति च विधिनिषेधरूपाणां ज्ञानविशेषाणां भावाभावविषयत्वसंवेदनादध्यात्मं मानसमिति सूत्रार्थः।।४।।

ननु नेश्वर ज्ञानं प्रमा .... पूर्ववदनर्थकमूहनीयम्। पृ० १८१-१८३।

सम्प्रति प्रकारान्तरेणेश्वरज्ञानप्रामाण्यमाक्षिपति **नन्विति**। प्रमायाश्च प्रमाणफलत्वनियमादिति। अस्तु तर्हि प्रमाणमित्यत्राह **नापीति**। प्रमाकरणस्य प्रमाणत्वादस्य चातथात्वादिति। **अत इति**। यतस्तज् ज्ञानं न प्रमा, अतस्तदाश्रय ईश्वरो न प्रमाता प्रमाश्रयस्य प्रमातृत्वादिति सर्वं समाधत्ते **उच्यते**। **मितिरिति**। फलमफलम्वा सम्यगनुभवः प्रमा। प्रमातृत्वं प्रमासमवायित्वमात्रम्, न तु तत्कारकत्वमपि तथापि कथमीश्वरस्य प्रामाण्यम् प्रमाकरणत्वाभावात् तस्येत्यत उक्तम्। **तदयोगेति**। तस्याः प्रमाया अयोगव्यवच्छेदः, असम्बन्ध-व्यावृत्तिस्तदविनाभाव इति यावत्। स एव न्यायतन्त्रे प्रमाणशब्दप्रवृत्तिनिमित्तिम्। न तु तन्त्रान्तरवत् प्रमितिसाधनत्वं प्रमीयतेऽनेनेति व्युत्पत्तिनिमित्तस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वेनानाश्रयणादिति व्याचष्टे **समीचीन इति**।

न त्वनित्य एव समीचीनानुभव इति किमित्यनित्यस्यैव तस्य प्रमात्वं न व्यवस्थाप्यत इत्यत्राह **तथा चेति**। किं नित्यमपि किञ्चिदनुभव मभ्युपगम्यानित्यत्वेन विशेषणमनभ्युपगम्य वा न पूर्वाप्रमाणत्वेनानभिमतस्य तस्य व्यवच्छेदायोगात्। व्यवच्छेदफलत्वञ्च विशेषणस्य, नाप्युत्तरः व्यवच्छेद्यस्यैवाभावादिति।

नन्वीश्वरज्ञानं न प्रमा प्रमाणफलत्वात् मिथ्याज्ञानवदित्यनुमाने को दोष इत्यत्राह न चेदमिति। तत्तावदाश्रयासिद्धम् ईश्वरज्ञानानभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितमिति। यत्त्वीश्वरज्ञानं न प्रमाणमित्याह – **न तत्प्रमाणमिति**। तच्चोक्तं न तदाश्रयः प्रमातेति तत्राह–**तदाश्रयस्येति**।

ननु प्रमिणोतीति व्युत्पत्त्या प्रमां प्रति कर्तृकारकत्वे सति प्रमासमवायः प्रमातृत्वम्। न च तदीश्वरस्य संभवति। नित्यत्वाभ्युपगमात्तज्ज्ञानस्येत्यत्राह– **कारकत्वे सतीति**।

कारकस्य प्रमासमवायिनः सिद्धौ तद्व्यवच्छेदस्यानिष्टत्वात् तदसिद्धौ व्यवच्छेद्यस्यैवाभावादिति। यदीश्वरस्य प्रमातृत्वमभ्युपगम्येत, ततो मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् (न्या.सू.२।१६९।) इतीश्वरप्रामाण्यं प्रतिपादयता सूत्रेण विरोध इत्याह – **यद्येवमिति**। न हि प्रमाणस्य प्रमातृत्वमिति। नेति एकस्मिन्नीश्वरे प्रमातृत्वप्रमाणत्वव्यवहारनिमित्तयोः समावेशात् उभयव्यवहारो न विरुध्यत इति। प्रमाणव्यवहारनिमित्तस्य प्रमायोगव्यवच्छेदस्य कार्यत्वेन विशेषणं पूर्ववदकार्यप्रमासिद्ध्यसिद्धिभ्यां निरर्थकमित्याह – **अत्रापीति**।

स्यादेतत्। प्रमीयते अनेनेति .... नापि तन्नावतमिति। पृ० १८३-१८५।

स्यादेतदिति गतार्थम्। **व्यवस्थापनादिति**। प्रमासमवायित्वस्यैव प्रमातृत्वं प्रति व्यापकत्वात् तदेव निमित्तमिति प्रमाकर्तृत्वे प्रमातृत्वनिमित्तेऽनिष्टमाह **अन्यथेति**। स्वतन्त्रः कर्ता स्वातन्त्र्यं च कारकान्तरप्रयोक्तृत्वम्। न च तदजिज्ञासितविषयज्ञानजनने प्रमातुरस्ति, प्रमाश्रयत्वं तु सर्वत्रास्तीति तदेव निमित्तं प्रमातृत्वस्येति।

ननु सर्वप्रमाणव्यापित्वात् प्रमाकरणत्वमेवास्तु निमित्तं प्रमाणशब्दस्येत्यत्राह – **कारणव्यवहार इति**। **अन्यत्र** = लोके। इह लोकोत्तर ईश्वरे विवक्षातः

कारकप्रवृत्तिरिति भावः। यदीश्वरः प्रमाणं तर्हि पञ्चमं प्रमाणमङ्गीकृतं स्यात्। तथा चापसिद्धान्तः प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति (न्या.सू. १।१।३।) न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदादिति पञ्चत्वमेवान्यत्रानन्तर्भावेनोपपादयति न हीति। नियतविषयत्वादुपमानस्याशङ्कैव नास्तीत्यर्थः। नेति। साक्षात्कारिण्याः प्रमाया अयोगव्यवच्छेदेन [तदन्त]र्भावादिति [कथं दोषः] प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्नस्यैव तथात्वादित्यत्राह इन्द्रियेति। सूत्रं लौकिकप्रत्यक्षमात्र-विषयमिति।

स्यादेतदिति। अस्तु साक्षात्कारिप्रमावत्त्वमेव प्रत्यक्षत्वम्, तथापीत्यर्थः। विपर्ययत्वमेवाह यदा खल्विति। तदेतदीश्वरज्ञानमस्मदादीनां विभ्रमज्ञानान्यालम्बमानं विषयनिरूप्यत्वात् ज्ञानानां भ्रमविषयमप्यालम्बेत, तत्र चास्मदादिविभ्रमवदेव विपरीतार्थावगाहनादीश्वरज्ञानमपि भ्रमः स्यादिति।

अथ न तथावगाहेत, ततस्तन्निरूप्यानस्मदादिविभ्रमानपि नालम्बेतेत्याह-तंदनवगाहन इति। नेति। विपरीतावगाहित्वेनास्मदादिविभ्रमस्याप्रामाण्येऽपि न तद्विषयस्येश्वरज्ञानस्याप्रामाण्यं यादृशो विभ्रमः तथैव तमुल्लिखितो यथार्थत्वादिति। यदि तु भ्रान्तिविषयत्वेन ईश्वरज्ञानमपि भ्रान्तिः स्यात्, तदा न कदाचित् भ्रान्तिः नाम स्यादित्याह अन्यथेति। भ्रान्तिविषयस्य भ्रान्तत्वेन तज्ज्ञानाप्रामाण्यात् तमपि विषयीकुर्वतः तस्य प्रामाण्यसम्भवाच्चेति तत्त्वबुभुत्सया पृच्छति तथापीति। भ्रान्तिस्वरूपं तावदाह नेति। ततः किमा [लम्बन]मीश्वरज्ञानस्येत्यत्राह एतदिति। पुरोवर्तिनि शुक्तिकाशकले तदेव रजतं सत्त्वेनावभासते, तेन विभ्रमेणालम्बितमित्येवमाकारेणास्मदादिविभ्रमानुल्लिखितेश्वरज्ञानस्य सद्विषयत्वेनाभ्रान्तत्वमिति याथार्थ्यमेव सर्वत्र दर्शयति न हीति। यदि हि विभ्रमे भासमानं रजतं न स्यात् यदि वा तत्रासन्न स्यात्, यदि वा नावगतं भ्रान्तेन तदा यथार्थं न स्यात्।।५।।

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि ..... तन्मे प्रमाणं शिवः। पृ० १८५-१८६।

न चैतत् सर्वमस्ति, तस्मात्सिद्धं साक्षात्कारिप्रयोगव्यवच्छेदनम् ईश्वरप्रमाणमिति परिच्छेदार्थमुप[सं]हरन् कर्मयोगसिद्धकपिलादिभ्य उत्कर्षोपपादनेनाजानसिद्धसर्वज्ञस्यैव परमेश्वरस्य परिग्राह्यतामाह साक्षात्कारिणीति। साक्षात्कारो नाम ज्ञानावान्तरजातिः तद्वति ईश्वरस्य

प्रत्यक्षत्वायोक्तम्। नित्ययोगिनीति। ईश्वरेण नित्यसम्बन्धित्वं तत्प्रमाणकायोक्तम्। परद्वारेति। कारणानपेक्षत्वं नित्ययोगसिध्यर्थमुक्तम्।

यद्वा दुष्टकारणजत्वव्यवच्छेदेन वक्ष्यमाणभूतार्थत्वोपयोगित्वेन। अथ वा पूर्वानुभवानपेक्षत्वेन स्मृतिव्यवच्छेदादनुभवत्वोपयोगित्वेन। यद्वा कारणाधीनसंकोचव्यवच्छेदेन वक्ष्यमाणसर्वविषयत्वायेति। भूतश्चासावर्थश्चेति **भूतार्थः**। तत्सम्बन्धिविषयत्वेन **योऽनुभवः**, तस्मिन्नेकस्मिन्नेकवस्तुनिविष्टो विषयतया **निखिलप्रस्ताविनः** सार्वत्रिकस्य **वस्तुनः क्रमो** निश्शेषविशेषो यस्येश्वरस्य स तथोक्तः। तदेवं नित्यधर्मज्ञानं परमेश्वर एव विश्रान्तमिति दर्शितम्। अत एव **लेशस्य** विशेषलेशस्य **अदृष्टिर**ज्ञानं तन्निमित्ताया दुष्टेर्दोषस्य भ्रमसंशयादेर्विगमेन **प्रभ्रष्टः** उत्सन्नो नास्ति शङ्कांशो यस्मिन् स तथोक्तः। तत्तस्मादेवम्भूतः **शिवो मे** *नैयायिकस्येति* सिद्धान्तन्यायेन **प्रमाणं** साक्षात्कारिप्रमावत्तया प्रत्यक्षादिति भावः।

यद्वा तदिति प्रत्यक्षपरामर्शः जन्यकारणदोषविशेषादर्शननिमित्त-भ्रान्तादिशङ्कास्पदत्वेनाप्रमाणैः कपिलादिभिः किमस्माकं सिध्यति। तस्मात् परमेश्वर एवागमा प्रमाणानि नान्य इति।।६।।

इति श्रीरामदेवमिश्रसूनोः वरदराजस्य कृतौ
न्यायकुसुमाञ्जलिटीकायां चतुर्थः परिच्छेदः।

□□

पञ्चमः स्तबकः

नन्वीश्वरे प्रमाणोपपत्तौ ..... कार्यत्वादिति।१। पृ० १८७।

अथ पञ्चमीं विप्रतिपत्तिं निरसितुमुपन्यस्यति नन्विति। यदेतदीश्वरस्य प्रतिपादितं प्रमाणत्वादिति तत्सर्वमसेत्स्यत्, यदि तस्मिन् प्रमाणमुपालप्स्यत। तत्तु नोपलभामहे, प्रत्यक्षस्यायोग्यत्वात्, तद्व्याप्तस्य लिङ्गस्याभावात्। आगमस्य तदप्रणीतस्येतरेतराश्रयप्रसङ्गेन तत्राप्रामाण्यात्, नित्यस्य चासंभवदुपमानस्य नियतविषयत्वेनानाशङ्कनीयत्वाच्चेति सोपालम्भमाह नैष इति। न खलु सामग्रीविधुरैरनुपलम्भाद्वस्तुनोऽभावः स्यादिति, पमरेश्वरसिद्धौ स्वाभिमतानि प्रमाणानि संकलय्याह **कार्येति**। संग्रहविवरणमेवासमाप्तेर्द्वेधा वर्तिष्यते। संक्षेपस्तावत् शरीरानपेक्षोत्पत्तिकमूर्वीदूर्वादिकं, कर्तृपूर्वकं, कार्यत्वात्, घटवत्। **आयोजनं** नामाचेतनक्रियाहेतुभूतं चेतनाधिष्ठानं शरीरकार्ये शरीरानपेक्षकार्योत्पत्तौ परमाण्वादिक्रिया चेतनाधिष्ठानपूर्विका, अचेतनक्रियात्वात्, वास्यादिवदिति **धृतिरपतनेन स्थितिः**। ब्रह्माण्डादिद्व्यणुकपर्यन्तं जगत्, साक्षात्परम्परया वा आधारकप्रयत्नाधिष्ठितं गुरुत्वे सत्यपतनत्वात् वियति विहङ्गमशरीरवत्, तत्संयुक्तद्रव्यवच्च [धृत्यादेरित्यादिपदात् **विनाशं** संगृह्णाति। कृत्स्नं जगत्, [प्रयत्नवद्विनाश्यं, विनाश्यत्वात्, पाट्यमानपटवत्। **पदं** नाम पद्यते गम्यते व्यवहाराङ्गमर्थोऽनेनेति व्युत्पत्त्या व्यवहारः [सेत्स्यति, पटादिनिर्माणनैपुण्यं पटादिशब्दव्यवहारश्च स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तः व्यवहारत्वात् निपुणतर शिल्पिनिर्मितापूर्वशिल्पवत् देवदत्तादि शब्दव्यवहारवच्च। **प्रत्ययतः** प्रत्ययः समाश्वासहेतुप्रामाण्यम्। आगमसम्प्रदायोऽयं[कारणगुणपूर्वकः] प्रमाणत्वात् प्रत्यक्षवत्। **श्रुतिर्वेदः** अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वे सति महाजनपरिगृहीतवाक्यात्मा। सर्वज्ञप्रणीतो वेदः, वेदत्वात्, न यदेवं न तदेवं यथा कुमारसम्भवादि। **वाक्यात्।** वाक्यं [वेदवाक्य] मात्रात्मकम्। वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि, वाक्यत्वात्। सम्प्रतिपन्नवत्। **संख्याविशेषात्।** संख्याविशेषो द्व्यणुकपरिमाणयोरसमवायिकारणं परमाण्वोर्द्व्यणुकेषु च समवेता द्वित्रिसंख्या, अपेक्षाबुद्धिजन्या, अनेकसंख्यात्वात् सम्प्रतिपन्नवदित्येकः कल्पः। अपरस्तु अत्र **कार्यशब्देन** वैदिकानां निन्दाप्रशंसावाक्यानां तात्पर्यविषयभूते प्रवृत्तिनिवृत्ती विवक्षिते। वैदिकानि निन्दाप्रशंसावाक्यानि यथायथं हानोपादानाभिप्रायपूर्वकाणि, अर्थवादात्मकत्वात्।

परिणतिसुरसमाम्रफलं परिणतिविरसं पनसफलमिति लोकवाक्यवत्। आयोजनं वेदानां व्याख्यानं [धर्माधर्मानुष्ठानम्]तदर्थानुष्ठानस्य निश्चलत्वं तन्निदानमनुष्ठातॄणां मतिचलनेऽपि तदनुष्ठानमादिशब्दार्थः। यद्वा धृतिर्व्यवस्था व्याख्यानस्य। वेदाः कदाचित् समस्ततदर्थविद्व्याख्याताः [अनुष्ठातृमतिचलनेऽपि निश्चलार्थानुष्ठानत्वात्] यदेवं विधं तत्समस्ततदर्थविद्व्याख्यातम्। यथा मन्वादिसंहितापदम्। वैदिकं प्रणवेश्वरेशानादिकं, तत्सार्थकम्, अविगानेन श्रुत्यादिषु प्रयुज्यमानत्वात् घटादिपदवत्। किञ्च वैदिकमस्मत्पदं [स्वातन्त्र्येण] प्रयोक्तृवचनमस्मत्पदत्वात्, लौकिकवत्। प्रत्ययः। वैदिको लिङादिः सः स्वतन्त्रवक्तृनियोगाभिधायकः लिङादित्वात् राजशासनवत्। श्रुतिः कृत्स्नो वेदः स हि स्रष्टृत्वे[न पुरुषसूक्तेषु उपास्यत्वेन रूपेणेश्वरं [सर्वत्र] प्रतिपादयन् स्रष्टृत्वादिरूप ईश्वरे प्रमाणम्। तत्प्रतिपादकत्वात्, स्वर्गनरकादिप्रतिपादकवेदवाक्यवत्। वाक्यत्वम्, संसर्गभेदप्रतिपादकत्वम्। वैदिकं पदकदम्बकं, [स्वप्रतिपाद्यसंसर्गभेदप्रतिपादकं, तत्तदनपेक्षसंसर्गज्ञा]न पूर्वकं, वाक्यत्वात्। यद्वाक्यं तत्तदनपेक्षसंसर्गज्ञानपूर्वकं यथालौकिकम्। संख्या। स्याम्, अभूवम्, भविष्यामीतरकृत[पुरुषानभिहिता, सा च [उत्तमपुरुषाभिहिता] स्वतन्त्रवक्तृगोचरा, उत्तमपुरुषाभिहितत्वात्, लौकिकवत्।

किञ्च काठकं भगवति परमेश्वरे कथं प्रमाणभावः ! अत्र विश्वविदव्यय इति पक्षधर्मतासहायकार्यत्वादिहेतुसिद्धमेव सर्वज्ञत्वमागन्तुकज्ञानादिविशेषः। गुणशून्यत्व[विशेष]द्वारेणास्मदादिभिः। कर्मयोगसिद्धकपिलादिभिश्च सिद्धसाधनतां निरसितुं पक्षधर्मताबलसिद्धिमुत्तरत्र दर्शयिष्याम इति। तत्र कार्यत्वं हेतुं विवृणोति- क्षित्यादिकमिति। [आदिपदेन प]रानपेक्षोत्पत्तिकस्य दूर्वाङ्कुरादेर्विवक्षितत्वान्न भगवतः सिद्धसाधनताऽसिद्धिर्बाधो दृष्टान्ताभावश्च प्रादुष्युः।।१।।

न बाधोऽस्योपजीव्यत्वात् ..... न त्वन्योऽतिप्रसङ्गात्। पृ० १९३-१९५।

कर्तृत्वं नामोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षा[कृतिमज्जन्यप]रत्वमिति न जीवात्मभिः सिद्धिसाधनम्। कार्यत्वञ्चोत्पत्तिमत्वमिति न साध्यानुप्रवेशावकाशः। न चावयवन्यूनत्वमिति शब्दस्य प्रभृत्यर्थत्वेन प्रयोगविशेषप्रदर्शनार्थ [मिति हेत्वा] भासानुद्धरति-न बाधोऽस्येति। न तावदीश्वरासिद्धौ तस्य नास्तित्वमकर्तृत्वं शरीरित्वम्वावधारयितुं शक्यम्। आश्रयासिद्धिप्रसङ्गात्। तत्सिद्धिश्चानेन कार्यत्वानुमाने[न] कार्य इत्यस्य बाधोपजीव्यत्वान्न बाधः। प्रत्युत तेषामेव

धर्मिग्रहकप्रमाणबाध इति भावः। तेन क्वानुमानमनाश्रयमित्याश्रया-सिद्धिमात्रपर्यवसायिना पूर्वोक्तपौनरुक्त्यं नाशङ्कनीयम्। तत एव नासिद्धिरिति। सापि वक्ष्यमाणदिशानुकूलप्रतिकूलतर्कसाहित्यसहकृतेन भूयोदर्शनेन प्रतिबन्धसिद्धेः – **सहेतुकेति**।[१]

अथ पूर्वार्धं विवरीतुकामः शरीरप्रसञ्जनद्वाराबाधं प्रतिरोधं च वदतामभिप्रायं तावद्विकल्पयति – **तथा हीति**। सर्वेष्वपि कल्पेषु अभिमत ईश्वरो न सिद्ध्येदिति भावः। अत्रोपजीव्यत्वादित्येतदुपलक्षणपरं मन्वान उत्तरयति –**तत्रेति**। ईश्वरः शरीरी कर्तृत्वात्। ईश्वरोक्ताशरीरित्वादित्यनयोरनीश्वर-वादिनामाश्रयासिद्धिस्तावत्। अथ तदुज्जिहीर्षया कुतश्चित् प्रमाणात् तमङ्गीकुर्यात्, ततो धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः। तत्रेश्वराभ्युपगमादपसिद्धान्तो [भवति] तथा अशरीरः कर्त्ता चेश्वरपदावाच्यः, तमुद्दिश्य शरीरत्वात् कर्तृत्वविधाने प्रतिज्ञापदयोर्मिथो व्याघातः। **तृतीये त्विति**। तुना पूर्वोक्तानाश्रयासिद्ध्यादीन् व्यवच्छिनत्ति। शरीरिकर्तृकार्यत्वस्य सत्यां व्याप्तौ पक्षधर्मताबलात् सर्वज्ञस्यैव सिद्धेः सिद्धसाधनमसत्यां तु व्याप्तौ न कर्त्तुः शरीरत्वं प्रसज्येत। व्याप्तिश्च नास्ति अङ्कुरादौ व्यभिचारादिति भावः। **चतुर्थे** दूर्वाङ्कुरादेरपि पक्षत्वादंशे बाधितविषयत्वम्, तदुत्पत्तेः प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, यदि तु तदतिरिक्तमेव पक्षीक्रियते ततस्तेनैवानैकान्तिकत्वमकार्यस्यापि तस्य शरीराजन्यत्वादिति विकल्पाभिप्रायं दूषणद्वयम्। यद्वा क्षित्यादेः सावयवत्वेन कार्यत्वसिद्धेर्बाधः। सिद्धे कार्यत्वेन तस्मिन् वर्तमानत्वादनैकान्तिकत्वमिति। **पञ्चमे त्विति**।

ननु किमिदमसामर्थ्यन्नाम, यदि प्रक्षेप्योऽप्यकिञ्चित्करत्वं, तन्न, अजन्यत्वादिति हेतोः स्वरूपासिद्धिपरिहारादिति चेत्, एकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयापत्तेः। विशषणोपक्षेपणेऽपीह पक्षधर्मता कथञ्चित् सिध्येत् व्याप्तिस्तु न सिध्यति, गगनादावजन्यत्वादेव कर्तृत्वसिद्धेः तस्यैव व्याप्यत्वनिश्चयेन विशेषणस्य व्याप्तावननुप्रवेशात्। अत एव "समर्थविशेषणादयोऽप्यसिद्धभेदा" इति *तात्पर्यपरिशुद्धिः*। इदञ्चासमर्थविशेषणत्वञ्च तुल्यपक्षसाधारणमपि दूषणान्तरसद्भावादनुक्तन्तत्रापि द्रष्टव्यम्। **षष्ठेऽपीति**। यत्कार्यं तत् सकर्तृकं यदकर्तृकं तन्न कार्यम्। एतच्च कार्यमिति परकीयव्याप्तेः स्तम्भनार्थं यः कर्त्ता स सशरीरः योऽशरीरः स न कर्त्तेति विपरीतव्याप्तिप्रदर्शनं क्रियत इत्यत्र बाधः

---

१. मूलं नोपलभ्यते।

प्रतिरोधो वा विवक्षितः। न तावत् बाधः संभवतीत्युक्तम्। पक्षधर्मतादिलक्षणस्य त्वदुक्तव्याप्तावग्रहणात् प्रतिरोधस्तु स्यात्। यदि विशेषो न गृह्येत, विशेषग्रहणात्तु परव्याप्तेः सोऽपि न संभवतीति विशेषसदसद्भावावेवोभयत्र दर्शयति – **अस्तीति** चो यस्मादर्थे आदिशब्देन धर्मिग्राहकप्रमाणबाधाद्यभावमाह – **तद्विरहः** पक्षधर्मताविरहः, कर्त्तुरीश्वरस्यासिद्धेरिति।

तर्हि क्षित्यादिकं पक्षयित्वा बुद्धिमद्धेतुकं न भवति शरीराहेतुकत्वात्, यद्बुद्धिमद्धेतुकं तत् [शरीरहेतुकं स्याद्य]था घटादीति प्रयोगे पक्षधर्मतालाभात् परव्याप्तिप्रतिरोधोऽपि भविष्यतीत्यत्राह – **अन्वय इति**। असामर्थ्यमेव स्फोरयति – **हेतुव्यावृत्तिमात्रमिति**। **अहेतुकत्वमात्रस्य कर्त्रभावाव्यभिचारादिति**। ननु शरीरविशेषणेन पक्षधर्मता तावत् सिद्धा, अतः कथमसामर्थ्यं कथञ्च तावता न हेतुत्वमित्यत्राह – **व्याप्तश्चेति**।

एतेन तद्व्यापक........ कार्यत्वस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। पृ० १९६-२००।

यदुक्तं परैः क्षित्यादिकमकर्तृकं कर्तृव्यापकरहितत्वादिति। तदप्यनेन शरीरव्यावृत्तिप्रयुक्ता न कर्तृव्यावृत्तिरिति प्रतिपादनेन निरस्तमित्याह – **एतेनेति**। शरीरमेव हि अभिव्यापकमभिप्रेत्य तद्रहितत्वादित्युच्यते, तस्य व्यापकत्वा-भावात्तन्निवृत्तावपि व्यापकराहित्यं संसिद्धमिति व्यापकत्वासिद्धिमपि स्फोरयति – **न हीति**।

न च शरीराभावे कर्तृव्यावृत्तिरित्युक्तमिति। अथ सिद्ध्यसिद्ध्योर्विरोधो न इत्येतद्विभजते – **विशेषविरोध इति**। एतत् संग्रहव्याख्यानेन गतमथवा यद्ययं कार्यत्वहेतुः घटादौ शरीरादिमत्कर्तृव्याप्तो दृष्ट इति पक्षेऽप्यूर्वीदूर्वादौ शरीरादिविशिष्टमेव कर्त्तारं साधयेत्, ततो नास्माकं क्वचिद्विरोधः, कोऽभिप्रमाणसिद्धं नाङ्गीकुर्यात्। अथ दूर्वाङ्कुरादौ योग्यानुपलम्भनिराकृतत्वेन शरीरादिकं न साधयेत्। नह्यशरीरत्वादीनि निरुन्ध्यात्। तेषां कार्यत्वहेतोश्च मिथो गोत्वाश्वत्ववद्धर्मि-परिहारेणैवास्थानस्यासिद्धेरिति। इदं च व्याख्यानम्, संग्रहेऽपि [तार्किकरक्षा-सारसंग्रहे] द्रष्टव्यम्। **नासिद्धिरनिबन्धनेत्येतद्व्याचिख्यासुस्तन्निराकरणीयां** व्याप्यत्वा-सिद्धिमुपाध्युद्भावनेन शङ्कते – **स्यादेतदिति**। अस्ति तावत् कार्यत्वे समानेऽपि दूर्वापर्वतादिव्यावृत्तः प्रसाद-गोपुरादिष्वनुवृत्तः कश्चित्

कार्यत्वावान्तरजातिभेदः, यतस्तेषु शरीरकत्वमनुमीयते। यदभावाच्च न दूर्वादाविति। ततः किमित्याह – **तथा सतीति। तस्य** विशेषस्य साध्यस्य व्यापकतया साधनसामान्याव्यापकतया चोपाधित्वात् अप्रयोजकत्वं कार्यत्वस्येति न स्यादिति। यो हि यद्विशेषः नासौ तत्साध्यसामान्यव्यापकः, यथा गोत्वाद्विषाणित्वादौ साध्ये शावलेयत्वादिरन्यथा तद्विशेषत्वानुपपत्तिरिति। यदि नाप्रयोजकत्वं किं नाम स्यादिति पृच्छति – **किं नामेति।** इदं नाम स्यादित्याह – **साधकेति।** तत्र किं स्यादित्याह – **तस्यापीति।** विशेषस्यापि स्वविशेषापेक्षया सामन्यस्याप्रयोजकत्वं स्यात्। यथास्थित एव धूमसामान्यस्याग्निसामान्यं प्रति प्रयोजकत्वे सौरभादिविशेषादि-विशेषाणाम–गुरुदहनादीनेव प्रति प्रयोजकत्वम्, न तु तत्सामान्यं प्रति। तथास्थित एव चाकार्यत्वसामान्यस्य कर्तृमात्रं प्रति प्रयोजकत्वे तद्विशेषस्य कर्तृविशेषं प्रति प्रयोजकत्वमुपपद्यत इति तात्पर्यम्।

ननु स्यादेवं तदि कार्यविशेषमन्तरेणापि कार्यत्वसामान्यप्रयोजकत्वेन क्वचित् कर्तृमात्रं दृश्यते, न त्वेतदस्ति, ततः कार्यविशेष एव कर्तृमात्रप्रयोजक इति निश्चीयत इत्याह – **सौरभेति।** यदि कार्यविशेषस्य प्रयोज्यमन्यन्न लभ्येत। ततः कर्तृमात्रमेव प्रयोज्यं भवेत्। सति कर्तृविशेषे तस्मिन्नेव प्रयोज्येऽवतिष्ठते, न तु कर्तृसामान्यमपि तावत् गत्वा तदपि प्रयोज्यतया क्रोडीकुर्वन् कार्यकारण-सामान्ययोर्लोकदृष्टां व्याप्तिं विघटयतीत्याह – **न कार्यविशेष इति।**

अयमाशयः, यद्यपि कार्यविशेषकर्तृविशेषयोरेव साहित्यं दृष्टम्, तथापि सर्वत्र विशेषकर्त्तरि कर्तृमात्रस्यापि सामान्यत्वेन सत्त्वात्, तेनैव कार्यत्वमात्रस्य व्याप्तिः। कार्यविशेषस्य कर्तृविशेषेण लोके कार्यकारणसामान्ययोः व्याप्तिदर्शनादिति कार्यकारणसामान्यविशेषयोः कारणसामान्यविशेषाभ्यां व्याप्तिं लोकदृष्टान्तेन सम्पादयति – **किं न दृष्टमिति।** दृष्टमेवेत्यर्थः। तथापि न क्वचित् कार्यसामान्यस्य कर्तृमात्रेण सामान्यं दृष्टम्। अतः कथं तत्सिध्येदित्यत्राह – **क्व वा दृष्टमिति।** यथा स्थूलद्रव्यारभ्यत्वेन द्रव्याणामनित्यरूपाद्यारभ्यत्वेन रूपादी[नां]दर्शनेऽपि द्रव्यं द्रव्यारभ्यं गुणाश्च गुणारभ्या इति सामान्यव्याप्तेरविरोधात् अदृष्टपूर्वाण्येवाणु-द्रव्याणि नित्यरूपादयश्चारम्भकाः सिध्यन्ति। एवमत्रापीति कार्यसामान्यस्यैव कर्तृसामान्यं प्रति व्याप्तिरवश्याभ्युपगन्तव्येति सदण्डमाह – **अवश्यमिति।** कार्यविशेष एव कर्तुरुपयोगात् कार्यमात्रमाकस्मिकं स्यादिति।

स्यादेतत्। अन्वयव्यतिरेकि तावदिदं कार्यत्वम् ...... तथैव प्रयोगे सिद्धसाधनात्। पृ० २०३-२०५।

तदेवमन्वयांशे कार्यत्वस्योपाधिर्निराकृतः सम्प्रति व्यतिरेकांशे शङ्कते- **स्यादेतदिति**। ततश्चोपाधिसन्देहाद् व्याप्त्यसिद्धिरिति तदसति माभूत् सन्देहः कारणव्यावृत्तेरेवास्तु कार्यव्यावृत्तिः तथापि कर्तृव्यावृत्तेः तद्व्यावृत्तिः सिध्यति। कर्तुरपि कारणकोटिनिवेशादिति। अस्तु कारणम् कर्तापि न तु तद्व्यावृत्तौ कार्यत्व व्यावृत्तिरिति तत्राह - **कारणेषु चेति। अन्यथेति**, अन्वयवद्व्यतिरेकोऽपि कारणत्वस्याङ्गमिति अन्यतमकारणव्यतिरेक-व्यावृत्त्यनभ्युपगमे बाधकान्तरमाह- **कारणादिति**। द्वेधा हि कारणविशेषनिरूपणं कारणरूपेणोपादानादिरूपेण उभयथाप्यनिश्चयाभिधानमिति। एवं निश्चये सति किं स्यादित्यत्राह - **इति कार्यत्वादिति**। उपादानादीनामन्यतमेनापि बुद्ध्याद्युपपत्तेः न सर्वेषां सिद्धिरिति - **कर्तुरिति**। तदिदं व्यतिरेकव्याप्त्यादिकमिति - **तत्किमिति** किमकारणमेव सर्वोऽपि कर्त्ता किम्वान्यत्र कर्तुः कारणत्वेऽपीश्वरः कर्ता न कारणमुदासीन एवेति साध्ये तत्र कुविन्दादेः कारणत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् तज्जातीयत्वेनेश्वरस्यापि तत्सिद्धेः। पक्षद्वयेऽपि स्थूलदोषत्वात् नोत्तरापेक्षेति भावः।

अथान्यथा सत्प्रतिपक्षत्वमुद्भावयितुमाह - **नन्विति**। आत्मा हि शरीरप्रयत्नमात्रेण व्यापारयन् साक्षादधितिष्ठति। तत्संयुक्तं तु दण्डादि शरीरद्वारेण परम्परया, तदद्वेधापीश्वरस्य परमाण्वधिष्ठानं न सम्भवति, शरीरानभ्युपगमात्तस्येति उक्तमर्थं प्रयोगमारोपयति - **तदयमिति। व्यतिरेकेण वेति**, यत्परम्परायाधिष्ठेयं तत्स्वव्यापारे शरीरापेक्षं यथा दण्डादीति। **किमेतावता** कार्यत्वानुमान-स्यायातमित्यत्राह - **एवञ्चेति**। अत्र यच्चेतनाधिष्ठितहेतुकं तच्छरीरे जन्यं न भवति, यथा - घटादीति। व्यतिरेकेणोदाहर्त्तव्यं पूर्वं करणानां चेतनाधिष्ठेयत्वं प्रसाध्य पश्चात् तद्बलेनास्य प्रवृत्तिरित्यतिपीडायामित्युक्तमिति सिद्धसाधनत्वं वक्तुं पीठिकामारचयति - **अपि चेति**। ज्ञानादिविषयत्वमेवाधिष्ठेयत्वमित्याशयेनाह - **न ह्यस्येति**। यदि त्वीश्वराधिष्ठितानामपि वेमादीनां कुविन्दाद्यधिष्ठात्रन्तरापेक्षा स्यात्, अधिष्ठानार्थमेव तर्ह्यधिष्ठात्रन्तरापेक्षा न व्यवतिष्ठत इत्याह - **न चेति**। यद्वा यदि कुविन्दाद्यधिष्ठितानामीश्वरापेक्षा स्यात्, तदर्थमेवाधिष्ठातुरपि कुविन्दस्य कारकविशेषत्वेन कुविन्दादिकारकाधिष्ठानार्थमेव तर्ह्यधिष्ठातुरीश्वरस्यापि तथात्वादन्यापेक्षायामनवस्था स्यादिति। **तर्हि** कुविन्दाद्यपेक्षा कारकत्वेन न

त्वधिष्ठातृत्वेनेत्यत्राह – **न द्वितीय इति।** कुविन्दादेरपि वेमादिवत् कारकत्वेन कार्याङ्गत्वे पटादीनां चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वासिद्धेः साध्यवैकल्यं भवेदिति। अस्तु तर्हि पटादौ हेतुत्वेनैव कुविन्दाद्यपेक्षा न त्वधिष्ठातृत्वेनेत्यत्राह – **न चेति।** तादृश्यान्तु व्याप्तौ को दोष इत्यत्राह – **तथा चेति।**

किञ्चानित्यप्रयत्नपूर्वकत्वप्रयुक्तां .... धर्माधर्मयोरसत्त्वात् पृ० २०५-२०७।

व्याप्त्यनुसारेणोर्वीदूर्वादिः सहेतुकमिति प्रयोगः स्यात्। तत्र च सिद्धसाधनम्। नहि *मीमांसका* अपि निर्हेतुकत्वं क्षित्यादेरभ्युपगच्छन्तीति। प्रकारान्तरेण कार्यत्वेहेतोरप्रयोजकत्वमाह – **किञ्चेति।** घटादौ बुद्धिमत्पूर्वकत्वमनित्य-प्रयत्नपूर्वकत्वप्रयुक्तमदुष्टमतः क्षित्यादावनित्यप्रयत्नपूर्वकत्वाभावाद्-बुद्धिमत्पूर्वकत्वमपि न स्यादिति।

ननु यथा बुद्धिमत्पूर्वकत्वे शरीरपूर्वकत्वमुपाधिः। ततः शरीरादिनिवृत्तौ बुद्धिः निवर्तत इति चोदितो *वाचस्पतिर*वोचत्। बुद्धिगतकार्यत्वोपाधिप्रयुक्तत्वात् शरीरसम्बन्धस्य तन्निवृत्तौ कार्यबुद्धिर्निवर्तते, न त्वकार्यापीति, तथात्राप्य-नित्यप्रयत्ननिवृत्तौ कार्यैव बुद्धिर्निवर्तत इति समाधास्याम इत्यत्राह – **न हीति।** युक्तं तत्र बुद्ध्या शरीरस्य कार्यत्वेनापेक्षणात् तन्निवृत्तौ कार्याया एव निवृत्तिः, न तु नित्याया अपीति प्रयत्नः पुनः कारणत्वेन बुद्ध्यपेक्षते, यतस्तन्निवृत्तौ कार्यैव बुद्धिर्निवर्तते न त्वकार्यापीति तदेतच्चोद्यत्रयं समादधाति – **तदेतदिति।** तत्रान्तिमस्य पूर्वोद्भावितं प्रयोजकत्वनिरासं ··· न हि विशेषोऽस्तीति सामान्यम् प्रयोजकं स्यादित्यनिरासः। मध्यमस्य तत् किं कुविन्दादिकारणमेव कर्त्तेत्युक्तं कुविन्दादेः कारणत्वसमर्थनेन प्रथमोक्तस्य तु पूर्वोक्तप्रतिरोधानुमानदूषणैरेव व्याप्तिपक्ष-धर्मत्वासिद्ध्यादिभिरिति प्रागेव निरस्तमित्युक्तं तमेव निरासं स्फोरयति–**तथाहीति।** चेष्टेन्द्रियाणामन्यतमाश्रयत्वं हि शरीरलक्षणम्। तत्र परमाण्वादीनां शरीरत्वप्रसङ्ग इत्यत्र यदि चेष्टाश्रयत्वं तत [इष्टापादनम् साक्षात्] प्रयत्नवदात्मसंसर्गा-समवायिकारणता हि क्रिया चेष्टा तदाश्रयत्वं परमाणूनां *नैयायिकैः* सुगममित्यर्थः। **[साक्षात्प्रयत्नवदधिष्ठेयत्वमेव तदिष्यत एवास्माभिरिति।]** किञ्चात्र पक्षे साक्षाद्विषयत्वाभ्युपगमे साक्षादधिष्ठातृत्वप्रसङ्ग इत्युक्तं स्यात्। न च तत्र प्रसञ्जकादन्यत् प्रसञ्जनं स्यादित्याह – **न च ततोऽन्यदिति।]** अथेन्द्रियाश्रयत्व-

लक्षणशरीरत्वप्रसङ्गमाशङ्क्य दूषयति – **अथेति।** न खल्वस्मदादिशरीराणां साक्षादधिष्ठेयत्वप्रयुक्तमिन्द्रियाश्रयत्वम्, कार्यप्रयत्नाधिष्ठेयप्रयुक्तत्वादिति कुत एतदित्यत आह – **तदवच्छिन्नेति।** अस्मदादीनामिन्द्रियावच्छिन्न एवात्मप्रदेशे प्रयत्नोत्पत्तेः, तस्याश्च तदवच्छिन्नज्ञानाधीनत्वात्तस्य चेन्द्रियाधीनत्वेन तदन्तरेणानुपपत्तेः, अनवच्छिन्ने तु प्रयत्नेनैव ज्ञान[द्वारेणैवे] न्द्रियाणामुपयोगः प्रयत्नेच्छाज्ञानानामन्यतमत्वेनानुत्पद्यत्वादनवच्छिन्नत्वाच्चेति। अत एवाप्रयोजकत्वान्नार्थाश्रयत्वरूपमपि शरीरत्वं प्रसज्यत इत्याह – **अत इति।** अर्थ्यत इति अर्थो भोगः। तस्याश्रयः आयतनं यदाश्रित्यायमात्मा भोगान् भुङ्क्ते सोऽर्थाश्रय इत्यर्थः। तल्लक्षणशरीरत्वञ्च भोगसाधनत्वप्रयुक्तम्, नचेश्वरस्य भोगो नामेति।

नन्वस्ति तस्यापि ज्ञानरूपो भोग इत्यत्राह – **न हीति।** न तावत्तस्य ज्ञानं भोगः नित्यत्वात्। अस्तु वा भोगः, तथापि नायतनमपेक्षते, नित्यत्वादेव कारणशेषत्वाच्चायतनस्य। तस्मादर्थाश्रयत्वस्यापि अनित्यभोगप्रयुक्तत्वादप्रयोजकमसाक्षादधिष्ठेयमिति भोक्तृधर्मोपग्रहाच्चाप्रयोजकमित्याह – **न च नित्येति।** सुखदुःखसाक्षात्कारलक्षणो हि भोगः धर्माधर्माभ्यां भवति, तौ च प्रवृत्त्या, सा च रागद्वेषमोहरूपेभ्यो दोषेभ्यः। ते च मिथ्याज्ञानात् तच्च नियामकनिःशेषविशेषदर्शनात्। न च नित्यसर्वज्ञस्य संभवतीति। यद्वा किमित्यनित्य एव भोग ईश्वरस्य न स्यादित्यत्राह – **न च नित्येति।**

तस्मात् साक्षात् प्रयत्नानधिष्ठेयत्वात् ..... भोगसिद्धेः स्पष्टत्वात्। पृ० २०७-२१०।

तदेवं परमाण्वादीनां प्रसञ्जितं शरीरत्वं विकल्प्य दूषयित्वा प्रसङ्गदूषणे[न]सिद्धम्, तदनुग्राह्यानुमानदूषणं दर्शयन्नुपसंहरति – **तस्मादिति।** तत्र तावत्साक्षादधिष्ठेयत्वस्य शरीरत्वपक्षे परमाण्वादयो न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेयाः, शरीरेतरत्वादिति प्रयोगे शरीरत्वं नाम साक्षात् प्रयत्नाधिष्ठेयत्वमापद्यते। तथा च साध्यमपि तदेवेति साध्याविष्टो हेतुः। तथा नापि परम्परयाधिष्ठेया इत्यत्र साक्षात् प्रयत्नाधिष्ठितद्वारानधिष्ठेया इति साध्यं स्यात्। स्वव्यापारे शरीरानपेक्षत्वादिति च साक्षात् प्रयत्नवदधिष्ठितत्वद्वारानपेक्षत्वादिति साध्याविशिष्टत्वमेवेति इन्द्रियाश्रयत्वार्थाश्रयत्वपक्षयोरनुमानदूषणमाह–**अनिन्द्रियाश्रयत्वादिति।** तदनपेक्षत्वादिति। इन्द्रियाश्रयभोगायतनानपेक्षत्वादित्यर्थः। इन्द्रियाश्रयत्वं

भोगायतनत्वं, भोगायतनत्वञ्च भोगसाधनत्वभोक्तृधर्मोपगृहीतत्वाभ्यां प्रयुज्यते, न तु साक्षादधिष्ठानप्रयुक्तेन च परमाणूनां तयोः सम्भवः। ईश्वरस्य धर्माद्यभावादिति स्वव्यापारे शरीरानपेक्षत्वं चान्यथासिद्धिमित्याह – स्पर्शवदिति। स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्योत्पाद्यत्वेन दण्डादयः स्वव्यापारे शरीरमपेक्षन्ते न तु परम्परयानधिष्ठेयत्वेन। परमाण्वादयस्तु नैवं विधाः स्वतन्त्रत्वादित्यचेतनत्वाच्चेति पूर्वपरयोरपि वाक्यशेषतया योजयितव्यः। तदेवं शरीरेतरत्वात् स्वव्यापारे शरीरानपेक्षत्वादित्यनुमानयोर्दूषणमुक्त्वा तदुपजीवनेन प्रवृत्तस्य क्षित्यादिकं, चेतनानधिष्ठितहेतुकं, शरीरेतरजन्यत्वादिति प्रतिरोधानुमानस्यापि शरीरविकलद्वारसिद्धम्। तदेव दूषणद्वयं स्फोरयति – तथा चेति। अन्यथासिद्धमेवाह – कार्यज्ञानेति। कार्यज्ञानानपेक्षत्वादिन्द्रिया- श्रयेतरजन्यत्वभोक्तृधर्मानुपग्रहात् भोगायतनेतरजन्यत्वमपि स्यादिति। किञ्च क्षित्यादयो न चेतनाधिष्ठितहेतुका इत्यत्र चेतनानधिष्ठितहेतुकत्वविधिर्वा साध्यः, चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वनिषेधमात्रम्वा! पूर्वत्राप्रसिद्धं विशेषणं पक्षा[श्रितम्] क्वचिदपि तस्यासिद्धेरुत्तरत्रासाधारणानैकान्तिको हेतुः। विपक्षादिव घटादेः सपक्षादपि गगनादेरशरीरजन्यत्वस्य हेतोर्व्यावृत्तेरिति द्वितीयं चोद्यं प्रतीकेनानुभाष्य दूषयति – यत्पुनरिति। तर्हि कार्यानुमानस्य साध्यविकलो दृष्टान्तः स्यादित्युक्तं तत्राह–किन्त्विति। अधिष्ठातृत्वेन कुविन्दाद्यपेक्षा वा यदुक्तं तदनुभाष्य दूषयति–यत्त्विति। न द्वितीय इति। न हि वयं घटादिकारकाधिष्ठानार्थमीश्वरमभ्युपगच्छामः। एवं कुविन्दादिना तदधिष्ठानार्थसिद्धौ किमीश्वरेणेत्युपालभ्येमहि। किन्तर्हि परमाण्वदृष्टाधिष्ठानार्थं तदधिष्ठानस्य तु सर्वज्ञेतरेणानुपपत्तेः तत्सिद्धौ च वेमादीनामपि तज्ज्ञानादिविषयत्वेना- वर्जनीयत्वान्नान्तरीयकं तदधिष्ठानमिति। न तृतीय इति। यद्यधिष्ठितस्याप्यधिष्ठानापेक्षयैव द्वितीयाधिष्ठात्रपेक्षा ततोऽनवस्था स्यात्, न त्वेतदस्ति। किन्तु द्वितीयस्यापि प्रमाणसिद्धत्वात्। तृतीये त्वधिष्ठतरि प्रमाणाभावान्न प्रसङ्ग इति। तथापि द्वयोः प्रमाणसिद्धत्वेऽपीति विकल्प्य दूषयति – हेतुप्रश्नोऽयमिति। कुतो हेतुरिति। हेतुर्वा पृच्छ्यते, कस्मै प्रयोजनायेति। प्रयोजनं वा नाद्यः, ईश्वराधिष्ठानस्य नित्यत्वेन हेतोरभावात्। कुविन्दादिहेतोस्तु प्रसिद्धत्वात्।

एकाधिष्ठानेनैव ..... तस्यैव तत्रानुपाधित्वात्। पृ० २१०-२१२।

न चोत्तरः घटादिकार्यनिष्पादनेनास्मदादिभोगसिद्धेरुभयाधिष्ठानप्रयोजनस्य स्पष्टत्वादिति – एकेति। तत्र चान्यतरस्य निष्प्रयोजनत्वमेवेति भावः। स्यादेवेति।

एकाधिष्ठानेन कार्यमित्यनुषङ्गः। तर्ह्यन्यतरवैयर्थ्यमित्यत्राह – **तथापीति**। दूर्वादौ दृष्टसामर्थ्येश्वराधिष्ठानस्य पटादिष्ववर्जनीयतयान्येन संभेदेऽपि न वैयर्थ्यं सम्भूयकारित्वोपपत्तेः।

न हि त्र्यणुकद्वितन्तुकपटतूलपिण्डपरिमाणेषु प्रत्येकमेवोपलब्धसामर्थ्यानां संख्यापरिमाणप्रचयानामन्यत्र घटादिपरिमाणो जनयितव्ये कपालादिगतसंख्या-परिमाणप्रचयानां सम्भेदेऽप्यन्यतरवैयर्थ्यमिति।

ननु सम्भिन्नकारणस्य परिमाणस्यैव तद्वैजात्यान्नान्यतमवैयर्थ्यमित्याह – **अस्तीति**। तर्हि भाव्युर्वीदूर्वादिभ्यः पटादिकार्येषु किञ्चिद्वैजात्यं भविष्यतीत्याह – **इहेति**। मा भूद् दूर्वादिष्वदृष्टपरमाण्वाद्यधिष्ठानस्य कुलालादिभिर्निर्वाहाभावात्, तदर्थमङ्गीकृतस्येश्वरस्य नान्तरीयकतया दण्डाद्यधिष्ठानसिद्धौ कुलालादिसम्भेदेऽपि तस्य वैयर्थ्यं दण्डादेस्त्वीश्वरेणैवाधिष्ठानसिद्धौ कुतः कुलालाद्यधिष्ठानशङ्कैवेत्याह – **न चेति**। कुलालाद्यधिष्ठानयोग्येषु घटादिकारणेषु तदधिष्ठानमीश्वरोऽनुमन्यते, न तु स्वयमेवाधितिष्ठति, अन्यथा कुलालादीनां व्यापाराभावेन तद्व्यापारसाध्य-भोग्यासिद्धेरिति।

ननु स्वयमेवाधिष्ठातुरीश्वरस्य सतः किं कुलालादिकर्तृत्वानुमित्येत्यत्रोक्तम् – **तदर्थमात्रत्वादैश्वर्यस्येति**। शक्यक्रियेषु घटादिषु तेषां कर्तृत्वानुज्ञामात्रमैश्वर्यम्, अन्यत्र तु स्वयं कर्तृत्वमिति। यत्त्वनित्यप्रयत्नोपाधिना कार्यत्वस्याप्रयोजकत्वमुक्तम्। तदनुभाष्य दूषयति – **यत्त्विति**। स हि तत्रोपाधिः यन्निवृत्तौ साध्यनिवृत्तिः। यथाहुः साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदन्यत्र। **यदिति**। न चानित्यप्रयत्ननिवृत्तौ बुद्धिर्निवर्तत एवाप्रयतमानस्यापि बुद्धिसद्भावः। अतो नानित्यप्रयुक्तं बुद्धिमत्पूर्वकत्वमिति – **हेतुभूतेत्यादि** सुगमः। हेतुभूतकारकबुद्धिरिति यस्य कार्यस्य कारकं विषयीकरोति तदेव कार्यं प्रति हेतुभूता बुद्धिरुदासीनस्य निवर्तत एव। न हि घटादिकमकुर्वतां चक्रादिबुद्धिः हेतुभूतेति। न सापि निवर्तते परेण कण्टकैस्तुद्यमानस्य तत्संभवादित्याह – **नाप्रयतमानस्येति**। तर्हि चिकीर्षया अपि हेतुभूता बुद्धिर्निवर्तत इत्याह – **चिकीर्षेति**। दुःखकारककण्टकसंस्पर्शविषया बुद्धिर्न दुःखचिकीर्षया हेतुरिति। **नेति**। केनचित् प्रति······दिनेति। या खलु चिकीर्षा निरपेक्षैव कृतिं जनयति, तस्याः कारणं बुद्धिरयतमानस्य निवर्तत इत्याह – **अनपेक्षेति**। न तर्हि बुद्धिमात्रं निवर्तते, किन्तु बुद्धिविशेषः। तथा च नास्माकं क्षतिरित्याह – **न हि तर्हीति**। बुद्धिमत्पूर्वकमिति साध्ये कार्यत्वहेतोरनित्य-

प्रयत्नोपाध्युद्भावने परिहार इत्याह – इतीति। सकर्तृत्वमिति साध्ये तु कस्तर्हि परिहार इत्यत्राह – **सकर्तृकमिति**। कर्तृत्वं नाम कृतियोगः कृतिश्च प्रयत्नः, ततश्च प्रयत्नपूर्वकत्वमेव साध्यं स्यात्। तस्मिंश्च प्रयत्नपूर्वकत्वस्योपाधित्वे स्वस्यैव स्वस्मिन्नुपाधित्वं स्यात्। तच्चायुक्तमेव, तस्यैव प्रयोज्यप्रयोजकत्वानुपपत्तेरिति।

एतेन शरीरसंबन्धे ...... अनित्यप्रयत्नाजन्यत्वमिति संक्षेपः। पृ० २१२-२१३।

ननु सकर्तृकमिति प्रयत्नपूर्वकत्वे साध्ये बुद्धिमत्पूर्वकत्वं कुतः सिध्येत्। न च प्रयत्नादेवेति वाच्यम्। शरीरसंबन्धे बुद्धिगतकार्यत्ववत् बुद्धिसंबन्धेऽपि प्रयत्नगतकार्यत्वस्योपाधेस्सुवचत्वेन प्रयत्नमात्रस्य बुद्ध्या व्याप्त्यभावेन ततस्तस्या बुद्धेर्न सिद्धिरित्याशङ्क्याह – **एतेनेति**। प्रयत्नानित्यत्वस्यानुपाधित्वेनेति कथं निरस्तमित्याह – **यो हीति**। न हि वयं कार्यत्वेन प्रयत्नपूर्वकत्वमात्रं साधयित्वा तेन बुद्धिमत्पूर्वकत्वं साधयामः। येनोपाध्युद्भावनेनोपालभ्येमहि। किन्तु बुद्धिमत्पूर्वकत्वमपि कार्यत्वादेव साधयामः। कार्यत्वं हि कर्तारं साधयेत् इति प्रतिबन्धकबलेनोपादानादिगोचरबुद्धिमन्तमेव कर्तारं साधयेत्। तत्र च कार्यत्वस्य निरूपाधित्वमुक्तमेवेति। किञ्च कार्यत्वात् साधितेन प्रयत्नेनैव बुद्धिरपि साध्यताम्, तथापि न काचित् क्षतिरिति विवक्षन्ननुप्रयत्नकारणत्वेन बुद्ध्यपेक्षया हि ततस्तदनुमानम्। नित्यस्य तु प्रयत्नस्य तदनपेक्षत्वात् कथं ततस्तत्सिद्धिरित्याशङ्कामपनुदन्नाह – **न चेति**। न हि प्रयत्नः केवलमिच्छाद्वारेणात्मनिष्पत्तये ज्ञानमपेक्षते किन्तु विषयोपनयमर्थमपि। न ह्यज्ञात एव विषये कश्चिद्यतितुं शक्नोति, तेन नित्यत्वेनात्मलाभार्थमपेक्षाभावेऽपि विषयलाभार्थमपेक्षणात् प्रयत्नात् बुद्धिसिद्धिस्तन्निवृत्तौ च तन्निवृत्तिः सिध्यतीत्येतद्विस्तृत*मात्मतत्त्वविवेक* इति नेह प्रपञ्च्यत इति।

ननु सर्वथा कार्यमेव बुद्धिमपेक्षमाणः सर्वत्र प्रयत्नो दृष्ट इत्यपेक्षणीयनिवृत्तेरपेक्षकस्य प्रयत्नस्यापि निवृत्तिरित्याह – **कार्यबुद्धीति**। कार्यप्रयत्नस्यैव तदपेक्षत्वादिति।

ननु नित्यादपि बुद्धिः सिध्यताम् अनित्यत्वं तु तस्याः कुतः सिद्धमित्यत्राह – **नित्ये चेति**। कथं नानित्ययैव बुद्ध्या नित्यस्य प्रयत्नस्य विषयलाभसंभवस्तत्राह – **शरीरादेरिति**। शरीरादिकार्यत्वेनानित्याया बुद्धेस्ततः प्रागसंभवात्। बुद्ध्यभावे

च निर्विषयत्वेन प्रयत्नस्याप्यसंभवात्, देहस्यानुत्पत्तौ सर्वथा बुद्ध्यनुत्पत्तिप्रसङ्ग इति। तर्ह्यनित्यप्रयत्नजन्यमस्तु विश्वमित्यत्राह – **शरीरेति**। यद्वा विवादपदकर्तृकमनित्यप्रयत्नाजन्यत्वात् गगनवदिति साधनमाशङ्क्याह – **शरीरेति**। शरीराजन्यत्वहेतोरिवास्याप्यसमर्थविशेषणत्वमिति संक्षेप *आत्मतत्त्वविवेकोक्तस्य* विस्तरस्येति।।२।।

तर्काभासतयान्येषाम् ..... इत्यलं बालप्रलापानां समाधानैः। पृ० २१४-२१६।

अथ कार्यत्वहेतोः प्रतिबन्धसिद्धये प्रतिकूलतर्कराहित्यमनुकूलतर्कसाहित्यं चाह **तर्केति**। अत्र पराभिमतानां तर्काणां यथायथमङ्गपञ्चकान्यतमहीनत्वेनाभासत्वान्न प्रतिकूलतर्कपराहतिर्व्याप्तिविषयसंशयद्वारानुमानं दूषयति। अनुकूलतर्कस्तु कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्मकस्तर्क उपाधितः स्वरूपतश्च व्यभिचारशङ्कापादनपटीयान् प्रतिबन्धनिश्चयद्वारेण प्रमाणमनुगृह्णन् विभूषयतीति तत्रानुकूलतर्कं कार्यलोपं तावद्विवृणोति – **कारकेति**। यद्युर्वीदूर्वादेः कर्त्ता न स्यात्, ततस्तत्कारकाणि न व्याप्रियेरन्निति कार्योत्पत्तिः स्यादिति [न] कर्तृभावे कारकव्यापारविगम इत्यत्राह – **चेतनेति**। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चेतनव्यापारफलत्वेनाचेतनव्यापारस्यावधारणादिति। अन्यथा कार्यलोपप्रसङ्गमाह– **कारणान्तरेति**। पूर्वं कर्त्तुः कारकत्वमङ्गीकृत्योक्तम्, इदानीं तु निमित्तकारणत्वमिति विवेकः। किमस्ति वानयोर्विशेषः, वाढं, क्रियासंबन्धित्वं कारकत्वं कार्यं प्रति योग्यत्वं कारणत्वं हेतुत्वमिति यावत्। अत एव ध्रुवमपायेऽपादानमित्यत्र कारके पञ्चमी भीत्रार्थानां भयहेतुरिति [पा.सू.१।४।२५।] हेताविति कर्त्तुरपि कारणात्वादित्यत्र बौद्धमतमुत्थापयति – **यस्त्विति**। अस्मिन् सतीदं भवतीति प्रत्यक्षद्वयमसति च न भवति सति चान्यस्मिन्न भवतीत्यत्रानुपलम्भय[न] हि कार्यकारणभावनिश्चयहेतुरिति। स च प्रत्यक्षयोग्ययोरेव न त्वयोग्ययोरपि प्रत्यक्षस्य च योग्यतामात्रसिद्धौ सामर्थ्यादनुपलम्भस्य च तन्मात्रनिषेधसामर्थ्यादिति। तत्रोदाहरणमाह – **धूमाग्निवदिति**। तदेव विशदयति – **नहीति** [कम्पेति] तद्धि भौमस्पृश्ययोरेव दृश्यत्वादिति भावः। भौमस्पृश्योरेव तदुत्पत्तिनिश्चयः, ततः किमित्यत्राह – **तथेहापीति**। शरीरवत एव दृश्यत्वात्तदसदिति प्रत्यक्षानुपलम्भयोः प्रवृत्तिमात्रोपयोगिनी पश्यता ताभ्यामेव तदुत्पत्तिनिश्चय इति। तथापि दृश्यतामेवोपाधीकृत्य ताभ्यां तदुत्पत्तिर्निश्चेतव्या। तत्र दृश्यकारणमेवेत्यत्राह –

न तु दृश्यतैवेति। तर्हि किं नाम तयोरुपाय इति पृच्छति – **किं नामेति**। व्यक्तीनामानन्त्यव्यभिचाचाराभ्यामनुपायत्वाद्दृश्ययोः कार्यकारणयोराश्रितं सामान्यद्वयमित्याह – **तदाश्रितमिति**। किमेतावतापि विवक्षितं सिध्येत्, ओमित्याह – **तदालीढस्येति**। न केवलमेतदस्माकं, न चात्रैव चास्माकं च विषयान्तरेऽपीत्याह – **यथेति**। *बौद्धाना* हि स्थिरस्य गुणिनो द्रव्यस्याभावात्, स्पर्शादय एव प्रतिक्षणभङ्गुराः सन्तः पूर्वपूर्व उत्तरोत्तरेषामारम्भक इति सिद्धान्तः। तेषु च प्रतिक्षणमनुपलभ्यमानभेदेषु प्रत्यक्षानुपलम्भयोरसंभवात् द्रव्यघटकपालादिपदार्थ-गतसामान्यद्वारेण निमित्तता निश्चेतव्या। अस्माकं चातीन्द्रियस्य परमाण्वादेः समवायिकारणस्य सिद्धिर्दृश्याश्रितसामान्यद्वारिकैवेति। अदृश्यस्यापि कारणत्वानङ्गीकारेऽनिष्टमाह – **न चेति**। आलोकशालिन एवानलस्य धूमं प्रति रूपवत एव दण्डादेः कम्पं प्रति च कारणत्वं साध्यादन्यत्र सर्वत्र दृष्टम्। तत्र कथमनालोकस्य कुलदहनस्य नीरूपस्य च वायोर्धूमकम्पाभ्यां सिद्धिर्दहनपवनयोः **कथमनालोकनिरस्तरूपयोरिति** संबन्धः। यदि सामान्यालीढस्य कारणत्वनिश्चये तज्जातीयं सर्वमपि तथा निश्चितं भवेत्। तर्हि दहनपवनयोर्धूमकम्पं प्रति कारणत्वनिश्चये धूमकम्पाभ्यां सिध्यतोर्दहनपवनयोरुदर्यस्तिमितसाधारण्येन सिद्धिः स्यात्। तावपि ताभ्यां सिध्येयातामिति यावत्। तदेतदुपन्यस्य दूषयति – **यत्त्विति**। युक्तं तत्र भौमस्पृश्यव्यतिरेकेणान्यत्र धूमकम्पयोरनुपलम्भनात् ताभ्यामेव तयोरविनाभावनिश्चयादुदर्यस्तिमितयोरसिद्धिर्नैवमत्र शरीरादिकं विना कार्यस्यानुपलम्भ इति शरीरादिमत एव कारणस्य कार्यत्वात्सिद्धिरिति। न च दूर्वादौ शरीरव्यभिचारवच्चेतनव्यभिचारः शक्योऽभिधातुं तेषां पक्षत्वादयोग्यत्वेन शरीरवत् बाधाभावाच्चेत्याशयेनाह – **न चैवमिति**। उपसंहरति – तदेवमशरीरस्यापि कारणत्वं प्रसाध्य कर्त्तुरभावे कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः समर्थितः।

तदुत्पत्तेरसिद्धावपि ..... ब्रह्मादिप्रतिपादका आगमा बोद्धव्याः। पृ० २१७-२१९।

सम्प्रति कर्त्तुः कारणत्वाभावेऽपि कर्त्रतिपाते कार्यलोपप्रसङ्ग इत्याह – **तदुत्पत्तेरिति**। कार्यकारणभावाभावेऽपि पूर्वोक्तमार्गेणोपाधिविधूननेन कार्यत्वस्य स्वभावप्रतिबन्धे सिद्धे यदि कर्त्रतिपातः स्यात्, कार्यस्य स्वभाव एव हीयेत। तथा च निःस्वभावस्यावस्थानायोगात् कार्यमेव विलुप्येतेति किमिति विस्तरेणायमर्थो नेह प्रतिपाद्यत इत्यत्राह – **एतच्चेति**। **एवमिति**। एवमनुकूलतर्केण कार्यस्य

कर्तृमत्त्वेन स्वभावप्रतिबन्धसिद्धौ शशविषाणप्रतिबन्धादेर्नावकाशः पशुत्वादेर्विषाणव्याप्तिसिद्धौ शशविषाणादेरिष्टत्वात् तदसिद्धौ व्याप्त्यभावादेव शशविषाणित्वादेः साधकत्वस्य चातिप्रसङ्गादिति। तदेतदाह – **एवं चेति**। अथ प्रतिकूलतर्कमाशङ्कते **नन्विति**। किमयमीश्वरो जीवादृष्टादिहेत्वन्तरनिरपेक्ष एव जगन्ति निर्मिमीते तत्सापेक्षो वा? पूर्वत्र तस्य सर्वविषयनित्यज्ञानचिकीर्षाप्रयत्न वतो देशतः कालतो वा नियामकस्याभावात्। तन्मात्रयत्नसिद्धेः कार्यस्य सर्वत्र सर्वदा प्रसङ्गः। उत्तरत्रापेक्षणीयमेवास्तु कारणमन्वयव्यतिरेकवत्त्वात् कृतमीश्वरेणेति। तत्र निरपेक्षकक्षीकाराभावादेव तत्रोक्तदोषः प्रतिक्षिप्त इति मनसि कृत्वा सापेक्ष पक्षोक्तदोषमुद्धरति – **इति त्विति**। यद्वा इति हेतौ त्विति परिहारो गूढः सत्यमेव निरपेक्ष ईश्वरे दोषः स्यात्। वयं तु तथानभ्युपगच्छाम इति भावः। तत्र शङ्कते – **सापेक्ष इति**। परिहरति – **बालस्येति**। यथा दीपोत्सवे दीपकलिकया क्रीडमाणस्य बालस्यानवधानतः स्वाश्रयस्यैव करस्य दाहः सम्पद्यते। तथा कर्तुः कारणत्वं निराकर्तुमपेक्षणीयमेवास्त्विति वदतो *मीमांसकस्य* बालिश्यात् स्थिरस्य कारकचक्रस्य कारणत्वाभ्युपगमसिद्धान्तो व्याकुप्येत क्षणभङ्गश्च भावानामापद्येत। तथाहि यथा बौद्धः क्षणभङ्गसाधनस्य करणाकरणविरुद्धधर्मसंसर्गस्य त्वयोक्तम-पेक्षणीय सहकारिलाभालाभाभ्यामन्यथासिद्धिदोषमनेनैव न्यायेन परिहरेत्। तर्हि अपेक्षणीयमेवास्तु कारणं कृतमपेक्षिणा स्थिरेणेति तदा मूकीभाव एव भवतः शरणमापद्येत। ततश्च स्थिरस्य कारणचक्रस्य कारणत्वासिद्धेः सहकारिवादभङ्गेन क्षणभङ्गवाद एवोत्तिष्ठते। अत्र जगच्छब्देन कारणमुच्यत उत माभूत्तस्य स्थिरस्य जगतः कारणत्वं भवतु क्षणभङ्ग इति प्रत्यवतिष्ठमानस्य सौगतस्य किमुत्तरं देयमिति चेत्तत्राह – **ओमिति**। प्रथमे परिच्छेदे। किञ्चिद्व्याचष्टे कर्तुरपलापेन नियोगमन्तरेण कारणान्तराणां प्रवृत्तेर्जगतोऽकारणकत्वं प्रसज्येत। स्थिरपक्ष एव कारणानामन्योन्यापेक्षसंभवात् स्थेमजगदुक्तमस्त्वकारणकत्वमेवेति चेत्तत्राह – **ओमिति**। *सौगतस्येति।* स्वभाववादिनोऽत्रानभिधानमिति तद् दुष्टमनादेशिकत्वा-न्न्यायाननुगुण्याच्चेति आत्मीयन्यायस्यागमसंवादेन शुद्धिमितरस्य तद्विवादेनाशुद्धिं दर्शयिष्यन् आगसंवादावश्यंभावं तावन्मनुवचनेनाह–**आर्षमिति**। स्वकीय परकीययोरागमसंवादविसंवादौ स्त इत्यत्राह – **तमिति**। प्रागेव निर्णयमिति शेषः। संवादिनमागममुदाहृत्य व्याचष्टे – **विश्वत इति**। कथं विश्वतश्चक्षुरित्यनेन सर्वज्ञत्वमुच्यत इत्यत्राह–**चक्षुषेति**। कार्ये कारणोपचारात्। एवमुत्तरत्रापि पतन्तीति

व्युत्पत्त्येति शेषः। व्यवहितोपसर्गसंबन्ध इति **व्यवहिताश्चेति**। स्म ते धमतीति वह्वृचानां पाठः। तत्रध्मा शब्दाग्निसंयोगयोरिति संयोगविशेषवाचिनोऽपि ध्माशब्दस्य संयोगमात्रपरत्वं धमतिजायत्योर्विभक्तिव्यत्ययं च मन्वानः पतत्रे संयोगं जनयन् समुत्पादयतीति वाक्यार्थ इत्याह – **तेनेति**। *यजुर्वेदिनस्तु* नमतीति अधीयते। तत्राप्ययमेवार्थः। **अधस्तादिति**। सप्तलोकोपलक्षणमित्यनुषङ्गः इत्यस्मिन्नर्थे *गीतासु* भगवद्वचनमुदाहरति **अहमिति**। ब्रह्मादिप्रतिपादकाः 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदि'त्येवमादयः। सर्वेऽप्यागमाः सर्वज्ञं कर्तारं प्रतिपादयन्तस्तदभाववादं विसंवदन्त एवेति। तदेवं निरस्तसमस्तान्तरायेण कार्यत्वलिङ्गेन सामान्यावलम्बवृत्तेन विश्वाधिष्ठातरि सिद्धे विश्वदेवत्वं तस्य तत एव पक्षधर्मतासहायात् सिद्ध्यति।

कथं सर्वथानुपलब्धस्य विधानं कुत्र चिल्लब्धस्वरूपस्यान्यत्र विधानयोग्यत्वादिति चेत्, व्याप्तिपक्षधर्मताबलेन साधनसामान्यात् साध्यसामान्य-विधानोपक्रान्तबलादेवापर्यवसानेन विशेषस्यापि सिद्धेः। को हि ब्रह्माण्डादिद्व्यणुक पर्यन्तकार्यपक्षीकरणे शब्दार्थः। सकर्तृकमिति यदि तत्कारणपरमाण्वादिज्ञानं तस्य न स्यात्। नहि तस्य कलितशक्तिकारकप्रयोक्तृत्वादन्यत् कर्तृत्वं नाम, नापि परमाण्वादिभ्योऽन्यत् कारणं यतः सामान्यविधिः सवर्ज्ञमन्तरेण पर्यवस्येत्। अस्मादिवदसौ सर्वज्ञः स तु नित्यसर्वज्ञ इति कुतः, पर्यवसानादेव। को हि सर्गादिकार्यपक्षीकरणे शब्दार्थो बुद्धिमद्धेतुकमिति यदि तत्काले शरीराद्यनपेक्षं ज्ञानं न स्यात्। स हि सकलकार्यविषयविरहोपलक्षितः कालः सोऽयमधिकरणसिद्धान्तन्यायः कुत्र सिद्धौ सर्वज्ञसिद्धेः। अतएव धूमादनुमानादिषु उपलब्धचराणां विशेषाणां साध्यधर्मिण्यसंभवात् तद्वति विशेषानुगुणः कश्चिद् दृष्टपर एव विशेषोऽग्नित्वादिसामान्यायत्त सिद्ध इति शब्दो विसंबन्धग्रहण समयानुभूतविशेषव्यतिरेकेण प्रमाणसमये समभिव्याहृतपदार्थान्तर संसर्गयोग्यमदृष्टचरमपि गोत्वादिसामान्याश्रयं विशेषं प्रतिपादयति। अत एव सामान्यसङ्गतिबलप्रवृत्तस्यापि पदस्य स्वर्गादिपदान्तरसमभिव्याहारेणालौकिक-पूर्वकार्यस्याभिधानं केचिद् वर्णयन्ति। तदेवं सामान्यव्याप्तिरेवात्र पक्षधर्मता सहायमवाप्यापर्यवसानद्वारेण जागरूकेति कार्यत्वादेव कर्तृत्वनित्यसर्वज्ञसिद्धि गीर्वाणशापेनापि न निरोद्धुं शक्येति कृतं विस्तरेण।।३।।

आयोजनात् खल्वपि स्वातन्त्र्ये जड़ताहानिः .... अत्राप्यागमसंवादः। पृ० २१९-२२३।

अतः परम् आयोजनादिति हेतुमनुसन्दधानः प्रतिवन्धासिद्धिं तावदुद्धरन्न-नुकूलतर्कमाह – **स्वातन्त्र्येति**। चेतनाधिष्ठाननिरपेक्षाणामेव परमाण्वादीनां कार्योत्पादनप्रवृत्तौ तेषां जडता अचैतन्यं हीयेत, चेतनानामेव स्वातन्त्र्यप्रवृत्तिदर्शनात् दहनपवनाभ्यामेव क्षेत्रज्ञादृष्टप्रेरिता एव ते प्रवर्त्त्यन्ते, किं चेतनेनेत्यत उक्तम्–**नादृष्टमिति**। सत्यमदृष्टं कारणपरं दृष्टस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धस्य चेतनाधिष्ठानस्य कारणत्वं न विहन्ति, प्रत्युत दृष्टोपहारद्वारेणैवादृष्टं कारणं भवति, अन्यथा घटादेरपि तावदुत्पत्तिसंभवप्रसङ्गः अनादयस्तु पक्षभूता इति भावः। अत्रापि कार्यलोपप्रसङ्गं स्मारयति – **हेत्वभाव इति**। अचेतनक्रियायाश्चेतनाधिष्ठानहेतुत्वादिति।

ननु चेष्टात्मकस्य क्रियाविशेषस्यैव चेतनाधिष्ठानपूर्वकत्वम्, न तु क्रियामात्रस्य इत्यत उक्तम् **विशेषस्त्विवति**। अवधारणे भिन्नक्रमः। क्रियाविशेषश्चेष्टात्मको भोक्तृबुद्धिमत्पूर्वकत्वविशेषवानेव प्रयोज्यतयेति शेषः। बुद्धिमत्पूर्वकत्वसामान्यवानिति अनुग्राह्यत्वेनाभिसंहितं प्रयोगं तावदाह – **परमाण्वादय इति**। पूर्वार्धं गतार्थत्वादुपेयम्। तृतीयं पादं व्याचष्टे – **अन्यथेति**। तुरीयं पादं व्याचिख्यासुः शङ्कते – **क्रियाविशेषेति**। चेतनाधिष्ठितलक्षणोऽयमर्थः। क्रियाविशेषपर्यवसायी प्रयोज्यत्वेन न तु क्रियामात्रप्रयोज्यत्वमिति उक्तमेव विशेषतो विशदयति – **चेष्टा हीति**। प्रयत्नपूर्विकां चेष्टां विकल्पयति – **अथेति**। उभयत्रापि दोषमाह – **तन्नेति**। पूर्वत्र साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयसमवायिनी क्रिया विवक्षिता स्यात्। उत्तरत्र तु यस्याः प्रयत्नाः करणमात्रं न त्वसमवायीति परम्परयाधिष्ठेयसमवायिनी क्रिया विवक्षिता तत्रोभयत्रापि प्रयत्नाधिष्ठानपूर्विका क्रिया प्रयोजिकेत्युक्तं भवेत्। साध्यं च परमाण्वादिक्रियाणां चेतनप्रयत्नाधिष्ठानपूर्वकत्वमेवेति साध्यस्यैवोपाधित्वमिति चेष्टात्वमन्यथा शङ्कते – **अथेति। नेति**। विषभक्षणादयोऽपि हि चेष्टानधिष्ठानपूर्वक इति – **इष्टानिष्टेति**। विषभक्षणादिषु विहितत्वाद्यभावे – ऽपीष्टत्वादिकमस्त्येवेति विकल्प्य दूषयति – **कर्त्तारमिति**। कर्त्तुरीश्वरस्य क्षेत्रज्ञानुजिघृक्षया बुभुक्षया चान्येषां जगत्सृष्टेरिष्टत्वेन साधना व्यापकत्वादनुपाधित्वमिति साध्यव्यापकत्वं च नास्तीत्याह – **भ्रान्तेति**। भ्रान्तसमीहाया अतथाभूताया अपि चेतनाव्यापारापेक्षणाम् – **शरीरेति**। शङ्कोत्तरे सुगमे। **जीवत इति**।

शरीरसमवायिक्रियात्वमित्यनुषज्यते। नेति। न हि तस्य चेतनाधिष्ठानमिष्यत इति। **स्पर्शवदिति।** क्रियार्थत्वमित्येतावन्मात्रस्यानुषङ्गः। नेत्रबाहुस्फुरणादयः स्पर्शवद्वायुप्रयोज्या इति भावः। **ज्वलनेति।** यथाभावश्चेतनाधिष्ठानपूर्वकत्वमिति। **शरीरस्येति।** न च ज्वलनादयः शरीरमिति, चेष्टयैव लक्ष्यमाणं शरीरं कथं तस्या एव लक्षणं भवेत्, अन्योन्याश्रयप्रसङ्गादिति। **सामान्येति।** क्रियात्वसामान्यस्य विशेषश्चेष्टात्वं तस्य चोपलक्षणं प्रयत्नपूर्वकत्वोन्नेयकत्वं न तु शरीरमिति। तर्हि पक्षीकृतायां परमाण्वादिक्रियायामपि तदुपलक्षितस्य क्रियाविशेषस्याभ्युपगमात् साधनव्यापकत्वमिति। **भोक्तृबुद्धीति।** यतः क्रियाविशेषादिकं फलभोक्तृत्व-बुद्धिपूर्विका क्रियेत्युन्नीयते, सा चेष्टा सैव चेतनव्यापारपूर्विका न त्वचेतनक्रियामात्रमिति। अत्र विशेषस्तु–विशेषवानित्येतदवतारयति–तर्हीति। तस्य तर्हि क्रियाविशेषस्य भोक्तृबुद्धिपूर्वकत्वविशेषमेव प्रति प्रयोजकत्वं स्यात्, न तु चेतनव्यापारापेक्षत्वमात्रं प्रतीति स्पष्टम्। शिष्टमित्यनेनैव विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकत्वप्रतिपादनेन परमाण्वादयो न साक्षात् चेतनाधिष्ठिताः प्रवर्त्तन्ते, शरीरेतरत्वात्र यदेवं न तदेवं यथा शरीरमित्यादेः सत्प्रतिपक्षस्य मूले निहितः कुठार इत्याह – **एतेनेति।** शरीरत्वं भोक्त्रधिष्ठितत्वे प्रयोजकम्, न तु चेतनाधिष्ठानमात्र इत्यर्थः। चेतनाधिष्ठितमेवाचेतनं प्रवर्तत इत्यत्राप्यागम-संवादोऽस्तीत्याह – **अत्रापीति।**

यदा देवो जागर्ति .... अप्यागमा व्याख्याताः। पृ० २२३-२२६।

कथं नित्यसर्वज्ञस्य जागरणादिसंभव इत्यत आह – **अत्र जागरेति।** ननु चेतनस्येश्वराधिष्ठानमात्रत्वं श्रूयते, नाचेतनस्य परमाण्वादेरित्यत आह – **ईश्वरप्रेरणायामिति।** कथं स्वर्गनरकयोः प्रेरणायां सर्वत्रेश्वरप्रेरणा सिद्ध्यति। तत्राह – **स्वर्गेति।** एवं व्याख्याने प्रमाणमाह – **एतदेवेति।** प्रकृतिः परमाण्वादयः चराचरशब्दश्च सुखदुःखसाधनमात्रपरः कथमीश्वरप्रेरणायां संवादं दर्शयति इत्यत्राह – **न हि केवलमिति।** तत्र संवाद्यं प्रमाणमाह – **यो हीति।** तपामीत्यादि। संगच्छते।

धृतेरिति हेतुमुपादाय यथा तत ईश्वरः साध्यते तथाह – **धृतेरिति।** विहङ्गमादिसंयुक्तद्रव्यैरनैकान्तिकत्वं सर्वान्तर्भावेन परिहरति – **परम्परयेति।** लोकपालानां जगद्धारकत्वं प्रतिपादयद्भिरप्यागमैरयमर्थोऽनुगम्यत इत्यत आह– **एतेनेति।**

ननु आत्मैवेदं सर्वमित्यादीनि श्रुतिशिरांसि सर्वं तादात्म्यमीश्वरस्य घोषयन्ति। कथं धारकत्वमुच्यते, भेदाधिष्ठानत्वात्तस्येत्याह – **सर्वावेशेति**। यद्वा कथमिन्द्रादिभेदप्रतिपादका आगमा मुख्यार्था अभेदागमविरोधादित्याह – **सर्वावेशेति**। आवेशो नाम ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नवतः संयोग इति स्वयमेव व्याख्यास्यतीति। कथमेकस्यैव सर्वांशैः कथं वा तन्निबन्धनस्तादात्म्यव्यवहार इत्यत्राह – **यथा हीति**।

ननु जलभरितस्य नभो भागभागो जलधरपटलस्येवादृष्टादेव धारणोपपत्तौ किं प्रयत्नाधिष्ठानेनेत्याह – **अदृष्टादिति**। **नेति**। अदृष्टं कारणमेव न तु तन्मात्रं तत्सद्भावेऽपि विहङ्गमस्थितेः प्रयत्नान्वयव्यतिरेकानुविधानेन तस्यापि कारणत्वात्। कारणत्वे च तस्मिन्नदृष्टरूपः कारणैकदेश उपाधिर्न भवति। उपाधित्वे वा तस्यापि कारणान्तरोपाधित्वेनाकारणत्वप्रसङ्गादिति – **शरीरस्थितिरेवमिति**। विधारकप्रयत्नापेक्षिणीति शेषः। **नेति**। शरीरेतरस्यैव प्राणवायोरिन्द्रियाणां च स्थितेः प्रयत्नपूर्वकत्वस्येष्टत्वात्। अन्यथा प्राणायामाद्युपदेशवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति। एतच्च विशेषस्तु–विशेषवानिति न्यायेन निरस्तपूर्वमेवेत्याह – **प्राङ्न्यायेनेति**। शरीरस्थितिभोक्तृधारकप्रयत्नपूर्विका स्थितिमात्रं तु धारकप्रयत्नपूर्वकमित्यर्थः। ईश्वरस्य विधारकप्रयत्नेनाधिष्ठितं ब्रह्माण्डमित्यत्राप्यागमसंवादं दर्शयति – **अत्रापीति**। उत्तरार्थसंवादं स्पष्टयन्नागमं व्याचष्टे – **अत्र प्रशासनमित्यादि**। **दण्डभूत इति**। विधारक इति यावत्। **एतेनेति**। कूर्मादिरूपिणा भगवता ब्रह्माण्डमाध्रियत इति प्रतिपादयन्तोऽप्यागमास्तस्य धारकप्रयत्नाधिष्ठितत्वं संवदन्तीति। धृत्यादेरित्यादिशब्दोपात्तं हेतुमाह – **संहरणादिति**। यथा ततः संहारसिद्धिः तथा प्रयोगेण दर्शयति–**ब्रह्माण्डादीति**। स्पष्टम्। न च विनाशविशेषप्रयुक्तं प्रयत्नपूर्वकत्वमणुनाशस्त्वन्यथा भविष्यतीति वाच्यम्। प्राङ्न्यायेनापास्तत्वादिति भावः।

पदात् खल्वपि। कार्यत्वान्निरूपाधित्वम् ..... इत्यादि यजूंषि बोद्धव्यानि। पृ० २२७-२२९।

क्रमप्राप्तं पदादिति हेतुमुपादत्ते – **पदादिति**। धृतिविनाशयोर्निरूपाधित्वमुक्तम्। कार्यत्वदृष्टान्तेन स्पष्टयन्नुपात्तस्य पदस्यावशिष्टपदानां च हेतूनामेकोद्यमेन निरुपाधित्वमाह – **कार्यत्वादिति**। हेतोर्निरुपाधित्वमेवं धृतिविनाशयोरपि निरुपाधित्वम्। यद्वा धृतिविनाशयोरेतं कार्यत्वात् प्रयत्नकार्यत्वस्य

सिद्धे निरुपाधिकत्वमित्येकप्रसरेण योजना। अस्यापि पदस्य स्वसाध्येन विच्छेदेन स्वतन्त्रपुरुषपर्यवसानात्मना संबन्धे निरुपाधित्वम्। यद्वा पदस्य निरुपाधित्वमित्यनेन संबन्धः।

ननु पदं वृद्धव्यवहारः सत्त्वादिमान्स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकः अनादिस्त्वयमन्यथा भविष्यतीत्याह – **विच्छेदेनेति**। प्रलयेन नानादिमत्त्वमित्यर्थः। प्रत्ययश्रुत्यादेरपि पूर्ववन्निरुपाधित्वमित्यर्थः। पदशब्दस्य विवक्षितार्थमुक्त्वा तत ईश्वरसिद्धिं प्रयोगचतुष्टयेनाह – **पदशब्देनेति**। आदर्शनैरपेक्ष्येण कर्तृत्वं स्वातन्त्र्यं बालानां लिपिव्यवहारस्य दृष्टान्तो यन्त्राक्षरवदिति। तत्क्रमव्यवहारस्य तु पाणिनीयवर्णक्रमनिर्देशः अइउणित्यादिः। उपाधिमाशङ्कते – **आदिमानिति**। **एवमिति**। स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्त इत्यर्थः। **नेति**। तस्य व्यवहारानादित्वस्येति। असिद्धिमेवाह – **आदिमत्तामिति**। व्यवहाराणामादिमत्वे संसारस्याप्यादिमत्व-प्रसङ्ग इत्यत्राह–**न चैवमिति**। व्यवहारादिमत्वेऽपि संसारादिमत्वस्य विरोधाभावमेव दृष्टान्तेनाह – **न हीति**। पूर्वपूर्वभवपरं परोपार्जितकर्माशयपरवशानेव प्राणिनः सृष्ट्वा व्यवहारप्रवर्त्तनोपपत्तेर्न संसारस्यादिमत्ताप्रसङ्ग इति भावः। **अस्त्विति**। न तु ततः सर्वज्ञसिद्धिरिति। अशक्यतामेवाह – **कल्पादाविति**। अद्यत्वे हि निपुणतरा अपि शिल्पिनः कमप्यादर्शमालोच्य तदनुसारेणापूर्व-नैपुण्यनिर्माणाय प्रभवन्ति। सर्गादौ तु सर्वेषामप्यव्युत्पन्नत्वेन व्यवहारादर्शस्याभावेन कथमयं व्यवहारान् प्रवर्त्तयेत्। अथापि वा शक्तौ स एवास्माकमीश्वर इति भावः।

ननु कल्पादिरेवासिद्ध इत्यत्राह – **साधितौ चेति**। सत्प्रतिपक्षत्वमाशङ्कते– **नन्विति**। यद्धि कार्यं शरीरे सति भवति असति च न भवति तस्मिन् व्यवहार-प्रवर्त्तनादौ ईश्वरस्यापि शरीरत्वादसिद्धमशरीरित्वमित्याह – **नेति**। किमीश्वरोऽपि शरीरवानित्यत्राह – **गृह्णातीति**। स खल्वीश्वरस्येच्छामात्रकल्पितनिखिल-भुवनभवनपालनविलयनलीलोऽपि लोकमर्यादामनतिक्रमकर्माणस्तत्कार्यानुकूल-शरीरमुपादान एव तत्र कर्त्ता भवति तथा कुर्वन्नेव मध्ये मध्ये [ऐश्वर्य] वशाद्दर्शयति चात्मनः परमाद्भुता विभूतिः–यथा भगवान् देवकीतनयः पाण्डवसन्देशहारी दुर्योधनसभायामात्मनो विभूतिं प्रदर्शयाम्बभूव। तथा अर्जुनसारथिर्युद्धारम्भे रथोपस्थमास्थितोऽपवर्गमार्गमर्जुनायोपदिशन्नात्मनः सर्वात्मभावेन परमैश्वर्यं दर्शयामासेति। व्यवहारमूलत्वेऽपीश्वरस्यागमसंवादमाह – **अत्रापीति**। पितृत्वादिना शब्दव्यवहारमूलत्वं दर्शितम्। **यदि ह्ययमिति**। कर्मकर्तृत्वेन क्रियाव्यवहारस्य

मूलत्वमाह – **लोका इति**। लोक्यन्त इति प्रमाणिका व्यवहारा उच्यन्ते इति न परं स्मृतिः वेदोऽपि तस्य लोकव्युत्पत्तये सर्गादौ कुलालादिरूपेण कर्तृत्वं संवदतीत्याह–एतेनेति। घटादिव्यवहारस्य स्वतन्त्रपुरूषपूर्वकत्वप्रतिपादनेनेत्यर्थः।

प्रत्ययोऽपि। प्रत्ययशब्देनात्र ...... अनैकान्तिकत्वं वा हेतोः।

पृ० २३०-२३४।

प्रत्ययादिति। हेतुमवतार्य प्रत्ययशब्दार्थमाह – **प्रत्ययादिति। प्रत्ययः** समाश्वासः। तेन तद्विषयमप्रामाण्यं लक्षयति विषयो हेतुरत एवाह – न हि प्रमाण्यप्रत्ययं विना क्वचित्समाश्वास इति हेतुहेतुमद्भावसंबन्धश्च लक्षणाबीजमिति यथा तत ईश्वरसिद्धस्तदाह – **तथा चेति**। सम्प्रदीयत इति सम्प्रदायः ततश्चा ...... नुष्ठाप्य ...... नार्थश्चा ...... इत्यर्थः।

ननु [अ]यमागमसम्प्रदायस्तत्समाश्वासादेवोत्पद्यते, कुतः कारणगुणः सिध्येदित्यत्राह – **न हीति**। ननु प्रमाणत्वमसिद्धमित्यत आह – **न चेति**। ततोऽपि न चाप्रतीतौ प्रामाण्यस्य पारलौकिकपरे कर्मणि प्रज्ञावतः प्रवृत्त्युपपत्तिरित्यर्थः। ततोऽपि किमित्याह – **न च स्वत इति**। न चासिद्धौ हेतुरित्याह – **न च नेदमिदमिति**। अस्तु तर्हि लौकिकः कश्चिदागमस्य कारणं सन्तु तद्गुणा एव प्रामाण्यस्य कारणमित्यत्राह – **न चासर्वज्ञ इति**। उक्तं ह्येतत्ततोऽन्यस्मिन्ननाश्वासादिति।

श्रुतेरिति हेतुमुपादाय ततः सर्वज्ञसिद्धिमाह – **श्रुतेः खल्विति**। वेदत्वादित्यर्थः। संभवति च परिगृहीतविग्रहस्य भगवतो वेदप्रणयनं वचनशक्तौ सत्यां परार्थैकतानत्वात्। यो हिताहितविभागं विद्वानपरार्थैकतानाभिप्रायः संस्थानकरणपाटवे सत्यविदुषे अवश्यमुपदिशेत् यथान्धाय दक्षिणेन याहि वामेन मा गा इति पृथग्जनोऽपि किमुत परमकारुणिकः परमेश्वर इति।

ननु सर्वज्ञप्रणीतत्वं सर्वज्ञकर्तृकत्वं तच्च दूर्वादिष्वप्यस्तीति सपक्षस्य सत्वात् कथं व्यतिरेकितेति चेत् न, निश्चितसाध्यधर्मवत एव सपक्षत्वाद्दूर्वादेश्च तथात्वनिश्चयादिति वेदत्वे हेतुं विकल्प्य दूषयति – **किमिदमिति**। विप्रलम्भवाक्यस्याप्यदृष्टविषयत्वात् पक्षविपक्षयोरेव वृत्तेर्विरुद्धत्वमिति, तर्हि प्रमाणे पूर्वकत्वेन विशेषयिष्याम इत्याह – **अदृष्टविषयप्रमाणेति**। सर्वज्ञप्रणीतत्वसिद्धेः प्राक् प्रामाण्यविशेषणासिद्धेरिति प्रामाण्यमङ्गीकृत्याह –

मन्वादीति। असर्वज्ञप्रणीतमन्वादिवाक्यगतत्वेन विरुद्धो हेतुरिति। यद्वा *बौद्धस्योत्तरमसिद्धेरिति* विरोधादिति तु *मीमांसकस्येति* स्वाभिमतं वेदत्त्वमाह – अनुपलभ्यमानेति। यस्य वाक्यस्य वक्तृव्यतिरेकेणान्यद्वाक्यादिमूलं नोपलभ्यते महाजनपरिग्रहश्चास्ति। तस्य वाक्यस्य वेदत्वमिति तस्य तर्हि प्रमामूलत्वमेव सिध्येत् न तु सर्वज्ञमूलत्वमिति चेत्तत्राह – न हीति। धर्माधर्मयोरसामर्थ्यात्तस्येति विभ्रमविप्रलिप्सामूलत्वं तु उक्तरूपस्य वेदस्य नाशङ्कनीयमेवेत्याह – नापीति। अस्तु वा स्वाध्यायरूपपरम्परैव मूलमित्यत्राह – नापीति। तदेव श्रुतिरिति हेतुः केवलव्यतिरेकतया व्याख्यातः।

अथ वाक्यत्वादिति हेतुमन्वयित्वेन व्याचष्टे-अन्वयतो वेति। स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वं पौरुषेयत्वं स्वातन्त्र्यञ्च पदानुपूर्वीकरणे तज्जातीयानुपूर्व्यन्तरदर्शननैरपेक्ष्यमिति सत्प्रतिपक्षत्वामाशङ्कते – अस्मर्यमाणेति। अभियुक्ततमानामेव कर्तृस्मृतेरसिद्धो हेतुरित्याह – नेति। श्रुतिमनुक्त्वा ततः पाठस्मृत्युपन्यासो हेत्वसिद्धेरुपक्रान्तत्वादिति – अर्थवादेति। ततश्चान्यपरत्वात् वार्थे प्रमाणमिति। नेति। न तावदेषामर्थवादत्वं विध्यैकवाक्यत्वाभावात्, अथवादत्वेऽपि तेभ्योऽस्माकं जायमानं कर्तृस्मरणं न विध्यर्थं विध्यन्तरोपयोगितया वाक्येनाप्रतिपाद्यमानत्वात्। न च प्रामाण्याभावः तथापि तदप्रामाण्ये दुःखेन यन्न सम्भिन्नमित्यादेरप्यप्रामाण्यात् स्वर्गादयो दत्तजलाञ्जलयः स्युः। तथा चेति। जायमानस्यैव कर्तृस्मरणस्याविवक्षाकारणाभावेऽपि विवक्षापह्नवे सति कालिदासादेरपि स्मरणमपह्नूयेत। अविशेषादिति। ततः किमित्याह – एवं चेति। यद्यस्मर्यमाणमेव तत्कर्तारमङ्गीकुर्यात्। तत्राह – अनैकान्तिकत्वमिति।

प्रमाणान्तरागोचरार्थत्वात् ...... उक्तोत्तरत्वात्। पृ० २३४-२३७।

अन्यथा सत्प्रतिपक्षत्वमाह – प्रमाणान्तरेति। केवलव्यतिरेकिणोऽस्य लौकिकवाक्यं दृष्टान्त इति हेतुं विकल्प्य दूषयति – नेति। किं प्रणेतुः प्रमाणान्तरागोचरत्वहेतुः श्रोतुर्वा पूर्वत्रासिद्धो हेतुरीश्वरप्रमाणविषयत्वाद्वेदार्थस्य उत्तरत्रानैकान्तिकत्वमिति तदेवाह – आकस्मिकेति। दृष्टस्वकारणासन्निधानरूपमाकस्मिकत्वं स्मृतस्योक्तम्, तत्सन्निधौ तु तत एवानुमानादितरैरपि कारणविशेषो ज्ञायेतेति।

ननु वेदार्थविषयविज्ञानस्य हेत्वभावनिराकृतत्वादज्ञातार्थस्य वक्तृत्वासंभवात् प्रमाणबाधित एव वक्ता वेदस्येत्याह – वक्तैवेति। तदाहुः – हेत्वभावे

फलाभावात् प्रमाणेऽसति न प्रमा चक्षुराद्युक्तविषयं परतन्त्रं बहिर्मन इति। नेति। **गतम्**। किञ्च कारणाभावः कार्यमेव ज्ञातं निवर्त्तयितुमीष्टे न त्वकार्यमिति। नित्येति। आश्रयासिद्धिपरिहारेण बाधकान्तरमाह – **परमाण्वादय** इति। नेति। परमाण्वादिदर्शित्वेनास्मदभिमतस्य तददर्शनसामग्रीराहित्यमसिद्धमेव, ततोऽन्यमर्वाचीनं प्रति तु तेषामप्रत्यक्षत्वमिष्टमेवेति उपाधिमाशङ्क्य निराकरोति तथापीति। अनुपाधित्वं च सुगताद्यागमेषु साध्यसमव्याप्त्यभावात्। प्रमाणवाक्यस्येति। पौरुषेयत्वमित्यनुषङ्गः। अन्यं प्रत्यनाशङ्कनीयत्वात् प्रणेतारं प्रतीति कृत्वा आह – नेति। साध्यानुप्रवेशमेव दर्शयितुं साध्यं पौरुषेयत्वं तावद्विविनक्ति **स्वतन्त्रेति**। ततः किमित्याह – **अर्थप्रतीतिः**। न हि वक्तुः केवलौ विविक्षाप्रयत्नौ स्वातन्त्र्यम्, किन्तु प्रमाणान्तरजन्याया वाक्यार्थविषयायाः प्रतीतेस्तदेकविषयौ ततश्च प्रणेतुः प्रमाणान्तरगोचरार्थत्वस्य पौरुषेयत्वशरीरानुप्रवेशादनुपाधित्वमिति।

किञ्चेदं प्रमाणान्तरगोचरार्थत्वं, किं शब्देतरप्रमाणगोचरार्थत्वं, मानान्तरगोचरार्थत्वमात्रम्वा! (मूलभूतमानान्तरगोचरार्थत्वमात्रम् मूलभूतमानान्तरगोचरार्थत्वम्वा)। तत्र नाद्यः, साध्याव्यापकत्वादित्याह – **मन्वादीति**। द्वितीयमाशङ्क्य साधनव्यापकतयानुपाधित्वमाह – **प्रयुज्यमानेति**। तृतीयमाशङ्क्य साध्यानुप्रवेशादनुपाधित्वमाह – **अस्त्वेवमिति**। उत्तरोत्तरर्त्विक्प्रणेतृप्रमाणान्तरगोचरार्थत्वस्य साध्यानुप्रवेशादित्यनेनेति। यद्वा साधनव्याकत्वादनुपाधित्वम्। उक्तोत्तरत्वादिति। प्रणेतृमूलभूतप्रमाणान्तरागोचरार्थत्वस्यासिद्धेरित्यनेनेति। अयं च प्रयोगः–वेदवाक्यपरम्परा, आदिमती, वाक्यपरम्परात्वात्, कुमारसम्भवादिवाक्यपरम्परावदिति। यद्वेदाध्ययनमित्यादिकं गर्भस्रावेण गतमिति।

संख्याविशेषात् खल्वपि .... रसमाधेयत्वप्रसङ्गात्। पृ० २३७-२४१।

अथ संख्याविशेषादिति हेतुमवतारयति – **संख्याविशेषादिति**। हेतुमवतारयति – **संख्याविशेषादिति**। हेतुत्वाभिमतसंख्याविशेषसिद्धये तत्साधकं लिङ्गं तावत्साधयति – **द्व्यणुकेति**। तयोः परिमाणकारणत्वेन संख्याविशेषसिद्धिं विवक्षन् तस्य कार्यतामप्याह – **तच्चेति**। अथ परिमाणकारणत्वेन रूपादीनां प्रसङ्गात् प्रसज्यमानानां च कारणसंख्यापरिमाणप्रचयानां मध्य संख्याविशेषमेव विशेषयितुमितरयोः कारणत्वं निराकुर्वन् परिमाणस्य तावन्निराचष्टे – **न च तस्येति**। तस्य द्व्यणुकत्र्यणुकयोः परिमाणस्य परमाणुपरिमाणं परमाण्वोः संबन्धि

यत्परिमाणमणुत्वं परमाणुगतं द्व्यणुकगतं चैतत् कारणं न भवति, द्वयोः परिमाणयोरवान्तरवैलक्षण्येऽपि महत्त्वविलक्षणेनाणुत्वेनैकजातीयत्वं मत्वा परमाणुपरिमाणमिति न निर्देशः। अणुमहद्दीर्घं ह्रस्वं चेति परिमाणस्य चतुर्धैव विभजनात्। अणुत्वस्यैव नित्यानित्यतया द्वेधा विभजनात् द्वयोरणुत्वेनैकजातीयत्वं तत्र परमाणुगतस्यानारम्भकत्वे हेतुः। नित्यपरिमाणत्वादिति। न हि नित्याकाशस्य महत्वपरिमाणस्य महत्परिमाणमारम्भकं दृष्टम्। द्व्यणुकगतस्यानारम्भकत्वे हेतुः। **अणुपरिमाणत्वादिति।** अयमपि हेतुः पूर्वत्र संभवन्नपि दृष्टान्ताभावादनुक्तः, इदानीं तु परमाणूनामणुत्व एव दृष्टान्तः सिध्यतीत्युक्तम्। परमाण्वादौ त्वणुत्वव्यवहारो महत्तरापेक्षया भाक्त इति न व्यभिचाराशङ्केति। परमाणुगतस्यारम्भकत्वेऽनिष्टमाह – **अनाश्रयकार्योत्पत्तिप्रसङ्गादिति।** परिमाणं तु स्वजातीयक्रमेण स्वस्मात् प्रकृष्टपरिमाणारम्भकं दृष्टम् – यथा त्र्यणुकादिगतं महत्त्वं तज्जातीयस्यैव महत्तरतमत्वादेः। तेन परमाणुगतपरिमाणमपि परिमाणस्यारम्भकं सत् स्वस्मात् प्रकृष्टं परमाणुतरं परिमाणमारभेत।

न च तथा सूक्ष्मपरिमाणाश्रयं परमाणुरप्यणुतरं द्रव्यमस्ति। ततश्च परमाणुपरिमाणाज्जायमानं परिमाणरूपं कार्यमनाश्रयमेव जायते, न चानारम्भकपरिमाणप्रयुक्तमाकाशादिपरिमाणस्या[ना]रम्भकत्वं न नित्यपरिमाणत्वप्रयुक्तमिति वाच्यम्। आरम्भकद्व्यणुकपरिमाणस्याप्यनारम्भकत्वेन साध्याव्यापकत्वादिति। द्व्यणुकपरिमाणस्य त्र्यणुकपरिमाणारम्भकत्वेऽनिष्टमाह – **द्व्यणुकस्येति।** कुत इत्याह – **त्र्यणुकवदिति।** द्व्यणुकगतेनाणुत्वेनारब्धस्य त्र्यणुकपरिमाणस्येव परमाणुगतेनाप्यणुत्वेनारभमाणस्य द्व्यणुकपरिमाणस्यापि महत्त्वं भवेदिति, भवेदेवं यदि द्व्यणुकपरिमाणेन त्र्यणुकपिरमाणं महत्त्वमारभ्येत, न त्वेवं किन्तु त्र्यणुकसमवायिकारणानां द्व्यणुकानां, बहुत्वेनारभ्यत इति चेत् सिद्धं नस्समीहितम्। तत्राणुपरिमाणमवधीर्य्य संख्याया एवं कारणत्वाङ्गीकारादित्याशङ्कायामाह – **कारणबहुत्वेनेति।**

ननु परमाणुपरिमाणात् पारिमाण्डल्याद्विलक्षणं द्व्यणुकपरिमाणमणुत्वं नाम यदपेक्षया परममणुत्वं परमाणुत्वस्य। ततश्चाणुत्वारम्भकात् परमाणुपरिमाणान्महत्त्वारम्भकस्याणुकत्वस्य वैलक्षण्याद्द्व्यणुकस्य न महत्त्वप्रसङ्गः इत्याशङ्क्याह – **अणुत्वमेवेति।** तत्राणुत्वस्यैव महदारम्भकत्वाङ्गीकारे तावदनिष्टमाह – **महत इति।** अथात्राणुत्वस्य महदारम्भकत्वमन्यत्र महत्त्वमेव

महदारम्भकमित्यङ्गीकारेऽनिष्टमाह – **अणुत्वमहत्त्वयोरिति**। तदा हि द्वयोरपि व्यतिरेकव्यभिचारादकारणत्वमेव स्यादिति भावः। संख्यामनादृत्य परमाणुपरिमाणेन द्व्यणुकपरिमाणारम्भे द्व्यणुकपरिमाणेन च त्र्यणुकपरिमाणारम्भे क्रमेणानन्तरं दर्शयति – **बहुभिरपीति**। तत्रापि द्व्यणुकत्र्यणुकपरिमाणकारणयोः परमाणुत्वाणुत्वयोः सत्त्वादिति। एवमारम्भे किं स्यादित्याशङ्क्य प्रसङ्गशेषमाह – **एवं चेति**। द्व्यणुककार्यस्य चामहत्त्वप्रसङ्ग इति कुत इत्यत्राह – **कारणबहुत्वस्येति**। अल्पसंख्यैस्तन्तुभिरारब्धाच्च पटात् समानमहत्त्वैरेव बहुसंख्यैरारब्धस्य पटस्य महत्त्वातिशयदर्शनेन कारणबहुत्वस्य महत्त्वहेतुत्वावधारणात्। बहुभिः परमाणुभिराब्धस्य महत्त्वप्रसङ्गः। न स्याच्च द्व्यणुकद्वयारब्धस्य महत्त्वम् कारणबहुत्वाभावादिति भावः। कारणबहुत्वाबहुत्वयोः कार्यत्व महत्त्वामहत्त्वयोरनभ्युपगमे दोषमाह – **अन्यथेति**। द्वाभ्यामिव त्रिचतुरादिभिः परमाणुभिरणुन एवारम्भे त्रिचतुराद्युपादानवैयर्थ्यं स्यात्। द्वाभ्यामपि त्र्यणुकाभ्यां महत एवारम्भे त्रयोपादानवैयर्थ्यं स्यादिति भावः।

ननु बहुभिरपि परमाणुभिरणुन एवारम्भेऽपि न त्रिचतुराद्युपादान-वैयर्थ्यमणुत्वस्यैव तरतमभावेन विशेषसद्भावात् तत्प्रयोजकत्वाच्च त्रिचतुरादेरित्याशङ्क्याह – **अणुन इति**। भावप्रधानो निर्देशः। अणुत्वस्येत्यर्थः। अणुत्वे इति सम्यक् पाठः। तर्हि कारणगतसंख्याविशेषेण कार्यपरमाण-विशेषाभ्युपगमात् सिद्धं नः समीहितम्। द्व्यणुकत्रपस्य च महत्वविशेषप्रयोजकत्वे संख्याविशेषस्य कारणत्वसिद्धिरिति भावः।

ननु यदि बहुभिः परमाणुभिरारब्धस्याणुत्वतारतम्याभ्युपगमे चतुःपञ्चादिभिर्महत्तरमहत्तमादेरारम्भो वक्तव्यः, अन्यथा तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। अस्तु तर्हि महदारम्भ इत्याह – **अस्त्विति**। अस्तु द्वाभ्यामपि द्व्यणुकाभ्यामणुन एकारम्भ इति भावः। नेति। कार्यद्रव्यस्येव महदारम्भकत्वनियमादिति भावः। तत्र च संख्यायाः परिमाणकारणकारणत्वसिद्धिरित्याह – **तथापि वेति**। द्व्यणुके तु प्रसङ्गः सुगम इति भावः। सेयं कठोरमतिभ्य एवं रोचते, न कोमलमतिभ्य इति अन्यथा व्याख्यायते। द्व्यणुकत्र्यणुकयोः परिमाणस्य परमाणुपरिमाणारम्भकत्वे हेतुद्वयमाह – न च तस्य परमाणुपरिमाणं कारणमिति द्वितीयहेतोर्मनः परिमाणमेकपरमाणुपरिमाणं वा दृष्टान्त इति द्व्यणुकत्र्यणुकयोः परिमाणस्य परमाणुपरिमाणकारकत्व एव बाधकान्तरमाह – **द्व्यणुकस्येति**। अथ

त्र्यणुकमहत्त्वस्य द्व्यणुकबहुत्वकारणत्वाङ्गीकारे द्व्यणुकपरिमाणं प्रत्यपि परमाणुपरिमाणं कारणं न स्यादित्याह – **तत्र कारणेति।**

ननु परमाणुपरिमाणाद्विलक्षणमणुत्वं नाम द्व्यणुकपरिमाणं त्र्यणुक-महत्त्वारम्भकारणमित्यत्राह – **अणुमेवेति।**

ननु द्वे अपि यथायोगं कारणं भविष्यतीत्याह – **अणुत्वमहत्त्वयोरिति।** संख्यामनादृत्याणुपरिमाणस्यैवारम्भकत्वेऽनिष्टान्तरमाह – **बहुभिरपीति। परमाणुकार्यस्येति।** कारणबहुत्वस्यान्यत्र महत्त्वकारणत्वेन निरूपितत्वादिति। यदि तु कारणसंख्यावैषम्येऽपि कार्ये परिमाणविशेषो न स्यात्। तर्हि स्थूलकार्योत्पत्त्यर्थं परमाणुभ्यां परमाणुभिर्वा तत्कार्यस्याणोरारम्भो व्यर्थः स्यादित्याह – **अन्यथेति।**

ननु बहुभिरपि परमाणुभिरणुत्वारम्भेऽपि तस्य तरतमभावेनारम्भान्न कारणबहुत्वस्य महदारम्भकत्वं नाप्यारम्भवैयर्थ्यमित्यत आह – **अणुन एवेति।** कारणसङ्ख्याविशेषस्य कार्यपरिमाणविशेषं प्रति हेतुत्वमभ्युपगतं स्यादिति द्व्यणुकगतसंख्याविशेषात् त्र्यणुकपरिमाणारम्भसिद्धये त्र्यणुकपरमाण्वोश्चान्तरा कार्यद्रव्यमवश्यमभ्युपगन्तव्यमिति शङ्कापूर्वकमाह – **अस्त्विति।** समानमितरत् द्रष्टव्यम्। तदेवं परिमाणहेतुत्वं निराकृत्य प्रचयहेतुत्वं निराचष्टे – **न चेति।** न च द्व्यणुकत्र्यणुकयोः परिमाणेन प्रचयः कारणत्वेनापेक्षणीयः कारणप्रचयो हि स्वारम्भकाणामवयवानां प्रशिथिलसंयोगापेक्षः कारणं भवति। यथा द्वाभ्यां तूलपिण्डाभ्यामारब्धे द्वितूलके कार्ये प्रत्येकपिण्डवर्तिनामवयवानां परस्परमेलक-पिण्डवर्तिनां चावयवानां पिण्डान्तर्वर्तिभिरवयवैश्च बहिर्मध्ये च ये प्रशिथिलाः संयोगाः तदनपेक्षस्तूलपिण्डद्वयप्रचयो महत्वमारभते। नैवं परमाणौ द्व्यणुके वा प्रचयः संभवति। परमाण्वोरनवयवत्वेनावयवसंयोगस्यैवाभावात्। अत एव द्व्यणुका-वयवानां परमाणूनां प्रशिथिलावयवसंयोगाभावाच्चेति परिमाणप्रचयो नियतविषयत्वादपि नात्र कारणमित्युपसंहरन्नाह – **तस्मादिति।** महत आद्यमहद्व्यतिरिक्तस्येति। तदेवं प्रसक्तयोः परिमाणप्रचययोर्निषेधात् संख्याविशेषः परिशेषतः सिद्ध इत्युपसंहरति – **अत इति।** परिशिष्यते कारणत्वेनेति शेषः। अनेकसंख्येत्येकसंख्यां व्यवच्छिनत्ति। तस्या अनारम्भकत्वात्। अत्रैवं प्रयोगः द्व्यणुकत्र्यणुकयोः परिमाणं कारणसंख्याकार्यं परिमाणप्रचययोरसंभवे सति कार्यपरिमाणत्वात्, यत्पुनर्न संख्याकार्यं न तदेवं यथा द्वाभ्यां प्रचिताभ्यां

महद्भ्यामारब्धं द्रव्यपरिमाणान्वितं द्वितूलकपरिमाणं चेति। अन्यथा कारणाभावात्कार्यानुत्पादप्रसङ्ग इति। अस्तु संख्याकारणं ततः किमित्यत्राह – **सा चेति**। ततोऽपि किमित्यत्राह – **न चेति**। **परमाणुष्विति**। उपलक्षणं द्व्यणुकेषु चेत्यर्थः। परमाण्वपेक्षाबुद्धिमतः सर्वज्ञस्यानङ्गीकारेऽनिष्टमाह – **अन्यथेति**। **तदिति** द्व्यणुकत्र्यणुकयोः परामर्शः।

नन्वस्मदादीनां परमाण्वादिष्वपरोक्षबुद्ध्यसंभवेऽप्यानुमानिकी भविष्यतीत्याह – **अस्मदादीनामिति**। **नेति**। जातेन हि महत्परिमाणवता कार्येण लिङ्गभूतेन परमाण्वादिष्वानुमानिकी बुद्धिर्भवेत्। तस्यां च सत्यां तन्निमित्तेन द्व्यणुकादिक्रमेण स्थूलद्रव्यारम्भ इति **अस्त्वित्यादि** स्पष्टम्।।५।।

अथवा, कार्येत्यादिकमन्यथा व्याख्यायते उद्देश एव तात्पर्यम् ..... विपक्षे बाधकमुक्तम्। पृ० २४३-२४८।

तदेवं कार्येत्यादिकं श्लोकं प्रसिद्धेऽर्थे व्याख्याय सम्प्रति निपुणतरमतिगोचरेऽर्थे व्याख्यातुमुपक्रमते–**अथ वेति**। वैदिकानां तावदर्थवादानां श्रुतार्थानुपयोगित्वेन प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणे कार्ये तात्पर्यतः प्रामाण्यं वक्तव्यम्, तात्पर्यार्थश्चोद्देश्य इति परिशेषयिष्यते। तेन **तात्पर्यमप्युद्देश एव** स्यात्। स च वक्तुरभिप्राय इति तदाधारपुरुषसिद्धिः। तदेवं कार्यं व्याख्यायायोजनधृती व्याचष्टे – **व्याख्येति**। वेदानां सती व्यवस्थिता व्याख्या सकलतदर्थदर्शिनः संभवतीति। अत्रायोजनं व्याख्यातस्य धृतिर्व्यवस्थितिः, सा च सतीत्यनेनोक्ता। यद्वा धृतिर्नाम सर्वदृक्सर्वकर्तृकं व्याख्यालिङ्गं तदर्थानुष्ठाननिश्चलत्वं तत्र सतीति घृतिः सिध्येदित्यर्थः। पदं व्याचष्टे – **ईश्वरेति**। तत एवानुमानादितरैरपि कारणविशेषो ज्ञायतेति।

तत्राद्यं पादं विवरीतुं भूमिकां तावदारचयति – **आम्नायस्येति**। भव्यार्थस्य विधिनिषेधात्मकस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती साक्षात्कार्ये। भूतार्थस्य साक्षात्प्रवृत्तिनिवृत्तिकार्यत्वाभावेऽपि तात्पर्यतः प्रवृत्तिनिवृत्त्योरेव प्रामाण्यमङ्गीकर्त्तव्यम्। श्रौतार्थमात्रपरत्वे सत्यानर्थक्यप्रसङ्गादिति। अर्थवादस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्योः प्रामाण्यमुपपादयन्नाह – **तथाहीति**। विधिग्रहणमुपलक्षणम्। विधिनिषेधयोर्हि प्रवर्तननिवर्तनकार्यें स्वरसतः सिद्धावपि शक्तिविषयस्य तदात्मकसुखदुःखहेतुत्वादर्शनेन पुरुषं प्रत्यवसीदन्त्यर्थवादैर्लक्षणया स्तुतिनिन्दे प्रतिपाद्य

रुचिद्वेषोत्पादनद्वारेणोत्तम्यत इति उक्तमेवाह – **प्रशस्ते हीति।**

अर्थवादाः विधिनिषेधाभ्यामेकवाक्यानि सन्तस्तदेकप्रयोजनतया प्रवृत्तिनिवृत्त्योरेव तात्पर्यार्थतः प्रामाण्यं प्रतिपद्यन्त इति वक्तव्यम्। तेन तात्पर्यार्थो नाम कश्चिदवश्याङ्गीकर्तव्यः। **शब्दानामिति।** एवमाबद्धायां भूमिकायां विवक्षितुमर्थं निवेशयितुं पदार्थवाक्यार्थाभ्यां तात्पर्यार्थं विवेचयंस्तयोः स्वरूपमाह – **तत्रेति।** पदार्थस्तावन्न तात्पर्यार्थः अभिधानबलायातत्वात्। पदार्थस्य किमित्येवं तात्पर्यार्थो न भवतीत्यत उक्तम् – **पदशक्तिरभिधेति।** अभिधा तावत्पदशक्तिरेव तद्बलायात-पदस्यैवार्थः स्यान्न तात्पर्यस्यार्थो यथा तथोत्तरत्रापि योज्यमिति। तदेवं प्रसिद्धाभ्यां पदार्थवाक्यार्थाभ्यां विलक्षणस्तु तात्पर्यार्थः कीदृश इति चिन्तनीय इत्याह – **तात्पर्यार्थस्त्विति।** विमृश्य निर्णेतुं सम्भावितान् पक्षान् आह – **तदेवेति।** तत्परं यस्य शब्दस्य सः तत्परस्तस्य भावः। तच्च तात्पर्यं यद्विषयं स तात्पर्यार्थः। तच्च परं साध्यप्रतिपाद्यप्रयोजनोद्देश्यानामन्यतमं सम्भवतीति तात्पर्यार्थस्य चतुर्धा सम्भवे सति कोऽसौ तात्पर्यार्थ इति चिन्त्यत इति। न तावत्साध्यं तात्पर्यार्थ इत्याह – **तत्रेति।** प्रमाणं हि शब्दः, तेन हि प्राप्तिकर्मणोऽर्थस्यानुत्पादत्वादिति।

ननु माभूदर्थः साध्यः अन्यत्तु किञ्चित् भविष्यति फलासाधकत्वे प्रमाणत्वस्यैवायोग्यत्वादित्यत्राह – **फलस्येति।** अर्थप्रतिपत्तिः फलं नासौ तात्पर्यार्थः शब्दगोचरत्वात्। **तस्या इति।** प्रतिपत्तिव्यतिरेकेण साध्यमाशङ्कते – **प्रशस्तेति। नेति।** गङ्गायां घोष इत्यत्र हि गङ्गापदस्य तीरे तात्पर्यम्। न च तत्प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं नापि प्रमाणसाध्यमिति।

ननु तीरस्य स्वरूपतः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपत्वसाध्यत्वयोरभावेऽपि तद्विषयप्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थत्वेनैव गङ्गापदेन तीरप्रतिपादनात्तद्द्वारेण तीरस्यापि परत्वं सिध्यतीत्याह – **तीरेति। नेति।** न हि सर्वे शब्दाः प्रवृत्तिनिवृत्त्योरेव विश्राम्यन्तीति न नियम इति नापि प्रतिपाद्यं तात्पर्यार्थ इत्याह – **नं द्वितीय इति।** कुत इत्याह – **पदेति।** तथा च पदार्थवाक्यार्थव्यतिरिक्तस्तात्पर्यार्थो न सिध्येदिति।

ननु पदवाक्ययोश्च स्वशक्तिप्रतिपाद्यपदार्थवाक्यार्थव्यतिरिक्तं तदविनाभावेन प्रतिपाद्यं तात्पर्यार्थ इत्याह – **पदशक्तीति। न हीति।** स्पष्टम्।

ननु यत्र मुख्यार्थस्य बाधोऽस्ति तत्रैवाविनाभूतस्तात्पर्यार्थः स्यात्। यथा – **गङ्गायां घोष इति।** गङ्गायां जलमित्यत्र तु बाधाभावात् न तीरपरत्वमित्याह –

मुख्येति। नेति। असत्यपि मुख्यार्थबाधेऽर्थान्तरतात्पर्यस्य भावादित्यत्रोदाहरणमाह – **तद्यथेति।**

नन्वविनाभावेन प्रतिपाद्यमित्यत्र व्यापकं विवक्षितम्, अतो नोक्तदोष इत्यत्राह–**न च परमिति।** अत्र मञ्चपदस्य क्रोशतो वा पुरुषः तात्पर्यार्थः स्यात्। न च पुरुषस्तयोर्व्यापक इत्यत्राह – **नापि तृतीय इति।** अपेक्षितं हि प्रयोजनं भवति। द्वौ चात्रापेक्षितारौ सम्भवतः प्रतिपाद्यः प्रतिपादकश्चेति कृत्वा विकल्पयति – **तद्धीति।** अपेक्षायाः प्रतिपाद्याधीनत्वेनापेक्षालक्षणे तात्पर्यार्थे भवच्छब्दप्रामाण्यं तदधीनमेव स्यादिति प्रसङ्गमभिधाय विपर्यये पर्यवसानमाह – **शब्दप्रामाण्यस्येति।** अतिप्रसङ्गमेवाह – **यस्येति।**

ननु नापेक्षितमात्रं तात्पर्यार्थः। यतः कदलीफलमपेक्षमाणस्य गामानयेति वाक्यं तत्र प्रमाणं स्यात्, किन्तु तस्य शब्दस्यार्थे साध्यत्वे सत्यपेक्षितं ततो नातिप्रसङ्ग इत्याह – **तदर्थेति। नेति।** तदर्थस्य तावत् कार्यं ज्ञाप्यं चेति साध्यं तावद् भिद्यते। तयोश्च प्रत्येकमनेकभेदत्वादेकस्मिन्नेव वाक्ये तात्पर्यात् तात्पर्यभेदेन वाक्यभेदः स्यादिति। साध्यभेदेन तात्पर्यभेदाद्वाक्यभेदप्रसङ्गमेवोदाहरणेन दर्शयति – **धूमस्येति।**

ननु साध्यत्वे सति प्रतिपाद्यापेक्षितं परमित्युक्तम्। ततश्चात्र साध्यभेदेऽप्यपेक्षातो वाक्यनियमः स्यादित्यत्राह – **चेतनेति।** तत्र सर्वत्रा विचेतनस्यापेक्षायाः सम्भवादिति। तर्हि प्रतिपादकापेक्षितं वाक्यार्थः स्यादित्यत्राह – **नापीति।** वेदे प्रतिपादकस्यैवाभावात् भवतः अस्माकं च तदपेक्षितस्याभावादिति स्वाभिमतं पक्षमुपपादयितुं परिगृह्णाति – **चतुर्थस्त्विति।** तुनापेक्षान्तरोक्तदोषाद्-व्यवच्छिनत्ति। कुत इत्यपेक्षायां लोकप्रवृत्तानुसारत इत्येतदवतारयति – **तथैवेति।** व्युत्पत्तिमाह – **तथा हीति।** अन्यदपि गङ्गावाक्यं तीरोद्देशेन प्रवृत्तं तत्परमिति द्रष्टव्यमिति। ईदृश्यां च लोकव्युत्पत्तौ तदनुसारिणां वैदिकानामेवं तात्पर्यार्थः स्वीकार्यः। अन्यथा त्वेवं तात्पर्यतः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः प्रामाण्यानङ्गीकारे स्वार्थानुपयोगिनामर्थवादानामानर्थक्यमेव स्यादित्याह – **लोकानुसारेणेति।** तदाहुः 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानामिति', (मी.सू. १।२।१) 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युरिति।' (मी.सू. १।२।७।) अस्तूद्देश्यं तात्पर्यार्थः। ततः किमित्याह – **स चोद्देश इति।** यस्य विषयोऽयमुद्देशः स चोद्देशस्तात्पर्यात्मकः प्रणेतृपुरुषधर्मत्वेन प्रसिद्धाध्यवसायादिरूपत्वेन प्रसिद्धत्वात्

सकललोकवेदयात्राधुरन्धरस्य पुरुषस्य सिद्धिरिति। उक्तमर्थं प्रयोगद्वयेनाह – **तथा चेति**। अनयोर्विपक्षे बाधकमर्थवादानां सर्वथानर्थकत्वप्रसङ्ग इत्यत्रैवोक्तमित्याह – **अन्यथेति**।

अपि च नो चेदेवं श्रुतार्थापत्तिरपि हीयेत ..... न त्विदानी न्तनानामिति नियामकमस्ति। पृ० २४८-२५१।

न केवलं तदेव तदन्यदप्यस्तीत्याह – **अपि चेति**। यदि पुरुषाभिप्रायो वेदेन तदा श्रुतार्थापत्ति–र्निर्विषयत्वादेवोत्सीदेत्। वक्त्रभिप्रायस्थस्यैव वाक्यशेषस्य तद्विषयत्वेन परिशेषादिति। न तावदुपपादकवाक्येनैवं वाक्यशेषः सिध्यति। पूर्वसिद्धस्यैवार्थस्य प्रमाणविषयत्वादित्याह – **सिद्धो हीति**। न चान्यतः पूर्वसिद्धिरस्तीत्याह – **न चेति**। न च सतोऽप्ययोग्यत्वादनुपल[म्भ]त्व–स्यैवावधारणादित्याह – **उत्पत्तीति**। *मीमांसका*पेक्षयाभिव्यक्तिः वचनमिति प्रसक्तायास्तत एव सिद्धेः। पूर्वसिद्धेश्च प्रतिषेधात् गत्यन्तरस्य चाप्रसङ्गात् वक्त्रभिप्रायस्थ एव वाक्यशेषः श्रुतार्थापत्ति–विषयत्वेन परिशेषतः सिद्ध इत्याह – **तस्मादिति**। स्यादेवं लोके वेदे तु वक्तुरभावात् कथमभिप्रायस्थो वाक्यशेषः स्यादित्याह – **स चेदिति**। स इत्यभिप्रायस्थोऽभिप्रायवान्वा परामृश्यते श्रुतार्थापत्तिव्युत्पादनं दृष्टः श्रुतो वेति *भाष्यं* दृष्टः। पञ्चभिरप्यस्मात् भेदेनोक्ता श्रुतोद्भवा प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात् पूर्वविलक्षणेति *वार्त्तिकं* च द्रष्टव्यम्। उक्तेऽर्थे कार्यशब्दं संघटयन्नुपसंहरति – **तस्मादिति। आयोजनादिति**। हेतुमुपपादयति– **आयोजनादिति।**

नन्वर्वाचीन एव कश्चिद्व्याचष्टामित्यत्राह – **न चैकदेशेति**। यथानेन न्यायेनानाश्वासस्तदाह – **त्रिचतुरेति**। ऐन्द्रियकार्थत्वे ह्येकदेशदर्शिनाऽप्यर्थ–प्रकरणादिना कथञ्चित्तात्पर्यार्थनिश्चयेनार्थनिश्चयः स्यादित्यत उक्तम् – **अतीन्द्रियार्थादिति**। ततः किमित्याह – **अत इति**। व्याख्यातृत्वेनेति शेषः। तस्मिन् हि सति केचित्तत्सकाशान्निःसंशयं वेदार्थैकदेशानधिगम्य अनन्तरेभ्यो यथार्थमधिगतानंशान् व्याचख्युः। ते च स्वानन्तरेभ्य इत्यवधारणादविगानमेव व्याख्या प्रवृत्तेति कल्पयितुं लभ्यत इति भावः। असति तु तादृशि सकलवेदार्थदर्शिनि सर्वेषां पूर्वपिक्षायामपि संशयानिवृत्तेरन्धपरम्परा तुल्यतैव स्यादित्याह – **अन्यथेति**।

नन्वस्तु तादृश एव प्रवक्ता स तु कल्पकारादिवदनेकेभ्य एवोपाध्यायेभ्यो

वेदादिकमधीत्य धृत्वा श्रुत्वा तदर्थं च स्मृत्वा व्याचष्टाम्, न तु स्वयमेव सर्वमपरोक्षं समीक्ष्येति कृतमीश्वरेणेत्यत्राह – **स चेति**। अस्त्वेवं तथाप्ययं सर्वज्ञ एव सिध्येत्। यद्वास्मदुपपत्तिभिस्त्वदुक्तविपरीतः स्वयमेवापरोक्षीकृतवेदार्थोऽयं भवेत्। ततः सुतरां तत्सिद्धिरिति। त्वदुक्तविपरीतसिद्धावेवोपपत्तिमाह – **को हीति**। अनिश्चितायां चाम्नायस्येयत्तायां न तदर्थनिश्चयः स्यादिति भावः। तदुक्तसिद्धावपि सर्वज्ञसिद्धिमुपपादयति – **को वेति**। उक्तमर्थं प्रयोगमारोपयति – **अत्रापीति**।

नन्वेकदेशदर्शिव्याख्यातादपि ग्रन्थाच्छिष्याणामुपाध्यायश्रद्धयैव वर्तमानानां निश्चलानुष्ठानं दृश्यत इत्यत्राह – **अनुष्ठातृमतिचलनेऽपीति**। अत्रानुष्ठातृणां परीक्षकाणां भावनावाक्यार्थोऽपूर्वं वाक्यार्थः पदार्था वाक्यार्थं बोधयन्ति। पदान्येव वा बोधयन्तीत्यादिमतिभेदेऽपि अविगानेनानुष्ठीयमानार्थत्वादित्यर्थः। तर्ह्ययमेव हेतुरस्तु किं निश्चलानुष्ठानत्वादिति। सत्यम्। पक्षधर्मतासिध्यर्थं विशेष्योपादनमिति *केचित्।* **त्वमिति**। चलनेऽपीति पठन्ति। तत्रानुष्ठातृणां चलनं सन्देहस्याभावो निश्चलानुष्ठानसिद्धये हेतुत्वेनोक्त इति व्याख्येयम्। साध्यानङ्गीकारे वक्तर्यनाश्वसेनार्थस्यानुष्ठानं न भवेत्। अव्यवस्थानादर्थनिश्चयस्याभावात् वाक्यार्थस्यानेकधाप्रतिभानेनाव्यवस्थितमेव वा भवेत्। व्यवस्थितमतिमूलस्योपदेष्टुः पुरुषस्याभावादित्याह – **अन्यथेति**। सन्तु तर्हि पूर्वपूर्वानुष्ठातार एवोत्तरोतरेषामादेष्टार इत्याह – **अनुष्ठातार इति**। **नेति**। तेषां सर्वदर्शित्वेन व्यवस्थितबोधसाम्यादिति – **वेदवदिति**। ततश्च यथानादेर्वेदस्य स्वरूपनिश्चयाय स्वतन्त्रपुरुषापेक्षा नास्ति तद्वदनादिनोऽनुष्ठानस्यापि पूर्वपूर्वानुष्ठावत्प्रत्ययादेव व्यवस्थितानुष्ठानसिद्धेः न स्वतन्त्रपुरुषापेक्षेति। तत्रानादित्वमनुरुध्याह – **तद्धीति**। मूलप्रमाणनैरपेक्ष्यं स्वातन्त्र्यम्। अनियमापत्तिः बोधस्यानुष्ठानस्य वेति पूर्वेषां बोध एव नियामकः स्यादित्यत्राह – **नहीति**।

पदात् खल्वपि। श्रूयते हि प्रणवेश्वरेशानादिपदम् .... बत हन्तेत्यादयो निपाता व्याख्याताः। पृ० २५२-२५५।

अथ पदादिति हेतुं तद्विवरणश्लोकांशव्याख्यानायोपादत्ते – **पदादपीति** व्याचष्टे **श्रूयते हीति**। **कोऽस्यार्थ इति**। किं जीवा एव कर्मद्वारेणेश्वराः ! किं वा राजादयो लोकसिद्धाः ! किं वा लोकोत्तरपदस्य सुखमात्रमर्थः तद्विशेषो वेति ! विमर्शे सति यत्र नोष्णं, न शीतं, न क्षुत्, न तृष्णा पुण्यकृत एव तत्र प्रेत्य गच्छन्तीत्यर्थवादेभ्यो निरतिशयसुखविशेषस्वर्गपदार्थो न तु सुखमात्रमिति निर्णीयते।

तथेश्वरपदार्थोऽप्युत्तमः पुरूष इत्यर्थवादेभ्यो लोकोत्तर इति निर्णेष्यत इति – **यववराहादिवद्वेति।** यथा यववराहवेतसशब्दानामभियुक्तप्रयोगवशेन सामान्यतोऽर्थवत्त्वे सिद्धे प्रियङ्गु किं वार्यप्रसिद्ध्या दीर्घशुकनीवारा इति विमर्शे सति वाक्यशेषेभ्योऽर्थविशेषो निर्णीयते। तथा हि यवमयश्चरुर्भवतीति विधेर्वाक्यशेषः श्रूयते। यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ते अथैते मोदमानास्तिष्ठन्तीति। तत्र हि ओषधिम्लानकाले फाल्गुने मासि यवानां मोदमानत्ववचनात् दीर्घशुका एव यवशब्दार्थो न प्रियङ्गव इति प्रतीयते। प्रियङ्गूनां शरदि पक्वानां फाल्गुनात् पूर्वमेव क्षीणत्वात् तेषां मोदनकाले सर्वोषधिमोदनादन्यौषधिम्लानाभावाच्च। यथा हि

फाल्गुनेऽन्यौषधीनां तु जायते पत्रशातनम्।
मोदमानास्तु तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः।।

प्रियङ्गवः शरत्पक्वा तावद्गच्छन्ति संक्षयम्।
[य]दा वर्षासु मोदन्ते सम्यग्जाताः प्रियङ्गवः।
तदा नान्यौषधिम्लानिः सर्वेषामेव मोदनात्।। इति।

एवं वाराही उपानहावित्यस्य वाक्यशेषः। वराहं गावोऽनुधावन्तीति गोभिरनुधावनं यत्सादृश्यात् शूकरस्येति स एव पराभवशब्दार्थो वायस एवं वैतसे कटे प्राजापत्यान् सञ्चिनुयादिति विधेर्वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षतीत्यस्य विधेर्वाक्यशेषोऽप्सुजो वेतस इति नीवारस्यैवाप्सम्बन्धो नियतो न जम्ब्वा एवं वेतसशब्दार्थः। न जम्बुस्तस्यास्तत्सम्बन्धनियमाभावात् तथेश्वरादिपदार्थोऽपीति तमेव वाक्यशेषमुदाहरति – **तद्यथेति।**

ननु सर्वज्ञादिरूपोऽर्थः पुरुषत्वादिहेतुभिरेव बाध्यत इत्या – **एवम्भूत इति। नेति।** प्रागेव तृतीयपरिच्छेदे इति।

ननु मा भूद्बाधः साधकमपि नास्तीत्याह – **तथापीति।** प्रतिवादिनोऽपि संमतेन स्वर्गेण साम्यमाह – **स्वर्ग इति।** न तावन्नित्यातीन्[द्रयेषु] प्रत्यक्षादिः प्रवर्त्तते। नाप्यागमः विधिनिषेधमात्रपरत्वात्तस्येति। उक्तविशेषणे स्वर्ग प्रमाणमाशङ्कते – **याज्ञिकेति।** न हि सन्निहितसुखविमुखाः प्रेक्षाकारिणः प्रवर्त्तन्ते, यदि ततोऽतिशयः किञ्चिन्न सिध्येत्। तदेतदितरेतराश्रयापादनेन दूषयति – **अवधृत इति।** अवधृते फलविशेषे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः, सत्यां च प्रवृत्तौ तदन्यथानुपपत्त्या फलविशेषावधृतिरिति।

ननु स्यादेवं यदि यतः प्रवृत्तेः फलविशेषावधारितः सैव तन्मूला भवेत्। न चैवं पूर्वपूर्वेषां प्रवृत्तिदर्शनेनोत्तरोत्तरेषां फलविशेषमवधार्य प्रवृत्तेरित्याह – **पूर्वेति।** एवं तर्हि यथास्य फलविशेषावधारणे पूर्वत्र .... पायः तथा पूर्वस्यापि पूर्वतरप्रवृत्तिरेवं तस्य तस्यापीति। असति निरपेक्षप्रमाणेत्थं परंपरावाक्य-साम्यापत्तिरित्याह – **अन्धपरम्परेति।**

ननु मा भूदन्यदन्यत्वं तत्तददृष्टवशात्तावत्तारतम्येन दुःखासम्भिन्नः सुखविशेषः पुरुषाणां दृश्यते। तेनादृष्टप्रकर्षविशेषात् कस्यचित् ज्योतिष्टोमादिकर्त्तुः क्वचिद्देशविशेषे कदाचिदप्रतिबन्धदशायां तथाविधं सर्वथा दुःखासम्भिन्नं सुखमलब्धपूर्वमनुभवेदिति संभावयतां प्रमाणविरोधस्तावन्नास्ति, निषेधकस्यानुपलम्भात्। तथा च दुःखेन यन्न सम्भिन्नमित्याद्यर्थवादसहकृतं स्वर्गपदमेव तथाविधे सुखे प्रमाणं स्यादित्याशयेनाह – **विशिष्टेति।** तर्हि ईश्वरादिपदेऽपि त्वदुक्त एवानुसन्धेयः पन्था इत्याह – **तुल्यमिति।** न हि ज्ञानादयः सातिशयाः न दृष्टाः। न चासम्भाविनोऽपि निरतिशयाः निषेधकप्रमाणमस्ति। न च सर्वज्ञतातृप्तिरित्याद्यर्थवादपदसमभिव्याहारो नास्ति, यतस्तदसहायमीश्वरादि-पदमेव पुरुषविशेषप्रमाणं न भवेदिति अर्थवादस्यान्यपरत्वेन उक्तप्रकारानु-पपत्तिमाशङ्क्याह–**अत्रापि प्रयोग इति।** लोकवृद्धप्रयुक्तैः गाव्याद्यपभ्रंशै र्व्यभिचारमभूदित्युक्तम्। वेदे वृद्धैरिति तत्प्रयुक्तैरपि गौणादिवृत्तेः व्यभिचारः स्यादित्युक्तम्। **असति वृत्त्यन्तर इति।** वृत्त्यन्तरभावश्च निरूपपादस्येश्वर-पदस्यानवच्छिन्नेश्वरविषयत्वे मुख्यस्यान्यस्याभावे गौणादिवृत्त्यसम्भवादिति। **अन्यथेति।** यदि जगत्कर्त्तुरवाचकसर्वदेवता समष्टिरूपदेवताप्रतिपादकमीश्वरे ज्ञानादिशब्दानामर्थवत्ताप्रतिपादनन्यायेन तद्व्यष्टिरूपरुद्रोपेन्द्रादिदेवताविशेषवाचकाः शब्दा अर्थवत्तया व्याख्याताः। अतस्तेभ्योऽपि पदेभ्यः ईश्वरसिद्धिरिति भावः। इदानीं पदादित्यस्यास्मत्पदादित्यर्थ–मभिसन्धायाह – **अपि चास्मत्पदमिति। अन्यथेति** स्वप्रयोक्तृभावे तस्यार्थाभावादप्रयोगप्रसङ्गादिति।

न च परतन्त्रप्रयोक्तैवास्यार्थ इति वक्तुं युक्तमित्याह – **न चेति।** आत्मनैवात्मन्यैश्वर्यमिति। न हि तदा परस्परस्यैश्वर्यमधिगन्तुमर्हति सर्वस्याहं सर्वस्य प्रभव इति वाक्यमनुसन्दधानस्य स्वयमेवाहं शब्दार्थत्वात्। अहंशब्दार्थस्यैवानेन वाक्येनैश्वर्यकथनात् स्वात्मनैव स्वात्मन्यैश्वर्यावगतिः प्रसज्येतेति। उन्मत्तकेलिरुन्मत्तक्रीडा स्यादिति। **लोकव्यवहारश्चेति।** लोके च

स्वातन्त्र्येणाहंशब्दप्रयोक्तुः तदर्थमवगम्य तदनुकूलव्यवहारो दृश्यमान उच्छिद्यत इति उपहितमर्यादत्वादिति। अत्र मर्यादाशब्देन शब्दप्रवृत्त्यवधिभूतस्तदर्थ एवोच्यते। स च प्रकृतत्वाद्युपहित एव यः कः स इत्यादीनामर्थो भवति, न तु स्वरूपमात्रेणेत्यर्थः। कथं पुरुषधर्मत्वमिति, बुद्ध्युपक्रम इति। एवं संशयादीति। संशयादिवाचका अपीति वेत्यादिवैदिकशब्दा वैदिकधर्मप्रतिपादकत्वेनोन्नेयाः। आदिशब्देन निश्चयादिप्रतिपादका एवकारादयः संगृहीताः। ननु विशेषमजानानस्य संशयो जिज्ञासा वा भवति। सर्वज्ञस्य तदसम्भवान्नैषा रीतिः संभवतीत्याह न चेति। न ह्ययं सर्वज्ञो विशेषाज्ञानात् संशेते जिज्ञासते वा किन्तु ज्ञानं नैव शिष्यान् बोधयिष्यन् संशयितजिज्ञासितविषयत्वात् प्रतिबोधनस्य तेषां संशयाद्युत्पादनायात्मनोऽपि संशयादिकमाहरति – स तु संशयान इव जिज्ञासमान इव च व्यवहरतीत्यर्थः। अज्ञातत्वेऽपि व्यवहारमुदाहरति – **को धर्म इति**। न हि न्यायसहस्रानुगृहीतसमस्तवेदार्थविदो *मीमांसाभाष्यकारस्य* धर्मस्वरूपादिष्वज्ञानसंशयविपर्यासा वस्तुतः सम्भवन्तः तथाप्यथातो धर्मजिज्ञासा इति सूत्रमवतारयितुं शिष्यजिज्ञासोत्पादनाय को धर्म इत्यादिव्यवहारो यथा तथेत्यर्थः। एतेन यदा आदिशब्दप्रतिपादनेन धिगादिशब्दा अपि बुद्धिविशेषोपहितमर्यादा इति व्याख्याता इत्याह – एतेनेति। धिक्शब्दोऽपि निन्दामाह–सा चाप्रशस्तज्ञानोपहिता अहो इत्याश्चर्यम् तच्चादृष्टविषबुद्ध्युपहितम्। वतेति खेदः। स च बुद्ध्युपहितः दुखानुभवरूपत्वात्। हन्तेत्याश्चर्यम् सम्बोधनं वा। तच्च सम्बोध्यविषयवक्तृज्ञानमिति।६।

प्रत्ययादपि। लिङादिप्रत्यया हि पुरुषधौरेयनियोगार्था .....
करणधर्मो वा, नियोक्तृधर्मो वा। पृ० २५५-२५७।

तदेवं कार्येत्यादिकं श्लोकं पदादित्यन्तं संग्रहविवरणाभ्यां व्याख्याय सम्प्रति प्रत्यय इति हेतुं व्याख्यातुमुपादत्ते – प्रत्ययादिति। य इदानीं प्रत्ययत्वेन विवक्षितः, यथा च तथा ईश्वरसिद्धिस्तदाह – लिङादिति। विधौ विहिताः लिङादयः प्रत्यया वक्तृप्रयोक्तृत्वलक्षणं धुरमुद्वहतः पुरुषस्य नियोगमभिदधानास्तं पुरुषमावेदयन्तीति विधित्वेन वक्तृनियोगमेव परिशिष्यंश्चेतनप्रयत्नात्मकस्य विधेः प्रवृत्त्यधीननिरूपणत्वात् प्रवृत्तिं प्रति निरूपणस्य तद्धेतोरिच्छाया तद्धेतोर्ज्ञानस्य विधित्वानुपपत्तेस्तदवान्तरव्यापारवतोऽन्यस्य च विधित्वं सामान्यतस्तावदाह– प्रवृत्तिः कृतिरेवात्रेति। अत्र विधिविषये विधिकार्यप्रवृत्तिः कृतिरेव पुरुषप्रयत्ना

एवेति यावत्, न तु स्पन्द इच्छा वा यतस्तद्धेतुरेव विधिः तत्राह – **सा चेच्छात** इति। कृतिरिच्छातो भवति। न च सैव विधिः, सत्तया प्रवृत्तिहेतुत्वादिति भावः। अस्तु तर्हि इच्छामवान्तरव्यापारीकृत्य इच्छाहेतुर्विधिरित्यत्राह – **यतश्च सा तज्ज्ञानमिति**। ज्ञानहेतुत्वादिच्छायास्तद्धेतुज्ञानं, तच्च न विधिर्निर्विषयस्य तस्येच्छाद्वारेण प्रवृत्तिहेतुत्वायोगादिति·········इष्टाभ्युपायतारूपो विधित्वेन शिष्यते। अथ वा तस्य विषयस्य यो ज्ञापको वक्तृनियोगादिः तज्ज्ञापनद्वारेण प्रवृत्तिहेतुत्वाद्विधिरित्याह – **विषयस्तस्य विधिरिति**। प्रथमं पादं व्याचष्टे – **प्रवृत्तिः खल्विति**। आत्मा ज्ञातव्य इत्यत्र हि विधिकार्यं ज्ञानमेव न तु स्पन्द इति। अस्तु तर्हीच्छामात्रं प्रवृत्तिः तत्रापि सम्भवादित्यत्राह – **नापीति**। यजेत स्वर्गकामः इत्यत्रापि यागेच्छामात्रादेव स्वर्गसिद्धेर्यागाद्यनुष्ठानवैयर्थ्यं स्यादिति। ततः प्रसक्तयोः स्पन्देच्छयोः प्रतिषेधाद्विधिकार्या प्रवृत्तिः प्रयत्न इति परिशिष्यत इत्यत्राह – **तत इति**। न तावदत्र स्पन्दप्रवृत्तिपक्षोक्तदोष इत्याह – **आत्मज्ञानेति**। इच्छापक्षोक्तदोषस्त्वनाशङ्कनीय एवेति भावः। तदेतत् भाष्यकारस्यापि सम्मतम्। यतः प्रयत्नवाचिनैवारम्भशब्देन प्रवृत्तिं व्याख्यदित्याह–**तदुक्तमिति**। अस्तु कृतिपर्यायप्रयत्न एव प्रवृत्तिः तद्धेतुस्तु विधिर्भविष्यतीत्याशङ्क्य सा चेच्छात इति व्याचक्षाण आह – **सेयं प्रवृत्तिरिति**। प्रयत्नहेतुरिच्छा, सा च सत्तामात्रेणावस्थिता तं प्रसूते न तु स्वज्ञानेन। तस्मादिच्छायां प्रवृत्तिहेतुत्वेन न विधित्वमिति तथापि विधिः कुतो न भविष्यतीत्याह – **तत्रेति**। वैयर्थ्यमेवाह – **अप्रतीतादिति**। प्रवृत्तिहेतुज्ञापनाय शास्त्रमभ्यर्थ्यत इति भावः। अस्तु तर्हीच्छोत्पत्त्यर्थं शास्त्रापेक्षेत्यप्रतीतमित्यंशं व्याचक्षाण आह – **न च प्रवृत्तीति**। न हीच्छायाः साक्षादेव शास्त्रं हेतुः ज्ञानयोनित्वात्तस्याः। तत इच्छामुत्पादयता शास्त्रेण ज्ञानं तावदवश्योत्पादयितव्यमिति। अस्तु तर्ह्युत्पादितज्ञानमेव विधिरित्यत्र विषयस्तस्य विधिरित्यंशं व्याचक्षाण आह – **तस्य चेति**।

किञ्चास्तु निरालम्बनमपि ज्ञानमनेन तावत् सालम्बनेनैव भवितव्यम्। अन्यथा नियामकाभावेन सर्वत्र प्रवर्तयेत् न वा क्वचिदपि इति। नियतविषयप्रवर्तकत्वम् अस्य न स्यादित्याह – **अप्रवर्तकत्वाच्चेति**। सालम्बनस्य तु यथालम्बनं प्रवर्तकत्व नियमः स्यादिति भावः। अस्तु सालम्बनं, ततः किमित्यत आह – **तस्मादिति**। तत् ज्ञापको वेत्येतद् व्याचष्टे – **तज्ज्ञापक इति**। कोऽसौ ज्ञापक इत्यत्रोक्तम् – **प्रेरणादिवाच्य इति**। एवं सामान्यतः सिद्धे विधित्वेऽभिमतं

विशेषं परिशेषयितुं सम्भावितान् पक्षानुपन्यस्य विमृशति – **स्थित इति।७।**

न प्रथमः, इष्टहानेरनिष्टाप्तेः ... अन्यथातिप्रसंगाच्च। पृ० २५७-२६२।

तत्र कर्मणामनुष्ठाता कर्ता कर्म क्रियत इति व्युत्पत्त्या फलं पूर्वं वा करणं यागादयो धात्वर्था विवरणानुगुण्येन लिङादयः शब्दा वा नियोक्ता लिङादीनां स्वतन्त्रवक्तेति एवं विमृश्य निर्णयायोपक्रमते **न प्रथम इति।** शरीरसम्भिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वात् स्पन्दोऽपि कर्तृधर्मः स तावन्न विधिः। विधित्वेनेष्टस्य ज्ञातव्य इत्यादेः हानिप्रसङ्गात्। गच्छन्तीत्यादावनिष्टस्य गमनादेर्विधित्वप्रसङ्गात्। न चात्मधर्मोऽपि प्रयत्नो विधिः, तस्य सर्वाख्यात साधारण्येन ततोऽप्रवृत्तेः। प्रवृत्तेर्यत्नरूपत्वेन तस्यां प्रयत्नस्यैव हेतुत्वे स्वात्मनि क्रिया··· विरोचनापि इच्छा विधिः, तस्याः साधनविषयायाः लिङ्श्रवणकालेऽसत्त्वात् स्वर्गादिसाध्यविषयायास्तु स्वारसिकत्वेन लिङादिप्रत्ययवैफल्यात्। यदि च फलेच्छैव प्रवृत्तिं जनयेत् साधन ···· प्रसुवीतेति प्रवृत्तिसङ्करप्रसङ्गाच्च।

यद्वा सङ्करादिति नापि संकल्पो विधिः। तस्य प्रयत्नेच्छयोः सङ्कीर्णत्वात्तदन्तर्भावादिति यावत्। तयोश्च निराकृतत्वादिति भावः। आद्यं व्याचष्टे – **स हीति। नापीति।** विधिर्हि लिङादिष्वेव नियतः स कथं सर्वाख्यातसाधारणप्रयत्नो भवेदिति।

ननु करोति प्रयतत इत्यादौ प्रकृत्यर्थप्रयत्नव्यतिरेकेण प्रत्ययवाच्यप्रयत्नान्तरस्यानुपलम्भात्, तर्हि न सर्वाख्यातसाधारणः प्रयत्नः किन्तु लिङादिष्वेव नियत इति *प्राभाकर*दृष्ट्या चोदयति – **नन्विति।**

ननु प्रयत्नाभिधानेऽनर्थक एव प्रत्ययः स्यादि [त्यत आह] **तस्मादिति।** तेन विधित्वोपपत्तिरिति चेत्, यदि करोतीत्यादौ द्वितीयप्रयत्नानुपलम्भान्नासौ प्रत्ययार्थस्तर्हि लिङर्थो न स्यात्। कुर्यादित्यत्रापि द्वितीयानुपलम्भा[त्प्रकृत्या] स्वप्रधानः प्रयत्नोऽभिधीयते। प्रत्ययेन तु परस्य कस्यचित्साध्यस्याङ्गत्वेन किमपि भावयितुम् यत्न इति तादृशश्च प्रयत्नो विधिः नैवमाख्यातान्तरेष्वित्याह – **अर्थविशेष इति।** [लिङ्लट्] प्रत्ययार्थयोर्विशेषः। तथाप्याख्यातान्तरैस्तुल्यतैव लिङादीनां लडादिष्वपि पराङ्गत्वेनाभिधानात्। अन्यथा करोतीत्युक्ते किमित्याकाङ्क्षा न स्यादित्याशयवानाह – **नेति।** न च करोतीत्यत्रैकस्य प्रकृत्यंशस्य यत्नवाचित्वे सति अन्यस्य न तद्विपर्ययस्तदवाचित्वं प्रसज्यते। एकादिशब्देषु प्रकृत्यभिहितस्यैव

प्रत्ययेनाभिधानदर्शनादित्याह – **न चैकस्येति।** यदित्येकादिशब्दे प्रकृत्यभिहितसंख्यादिव्यतिरिक्तसंख्यादिवाचित्वं प्रत्ययस्य कल्प्येत तर्हि करोतीत्यादावपि प्रत्ययस्य प्रयत्नान्तरवाचित्वं कल्प्यताम्। प्रत्ययान्तरयोगिनः प्रातिपदिकस्य प्रातिपदिकान्तरयोगिनः प्रत्ययस्यान्यत्र प्रयत्नान्तराभिध्यानदर्शनेन प्रत्येकं सामर्थ्यावधारणात् तयोः सम्भेदे द्वितीयप्रयत्नकल्पनाया स्तुल्यत्वादेकादिशब्देष्वपि हि द्वितीयादिकल्पने नान्यत् प्रमाणमस्तीत्याह – **तत्र द्वितीयेति।**

ननु यद्याख्यातमात्रार्थः प्रयत्नः तर्हि असंभवत्प्रयत्नेष्वचेतनेषु प्रयुक्तस्याख्यातस्य कथमर्थवत्तेत्याह – **रथो गच्छतीति।** भवतोऽपि तावत्करोतीति धातुः प्रयत्नार्थः। तस्याचेतनेषु प्रयुक्तस्य का गतिः तामेवात्राप्यनुसन्दधीथा इत्याह – **तन्तव इति।** यदि लौकिकत्वेन तस्य प्रयोगस्योपचारेणापि निर्वाहादपर्यनुयोग्यत्वम्। तर्हि रथो गच्छतीत्यस्यापि तुल्यस्तथा निर्वाह इत्याह – **लौकिकेति।**

ननु वृद्धव्यवहारे हि शब्दानां व्युत्पत्तिः। ततश्च लिङादिश्रवणानन्तरभाविनीं प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तिमुपलभमानो व्युत्पित्सुः प्रवृत्तिहेतुः कश्चिदर्थोऽनेनास्मादवगत इति नावगम·······र्थताज्ञानस्यैव प्रवृत्तिहेतुत्वेनावगमात् कार्यमेव लिङर्थ इति व्युत्पद्यते। कार्यं च कृतिसाध्यं, कृतिश्च प्रयत्नः, तेन साध्यनिष्ठः प्रयत्न एव लिङर्थ इति स्थिते लौकिकस्य प्रयोगस्य औपचारिकत्वकल्पनं व्युत्पत्त्यबाधाय क्रियमाणत्वात् समञ्जसं भवति। लडाद्याख्यातान्तरेषु नैषा रीतिः संभवति। तत्र व्यवहाराभावेन कार्ये व्युत्पत्त्यभावादित्याह – **लिङ इति।** भवेदप्येषा प्रक्रिया यदि व्यवहारत एव व्युत्पत्तिरिति नियमः, न चासावस्तीत्याह – **नेति।** किमस्ति वा तादृशं विवरणं यत आख्यातमात्रस्य प्रयत्नार्थत्वेन व्युत्पत्तिः स्यादित्यत्राह – **अस्ति चेति।** **किं करोतीति** साध्यविशेषं पृष्टः कश्चिदाचष्टे – **पचतीति।** स पुनस्तदेव व्याचष्टे – **पाकं करोतीत्यर्थ इति।** तत्र प्रकृत्यर्थं पाकमिति निर्दिश्य प्रत्ययार्थं करोतीत्यनेन विवृतवानिति व्युत्पित्सुरवगच्छतीति। यथाहु –

सिद्धकर्तृक्रियावाचिन्याख्यातप्रत्यये सति।
सामानाधिकरण्येन करोतीत्यर्थोऽवगम्यत।। इति।

नन्वस्मादपि विवरणान्नाख्यातार्थप्रयत्न इति सिध्यति। कल्पनागौरवप्रसङ्गेन विवरणस्यापि धात्वर्थमात्रपरत्वादित्याह – **तथापीति।** यद्याख्यातोऽपि

धात्वर्थमभिदध्यात्तदा पचतिपाचकशब्दयोरविशेषः स्यादित्यत्रोक्तम्। **फलानुकूलतापन्नेति।** पाकशब्दो हि धात्वर्थं सिद्धवल्लिङ्गसंख्यायोगितया द्रव्यरूपेणाभिधत्ते, पचतिशब्दस्तु तमेव विक्लित्युत्पादनानुकूलत्वेन पूर्वापरीभूता [सत्त्वरूपोपन्न]मित्यस्ति विशेषः। अयमेव हि भवतः प्रयत्नाभिधानेऽप्याख्यातस्य प्रयत्नपदाद्विशेष इति। यद्ययं विवरणकारो धात्वर्थस्यैवानुकूलत्वं प्रत्ययार्थ इत्यभ्युपागमिष्यत् तदा कारणाभिधायिन्या तृतीयया प्रयोज्यपाकेनेति व्यवाहरिष्यत्। यतः स्वयं साध्यत्वेन विवृणोति – **पाकमिति।** तेनावगम्यते न धात्वर्थ-मात्रस्यानुकूलत्वं प्रत्ययार्थ इत्यस्य विवक्षितम्। किन्तु तमेव प्रत्यन्यस्य कस्यचिदित्याह – **भवेदप्येवमिति।**

नन्वस्तु धात्वर्थादप्यर्थस्तदनुकूलः कश्चित्प्रत्ययार्थः स तु यत्न एवेति कुतो नियम इत्याह – **तथापीति।** करोतिनैवाख्यातस्य विवरणात् करोतेश्च यत्नाभिधायित्वादाह – **नियमेनेति।** यदि च विनैव बाधकं व्युत्पत्तिरन्यथा क्रियेत ततोऽतिप्रसङ्ग इत्याह – **अतिप्रसङ्गाच्चेति।**८।

स्यादेतत्, यस्य कस्यचित् फलं .... पचतीति प्रत्ययप्रसङ्गात्। पृ०२६२-२६५।

स्यादेतदिति। यदा हि करोतेर्यस्य कस्यचित् फलानुकूलतापत्तिरित्यर्थः। तदा तत्पर्यायस्य चाख्यातस्य स्वप्रकृतिधात्वर्थफलानुकूलतापत्तिरेवार्थः स्यादित्याशयः। यत्नवाचित्वाभ्युपगमेऽपि तत्प्रत्ययस्य तावत्फलानुकूलतापत्तिरप्यर्थ इत्यवश्याङ्गीकार्यमित्याह – **सोऽपि हीति।** अस्तु तर्हि फलानुकूलत्वेनो-पाधिनाख्यातवाच्य इत्यत्राह – **तद्वरमिति।** किञ्चाख्यातस्य प्रयत्नार्थत्वे रथो गच्छतीत्यादिषु गौणत्वं सत्येव मुख्यत्वबाधके कल्पनीयमित्याह – **अचेतनेष्विति।** बाधकाभावश्च चेतनेष्विव तत्रापि·····कनामिति – **अत्रोच्यत इति।** अन्यानुकूलतापन्नपूर्वकत्वाविशेषे प्रयत्नपूर्वकेऽङ्कुरादिषु कृतत्वव्यवहाराभावात् यत्नपूर्वकेषु च घटादिषु चैतद्व्यवहारात् कृतिः करोतेरर्थो यत्न एव। किञ्च कर्तुरिव व्यापारः करोत्यर्थः। कर्ता च चेतनः अन्यथा कारकान्तरेभ्यः कर्तृरूपव्यवस्थासिद्धेश्चेतनव्यापारश्च प्रयत्न एवेति यत्न एव करोत्यर्थो न त्वन्यानुकूलतापत्तिरत्र। तथा च करोतिपर्यायस्याख्यातस्यापि यत्नार्थत्वं सिध्यतीति भावः।

नन्वाख्यातार्थो भावने*त्याचार्याः*। यथाहुः – भावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यत इति। तत्र कथमेतस्य यत्नार्थत्वमत आह – **पूर्वेति**। पूर्वात् प्रत्ययात् प्रतीयमाना प्रकृत्यर्थत्वेन गम्यमानेति यावत्। कृतिर्यत्न एव परस्मिन् प्रत्यये पूर्वापरीभावेन प्रतीयमाना भावनेति व्यपदिश्यते। यद्वा पूर्वा चिकीर्षातः सिद्धा साध्ये साधनीभूता भावना कृतिर्यत्न इत्यभिधीयते, परस्मिन् स्वभाव्ये प्रतीयमाने यत्ने भावनेति व्यपदेश इत्याद्यं पादं व्याचष्टे – **यत्नपूर्वकत्वं हीति**। यत्नान्वयव्यतिरेकानुविधानेन करोतेर्यत्न एवार्थः। न त्वन्यानुकूलतापत्तिमात्रं सत्येव तस्मिन् करोति, व्यवहाराभावादिति। *अस्तु करोतेरर्थः* यत्नः किमायातमित्यत्राह – **तेन चेति**। तस्य चेतनेषु का गतिरित्याह – **तथा चेति**। यत्नत्वतत्फलानुकूलत्व-पूर्वापरीभूतानां समुदाययोगिचेतने मुख्यमाख्यातपदं रथो गच्छतीत्याह – तौ तदेकदेशे धात्वर्थफलानुकूलत्वमात्रे गौणं प्रयुज्यते।

यथा–

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयःसंस्कारैर्द्विज उच्यते।

विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव तैः।।इति।

जन्माद्यनेकोपाधिमति ब्राह्मणे मुख्यं श्रोत्रियपदं, तदेव विशुद्धे ब्राह्मणे प्रयुज्यते इति *मण्डनाचार्याः* – *भाष्ये* यततेति गिरा प्रयत्नं प्रतिपेदिरे अचेतने प्रयोगस्य प्राचुर्य्यान्नोपचारधीरिति। **अन्यथापीति**। अचेतनेषु गौणत्वपरिजिहीर्षया न्यानुकूलतापत्तिमात्रमाख्यातार्थ इत्यभ्युपगमेऽपि शृणोत ग्रावाणः, शेबधिष्टेऽहमस्मि, रक्ष मामित्यादयो मध्यमोत्तमपुरुषगामिनः प्रत्ययाः प्रथमपुरुषेऽपि मम चेतो जानाति, अध्यवस्यति, संशेते इत्यादयो धातवः प्रत्ययाश्च गौणा एवाङ्गीकर्तव्याः। तथा रथो गच्छतीत्यादावपि गौणत्वमङ्गीक्रियत इति भावः।

नन्वस्तु चेतनेषु प्रयत्नोऽर्थः अचेतनेष्वन्यानुकूलतापत्तिरेव मुख्योऽर्थः, किमिति न स्यादित्यत्राह – **न च वृत्त्यन्तरेणेति**। तदप्ययुक्तम्। *भावनाविवेके*

अनेकार्थत्वमन्याय्यं तेनैकाधिकरण्यतः।

करोतिना तिङन्तेषु भावभेदोऽनुमीयत इति।

यत एव साध्यानुकूलो यत्नः न त्वन्यानुकूलतामात्रम्, अत एव सर्वाख्यातेषु यत्नानुवृत्तेरनुभव इत्याह – **अत एवेति**। अन्यथातिप्रसङ्गमाह – **अतिथावपीति**।

अपि च कर्तृव्यापार एव कृत्रर्थः ...... समानव्यापारं एवाख्यातार्थः। पृ० २६६-२६७।

अतिथेः कृते गृहमेधिनः पचन्तीति अस्मिन्नपि पाका'''पचतिप्रयोगप्रसङ्ग इति कर्तृरूपव्यवस्थयेत्येतद्विवृणोति – **अपि चेति**। कर्तृव्यापार एव न तु कर्मव्यापारोऽपीति ततः किमित्याह – **चेतन एवेति**। चेतनव्यापारश्च प्रयत्न एवेति भावः। स्याच्चेतनोऽपि कर्ता तर्हि देवदत्तः कर्ता न तु काष्ठादय इति व्यवस्था न स्यादित्याह – **अन्यथेति**। यस्य व्यापारं धातुराख्यातेनाभिधत्ते स चेतनोऽचेतनो वा कर्त्तेति व्यवस्था सिध्यतीत्यत्राह – **न हीति**।

ननु अभिधानदशायामपि तद्योग्यताभावोऽस्ति तावतैव कर्तृनियमः स्यादित्यत्राह – **नापीति**। अस्त्वेवं सा तु योग्यता किं चेतनत्वमन्यद्वा किञ्चिदितीदानीमेव चिन्त्यमानत्वेनानिरूपितपूर्वत्वादिति। यस्य व्यापारः फलानुगुणः स कर्ता स्यादित्यत्राह – **फलानुगुणेति**। यस्य कारकस्य स्वातन्त्र्यं यदा विवक्षितं तदा यस्य कर्तृत्वं नान्यस्य, विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति न्यायादिति **वैयाकरणमतं** स्थाप्य निराचष्टे – **अविवक्षेति**।

ननु सर्वेषामपि कारणं स्वस्वव्यापारेषु अनियमः कर्तृत्वमनिष्टमेव, काष्ठानि ज्वलन्ति, विकसिष्यन्ते तण्डुला इति प्रयोगसिद्धेरित्याह – **स्वव्यापार इति**। तेषां कर्तृत्वे कारणादिव्यवहारो न स्यादित्याह – **एवं तर्हीति**।

ननु प्रातिस्विकज्वलनाद्यवान्तरव्यापारापेक्षया कर्तृत्वेऽप्येषामुद्देश्य-पाकादिक्रियापेक्षया कर्मकरणादिकारकवैचित्र्योपपत्तिरित्याह – **स्व व्यापारेति**। तथापि सर्वेषां प्रधानक्रियाकारकत्वाविशेषात् कुतः कर्त्रादिनियम इत्याह – **तर्हीति**। नियामकमाशङ्कते – **स्वातन्त्र्यादीति**। स्मरन्ति हि "स्वतन्त्रः कर्ते (पा.सू.१।४।५४) ति तर्हि तदेव स्वातन्त्र्यमेव प्रयत्नार्थादिसमवायादन्यतोऽस्तीति सिद्धं नः समीहितमित्याह – **तदेवेति**। कर्तृरूपव्यवस्थयेति हेतुमुपसंहरति – **तस्मादिति**।९।

तथापि फलानुगुणतैवास्तु प्रत्ययस्य ...... न चेदाक्षेपो नूनमभिधानमेवेति। पृ० २६७-२७१।

नन्वाख्यातेभ्यः फलानुकूलप्रयत्नावगमेऽप्याकृत्यधिकरणन्यायेन विशेषणकृत्यभूतं फलानुकूलत्वमेव प्रत्ययार्थः। विशेष्यस्तु तत्रैवाक्षेपादवगम्यमानो नाभिधेय इत्याह – **तथापीति**। न। **भावनैवेति**। भावना नाम

फलोत्पादनानुकूलमात्रात्मा सा तु यत्नात्मनैवाख्याताभिधेया, न त्वन्यानुकूलत्वमात्रात्मना विशिष्ट एव प्रयत्नोऽभिधेय इत्यर्थः। कुतस्तया प्रयत्नात्मनैव भावनया निमित्तभूतया तद्वाचकाभ्यां करोतिभावयतिभ्यां विवरणस्य किं करोति पचति पाकं करोति भावयति गच्छति गमनं करोति भावयतीत्यर्थ इत्यादेः सर्वदा बाधतः सर्वदा सिद्धत्वादाक्षेपसिद्धेश्चानुपपन्नत्वादिति। तया विवरणध्रौव्यस्य व्याख्यातचरत्वादाक्षेपानुपपत्तिमेव व्याचष्टे – **केन हीति**। तद्यत्नमित्यर्थः।

नन्वाख्याताभिहितमन्यानुकूलत्वमस्तु स्वाश्रयत्वेन यत्नमाक्षेपयतीत्यत्राह – **न तावदिति**। अव्यापनमेवाह – **न हीति**। रथो गच्छतीत्यादौ स्पन्दस्यापि फलानुकूलत्वादिति। नन्वाख्याताभिहिता संख्या संख्येयभूतकर्तृद्वारेणाक्षेप्येति क्रियामित्यत्राह – **अत एवेति**। यत्नत्वेनाव्यापनादेवेति। अव्यापनमेवाह – **तस्या इति**।

ननु वयं हि वैयाकरणा अस्माकं चाख्याताभिधेयः कर्ता, स च स्वव्यापारं यत्नमाक्षेपयतीत्यत्राह – **तत्रेति**। तत्र किं चैत्रमैत्रमात्रस्याख्यातेनाभिधानं व्यापारवतो वा प्रथमेन तेनाक्षेपः तस्याकर्तृत्वात् द्वितीये तु नागृहीतविशेषणान्यायेन व्यापाराभिधानमवर्जनीयमित्याह – **न द्रव्यमात्रस्येति**। तर्हि धात्वर्थं स्वनिष्पादकत्वेन यत्नमाक्षेपयतीत्यत्राह – **नापीति**। विद् सत्तायामिति। विद्यति धातोः सत्तार्थत्वात्। तस्याश्च नित्यत्वेन यत्नानपेक्षत्वान्न ततस्तदाक्षेपः संभवति। मा भूत्तत्राक्षेपः पचत्यादौ तावद्धात्वर्थस्य विक्लेदनादेः प्रयत्नापेक्षत्वात्, तदापेक्षत्वात् तदाक्षेपसिद्धिरित्याशयेन शङ्कते – **अत्रेति**। विद्यत इत्यादावपि पचतीत्यादि-वद्धात्वर्थस्य पूर्वापरीभावानुभवस्तावदस्तीत्याह – **नेति**। ततः किमित्याह – **भावनोपरागेण हीति**। न हि निष्पन्नात्मनः क्रियाफलस्य संयोगविभागादिरूपस्य न स्वतः पूर्वापरीभावः संभवति। कृताभिहितेष्वदर्शनात् दूरे च नित्यायास्सत्ताया इति भावः। मा भूदाक्षेपः। तथापि न प्रत्ययार्थः पदान्तराभिहितेनैव यत्नेन प्रत्ययार्थस्यानुकूलत्वमात्रस्यान्वयोपपत्तेरित्यत्राह – **न चेति**। तदसंभवात्, भावनाभिधायिनः पदान्तरस्यासंभवादित्यर्थः। असम्भवमेवाह – **न खल्विति**। **अन्यथेति**। यदि धातव एव क्रियामभिदध्युः ततः प्रत्ययविधुरेभ्योऽपि तेभ्यस्तदनुभवः स्यात्। न चैतदस्तीति – **नापीति**। प्रकृतेस्तावच्छुद्ध प्रातिपदिकार्थत्वात्। प्रथमाविभक्तेरपि तन्मात्रवचनत्वात् कारकाभिधानमेव नास्तीति

तदभिधाने हि व्यापारवतः कारकत्वात्तदभिधानमाक्षेपो वा सेत्स्यतीति भावः। शङ्कते – ओदनमित्यादेरिति। कथमन्यथेति। क्रियासामान्यस्याप्रतीतौ हि तद्विशेषस्य जिज्ञासा न स्यादिति। एवं तर्ह्यनेनैव न्यायेनाख्यातपदेन कर्मादिकारकसामान्यस्याक्षेपाभिधानयोरन्यतरदापद्येतेत्याह – नेति। विशेषजिज्ञासाविनाभावमात्रात् भवति। दृष्टे रसविशेषरूपविशेषजिज्ञासावदिति भावः। तस्यां दशायामिति सामान्यविशेषयोरुपलम्भकाले तेन कस्याक्षेप इति। विशेषादर्शनात् कर्माभिधानमेव प्रसज्येतेति। तद्व्याख्यातेन कारकसामान्यस्य प्रतीतोऽनेनैव न्यायेनाङ्गीकार्यत्वात्तस्याश्च क्रियाप्रतीतिमन्तरेणानुपपत्तेराख्यातपदेनैव क्रियाया आक्षेपोऽभिधानं वा भवेत्। तत्र चाक्षेपानुपपत्तेरुक्तत्वात् अभिधानमेव परिशिष्यत इत्याह – न पचतीति।

सादेतत्। अभिधीयतां तर्हि .... कर्त्राक्षेपं प्रति विशेषः। पृ० २७१-२७४।

यद्याक्षेपानुपपत्तेराख्यातवाच्या भावना तर्हि तत एव कर्ताऽप्याख्याताभिधेयः स्यादिति वैयाकरणाः प्रत्यवतिष्ठन्ते स्यादेतदिति। प्रत्ययाभिहितया संख्यया संख्येयत्वेन कर्तुराक्षेपतः सिद्धेः किमभिधानेनेत्याशङ्क्याह – तदनभिधाने हीति। संख्येयमात्रापेक्षिण्याः संख्यायाः कर्त्रैवान्वयो न तु कर्मादिभिरपीति नास्ति विनिगमनायां हेतुः। तेषामपि क्रियोपस्थितत्वाविशेषादिति, नास्ति विशेषहेतुः। द्वित्वादिसंख्याविरूद्धकर्मणो विरोधेन निरस्तत्वादाख्याता-भिधेयैकत्वसंख्या कर्तारमन्वेति। विरोधाभावादित्याह – न त्विति। किं चैत्र ओदनमित्यत्र न कर्मणोऽपि विरोधिसंख्यानवरोधात् कर्त्रैवान्वयो न कर्मणेत्यत्र न काचिद्गतिरस्तीत्याह – चैत्र इति। तत्रापि गतिमाशङ्कते – एकत्रेति। शाकसूपौ पचतीत्यत्र तावदाख्याताभिहितसंख्याकर्त्तारमेवान्वीयादित्याह – तत्र तदतिक्रमेण ····· विति। वाक्यशेषेण निर्णीतत्वात्। अन्यत्रासत्यपि तादृशि वाक्यशेषे तेनैवान्वयः सिद्ध्यति। यथा यववराहादिशब्दानां क्वचिद्वाक्यशेषवशेन दीर्घशूकसूकराद्यर्थनिर्णये सति····प्रयुज्यते·········अपि वाक्यशेषे तादर्थ्यसिद्धिरिति। यद्येकत्र कृत एव निर्णयोऽन्यत्रापि स्यात्, तर्ह्योदनः पच्यत इत्यत्राप्याख्यातसंख्या कर्तार-मेवान्वीयादित्याह – नेति। सत्यं, तत्रापि कर्त्रन्वयः प्रसज्यते। किन्तु विरोधि संख्यान्तरावरोधादपोद्यत इत्याह – चैत्राभ्यामिति। तर्हि यत्र कर्तुर्विरोधि संख्यान्तरावरोधो नास्ति तत्र तदतिक्रमेण कर्मोपसंक्रमणे वाच्यो हेतुरित्याह – चैत्रमैत्राभ्यामिति।

ननु चैत्राभ्यां चैत्रैः पूज्यत इत्यत्र कर्मगामित्वेन निर्णयादत्रापि तथा स्यादित्याह – **अन्यत्रेति**। यदि क्वचिन्निर्णीतेनान्यत्रापि व्यवहारः तर्हि पचतीत्यत्रापि कर्मगामित्वमेव संख्यायाः स्यादित्याह – **नेति**। तत्र पचति देवदत्त इत्यत्र **पूर्वक एव** शाकसूपो पचतीत्यादिसंख्यावरोधादाख्यातसंख्यायाः कर्मण्यनन्वयात् कर्तृगामित्वमित्युक्तो **निर्णयः** स्यात्। पच्यत इत्यत्रापरः चैत्राभ्यां चैत्रः पच्यत इति कर्तृगामित्वासंभवात् कर्तृगामित्वमित्युक्तौ निर्णयो भविष्यति। **नेति**। उभयत्रापि कर्मकर्त्रोराक्षेपस्य विरोधिसंख्यान्तरानाक्रान्तत्वस्य चाविशेषात्।

ननु विशेषव्यवस्था युज्यत इत्याह – **आत्मनेपदेति**। आत्मनेपदाभिहिता संख्या कर्मान्वेति परस्मैपदाभिहिता संख्या कर्तारमिति व्यवस्था युक्तेति। तर्हि पचत इत्यत्राह – पचत इत्यत्रापि संख्यायाः कर्मगामित्वप्रसङ्गः इत्याह – **नेति**। तस्माद्यत्र प्रत्ययः कर्त्तारमभिधत्ते तत्र संख्यासमानप्रत्ययोपादानात् कर्तृगामिनी, यत्र तु कर्मकर्तृ तत्र कर्मगामिनी व्यस्थाङ्गीकार्येति भावः। अयं समान-प्रत्ययोपात्तेनैवान्वयः संख्याया व्याप्तिबलादप्यवगम्यत इत्याह – **दृश्यते चेति**। देवदत्तेन गृहे भूयते सुप्यत इत्यादौ भावप्रत्ययेनाभिहिता संख्या भावेनैवान्वेतीति दृष्टम्। **अन्येनेति**। यदि तु संख्या कर्त्रादिवद् भावेनापि नान्वीयात्, ततो वाक्यार्थानन्वयिसंख्याभिधायिनः प्रत्ययस्य निष्प्रयोजनत्वमेव स्यादित्याह – **अनन्वय इति**। सुप्यत इत्यादावपि आक्षिप्तेन भावेनान्वयः संख्यायाः न तु समानप्रत्ययाभिहितेनेत्यत्राह – **आक्षिप्तेनेति**। तदा हि स्वपितीतिवत् सुप्यत इत्यत्रापि कर्त्रैवान्वयः प्रसज्येत, उभयत्रापि क्रियया कर्त्राक्षेपस्याविशेषात्।१०।

स्यादेतत्, भावकर्मणोरित्याद्यनुशासनबलात् ..... न व्यापारान्तरमपेक्षते इतिनिराकाङ्क्षमिति। पृ० २७४-२७९।

स्यादेतदिति। यदि तत्राक्षिप्तेनान्वयः संख्यायास्तत आक्षेपाविशेषात् कर्त्रन्वयः स्यात्, न त्वेवं भूयते देवदत्तेन क्रियते घट इत्यादावनुशासनात् भावकर्मणोः प्रत्ययवाच्यत्वात् तदभिहितायाः संख्यायाः समानप्रत्ययोपादानश्रुत्या ताभ्यामेवान्वयः।

न चैवं पचतीत्यत्रापि प्रसङ्ग इत्युक्तम् **यस्त्विति**। कथं तर्हि तत्र कर्तृकर्म-भावानामनभिधाने क्रियोपस्थाने चाविशिष्टे कर्त्रैवान्वय इत्युक्तम् – **मुख्यमिति**। प्रत्ययवाच्यभावनाश्रयत्वे प्रथमप्रतीतमुख्यकर्त्तारमेवाश्रयतीति। अत्रानवगाढ-

मीमांसातन्त्राणामायासो मा भूदित्यधिकरणं लिख्यते। आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत्, सरस्वतीयमाज्येन यजेतेति श्रूयते। तत्राग्नावैष्णवमैन्द्राग्नविकारः, सारस्वतमुपांशुयाजविकारः। तत्राज्यभागादिषु पौर्णमासिकाः सारस्वत-धर्मावतृप्तमन्त्रादयः अमावास्याश्चाग्नावैष्णवधर्मावतृप्तत्वादधिविकल्पेन प्रयोक्तव्याः। सारस्वतधर्माणामत्यन्तबाधस्यान्याय्यत्वादिति प्राप्ते उक्तम्। मुख्यं वा पूर्वश्चोदनावल्लोकवदिति प्रतिपादनात्। आग्नावैष्णवस्य प्रथमप्रतिपन्ना-नाममावास्याधर्माणामसंजातविरोधित्वात् तद्धर्मैरेव सारस्वतस्याप्युपकारकल्पनात् पृथग्गत्यादय एव प्रयोक्तव्या, यथा लोके प्रथममागतस्यासनादौ दत्ते पश्चादागतस्यासनैकदेशादुपकारसिद्धेर्नासनान्तरं दीयते इत्याचार्याणां मतम्। *गुरूणां* तु सर्वत्र प्रतिषिद्धधर्मसमवाये भूयसां स्यात्। सर्वधर्मत्वमित्यत्र पञ्चदशरात्रेः प्रथमस्याह्नः अग्निष्टुत आग्नेयी सुब्रह्मण्या तदुत्तराणां बहूनामनुग्रहादैन्द्री कर्तव्येति पूर्वपक्षं कृत्वा राद्धान्तत्वेन मुख्यं वेति सूत्रमवतारितम्। प्रथमप्रतीतत्वादाग्नेय्येव सुब्रह्मण्येति यदि सुप्यते शय्यत इत्यादावनुशासनात् भावकर्मवाचित्वमङ्गीक्रियेत। तर्हि अत एव पचतीत्यादावपि कर्तृवाचित्वमङ्गीक्रियतामित्याशयेनाह – **न विपर्ययेति।** तेनैव मुख्यं वेत्यनेनैव न्यायेन कर्मणः क्रियया प्रथममाकांक्षितत्वं प्राधान्यं चेति। तस्मात् कर्तर्यनुशिष्टः प्रत्ययः कर्तृविशिष्टामेव संख्यामभिधत्ते, भावकर्मणोरनुशिष्टास्तद्विशिष्टामिति वक्तव्यम्। अन्यथा क्वचित्कर्मगामित्वमिति व्यवस्थानुपपत्तेरिति। उपसंहरति – **तस्मादिति।** एवं पूर्वपक्षिते सिद्धान्तमाह – **एवमिति।** संख्याभिधानेनैव सङ्ख्येयस्य कर्त्रादेराक्षेपतः सिद्धौ न तत्राप्यभिधानशक्तिः कल्पनीयेति। तथापि संख्यायाः संख्येयमात्राकांक्षिण्याः कर्त्रादिभिरनियमेनान्वयप्रसङ्ग उक्त इति चेत्तत्राह – **संख्येये इति।** संख्या हि स्वतः संख्येयविशेषमनादृत्य प्रीयमाणापि समानप्रत्ययोपात्तभावनासहचारिणी य स्वव्यापारत्वेन भावनां प्रति साकांक्षस्तदन्वयिनी भवति। तस्मिन्नेव व्यवतिष्ठते। स एव च तां प्रति साकाङ्क्षादयः (!) क्रियावत्तया न शब्देनावगम्यते। तद्वतस्तदपेक्षाभावात्। तस्मात् पचतीत्यादौ प्रातिपदिकमात्राभिधायिन्या प्रथमया समुच्चारितं चैत्रमभिसरन्ती भावना संख्यामपि सहैव संगमयति। पच्यत इत्यत्र तेनैव न्यायेनौदनादिकमनुगच्छन्ती भावना संख्यामपि तमेवानुगमयति। सुप्यत इत्यत्र तु स्वप्रधानाभिधीयमाना भावना नान्यगामिनीति संख्यां स्वविशेषणत्वेनैव संगृह्णाति इति। तत्रोत्तरार्धं व्याचष्टे – **संख्या तावदिति। एकप्रत्ययेति।** नहीति। यदि समानप्रत्ययवाच्यत्वत् समानविषयत्वेन नियमादिति। नहीति। यदि

भावनात्मको व्यापारः तदात्मकव्यापारवन्तमेवाकाङ्क्षेत्तदात्माश्रयापत्तिः व्यापारान्तरकल्पनायामनवस्थेति भावः।

किञ्च समवायस्य नित्यतया व्यापारान्तरानुपयोग इत्याह – **समवायं प्रतीति**। यद्वा आत्माश्रयप्रसङ्गात् समवायं प्रति तदनुपयोगादित्येकप्रसरेण हेतुहेतुमद्भावेन योजनेति। तर्हि भावनाविजातीयेन स्पन्दनादिना व्यापारेण तद्वन्तमपेक्षत इत्यत्राह – **विजातीयेति**। प्रयत्नवत एव कर्तृत्वात् विजातीयव्यापारवतः करणादेरचेतनस्य भावनाश्रयत्वायोगादिति।

ननु शुद्धं प्रातिपदिकमाकाङ्क्षतु भावना तथापि कुतश्चैत्राणां चैत्रेणान्वयो भावनायाः न त्वोदनेनेत्यत्राह – **न चेति**। द्वितीयादीनां कारकार्थत्वेन स्मरणादिति उपसंहरति – **तत इति**। **तस्येति**। प्रथमानिर्दिष्टस्य भावनान्वययोग्यत्वनियमादिति कर्तृकर्मभ्यां समभिव्याहाराविशेषेऽपि संख्यायाः क्वचित्केनचिदेवान्वय इत्यत्र दृष्टान्तमाह – **नञर्थवदिति**। नञर्थस्य हि केवलविशेष्यांशेन विशेषणविशेष्याभ्यां वान्वये बाधकसद्भावादेव केवलविशेषणांशेनैवान्वय इष्यते न त्विह तादृशं बाधकमस्तीत्यभिप्रायेणाह – **नन्विति**। तमेव बाधकमाह – **न हीति**।

ननु विशेषणानुपादाने विशेष्यमात्रसम्बन्धेन नञा विशेषणं निषिद्धं भवेदित्याशङ्क्याह – **तन्निषेधेनैवेति**। नह्यस्ति विशेष्यः पुरुषः अस्ति च जातिगुणक्रियात्मकं तद्विशेषणमिति श्रुत्यैवोभयनिषेधः किमिति न स्यादत आह – **उभयेति**। तथाप्युभयसम्बन्धार्थं नञो द्विरुच्चारणं स्यादिति, अनावृत्तौ तु विशेषणमात्रनिषेधेन निराकाङ्क्षस्य नञो न विशेष्यसम्बन्ध इत्याह – **अनावृत्ताविति**। तर्ह्यत्रापि संख्येयाकांक्षिण्याः संख्यायाः प्रथमानिर्दिष्टं विहाय द्वितीयानिर्दिष्टेनान्वये तुल्यो बाध इत्याह – **नेति**। तमेवाह – **समानेति**। न ह्यपेक्षैव सम्बन्धहेतुः किन्तु सन्निधिरपि। स च समानप्रत्ययोपात्तभावनाक्षिप्तस्य प्रथमानिर्दिष्टस्यैवेति।

ननु भावना चाश्रयमात्रापेक्षिणी तावन्मात्रमेवाक्षिपेत्, न प्रथमानिर्दिष्टमेवेत्येतद्दत्तोत्तरमेव तदित्याशयेनाह – **भावनायाश्चेति**। कर्मादीनां व्यापारे भावनायामाकांक्षाभावेऽपि भावनायास्तावदस्तीत्याह – **तर्हीति**। अस्ति प्रथमानिर्दिष्टे उभयोराकाङ्क्षेत्याह – **प्रातिपदिकार्थो हीति**। व्यापारद्वारा ह्यव्यापारात्मनः फलसम्बन्ध इति भावः। द्वितीयानिर्दिष्टस्य पुनर्भावनापेक्षाऽस्तीत्याह – **कटमिति**।

अतएव आस्यते सुप्यते इत्यादौ ..... न च लिङः श्रुतिकाले सा सतीत्युक्तम्। पृ० २७९-२८५।

तदुक्तं पचतीत्यत्र यद्याक्षिप्तेन कर्त्रान्वयः संख्यायाः तर्हि सुप्यत इत्यादावपि तथा स्यात् कर्माक्षेपाविशेषादिति तदप्यत एव द्वितीयानिर्दिष्टस्य व्यापारान्वितत्वेन न भावनां प्रत्याकाङ्क्षाऽस्तीति प्रतिपादनान्निरस्तमित्याह – **अत एवेति।** भावनायास्तदन्वयात् संख्यापि तदनुवर्तिनी न तेनान्वेतीति भावः। **अत एवे**त्यनिर्दिष्टमेव हेतुं स्फोरयति **न हि चैत्रेणेति** शङ्कते – **भाव्याकाङ्क्षेति।** भाव्याकाङ्क्षायां भावनाक्षिप्तेन भाव्येनान्वयः संख्यायाः न भावनयेति भावः। **नेति।** सुप्यत इत्यादौ भावना स्वफलभूतेन शयनादिना धात्वर्थेन पदश्रुत्यैवाधिगतान्वया न भाव्यान्तरमाक्षिपतीति।

नन्वोदनं पचतीत्यत्र न पचिधात्वर्थे विक्लेदनमात्रं भावनायाः फलम्। तत्सम्बन्धिनस्त्वोदनादेः फलत्वादित्यत्राह – **फलसम्बन्धिन इति।** अत्र सुप्यत इत्यादिष्वकर्मकेषु कर्तैव फलसम्बन्धी नान्य इति। कुत इत्यत्राह – **न हीति।** ननु यथा हि फलादन्यदपि तत्सम्वन्धि भाव्यं दृष्टम्, तथापि तद्व्यतिरिक्तमपि किञ्चित् भविष्यतीत्यत्राह – **न चेति।** फलस्य तावद्धात्वर्थस्य प्रकृत्यैवोक्तत्वान्न भावनयाक्षेपः कर्तुश्चैत्रेणेति कारकतयोपादानं न भावनाक्षेप्यत्वमिति भावनान्वयिनी संख्या स्वप्रधानां भावनामेवागत्यान्वेति इति भावः।

ननु यदाख्यातेन संख्यामात्रमभिधीयते, न कर्मकर्तृ वा तर्हि क्रियते कट इत्यत्राख्यातानभिहितेऽपि कर्मणि प्रथमैव प्रयुज्यते न द्वितीया, तथा करोतीत्यत्रापि कर्मणि कटे प्रथमैव प्रयोज्या अनभिहितत्वविशेषादित्याह – **स्यादेतदिति।** कटेनासमानाधिकृतस्य चैत्रस्य कस्मिन् वाक्ये समानविभक्तिकत्वासम्भवमात्रेण चैत्रमिति स्यादित्युक्तम्। यद्वा आख्यातेन तस्य कर्मत्वानभिधानात् द्वितीया स्यादिति। *वैयाकरणानां* यत्र कर्मणोऽभिधानम् क्रियत इत्यादौ तत्र प्रथमैव, करोतीत्यादौ तु द्वितीयैव अनभिहितत्वात् कर्मण इति व्यवस्थोपपत्तिरिति भावः। तत्र यदि चैत्रमिति पदं प्रथमान्तं विवक्षितम्, तदा तस्यापि कर्तृत्वेनैव चैत्रस्य करोतिना सम्बन्धः। न च तत्सम्बन्धः सम्भवति असाधुत्वप्रसङ्गात् इत्याह – **चैत्रमिति।** द्वितीयान्तत्वविवक्षायां तु कर्मवचनत्वेनास्य करोतिना सम्बन्धस्यान्तकर्तृवचनत्वेन तत्र च कर्मणो भावस्य चैत्रपदेन लाभात् तदनपेक्षिणी भावना भाव्यस्य भावकमेव किञ्चित् पदान्तरसमर्पितमपेक्षत इत्याह – **द्वितीयान्तस्येति।** कर्मत्वे

तदसम्भवादिति केचित् पठन्ति। तत्र चैत्रस्यैव कर्मत्वेनान्वयात् कटस्य करोतिना सर्वथैवासम्बन्धादति भावः। ततः किमित्यत्राह – **न चेति**। पदान्तरोपात्तः कटो न चैत्रं भावयितुं शक्नोति, प्रत्युत चैत्रस्य कटं प्रति भावकत्वादिति तत् किं कदाचिदपि तथाविधः प्रयोगः नास्तीत्याह – **अनाप्तेन त्विति**। स हि कटस्य चैत्रं प्रति भावकत्वं सदेव विवक्षितत्वाप्रयुक्ते प्रयोगोऽयमयथार्थत्वादादरणीय इति भावः।

यदि चैत्रस्य भावकत्वेन कर्मत्वं तर्हि स्यादेवं प्रयोग इत्याह – **प्रयुज्यतामिति**। कटस्तु कर्म भविष्यतीति भावः। **नेति**। उभयोरप्येकविभक्तित्वे कोऽत्र भावकः को भाव्य इति न निर्णीयते। न चानिर्णीतार्थपदं वाक्यार्थसमर्पकम्। न च विभक्तिभेदमन्तरेण कर्मकर्त्रादिविशेषो व्यज्यत इति। **व्यज्यतामिति विशेष** इति विपरिणामेनानुषञ्जनीयमिति शास्त्रस्यापि लोकप्रयोगादेव नैवं प्रयोग इत्यभिप्रायेण परिहरति – **नेति**।

नन्वनभिहिते कर्मणि द्वितीयां, कर्तरि तृतीयामपि स्मरन्ति लक्षणस्यासति विरोधकमिति लोको नैवं प्रत्युक्त इत्याह – **लक्षणेति**। **नेति**। यथाहुः–

सिद्धानुगममात्रं तु कर्तुं युक्तं परीक्षकैः।

न सर्वलोकसिद्धस्य लक्षणेन निवर्तनम्।। इति।

पाणिनीया अपि स्मरन्ति, लक्ष्यस्मृत्यनुरोधात्तु क्वचित् किञ्चिदाश्रयत इति।

ननु गार्गिकायेति चतुर्थ्यन्तस्य श्लाघाभिधायिपदसन्निध्युपाधिनैव श्लाघहनुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः [पा.सू. १।४।३४।] इति सूत्रेण विहितत्वात् श्लाघाभिधायिपदासन्निधौ चतुर्थ्यन्तप्रयोगो लक्षणविरुद्धत्वादेव न क्रियत इत्याह – **तस्येति**। विध्यभावे हि प्रयोग एव मूलं नान्यदित्याशयवानाह – **एतदेवेति**। **लोक** इत्यादि स्पष्टम्। यदि लोकाधीनप्रयोगत्वाद् द्वितीयादयः तर्हि द्वितीयाद्यनुशासनेऽभिहिताधिकारः *पाणिने*ररण्यरुदितं स्यादित्यत्राह – **इममिति**। तर्ह्ययमेव लोकप्रयोगविशेष एवोच्यतां किमनेनावास्तवाभिधानानभिधानेन विभागेनेत्यत आह – **न हीति**। न हि सर्वेऽपि व्युत्पित्सवः पूर्वोक्तं लौकिकप्रयोगस्थमेतावन्तं विशेषमनुसन्धातुं क्षमन्ते। तेन सुज्ञानोऽयमभिहितानभिहितविभाग एव प्रकृतिप्रत्ययविभागवदवास्तवोऽपि

बालव्युत्पादक इति स एवानुशिष्ट इति। अथ सर्वाख्यातसाधारण्येऽपि भावनाया विलक्षणेन रूपेण लिङाभिधेयत्वं विधित्वं चाह – **स्यादेतदिति**। नेति। लिङ इति शेषः। न हि यत्नपदेनापि कालविशेषः प्रतीयत इति भावः।

ननु धात्वर्थोपरक्त एव यत्नो लिङावगम्यते, केवलस्तु यत्नपदेनेति न समानार्थत्वमित्याह – **विषयेति**। नेति। अत्रापि यजेतेति धात्वर्थोपश्लेषोऽनुपश्लेषश्च कालेनावगम्यत इति कर्तृसंख्येति स्पष्टम्। अत्र चाप्रवृत्तेरिति दूषणं निवेशयितुं शङ्कते – **इष्ट एवेति**। अयमविशेष इति – **इत इति**। यागयत्नवानित्यस्मात् पदादिति फलेति स्पष्टम्। अत्र विरोध इत्येतत् प्रश्नपूर्वकमवतारयति – **तत्कस्येति**। कस्माद्धेतोरित्यर्थः। षष्ठी हेतुप्रयोग इति [पा.सू. २।३।२६।] हेतौ षष्ठीविधानद्यत्नप्रयत्नस्यैव हेतुत्वे स्वात्मनि क्रियाविरोध इति। किं तर्हि प्रवृत्तेः हेतुरित्यत्राह – **अपि त्विति**। अस्तु तर्हि इच्छैव कर्तृधर्मो लिङर्थो विधिश्चेत्यत्राह – **न च सापीति**। अस्तु सत्तैव प्रवृत्तिहेतुरित्यत्राह – **सत्त्वादिति**। हेतुमाह – **न च लिङ इति**। हेत्वभावादिति भावः।

प्रत्ययायोगादिति हेतुमवतारयितुं शङ्कते – **न च लिङेवेति**। ज्ञानयोनित्वादिच्छाया इति लिङैव तज्जनने बाधकमाह – **अर्थेति**। तत्रैव बाधकान्तरमाह – **अर्थेति**। तत्रैव बाधकान्तरमप्याह – **अनुपलब्धेति**। भावनेच्छयोर्विधित्वनिरासमार्गेण संकल्पविधिवादोऽपि निरस्त इत्याह – **एतेनेति**। यदाहुः–"अन्तः संकल्पमूलात्मा वृत्तिर्विधिनिषेधयोः' इति। कथमेकेन निरस्तमित्यत्राह – **कुर्यादिति**। संग्रहश्लोकस्थं विरोधादित्येतदेवाह – **स्वात्मनि वृत्तिविरोधादिति**। अस्त्वर्थादिति हेतुमेवाह – **सा हीति**।

फलेच्छा तु निसर्गवाहितया ... इति कर्तृधर्मव्युदासः। पृ० २८५-२८८।

मा भूत्साधनविषयेच्छाफलविषया त्वस्ति निसर्गसिद्धत्वादतः सैवास्तु प्रवृत्तिरित्यत्राह – **फलेच्छेति**। न हि फलविषयेच्छासाधने प्रवृत्तिं जनयति अतिप्रसङ्गादिच्छा-विषयस्तु फलं न प्रवृत्तेर्गोचर इति। किञ्च फलेच्छायाः प्रवृत्तिहेतुत्वे तत्स्वरूपप्रतीत्योरन्यत एव सिद्धेः शास्त्रवैयर्थ्यं स्यादित्याह – **तदर्थञ्चेति**। अस्त्यन्यतः सिद्धायामपि शास्त्रप्रवृत्तिरित्याह – **अप्राप्ते चेति**। अनेन च प्रत्ययायोगादिति व्याख्यातम्। यदि प्राप्तेऽपि शास्त्रं प्रवर्तेत तदा पौनरुक्त्यदोष इत्याह – **तदभिधाने चेति**। पौनरुक्त्यमेवाह – **तथा हीति**। उक्तं न फलेच्छासाधने प्रवृत्तिं जनयति अन्यविषयत्वादिति। तत्रापि विपक्षे दण्डमाह

– **यदि चेति**। अनेनैव संस्कारादिति व्याख्यातम्।

ननु फलेच्छा तत्साधन एव पुरूषं प्रवर्त्तयति नान्यत्रेति, नातिप्रसङ्ग इत्याह– **हेतुफलेति**। किमत्राज्ञात एव हेतुफलभावः प्रवृत्तिं नियच्छति ज्ञातो वा। पूर्वत्र श्रुतिलिङ्गादियुक्तवाक्यानामेव स्वर्गकामानां वस्तुतः स्वर्गसाधने यागे प्रवृत्तिः प्रसज्येत। उत्तरत्र तु ब्रह्मसाधनेच्छयैव साधने प्रवृत्तिरस्तु किं फलेच्छयेत्याह – **नाज्ञातस्येति**।

ननु फलमेव हि कामयन्ते प्रेक्षावन्तो न साधनमित्यत्राह – **यो हीति**। सुखसाधनस्याप्यस्त्यौपाधिकं सुखत्वमिति भावः। अस्तु तर्हि साधनेच्छा प्रवर्तिकेत्यत्राह – **न च सेति**। साधनत्वज्ञानेन हि तत्रेच्छा न च तज्ज्ञानं लिङ्श्रुतिकालेऽस्ति लिङ इष्टसाधनतार्थत्वानभ्युपगमादिति।

नन्वसत्यपि साधनेच्छा लिङा ज्ञायमाना प्रवर्तयत्वित्यत्राह – **न चेति**। हेतुमाह – **स्वर्गकामा इति**। इतोऽपि वाक्यात् साधनेच्छाप्रतीतेरिति। असत्या एव ज्ञायमानतया प्रवर्तकत्वमिति प्रसङ्गान्तरमाह – **लिङा चेति**।

ननु स्वसम्बन्धितया इच्छावगमः प्रवृत्तिहेतुः न च स्वर्गकामो यागचिकीर्षावानित्यतः तथावगमः। तत्स्वरूपमात्रावगमादित्यत्राह – **स्वसम्बन्धितयेति**। अत्र चेष्टहानिं तावदाह – **प्रथमेति**। अनिष्टाप्तिमप्याह – **ओदनेति**।

अथ दूषणान्तरविवक्षया संकल्पज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुत्वमवगम्यैव पृच्छति – **अपि चेति**। संकल्पस्य हेतुं प्रयोजनं चाह – **संकल्पविषयेति**। कुर्यामिति संकल्पो यदर्थविषयस्तज्ज्ञानादेव प्रयत्ननिष्पत्तये संकल्पस्य जन्मेति पुनरपि सिद्धान्ती संकल्पं तद्विषयं च विविञ्चानः पृच्छति – **नन्विति**। इच्छा हि तावत् स्वतः सुखे भवति सुखानुशयी स्यात्, सुखसाधने च तत्साधनत्वोपाधिना भवति। ततः संकल्पात्मनः इच्छाविशेषस्य विषयीभवताऽप्यनयोरन्यतरप्रकारजुषा भवितव्यम्। स तु कथं केन प्रकारेण विषयो भवतीति संकल्पविधिवाद्याह – **तत्साधनत्वादिति**। सिद्धान्ती विवक्षितं दूषणमुद्गिरति – **तर्हीति**। संकल्पविषयज्ञानात् संकल्पजन्मेति ब्रुवता सुखसाधनस्य तद्विषयत्वाभ्युपगमात् सुखसाधनत्वज्ञानात् संकल्पोत्पत्तित्वाभ्युपगमः स्यात्। वयं चात्र संप्रतिपत्तार इति भावः।

एवमनभ्युपगमे दोषमाह – **अन्यथेति**। प्रयत्नहेतुत्वेनास्माभिरभ्युपगतानिष्ट साधनताज्ञानं यद्यन्तरा संकल्पं न जनयेत्, ततः प्रवृत्तिहेतुत्वायोगादनर्थकमेव स्यात्। न हीष्टसाधनताज्ञानं कुर्यामिति संकल्पमन्तरेण प्रवृत्तिहेतुः स्यादिति किमत्र भवन्तोऽपि संकल्पस्य प्रवर्तकत्वमङ्गीकुर्वन्त्येवेति। अत्रोपसंहारव्याजेनाह – **तस्मादिति**। तर्हि संकल्प एव विधिः स्यादित्यत्राह – **किन्त्विति**। संकल्पस्येच्छात्मकत्वात्तस्याश्च सत्तया प्रवर्त्तकत्वात् विधेश्च लिङाद्यवगतस्यैव प्रवर्तकत्वान्न संकल्पो विधिरित्येतेनैतन्निरस्तम्। यदाह – *महाव्रतः*

विधिरिच्छा प्रयत्नो वा भवेत्, कार्यं न जातुचिदिति।

ननु मा भूत् कर्तृधर्मस्पन्दो भावना वा विधिः, मा च भूदिच्छाज्ञानं भविष्यतीत्याशङ्क्यात्रापि प्रत्ययायोगात् सङ्करादिति हेतुद्वयमेवोत्तरमित्यभिसन्धायाह – **ज्ञानं चेति**। न तावन्निर्विषयं ज्ञानं प्रवर्त्तकम्। निर्विषयज्ञानासम्भवात् सर्वस्य ज्ञानस्य सर्वत्र प्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गाच्च विषयविशेषावच्छिन्नस्य तु प्रवर्त्तकत्वम्। **तद्विषयोपहारेणेति**। स एव विषयो विधिरिति उपसंहरति - **इतीति**। इतिशब्दस्तस्मादर्थे। इष्टाहान्यादिहेतुचतुष्कं परामृशतीति।११।

अस्तु तर्हि कर्तृधर्मः नेत्युच्यते, अतिप्रसङ्गान्न फलं ... न चाश्रुतमपि कल्पयितुं शक्यते बीजाभावात्। पृ० २८९-२९६।

अथ कर्मधर्मस्य विधित्वमुत्थाप्य निराकरोति – **अस्त्विति**। कर्मभिः क्रियत इति व्युत्पत्त्या फलं वा करणव्युत्पत्त्याऽपूर्वं वा भावव्युत्पत्त्या तत्करणं क्रिया वा विवक्ष्यते। तत्र फलस्य धर्मः तद्विषयेच्छैव सम्भवति। स तावन्न विधिः, न हि फलेच्छासाधने प्रवृत्तिं प्रसूते, अतिप्रसङ्गात्। न चापूर्वस्य धर्मोऽपूर्वत्वं विधिः अपूर्वस्य प्रमाणान्तरादनवगत एव व्युत्पत्तेरवगतौ नापूर्वत्वमिति हि तेषामुद्घोषः। न चापूर्वस्य धर्मस्तद्गतं कार्यत्वविधिः नित्यनिषेधाधिकारयो स्तर्कसम्पादनाभावेनापूर्वस्यैवाभावात्। न च क्रियाधर्मः तत्कार्यत्वं विधिः, संकल्पविशेषो हि तत्कार्यत्वं स च न प्रवर्त्तक इत्युक्तमिति संग्रहार्थः।

ननु कथं कर्मधर्मविधित्वनिराकरणं प्रतिज्ञाय फलापूर्वेति क्रियानिरासं गच्छत इति शङ्कानवकाशाय कर्मस्वरूपं विकल्पयति – **कर्म हीति**। यस्य धर्मो विधिर्भवेदिति विकल्पविशेषः फलेच्छाया इति। सा हि न तावत्फले प्रवृत्तिहेतुः प्रवृत्त्यगोचरत्वात् फलस्य। न च तत्साधने अन्येच्छाया अन्यत्र प्रवृत्तिहेतुत्वे

अतिप्रसङ्गादिति अपूर्वकर्मपक्षं दूषयति – **न द्वितीय इति।** विकल्पपूर्वकम– व्युत्पत्तिमेवाह – **लिङादीति।** लिङादिशब्दादेवापूर्वत्वमवगम्य तत्र व्युत्पत्तिरित्यत्राह – **तत एवेति।** सम्बन्धग्रहे सति ततोऽवगतिः। ततोऽवगतौ सम्बन्धग्रह इति गन्धवती पृथिवीति गन्धवत्त्वेनोपलक्षिते पृथिवीत्वे पृथिवीशब्दवत् कृतिसाध्यमपूर्वमिति प्रसिद्धेन कर्मत्वेनोपलक्षिते तदैकार्थसमवायिन्यपूर्वत्वे लिङा व्युत्पत्तिरित्यत्राह – **न चेति।** हेतुमाह – **तत्र हीति।** गन्धवती पृथिवीत्यत्र गन्धवत्त्वपृथिवीत्वयोरुभयोरपि प्रतीयमानयोः किं स्यात् प्रवृत्तिनिमित्तमिति सन्देहे गन्धवत्त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वे विशिष्टाभिधानगौरवप्रसङ्गात्। पृथिवीत्वं निमित्तमिति कल्प्यते नैवमत्र सम्भवति अप्रतीतपूर्वस्यापूर्वस्य कार्यत्वेनोपलक्षणायोगादिति।

अथ प्रमाणान्तरागोचरेऽपि तर्कबलोपनीत एवापूर्वे व्युत्पत्तिं समर्थयमान आह – **स्यादेतदिति।** व्युत्पित्सुरन्ततः स्तनपानादौ कार्यज्ञानस्यैव स्वात्मनि प्रवृत्तिहेतुत्वेनावगमात् कार्यत्वेनोपलक्षितायां क्रियायामुपक्रान्तव्युत्पत्तिः वेदे त्वधिकारिविशेषणत्वेन कालान्तरभाविनः स्वर्गादेः श्रवणात् क्षणभङ्गिनश्च यागादेस्तत्साधनायोगादतत्साधने च तत्कामिनो नियोगानुपपत्तेः। यागादिक्रियाया एव स्थायित्वकल्पने प्रमाणविरोधप्रसङ्गात्। क्रियोत्तीर्णमलौकिकम्। किञ्चित्कालान्तरावस्थानक्षममपूर्वाख्यं कार्यत्वेनोपलक्ष्य तत्रैव व्युत्पद्यत इति। यथाह *शालिकनाथः*–

स्तनपानादिकार्येषु दृष्टा या तृप्तिविक्रिया।
तां तु यावन्न सोऽध्येति तावन्नैव प्रवर्तते।। [प्रककरणपञ्चिका]

त्कातत्र लोकानुसारेण क्रिया कार्येति यद्यपि तथापि वेदे षष्ठाद्यसिद्धान्तेऽवधृते सति स्वर्गकामादयः सर्वे नियोज्यत्वेन संस्थिताः नियोज्यत्वकार्याय स्वकीयत्वेन बुध्यते। स्वर्गादिकामयोगाच्च साध्यत्वेनैव गम्यतेऽनेन साध्यत्वपर्यन्तं स्वर्गादीच्छाविशेषितं तदेव शक्नुयात्। बोद्धुं कार्यं यत्कामसाधनमिति तदेतत्*प्राभाकर*सर्वस्वं निराकरोति – **नेति।** किमिदं कार्यत्वेनापूर्वस्योपलक्षणं नामकं स्मरणं हस्तिनैव हस्तिपकस्य। किं वानुमानं धूमेनैव धूमध्वजस्य। तच्चोभयमप्यगृहीतसम्भेदेनाशक्यम्। न चात्र सम्बन्धग्रहः सम्भवति। सम्बन्धिनोऽपूर्वस्यानवगमादिति।

ननु यथा संस्कारादयो ह्यगृहीतसम्बन्धा एवार्थान् स्मारयन्ति। तथा

कार्यत्वमप्यगृहीतसम्बन्धमेवापूर्वं स्मारयिष्यतीत्यत्राह – न हीति। उपलक्षयति ज्ञापयतीत्यर्थः। ज्ञानापेक्षणादिति युक्तम्। संस्कारादीनां सम्बन्धज्ञानानपेक्षत्वं स्वकार्यजनने स्वज्ञानापेक्षणात् कार्यं त्वपूर्वोपलक्षणे स्वज्ञानापेक्षमिति सम्बन्धज्ञानमप्यपेक्षते। एतदुक्तं भवति सम्बन्धज्ञानानपेक्षत्वव्यापकं ज्ञानानपेक्षत्वं कार्यत्वान्निवर्त्तमानं स्वव्याप्यं सम्बन्धज्ञानानपेक्षत्वमप्युपादायैव निवर्तत इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिरिति। तस्मात् स्वज्ञानापेक्षस्य कार्यत्वस्य हस्त्यादय एव दृष्टान्ताः, न तु संस्कारादय इत्याह – तत इति।

यत्तु प्रमाणान्तरागोचरस्याप्यपूर्वस्य व्युत्पत्तिसिद्ध्यर्थमुक्तन्यायसम्पादनम्, तदपि निरर्थकमित्याह – तथा चेति। कुत इत्याह – न हीति। न खलु भङ्गुरो यागादि स्वर्गसाधनम्। न च तस्य स्थायित्वकल्पनम्। न चातत्साधने कामिनो नियुक्तिः। न च शक्तिमति विनष्टे शक्तेरवस्थितिरित्यादिभिः परस्सहस्रेणापि युक्तिभिरनवगतपूर्वे न व्युत्पत्तिरव्युत्पन्न एव वा शब्दः प्रत्यायकः स्यादिति ये पुनराहुः – क्रियात्मनः कार्यादपूर्वात्मनः कार्यस्य भेदाग्रहात् क्रियाकार्यविषयैव व्युत्पत्तिः क्रियाकार्यविषयैवावतिष्ठते। यथा रजतव्यवहारः शुक्तिविषय इति तदप्येतेनापूर्वस्याप्रतीतपूर्वत्वेन निरस्तमित्याह – एतेनेति। कथमित्याह – न हीति। न हि धर्मिरूपेऽप्यज्ञाते भेदाग्रहो व्यवहारहेतुः सर्वत्र रजतव्यवहार-प्रसङ्गादिति। अपूर्वत्वे व्युत्पत्तिमङ्गीकृत्याप्याह – किञ्चेति। तत्रेति। लोके कार्यत्वोपलक्षणीयस्यापूर्वत्वस्याभावादिति। यदि लोके कार्यत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यात् तर्हि वेदेऽपि तथैवास्तु नापूर्वत्वमित्याह – तत्रेति। तदेवं पूर्वार्धं व्याख्याय तृतीयपादं व्याचिख्यासुः शङ्कते – अस्त्विति। कार्यत्वमेव लिङः प्रवृत्तिनिमित्तम्। तत्तु लोके क्रियायामेव पर्यवस्यति वेदे पुनः स्वर्गकामादिनियोज्यान्यथानुपपत्त्या अपूर्वात्मनि विशेषे विश्राम्यति, यथा गवादिशब्दानां जातिमात्रनिमित्तानामेवार्थ-प्रकरणादिवशेन शावलेयादिविशेषविश्रान्तिरिति। नेति। अहरहः सन्ध्यामुपासीत, ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादि नित्यनिषेधविधिषु कामिपदं सम्बन्धाभावेन तत्सम्पादनाभावादपूर्वात्मविशेषो न सिध्येदिति कामाधिकारेऽपूर्वलाभादन्यत्रापि तदेव लिङर्थ इति निर्णेष्यत इत्यत्राह – न चास्मिन्निति। कार्यत्वं लिङः प्रवृत्तिनिमित्तमित्यत्र पक्ष इति कुतो न सम्भवतीत्यत्राह–कार्यत्वस्यैवेति। तर्हि कामाधिकारवत्तत्सम्पादनयापूर्वव्यक्तिलाभ इत्यत्राह – न्यायेति। कथं तत्र तदसम्भव इत्यत्राह – फलेति। तर्हि विश्वजिदादिवत् कल्पयिष्यत इत्यत्राह –

न चाश्रुतमपीति।

तद्धि विध्यन्यथानुपपत्त्या कल्प्येत ..... लाक्षणिकोऽसाविति चेन्न, मुख्यार्थत्वे विरोधाभावात्। पृ० २९६-३०६।

बीजाभावमेवाह – **तद्धीति**। चेतनप्रवर्तननिवर्तनात्मकयोर्विधि-निषेधयोर्विषयगतमर्थानर्थसाधनत्वमन्तरेणानुपपत्तेस्ताभ्यां वा फलं कल्प्यते। अर्थानर्थप्राप्तिपरिहारसाधनत्वाधीनमेव लोके गवानयनादेः कार्यत्वं दृष्टमिति।

कार्यत्वान्यथानुपपत्त्या वेति द्वयी गतिः। न प्रथमः, *गुरुमते* तस्यापूर्वात्मनो विधेरेव प्रधानसाध्यत्वेनोपाधिरूपत्वात् स्वयमेव फलत्वेन फलान्तरमन्तरेणानुपपत्त्य भावादिति अनुपपत्त्यभावमेवाह – **यत इति**। एभिः श्रुतं स्वर्गफलत्वमपि यस्मिन्वाक्ये तस्मिन्नपि विधेः स्वयमेव फलत्वादेकस्मिन् वाक्ये फलद्वयासम्भवाच्च नियोज्यविशेषणतया श्रूयमाणस्य गत्यन्तराभावात् प्रधानसाध्यमपूर्वमेव स्वर्गादिरूपेण विवर्धते इति वदन्ति। यथा आत्मसिध्यनुकूलस्य नियोज्यस्य प्रसिद्धये कुर्वत् स्वर्गादिकमपि प्रधानं कार्यमेव न इति कथमिव ते वदेयुः। अश्रुतफलेषु वाक्येषु फलं विना विध्यनुपपत्तिरिति। **न द्वितीय इति**। न हि शब्देनैव कार्यत्वप्रत्यये जनयितव्ये फलस्यापेक्षास्तीति लोके तदपेक्षा दृष्टेत्युक्तमिति चेत्तत्राह – **लोक इति**। लोके हि शब्दानां विनियोगमात्रपरत्वेन नियोगपरत्वाभावात् न कार्यतायाः प्रामाण्यमिति यदिष्टाभ्युपायताधीन एव कार्यताप्रत्ययः विदे तु शब्दादेवान्यानपेक्षात् कार्यता प्रत्यय इति भवताभ्युपगम इति वेदेऽपि यदिष्टताभ्युपायताधीन एव कार्यता प्रत्ययः स्यात्तत्राह – **अन्यथेति**।

ननु वेदे शब्दावगतात् कार्यत्वात् फलमनुमीयते, कार्यत्वस्येष्टसाधनतया लोके व्याप्तिदर्शनादित्यत्राह – **आनुमानिकमिति**। न हि सुखदुःखा-भावश्चेष्टाभ्युपायः।

अथ च कर्तव्यमिति तर्हि फलव्यतिरिक्तत्वे सति कर्त्तव्यत्वादिति हेतुर्भविष्यतीत्यत्राह – **फलं विहायेति**। निराकर्ता फलशब्दार्थं पृच्छति – **तदेवेति**। इतरस्त्वनन्यार्थेच्छाविषयः फलमित्याह – **इष्टं तर्हि फलमन्यदनिष्टं स्यात्**। तस्य च कर्तव्यत्वं व्याहन्येत अन्योद्देशप्रवृत्तिकृतिसाध्यरूपत्वात् कर्तव्यस्येति इष्टसाधनत्वे सतीति विशेषयिष्याम इत्यत्राह – **तदिति**। **तर्हीति**। यतः इष्टसाधनत्वमेव साध्यमपीति न तावदिदं कार्यं स्वभावत इष्टम्। अथ च कर्तव्यतया

शास्त्रेणावगम्यते। तेनौपाधिकमस्येष्टत्वम्। तच्चेष्टसाधनत्वेनेति। तदनुमानमित्याह – **स्वभावत इति**। तत्रापि विशेषणासिद्धिरित्यत आह – **अन्यथेति**। स्वभावत इष्टत्वानङ्गीकारे कर्तव्यता न सिद्ध्येत्। ततश्च पूर्वोक्त एव व्याघात इति तदेवं नित्यनिषेधाधिकारयोः फलस्याश्रवणात्तत्प्रमाणान्तराभावान्न्यायसम्पदनाभावे कार्यत्वस्यापूर्वव्यक्तिलाभे नास्तीत्युक्तम्। सम्प्रत्यगत्या तदलाभमभ्युपगच्छति। **अस्त्विति**। तथापि न सर्वथा पूर्वोच्छेद इति भावः।

सर्वथैवोच्छेदमाह – **किमिति**। तत्रापि तदभावमाह – **न हीति**। स्वप्रधानतयाभिधीयमानस्य स्वर्गं प्रति गुणत्वेनाभिधानासम्भवादिति।

ननूक्तमत्र न हि स्वर्गकामिनो तत्साधने कार्यविधिः संभवतीति तेन लिङानभिधानेऽपि पदद्वयसमभिव्याहारात्मनो वाक्यादेव कार्यस्य स्वर्गसाधनत्वं सिध्यतीत्यत्राह – **नापीति**। वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीतेत्यादिष्वधिकार्यावच्छेदमात्रे कामपदसमभिव्याहारे न श्रुतं कार्यप्राधान्यं हातव्यमिति।

ननु माभूत् वाक्यादनुमानतस्तु सिध्यतीत्याह – **न चेदमिति**। किमत्रान्येच्छया कर्तव्यत्वं स्वेच्छया वा। पूर्वत्रासिद्धिः स्वोद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वात् कार्यस्योत्तरत्र व्यभिचारः। तदिच्छयैव कर्तव्यस्य सुखस्येष्टसाधनत्वाभावात्।

नन्विच्छाकर्तव्यत्वयोः भिन्नविषयत्वाङ्गीकारेणान्यार्थतया कर्तव्यत्वं कार्यस्य ब्रूमः। अस्ति च तस्येष्टसाधनत्वेन व्याप्तिरित्यत्राह – **औपाधिकेति**।

ननु किमनेन स्वाभाविकेनौपाधिकत्वविशेषचिन्ताव्यसनेन ब्रीहिकामः कृषिं कुर्यादितिवत् स्वर्गमिच्छतोऽन्यत् कर्त्तव्यमिति शब्दो बोधयति। तेन यत्कर्त्तव्यं तदिष्टाभ्युपाय इत्यनुमीयते इत्याह – **किमनयेति**। **नेति**। न हि सागरं गन्तुकामस्य हिमवद्गमनवदन्यदिच्छतोऽन्यत् कर्तव्यतयाऽन्वेतुं योग्यम्। कृष्यादौ ब्रीह्यादिसाधनत्वज्ञानाधीनमेव कर्तव्यताज्ञानमिति भावः।

यत एवान्यमात्रस्यान्वययोग्यता नास्ति। अत एव तदन्वययोग्यता-सिद्ध्यर्थमिष्टसाधनत्वं सेत्स्यतीत्याह – **अत एवेति**। **एवं तर्हीति**। योग्येनैवान्विताभिधानादिष्टसाधनत्वैकार्थसमवायिन्या एव कर्तव्यताया योग्यत्वात्तदभिधाने चानुमेयाभाव इति तदेवं स्वर्गमिच्छतोऽपूर्वस्य कर्तव्यत्वमन्वयायोग्यत्वान्नाभिधीयत इत्युक्तम्। सम्प्रत्यभ्युपगम्याह – **न चान्विताभिधानेऽपीति**। ब्राह्मणत्वादिवत् स्वर्गकामपदान्वयोपपत्तिरित्युक्तमेवेति

न केवलं कार्यात्वादपूर्वव्यक्तेरलाभः। असम्भावितमपूर्वे कार्यत्वमित्याह – **न चेति**। तद्धि कार्यत्वं कृतिव्याप्यमपि चेत् ब्रीहीन् प्रोक्षतीत्यत्र ब्रीहीणामेव तथात्वात् कार्यत्वं स्यात्। अथ कृतिजन्यत्वं यागस्यैव स्यात् साक्षात्कृतिजन्यत्वात् यदि कृत्युद्देश्यत्वं तत्स्वर्गस्यैव स्यात्, तस्यैव निसर्गसुन्दरत्वादिति। न चात्र सर्वस्याप्यपूर्वस्य कार्यत्व... विपरीतत्वात्तस्येत्याह – **न त्विति**।

नन्वीप्सिततमत्वाभावेन स्वभावतः कार्यत्वाभावेऽपि स्वर्गसाधनत्वोपाधिनापूर्वस्यापि भविष्यतीत्याह – **स्तनपानेति**। औपाधिक्यपि कार्यता यागस्यैव न त्वपूर्वस्येत्यत्राह – **सापीति**।

ननु साधनत्वेन श्रुतस्यापि यागस्य क्षणिकत्वेन कालान्तरभाविस्वर्गसाधनत्वायोगादपूर्वस्यैवौपाधिकं कार्यत्वमङ्गीकार्यमित्याह – **कालेति**। यथाश्रुतस्यैव यागस्य स्वर्गसाधनत्वं निर्वहति, तथा कल्पना युक्ता। श्रुतानुरोधश्च यागस्यैव कथञ्चित् साधनत्वाङ्गीकारे स्यान्न त्वपूर्वसाधनत्व इत्याह – **यथेति**।

ननु व्यापारद्वारा हि यागस्य साधनत्वं निर्वहेत्। न च व्यापारिणि यागे विनष्टे तद्व्यापारोऽवतिष्ठते। किञ्च कारणस्य हि व्यापारयोगः। न च विनष्टस्य यागस्य कारणत्वं कार्यानन्तरपूर्ववर्तिनः कारणत्वादित्याह – **व्यापारद्वारेति**। द्वयीमप्यनुपपत्तिं परिहरति – **नेति**।

ननु कृष्यादितदवान्तरकार्ययोः कारणत्वव्यवहारः लाक्षणिक इति नैतन्निदर्शनमत्रेत्याह – **लाक्षणिक इति**। स्यादेवं यदि मुख्यत्वे प्रमाणविरोधः स्यात् न चासावस्तीत्याह – **मुख्यार्थत्व इति**।

अस्तु तर्हि पुत्रेण हते ब्रह्मणि चिरध्वस्तस्य ...... द्वितीये दुःखेऽपि तथाविधे प्रवर्तेत तृतीये तु वक्ष्यते। पृ० ३०६-३०८।

अपूर्वव्यवहितस्यैव व्यापारयोगित्वे विरोधमाशङ्कते – **अस्तु तर्हीति**। कार्यव्यभिचारिपुत्रस्य पितुः कारणत्वानिर्वाह-कतयावान्तरव्यापारलक्षणाभावात्तदवान्तरव्यापारत्वेन पितुः कारणत्वं प्रसज्यत इत्याह – **नेति**। पूर्वभावनिर्वाहः कारणत्वनिर्वाह इत्यर्थः। कारणत्वनिर्वाहक एवावान्तरव्यापार इत्यत्र दृष्टान्तः **यथार्थानुभवस्येति**। तत्र हि स्मरणं प्रत्यन्वयव्यतिरेकावधृतकारणभावस्यातीतत्वेन कारणत्वानुपपत्तौ तदुपपादकत्वेन संस्कारः कल्प्यते न तु कारणत्वोपपत्ताविति। तथा यागस्यापि शब्दावगतकारणत्वानुपपत्तौ

तन्निर्वाहकतया व्यापारः कल्प्यत इत्याह – **तद्वदिति**। नास्त्यसतो व्यापारद्वारा कारणत्वम्, किन्तु सत एवेत्यङ्गीकारेऽनिष्टद्वयमाह – **न चेदेवमिति**। शरविमोक्षसमये हतस्य हन्तुः शरीरस्यासत्त्वात्, सत्त्वाच्च पितुरिति यत एवापूर्वत्वं वा लिङः प्रवृत्तिनिमित्तमित्युक्तम्। अत एव तदुभयमपीति पक्षेऽपि प्रतिक्षिप्त इत्याह – **अत एवेति**। न क्रियेति संग्रहं व्याचिख्यासुः शङ्कते – **अस्त्विति**। यद्यपूर्वकार्यत्वं न विधिः तर्हि धात्वर्थकार्यत्वमस्तु सर्वेषां तत्कार्यतामेवावगम्य संकल्पपूर्वकं प्रवृत्तेरिति तत्र कार्यताप्रतीतिं विकल्पयति – **कर्तव्यमिति**। कः खलु कर्तव्यमेव तदिति वाक्यार्थः। किमध्यवसायो यदनन्तरं प्रवृत्तिर्जायते सोऽध्यवसायश्चिकीर्षेति, यावत्तस्य क्रियाधर्मत्वं तद्विषयत्वमेव। किं वा कर्तुं योग्या क्रियेत्यौचित्यमात्रमिति। तत्राध्यवसायः संकल्प एवेत्याह – **तत्रेति**।

ननु कुर्यामित्येवमाकारः संकल्पः स कथं कर्तव्यमित्यध्यवसायादभिन्नः स्यादित्यत्राह – **व्यवहितेति**। भवतु संकल्पस्ततः किमित्यत्राह – **स चेति**। कथं तर्ह्ययं व्यवहारः कर्तव्यताप्रतीत्या प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरिति तत्राह – **तदेतदिति**। भ्रान्तव्यवहारोऽयमित्यर्थः। द्वितीयं संकल्पं विकल्प्य दूषयति – **औचित्यमिति**। न हि प्रागपि सतः कर्तुमौचित्यम्। न च प्रागभाववतोऽप्यशक्तस्य नापि सत्युभयस्मिन् कर्तुरनुपकारस्येत्यौचित्यं त्रेधा संभवः। प्रथमेऽनुत्पन्नासु सागरतरणादिक्रियास्वपि प्रवर्तेत। द्वितीये शक्यक्रिये स्वशरीरं प्रहारादावपि प्रवर्तेत। तृतीये तु वक्ष्यमाण एवेष्टसाधनत्वपक्षोक्ता दोषा अनुसन्धेया इति।१२।

अस्तु तर्हि करणधर्मः। न, करणं हि शब्दः, ... एवञ्च सति सा नाभिधीयते इत्यवे निर्णयः। पृ० ३०९-३२०।

तदेवं कर्मधर्मपक्षं निराकृत्य इदानीं कर्म विधिरित्येन्निराकर्तुमुपक्षिप्य विकल्पयति – **अस्त्विति**। प्रवृत्तिं प्रति पुरुषेण नियुज्यमानो लिङादिशब्दः करणम्, तस्य च धर्मो व्यापारः, स च स्वार्थस्य भावना या अभिधा सैव प्रवर्त्तनात्मको विधिः। यद्वा लिङर्थो भावनादिकरणं तस्य धात्वर्थं प्रति निर्वाहकत्वात्तद्धर्म इष्टसाधनत्वं स विधिरिति तत्र वाभिधात्वं तावन्निराचष्टे – **न प्रथम इति**। शब्दसमवेतस्याभिधात्मनो व्यापारस्यासत्त्वात् सत्त्वेऽपि ततोऽप्रवृत्तेश्च न विधित्वम्। न च विधित्वेन प्रसक्तानां क्रियादीनां बाधकेन प्रतिषेधात् अभिधाया एव परिशेषः। तस्या अपि बाधकसद्भावादिति असत्त्वादित्येद्विभजते। सङ्गतिः प्रतिसन्धानमेव शब्दव्यापारोऽभिधेत्यर्थः। कथमन्यसमवेतस्यान्यव्यापारत्वमत

आह – **आत्मेति**। यथा ह्यात्मसमवेतमेवापूर्वं यागस्य व्यापारः, तथा श्रोत्रात्मसमवेतस्यापि सङ्गतिप्रतिसन्धानस्य शब्दव्यापारत्वमिति कथमशब्दहेतुकस्तद्व्यापार इत्यत्राह – **विषयतयेति**। तथा लिङ्गस्य परामर्शज्ञानं प्रति विषयतया हेतुत्वम्। तथा प्रतिसन्धानं प्रति विषयतया शब्दस्य हेतुत्वोपपत्तिरिति। यद्वान्यसमवेतस्यापूर्वस्य यागजन्यत्वात्तद्व्यापारत्वमुपपद्यते। सङ्गतिप्रतिसन्धानस्य तु शब्दादन्यस्य कथं तद्व्यापारत्वमित्यत्राह – **विषयतयेति**। यथा नु लिङ्गस्य परामर्शज्ञानं प्रति हेतुत्वम् तथा सङ्गतिप्रतिसन्धानं प्रति शब्दस्य सङ्गत्याश्रयत्वेन विषयतया शब्दस्य हेतुत्वाविरोध इति। अप्रवृत्तेरिति विभजते – **अधिकत्वेऽपीति**। अभिधादिशब्दान्तरेणाभिधानावगमेऽपि न प्रवृत्तम्। ते च तदनवगमेऽपि लिङर्थज्ञानाभावेऽपि प्रवृत्तिसम्भवादिति। अनेन व्यतिरेकव्यभिचाराद-प्रवृत्तिहेतुत्वमुक्तम्। अन्वयव्यभिचारादप्रवृत्तिहेतुत्वं दर्शयति – **प्रवृत्तिव्यभिचारादिति**। विलक्षणेनैवाभिधा प्रवृत्तिहेतुः, सैव लिङो विषयः नाभिधामात्रम्, अभिधाया द्वे कार्ये अर्थप्रतिपत्तिः पुरुषप्रवृत्तिश्च तत्र यदि प्रतिपन्नं प्रति वैलक्षण्यं विलक्षणप्रतिपत्तिजनकतया तद्वैलक्षण्यमित्यर्थः। तत्र पक्षे प्रतीतिविषयार्थविशेषणमन्तरेण प्रतीतिवैलक्षण्यानुपपत्तेरर्थविशेषोऽपि स्यात्। तत्र स एवार्थविशेषो लिङाभिधेय इत्याह–**प्रवृत्तिमात्रमिति**। मात्रशब्देन प्रतिप⋯**अभिधेति**। प्रवर्तकत्वलक्षणं तद्वैलक्षण्यमभिधायामेव समवेतं न तु लिङर्थत्वेन वादिभिरुच्यमानेषु कार्यादिष्विति कुतो लभ्यत इति हेतुं शङ्कते – **सन्निधेरिति**। लिङशब्दश्रवणानन्तरं जायमानायाः प्रवृत्तेः व्यापारभूताया अभिधायाः सन्निधेरिति। **अनियमादिति**। अन्येषामपि लिङर्थतया सन्निहितत्वेनाभिधाया एव सन्निधिरिति नियमाभावादित्यर्थः। अन्यस्य सर्वस्य निषेधादित्येतत् प्रवृत्तिहेतुत्व-निषेधाभिप्राय [एव] सन्निधिनिषेधोऽभिप्रायं वेति विकल्प्य दूषयति – **न प्रवृत्तीति**। **तुल्यत्वादिति**। अभिधाया अप्युक्तेन प्रकारेण प्रवृत्तिहेतुत्वनिषेधस्य तुल्यत्वादिति कार्यादीनामपि लिङ्शब्दश्रवणकाले प्रतीयमानानां निषेधस्याशक्यत्वादिति – **शब्दैकवेद्यत्व इति**। वैलक्षण्यस्य शब्दैकवेद्यत्वे तत्र शब्दव्युत्पत्त्यभावान्न लिङर्थत्वमिति।

ननु प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्यार्थापत्त्या सिद्धे प्रतीते वैलक्षण्ये [व्युत्पत्तिः] चेत्तत्राह – **प्रवृत्तीति**। कुत इत्याह – **न हीति**। प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या हि प्रवृत्तिहेतुः कश्चिदस्तीत्येतावन्मात्रं प्रतीयते। एवं कश्चिदस्तीत्यनिर्धारितविशेषे वस्तुनि व्युत्पन्नेन

शब्देनापि प्रवृत्तिरस्तीति प्रतीयते। न चैवं रूपः स तु प्रतीत्य कश्चित् प्रवर्त्तते इति। एवं कर्तृकर्मधर्माणां करणधर्मयोरप्यभिधेयेष्टसाधनत्वयोरभिधायाश्च विधित्वं निरस्य इष्टसाधनक्रियाविधित्वं पूर्वपक्षत्वेन परिगृहीतेष्टसाधनतेति इष्टसाधनताया एव स्वात्मनि प्रवृत्तिहेतुत्वं जानन् व्युत्पित्सुः कर्तव्यतैकार्थसमवायिनी सैव लिङर्थो विधिरिति दर्शयति – **समवायिनीति**। प्रयत्नजननीमित्येतत् प्रवृत्तेः अतिविषयत्व–लक्षणकर्तव्यतैकार्थसमवायिन्या एवेष्टसाधनताया एव लिङर्थत्वावधारणार्थमुक्तम्। इष्टसाधनतापक्षेऽप्यवश्याभ्युपगमनीया कर्तव्यतैव ···कल्पनालाघवाय न ··· मित्याह– **न चेति**। परं केवलं कर्तव्यतैवास्तु लिङर्थ इत्यर्थः। तक्षकचूडादिना इष्टसाधनेनापि तक्षकचूडारत्नेनेत्यर्थः। कर्तव्यत्वस्य च इष्टसाधनत्वस्य च लिङर्थत्वं प्रकारान्तरेणेत्यत्राह – **तत्रेति**। कृतिर्भावनाया विषयो यागादिर्धातुनाभिधीयते। भावना कृतिराख्यातप्रत्ययमात्रेण लिङामाख्यात-प्रत्ययविशेषाणां सामान्यरूपेणाख्यातप्रत्ययमात्रेणाभिधीयते। [कृति] विषयस्य यागस्येष्टसाधनत्वलक्षणं तद्विशेषेणाख्यातप्रत्ययविशेषण लिङाभिधीयत इत्येवमनेन प्रकारेण लिङः प्रवृत्तिनिमित्तमित्युक्तमिति सम्बन्धः। लिङेष्टाभ्युपायताद्यवगताय ······ प्र ······ परस्परमन्वयबलात्तद्विषयस्य कृतिविषयस्येष्टसाधनतावगतिर्भवतीति कर्तव्यतैकार्थसमवायिनीष्टाभ्युपायता लिङः प्रवृत्तिनिमित्तमित्युक्तिमिति। **करणस्येति**। करणस्य यागस्येष्टसाधनत्वाभिधाने यागस्य लिङाभिहितत्वाद्यागनामधेयात् ज्योतिष्टोमपदादनभिहिताधिकारविहितया तृतीयया विभक्त्या न भवितव्यमित्यवैयाकरणस्य व्याकरणशास्त्रानभिज्ञस्य चोद्यमनवधारणीयमवज्ञेयमिति। **कुतः सङ्ख्येति**। यथा कर्तृसङ्ख्याभिधानं कर्त्रभिधानमाख्यातेनेति प्रागिष्टम्। तथा करणसङ्ख्याभिधानं करणाभिधान-माख्यातेनेत्यर्थः। न च करणसङ्ख्याभिधानं यजेतेत्यत्रास्ति करणसङ्ख्यायाः पदान्तरे·····दित्याह – **न चेति**। किञ्च न यागस्य करणस्येष्टसाधनताभिधानं लिङा क्रियते, किन्त्विष्टसाधनतामात्राभिधानमेव अन्वयबलादेव यागेष्टसाधनतालाभ इति करणरूपाभिधानमपि लिङा नास्तीत्याह – **साक्षाद्विधिवाक्यश्रवणेऽपि न** इति करणरूपाभिधानमपि लिङा नास्तीत्याह – साक्षाद्विधिवाक्यश्रवणेऽपि न

नचान्तःसङ्कल्पेति। बाह्यपरिस्पन्दात्मा प्रवृत्तिः सर्वेषामित्यत उक्तम् – नचान्तःसङ्कल्पेति। न चेयमपि साक्षाद्विधिवाक्यश्रवणे प्रवर्तितव्यमित्यन्तःसङ्कल्पात्मा प्रवृत्तिर्भवति। न चेयमपि सिद्धोपदेशादित्यर्थः। **समर्थस्येति**। किञ्च कार्यादिविधिपक्षेऽपि कार्यादिशब्देन कार्यादिश्राविणां न प्रवृत्तिसङ्कल्प इति चोद्यं समानम्। समुत्कटकार्यत्वादिबुद्धेः प्रवृत्तिसङ्कल्पोऽसाविति समानपरिहारं चेति किमनेन चोद्येनेति। तथा चोक्तम्

यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे।। इति।

अत्र सिद्धान्तमाह – अत्राभिधीयत इत्यादिना सन्दोहादेव ···· स्तनपाना– द्यनुमानवदिति। यथा हि स्तनपानत्वादिदमिष्टसाधनमिति स्तनपानलिङ्गादनुमानात् बालेनेष्टसाधनत्वमवगम्यते तथेत्यर्थः। तत्प्रतिपादितादिति। लिङ्प्रतिपादितात् कुतश्चिद्वक्तुं नियोगादिरूपादर्थादनुमीयते चेष्टा तु विशेषानुमिताभिप्रायविशेषात् समयाभिज्ञेन चेष्टासंकेताभिज्ञेनेति।१३।

हेतुत्वादनुमानाच्च ..... सम्पादितो ह्यनेन नियोगार्थः। पृ० ३२०-३२३।

अत्र सन्देहस्य प्राप्तिकोटौ स्तनपानानुमानस्थानीयः, शब्दद्वितीयकोटौ चेष्टास्थानीय इति हेतुत्वादिनाभ्युपायत्वस्य लिङर्थं प्रति हेतुत्वेन व्यपदेशादिष्टाभ्युपायादन्यो लिङर्थ इत्यवगम्यते। क्वचिदिष्टाभ्युपायत्वेऽवगतेऽपि ततो विधिमनुमिन्वते तान्त्रिकाः। मध्यमोत्तमपुरुषयोरपि विहितैव लिङ् नेष्टाभ्युपायता किन्तु वक्तृसङ्कल्पं विधिव्यतिरिक्तेषु चाधीष्टसंप्रश्नाद्यर्थेष्विच्छायामेव लिङः क्लृप्तसामर्थ्यत्वं वक्तृनियोगव्यतिरिक्तेषु च सङ्कल्पेषु निषेधानुपपत्तिश्च। तस्मात्ततोऽन्य एव लिङर्थो विधिरिति विधिविहितौ.....णादिविहिता। अतो विधिविहिताया एव मध्यमादौ सङ्कल्पवाचित्वाद्विधिः सङ्कल्प इत्यवगम्यते। आशंसालिङीति। आज्ञाप्रभृत्याशंसापर्यन्तेष्वर्थेषु विहितायां लिङि नान्यदिच्छायाश्चकास्तीति! आज्ञादीनामि ········· मिति। आशीरिति। आशंसेति। अन्येष्विति। वक्तुरिच्छातोऽन्येष्विति अभिधाविधिपक्षे हननभावनाभिधीयत इति हन्यादिति शब्दार्थः। तत्र नेति सम्बन्धे हननभावनाभिधीयते इति व्याघातः हननभावनेत्युक्ते हननभावनाया···कथं नाभिधीयत इत्युच्यतेति अत्यन्ताभावो विरुन्ध्यादिति। ननु कालत्रयापरामृष्टाया एव लिङर्थत्वान्न हननभावनेत्युक्ते हननभावनाया अत्यन्ताभावो विधीयते। तत्र लोके विना ······ नयो दृष्टा ········ विरुन्ध्यादिति।

ननु न हन्यादिति न हननं कार्यमिति नार्थः, हननेन कार्यं हननकरणकं कार्यं नास्तीत्यर्थ इति चेत्तत्राह – हननकरणकमिति। दुःखनिवृत्तीति। हननेन दुःखनिवृत्तिसुखावाप्त्योरन्यतरस्य तत्र सद्भावादिति। निरातङ्कं दृष्टार्थिनमिति

अपूर्वविधिपक्षे न हन्यादित्यस्य हननकरणकमपूर्वं नास्तीत्यनर्थ इत्यनर्थहेतुभूतपूर्वसंभावनया सातङ्कत्वाद्धनने शिथिलप्रवृत्तिं दृष्टार्थिनं [निरातङ्कं] प्रवर्त्तयेदेवेति साधुशास्त्रार्थः समर्थित इति।

ननु नात्राख्यातार्थप्रत्ययसम्बन्धी नञ् येन निषेधार्थत्वम् किन्तु नेक्षेतेत्यादिसम्बन्धी नेत्यहननेनापूर्वं भावयेदित्यर्थः समर्थित इति चेत्तत्राह – **अहननेनापूर्वं भावयेदिति। कारणस्यानादित्वेनेति।** हननप्रागभावस्य कारणस्यानादित्वेन कार्यस्यापूर्वस्यानादित्वादपूर्वं भावयेदित्यशक्यमिति **तदविषयत्वात्** अनाद्यर्थाविषयत्वादिति।

नन्वहननेत्यस्य हननाभावेनेति नायमर्थः हननादन्येनाहननसंकल्प····वृत्त्या तदन्यार्थत्वमिति चेत् तत्राह–**अहननसंकल्पेनेति।** अहननसंकल्पेन यावज्जीवमपूर्वं कुर्यादिति वा सकृत्कुर्यादिति वा विकल्पमभिसन्धाय यथाक्रमं दूषणमाह–**यावज्जीवमित्यादिना।**

यावद् यावद्धननसङ्कल्पवान् .... क्रियासङ्गतत्वात् असमस्तत्वाच्च। पृ० ३२४-३२७।

तथाभूत····धिकारित····प्रतिषेधद्वारा अपूर्वनियोगं प्रति हनने प्रवृत्तो न हन्यादित्येवमश्रुतेरिति प्रतिषेधसमर्थ्यादिवायमर्थः सिद्ध इति शङ्कते – **प्रसक्तमिति। तदभावः** हननाभावः निषेधं कुर्यादिति। अपूर्वस्य स्वयं फलरूप–त्वाभावात्तज्जन्यफलान्तरस्याप्यभावान्निष्फलादपूर्वाख्यात् कार्यात् इति दुर्दुरूढस्य कुत्सितस्य इष्टसाधनत्वाभावेनैवानिष्टसाधनत्वमनुमीयत इति चेत् तत्राह – **न हीति। प्रतिषेधार्थस्यैवेति।** इदानीं प्रतिषेधार्थ एवं चिन्त्यते तत्कथं सिद्धवत्प्रतिषिध्यमानत्वादिति हेतुकथनमिति भावः।

ननु किमत्र चिन्त्यते इष्टसाधनत्वस्य वा अभावोऽनेन वाक्येन प्रतिपाद्यत इति चेत् तत्राह – **नहीति – लोकप्रमाणसिद्धित्वादिति।** प्रमाणसिद्धेन प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन हननस्य कर्त्तव्यत्वमिष्टसाधनत्वं हननभावना च प्रतीयत इति तदभावस्य तद्विरुद्धत्वमिति। **तथापीति।** लोकप्रमाणविरुद्धत्वेऽपि न हन्यादित्यनेनैव तावत् प्रतिपाद्यते अभावः प्रतिषिध्यमानस्यैव········एवंविधः प्रमाणविरुद्धः प्रतिषेधः पाषण्डागमप्रतिषेधेनानैकान्तिकत्वान्नावश्यमनर्थसाधनत्वं बोधयतीत्याह – **पाषण्डेति। नासाविति।** प्रामाणिकः प्रतिषेधो हेतुः न चासौ

पाषण्डागमः·····येति। प्रमाणसिद्धार्थविपर्ययप्रतिपादनमस्य प्रकृतेऽप्यविशेषेण प्रकृतस्य न हन्यादित्यागमस्यापि त्वत्पक्षे तथा भावादप्रमाणमिति। **तात्पर्यत इति।** प्रमाणविरुद्धं वदतोऽप्यस्यान्यत्र तात्पर्यादिति। **न विधाविति** विधिशब्दो निषेधस्याप्युपलक्षणामिति सिद्धान्तिनोऽभिप्रायः। पूर्वपक्षी तु विधिमात्रविवक्षयैव विधिशब्द इति मत्वा चोदयति – **तथापीति।** तथा भविष्यतीति चेदिति सिद्धान्ती तु न्या ······· धेऽपि नान्यपरत्वमित्याह – **अविनाभावेति।** इष्टसाधनत्वाभावस्यानिष्टसाधनत्वेनाविनाभावस्य तद्देशप्रवृत्तेश्चाभावात् नानर्थसाधनत्वे शब्दस्य तात्पर्यम्। अविनाभावः प्रागेवोक्त·····पक्षो मतान्तरेणोक्तः न स्वमतेन तात्पर्यार्थचिन्तावसरे निराकृतत्वात् तदुद्देशेन प्रवृत्त्यभावश्च हननस्यानर्थसाधनत्वप्रतिपादक–निषेधवाक्यैकवाक्यभूतस्य नि ····· न्तरस्याभावादिति।

ननु न हन्यादिति साधनत्वाभावमात्रं नञोऽर्थः असुरा अविद्यादिवदिष्टसाधनत्वविरोध्यनिष्टसाधनत्वमेवार्थः। अतोऽनर्थसाधनत्वं लभ्यत इति। तत्राह – **नापीति।** नामपदेन समासवृत्त्या हि नञ् विरोधवाची अयं तु क्रियासङ्गतत्वात् विरोधवाचीति।१४।

तस्मात्, विधिर्वक्तुरभिप्रायः .... किं नाम राज्ञ एवेति लौकिकोऽनुभवः। पृ० ३२७-३३०।

एवं पूर्वपक्षं निराकृत्य सिद्धान्तमाह – **तस्मादिति।** हेतुत्वाद् अनुमानाच्चेत्युक्तेभ्यो हेतुभ्य इष्टसाधनत्वस्य विधित्वेन लिङर्थत्वाभावादित्यर्थः। अभिप्रायस्येच्छाया विषयं दर्शयति–प्रवृत्त्यादावनुचिन्तनादेर्ग्रहणम्। **अनुमेयेति।** शब्दाभिहितेनाभिप्रायरूपेण लिङेनानुमेयेति उत्तमपुरुषादिषु विषयभेदेनेच्छायागेनेदं दर्शयति – **तत्रेति।** लिङर्थे··भयव्यतिरिक्तक्रियेच्छाभिधामिति····वदिच्छये····नायं लिङ्युक्तस्य लौकिकवाक्यस्यायं तावदर्थः संपन्न इत्याह – **तथा चेति।** इच्छाया ज्ञानपूर्वकत्वेन ज्ञानमप्यनुमीयत इत्याह – **तथा तेनावगतश्चेति।** निषेधवाक्येष्वनर्थ साधनत्वानुमानं दर्शयितुं निषेधवाक्यं [प्रदर्श] यति – **विषमिति। अनिष्टिसाधनमिति।** विषभक्षणभावनाजन्याभिमतप्रयोजनादप्यधिकानर्थ साधनमित्यर्थः। **प्रयत्न इति।** भावनैवोच्यते। कर्तुरभिमतसाधकोऽप्येतदतोऽप्यधिकानर्थहेतुत्वेन व्याप्त····तदनाप्तेन निषिध्यमानेन व्यभिचारव्यावर्त्तनाय विशेषणमुक्तम्। अनर्थेच्छाया अपि ज्ञानपूर्वकत्वेन ज्ञानमप्यनुमीयत इत्याह –

तथा तेनैवेति। एष प्रकार इति। वक्तुरिच्छैव लिङाभिधीयते तत इच्छा तदभावा····साधनत्वे अनुमीयेते इत्येष प्रकार इति निरासहेतोरभावादिति निरासहेतोरस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्यासिद्धत्वोद्भावादिति भावः। **मा भूदन्यदिति।** वेदवावाक्यादेव तावत्प्रमाणं वक्ष्यमाणविधि····सर्वं मा भू····वक्त्रभिप्रायरूपो गर्भ इव कुमार्या श्रुतिकुमार्या अपि पद्मयोगे(?) प्रमाणं किं क्रियते न किञ्चित्तत्र प्रतिकर्तव्यमित्यर्थः। वैदिकलिङो लौकिकवक्त्रभिप्रायो नार्थ इति चेत्तत्राह – **लिङो वा लौकिकार्थातिक्रम इति।** न्यायो विप्लवेतेत्यर्थः। ततः किमित्याह – **तथा चेति।** लौकिकवैदिकशब्दानां तदर्थानां चान्यत्वे लोकव्यवहारसिद्धाया व्युत्पत्तेर्लौकिकशब्दमात्रविषयत्वाद्वैदिकशब्दानां व्युत्पत्तिविरहाद [नर्थकत्व] प्रसङ्ग [इति प्रामा]ण्यं स्यात्। ततश्च वेदप्रामाण्योपयोगितया पुरुषदोषाभावाय वेदप्रणेतुर्भगवतः परमेश्वरस्य निराकरणे प्रवृत्तः स *मीमांसक*····ति तथा योऽभिप्रायेति प्रवृत्त्यप्रवृत्तिविषयाभिप्रायाभावादित्याह····अभिप्रायो न विधिः किन्तु कर्तु रेवेत्यभिप्रायो न विधिः।१५।

श्रुतेः खल्वपि, कृत्स्न एवहि वेदोऽयं ..... विपक्षे च बाधकमुक्तम्। पृ० ३३०-३३४।

एवं **प्रत्ययत** इत्येतद्व्याख्याय श्रुतेरित्येतद्व्यख्यातुमवतारयति – **श्रुतेरिति।** वेदादित्यर्थः। वेदावगम्यत्वं परमेश्वरस्य दर्शयति–**कृत्स्न....पदकः** तस्य वेदस्योपासनाविधौ तात्पर्यान्न स्वार्थे प्रामाण्यमिति चेत् तत्राह – **स्वार्थेति।** यथा –

यन्न दुःखेन सम्मिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्पदं स्वःपदास्पदम्।। इति।

स्वर्गस्वरूपनिरूपणवाक्यस्य स्वार्थविवक्षाद्वारेणैव विधौ तात्पर्यम्। तथा परमेश्वरप्रतिपादकस्यापि स्वार्थविवक्षाद्वारेणैव विधौ तात्पर्यमिति स्वार्थेऽपि प्रामाण्यमिति स्रष्टृत्वे पुरुषसूक्ते त्विति तस्मि····दिभिः स्रष्टृत्वेन तु पुरुषसूक्तेषु परमेश्वरो गीयत इति **विभूत्या रुद्रेष्विति।** नमः कुलालेभ्यः सहस्राणि सहस्रश इत्यादिवाक्यैर्विभूत्या रुद्रेषु गीयते प्रपञ्चमिति। आत्मैवेदं सर्वमिति पुरस्कृत्य स एष नेति नेति अगन्धमरसमित्यादिभिर्निष्प्रपञ्चतयोपनिषत्सु गीयते। अथ वा स एष नेति नेतीत्यत्र इति शब्देन प्रपञ्चं पुरस्कृत्य एष नेत्यनेन

निष्प्रञ्चतयोपनिषत्सु .... मन्त्रविधिष्विति। मन्त्रविधिसंज्ञकवाक्येन यज्ञरूपः पुरुषो यज्ञपुरुषः तत्त्वेन यज्ञप्रतिपादकैर्मन्त्रविधिभिर्यज्ञपुरुषत्वेन परमेश्वर एव गीयत इत्यर्थः। **देहाविर्भावैरिति।** तदुपाख्यानरूपेषु वेदभागेषु देहाविर्भावैः परमेश्वर एव [उपास्यत्वेन गीयते]। न दक्षाध्वरध्वंसाद्युपाख्यानेषु तत्तत्कर्मार्थदेहाविर्भावैरिति। **उपास्यत्वेन सर्वत्रेति।** उक्तेषु सर्वेष्वपि [या]गेषूपासनविधिविषयत्वेषु गीयते। एतेषां सर्वेषामपि वेदयागानामौपासन····प्रामाण्यहेतोरिति सत्यमस्त्येवैषां प्रामाण्यमिति तात्पर्यविषये उपासनाविधावेवेत्याशङ्कते – **अन्यत्रेति। शब्दमात्रतया वेति।** अविवक्षितत्वेन शब्दस्वरूपेण वेत्यर्थः। **अत एवेति। अनन्यप्रमाणकत्वादिति।** निःस्वार्थतात्पर्यापरित्यागेन ज्योतिःशास्त्रवत् यथा ज्योतिःशास्त्रस्य तत्तद्ग्रहगतिविशेषादिरूपस्य स्वार्थतात्पर्यापरित्यागेन तत्तत्कम····तमुहूर्त्तविधिषु तात्पर्यम्। तथान्यत्रापि तात्पर्ये····मित्यर्थः। स्वार्थे तात्पर्यानभ्युपगम एव महान् दोष इत्याह – **अन्यथेति। बहु विप्लवेतेति।** स्वर्गाभावे तदर्थिनं प्रति यागविध्यानर्थक्यप्रसङ्गः। नरकाभावे तत्परिहाराय निषेधशास्त्राप्रवृत्तिप्रसङ्गः।······स्याधिकार्यभावादप्रमाण्यप्रसङ्गः श्रोत्रियाभावे श्रोत्रियमधिकृत्य प्रवृत्तानामप्रामाण्यप्रसङ्ग इति बहुशः प्लवतेति कथमित्याह– **तन्मिथ्यात्व इति।** परमेश्वरस्य स्वरूपप्रतिपादकानां मिथ्यात्वे हि सायुज्यादि-रूपोपासनाफलमिथ्यात्वे कः प्रेक्षावांस्तं परमेश्वरमुपासीतेति **तुल्यमिति।**

वाक्यादपीति हेतुमवतारयति–**वाक्यादपीति।** वैदिकादिति शेषः। वाक्येन परमेश्वरबोधकेन। **संसर्गेति।** संसर्गभेदप्रतिपादकत्वेन परमेश्वरं साधयति – **तथा चेति। तानपेक्षेतेति। तज्ज्ञानपूर्वकमिति।** एतावत्युक्ते कदाचित्तेनैव वाक्येन तं संसर्गभेदं ज्ञात्वा तस्यैव वाक्यस्य प्रयोगे संसर्गज्ञान ... मा भूदिति तदनपेक्षेत्युक्तमिति तत्र कथाबाह्यत्वाद्यप्रयोगः। **विपक्षे बाधकमिति।**१६।

सङ्ख्याविशेषादपि, स्यामभूवं भविष्यामि ..... तस्मादनुभव एवासौ स्वीकर्तव्य इति। पृ० ३३५-३३९।

संसर्गभेदप्रतिपादकस्य वाक्यस्य संसर्गभेदज्ञानकार्यत्वात्तदभावे कार्यविलोपप्रसङ्ग इति। बाधकं सर्वसाधारण्ये इति संख्याविशेषादिति हेतुमवतारयति– **संख्याविशेषादपीति।** वक्तृगेत्यनेन वेदवाक्यप्रणेतृ–सद्भावप्रतिपादनेन द्वारेणापि परमेश्वरः साध्यत इति दर्शितम्।

संख्याशब्दस्यार्थान्तरमभिप्रेत्याह – समाख्यादपीति। शाखाकाङ्क्षादिवक्तारं साधयतीत्यर्थः। तत्र संख्याः संख्यार्थत्वे सत्येव पूर्वव्याख्यानादस्य भेदं दर्शयति – कार्यतयेति। परमाण्वादिगतानेकसंख्याया ईश्वरकार्यत्वात् कार्यात् कारणत्वेनेश्वरावगतिरिति संख्यायास्तेनैव प्रतिपाद्यत्वात् प्रतिपाद्यमानयानया प्रतिपादकः परमेश्वरः साध्यत इति विशेष इत्यर्थः। अन्यथानन्वयेति। वक्त्रभावे उत्तमपुरुषाभिहितायाः संख्याया वाक्ये·····अदिति·····न्तत्वादिति। तथा च कथमेकेनैव कठेन व्यपदिश्येतेति भावः। प्रकृष्टप्रवचनकर्त्रा कठेनैव व्यपदिश्यत इति चेत्तत्राह – नापीति। प्रत्युतेति। तादृशस्य प्रवचनस्य समाख्यां प्रत्यनिमित्तत्वमेवेति कथमित्याह – अथेति। तत्पाठानुकरणे प्रकर्षस्यासंभव एवेति दर्शयति – पाठेति। कति चनेति। संभवतु वा प्रकृष्टं प्रवक्ता तथापि दोषाणां बहुत्वात् कस्तेषां मध्ये नियामकः नियतव्यपदेशहेतुरित्यर्थः। वेदार्थ इति। वेदप्रतिपादक एवास्माकमीश्वर इति न कठशब्दः कस्यच्चिदेकस्य संज्ञा। किन्तु ब्राह्मणत्वावान्तरजातिवचनः। अतो बहिरभिधीयमानत्वेऽपि जातिप्रवचननिमित्तयैव समाख्यया व्यपदिश्यत इति शङ्कते – स्यादेतदिति। परिहरति [क्षत्रियादेरिति]। क्षत्रियवैश्ययोरपि त्रैवर्णिकत्वेन तस्यामेव शाखायामधिकारादिति को दोषः क्षत्रियादावपि कठत्वादिसंभवादिति चेत् तत्राह – न च य इति। जातिसङ्करप्रसङ्गादिति भावः। क्षत्रियादेरपि तत्रैवाधिका [रात्] तेन क्षत्रियादेरन्यो वेद इति। किञ्च काठकानां कठशाखाध्ययनवत् शाखान्तराध्ययनादेरपि संभवात् तदध्ययनादिनिमित्तत्वे काठकसंज्ञायाः शाखान्तरमपि काठकसंज्ञया व्यपदिश्येतेत्याह – न च कठा इति। शाखान्तरसञ्चारस्येति। शाखान्तरसञ्चारस्यापीति। कठत्वाद्यवान्तरेति। अयमर्थः–यदीदानीं कठाद्यवान्तरजातिर्दृश्यते तद्बालादेव तैर्नीयमानात्तन्निमित्ता समाख्येति कल्प्येतापि सा तु विप्लुता इदानीं दृश्यते। अत इदानीमिव सर्वदा विप्लवः। प्राग् एवायमिति। एवं भगवति परमेश्वरे प्रमाणाभाववादिनं प्रति श्रुत्यनुमाने प्रमाणे दर्शयित्वा तस्मिन् प्रत्यक्षमपि केषाञ्चित् क्रमत इति साधयति – कैश्चिदिति। योगिभिरित्यर्थः। नियतविषयत्ववर्तमानरूपादिनियत सामग्रीराहित्यात् दर्शयति – सा हीति। नियतविषयत्ववर्तमानरूपादिनियत विषयत्वादिति। मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति। आत्मतद्गुणेभ्यो बहिर्बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य मनसो स्वातन्त्र्याभावादिति। कार्यैकव्यङ्ग्याया इति। यथोपन्यस्तानुमानसिद्धे····अकाराख्येन····याः कल्प्यायाः सामग्र्याः

निषेद्धुमशक्यत्वादिति मनसो बहिरपि स्वातन्त्र्यं स्वप्ने दृष्टमित्याह – **अपि चेति। स्मरामि स्मृतं वेति।** कर्तृविशेषणत्वेन कर्मविशेषणत्वेन वा स्मृतित्वस्याननुसन्धानादित्यर्थः। अनुभवत्वेन प्रमाणम् – **पश्यामीति।** न केवलं स्मृतित्वे प्रमाणाभावः किन्तु बाधकमप्यस्तीत्याह – **अनुपलब्धस्यापीति।** अथ वा न केवलमनुभवत्वे बाधकाभावः किन्त्वनुग्राहकमस्तीत्याह – **अनुपलब्धस्यापीति। स्मृतिविपर्यास इति।** अर्थविकल्पं दूषयति – **अथेति।** पदार्थरूपे विपर्यासः संसर्गविपर्यास इत्यर्थः। **प्रागेव निरस्त इति।** बाधकाभावादित्यादिना निरस्त इति। **न ह्यन्येनेति।** नहि यथाऽयं घट इति घटाकारेणाध्यवसितोऽर्थोऽन्येन पटाकारेण पटं जानामीति ज्ञा [नमध्यव्यवसीयते] तथा सति तत्तथा परोक्षाकारेणाध्यवसितोऽर्थो नेदं तया अपरोक्षाकारेण ज्ञानावच्छेदकतयानुव्यवसीयेत, एवं त्वसति किं सिद्ध्यत्यत्राह – **तथा चेति।**

अस्ति च स्वप्नानुभवस्यापि सत्यत्वं संवादात् ..... सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति। पृ० ३३९-३४१।

अस्तु मनसो बहिर्भ्रान्तिरूपा.....नुभवजननीति चेत् तत्राह – **अस्ति चेति।** यथा स्वप्नदृष्टस्यार्थप्रमाणान्तरेण क्वचित्। **संवादादिति। हेतुश्चात्रेति।** अत्र यथार्थज्ञाने पुण्यकर्मजोऽपूर्वरूपो धर्म एव हेतुरिति। स च धर्म....धिप्रमाणको यथार्थानुभवहेतुरस्तीति दर्शयति – **स चेति। साक्षात्कारित्वप्रमात्वादिति।** लिङ्शब्दाद्यभावे सति प्रमात्वात् साक्षात्कारित्वमिति भावः। कामुकादीनां धर्मानुगृहीतकामिन्यादिभावनामन्त्रप्रभवस्य.....**रो न प्रमेति।** प्रमा प्रमाविभाग इत्याह – **धर्मानुगृहीतेति।** परमेश्वरसाक्षात्करणसाधकस्य प्रमेयत्वस्य तत्सामग्रीरहितत्वादिति यत्प्रतिसाधनमुक्तम् तस्य सिद्धत्वेऽपि प्रमेयत्वस्य विपक्षे किं बाधकमिति चेत् परापरब्रह्मसाक्षात्कारं विदधतो द्वे ब्रह्मणी वेदितव्य इति योगविधेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गो बाधक इति परिहरति – **द्वे ब्रह्मणी इति।** कुत इत्यत्राह – **अशक्येति।** अशक्यानुष्ठानस्य मोक्षोपायस्य ब्रह्मसाक्षात्कारत्वादिति वेदितव्ये इति वेदनमात्रश्रावणादसाक्षात्कारिविज्ञानविधानमेवैतदिति न वक्तव्यमित्याह – **न च साक्षात्कारीति।** अर्थज्ञानपर्यन्तेन स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति स्वाध्यायाध्ययना ···सार्थ यो·····ब्रह्मणोरसाक्षात्कारिविज्ञानस्य वेदानामेव सिद्धेरिति। **एतेनेति।**······नागमप्रमाणसिद्धस्य परमेश्वरस्य शिष्यान् प्रति श्रद्धापूर्वमुपास्यताविधानार्थं तस्य श्रुतिसिद्धमुपास्याकारमाह – **तदेनमिति।** दृष्टेरित्यत्र दृष्टिशब्देन

ज्ञानमुच्यते। दृष्टिग्रहणमि ····· यज्ञयोरप्युपलक्षणं ज्ञानेच्छाप्रयत्न···स्तीत्यर्थः। *एकमेवेति।* अनेन समाधिकशून्यत्वमुक्तम्। पश्यत्यचक्षुरित्यनेनेश्वरज्ञानस्य कारणनिषेधेन कार्यमुच्यते। एवं कर्तृविशिष्टस्य परस्य ब्रह्मणः उपास्यत्वप्रतिपादनार्थमुपास्यत्वे प्रमाणं दर्शयति – *द्वे ब्रह्मणी इति।* अ···हेत्वतिरिक्तः कर्मणापि स एवोपास्य इत्यत्रापि प्रमाणमाह – *यज्ञेनेति।* सर्वधर्माणीत्यनेन कर्मपरित्याग उक्तः। *मुक्तसङ्ग इति।* यज्ञार्थत्वं सहायफलसङ्गेन क्रियमाणं कर्म···बन्धनमेव···र्थस्य कर्मणः संसारहेतुभूत·····अनुशिष्यत इति। योगशास्त्रस्यापि सेश्वरसांख्यमिति सांख्यप्रभेदत्वेन प्रसिद्धेः सांख्यप्रवचन इत्युक्तमिति। एवमीश्वरस्योपास्यत्वे श्रुत्या शास्त्रात्मकं प्रमाणमुपन्यस्य कर्मयोगाभ्यामुपास्यत्वे शिष्टाचारमपि···एवमस्योपास्यत्वे प्रमाणमुपन्यस्य शिष्यहिताय तान् प्रति परमेश्वरस्योपास्यत्वं स्वयमेव विदधति। *एवं विज्ञायेति।* एवमुक्तेन प्रकारेण तदुपासनस्य प्रामाणिकत्वं विज्ञाय तत एव *श्रद्धैकतानः* श्रद्धातत्परो भवेत् परमेश्वरोपासको भवेत् इति। परमेश्वरोपासनायाः किं फलमिति चेत् तत्राह – *यत्रेति।* यत्र परमेश्वरोपासनायामिदं फलं गीयत इत्यर्थः। *मामेवैष्यसीति।* ब्रह्म प्राप्य लक्षणं फलं गीयत इति शास्त्रं दुःखशान्तिलक्षणं प्राप्नोतीत्युक्तमिति।१७।

इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैः ..... ते भावनीयाः नराः। पृ० ३४१।

एवं श्रवणानन्तरं कर्तव्यत्वेनोक्तन्यायचर्चात्मिकां मननोपासनां परमेश्वरगोचरां कृत्वा एव श्रवणमननोपासनासंस्तुतचेतसोऽपि ये त्वां भावयितु·······स्त्वयैव कृपया भावयितव्य इति परमेश्वरं प्रति परानुग्रहार्थं प्रार्थयन्त *इत्येवमिति। संप्लवजलैः* मम प्रक्षालनजलैः *आस्पदं* स्थानं *शैलसाराशया* अयोमयचित्ता···तसोनरे···स्वाभाविक एवेत्यर्थः *प्रस्तुतप्रतीपविधयः* प्रारब्धप्रतिहतयोगविधय इत्यर्थः।

अस्माकं तु निसर्गसुन्दर ..... शतशो याम्याः
पुनर्यातनाः। पृ० ३४२।

अस्माकं तु चेतो नैवंविधं तथापि विषयेभ्यः परावृत्तं न त्वय्यैव तृप्तिमुपगच्छति तस्मात्। सांसारिकदुःखसागरोक्त ····· लक्षणतृप्तेर्जननी करुणा स्वात्मानं प्रति विधातव्येति करुणाविधानं प्रार्थयते।

अस्माकं त्विति। चिराच्चेत इति। निसर्गसुन्दरत्वादेव चिराच्चेतो निमग्नमिति अध्यासत्यर्थः। निसर्गसुन्दरत्वमेवोपपा···नेतः पूर्वमेव तृप्तिप्राप्तौ युक्तायामपि न संतृप्यतीत्यर्थः। तत्प्राप्तिकालातिक्रमात् *त्वरितं विधेहि करुणामिति येन* करुणाविधानेन *त्वेदकाग्रतां* त्वदेकपरतामित्यर्थः।।

इत्येषनीतिकुसुमाञ्जलि ...... पदपीठसमर्पितेन। पृ० ३४२-३४३।

संप्र··ध्वितो यन्नीतिकुसुमाञ्जलिस्तत्र करो भवतु मा वेति यत् ततः किं तत्र न काचिच्चिन्ता स तु सर्वथा तस्य पादपीठसमर्पणमात्रेणैव प्रीतो भवत्वित्याह– *इत्येष इति।*

इति श्रीरामदेवमिश्रसूनोः वरदाजस्य कृतौ

न्यायकुसुमाञ्जलिटीकायां पञ्चमः परिच्छेदः।



अथ तृतीयः स्तबकः।

योग्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्धिः कुतस्तराम्।
क्वायोग्यं बाध्यते शृङ्गं क्वानुमानमनाश्रयम्।।१।।

व्यावर्त्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता।।२।।

दृष्टोपलम्भसामग्री शशशृङ्गादियोग्यता।
न तस्यां नोपलम्भोऽस्ति नास्ति सानुपलम्भने।।३।।

इष्टसिद्धिः प्रसिद्धेंऽशे हेत्वसिद्धिरगोचरे।
नान्या सामान्यतः सिद्धिर्जातावपि तथैव सा।।४।।

आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम्।
आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता।।५।।

दृष्ट्यदृष्ट्योर्न सन्देहो भावाभावविनिश्चयात्।
अदृष्टिबाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम्।।६।।

शङ्का चेदनुमाऽस्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः।।७।।

परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः।
नैकताऽपि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः।।८।।

साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते।
अर्थापत्तिरसौ व्यक्तमिति चेत् प्रकृतं न किम्।।९।।

सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः।।१०।।

सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतितः।
समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयापि वा।।११।।

श्रुतान्वयादनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति।
पदार्थान्वयवैधुर्य्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः।।१२।।

अनैकान्तः परिच्छेदे सम्भवे च न निर्णयः।
आकाङ्क्षा सत्तया हेतुर्योग्यासत्तिरबन्धना।।१३।।

निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धि प्रागेवार्थस्य निर्णये
व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिङ्गस्यैवानुवादिता।।१४।।

व्यस्तपुंदूषणाशङ्कैः स्मारितत्वात् पदैरमी।
अन्विता इति निर्णीते वेदस्यापि न तत् कुतः।।१५।।

न प्रमाणमनाप्तोक्तिर्नादृष्टे क्वचिदाप्तता।
अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः।।१६।।

न चासौ क्वचिदेकान्तः सत्त्वस्यापि प्रवेदनात्।
निरञ्जनावबोधार्थो न च सन्नपि तत्परः।।१७।।

हेत्वभावे फलाभावात् प्रमाणेऽसति न प्रमा।
तदभावात् प्रवृत्तिर्न कर्मवादेऽप्ययं विधिः।।१८।।

अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः।
न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाऽप्यसौ समः।।१९।।

प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यादिन्द्रियस्यानुपक्षयात्।
अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः।।२०।।

प्रतियोगिनि सामर्थ्याद्व्यापाराव्यवधानतः।
अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणामिन्द्रियाणि विकल्पनात्।।२१।।

अवच्छेदग्रहध्रौव्यादध्रौव्ये सिद्धसाधनात्।
प्राप्त्यन्तरेऽनवस्थानान्न चेदन्योऽपि दुर्घटः।।२२।।

प्रत्यक्षादिभिरेभिरेवमधरो दूरे विरोधोदयः
प्रायो यन्मुखवीक्षणैकविधुरैरात्माऽपि नासाद्यते।
तं सर्वानुविधेयमेकमसमस्वच्छन्दलीलोत्सवम्
देवानामपि देवमुद्धवदतिश्रद्धाः प्रपद्यामहे।।२३।।

अथ चतुर्थः स्तबकः।

अप्राप्तेरधिकप्राप्तेरलक्षणमपूर्वदृक् ।
यथार्थोऽनुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते।।१।।

स्वभावनियमाभावादुपकारो हि दुर्घटः।
सुघटत्वेऽपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा।।२।।

अनैकान्तादसिद्धेर्वा न च लिङ्गमिह क्रिया।
तद्वैशिष्ट्यप्रकाशत्वान्नाध्यक्षानुभवोऽधिके ।।३।।

अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम् ।
क्रिययैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम् ।।४।।

मितिः समयक्परिच्छत्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते।।५।।

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः।
लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः।।६।।

अथ पञ्चमः स्तबकः।

कार्य्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् सङ्ख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।१।।

न बाधोऽस्योपजीव्यत्वात् प्रतिबन्धो न दुर्बलैः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्विरोधो न, नासिद्धिरनिबन्धना।।२।।

तर्काभासतयाऽन्येषां, तर्काशुद्धिरदूषणम् ।
अनुकूलस्तु तर्कोऽत्र कार्यलोपो विभूषणम् ।।३।।

स्वातन्त्र्ये जडताहानिः, नादृष्टं दृष्टघातकम् ।
हेत्वभावे फलाभावः, विशेषस्तु विशेषवान् ।।४।।

कार्य्यत्वान्निरुपाधित्वमेवं धृतिविनाशयोः।
विच्छेदेन पदस्यापि प्रत्ययादेश्च पूर्ववत् ।।५।।

उद्देश एव तात्पर्यं व्याख्या विश्वदृशः सती।
ईश्वरादिपदं सार्थं लोकवृत्तानुसारतः।।६।।

प्रवृत्तिः कृतिरेवात्र सा चेच्छातो यतश्च सा।
तज्ज्ञानं, विषयस्तस्य विधिस्तज्ज्ञापकोऽथ वा।।७।।

इष्टहानेरनिष्टाप्तेरप्रवृत्तेर्विरोधतः ।
असत्त्वात् प्रत्ययत्यागात् कर्तृधर्मो न सङ्करात् ।।८।।

कृताकृतविभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया।
यत्र एव कृतिः पूर्वा, परस्मिन् सैव भावना।।९।।

भावनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः।
तया विवरणध्रौव्यादाक्षेपानुपपत्तितः।।१०।।

आक्षेपलभ्ये संख्येये नाभिधानस्य कल्पना।
संख्येयमात्रलाभे तु साकाङ्क्षेण व्यवस्थितिः।।११।।

अतिप्रसङ्गान्न फलं नापूर्वं तत्त्वहानितः।
तदलाभान्न कार्यश्च न क्रियाऽप्यप्रवृत्तितः।।१२।।

असत्त्वादप्रवृत्तेश्च नाभिधाऽपि गरीयसी।
बाधकस्य समानत्वात् परिशेषोऽपि दुर्लभः।।१३।।

हेतुत्वादनुमानाच्च मध्यमादौ वियोगतः।
अन्यत्र क्लृप्तसामर्थ्यान्निषेधानुपपत्तितः।।१४।।
विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः।
अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तुरिष्टाभ्युपायता।।१५।।
कृत्स्न एव च वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः।
स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद्विधौ।।१६।।

स्यामभूवं भविष्यामीत्यादौ संख्या प्रवक्तृगा।
समाख्याऽपि च शाखानां नाद्यप्रवचनादृते।।१७।।

इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः।।१८।।

अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धाऽऽनन्दनिधे तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते।
तन्नाथ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः।।१९।।

इत्येष नीतिकुसुमाञ्जलिरुज्ज्वलश्रीर्यद्वासयेदपि च दक्षिणवामकौ द्वौ।
नो वा, ततः किममरेशगुरोर्गुरुस्तु प्रीतोऽस्त्वनेन पदपीठसमर्पणेन।।२०।।

।। इति कुसुमाञ्जलिकारिका:।।



संपादक : डा. किशोरनाथ झा
पिता : पण्डित कृष्णमाधव झा
जन्म : १०/६/१९४०
स्थायी निवास : ग्रा. बिट्ठो, पो. सरिसबपाही, जिल्हा-मधुवनी (बिहार) ८४७४२४
कार्यक्षेत्र : रीडर, गंगानाथ केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद २११००२।

उपलब्धि :

१)(क) सोलह मौलिक कृतियाँ, (ख) नौ अनुवाद ग्रन्थ तथा (ग) एकतीस संपादित ग्रन्थ प्रकाशित हैं तथा चार प्रकाशनाधीन हैं। उनमें शाक्ततन्त्र की चार खंडोमें प्रकाशित महाकाल संहिता, न्यायतत्त्वालोक, न्याय सिद्धान्तलक्षण-सुबोधनी, मीमांसा-साइन्स औफ सेन्टेस इन्टरप्रिटेशन, तन्त्रवार्तिक व्याख्या अजिता, न्यायमंजरी तथा तार्किकरक्षा विशेष उल्लेखयोग्य हैं।

२) २० से अधिक शोधछात्रों को आपके मार्गदर्शनमे विद्यावारिधि की उपाधि मिली।

३) डा. हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय सागर मे आपको विज़िटिङ प्रोफेसर के रूप मे आमन्त्रित कर अनेक कार्य करवाये।

४) पूना विश्वविद्यालय मे न्यायदर्शन पर सप्तदिनव्यापी भाषणमाला दी जिसे सेन्टर ऑफ एडवान्स स्टडीज़ इन संस्कृत द्वारा प्रकाशित की गयी ।

५) आपने गान्धी नगरमे वल्लभ वेदान्त पर आयोजित संगोष्ठि(सेमिनार) मे बीज भाषण दिया ।

६) उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ से आपकी सात पुस्तकें पुरस्कृत हुई । शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरुशंकराचार्य भारतीतीर्थ द्वारा गणेशोत्सव शास्त्रार्थसभा (१९९३ ई.) में सम्मानित हुए तथा २००३ ई. में भारत के राष्ट्रपतिद्वारा शास्त्र मे पाण्डित्य लिए प्रमाणपत्र मिला।

७) आपने विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों में दो सौ से अधिक पीएच. डी. एवं तथा डि. लिट् शोध प्रबन्धोंका परीक्षण किया ।

८) शताधिक शोधनिबन्ध भारतीय विद्या की शोध पत्रिकाऔं तथा अभिनन्दन ग्रन्थों में प्रकाशित हैं।

९)१९५९ से आपने विभिन्न दर्शन विद्याके ६४ सम्मेलनों तथा संगोष्ठियों में भाग लिया तथा निबन्ध पढे।

१०)आपको हस्तलेख विज्ञान में पूर्ण परिचय प्राचीन है। प्राचीन हस्तलेख पढ़ने तथा सम्पादन की व्यावहारिक रुचि रही है।